15·2

छ भी आशा न रह गई। आगे चलकर नाना फड़नवीस की राजसभा न्युविन की कूटनीतिक योजनाओं तथा हैदरअली और टीपू की थ मिलने की चेष्टाओं ने अँगरेजों की साम्राज्य-लिप्सा को ही फ्रांसीसियों का कोई हित न हो सका। अँगरेजों का साम्राज्य-तिद्वंद्वियों के भय से मुक्त हो जाने पर, निर्बाध गति से बढ़ता रहा। छोड़ देने पर अँगरेजों के प्रभुत्व-स्थापन का मार्ग बिलकुल है, अब भी अँगरेजों को युद्ध करने पड़े और कभी-कभी तो नी हुईं; परन्तु अब उन्हें भारतीय शक्तियों से लोहा लेना था, द्वी के साथ नहीं।

फलता के कारण—फ्रांसीसी भारत में विफल-प्रयत्न हुए, क्ति का अन्त हो गया था और भारत में कोई भी यूरोपीय भुत्व खोकर कभी सफल नहीं हुई। भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी र फ्रांस के संघर्ष का ही एक भाग था जो नये-नये उपनिवेशों और अपना-अपना अधिकार स्थापित करने के लिए इनमें संघर्ष में विजयी हुआ। यूरोप के युद्ध-क्षेत्रों में इँगलैंड रिका में भी उसके प्रतिद्वंद्वी फ्रांस का भाग्य-निर्णय कर क्षेत्र में फ्रांस की पराजय के कारणों पर प्रकाश से बाहर की बात है। केवल यही जान लेना हमारे कि फ्रांस यूरोप में इँगलैंड के हाथों परास्त हुआ और साम्राज्य-लिप्सा के प्रयत्नों पर घातक प्रभाव पड़ा। फलता के कारणों की विवेचना करते हुए उनके संबंधों की भिन्नता एवं सौंडर्स, लॉरेन्स तथा नरी पर बल देने की एक प्रथा-सी बन गई है। कि उनके कर्मचारी सामान्यतः अयोग्य थे मुद्रिक शक्ति की श्रेष्ठता इसके मुख्य नों के मार्ग में बहुत बाधक सिद्ध पाय अपनाये वे भी उनको में पहले से जो थोड़ा- की फ्रांसीसी व्यापा- गईं। धन के बिना न तो सैनिकों को दिनों तक लड़ाई के मैदान में अँगरेजों की आर्थिक स्थिति बहुत दृढ़ थी; भारत

के अन्य भागों में उनका व्यापार बढ़ता जा रहा था और बंगाल पर अधिकार हो जाने से तो उनके साधन इतने बढ़ गये कि फ्रांसीसी कभी उनकी समानता करने की सोच भी न सकते थे। सामुद्रिक शक्ति का निर्बल होना फ्रांसीसियों की विफलता का दूसरा बड़ा कारण था और इसका उनके सामरिक प्रयत्नों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। हम देख चुके हैं कि लैली को दो बार—एक बार तंजौर में और दूसरी बार मद्रास में, घेरा केवल इसलिए उठा लेना पड़ा कि अँगरेजों के नये आये हुए नौ-बल से टक्कर लेने के लिए उसके पास [illegible]ोई जहाज न थे। युद्धकाल के अधिकतर भाग में समुद्र पर अँगरेजों का [illegible]रोध अधिकार बना रहा, जिससे नई सेनाएँ मँगाने और भारत के अ[illegible] कर्नाटक में युद्ध-सामग्री पहुँचाने में उनको कोई कठिनाई न होती थी।

फ्रांसीसी कम्पनी [illegible] फ्रांस की सरकार का ही एक विभाग होना, फ्रांस की सरकार का अमेरिक[illegible] के संघर्ष में व्यस्त रहने के कारण भारत की ओर से उदासीन होना, लैली क[illegible] पने स्वभाव की कठोरता के कारण अपने अधीन कर्मचारियों में असहयोग की भावना उभाड़ देना, डूप्ले को अपनी [illegible]ओं को कार्यान्वित करने के लिए बूढ़े और बीमार दोतियू तथा दुर्बल लॉ [illegible] व्यक्ति न मिल सकना और उधर सौंडर्स, लॉरेन्स तथा क्लाइव का वि[illegible]न् एवं दृढ़ निश्चयी होना ये सब फ्रांसीसियों की विफलता के अप्रधान कारण हैं और ये इसीलिए महत्त्व पा गये क्योंकि फ्रांसीसी आर्थिक एवं सामुद्रिक शक्ति में बहुत दुर्बल थे। आर्थि[illegible] कठिनाइयों के साथ सामुद्रिक शक्ति की दुर्बलता ने मिलकर इन सहायक [illegible] को भी महत्त्वपूर्ण बना दिया और कभी-कभी जिस ढंग से इन सहाय[illegible] प्रस्तुत किया जाता है, उससे इस असमान संघर्ष की विफलता के [illegible] आर्थिक कठिनाइयाँ एवं सामुद्रिक दुर्बलता—ढक-से जाते [illegible]

चौथा अध्याय

अँगरेजी शासन का प्रारम्भ

बंगाल में विप्लव—बंगाल मुंगल-साम्राज्य का एक सूबा था, बिहार एवं उड़ीसा प्रांत भी इसी में सम्मिलित थे औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर, बंगाल अलीवर्दी खाँ की अधीनता में स्वतंत्र हो गया। अलीवर्दी खाँ का अप्रैल, १७५६ ई० में देहांत हो गया और तब उसका दौहित्र (बेटी का पुत्र) सिराजुद्दौला बंगाल का शासक बना।

बंगाल में अँगरेजों, फ्रांसीसियों एवं डचों की अपनी-अपनी बस्तियाँ थीं। इनमें से अँगरेजों की बस्ति सबसे अधिक समृद्ध थीं। 'मसनद' पर बैठते ही सिराजुद्दौला को इनके साथ लड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

युद्ध के कारण—अँगरेजों के साथ सिराजुद्दौला का युद्ध उसके अभिमान अथवा लालच के कारण प्रारम्भ नहीं हुआ; वास्तव में परिस्थितियाँ ही ऐसी बन गईं कि युद्ध अनिवार्य हो गया। इन परिस्थितियों में सिराजुद्दौला की दूरदर्शिता और कार्यक्षमता दर्शनीय है।

सिराजुद्दौला के पदारूढ़ होने से बहुत पहले ही अँगरेजों की बंगाल के अधिकारियों के साथ तनातनी होने लगी थी। कारण यह था क बंगाल के अधिकारी अँगरेजों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई स्वतंत्रता सहन न कर सकते थे और इन लोगों का अपने को मिली हुई रियायतों का मनमाना मतलब निकालना उनको बिल्कुल पसंद न था। अलीवर्दी खाँ उनकी योजनाओं के उद्देश्य को भाँप गया था। उसने इनको दुर्ग न बनाने का कठोर आदेश दिया था। वह इनसे कहा करता था कि "तुम्हें किलों की क्या आवश्यकता है? तुम व्यापारी हो . संरक्षण में रहते हुए तुम्हें शत्रुओं का क्या डर है?" व्यापार का प्रश्न भी झगड़े का एक विषय था। नवाब ने उन पर अपनी रियायतों का दुरुपयोग करने का दोष लगाया था और उसका ऐसा करना ठीक भी था, क्योंकि इसके सभसामयिक प्रमाण हमें कैप्टन रेनी के लेखों में मिल जाते हैं, जिसने कलकत्ते के पतन से पूर्व लिखा था कि अँगरेज लोग अपने 'दस्तक' अथवा 'प्रमाण-पत्र' देशी व्यापारियों के हाथ बेच देते थे जिनसे वे देशी व्यापारी महसूल से बच जाते थे। इस प्रकार राज्य की आय को भारी

क्षति होती थी। कर्नाटक में अँगरेजों के कारनामों से अलीवर्दी खाँ भली भाँति परिचित था और मरते समय वह अँगरेजों के प्रति अपना संदेह अपने दौहित्र सिराजुद्दौला को अच्छी तरह समझा गया था, इस प्रकार जैसा कि एक विख्यात इतिहासकार ने लिखा है 'झगड़े का मसाला सिराज के सिंहासनारूढ़ होने के वहुत वर्ष पहले से ही तैयार था।'

यह कहना कि सिराज अँगरेजों को निकाल बाहर करने का संकल्प कर सिंहासन पर बैठा था, ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। वास्तव में पदारूढ़ होने से पहले उसका सम्बन्ध अँगरेजों के साथ बहुत मित्रतापूर्ण था। उसके सिंहासनारोहण के अवसर पर जो अँगरेज वकील उसको वधाई देने गये थे, उनको उसने आश्वासन दिया था कि वह अँगरेजों के साथ अपने नाना से अधिक मित्रता एवं सम्मान प्रदर्शित करेगा। इतना होने पर भी दोनों के सम्बन्ध लड़ाई की दिशा में बढ़ने लगे; कारण यह था कि अँगरेजों के अपनी शक्ति वढ़ाने के उपायों को देख-देखकर सिराज के मन में यह विचार दृढ़ होता जा रहा था कि अँगरेज वंगाल में भी कर्नाटक का नाटक दुहराने की तैयारियाँ कर रहे हैं। अँगरेज और फ्रांसीसी दोनों ही निकट भविष्य में परस्पर युद्ध की संभावना से अपने-अपने दुर्ग बनाने में जुट गये थे। सिराज ने दोनों को दुर्ग वनाने का निषेध किया। फ्रांसीसियों ने तो उसकी आज्ञा चुपचाप मान ली, परन्तु अँगरेजों ने उसका पालन करने से इनकार कर दिया और ऐसे धृष्टतापूर्ण शब्दों में उत्तर भेजा कि सिराज को वह बहुत अपमानपूर्ण लगा। इसके अतिरिक्त अँगरेज अपनी व्यापारिक सुविधाओं का अनुचित लाभ उठाते जा रहे थे और उन्होंने कृष्ण वल्लभ नामक एक व्यक्ति को, जिस पर हिसाब-किताब में जालसाजी करने का दोष लगाया गया था और जो भागकर अँगरेजों की शरण में आ गया था, नवाव को सौंप देने से इनकार कर दिया। अँगरेजों की धृष्टता से सिराज क्रोध से जल उठा। उसने प्रतिज्ञा की कि यदि अँगरेज व्यापारी अपने दुर्गों को तोड़कर पुराने समय की तरह शांतिपूर्वक व्यापार न करने लगेंगे तो वह उनको निकाल बाहर कर देगा।

जून १७५६ ई० में अँगरेजों के कासिम-बाजार के कारखाने के छीन लिये जाने से झगड़ा शुरू हो गया। सिराज ने तत्काल ५०,००० सैनिकों के साथ कलकत्ते की ओर अभियान कर दिया। कलकत्ता अधिक समय तक उसके सामने टिक न सका। तीसरे ही दिन वहाँ का गवर्नर ड्रेक स्त्रियों और बच्चों को साथ लेकर तथा किले की रक्षा का भार हॉलवेल पर छोड़कर, किले से चल दिया और फ़ल्टा नामक स्थान में पहुँचा। हॉलवेल ने शीघ्र ही आत्मसमर्पण कर दिया।

कलकत्ते पर पुनः अधिकार और युद्ध का अंत—कलकत्ते के हाथ से निकल

जाने का समाचार पाकर मद्रास में निश्चय किया गया कि इस पर पुनः अधिकार करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया जाय और इस निश्चय के साथ तत्काल एक शक्तिशाली सामुद्रिक एवं सैनिक दल नौसेनाध्यक्ष वाटसन तथा क्लाइव की अध्यक्षता में समुद्र के मार्ग से कलकत्ते की ओर भेजा गया। जनवरी १७५७ ई० में कलकत्ते पर पुनः अधिकार कर लिया गया। अब अँगरेज नवाब के साथ युद्ध करने के लिए तैयारियाँ करने लगे। कर्नाटक में थोड़े समय पूर्व की उनकी विजयों ने उनका हौसला बढ़ा दिया था और उनको मुसलमान सेना की निर्बलताओं से परिचित करा दिया था। तैयारियाँ पूरी कर अँगरेजों ने हुगली में लूटमार मचा दी। इसका समाचार पाते ही सिराज उन पर टूट पड़ा, लेकिन एक अनिश्चित परिणाम के युद्ध के पश्चात् फरवरी में समझौता कर लिया गया। इस समझौते की शर्तों के अनुसार अँगरेजों और नवाब दोनों ने परस्पर सहायता का वचन दिया; अँगरेजों की व्यापारिक रियायतें मान ली गईं और नवाब ने कलकत्ते की किलेबंदी भी स्वीकार कर ली।

इस समझौते में जितनी उतावली दोनों पक्षों ने की तथा जैसी शर्तें रखी गईं, जो निश्चित रूप से अँगरेजों के लिए बहुत हितकर थीं, इनकी व्याख्या हमें भारतीय घटनाओं के उन व्यापक प्रभावों में मिल जाती है, जिनसे बाध्य होकर सिराज और क्लाइव दोनों ही इस समझौते के लिए तैयार हो गये थे। जनवरी १७५७ ई० में अहमद शाह दुर्रानी ने दिल्ली को तहस-नहस कर दिया था और चारों ओर यह अफवाह फैल रही थी कि वह बंगाल की ओर बढ़ना चाहता है; इससे नवाब अँगरेजों के साथ शीघ्रतापूर्वक संधि कर उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए बहुत उत्सुक हो गया। उधर सप्तवर्षीय युद्ध की संभावना से क्लाइव भी नवाब को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए लालायित हो उठा। उसे भय था कि कहीं नवाब फ्रांसीसियों के साथ न जा मिले। फ्रांसीसियों की एक बस्ती बंगाल में चन्द्रनगर में भी थी और इस समय फ्रांसीसी सेनाध्यक्ष बुसी उत्तरी 'सरकारों' (जिलों) में, कलकत्ते से केवल १०० मील पर, डटा हुआ था। इस संधि से क्लाइव को आशा थी कि वह सिराज को फ्रांसीसियों के साथ मिलने से रोक सकेगा और तब उनसे टक्कर लेने के लिए उसके हाथ खुल जायँगे। क्लाइव की दोनों ही आशाएँ पूर्ण हुईं। उसने स्वयं ही कहा था कि, "एक या दो दिन का भी विलंब, नवाब को फ्रांसीसियों के साथ मिलने के लिए अवसर देकर, कम्पनी के हितों को नष्ट कर सकता था।"

इस प्रकार यह संधि दोनों पक्षों को बाह्य घटनाओं के दबाव के कारण बाध्य होकर करनी पड़ी थी; हृदय से कोई भी इसके लिए तैयार न था। अतः सुयोग मिलते ही फिर झगड़ा शुरू होने की संभावना निश्चित थी। घटना-चक्र बड़ी

तीव्र गति से अँगरेजों के पक्ष में घूम रहा था। थोड़े ही समय में क्लाइव फ्रांसीसियों को चन्द्रनगर से भगानेवाला था, और उस गुप्त योजना को पूर्ण करनेवाला था, जिससे बंगाल में नवाबी की समाप्ति का आभास तथा भारत में अँगरेजी राज्य की स्थापना का आश्वासन मिलनेवाला था।

चन्द्रनगर पर अधिकार, मार्च १७५७—नवाब के साथ समझौता होते ही क्लाइव ने चन्द्रनगर की फ्रांसीसी बस्ती की ओर ध्यान दिया। चन्द्रनगर व्यापारिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण न होने पर भी नवाब के साथ मिलकर फ्रांसीसियों की गुप्त मन्त्रणाओं के केन्द्र के रूप में अँगरेजों के लिए भय का विषय बन सकता था और अँगरेजों तथा फ्रांसीसियों के शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों को देखते हुए फ्रांसीसियों का नवाब के साथ गठबन्धन अँगरेजों के लिए बहुत अनिष्टकारक था। अतः चन्द्रनगर को अपने अधिकार में लाने के लिए नवाब से आवश्यक अनुमति प्राप्त करने में क्लाइव को सिराजुद्दौला के साथ बहुत कूटनीतिक चालें चलनी पड़ीं, क्योंकि चन्द्रनगर भी अँगरेज-बस्तियों के समान ही नवाब के संरक्षण में था। सिराज न तो अँगरेजों से बिगाड़ना चाहता था और न फ्रांसीसियों के विनाश का ही इच्छुक था। इस कूटनीतिक द्वंद्व में क्लाइव ने सिराज की अँगरेजों के साथ मित्रता बनाये रखने की आवश्यकता का पूरा-पूरा लाभ उठाकर, विजय प्राप्त कर ही ली। अंत में सिराज के एक संदिग्ध अर्थवाले पत्र का यह अर्थ लगाकर कि उसने चन्द्रनगर पर आक्रमण करने की अनुमति दे दी है, क्लाइव ने मार्च, १७५७ ई० में चन्द्रनगर पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। सिराज ने चन्द्रनगर को बचाने के लिए अपनी छोटी उँगली तक न हिलाई। फ्रांसीसियों को बंगाल से निकालने की अनुमति देकर सिराज ने बहुत अदूरदर्शिता से काम लिया। इस भूल का उसको प्लासी के युद्ध में बहुत महँगा मोल चुकाना पड़ा। बंगाल से फ्रांसीसियों को भगाकर क्लाइव का साहस बहुत बढ़ गया। अब वह सिराज को भी उलटने की योजनाएँ बनाने लगा।

अँगरेज और मीर जाफर—भारत के इतिहास में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक ऐसे-ऐसे देशद्रोहियों और घर के भेदियों की कमी नहीं रही जिन्होंने अपने तुच्छ स्वार्थों की तृप्ति के लिए अपने देश की स्वतंत्रता को भी दाँव पर लगा दिया; मीर जाफर इन्हीं में से एक था। फ्रांसीसियों की ओर से निश्चिंत हो जाने पर क्लाइव अपनी उन योजनाओं का ताना-बाना तैयार करने लगा, जिनसे बंगाल कम्पनी के अधिकार में आ गया और भारत में अँगरेजी साम्राज्य की नींव पड़ी। उस समय की चरित्रहीनता, अपने स्वार्थों को सर्वोपरि समझनेवाले राज-कर्मचारियों के दुराचार, निरन्तर शक्तिहीन होती हुई मुसलमान-शासन-व्यवस्था को



मीरजाफर के साथ सन्धि

विदाई देने की हिंदुओं की अभिलाषा—ये सब बातें उस षड्यन्त्र की पृष्ठभूमि तैयार कर रही थीं, जिसके प्रधान पात्र क्लाइव, मीर जाफर और अमीचंद थे।

नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र रचनेवाले कुचक्रियों ने शीघ्र ही अँगरेजों से नाता जोड़ लिया और अँगरेजों ने भी उनके कुचक्रों में अपने प्रभाव-विस्तार का सुयोग देखकर उनकी घृणित योजनाओं को खूब प्रोत्साहन दिया। सिराज के साथ समझौता हुए अभी ग्यारह दिन ही बीत पाये थे कि अँगरेज इन कुचक्रियों की मन्त्रणाओं को ध्यान से सुनने लगे; क्योंकि २० अप्रैल सन् १७५७ ई० के दिन कासिम बाज़ार के कारखाने के अँगरेज एजेंट स्क्रेटन ने क्लाइव को सेठों (हिन्दू व्यापारियों) की यार लुत्फ खाँ को सिराज के स्थान पर नवाब बनाने की गुप्त योजना के बारे में लिखा था। इसके थोड़े ही दिनों बाद मुर्शिदाबाद के अँगरेज एजेंट ने एक दूसरा प्रस्ताव कलकत्ते भेजा कि अँगरेजी सहायता देकर मीर जाफर को बंगाल की मसनद पर बिठाया जाय। अँगरेजों को यह दूसरा प्रस्ताव मान्य हुआ। उन्होंने मीर जाफर के साथ एक समझौता किया, जिसमें इस षड्यन्त्र की शर्तें तय की गईं।

सिराज को सिंहासन से हटाने में अँगरेजों को कुछ भी हिचक न हुई, यद्यपि थोड़े ही दिनों पहले उसके साथ संधि कर वे उसको सहायता देने का वचन दे चुके थे, क्योंकि उनकी स्वार्थ-वृत्ति ही उनका पथ-निर्देश करती थी और इस समय मीर जाफर के साथ हाथ मिलाने से उनकी यह वृत्ति अधिक तृप्त हो सकती थी। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता कि इस कुचक्र को, जिसमें उनका प्रमुख हाथ था और जिसकी लूट में उन्होंने सबसे बड़ा हिस्सा पाया, जन्म देने में उनका क्या हाथ था, परन्तु इतना निश्चित है कि वे षड्यन्त्रियों को प्रारम्भ से ही पूर्ण सहयोग दे रहे थे।

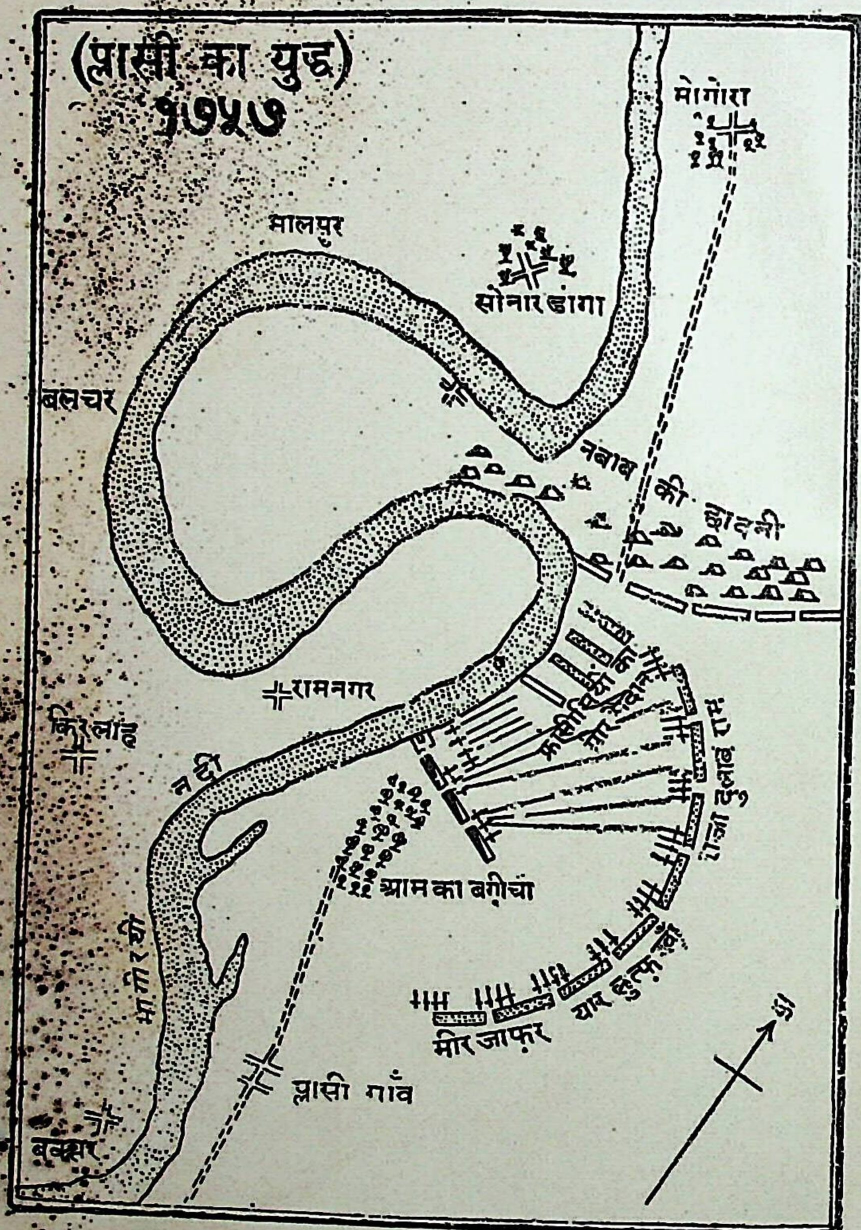
षड्यन्त्र की शर्तें—मीर जाफर के साथ समझौता—अँगरेजों ने मीर जाफर को बंगाल की 'मसनद' पर बिठाना स्वीकार कर लिया। इसके बदले में मीर जाफर ने वचन दिया कि वह (१) अँगरेजों का युद्ध एवं संधि में साथ देगा, (२) सिराज द्वारा कलकत्ते की तोड़-फोड़ की क्षति-पूर्ति के रूप में तथा युद्ध-व्यय के रूप में कम्पनी को एक करोड़ रुपये देगा और यूरोपीय निवासियों की सम्पत्ति के विनाश की क्षति-पूर्ति के रूप में उनको ५० लाख तथा हिंदू निवासियों की क्षति-पूर्ति के लिए उनको २० लाख रुपये देगा, क्योंकि उसको बताया गया कि कलकत्ते पर सिराज के आक्रमण से यूरोपीय तथा हिंदू निवासियों को बहुत हानि उठानी पड़ी है; इनके अतिरिक्त उसने वचन दिया कि (३) कलकत्ते की खाई के अंतर्गत सारी भूमि तथा कलकत्ते के दक्षिण की ओर हुगली और नमक की झील के बीच के प्रदेश की ज़मींदारी वह अँगरेजों के नाम कर देगा, (४) अपनी रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने

पर अँगरेज़-सेना का व्यय-भार उठायेगा, (५) हुगली से नीचे के प्रदेश में किले न बनवायेगा; और (६) कम्पनी भी तभी तक उसके शत्रुओं के विरुद्ध उसकी सहायता करेगी, जब तक वह इस संधि की शर्तों का पालन करता रहेगा।

ये शर्तें तो उस मूल्य का बहुत मोटा-सा हिसाब है जो मीर जाफर ने अपनी अधिकार-लोलुपता की तृप्ति के बदले में चुकाना स्वीकार किया परन्तु जैसे-जैसे घटनाएँ स्पष्ट होती गईं, यह जानकर उसको मानसिक सन्ताप होने लगा कि अँगरेज़ों की माँगें संधि की शर्तों से कहीं अधिक बढ़ी हुई हैं और सिराजुद्दौला को सिंहासन-च्युत कर अँगरेजों ने वास्तव में अपनी कम्पनी का ही प्रभुत्व स्थापित किया है।

अमीचंद के साथ धोखा—विश्वासघात का पुरस्कार—मीर जाफर के संधि स्वीकार कर लेने पर, दलाल अमीचंद ने भी अपना हिस्सा, जो तीस लाख के लगभग होता था, पक्का करना चाहा और धमकी दी कि यदि संधि की शर्तों में उसके हिस्से का उल्लेख न किया जायेगा तो वह इस षड्यन्त्र का भंडाफोड़ कर देगा, अमीचंद कलकत्ते का एक सिक्ख व्यापारी था और प्रारम्भ से ही अँगरेजों तथा मीर जाफर के बीच दलाल का काम कर रहा था। दोनों पक्षों ने उसकी सेवाओं के लिए उसको दलाली देने का वचन दिया था। परन्तु क्लाइव उसको एक धेला भी न देना चाहता था; इसलिए उसने अमीचंद के साथ एक गहरी चाल खेली। क्लाइव ने दो संधिपत्र तैयार किये एक सच्चा और एक झूठा, अमीचंद की दलाली की शर्तें झूठे संधि-पत्र में लिखी गई और यह संधिपत्र दिखाकर उसका मुँह बंद किया गया। नौसेनाध्यक्ष वाट्सन ने इस झूठे संधिपत्र पर हस्ताक्षर करना अस्वीकार कर दिया, परन्तु स्थिति की गंभीरता का विचार कर क्लाइव ने वाटसन के भी जाली हस्ताक्षर बना लिये। अमीचंद को इस जालसाजी का पता तब लगा, जब बात उसके हाथ से निकल चुकी थी क्योंकि तब तक मीर जाफर नवाब बन चुका था।

इस घटना के संबंध में क्लाइव तथा कम्पनी की निर्वाचित कार्य-समिति के घृणित आचरण को किसी भी प्रकार न्यायोचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। अमीचंद षड्यन्त्र को सफल बनाने में साधक था। यदि वह अपनी सेवाओं के बदले में कुछ दलाली चाहता था तो यह बात समझ में आ जाती है। परन्तु जो बात समझ में नहीं आती वह यह है कि क्लाइव क्यों उसको धोखा देना चाहता था। क्लाइव के इस आचरण को, स्थिति की गंभीरता तथा उसकी निस्पृहता के बहाने बनाकर न्यायोचित सिद्ध करने का जी तोड़ प्रयत्न करनेवाले लेखकों की भी कमी नहीं है। उनका कहना है कि क्लाइव ने जो कुछ भी किया, वह अपने लिए नहीं अपितु अपनी जाति के लिए किया। परन्तु हमारी दृष्टि में क्लाइव का यह आचरण


(प्लासी का युद्ध)
१७५७
मोगोरा
मालपुर
सोनारडांगा
बलचर
नवाब की छावनी
रामनगर
किरलाह
नदी
आम का बगीचा
राजा दुर्लभ राम
यार लुत्फ़ खाँ
मीर जाफ़र
भागीरथी
प्लासी गाँव
बक्सर

किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य स्मरण रखने की बात है की क्लाइव उस सभ्यता में पला था, जो कार्य के साधनों की अच्छाई-बुराई उसके फल से आँकती है और जिसके सदाचार के नियम दो सर्वथा भिन्न विभागों में बँटे हैं, जिनके अनुसार वही आचरण जो व्यक्तिगत होने पर पतित कहे जायेंगे, राष्ट्र से संबंधित होने पर श्रेष्ठ समझे जाते हैं।

प्लासी का युद्ध—षड्यन्त्र की योजना पूर्णतया बन जाने पर, क्लाइव लड़ाई छेड़ने का बहाना ढूँढ़ने लगा और अंत में सिराजुद्दौला पर समझौते की शर्तों को तोड़ने का दोष लगाकर उसने राजधानी की ओर अभियान कर दिया। उसके साथ ३,००० सैनिक थे, जिनमें ८०० यूरोपीय थे। सिराज भी ५०,००० सैनिक लेकर राजधानी से चल पड़ा। प्लासी के मैदान में दोनों सेनाओं का सामना हुआ। नवाब की विशाल सेना को देखकर अँगरेजों का दल भय से काँप उठा, शीघ्र ही युद्ध-मन्त्रणा हुई; क्लाइव तत्काल युद्ध छेड़ने के पक्ष में न था और इस काम में बहुमत उसके साथ था। इस युद्ध में पराजय का अर्थ अँगरेजों का बंगाल में सर्वनाश था और संभवतः दक्षिण में भी, जहाँ फ्रांसीसी अंतिम संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो रहे थे। अतः आश्चर्य नहीं कि क्लाइव शीघ्र युद्ध करने से हिचकिचा रहा था; परन्तु इसी समय उसको मीर जाफर का पत्र मिला, जिसमें संभवतः यह आश्वासन दिया गया था कि सिराजुद्दौला की सेना में मीर जाफर के अधीन जो विशाल दल था वह युद्ध में सक्रिय भाग न लेगा, इस पत्र को पाकर क्लाइव का साहस लौट आया और उसने लड़ने की ठान ली। दूसरे दिन अँगरेज-सेना ने, कासिम बाजार नदी पार की; यहाँ क्लाइव को मीर जाफर का दूसरा पत्र मिला, जिसमें सिराज की सेना की गति-विधि का परिचय दिया गया था। अगले दिन क्लाइव प्लासी पहुँचा और नवाब के तोपखाने से गोलाबारी के साथ युद्ध प्रारम्भ हुआ। अभी थोड़े से ही गोले चल सके थे कि भारी वर्षा ने युद्ध रोक दिया। दोपहर के बाद यह वर्षा बंद हुई और तब कर्नल किलपेट्रिक ने अपने ही उत्तरदायित्व पर आगे बढ़ने का आदेश दे दिया। इस समय तक मीर जाफर तथा राय दुर्लभ को, जिनके नायकत्व में सेना का बहुत बड़ा भाग था, निष्क्रिय देखकर सिराजुद्दौला को विश्वास हो गया कि उसके साथ विश्वासघात किया जा रहा है। राय दुर्लभ ने सिराज को जान बचाकर भाग जाने की सलाह दी, अपने कर्मचारियों के विश्वासघात को देखकर सिराज का दिल टूट गया और केवल २१ वर्ष का यह लड़का भयभीत होकर युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला; मैदान अँगरेजों के हाथ रहा। अँगरेजों की यह विजय न तो अँगरेजों की वीरता का परिणाम थी और न 'क्लाइव की श्रेष्ठ सेना-नायकता' का; यह विश्वासघात का फल थी। इस लड़ाई में क्लाइव ने कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया; उसने प्रमुख

भाग लिया युद्ध से पूर्व षड्यन्त्र रचने में और युद्ध के पश्चात् बंगाल की लूटपाट में।

प्लासी के युद्ध की गिनती भारत के भाग्य-निर्णायक युद्धों में की जाती है। सैनिक दृष्टि से यह युद्ध का एक नाटक था, जिसमें दस-बीस गोले छोड़े गये और इससे भी कम आदमी खेत रहे। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह युद्ध बहुत महत्त्व-पूर्ण था; इसने अँगरेजों को बंगाल का स्वामी बना दिया, जहाँ से बढ़ते हुए वे अगले सौ वर्षों में सारे भारत पर छा गये। मीर जाफर नवाब बना; सिराज को मीर जाफर के पुत्र मीरन ने पकड़कर तलवार के घाट उतार दिया। अमीचन्द की आँखें खुलीं और अब नवाब का धन 'भेंटों तथा उपहारों' के रूप में हुगली के मार्ग से कलकत्ते पहुँचने लगा। क्लाइव को कुल मिलाकर ३०,८०,००० रुपये मिले; वाट्स, किलपैट्रिक इत्यादि अन्य अँगरेज अधिकारियों के हाथ भी सब मिलाकर ३,५१,००० रुपये लगे। (कम्पनी को भी अपना भाग और युद्ध का व्यय मिला।) इस प्रकार प्लासी के युद्ध के बाद कुछ ही दिनों में १,७३,९६,७६१ रुपयों का नवाब के कोष से वारा-न्यारा हो गया; मीर जाफ़र ने नवद्वीप हथियाने के लिए यह मूल्य चुकाया। धन की इस विपुल राशि के अतिरिक्त कम्पनी को जो राजनीतिक तथा आर्थिक लाभ हुए उनका तो कहना ही क्या है (कलकत्ते में कम्पनी की टकसाल खुल गई; बंगाल में कम्पनी के व्यापार पर कोई रोक-टोक या कर न रह गये; चौबीस परगनों की जमींदारी भी कम्पनी के हाथ लगी और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि स्वयं नवाब उनका बनाया हुआ था; कम्पनी की माँगों को अस्वीकार करने की उसकी क्या हिम्मत हो सकती थी।)

मीर जाफर जनता तथा राज-कर्मचारियों की नजरों में गिर गया। अँगरेजों एवं षड्यन्त्र में भाग लेनेवाले हिन्दू दलालों को छोड़ बाकी सभी उसको देश-द्रोही समझकर उससे घृणा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि शासन-व्यवस्था बहुत शिथिल हो गई। 'मसनद' के प्रति जो थोड़ा-बहुत भक्ति-भाव लोगों के मन में था, वह भी जाता रहा। अब कोई भी अधिकार-लोलुप व्यक्ति मीर जाफर के से उपाय अपनाकर अँगरेजों की सहायता पर भरोसा कर, जो कि कीमत चुकाने पर किसी को भी मिल सकती थी, 'मसनद' पर बैठने के सुखद स्वप्न देख सकता था। अँगरेजों की जेबें इस विप्लव में खूब गरम हुई थीं और अब नवाब बनाने और मिटाने के खेल की ओर उनका मन बहुत खिचने लगा था, क्योंकि धन तथा अधिकार प्राप्त करने का यह बहुत सरल मार्ग था। इस प्रकार हम इतिहास के उस काल में प्रवेश करते हैं, जब अँगरेजों का चरित्र बहुत निम्न स्तर पर उतर गया था, जब भ्रष्टाचार, लूटपाट और लोलुपता का बाजार इतना गरम था जितना आज तक फिर कभी नहीं हुआ।

मीर जाफर की दुर्दशा—मीर जाफर को अपनी स्थिति की शक्तिहीनता तथा अँगरेजों के प्रभुत्व का शीघ्र ही अनुभव होने लगा। उसका कोष रिक्त हो गया था, उसके आभूषण तक बिक चुके थे, परन्तु अँगरेज कम्पनी तथा उसके अधिकारियों की माँगें अभी तक पूरी न हो रही थीं। उधर दीवान राय दुर्लभ तथा बिहार के प्रतिनिधि-शासक राजा रामनारायणसिंह जैसे हिन्दू अधिकारियों के साथ उसकी खटपट होने लगी। अँगरेज गुप्त रूप से नवाब के विरुद्ध हिन्दुओं की सहायता करने लगे। स्थिति गम्भीर रूप धारण कर रही थी कि क्लाइव ने बीच में पड़कर समझौता करा दिया और इस सेवा के बदले में बिहार के शोरे के व्यापार का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। मीर जाफर ने देख लिया कि स्वयं अपने घर पर भी उसका कोई अधिकार नहीं रह गया है और अपने अधीन कर्मचारियों के सम्बन्ध में भी उसे अँगरेजों के आदेशों का पालन करना पड़ता है। हिन्दू-मुसलमानों को आपस में भिड़ाने की नीति, जो भविष्य में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई, यहीं से प्रारम्भ होती है।

शाह आलम का आगमन—इन आन्तरिक संकटों के अतिरिक्त, बाह्य आक्रमणों के भय भी इस भाग्यहीन प्रान्त को सता रहे थे। इस समय मुगल-सम्राट् द्वितीय आलमगीर का पुत्र शाह आलम, अपना सिंहासन खोकर अवध में शरण और सहायता पाने की आशा से भटकता फिर रहा था। बंगाल की दुर्दशा ने उसका ध्यान आकर्षित किया और अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला से जो उसको अवध से बिदा करने के लिए उत्सुक था, प्रोत्साहन एवं सहायता पाकर वह बिहार की सीमा पर चढ़ आया। परन्तु उसके साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया और मीर जाफ़र के पुत्र मीरन ने उसको परास्त कर पीछे हटा दिया। इसी समय क्लाइव भी अपनी सेना लेकर मीरन की सहायता के लिए चल पड़ा। परन्तु उसके पहुँचने से पहले ही मीरन अपने कार्य में सफल हो चुका था। फिर भी क्लाइव ने केवल कलकत्ते के बाहर पैर रखने के बदले में नवाब से कम्पनी द्वारा प्राप्त होनेवाला किराया वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया, जिससे नवाब को ३०,००० प्रतिवर्ष की हानि सहनी पड़ी। इस प्रकार क्लाइव कम्पनी के कर्मचारी के साथ-साथ कम्पनी का साहूकार भी बन बैठा।

बंगाल में अँगरेज और डच—अँगरेजों की बढ़ती हुई शक्ति और विशेषतया शोरे पर उनके एकाधिकार के कारण चिनसुरा की डच बस्ती पर हानिकर प्रभाव पड़ता था; अतः वे अँगरेजों से लड़ने की तैयारी करने लगे। परन्तु अँगरेजों के सामने वे टिक न सके, और वे डेरा नामक स्थान पर परास्त हुए तथा उन्हें ऐसी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं, जिनके अनुसार भविष्य में बंगाल में उनकी स्थिति अँगरेजों की कृपा पर निर्भर हो गई।

क्लाइव का लौटना, फरवरी, १७६० ई०—फरवरी, १७६० ई० में जब क्लाइव इँगलैण्ड लौटा तो उसको प्लासी के युद्ध-विजेता तथा बंगाल-विजेता के रूप में सम्मानित किया गया। इधर बंगाल में अराजकता फैल रही थी; शासन-तन्त्र निष्क्रिय पड़ा था; विजेता ने मानों बंगाल की आत्मा की हत्या कर दी थी। क्लाइव इस अराजकता को जन्म देने के दोष से बच नहीं सकता। उसकी धन-लोलुपता ने, उसके साथी कर्मचारियों में भी फैलकर, मीर जाफर का कोष चूस लिया था और उसके पास शासन-व्यवस्था चलाने के लिए कुछ भी न छोड़ा था। अँग-रेजों ने अपने 'दस्तक' बेच-बेचकर व्यापारिक-करों से होनेवाली आय भी समाप्त कर दी थी और नवाब के हाथ में इतनी शक्ति न थी कि वह उनको ऐसा करने से रोक सकता।

पाँचवाँ अध्याय

बंगाल में नई व्यवस्था—१७५७—१७६७ ई०

मीर जाफर का सिंहासन-च्युत होना—मीर जाफर की स्थिति सर्वथा अरक्षित थी। उसके भाग्य में उन्हीं हाथों तथा उन्हीं षड्यन्त्र के उपायों से सिंहासन-च्युत होना बदा था, जिनके सहारे वह 'मसनद' पर बैठ पाया था। क्लाइव इँगलैण्ड लौट गया था। उसके स्थान पर वेन्सिटार्ट के आने तक हालवेल नियुक्त हुआ। कोष रिक्त होने के कारण मीर जाफर कम्पनी को दिये हुए अपने वचनों को पूरा न कर पा रहा था और कम्पनी को धन की बहुत आवश्यकता पड़ रही थी। ऐसे समय पर मीर जाफर का दामाद मीर कासिम, 'मसनद' प्राप्त करने की अभिलाषा लेकर प्रकट हुआ। उसने अँगरेजों से मिलकर एक षड्यन्त्र रचा और अँगरेजों को उनकी सहायता के बदले में मीर जाफर से भी अधिक धन एवं अधिकार देने का वचन दिया। मीर कासिम के इस आश्वासन के रूप में कम्पनी एवं उसके अँगरेज कर्मचारियों को फिर से जेब गरम करने का सुयोग दिखाई दिया। जहाँ तक मीर जाफर का सम्बन्ध था, उससे इन लोगों का जितना प्रयोजन सिद्ध हो सकता था, हो चुका था और अब उसको बड़ी प्रसन्नता से बिदा दी जा सकती थी। सितम्बर, १७६० ई० में कम्पनी ने मीर कासिम के साथ समझौता कर लिया, जिसके अनुसार कम्पनी ने उसको सिंहासन पर बिठाना स्वीकार किया और उसने इसके बदले में मिदनापुर, बर्द्वान तथा चटगाँव के प्रदेश कम्पनी को देना स्वीकार किया।

इस समझौते पर हस्ताक्षर हो जाने पर, कम्पनी मीर जाफर पर शासन-व्यवस्था की दुर्दशा का दोष लगाने लगी। मीर जाफर ने देखा कि उसके दिन पूरे होनेवाले हैं, और विरोध करने का उसके हाथ में कोई भी साधन नहीं है; इसलिए उसने चुपचाप 'मसनद' खाली कर दी और मीर कासिम नवाब बन गया। फिर से कम्पनी के कर्मचारियों को उपहार-स्वरूप बड़ी-बड़ी रकमें मिलीं और उनकी दृष्टि में यह उलट-फेर बहुत सफल रहा। सन्धि की शर्तों के विरुद्ध मीर जाफर को सिंहासन च्युत करना अँगरेजों की दृष्टि में बिलकुल बुरी बात न थी, क्योंकि अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय आचार-विचारों के अनुसार सन्धियाँ केवल अस्थायी (काम चलाऊ) उपाय मात्र समझी जाती थीं और उनसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो चुकने

पर उनको भंग करने में कोई भी दोष न समझा जाता था। इस प्रकार विश्वासघातक मीर जाफर को अपने किये का दण्ड मिल ही गया और इस तरह सिराजुद्दौला का प्रतिशोध पूरा हुआ।

मीर कासिम और अँगरेज—मीर कासिम को गद्दी पर बिठाकर अँगरेजों को शीघ्र ही पछताना पड़ा। यह जानकर उनकी चिन्ताएँ बहुत बढ़ गईं कि मीर कासिम में अद्भुत योग्यता तथा दृढ़ चरित्रबल है और वह ऐसा व्यक्ति है जो अपने कामों में किसी की टाँग अड़ाना सहन नहीं कर सकता और न वह सोने का ऐसा थैला ही बनना चाहता था जिसमें कम्पनी जब चाहे तब हाथ डालती रहे। वह शासन-व्यवस्था में बहुत निपुण था और दीन-हीन बंगाल की आवश्यकताओं का उसे स्पष्ट ज्ञान था। बड़ी चतुराई से उसने बंगाल और बिहार के निरंकुश जमींदारों को दबाने का कार्य सम्पन्न किया। दृढ़ सैनिक-संघटन स्थापित करने एवं रिक्त राज-कोष को भरने के लिए वह प्रयत्नशील हुआ। ये दोनों काम सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र के लिए नितान्त आवश्यक थे। परन्तु जैसे ही उसने देश के भीतरी व्यापार को सुधारने का प्रश्न उठाया, अँगरेजों के साथ उसकी अनबन हो गई। कम्पनी के कर्मचारी और एजेण्ट अपनी व्यापारिक सुविधाओं का अनुचित उपयोग कर बहुत लाभ उठाते थे। मीर कासिम इन दुराचारों का अन्त करना चाहता था। अँगरेजों को उसकी दृढ़ नीति प्रसन्द न आई। फर्रुखसियर के १७१७ ई० के फर्मान में, जिस पर अँगरेज अपने व्यापारिक अधिकारों को आधारित करते थे, उनका केवल सामुद्रिक व्यापार कर-मुक्त माना गया था। परन्तु देश की अव्यवस्था का लाभ उठाकर कम्पनी के कर्मचारी अपने सभी प्रकार के व्यापार में इस सुविधा का लाभ उठाने लगे थे, जिससे भारतीय व्यापारियों को बहुत हानि उठानी पड़ रही थी। वास्तव में इस समय तक, वेरेल्स्ट के शब्दों में 'व्यापार राज-कर दिये बिना चलाया जाता था, और इस कार्य को सम्पन्न करने में असीम अत्याचार किये जाते थे; जनता को सताने से ही सन्तुष्ट न होकर अँगरेजों के एजेण्ट और गुमाश्ते (हिन्दुस्तानी एजेण्ट) नवाब के अधिकारियों के बाधा डालने पर उनको बाँधकर और दण्ड देकर सरकार के अधिकारों को भी कुचलने लगे थे।' नवाब ने कलकत्ते की कौंसिल के सामने अँगरेजों के इस आचरण की शिकायत की, परन्तु हेस्टिंग्ज और वेन्सिटार्ट को छोड़कर कौंसिल के अन्य सभी सदस्यों ने यही मत प्रकट किया कि अँगरेज अपने अधिकारों की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर रहे हैं। निजी स्वार्थों ने इन सदस्यों को, जिनमें से अधिकतर व्यक्तिगत व्यापार में भाग लेते थे, यह बात भुला दी कि उनके अधिकार केवल आयात एवं निर्यात तक सीमित थे और देश के भीतरी व्यापार में उनको कर-मुक्त नहीं किया गया था तथा आयात-निर्यात के माल पर जो सुविधा

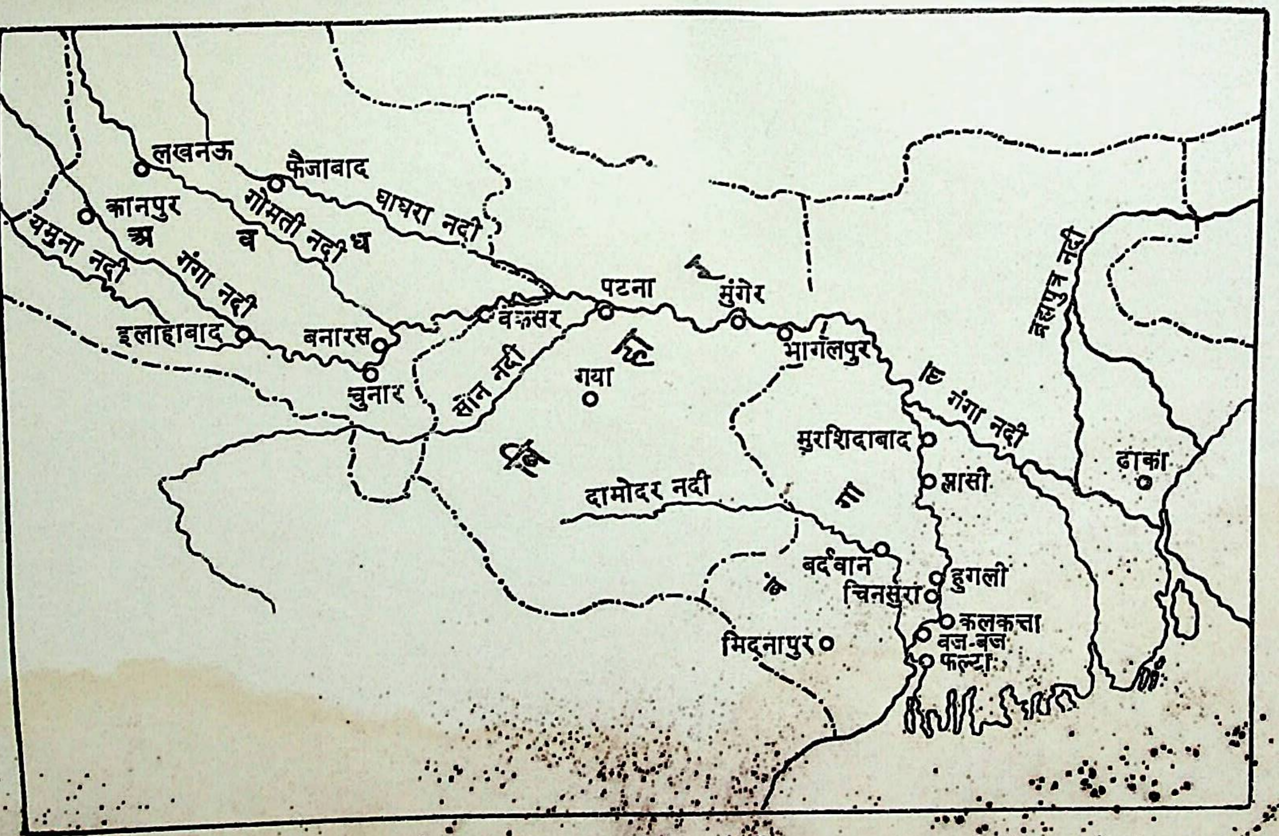
दी गई थी वह कम्पनी को दी गई थी, उसके कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार के लिए नहीं। कलकत्ते की कौंसिल के विरोधी रुख ने समझौते की आशाओं पर पानी फेर दिया। तब बहुत निराश होकर मीर कासिम ने इस दुराचार के प्रतिकार के लिए सारे भीतरी व्यापार को कर-मुक्त कर दिया। इस प्रकार बंगाल का सारा व्यापार कर-मुक्त हो गया। लेकिन यह बात भी अँगरेजों को अपने हितों को बहुत क्षति पहुँचानेवाली अनुभव हुई, क्योंकि अब भारतीय व्यापारियों तथा उनके माल के भावों में कोई भी अन्तर न रह जाता था। वे आन्तरिक व्यापार को कर-मुक्त होने देना नहीं चाहते थे, परन्तु स्वयं कर देने की भी उनकी इच्छा न थी। उनकी नीति में ऐसी स्वार्थपरता भरी थी। उन्होंने नवाब को धमकी दी कि यदि वह आन्तरिक व्यापार पर फिर से राज-कर न लगायेगा तो वे उस पर आक्रमण कर देंगे। अँगरेजों के पटना के दलाल एलिस ने पटना नगर पर आक्रमण द्वारा अधिकार कर स्थिति को बहुत गम्भीर बना दिया। मीर कासिम की सेना ने शीघ्र ही नगर पर पुनः अधिकार कर दो सौ यूरोपियनों को बन्दी बना लिया। तत्काल अँगरेजों ने मीर कासिम के साथ युद्ध छेड़ दिया। मीर कासिम को सिंहासन से हाथ धोना पड़ा। मीर जाफर को पुनः नवाब बनाया गया और फिर उपहारों का दौर शुरू हुआ। मीर कासिम अगस्त, १७६० ई० में घेरिया तथा उधुआ नाला में परास्त होकर अवध की ओर भाग गया। मीर जाफर ने भीतरी व्यापार पर हटाये हुए कर फिर से लगा दिये, मीर कासिम के युद्धों में हुई अँगरेजों की क्षति पूरी करने का वचन दिया, मानो इसमें भी उसका दोष था और अँगरेजों को नमक पर २½ प्रतिशत राज-कर को छोड़ अन्य सभी व्यापारिक वस्तुओं पर कर से मुक्त कर दिया। मीर जाफर पुनः कठिनाइयों में फँस गया क्योंकि उसके स्वामी अँगरेज उसको धन के लिए सताते थे और अपनी माँगों में से एक पाई भी कम करने को तैयार न थे। आखिर १७६५ ई० के प्रारम्भ में वह चल बसा।

बक्सर का युद्ध, २२ अक्टूबर, १७६४ ई०—परास्त होने के पश्चात् मीर कासिम ने अवध में शरण ली। मुगल-बादशाह शाह आलम भी अपने निर्वासन के दिन वहीं पूरे कर रहा था। मीर कासिम ने शुजाउद्दौला को अँगरेजों के साथ युद्ध छेड़ने के लिए मना लिया। अब मीर कासिम, शुजाउद्दौला तथा शाह आलम की सम्मिलित सेना बिहार की ओर चल पड़ी। कुछ अनिश्चयात्मक युद्धों के पश्चात् अक्टूबर १७६४ ई० में इस सम्मिलित सेना का अँगरेज-सेना से बक्सर के मैदान में सामना हुआ। मेजर हेक्टर मनरो की अध्यक्षता में अँगरेज-सेना विजयी हुई। मीर कासिम भाग गया और इधर-उधर भटकते हुए अन्त में १७७७ ई० में दिल्ली में उसका देहान्त हुआ।

बक्सर के युद्ध का महत्त्व—बक्सर की लड़ाई ने वह कार्य पूर्ण कर दिया जो प्लासी के युद्ध से प्रारम्भ हुआ था और रैम्जे म्योर के शब्दों में "इसने बंगाल को कम्पनी के शासन की बेड़ियों में पूर्णतया जकड़ दिया। इसने केवल बंगाल के नवाब की ही पराजय का ढिढोरा नहीं पीटा, अपितु बादशाह और अवध के नवाब वजीर की हार की भी घोषणा की। बादशाह अँगरेजों के हाथ में आ गया और अवध इसके चरणों में लोट गया।"

क्लाइव का पुनरागमन (मई, १७६५ ई०)—बंगाल की अव्यवस्था की ओर कम्पनी के डायरेक्टरों का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने बंगाल में व्यवस्था लाने के लिए लार्ड क्लाइव को खूब अधिकार देकर भेजा। उसको बंगाल का गवर्नर तथा निर्वाचित समिति का प्रधान नियुक्त किया गया। बंगाल पहुँचने पर क्लाइव के सामने अनेक बाह्य तथा आन्तरिक समस्याएँ आईं जिनका तत्काल समाधान होना आवश्यक था। उसने देखा कि भ्रष्टाचार बहुत फैल रहा है, कर्मचारियों में स्वेच्छाचार बढ़ रहा है और जनता निर्धनता एवं अत्याचारों की वेदना से कराह रही है। उसने, जैसा कि वह बाद में कहा करता था, 'इन सब दोषों को मिटाने का' संकल्प किया; परन्तु वास्तव में उसने नवाब तथा उसकी प्रजा की शक्ति-हीनता से लाभ उठाकर कम्पनी के राजनीतिक लाभों को पुष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ न किया।

क्लाइव के सुधार—क्लाइव के सामने सबसे बड़ी समस्या सैनिक और नागरिक व्यवस्था के सुधार की थी। उसने भ्रष्टाचार को जड़ से उखाड़ने और भेंटों तथा उपहारों को लेने, वास्तव में लूटने-खसोटने की प्रथा को समाप्त करने का संकल्प कर लिया था; ये उपहार घूस और व्यक्तिगत व्यापार से किसी प्रकार अच्छे न होते थे। सुधार-कार्य में, भेंटों और उपहारों पर रोक लगाने में उसके अपूर्व उत्साह को देखकर वे लोग बहुत आश्चर्यचकित हुए जो पहले भी उसके साथ काम कर चुके थे; परन्तु अब क्लाइव बहुत बदल गया था। वह मालामाल हो चुका था और अब उस सीढ़ी को ठोकर मारने में उसे कोई हिचक न थी, जिसके सहारे वह इस ऐश्वर्य की स्थिति तक पहुँच पाया था। उसने कम्पनी के कर्मचारियों को भेंट और उपहार न लेने तथा व्यक्तिगत व्यापार न करने के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। यह भली भाँति जानते हुए भी कि कम्पनी के कर्मचारियों में चारित्रिक चेतना थी ही नहीं और जो थोड़ी-सी थी भी वह भी धन-लोलुपता में लुप्त हो गई थी, यह विश्वास कर लेना असम्भव है कि प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देने मात्र से वे भले ईमानदार आदमी बन गये होंगे। उनके भ्रष्टाचारी होने का एक प्रमुख कारण उनका बहुत कम वेतन था, परन्तु कम्पनी के संचालक


लखनऊ
फैजाबाद
कानपुर
गोमती नदी
घाघरा नदी
यमुना नदी
गंगा नदी
इलाहाबाद
बनारस
चुनार
बक्सर
सोन नदी
पटना
गया
मुंगेर
भागलपुर
गंगा नदी
ब्रह्मपुत्र नदी
मुरशिदाबाद
प्लासी
ढाका
दामोदर नदी
बर्दवान
हुगली
चिनसुरा
कलकत्ता
बज-बज
फल्टा
मिदनापुर

बंगाल का युद्ध

इसको बढ़ाने के लिए तैयार न थे। निर्धनता भी मनुष्य को बेईमान बना देती है और जब बेईमानी से मालामाल होने की आशा हो तब तो यह सम्भावना और भी बढ़ जाती है। भेंटों तथा उपहारों को बन्द करने से कर्मचारियों की आय में जो कमी हुई, उसकी पूर्ति के उद्देश्य से क्लाइव ने एक व्यापारिक संस्था स्थापित की और इसको नमक, सुपारी तथा तम्बाखू के व्यापार का एकाधिकार दे दिया। इसके लाभ की रकम कम्पनी के उच्चपदस्थ कर्मचारियों में बँटती थी। इस प्रकार क्लाइव ने व्यक्तिगत व्यापार उच्चपदस्थ कर्मचारियों के लिए तो सुरक्षित रखा, परन्तु छोटे कर्मचारियों से इसमें भाग न लेने का वचन ले लिया। यह व्यापारिक संस्था, जो जनता को सता-सताकर बहुत लाभ बटोरती थी, सन् १७६७ ई० में संचालक-मण्डल (कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स) की आज्ञा से भंग कर दी गई।

सैनिक-सुधार—बक्सर तक विस्तार हो जाने से कम्पनी की सीमा मराठों के समीप पहुँच गई; अतः मराठों के हमलों को रोकने के लिए क्लाइव ने अपनी सेना के तीन भाग किये और प्रत्येक दल को क्रमशः मुँगेर, बाँकीपुर तथा इलाहाबाद में रखा।

दुगने भत्ते के प्रश्न पर और क्लाइव द्वारा इसके बन्द किये जाने पर बहुत हल-चल मची और थोड़ा-बहुत विरोध भी किया गया, परन्तु क्लाइव ने इसको शान्त कर दिया। कम्पनी की सेना को अभियान के समय नवाब के कोष से दुगना भत्ता मिलता था। यह प्रथा प्लासी के युद्ध के बाद से बढ़ी थी और क्योंकि इसका भार नवाब के कोष पर पड़ता था; इसलिए इसको कम करने के लिए पहले किसी ने प्रयत्न न किया था। परन्तु बंगाल की दीवानी मिल जाने के बाद से यह भत्ता कम्पनी के कोष से ही देना पड़ता था; इसलिए इसको कम करने की ओर शीघ्र ही क्लाइव का ध्यान आकर्षित हुआ। सैनिक-अधिकारियों ने अपने-अपने पद त्यागने की धमकी दी, परन्तु क्लाइव ने बड़ी शान्ति से स्थिति का सामना किया। परिणाम यह हुआ कि दुगना भत्ता समाप्त हो गया।

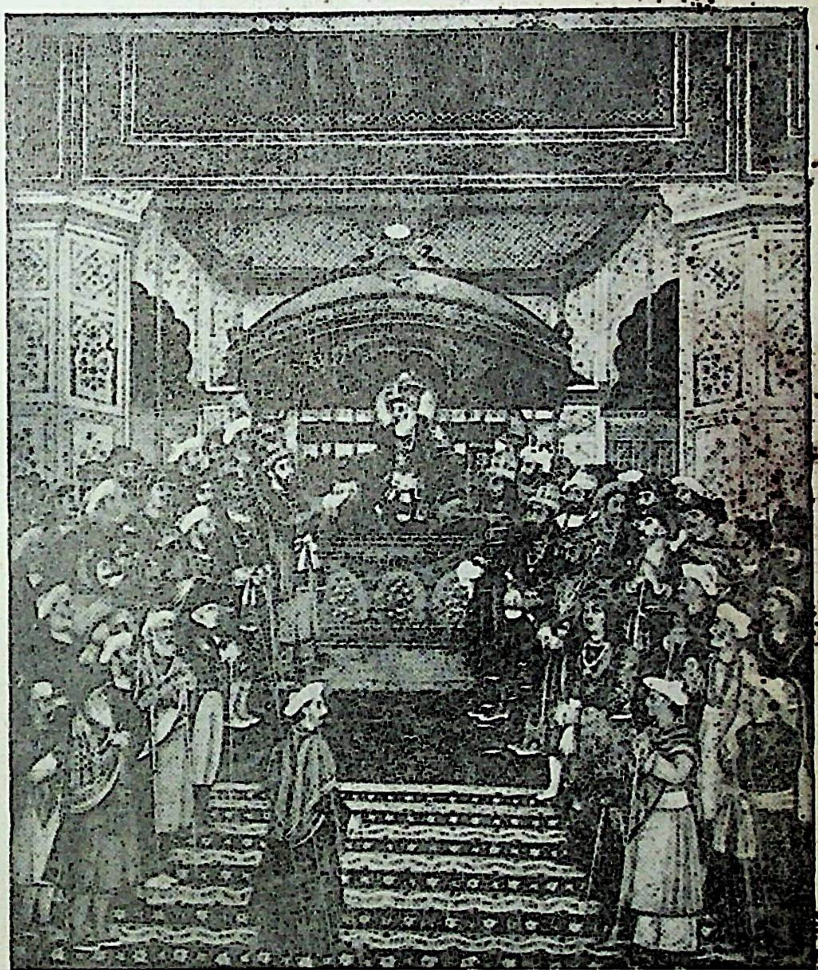
विदेशी नीति—भारत लौटने पर क्लाइव के सामने अवध के नवाब, शाह आलम तथा फरवरी १७६५ ई० में मीर जाफर की मृत्यु के पश्चात् बंगाल के नवाब के साथ कम्पनी के सम्बन्ध निश्चित करने की समस्या आई। इनमें से प्रत्येक पक्ष के साथ समझौता करने में क्लाइव के सामने एकमात्र लक्ष्य कम्पनी के राजनीतिक प्रभुत्व को सुदृढ़ करना था।

अवध के साथ समझौता—अवध के साथ क्लाइव के समझौते से कम्पनी का और अवध का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दीर्घ-काल तक बना रहा और अन्त में १८५६ ई० में समाप्त हुआ, जब लार्ड डलहौजी ने अवध को अँगरेजी राज्य में मिला

लिया। बक्सर के युद्ध के परिणामस्वरूप अवध अँगरेजों के चरणों में नत हुआ और नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला कम्पनी की कृपा का अभिलाषी बन गया। भौगोलिक दृष्टि से अवध की सीमा बंगाल की सीमा से मिलने के कारण इसका सैनिक महत्त्व भी बहुत था। कम्पनी के कुछ अधिकारी अवध को तत्काल अँगरेजी राज्य में मिला लेने के पक्ष में थे; परन्तु क्लाइव इस नीति का विरोधी था, क्योंकि ऐसा करने से एक तो कम्पनी के उत्तरदायित्व में बहुत विशाल क्षेत्र आ जाता था और दूसरे मराठों के आक्रमणों का भय भी बढ़ जाता था। इसलिए उसने अवध को एक मित्र-राज्य की हैसियत में बनाये रखने का निश्चय किया जिससे यह बंगाल तथा मराठों के बीच में एक तटस्थ-राज्य का काम दे सके। इस निश्चय के अनुसार अगस्त १७६५ ई० में अवध के नवाब तथा कम्पनी के बीच इलाहाबाद में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार इन दोनों ने युद्ध एवं सन्धि में एक दूसरे का साथ देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त कम्पनी ने नवाब को सैनिक सहायता देना भी इस शर्त पर स्वीकार किया कि नवाब सेना का व्यय-भार उठाये। नवाब ने क्षतिपूर्ति के रूप में पचास लाख रुपये तथा कड़ा और इलाहाबाद के जिले देना स्वीकार किया।

शाह आलम के साथ संधि—दीवानी की स्वीकृति—अब क्लाइव शाह आलम की ओर मुड़ा, जिसके पास अपना कुछ देने को न था। शाह आलम को अँगरेजों की सहायता पाने और इससे अपने पूर्वजों के सिंहासन पर अधिकार करने की बहुत बड़ी अभिलाषा थी। क्लाइव ने उसकी आकांक्षाओं को खूब बढ़ाया और कड़ा तथा इलाहाबाद के जिले एवं २६ लाख वार्षिक वृत्ति के बदले में उससे १७६५ ई० में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी के अधिकार की स्वीकृति ले ली। यह स्वीकृति वैसे निरर्थक थी, क्योंकि बंगाल बादशाह से सर्वथा स्वतन्त्र था और स्वयं बादशाह अपने साम्राज्य से निर्वासित था। फिर भी क्लाइव ने इसको प्राप्त करना चाहा, क्योंकि वह जानता था कि इसको कार्यान्वित करने की शक्ति अँगरेजों के पास है और बंगाल का नवाब इसका विरोध करने में सर्वथा असमर्थ है। शाह आलम की इस स्वीकृति का महत्त्व इसलिए था, क्योंकि सिद्धान्ततः वही विधिवत् सम्राट् था; अतः उसकी स्वीकृति से कम्पनी के कार्यों पर विधि-विहित होने की छाप लग जाती थी।

बंगाल की व्यवस्था—बंगाल की दीवानी का अधिकार मिल जाने से कम्पनी को सिद्धान्ततः बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में भूमि-कर वसूल करने का अधिकार तथा दीवानी झगड़ों के न्याय का उत्तरदायित्व प्राप्त हो गया। निजामत अर्थात् सैनिक-व्यवस्था एवं फौजदारी मामलों का न्याय अब भी नवाब के अधिकार में



शाहआलम क्लाइव को दीवानी दे रहा है।

रहे। मीर जाफर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नजीबुद्दौला नवाब बना था। फरवरी, १७६५ ई० में इसके साथ एक सन्धि की गई, जिसके अनुसार 'निजामत' भी कम्पनी के अधिकार में आ गई और नवाब को इसके बदले में ५३ लाख की निश्चित रकम मिलने लगी। इस प्रकार १७६५ ई० तक दीवानी और निजामत दोनों ही कम्पनी के अधिकार में आ गये और नवाब निःस्वत्व हो गया। यद्यपि क्लाइव ने कम्पनी के लिए इतने विस्तृत अधिकार जुटाकर इसको एक व्यापारिक संस्था से उठाकर राज्य-भोगी शक्ति के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था; परन्तु शासन-तन्त्र का भार सँभालने के लिए कम्पनी के पास न तो पर्याप्त साधन थे और न अनुभव ही। ऐसी स्थिति में क्लाइव ने दुहरी शासन-व्यवस्था को जन्म दिया, जिसके अनुसार कम्पनी धन तो प्राप्त करती थी, परन्तु शासन-प्रबन्ध के उत्तरदायित्व से मुक्त थी। इस व्यवस्था के अनुसार शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व पुनः नवाब को सौंपा गया और इसका खर्चा चलाने के लिए भूमि-कर की आय का एक निश्चित भाग उसको दिया जाने लगा। नवाब अभी नाबालिग था; अतः मुहम्मद रजा खाँ को बंगाल का तथा राजा शिताबराय को बिहार का नायब नियुक्त किया गया और मुर्शिदाबाद एवं पटना में शासन-केन्द्र स्थापित किये गये। इस व्यवस्था से साधारण जन की दृष्टि में स्थिति-परिवर्तन की विशालता एवं गम्भीरता पर पर्दा पड़ गया और इसने राज्य-शक्ति को राज्य के उत्तरदायित्वों से सर्वथा पृथक् कर दिया और परिणामस्वरूप शासन-व्यवस्था को इतना भ्रष्ट कर दिया कि रिचर्ड बेचर नामक कम्पनी के एक कर्मचारी को मई १७६९ ई० में निर्वाचित-समिति के लिए लिखे गये अपने पत्र में लिखना पड़ा कि "प्रत्येक अँगरेज को इस बात से अवश्य दुख होना चाहिए कि आज उसके पास यह सोचने के पर्याप्त कारण हैं कि जब से कम्पनी को दीवानी प्राप्त हुई है, तब से जनता की दशा पहले से बहुत गिर चुकी है और भय की बात तो यह है कि यह दशा असन्दिग्ध है. . . . . यह सुन्दर देश जो सर्वथा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन में भी वैभव-सम्पन्न था, अब बरबादी की ओर बढ़ रहा है।"

इस प्रकार भविष्य में कम्पनी के राज्य-विस्तार की नींव डालकर क्लाइव १७६७ ई० में भारत से इँगलैण्ड के लिए रवाना हुआ। इँगलैण्ड में पहले तो उसका बहुत स्वागत और सम्मान हुआ, परन्तु अन्त बहुत कष्टमय रहा। बाद में इँगलैण्ड के लोग उसको 'नवाबों का सरदार' समझने लगे, ऐसे लोगों का सरदार जो भारत में भ्रष्टाचार से बटोरे हुए धन के बल पर इँगलैण्ड की राजनीति में भी भ्रष्टाचार फैला रहे थे। मई, १७७३ ई० में कर्नल बर्गायन ने पार्लियामेण्ट में तीन प्रस्ताव उपस्थित किये, जिनमें बंगाल में क्लाइव के आचरण की निन्दा करते हुए उस पर

अपने अधिकार का दुरुपयोग करने तथा सारी अँगरेज जाति का नाम कलंकित करने का दोष लगाया गया था। क्लाइव ने अपनी स्वाभाविक शक्ति के साथ अपने सम्मान की रक्षा का प्रयत्न किया, परन्तु अपने आचरण के विषय में लम्बी-लम्बी बहसों तथा अपने चरित्र पर छींटाकशी से उसको बहुत अपमानित होना पड़ा। उसके नाम पर कलंक का टीका लग चुका था; उसके दुःख का कोई ठिकाना न था। अन्त में नवम्बर १७७४ ई० में एक दिन आत्महत्या द्वारा उसने इस संसार से विदा ली। सामाजिक कार्यों में चरित्र-हीनता का दण्ड देने के भाग्य के अपने ही ढंग होते हैं।

क्लाइव का चरित्र—इसमें सन्देह ही क्या है कि क्लाइव ने अपनी जाति की अमूल्य सेवाएँ कीं और उसको भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य का संस्थापक मानने में भी किसको आपत्ति हो सकती है। अर्काट पर घेरा डालकर उसने अँगरेजों को उस जाल में फँसने से बचा लिया जो डूप्ले ने उनके लिए कर्नाटक में बिछा दिया था। मीर जाफर के साथ षड्यन्त्र में भाग लेकर तथा प्लासी के युद्ध में विजय पाकर उसने कम्पनी को बंगाल का वास्तविक शासक बना दिया और निर्वासित बादशाह शाह आलम से दीवानी का अधिकार तथा बंगाल के नाबालिग नवाब से 'निजामत' का अधिकार खसोटकर उसने प्लासी की विजय से प्राप्त राजनीतिक प्रभुत्व को सुरक्षित एवं विधि-सम्मत बना दिया। उसने इलाहाबाद में शाह आलम को अपने वश में कर उससे ऐसे फर्मान प्राप्त कर लिये जिनसे कम्पनी को मनचाही सुविधाएँ मिल गईं और अवध के नवाब के साथ समझौता कर उसने बंगाल की सीमा को सुरक्षित कर दिया। दुहरे शासन की नीति अपनाकर उसने अँगरेजों को उत्तरदायित्वविहीन शक्ति प्राप्त कराई। अँगरेजों तथा कम्पनी के लिए तो वह फ्रांसीसियों से उनकी रक्षा करनेवाला तथा उनके सौभाग्य का निर्माता था। उसी ने कम्पनी को एक व्यापारिक संस्था से शासक-शक्ति में परिणत किया; उसी ने भारत में अँगरेजी राज्य का श्रीगणेश किया।

परन्तु बंगाल की प्रजा के लिए तो वह उनके विनाश का ही प्रतिष्ठाता था। जिन भ्रष्टाचारों, अत्याचारों तथा कुशासन से पीड़ित होकर वे वर्षों तक कराहते रहे, उनको जन्म देने में क्लाइव का कम हाथ न था। उसकी धन-लोलुपता पागलपन की सीमा तक बढ़ी हुई थी और संक्रामक रोग के समान अन्य अँगरेज कर्मचारियों एवं व्यापारियों में भी फैल गई थी जिसके फलस्वरूप बंगाल का कोष दुर्दमनीय साहसिकों की लूट की वस्तु बन गया। उसने नवाब को निःस्वत्व कर दिया, उससे जनता की भलाई कर सकने की शक्ति और साधन छीन लिये और स्वयं भी उत्तरदायित्व से दूर भागता रहा। उसकी योजनाओं में कोई ऐसी नई बात न थी जिसको उसकी अपनी सूझ कहा जा सके; डूप्ले और बुसी जो मार्ग दिखा चुके थे, उसी का

उसने अनुगमन किया और उसकी सफलता उसकी प्रतिभा का परिणाम न होकर परिस्थितियों की अनुकूलता एवं विश्वासघातियों के सहयोग का फल थी। उसकी योजनाओं में सहयोग देनेवाले भारतीयों को दोष से मुक्त करना कठिन है। इन देश-द्रोहियों ने उसके हाथों अपना देश बेच दिया और उसके लिए ऐसे हथियार तैयार किये जिनसे उसने स्वयं उनका गला साफ कर दिया।

छठा अध्याय

वारेन हेस्टिंग्ज़ का शासन-प्रबन्ध

दुहरी शासन-व्यवस्था के फलस्वरूप बंगाल में कुशासन (१७६७–१७७२ ई०)—क्लाइव की विदाई और वारेन हेस्टिंग्ज़ के आगमन के बीच के पाँच वर्षों में अव्यवस्था और अत्याचारों का बोलबाला रहा। इन वर्षों में कम्पनी के गवर्नर का पद-भार क्रमशः वर्ल्स्ट (१७६७–६९ ई०) तथा कार्टियर (१७६९–७२ ई०) ने ग्रहण किया। ये दोनों ही अधिकारी बहुत साधारण योग्यता के व्यक्ति थे और क्लाइव की स्थापित की हुई व्यवस्था के दोषों के सुधार में सर्वथा असमर्थ थे। इस व्यवस्था में कम्पनी-सरकार जिसके हाथ में शक्ति थी, अपनी थैली भरने के अतिरिक्त अन्य किसी बात की चिन्ता न करती थी और जिनके हाथ में शासन-व्यवस्था थी, वे शक्ति-हीन थे। फल यह हुआ कि चारों ओर गड़बड़ी फैल गई और जनता को अपार कष्ट सहन करने पड़े। कहने को तो कम्पनी दीवान थी, परन्तु भूमि-कर उगाहने का कार्य वह जमींदारों अथवा ठेकेदारों को सौंप देती थी। इनके साथ कम्पनी अपना हिस्सा तै कर लेती थी और बेचारी प्रजा को इन ठेकेदारों की कृपा पर छोड़ देती थी। प्रायः भूमि-कर उगाहने का अधिकार बोली पर चढ़ाया जाता था और जिसकी बोली सबसे ऊँची होती वही इसको प्राप्त कर लेता था। ये ठेकेदार भी प्रजा से कसकर लगान वसूल करते थे। नवाब की सरकार अत्याचारों की इस बाढ़ को रोकने में सर्वथा असमर्थ थी और स्वयं भी हृदय-हीन बन गई थी। नवाब के नौकर भी इन अत्याचारों की बहती गंगा में हाथ धोने से न चूकते थे। परिणाम यह हुआ कि प्रजा नवाब के नौकरों एवं कम्पनी के अधिकारियों के रूप में अत्याचार की चक्की के दोपाटों के बीच पिसने लगी। धन-लोलुपता ने जन-हित की भावना का गला घोंट दिया था और अधिकारी-वर्ग भले-बुरे उपायों से धन बटोरने में परस्पर होड़ लगाने लगे थे। गवर्नर वर्ल्स्ट ने अपने एक स्मरण-पत्र (मेमोरेंडम) में दुहरी व्यवस्था के दोषों की ओर कम्पनी के संचालकों का ध्यान आकर्षित किया, परन्तु उनका ध्यान आकर्षित होने से पहले ही प्रकृति ने भी मनुष्य के अत्याचारों के साथ-साथ अपने कोप की वर्षा प्रारम्भ कर दी।

१७७० ई० में बंगाल में अनावृष्टि के फलस्वरूप ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा

जैसा इससे पहले कभी सुनने में न आया था। कुशासन के कारण कष्ट झेलते-झेलते जनता की कमर टूट ही चुकी थी और अब लोग हजारों की संख्या में मरने लगे। दुर्भिक्ष के बाद महामारी और चेचक ने ताण्डव-नृत्य आरम्भ कर दिया। सड़कें मुर्दों के ढेर से पटने लगीं और गाँवों में पशु-सम्पत्ति समाप्त होने लगी। परन्तु मरे हुओं या मरनेवालों का करुण-दृश्य अँगरेजों की धन-लोलुपता कम न कर सका। कम्पनी के कर्मचारियों ने जनता की इस महान् आपत्ति से भी लाभ उठाने में कोई कसर न की। वे चावल जमा कर महँगे दामों पर बेचने लगे। लगान की वसूली असम्भव हो गई और व्यापार चौपट हो गया। कम्पनी की तिजोरियों में चूहे कूदने लगे और दिवालियापन इसको घूर-घूर कर देखने लगा। यह थी बंगाल की दशा, जब १७७२ ई० में वारेन हेस्टिंग्स इसका गवर्नर नियुक्त हुआ।

भारत की दशा—सन् १७७२ ई० के 'रेग्यूलेटिंग ऐक्ट' (नियामक विधि) द्वारा वारेन हेस्टिंग्ज़ को भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त कर तथा उसको मद्रास एवं बम्बई की अधीन प्रेसीडेन्सियों के कार्यों के निरीक्षण का अधिकार देकर, कम्पनी ने अपनी व्यवस्था में अभूतपूर्व एकता स्थापित की। अब तक प्रत्येक प्रेसीडेंसी, दूसरी प्रेसीडेंसियों में होनेवाली घटनाओं से न तो प्रभावित ही होती और न उनकी ओर ध्यान ही देती थी और इस प्रकार अपने कार्यों में सर्वथा स्वतन्त्र थीं। परन्तु १७७२ ई० के पश्चात् कलकत्ता कम्पनी के अधिकृत क्षेत्रों के शासन का केन्द्र बन गया और वारेन हेस्टिंग्स इसका प्रधान अधिकारी।

वारेन हेस्टिंग्ज़ की परिस्थितियों तथा बाद की घटनाओं को भली भाँति समझने के लिए भारत के अन्य भागों में घटनेवाली महत्त्व पूर्ण घटनाओं का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

उस समय भारत एकता एवं समान उद्देश्य के संघटनकारी सूत्र को खोकर अराजकता एवं अव्यवस्था का जीता-जागता चित्र बन रहा था। यूरोपीय आगन्तुक तथा स्वयं भारतीय भी लाज-शरम को ताक पर रखकर अपने-अपने स्वार्थों को पूरा करने में जुटे हुए थे। मुगलों की शक्ति अन्तिम साँसें ले रही थी, मुगल-बादशाह नाम-मात्र के लिए था और दिल्ली से निर्वासित होकर प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों के हाथ की कठपुतली बनकर उनके स्वार्थों की तृप्ति का साधन बन रहा था। वायुमण्डल की ही तरह राजनीति में भी पूर्ण शून्यता नहीं बनी रह सकती और जैसे ही शासन-शक्ति एक के हाथ से खिसकती है दूसरा हाथ उसको झपटने के लिए आगे बढ़ आता है और बहुधा परस्पर टकराकर उसके लिए स्थान छोड़ देता है जिसकी तलवार में सबसे अधिक बल होता है। इस समय भारत में यही

सब हो रहा था। प्रतिद्वन्द्वी सरदार केवल मात्र अपनी तलवार के बल पर मुगल-साम्राज्य में से जितना सम्भव था उतना हथियाते जा रहे थे। इन प्रतिद्वन्द्वियों में मराठे, मैसूर का हैदरअली, हैदराबाद का निजाम और अँगरेज प्रमुख थे।

मराठे शिवाजी के समय से उन्नति करते हुए पेशवाओं की अध्यक्षता में बहुत विस्तृत भू-भाग पर अधिकार कर चुके थे और अब केवल दक्षिण भारत की ही नहीं अपितु समस्त भारत कीं प्रमुख शक्ति बन गये थे। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ अब दक्षिण पर अधिकार करने तक ही सीमित न थीं; वे अब दिल्ली पर प्रहार कर 'हिन्दू पद-पादशाही' की स्थापना के स्वप्न देख रहे थे। उनके प्रमुख सरदार सिंधिया, होल्कर, भोंसले, पँवार और गायक्वाड़ बड़े व्यवस्थित और ऋतुओं के समान नियमित रूप से युद्धों का कार्यक्रम चलाते थे और नर्मदा से ऊपर के प्रदेशों पर अधिकार करते जा रहे थे। बंगाल का सुदूरवर्ती प्रान्त तक उनके आक्रमणों से न बचा था। उनकी बढ़ती हुई शक्ति ने उनको दिल्ली-दरबार की दलबन्दियों में बहुत उपयोगी सहायक बना दिया। वे भी इस दलबन्दी में से अपनी अधिकार-लिप्सा तृप्त करने लगे और उस दल की पीठ ठोंकने लगे जो उनको अधिकतम पुरस्कार देने का वचन देता था। दलबन्दी की यह कुचक्रपूर्ण राजनीति, जो सम्राटों को बनाने और मिटाने में लगी रहती थी, अहमदशाह अब्दाली के उत्तर भारत पर पाँच-पाँच विनाशकारी आक्रमणों का संयोग पाकर भारत में विभीषिका का विस्तार कर रही थी।

मुगल-सम्राट् के पृष्ठ-पोषक के रूप में मराठोंको अब्दाली से लोहा लेना पड़ा। १७६१ ई० में पानीपत के भाग्य-निर्णायक युद्ध-क्षेत्र में उनकी अब्दाली से मुठभेड़ हुई। इस युद्ध ने मुगलों का नहीं, अपितु मराठों के भाग्य का निर्णय कर दिया, क्योंकि मुगल-शक्ति का तो अवसान हो ही चुकाथा और स्वयं मुगल-सम्राट् निर्वासित होकर अवध और बंगाल में ऐसे सहायकों की खोज में भटकता फिर रहा था जिनके कन्धों का सहारा लेकर वह सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो सके। पानीपत के युद्ध ने निश्चित कर दिया कि अब मराठे भारत के शासक नहीं हो सकते, क्योंकि जब तक वे इस युद्ध के आघातों से सँभल सके, तब तक अँगरेजों के रूप में एक अन्य शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी भारत की राज-सत्ता प्राप्त करने के लिए पूर्णतया सन्नद्ध हो गया था। इधर जब मराठे दिल्ली-दरबार की गुप्त-मन्त्रणाओं तथा पानीपत के युद्ध में व्यस्त थे, अँगरेज, फ्रांसीसियों को परास्त कर, कर्नाटक तथा बंगाल में अपने राजनीतिक प्रभुत्व को पूर्णतया स्थापित करने में जुटे थे। जब हेस्टिंग्स भारत में पहुँचा, तब तक मराठे पानीपत के आघात से सँभल चुके थे और अपनी पुरानी शक्ति को पुनः प्राप्त कर भारतीय राजनीति में प्रबलतम शक्ति के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये थे।

मैसूर का हैदरअली—हेस्टिंग्ज़ के समय में तथा उससे भी पहले दक्षिण भारत में हैदरअली की धाक जम रही थी। हैदरअली फौजदार के पद से उन्नति करता हुआ मैसूर का अधिनायक बन गया था। मैसूर कभी विजयनगर-साम्राज्य का एक भाग था। इस साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर मैसूर भी वोदेयर वंश के शासन में स्वतंत्र हो गया था और हैदरअली के सिंहासन हथियाने तक इस वंश के राजपुत्र यहाँ शासन करते रहे। हैदरअली का प्रपितामह मुहम्मद बहलोल दक्षिण में एक फकीर के रूप में आया था। उसके दो पुत्र वली मुहम्मद तथा अली मुहम्मद मालगुजार के चपरासी हुए। हैदर का पिता अलीमुहम्मद का पुत्र—फतह मुहम्मद सैनिक-योग्यता के बल पर मैसूर की सेना में फौजदार बन गया और उससे हैदर ने सैन्य-संचालन की निपुणता उत्तराधिकार में प्राप्त की।

हैदर का जीवन-वृत्त—उस काल की अव्यवस्था ने हैदर जैसे उच्चाभिलाषी एवं साहसी व्यक्ति के लिए उन्नति का निस्सीम क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया था। एक छोटे से सैनिक-कर्मचारी के पद से जीवन-कार्य प्रारम्भ कर उसने शीघ्र ही अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ा ली और भविष्य की अपनी योजनाओं को सम्पन्न करने के लिए वह धन एवं अन्य साधन एकत्र करने लगा। नाजिरजंग के वध एवं उसके स्थान पर मुजफ्फरजंग के निजाम बनने के समय पर, हैदर ने अपने अनुगामियों को साथ लेकर, नाजिरजंग के कोष का बहुत बड़ा भाग छीन लिया। यूरोपीय-सैनिकों के अनुशासन और कार्य-प्रणाली से वह बहुत प्रभावित हुआ और इसका अध्ययन करने के लिए वह पांडीचेरी पहुँचा। १७५५ ई० में वह डिंडीगल का फौजदार नियुक्त हुआ। यहाँ उसने पांडीचेरी से फ्रांसीसी कारीगर बुलाकर उनकी देख-रेख में युद्ध-सामग्री-निर्माण का एक कारखाना स्थापित किया। पास-पड़ोस के प्रदेशों की लूट से उसने अपने साधन खूब बढ़ा लिये और थोड़े ही समय में एक विशाल सेना जुटा ली।

आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों के कारण कर्नाटक में व्याप्त अराजकता, पानीपत में मराठों की हार तथा निजाम की शक्ति-हीनता ने हैदरअली की उन्नति में बहुत साथ दिया। उसने युद्धों में निर्भीकतापूर्वक भाग लेकर बेदनूर, सुन्दा, सेरा, कनारा तथा गुते नामक स्थान जीत लिये। इससे उसके राज्य की सीमा बहुत विस्तृत हो गई। उसने चिक्का बालापुर, रायद्रुग तथा चितलद्रुग के शक्तिशाली सरदारों को अपने अधीन कर लिया। जैसे-जैसे उसके राज्य की सीमा बढ़ती गई, वह मराठों एवं निजाम की राज्य-सीमा के समीपतर आता गया और अंत में इनके साथ उसका संघर्ष अनिवार्य हो गया। अँगरेजों ने हैदरअली के रूप में अपना एक प्रबल प्रतिद्वंद्वी देखा और उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को रोकने की तैयारी करना

उनके लिए आवश्यक हो गया। वे उसके विरुद्ध मराठों एवं निजाम के साथ मिल-कर गुप्त-मन्त्रणाएँ करने लगे।

मैसूर का प्रथम युद्ध—१७६५ ई० में अँगरेजों तथा निज़ाम में हैदरअली के विरुद्ध मैत्री हो गई; अँगरेजों ने उत्तरी 'सरकारों' (जिलों) के बदले में निजाम की सहायता करना स्वीकार किया। १७६६ ई० में मराठे भी इस गुट में आ मिले। इस गठबंधन से हैदरअली का भविष्य अंधकारमय प्रतीत होने लगा, परन्तु यह मैत्री बहुत अस्वाभाविक थी, क्योंकि मराठों एवं निज़ाम के स्वार्थ परस्पर मेल न खाते थे। हैदर अपनी कूटनीतिक चालों से इस गुट को तोड़ने में सफल हुआ। उसने मराठों को ३५ लाख की घूस देकर इस गुट से अलग कर दिया और तब निजाम को भी अपनी ओर मिला लिया।

इस प्रकार अपनी कूटनीतिक पटुता से हैदरअली ने अँगरेजों का पाँसा पलट दिया और निजाम की सेनाओं को भी साथ में लेकर उसकी सेना ने सितम्बर १७६७ ई० में चंगम नामक स्थान पर अँगरेजों पर आक्रमण कर दिया। इस समय कर्नल स्मिथ अँगरेज सेना का सेनापतित्व कर रहा था। वह पीछे हटकर त्रिनो-मल्ली पहुँचा, जहाँ कर्नल वुड भी सेना लेकर उससे आ मिला। अब अँगरेजी सेना ने हैदर को दो वार परास्त कर दिया और अभी वह अपनी सेना को पुनः संघटित भी न कर पाया था कि उसको मलाबार की ओर कूच करना पड़ा, जहाँ बम्बई-सरकार ने नैय्यरों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़का दिया था। इसी बीच कर्नल पीच एक अँगरेजी सेना लेकर निजाम के राज्य में घुस गया और निजाम ने अपने को अकेला पाकर हैदर का साथ छोड़ अँगरेजों के साथ फरवरी, १७६८ ई० में संधि कर ली। इस संधि के अनुसार उसने हैदर को एक विद्रोही और राज्या-पहारक घोषित किया तथा हैदर से मैसूर छीन लिये जाने के बाद मैसूर में अपने समस्त अधिकार अँगरेजों को दे दिये। बदले में अँगरेजों ने वचन दिया कि यदि परिस्थितियाँ ठीक रहीं और निजाम सेना का व्यय देने के लिए तैयार हुआ तो वे उसकी सहायता करेंगे।

इस संधि की शर्तों से हैदर आग बबूला होकर अँगरेजों पर टूट पड़ा। अँगरेजी सेनाओं ने उसको दो तरफ से घेर लिया; परन्तु निर्भीक हैदर ने दोनों दिशाओं में उनका सामना किया। बम्बई की सेनाओं को रौंदकर उसने उनसे मंगलौर वापिस ले लिया। मार्च १७६९ ई० में वह उल्कापात की तरह मद्रास पर अकस्मात् टूट पड़ा और वहाँ उसने अपनी शर्तें मनवा लीं। अप्रैल, १७६९ ई० में समझौता हो गया, जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे के विजित-प्रदेश लौटा दिये और भविष्य में युद्धों में पारस्परिक सहायता के वचन दिये। हैदर का नाम

बहुत ऊँचा उठ गया और विजय वरण कर उसने अपनी राजधानी में प्रवेश किया।

दक्षिण के युद्धों से अँगरेजों को निर्धनता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्राप्त न हुआ। निजाम एवं हैदर के साथ उनके समझौते परस्पर विरोधी शर्तों से पूर्ण थे और मराठों के साथ भी उनके संबंध अनिश्चित ही रहे। इन स्थितियों ने बंगाल में विनाशकारिणी स्थिति के साथ मिलकर अंधकार एवं निराशापूर्ण चित्र उपस्थित कर दिया। यह थी आंतरिक और बाह्य स्थिति, जो १७७२ ई०. में हेस्टिंग्ज के सामने आई।

१७७३ ई० का रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—१७७३ ई० के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट ने कम्पनी और पार्लियामेंट के सम्बन्धों के इतिहास में एक नये परिच्छेद का श्रीगणेश किया। यहाँ से पार्लियामेंट ने भारत पर अपना अधिकार स्थापित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की जिसकी चरम परिणति १८५८ ई० में कम्पनी की समाप्ति तथा भारत के पूर्णतया इँगलैंड के शासक के अधिकार में चले जाने में हुई। अँगरेज 'नवावों' में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार, उनके बुरे उपायों से बटोरे हुए धन से जागी हुई ईर्ष्या तथा बंगाल के शासन-प्रबंध की दुर्दशा—इन सभी बातों ने मिलकर पार्लियामेंट को कम्पनी के भारतीय-कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य कर दिया। इंगलैंड में ऐसे लोग भी कम न थे जो एक ऐसी व्यापारिक संस्था के कारनामों को, जो इँगलैंड की सरकार के अधीन होते हुए भी भारत में स्वतंत्र सत्ता रखती थी, विधि-विरुद्ध समझते थे और इस स्थिति का समाप्त होना आवश्यक मानते थे। दूसरे पक्ष की धारणा थी कि ऐसा कदम उठाने से यूरोप के देशों के साथ इँगलैंड के संबंधों में बहुत उलझन पैदा हो जायगी; इसलिए ये लोग कम्पनी को समाप्त करने की अपेक्षा उसके कार्यों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखने का प्रस्ताव करते थे। १७७३ ई० में पार्लियामेंट ने ३१ सदस्यों की एक समिति ईस्ट इंडिया कम्पनी के कार्यों की जाँच करने के लिए नियुक्त की। इस समय मैसूर के युद्ध के कारण कम्पनी की आर्थिक दशा बहुत बिगड़ चुकी थी और बंगाल के दुर्भिक्ष ने कम्पनी के विरोधियों को अच्छा मसाला जुटा दिया था। पार्लियामेंट के समक्ष कम्पनी की आर्थिक सहायता की प्रार्थना को इसके कुशासन का प्रमाण ठहराया जाने लगा। चैथम ने कम्पनी के बारे में अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये थे कि "भारत में पोषित असमानताएँ पृथ्वी से स्वर्ग तक की गंध देती हैं।" अन्य लोगों की भी कम्पनी के प्रति ऐसी ही कटु भावनाएँ थीं। इस सारे आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि सन् १७७३ ई० में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (नियामक-विधि) पार्लियामेंट में पारित हुआ और इसके अनुसार कम्पनी के ऊपर पार्लियामेंट ने अपना नियन्त्रण स्थापित करने

के लिए एक सरकारी व्यवस्था बनाई; परन्तु यह व्यवस्था प्रभावहीन सिद्ध हुई। अन्य बातों के साथ-साथ इस ऐक्ट ने निम्नलिखित व्यवस्थाएँ कीं :—

(१) बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर-जनरल हुआ। उसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक समिति नियुक्त हुई। कोई भी निर्णय बहुमत से ही किया जा सकता था; गवर्नर-जनरल को केवल निर्णायक-मत (कास्टिंग वोट) देने का अधिकार मिला।

(२) गवर्नर-जनरल एवं उसकी सहायक-समिति को अधीन-प्रेसीडेंसियों के युद्ध एवं संधि के मामलों के निरीक्षण का अधिकार मिला। प्रथम गवर्नर-जनरल वारेन् हेस्टिंग्ज़ एवं उसकी सहायक-समिति के सदस्यों—क्लेवरिंग, मॉन्सन, बारवेल तथा फिलिप फ्रांसिस—का इस ऐक्ट में नामोल्लेख किया गया। इनका कार्य-काल पाँच वर्ष रखा गया और भविष्य में नियुक्ति का कार्य कम्पनी को सौंपा गया।

(३) इँगलैंड के शासक को एक उच्च न्यायालय अर्थात् सुप्रीमकोर्ट स्थापित करने का अधिकार दिया गया, जिसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा तीन अधीन-न्यायाधीश हों।

(४) कम्पनी के संस्थापक-मंडल (कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स) में मतदान की योग्यता ५०० पौंड से बढ़ाकर १,००० पौंड की गई।

(५) आगे से संचालक मंडल का चुनाव चार वर्ष के लिए निश्चित किया गया; उनमें से चौथाई को प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करने तथा अवकाश-प्राप्त सदस्यों का पुनः निर्वाचन एक साल तक अलग रहने के बाद ही हो सकने का नियम बनाया गया।

(६) नागरिक एवं सैनिक शासन के सभी मामलों को सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (राज्य-मंत्री) के समक्ष उपस्थित करने तथा भारत की मालगुजारी से संबंधित सभी बातों को कोष-मन्त्रालय के सामने रखने का नियम बना दिया गया।

हेस्टिंग्ज़ ही एकमात्र गवर्नर-जनरल था जिसको इस रेग्यूलेटिंग ऐक्ट-द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार शासन करने का दुर्भाग्य झेलना पड़ा, क्योंकि १७८४ ई० में पिट के 'इंडिया बिल' ने इसका स्थान ग्रहण कर लिया। प्रारम्भ से ही इस ऐक्ट के दोष प्रकट होने लगे और उनके सुधार के लिए अनेक विधियाँ बनानी पड़ीं। हेस्टिंग्स के लिए समिति में केवल निर्णायक-मत दे सकने का सीमित अधिकार सर्वथा असंतोषजनक सिद्ध हुआ। इस समिति में हेस्टिंग्ज़ के विरोधी फ्रांसिस का प्रभुत्व था, जिससे यह समिति पद-पद पर हेस्टिंग्ज़ का विरोध करने लगी। इस विरोध से कभी कभी तो वह इतना परेशान हो जाता था कि कम्पनी की सेवा से

मुक्ति पाने के लिए व्याकुल हो उठता था। किसी भी गवर्नर-जनरल को न तो उसके जैसी संकटपूर्ण परिस्थितियों में काम करना पड़ा और न उस जैसी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। उच्च-न्यायालय की स्थापना का नियम भी कम-दोषपूर्ण न था, क्योंकि न तो इसमें इस न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र का स्पष्ट उल्लेख किया गया था और न कम्पनी के न्यायालयों के साथ उसके सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या की गई थी। गवर्नर-जनरल को अधीन-प्रेसिडेंसियों के निरीक्षण का जो अधिकार दिया गया वह भी ऐसा ही अस्पष्ट और दोषपूर्ण था।

यह ऐक्ट ग्यारह वर्षों तक व्यवहार में आता रहा और इस अवधि के पश्चात् सभी ने एकमत से इसको दोषपूर्ण और अपने उद्देश्य में असफल बताया। "इस (ऐक्ट) ने न तो राज्य-सरकार का कम्पनी पर, न संचालकों का कम्पनी के कर्मचारियों पर, न गवर्नर-जनरल का अपनी समिति पर और न कलकत्ते की प्रेसिडेंसी का मद्रास एवं बम्बई की प्रेसिडेंसी पर ही निश्चित नियन्त्रण स्थापित किया।"

वारेन हेस्टिग्ज़ का शासन-प्रबन्ध—कम्पनी ने हेस्टिग्ज़ को लिख भेजा था कि "अब हम सुधार-कार्य को सम्पन्न करने के लिए तुम्हें अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से सन्नद्ध करते हैं।" सुधार-कार्य बहुत विशाल था। एक साम्राज्य विकास कर चुका था, परन्तु शासन व्यवस्था-हीन। क्लाइव की दुहरी शासन-व्यवस्था ने जनता का विनाश कर दिया था और स्वार्थ-परता को प्रोत्साहन दिया था। इस व्यवस्था के विषय में हेस्टिग्स ने लिखा था कि "कम्पनी की नवीन शासन-प्रणाली अपरिपक्व सामग्री का एक ढेर है, ऐसा ढेर जो सृष्टि-पूर्व की स्थिति के समान रूप-आकार-हीन है।" इस दयनीय स्थिति को व्यवस्थित करने के लिए हेस्टिग्ज़ ने अनेक सुधार किये जिनको, अध्ययन की सुविधा के लिए, निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) शासन-सम्बन्धी, (२) भूमि-कर-सम्बन्धी, (३) न्याय-सम्बन्धी तथा (४) व्यापार-सम्बन्धी सुधार।

(१) शासन-सम्बन्धी सुधार

हेस्टिग्ज़ ने शासन-प्रणाली का ढोंग रचनेवाली, परन्तु वास्तव में अव्यवस्था को जन्म देनेवाली क्लाइव की दुहरी व्यवस्था का अंत कर दिया। उसने यह दृढ़ धारणा प्रकट की कि कम्पनी अब उत्तरदायित्व से अधिक मुँह नहीं मोड़ सकती और इस धारणा के अनुरूप उसने ऐसे अनेक नियम प्रचलित किये, जिनसे एक शासन-तंत्र विकसित हुआ। उसने बंगाल एवं बिहार के प्रतिनिधि—नवाब के पद समाप्त कर दिये और इन पदों पर कार्य करनेवाले मुहम्मद रजा खाँ तथा राजा शिताब-राय पर गबन का अपराध लगाकर मुकदमा चलाया। बाद में ये दोनों निर्दोष

सिद्ध हुए। खजाने को मुर्शिदाबाद से हटाकर कलकत्ते लाया गया, जिससे अब कलकत्ता राज्य-सत्ता का वास्तविक केंद्र बन गया। बंगाल के नाबालिग नवाब को मीरजाफर की विधवा मुन्नी बेगम के संरक्षण में रखा गया; मुन्नी बेगम के साथ हेस्टिंग्ज़ के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। नवाब की अवकाश वृत्ति (पेंशन) ३२ लाख से घटाकर १६ लाख की गई।

(२) भूमि-कर-सम्बन्धी सुधार

हम देख चुके हैं कि बंगाल की दीवानी पाकर कम्पनी को बंगाल के भूमि-कर का अधिकार प्राप्त हो गया था, परन्तु इसको उगाहने के लिए अपने पास पर्याप्त साधन न होने के कारण, कम्पनी ने यह कार्य स्थानीय लोगों को सौंप दिया था, जिनको 'आमिल' कहते थे। ये 'आमिल', जो एक प्रकार से ठेकेदार ही थे, प्रजा को बहुत सताते थे। इस दोष को दूर करने के लिए कम्पनी ने १७६९ ई० में 'निरीक्षक' ('सुपरवाइजर') नियुक्त किये, परन्तु स्थिति में कोई सुधार न हुआ। स्थिति का ठीक-ठीक परिचय पाने के लिए हेस्टिंग्ज़ ने एक समिति नियुक्त की और इस समिति के प्रधान के रूप में स्वयं भी बंगाल के कुछ भागों का दौरा किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कम्पनी को लगान वसूली का काम सीधे अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इस उद्देश्य से उसने 'कलक्टर' नियुक्त किये जिनका काम देशी अधिकारियों की सहायता से लगान वसूली तथा शासन-व्यवस्था करना था। इन देशी अधिकारियों के साथ पाँच साल का ठेका किया जाता था और जिसकी बोली सबसे ऊँची होती उसी को इस पद पर रखा जाता था। इस सारी व्यवस्था के निरीक्षण के लिए कलकत्ते में एक 'बोर्ड ऑफ रेवेन्यू' (भूमि-कर-मन्त्रालय) की स्थापना की गई। ध्यान में रखने की बात यह है कि लगान-वसूली की ऐसी व्यवस्था बनाने में हेस्टिंग्ज़ का ध्यान प्रजा के कष्टों को दूर करने की ओर इतना न था जितना वसूली की ओर। जहाँ तक प्रजा का सम्बन्ध था, ऊँची से ऊँची बोली बोलनेवाले को जुताई के लिए जमीन देने तथा उसको सता-सताकर उससे जितना निकल सके उतना धन चूसने की प्राचीन प्रणाली इस नई व्यवस्था में भी ज्यों की त्यों बनी हुई थी।

(३) न्याय-सम्बन्धी सुधार

अपने न्याय-सम्बन्धी सुधारों में हेस्टिंग्स का उद्देश्य देशी न्याय-प्रणाली को पुनर्जीवित करना था। उसने प्रत्येक जिले में एक-एक दीवानी तथा फौजदारी की अदालत स्थापित की और इनके फैसलों की अपील के लिए कलकत्ते में सदर दीवानी

अदालत तथा सदर निजामत अदालत बनाई। न्याय हिंदू एवं मुसलमान-विधियों के अनुसार किया जाने लगा। उसके आदेश से हिंदू-विधियों का एक संग्रह प्रस्तुत किया गया। न्याय-व्यवस्था को सुधारने के लिए उसने न्याय की कार्यवाही का विवरण रखने की आज्ञा प्रसारित की, मुकदमों की अवधि निर्धारित की और कठोर अर्थ-दंड समाप्त कर दिये। उसने डाकुओं तथा पाखण्डी संन्यासियों के हमलों से जन-जीवन की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली उपाय किये।

इस प्रकार अपने शासन, न्याय एवं लगान-संबंधी सुधारों द्वारा हेस्टिंग्स ने अव्यवस्था दूर कर नागरिक शासन में व्यवस्था लाने का प्रयत्न किया।

(४) व्यापारिक सुधार

कम्पनी का व्यापारी रूप अभी भी विद्यमान था और हेस्टिंग्स के व्यापार-सम्बन्धी सुधारों का उद्देश्य दुर्भिक्ष एवं कुशासन के कारण निर्जीव पड़े हुए कम्पनी के व्यापार में फिर से जान फूंकना और इसकी दशा सुधारना था। अब व्यापारिक करों की आय कम्पनी के कोष में ही आनी थी, इसलिए 'दस्तकों' को बेचने की प्रथा की हानियों की ओर कम्पनी का ध्यान जाने लगा और शीघ्र ही इस प्रथा को बंद किया गया। माल के लाने-ले जाने में असुविधाजनक असंख्य चुंगी-घरों अथवा 'चौकियों' को समाप्त किया गया, जिससे व्यापार निर्बाध गति से चल सके। अब केवल पाँच 'चुंगी-घर' रखे गये, जो क्रमशः कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, पटना तथा ढाका में थे। व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए नमक, सुपारी और तम्बाकू को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं पर चुंगी की दर घटाकर २½ प्रतिशत रखी गई। इन सुधारों से व्यापार की दशा बहुत कुछ सँभल गई और हेस्टिंग्ज़ की यह आत्म-प्रशंसा उचित ही थी कि उसके सुधारों से "माल बे-रोक-टोक प्रांत के अंतिम छोर तक पहुँचने लगा था।"

आर्थिक दशा सुधारने के लिए हेस्टिंग्ज़ के उपाय—कम्पनी का आर्थिक दिवा-लियापन, हेस्टिंग्ज़ के सामने एक महान् बाधा के रूप में खड़ा था। इसने उसके समस्त साधनों को चूस लिया और उसको ऐसे-ऐसे उपायों को अपनाने के लिए बाध्य कर दिया जिनका औचित्य बहुत संदिग्ध है और जिनके कारण उसके माथे पर कलंक का अमिट टीका भी लगा। इस आर्थिक दुर्दशा से कम्पनी को बचाने के लिए उसने रुहेलों के साथ युद्ध, अवध की बेगमों एवं चेतसिंह के साथ अनुचित व्यवहार, नवाब की वृत्ति घटाने और शाह आलम की वृत्ति बंद करने जैसे उपायों की शरण ली। हेस्टिंग्ज़ के समर्थक इन अन्यायपूर्ण कार्यों के कलंक से हेस्टिंग्ज़ के चरित्र को सर्वथा मुक्त करने के लिए नहीं तो कम से कम उसके कार्यों के औचित्य

का समर्थन करने के लिए ही सही आर्थिक दुर्दशा का बहाना सामने लाते हैं। परन्तु उसके चरित्र को बर्ताव की कठोरता एवं अनौचित्य के दोष से किसी भी प्रकार मुक्त नहीं किया जा सकता और उसके इन दुष्कर्मों को किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

रुहेलों के साथ युद्ध—रुहेले अफगान जाति के थे और अवध के उत्तरवर्ती प्रदेश में निवास करते थे; इस प्रदेश का भी, इनके नाम पर, रुहेलखंड नाम पड़ गया था। उनकी स्वतंत्रता ने मराठों का ध्यान आकर्षित किया और वे उत्तर की ओर बढ़ने पर इनके राज्य पर भी प्रायः आक्रमण करने लगे। रुहेलखंड की भौगोलिक स्थिति सैनिक दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि उसका मराठा-राज्य में मिल जाना अवध तथा अँगरेज दोनों के लिए ही भय का कारण बन जाता था। रुहेले अकेले ही मराठों का सामना करने में समर्थ न थे; अतः उन्होंने अवध के नवाब से सहायता की प्रार्थना की। अँगरेज प्रधान सेनापति सर राबर्ट बार्कर के समक्ष रुहेलों की अवध के साथ संधि हुई, जिसके अनुसार नवाब ने ४० लाख रुपये लेकर मराठों को भगाने का कार्य-भार स्वीकार किया। १७७३ ई० में मराठों ने रुहेलखंड पर आक्रमण किया। नवाब तथा अँगरेजों ने मिलकर उनके विरुद्ध प्रयाण किया, परन्तु युद्ध छिड़ने से पहले ही मराठे पूना लौट गये। नवाब ने ४० लाख की माँग की; परन्तु नवाब को युद्ध तो करना नहीं पड़ा था, इसलिए रुहेला सरदार रकम चुकाने में टाल-मटोल करने लगा। इससे नवाब का क्रोध भड़क उठा और उसने रुहेलखंड पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस कार्य में उसने हेस्टिंग्ज से सहायता माँगी और हेस्टिंग्स भी ५० लाख रुपये पाने पर उसको तत्काल अँगरेज-सेना देने के लिए तैयार हो गया। यह शर्त तय हो जाने पर नवाब ने कर्नल चेम्पियन की अधीनता में एक अँगरेजी सेना की सहायता पाकर रुहेलखंड पर आक्रमण कर दिया। रुहेले बड़ी वीरतापूर्वक लड़े, परन्तु शत्रु-दल की संख्या अत्यधिक होने के कारण परास्त हुए। उनका सरदार हाफिज रहमत खाँ मीरनपुर कटरा (आधुनिक शाहजहाँपुर जिले में) के निर्णायक युद्ध में, एक योद्धा के समान, लड़ता हुआ मारा गया (अप्रैल, १७७३)। लगभग २००० रुहेले खेत रहे और २०,००० को अपने पूर्वजों के घर से निर्वासित होना पड़ा। उन जिलों को छोड़कर, जिनसे आधुनिक रामपुर-राज्य बना है, शेष सारा रुहेलखंड अवध में मिलाया गया। ये अवशिष्ट जिले फैजुल्ला खाँ को सौंपे गये।

रुहेलों के साथ हेस्टिंग्ज के व्यवहार की इँगलैंड तथा भारत—दोनों ही जगह तीव्र निंदा हुई। हेस्टिंग्ज पर अँगरेज सेना को एक ऐसी जाति के विरुद्ध लड़ाने का दोष लगाया गया, जिसका अँगरेजों के साथ कोई भी झगड़ा न था। यह दोषा-

रोपण सर्वथा उचित भी था। बर्क, मैकॉले तथा मिल ने हेस्टिंग्ज़ की नीति की सब तरफ से निंदा की और उस पर 'एक स्वतंत्र जाति के प्राण तथा स्वतंत्रता को जान-बूझकर बेचने' का दोष लगाया। दूसरी ओर सर जान स्ट्रैची जैसे लोगों ने सब तरफ से हेस्टिंग्स का समर्थन किया है और फिर एक वर्ग ऐसा भी है, जिसमें ब्रिटिश भारत का प्रसिद्ध इतिहासकार सर ऐलफ्रेड लायल प्रमुख हैं, जो यह स्वीकार करते हुए भी कि रुहेलों के विरुद्ध अभियान सैद्धान्तिक रूप से अनुचित था, हेस्टिंग्ज़ की इस नीति द्वारा भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर की सीमा का पूर्णतया सुरक्षित हो जाना मानते हैं। इन विभिन्न मतों के होते हुए भी कुछ बातें इतनी स्पष्ट हैं कि कोई भी उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता। पहली बात तो यह है कि रुहेलखंड को अपने राज्य में मिलाने में नवाब की सहायता करने के लिए हेस्टिंग्ज़ किसी भी प्रकार बाध्य नहीं था; दूसरे नवाब एवं रुहेलों की संधि में अँगरेजों का कोई स्थान न था; तीसरे रुहेले लोग रुहेला शासन में नवाब की अधीनता की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी थे। जहाँ तक रुहेला-युद्ध के राजनीतिक लाभों का संबंध है वह भी संदिग्ध होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि रुहेलखंड के अवध में मिल जाने से अवध की सीमा बहुत विस्तृत हो गई और परिणामस्वरूप अँगरेजों का उत्तर-दायित्व भी बहुत बढ़ गया। वास्तव में हेस्टिंग्ज़ का उद्देश्य उसी के शब्दों में यह था कि "मराठों की अनुपस्थिति एवं रुहेलों की निर्बलता देखकर रुहेलों को आसानी से जीत पाने की आशा बढ़ गई थी और मैं स्वीकार करता हूँ कि तब कम्पनी की आन्त-रिक दुरवस्था के प्रति मेरी धारणाएँ उसकी बाह्य आवश्यकताओं के विषय में, मेरे ज्ञान के साथ मिलकर कुछ ऐसी बन गई थीं कि मैं उसकी सेना को किसी भी ऐसे कार्य में लगाने का अवसर पाकर प्रसन्नता का अनुभव करता, जिससे उनके इतने अधिक वेतन और व्यय की बचत हो जाती है।" इन शब्दों में हमें रुहेला-युद्ध का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट विदित हो जाता है कि यह धन-प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ भी न था और इसीलिए यह सारा प्रयास इतनी गंदगी से भरा हुआ था।

बनारस का राजा चेतसिंह—बनारस का राजा चेतसिंह हेस्टिंग्ज़ के धन जुटाने के उपायों का दूसरा शिकार था। राजा चेतसिंह अवध का करदाता था और १७७५ ई० में फैजाबाद की संधि के अनुसार, जिसका अभी आगे वर्णन किया जायगा, अवध के नवाब ने उसे कम्पनी को सौंप दिया था। इस हस्तान्तरण का इतना ही अर्थ था कि अब राजा नवाब के स्थान पर कम्पनी को कर देगा और संधि में इस बात का स्पष्ट उल्लेख हुआ था कि इस कर के अतिरिक्त राजा से थोड़ी भी अधिक रकम न ली जायगी। मैसूर एवं मराठों के साथ युद्धों में कम्पनी का कोष रिक्त हो गया था। हेस्टिंग्ज़ ने कम्पनी का अर्थ-संकट दूर करने के विचार से चेत-

सिंह से वार्षिक कर के २३½ लाख रुपयों के अतिरिक्त ५ लाख की और माँग की। चेतसिंह ने माँग पूरी कर दी; परन्तु आगामी दो वर्षों में भी यह माँगें दुहराई जाती रहीं। चेतसिंह ने इसका विरोध तो किया, परन्तु रकम चुका दी। १७८० ई० में राजा से २००० घुड़सवार सैनिकों तथा उनके व्यय की माँग हुई जो बाद में घटाकर १००० घुड़सवार कर दी गई। राजा ने पुनः विरोध किया, परन्तु ५०० घुड़सवार तथा ५०० पैदल सैनिक जुटाकर हेस्टिंग्ज़ को इसकी सूचना भेजी। यह सूचना पाकर हेस्टिंग्ज़ आपे से बाहर हो गया। उसने राजा पर आज्ञा-पालन न करने का दोषारोपण कर ५० लाख का अर्थदंड किया। हेस्टिंग्स ने बाद में कहा था कि "मैंने उसके अपराध से कम्पनी की आपत्ति दूर करने के साधन प्राप्त करने का निश्चय कर लिया था। संक्षेप में, मैंने उसको क्षमा के बदले में भारी रकम देने के लिए बाध्य करने अथवा उसकी पिछली कर्तव्य-पालन में असावधानी का कठोर प्रतिशोध लेने का निश्चय कर लिया था।" कम्पनी की आपत्ति दूर करना प्रधान उद्देश्य होने के कारण औचित्य का कोई प्रश्न ही नहीं था। हेस्टिंग्ज़ स्वयं बनारस की ओर चल पड़ा। चेतसिंह ने भी अपनी राजधानी से चलकर बक्सर में उससे भेंट की और क्षमा-याचना की, परन्तु गवर्नर-जनरल अब इन बातों से संतुष्ट होनेवाला न था। बनारस पहुँचकर उसने राजा को बंदी बना लिया। राजा की सेना यह आचरण सहन न कर सकी और हेस्टिंग्ज़ पर टूट पड़ी। हेस्टिंग्ज़ किसी प्रकार प्राण बचाकर भाग निकला और चुनार पहुँचा। वहाँ से एक नई सेना लेकर वह फिर बनारस आया और उसने विद्रोह का दमन कर दिया। चेतसिंह ग्वालियर भाग गया। हेस्टिंग्स ने उसके भतीजे को गद्दी पर बिठाया और वार्षिक कर बढ़ाकर ५० लाख कर दिया। हेस्टिंग्ज़ बनारस से वह ५० लाख रुपया लेकर नहीं लौटा, जिन्हें वसूल करने वह वहाँ गया था, परन्तु अपने चरित्र पर एक ऐसे प्रसंग में जिसमें न्याय राजा के पक्ष में था—आक्रामक एवं निर्दयी बनने का अमिट कलंक लेकर अवश्य लौटा। अपने इस आचरण से उसने कम्पनी को ऐसे समय पर व्यर्थ के सैनिक व्यय में फँसाया, जब कि उसकी आर्थिक दशा बहुत ही गिरी हुई थी।

अवध की बेगमें—अवध की बेगमों के साथ हेस्टिंग्ज़ ने और भी गंदा आचरण किया। बेगमों के प्रति किये गये इन अत्याचारों के लिए नवाब को पश्चात्ताप करना पड़ा। स्त्रियों के प्रति ऐसा दुराचार हेस्टिंग्स की धन-लोलुपता का परिणाम था। अवध के नवाब आसफुद्दौला की माता एवं दादी के पास बड़ी-बड़ी जागीरें और अतुल सम्पत्ति थी। ये बेगमें इस सम्पत्ति को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझती थीं। उधर नवाब आसफुद्दौला कम्पनी का कर्जदार था। उसके पास ऋण चुकाने के लिए धन नहीं था। उसकी नजर बेगमों की जागीरों तथा धन की ओर गई।

वह सोचने लगा कि इस सम्पत्ति पर उसका न्यायोचित अधिकार है, परन्तु उसको इससे वंचित किया जा रहा है। उसने बेगमों से धन की माँग की। बेगमों ने विरोध किया, परन्तु अँगरेज रेजीडेंट के बीच-बचाव करने पर उन्होंने पहले २,६०,००० पौंड और फिर सन् १७७५ ई० में ३,००,००० पौंड इस शर्त पर दे दिये कि अब भविष्य में नवाब उनसे धन की माँग न करेगा। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, नवाब ने अपने वायदे को ताक पर रख दिया और बेगमों की सम्पत्ति छीन लेने का प्रस्ताव किया, जिससे वह कम्पनी का ऋण चुका सके। नवाब का यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इतना ही नहीं, अपितु जब नवाब अपनी माँ और दादी के साथ कठोर व्यवहार करने में हिचकने लगा तो कम्पनी की ओर से उसको झिड़कियाँ मिलने लगीं। १७६१ ई० में हेस्टिंग्ज़ ने लखनऊ के अँगरेज रेजीडेंट मिडिलटन को लिखा "तुम्हें चाहिए कि तुम कोई समझौता न होने दो और न नवाब को इस कार्य से विरत होने दो; अपितु तब तक दोनों कार्यों को चलाते जाओ, जब तक बेगमें पूर्णतया नवाब के वश में न आ जायँ।" नवाब को धमकी दी गई कि यदि वह तत्परता न दिखायेगा तो उसकी सम्पत्ति का उतना भाग छीन लिया जायगा, जितने से उसका ऋण चुक सके।

टाल-मटोल करने के परिणाम से भयभीत होकर नवाब को आखिर बेगमों के साथ कठोर व्यवहार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अँगरेज सेना साथ लेकर वह फैजाबाद पहुँचा। उसने बेगमों तथा उनके सारे परिवार को बंदी बना लिया। "जब सेना जी भर मनमानी कर चुकी" तब बेगमों का कोष नवाब के हाथ आया और वहाँ से भी खिसककर कम्पनी की तिजोरियों में समा गया।

बहाना बनाया गया कि बेगमें बनारस के राजा चेतसिंह के साथ मिलकर षड्यन्त्र रच रही थीं। परन्तु यह बहाना सर्वथा कपोलकल्पना मात्र था। इसको सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण उपस्थित किये गये, वे बिलकुल जाली थे; यहाँ तक कि कम्पनी के संचालक तक उन पर विश्वास न कर सके। सच्ची बात यह थी कि हेस्टिंग्ज़ को धन की आवश्यकता थी और उसको प्राप्त करने के लिए उसने साधारण शिष्टाचार तक को तिलाञ्जलि दे दी थी। सर ऐलफ्रेड लायल के शब्दों में "स्त्रियों" तथा हिजड़ों से धन खसोटने के लिए उनके साथ अँगरेज अधिकारियों के निरीक्षण में व्यक्तिगत कठोरताओं का व्यवहार बहुत ही कलंकपूर्ण कार्य है.... अपने आश्वासन को भंग करना, नवाब को बेगमों के साथ मनमाना व्यवहार करने देना बहुत अनुचित था; उसको बढ़ावा देना और स्त्रियों तथा हिजड़ों को सताने में उसकी सहायता करना—ये ऐसे आचरण हैं जो अमानुषिक हैं और जिनका कभी समर्थन नहीं किया जा सकता।" हेस्टिंग्ज़ की कठिनाइयों को उचित महत्त्व देते

हुए भी यह सारा आचरण, "असभ्यता का, कलंकपूर्ण और निंदनीय" था। इतना सब होने पर भी जब पार्लियामेंट में हेस्टिंग्ज़ पर मुकदमा चलाया गया इन्हीं बेगमों ने "उसके कठोर एवं अप्रत्याशित भाग्य पर तरस खाकर" उसके समर्थक प्रमाण भेजे। यह थी उन लोगों की उदारता जिनके साथ उसने घोर अन्याय और कठोर अत्याचार किये थे।

हेस्टिंग्ज़ के बाह्य सम्बन्ध—राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में हेस्टिंग्ज़ की आकांक्षाएँ केवल इतनी ही थीं कि आज तक जितना कुछ प्राप्त किया जा चुका है उसी को सुरक्षित रखा जाय। उसका उद्देश्य कम्पनी की रक्षा उन भयों से कर, जो उसकी सुरक्षा को संदिग्ध बना रहे थे, उसकी स्थिति को सुदृढ़ करना मात्र था। इस समय कम्पनी के लिए मैसूर, मराठों एवं निजाम की ओर से बहुत भय उत्पन्न हो गया था। सबसे बड़ा भय तो यह था कि कहीं ये तीनों ही उसके विरुद्ध एक गुट न बना लें। इँगलैंड से सहायता की कोई आशा नहीं थी, क्योंकि इस समय इँगलैंड का सारा ध्यान अमेरिका की ओर लगा हुआ था, जहाँ के उपनिवेशों के साथ उसका झगड़ा प्रारम्भ हो गया था और फ्रांस के इस झगड़े में उतर आने पर तो इस झगड़े ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया था। फ्रांस अभी भी अपने खोये हुए भारतीय साम्राज्य को प्राप्त करने के स्वप्न देख रहा था और इसको सत्य बनाने के लिए मैसूर एवं मराठों जैसी भारतीय शक्तियों की सहायता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। इन परिस्थितियों के साथ कम्पनी की आर्थिक दुरवस्था ने मिलकर हेस्टिंग्ज़ को युद्धों से बचे रहने की नीति अपनाने के लिए बाध्य कर दिया था।

भारतीय राज्य शक्तियों के साथ हेस्टिंग्ज़ के सम्बन्धों को इन वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) अवध के साथ सम्बन्ध
(२) मराठों के साथ सम्बन्ध और
(३) मैसूर के साथ सम्बन्ध।

दुर्भाग्य-ग्रस्त सम्राट् शाह आलम के अँगरेजों के हाथ से निकलकर मराठों से जा मिलने से स्थिति और भी उलझ गई थी। शाह आलम यह देखकर कि क्लाइव ने केवल दीवानी प्राप्त करने के लिए ही उसको आशाओं की रंगीन दुनिया की सैर कराई है, इलाहाबाद में बहुत बेचैनी के दिन काट रहा था। इसमें संदेह नहीं कि अँगरेज उसको ५० लाख वार्षिक वृत्ति दे रहे थे और उन्होंने कड़ा तथा इलाहाबाद के जिले भी उसके नाम कर दिये थे, परन्तु वह तो अपने पूर्वजों का सिंहासन प्राप्त करने के लिए उनकी सहायता चाहता था। उसने देखा कि अँगरेज



महादजी सिन्धिया

इस ओर उदासीन हैं। उधर मराठे पानीपत के आघातों से सँभल चुके थे और पुनः उत्तर-भारत की राजनीतिक में सक्रिय भाग लेने लगे थे। इसलिए शाह आलम चटपट उनकी ओर जा मिला। मराठे भी शाह आलम को अपने वश में कर उससे वैसा ही काम निकालना चाहते थे जैसा अँगरेज। वे भी उसके नाम की मुहर लगाकर अपनी अधिकार विस्तार की योजनाओं को कानूनी वाना पहनाना चाहते थे। अतः उन्होंने शाह आलम को अँगरेजों का साथ छोड़ने के लिए उकसाया और महादाजी सिंधिया १७७२ ई० में उसको दिल्ली ले गया। १७७२ ई० से १८०३ ई० तक दिल्ली पर अँगरेजों के अधिकार-काल में शाह आलम मराठों का वंदी वना रहा।

शाह आलम का मराठों से जा मिलना हेस्टिग्ज़ को बहुत चिंतित करने लगा। उसको यह सोच-सोचकर वड़ा डर लग रहा था कि मराठे न जाने उसके नाम की आड़ में क्या-क्या शिकार खेलते हैं और न जाने उससे कैसे-कैसे अधिकार खसोटते हैं। इसके अतिरिक्त शाह आलम ने कड़ा और इलाहावाद के जिले भी मराठों को सौंप दिये और इन जिलों पर मराठों का अधिकार हो जाना बंगाल एवं अवध दोनों के लिए वहुत भय का विषय था, क्योंकि तब वे इन प्रदेशों की सीमा पर, या सीमा के समीप पहुँच जाते थे और बड़ी आसानी से इन पर चोट कर सकते थे।

अवध के साथ सम्बन्ध—अवध के साथ हेस्टिग्ज़ के सम्बन्ध शाह आलम के मराठों के हाथ में चले जाने एवं उत्तर-भारत में मराठों की सक्रियता से वहुत प्रभावित थे। इन परिस्थितियों ने अँगरेजों के लिए अवध के निकट सम्पर्क में आना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नवाव पर अपना नियन्त्रण बढ़ाना अत्यावश्यक वना दिया। सितम्बर १७७३ ई० में बनारस की संधि द्वारा हेस्टिग्ज़ कड़ा और इलाहावाद के जिले नवाव को ५० लाख रुपये में सौंप दिये और "नवाव की अधीनता में" एक अँगरेज सैनिक टुकड़ी रखने के लिए उससे वार्षिक व्यय प्राप्त करने की शर्त रखी। इस कूटनीतिक चाल से हेस्टिग्ज़ ने इस आर्थिक संकट के समय ५० लाख रुपये प्राप्त करने के साथ-साथ मराठों को कड़ा और इलाहावाद के ज़िलों से वंचित कर दिया और यदि वे इन पर अपना अधिकार जमाना चाहें, तो उस स्थिति में अवध को उनका प्रतिद्वंद्वी वना दिया। इसके अतिरिक्त एक सैनिक टुकड़ी के खर्च से उसने कम्पनी को छुटकारा दिला दिया और अवध के नवाब के साथ बहुत निकट सम्पर्क स्थापित कर लिया तथा कड़ा और इलाहाबाद को झगड़े का विषय बनाकर नवाब का मराठों से मेल करने का रास्ता रोक दिया। शीघ्र ही अवध में एक अँगरेज रेजीडेंट की नियुक्ति कर दी और इस प्रकार नवाब पर ६४,२०२ पौं० वार्षिक का खर्चा और लाद दिया। यह सारा बोझ उठाना नवाब

की सामर्थ्य से बाहर था। उसने इसे कम करने के लिए बहुत अनुनय-विनय की परन्तु कम्पनी ने उसकी एक न सुनी। १७७५ ई० में नवाब की मृत्यु हो गई। कलकत्ता कौंसिल ने यह मंतव्य प्रकट किया कि भूतपूर्व नवाब के साथ की गई संधियाँ व्यक्तिगत हैं। अत: अब उसके उत्तराधिकारी के साथ नये सिरे से फैजाबाद की संधि लादी गई। नये नवाब ने इसका विरोध किया, परन्तु उसकी कौन सुनता था। इस नई संधि के अनुसार अवध की रक्षा के लिए नियुक्त अँगरेज सेना के व्यय की रकम बढ़ाई गई, कम्पनी को गाजीपुर के जमींदार से मिलनेवाला राज-कर और बनारस पर प्रभुत्व प्राप्त हुआ।

रुहेला-युद्ध एवं बेगमों के साथ दुराचार के उद्देश्य के प्रसंग में हम हेस्टिंग्ज़ की अर्थलोलुपता का उल्लेख कर आये हैं; कहने की आवश्यकता नहीं कि यही उद्देश्य अवध की इस संधि का भी आधार था।

कम्पनी की इस लूट-खसोट से नवाब की आर्थिक दुरवस्था दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। अवध के आंतरिक मामलों में रेजीडेंट का हस्तक्षेप दिन पर दिन बढ़ता गया। हेस्टिंग्ज़ ने उसको अवध के शासन पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने का आदेश दिया था। नवाब रेजीडेंट को हटाने एवं आर्थिक भार कम करने की निरन्तर प्रार्थना करता रहता था। इँगलैंड लौटने से पहले हेस्टिंग्ज़ मार्च १७८४ ई० में कम्पनी और नवाब के संबंधों को सुनिश्चित करने के विचार से लखनऊ में अंतिम बार गया। उसने उस समय लिखा था कि "मेरी अभिलाषा है कि मैं अपने शासन-काल की समाप्ति एक महान् राज्य, राज-परिवार एवं जाति को बरबादी से बचाने के उद्योग में करूँ।" उसने इधर-उधर कुछ उलट-फेर किये और दावा करने लगा कि मैंने "नवाब और कम्पनी के हिसाब-किताब सम्बन्धी सब झगड़ों का निपटारा कर दिया है।" परन्तु वास्तव में उसने अवध की शिकायतों का कोई भी समाधान न किया था। उसने रेजीडेंट को अवश्य हटा दिया था, परन्तु उसके स्थान पर 'गवर्नर-जनरल की एजेंसी' स्थापित कर दी, जो रेजीडेंट से भी अधिक खर्चीली सिद्ध हुई। रेजीडेंसी पर नवाब का कुल ६४,२०२ पौं० वार्षिक व्यय होता था, परन्तु इस एजेंसी पर उसे १,१२,००० पौं० खर्च करना पड़ता था, जिसमें २२,००० पौं० तो एजेंट का ही वेतन था। नवाब का भार घटने की अपेक्षा और भी बढ़ गया। इसमें क्या आश्चर्य कि ऐसी स्थिति में नवाब हमेशा कर्जदार बना रहता था और शासन-व्यवस्था दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। अवध के प्रति अपने व्यवहारों एवं समझौतों में हेस्टिंग्स का एकमात्र उद्देश्य यही था कि अवध पर कम्पनी का नियन्त्रण पूर्णतया स्थापित हो जाय और इस उद्देश्य में वह पूर्णतया सफल हुआ। उसके उपाय कैसे थे, यह बात दूसरी है।

मराठों से सम्बन्ध—मराठों के साथ हेस्टिंग्ज़ के सम्बन्ध, जिनका अवसान १७८२ ई० में सालबाई की संधि में हुआ, पूना के आंतरिक झगड़ों में वम्बई-सरकार के हस्तक्षेप से प्रारम्भ हुए। सन् १७७२ ई० में पेशवा माधव राव के देहांत के पश्चात् उसका भाई नारायण राव पेशवा हुआ, परन्तु नौ महीने बाद ही उसके चाचा रघुनाथ राव ने, जो राघोवा के नाम से प्रसिद्ध है, उसकी हत्या करा दी। नारायण राव की हत्या के समय उसकी पत्नी गर्भवती थी। इसके एक पुत्र का जन्म हुआ। अब कुछ मराठा-सरदारों ने नारायण राव का पक्ष लिया और पेशवाई के लिए रघुनाथ राव तथा इस नवजात शिशु में प्रतिद्वंदिता प्रारम्भ हो गई। रघुनाथ राव ने अँगरेजों से सहायता माँगी और अँगरेजों ने उसके साथ सूरत में १७७५ ई० में एक संधि की जिसके अनुसार उन्होंने सालसट और बेसीन नामक स्थानों के बदले में राघोवा को सहायता देना स्वीकार किया। कर्नल कीटिंग की सेनानायकता में अँगरेजी सेना की सहायता पाकर रघुनाथ राव पूना की ओर बढ़ा और मई १७७५ ई० में उसने अपने प्रतिपक्षियों को अरास के मैदान में परास्त कर दिया।

हेस्टिंग्ज़ तथा उसकी कौंसिल ने इस संधि को 'नीति-विरुद्ध, भयंकर, अनधिकारपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण' बताकर अस्वीकार कर दिया। निस्संदेह यह संधि 'अनधिकार चेष्टा' थी। बम्बई सरकार ने अपने ही मन से यह संधि कर ली थी; यह 'भयकर' भी थी; क्योंकि इसके परिणामस्वरूप कम्पनी को मराठों के साथ ऐसे समय पर उलझना पड़ता जब इसकी स्थिति किसी भी प्रकार राज्य-विस्तार की बाह्य नीति अपनाने के योग्य न थी। यह सब सोच-विचार कर, कलकत्ता से कर्नल अप्टन को मराठा-सरदारों के साथ समझौता करने के लिए भेजा गया। मार्च सन् १७७६ ई० में पुरन्दर में एक संधि की गई जिसके अनुसार सालसट अँगरेजों के पास रहने दिया गया, उन्होंने रघुनाथ राव का साथ छोड़ देना स्वीकार किया और अँगरेजों एवं मराठों में साधारणतया शांतिपूर्ण संबंध स्थापित हो गये। परन्तु इँगलैंड में कम्पनी के अधिकारियों ने पुरन्दर की संधि को अस्वीकार कर दिया और सूरत की संधि का समर्थन करते हुए राघोबा के साथ मित्रता बनाये रखने तथा उसके दिये हुए स्थानों पर अधिकार किये रहने का आदेश दिया। इसी बीच फ्रांस के अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध में भाग लेने तथा जुलाई १७७८ई० में उसके प्रतिनिधि सेंट ल्यूबिन के पूना में नाना फड़नवीस के दरबार में पहुँचने से स्थिति बहुत उलझ गई। इँगलैंड से समर्थन पाकर बम्बई की सरकार ने पुनः संघर्ष प्रारम्भ कर दिया और नवम्बर सन् १७७८ ई० में कर्नल एगर्टन के नायकत्व में एक सेना पूना की ओर भेज दी। जनवरी १७७९ ई० में कर्नल काकबर्न ने उसका स्थान ग्रहण किया। अपने घरेलू मामलों में अँगरेजों का यह टाँग अड़ाना मराठे सहन न कर सके।

उन्होंने अपना दृढ़ संघटन बनाकर चारों ओर से अँगरेजों की खूब मरम्मत की और जनवरी १७७९ ई० में उनको बड़गाँव की अपमानपूर्ण संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया। इस संधि के अनुसार अँगरेजों ने उन सभी स्थानों पर से अधिकार हटा लेने का वचन दिया जो १७७३ ई० से उनके हाथ लगे थे तथा बंगाल से आनेवाली अपनी सेना को रोकना एवं राघोवा को मराठा सरदारों को सौंप देना स्वीकार किया। परन्तु राघोवा भागकर सिंधिया के पास पहुँच गया और तब उसी के साथ शर्तें तय हुई।

हेस्टिग्ज़ ने तत्काल इस संधि को अमान्य कर दिया। वह युद्ध की तैयारी करने लगा। उस समय कम्पनी के सम्मान पर थोड़ी भी आँच आना उसके लिए बहुत घातक था, क्योंकि हैदरअली के साथ कम्पनी के जैसे सम्बन्ध थे, उनसे निकट भविष्य में युद्ध की पूर्ण संभावना थी और निजाम का व्यवहार भी बहुत ढुलमुल था। हेस्टिग्ज़ ने नागपुर के भोंसला राजा के साथ समझौते की बातचीत प्रारम्भ की। भोंसला राजा स्वयं को मराठा-संघ का प्रधान समझता था परन्तु पेशवा सिद्धान्ततः सतारा-नरेश के प्रधानमन्त्री होते हुए भी वास्तव में मराठा-संघ के प्रधान बने हुए थे। हेस्टिग्ज़ ने नागपुर के भोंसला राजा को पेशवा के विरुद्ध भड़काया और सहायता का आश्वासन दिया तथा दो अँगरेज सेनाएँ एक केप्टेन पोफम के अधीन ग्वालियर के सिंधिया पर आक्रमण करने के लिए और दूसरी जनरल गौडार्ड के सेनानायकत्व में पूना की ओर रवाना कर दी गई।

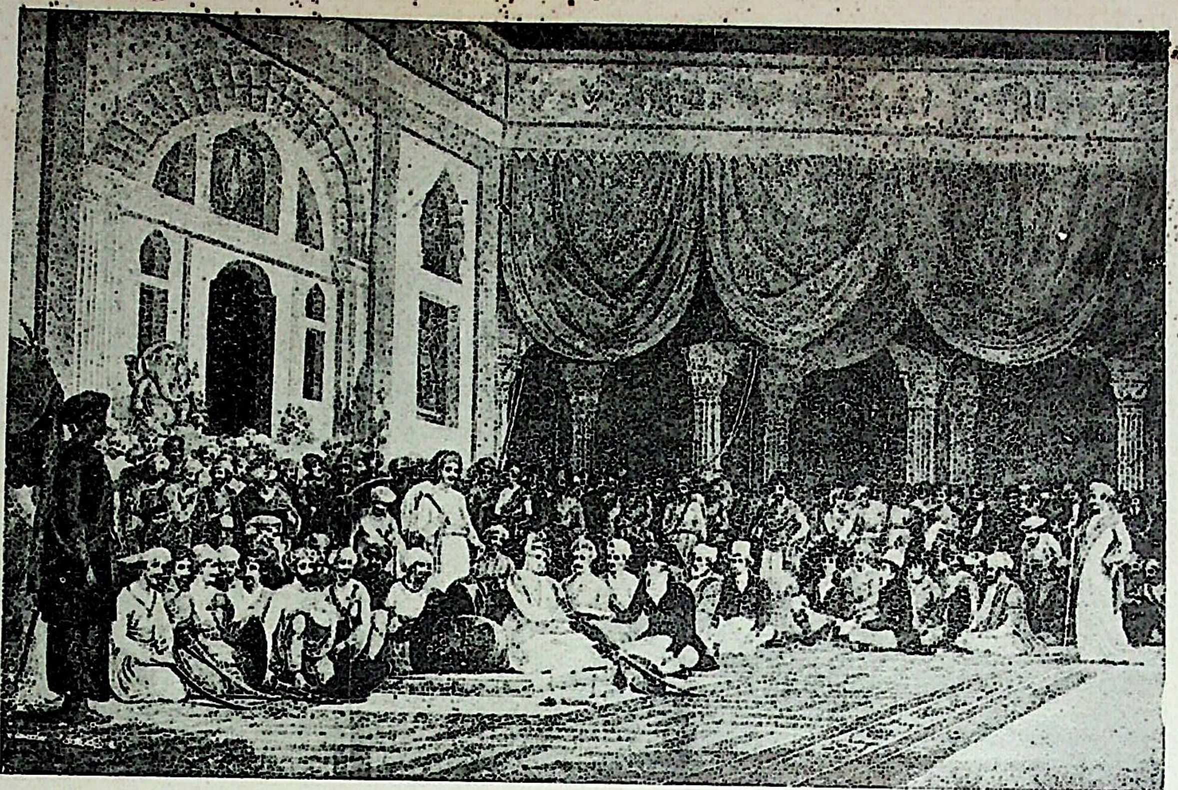
गौडार्ड ने मध्य भारत के बीच में से जाते हुए १७८० ई० में अहमदाबाद पर तूफानी हमला किया और गुजरात को रौंद डाला। उसने बड़ौदा के गायकवाड़ को अपने पक्ष में कर लिया। इस समय से गायकवाड़ आंग्ल-मराठा संघर्ष में सदैव तटस्थ रहा। तब गौडार्ड पूना की ओर झपटा, जहाँ नाना फड़नवीस के रूप में एक महान् कूटनीतिज्ञ शासनसूत्र सँभाले हुए था। इस समय तक दक्षिण में युद्ध प्रारम्भ हो गया था और अँगरेजों को निजाम, हैदर एवं मराठों के शक्तिशाली गुट का सामना करना पड़ रहा था। परिस्थितियाँ सब ओर से कम्पनी के विरुद्ध दिखाई पड़ रही थीं।

नाना फड़नवीस अँगरेजों की संकटपूर्ण स्थिति को खूब समझता था। अतः उसने गौडार्ड की शर्तों को ठुकरा दिया और अत्यंत निपुणता से गौडार्ड को चारों ओर से घेर लिया। गौडार्ड तो बच निकला, परन्तु धन-जन की विपुल हानि हुई।

गौडार्ड के इस पराभव का बहुत कुछ बदला कैप्टेन पोफम की सिंधिया पर विजय से चुक गया। गौडार्ड ने ग्वालियर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया और जनरल कामक ने फरवरी सन् १७८१ ई० में सिंधिया को सिप्री में पुनः परास्त



पेशवा माधवराव नारायण



पेशवा माधवराव का दरबार

कर दिया। इन पराजयों से सिंधिया बहुत घबड़ा गया। उसने अक्टूबर सन् १७८१ ई० में संधि कर ली, जिसके अनुसार उसने पेशवा के साथ अँगरेजों का समझौता कराने का वचन दिया। सिंधिया के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप मई १७८२ ई० में सालबाई में संधि हो गई और प्रथम मराठा युद्ध समाप्त हुआ।

इस संधि के अनुसार अँगरेजों ने राघोवा का साथ छोड़ दिया; राघोवा को पेन्शन दी गई; सालसट और भड़ोच को छोड़कर अँगरेजों को अन्य विजित स्थान छोड़ देने पड़े और यमुना के पश्चिम की ओर के सिंधिया के प्रदेश उसको लौटा दिये गये तथा अँगरेजों और मराठों में मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस संधि से अँगरेजों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति मराठों की मैत्री के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त न हो सका, परन्तु इस संधि ने मैसूर को मराठों की सहायता से वंचित कर दिया। यही इस संधि का एकमात्र महत्त्व था, क्योंकि जब तक मराठों के साथ पुनः युद्ध प्रारम्भ हुआ तब तक अँगरेज मैसूर की शक्ति तोड़ने में सफल हो गये और निज़ाम पर भी नियन्त्रण स्थापित कर सके। इस प्रकार मराठा-मैसूर-निजाम गुट, जिसका उनको सबसे अधिक भय था, असंभव कल्पना बन गया। अकेले पड़ जाने तथा घर में ही मतभेद होने के कारण अंत में मराठे भी परास्त हुए। इस संधि को भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अँगरेजों को नियन्त्रणकारिणी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाली कहना कपोलकल्पना मात्र है; यह कथन ऐतिहासिक तथ्यविहीन है। जहाँ तक मराठों का संबंध है, यह संधि उनकी एक भारी भूल थी; सिंधिया ने अपने स्वार्थवश इस संधि को स्वीकार कर मराठा-स्वार्थों का हनन कर दिया था। उत्तर-भारत में अपने लिए निर्बाध संचरण का आश्वासन पाकर उसका अपने सहयोगी निजाम एवं मैसूर का साथ छोड़ना उसकी भारी भूल थी। यदि यह संधि न की जाती और युद्ध चलता रहता तो इतिहास कुछ दूसरी ही कहानी सुनाता। मराठों के साथ समझौता कर लेना हेस्टिंग्स की बहुत लाभदायक कूटनीतिक सूझ थी। दक्षिण के युद्धों में उसको इससे बहुमूल्य सहायता मिली।

एक अँगरेज इतिहासकार ने सन् १७८२ ई० के महत्त्व का वर्णन इन शब्दों में किया है; "यह ध्यान देने योग्य बात है कि सन् १७८२ का साल संसार के विभिन्न भागों में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं के कारण स्मरणीय है; जैसे लार्ड नार्थ का, जो सन् १७७० ई० से इँगलैंड के प्रधान मंत्री के रूप में पदारूढ़ था, त्याग-पत्र देना, जिब्राल्टर पर फ्रांस-स्पेन के प्रमुख आक्रमण का पीछे ठेला जाना, पश्चिमी इंडीज में रौडने की महान् सामुद्रिक विजय, हैदरअली की मृत्यु और आयरलैंड में ग्रैटन की पार्लियामेंट की स्थापना। यह सचमुच ही आश्चर्यजनक घटनाओं का वर्ष था।"

हैदरअली के साथ सम्बन्ध—पीछे हमने हैदरअली को मद्रास के दुर्ग की दीवालों के नीचे १७६९ ई० की संधि की शर्तें रखते हुए देखा था। इस संधि की एक शर्त यह भी थी कि अँगरेज हैदरअली को उसके शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देंगे। परन्तु जब १७७१ ई० में मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया और हैदरअली ने अँगरेजों से सहायता माँगी तो वे चुप्पी साध गये। इस विश्वासघात के लिए हैदर-अली ने उन्हें कभी क्षमा नहीं किया, क्योंकि वह स्वयं जबान का बहुत पक्का था। विश्वासघात वह कभी न भूल सकता था। सत्य बात यह थी कि हैदर और अँगरेजों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो ही नहीं सकते थे। दोनों के स्वार्थ परस्पर इतने टकराते थे कि देर-सबेर लड़ाई अनिवार्य थी। हैदर का प्रत्येक प्रगतिशील कदम अँगरेजों के भय का विषय था और अँगरेजों का निजाम एवं मराठों के साथ प्रत्येक कूटनीतिक सम्बन्ध हैदर की आँखों में खटकता था। परिणाम यह हुआ कि दोनों में तनातनी बढ़ने लगी।

मैसूर का द्वितीय युद्ध—जब अँगरेज मराठा-युद्ध में गुथे हुए थे और बुद्धिमानी इसी में थी कि जहाँ तक हो सके, शांति रखी जाय, तब मद्रास सरकार ने अपने आच-रण से हैदर एवं निजाम दोनों का रोब जगा दिया। परिणामस्वरूप युद्ध का बिगुल बज उठा। इस समय मद्रास की सरकार में इतना भ्रष्टाचार फैला हुआ था कि सहसा विश्वास नहीं होता, उसने उत्तरी सरकारों का कर निजाम को देना बंद कर दिया था और अपनी सेनाओं को हैदरअली के राज्य में से होकर निजाम के राज्य के अन्तर्गत गुन्तूर नामक स्थान पर अधिकार करने के लिए भेज दिया था। हैदर-अली बहुत समय से इस स्थान पर अधिकार करने के लिए लालायित था, क्योंकि इसकी प्राप्ति कर लेने पर उसकी पहुँच समुद्र तक हो जाती थी। मद्रास-सरकार के इस कार्य को हैदरअली ने अपना ही विरोध समझा और जब १७७९ ई० में अँगरेजों ने फ्रांसीसी बस्ती माही पर अधिकार किया तब तो उसका धैर्य बिलकुल ही जाता रहा, क्योंकि माही उसके संरक्षण में था और वह अँगरेजों को इससे छेड़छाड़ न करने के लिए कहता आ रहा था। माही के छोटे से बन्दरगाह पर अधिकार करने में अँगरेजों का उद्देश्य यह था कि फ्रांसीसी हैदरअली के साथ सम्बन्ध न जोड़ सकें, क्योंकि यूरोप में फ्रांसीसी और अँगरेजों में युद्ध चल रहा था। इसी समय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हैदर, निजाम एवं मराठों का शक्तिशाली गुट बन गया और हेस्टिंग्स के शब्दों में 'इस समय प्रत्येक दिशा में और हिन्दुस्तान की प्रत्येक शक्ति के साथ अँगरेजों का या तो युद्ध छिड़ रहा था या छिड़नेवाला था।"

१७८० ई० में हैदरअली कर्नाटक के मैदानों में झंझावात के समान मृत्यु एवं विनाश की विभीषिका फैलाता हुआ छा गया था। अँगरेज भय से काँप उठे।

बक्सर-युद्ध का विजेता हैक्टर मुनरो अपनी बन्दूकों और सामग्री को तालाब में फेंककर प्राण-रक्षा के लिए मद्रास की ओर भाग चला। हैदरअली के पुत्र टीपू ने कांजीवरम् में कर्नल बेली की सेना के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। अक्टूबर सन् १७८० ई० में हैदरअली ने अर्काट पर अधिकार कर लिया और कर्नाटक का निर्विवाद अधिपति बन बैठा। सर्वनाश कम्पनी को घूर-घूरकर देख रहा था। कम्पनी की स्थिति इतनी संकटपूर्ण कभी न हुई थी।

कलकत्ते में हेस्टिंग्ज़ के हाथ के तोते उड़ रहे थे। तत्काल एक सेना तैयार कर उसने सर आयरकूट के सेनापतित्व में दक्षिण भेज दी। इस समय हैदर-निजाम-मराठा गुट को बहुत शीघ्र तोड़ना अत्यावश्यक था। अपनी कूटनीतिक चालों से, इस गुट के सदस्यों के परस्पर विरोधी स्वार्थों को उभाड़कर, हेस्टिंग्स ने बरार के राजा और सिंधिया को इससे अलग कर दिया। गुन्तूर लौटा कर उसने निजाम को भी शांत कर दिया और मद्रास के गवर्नर को हटाकर, कार्यसंचालन अपने हाथ में ले लिया।

सर आयरकूट की सेना कर्नल पियर्स की सेना से जा मिली। इस सम्मिलित सेना ने अगस्त १७८१ ई० में हैदर के साथ पोल्लीलूर में एक अनिर्णीत युद्ध लड़ा, परन्तु सितम्बर में हैदर शोलिंगढ़ के युद्ध में परास्त हुआ। हैदर की पराजय का प्रभाव तंजौर के समीप कर्नल ब्रैथवेट के टीपू के सामने आत्मसमर्पण से समाप्त हो गया। १७८२ ई० के प्रारम्भिक दिनों में फ्रांसीसी भी युद्ध में सम्मिलित हो गये। नौसेनाध्यक्ष सफ्रेन की अध्यक्षता में उनका एक जहाजी बेड़ा और डि-शेमिन की अधीनता में २,००० सैनिक, बुसी की प्रतीक्षा करते हुए आ पहुँचे। इस समय तक सालबाई की संधि से मराठों के इस गुट्ट से अलग हो जाने पर हेस्टिंग्स ने बम्बई एवं मद्रास दोनों ओर से अपनी सेनाएँ मैसूर की दिशा में केन्द्रित कीं। समुद्र में डि-सफ्रेन ने अँगरेजों के साथ कई छोटे-मोटे युद्ध किये, जिनका परिणाम अनिश्चित रहा। भूभाग पर फ्रांसीसियों ने अँगरेजों से कुड्डालोर एवं त्रिन्कोमाली नामक स्थान छीन लिये। सर आयरकूट ने अर्नी नामक स्थान पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, जहाँ हैदर की सामग्री का भंडार था, परन्तु उसका आक्रमण मई १७८२ ई० में पीछे ठेल दिया गया; कर्नल हम्बरस्टोन के मलाबार-तट पर आक्रमण की भी टीपू के हाथों यही गति हुई। ऐसे अवसर पर मृत्यु ने हैदरअली को उसके यश के क्षेत्र से खींच लिया। कंठावरोध (कैन्सर) के घातक प्रहार ने दिसम्बर १७८२ ई० में उसके प्राण ले लिये। अब भाग्य ने अँगरेजों की ओर पलटा खाया। टीपू संघर्ष चलाता रहा। मंगलौर एवं बेदनूर पर अधिकार करने के लिए बम्बई से भेजे गये कर्नल मैथ्यूज को उसने परास्त कर दिया। इस गम्भीर

स्थिति में फ्रांसीसियों ने १७७३ ई० में वार्साई की संधि के अनुसार मैदान छोड़ दिया और अब भारतीय समुद्र पर पुनः अँगरेजों का प्रभुत्व छा गया। अव अँगरेजों के अनेक सैनिक दल मैसूर की ओर बढ़ने लगे। कर्नल फुलर्टन ने नवम्बर सन् १७८३ ई० में मैसूर के दक्षिणी प्रांतों पर आक्रमण किया और वह श्रीरंगम् की ओर बढ़ ही रहा था कि मार्च सन् १७८४ ई० में समझौता हो गया। परन्तु यह समझौता बहुत अस्थायी था और संघर्ष चलाने में असमर्थता से बाध्य होकर किया गया था; परन्तु दोनों पक्षों की निश्चित धारणा बन चुकी थी कि एक का विनाश हुए विना दूसरा किसी भी प्रकार सुरक्षित नहीं रह सकता।

हेस्टिंग्ज़ तथा रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—गवर्नर-जनरल के रूप में हेस्टिंग्ज़ के कार्य-काल का इतिहास, अपनी सहायक समिति के साथ उसके सम्वन्ध एवं नन्दकुमार के न्याय का संक्षिप्त परिचय दिये विना अधूरा ही रह जायगा। जब से रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार नियुक्त उसके सहायक मंत्रियों का आगमन हुआ, उसकी आपत्तियाँ बढ़ती ही गईं। इन मंत्रियों में से फ्रांसिस, मॉनसन और क्लेवरिंग ने हेस्टिंग्ज़ की योजनाओं के विरुद्ध अपना एक गुट वना लिया था। इसका एक कारण यह था कि हेस्टिंग्ज़ अपनी योजनाओं को सदैव गुप्त रखता था, जिससे इनको उसके प्रति बहुत संदेह रहता था। बारवेल अवश्य उसका समर्थक था, परन्तु बहुमत से निर्णय का नियम होने के कारण, हेस्टिंग्ज़ के प्रस्ताव प्रायः अस्वीकृत हो जाते थे। १७७६ ई० में मॉनसन की मृत्यु हो जाने पर हेस्टिंग्ज़ को कुछ चैन मिला, क्योंकि अब अपने निर्णायक मत (कास्टिंग वोट) के बल पर वह अपनी बात मनवा सकता था और १७७७ ई० में क्लेवरिंग की मृत्यु हो जाने पर तो हेस्टिंग्ज़ का समिति पर पूर्ण अधिकार हो गया। अकेला फ्रांसिस अब कर ही क्या सकता था। फ्रांसिस और हेस्टिंग्स का वैमनस्य पूर्णतया व्यक्तिगत आधार पर होने के कारण बहुत ही हीन कोटि का था। यह वैमनस्य इस सीमा तक बढ़ गया कि अंत में द्वंद्व युद्ध की नौवत आ गई, जिसमें हेस्टिंग्ज़ विजयी हुआ और फ्रांसिस उसके हाथों घायल हुआ। इसके पश्चात् फ्रांसिस शीघ्र ही इँगलैंड लौट गया। आज के पाठकों को यह बात बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत हो रही होगी कि गवर्नर-जनरल को अपने व्यक्तिगत झगड़े के निर्णय के लिए द्वंद्व युद्ध करना पड़ा; परन्तु अठारहवीं शताब्दी के यूरोप में द्वंद्व युद्ध व्यक्तिगत झगड़ों को निपटाने का एक बहुत प्रचलित साधन था। इसमें भाग लेनेवाले व्यक्ति किसी प्रकार दोष के भागी न माने जाते थे। परन्तु हेस्टिंग्ज़ के समसामयिक भारतीयों की दृष्टि में हेस्टिंग्ज़ का यह कार्य बहुत ही निम्न श्रेणी का था।

नन्दकुमार की जाँच—हेस्टिंग्ज़ पर उसके मंत्रियों द्वारा लगाये गये भ्रष्टा-

चार के दोषारोपण में नन्दकुमार एक प्रमुख पात्र था। नन्दकुमार को लेकर एक विशाल साहित्य बन चुका है, परन्तु अब भी उसका मामला विवादग्रस्त विषय ही है और संभवत: सदैव ही रहेगा। फिर भी कुछ तथ्य ऐसे हैं जो सर्वथा असंदिग्ध हैं, उनको पाठकों के समक्ष उपस्थित करना नितांत आवश्यक है, जिससे पाठक स्वयं इसका कोई निष्कर्ष निकाल सकें।

मार्च १७७५ ई० में नन्दकुमार ने हेस्टिंग्ज़ पर लाखों रुपये उपहारस्वरूप स्वीकार करने का दोष लगाया। नन्दकुमार का कहना था कि इस रकम में साढ़े तीन लाख रुपये ऐसे हैं जो मीर जाफर की विधवा मुन्नी बेगम से उसको अपने नाबालिग पुत्र का संरक्षक बनाने के बदले में, लिये गये थे। मुन्नी बेगम को संरक्षक नियुक्त करने की पहले भी बहुत कड़ी आलोचना हो चुकी थी। हेस्टिंग्ज़ ने स्वीकार किया कि जब वह मुर्शिदाबाद गया था, उसने मुन्नी बेगम से १॥ लाख रुपये अवश्य लिये थे, परन्तु यह रुपया उसके 'स्वागत का व्यय' था न कि घूस। जब उपहार-स्वरूप धन लेने के इस मामले पर 'समिति' के समक्ष विचार हो रहा था, हेस्टिंग्ज़ आपे से बाहर हो उठा और क्रोध के आवेश में अपनी कुर्सी छोड़कर उठ गया। उसने अपनी ही समिति द्वारा एक 'अभागे के सामने, जिसको तुम सभी जानते हो कि यह नीचतम मनुष्य है' अपनी जाँच किया जाना अस्वीकार कर दिया। नन्दकुमार के लगाये हुए दोष सत्य थे या असत्य, यह हम कभी न जान पायेंगे, क्योंकि यह 'अभागा' न्यायाधिकरण के समक्ष अभी अपने प्रमाण उपस्थित कर ही न पाया था कि इस पर जालसाजी का दोष लगाकर मुकदमा चलाया गया और न्यायालय द्वारा जाँच का ढोंग रचकर फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया। इस जालसाजी का सम्बन्ध एक चार साल पहले के वसीयतनामे से था। नन्दकुमार पर यह अपराध उसके एक शत्रु मोहनप्रसाद ने लगाया था, जिस पर हेस्टिंग्ज़ की विशेष कृपादृष्टि थी और इस मुकदमे का फैसला सुनानेवाले थे सर एलिजा इम्पी, जिनके हेस्टिंग्ज़ के साथ बहुत ही गहरे संबंध थे।

नन्दकुमार की जाँच में की गई असभ्यतापूर्ण शीघ्रता स्वयं जाँच में पक्षपात, उसके अपराध को अपर्याप्त प्रमाणों से पुष्ट करना, और इन सबसे भी बड़ी बात तो यह कि ऐसे अपराध के लिए फाँसी की सजा देना, जैसा पहले कभी न हुआ था—इन सभी बातों से यही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो फ्रांसिस के इन शब्दों में व्यक्त हुई है—"नन्दकुमार भले ही नीचतम बदमाश रहा हो, परन्तु भगवान् की कसम! उसने सच्ची बात कही, नहीं तो उसको फाँसी के तख्ते पर लटकाने की उन्हें ऐसी क्या जल्दी थी।" ५ अगस्त सन् १७७५ ई० को नन्दकुमार एक ऐसे अपराध के लिए फाँसी पर लटकाया गया, जैसे कारनामे ने क्लाइव को प्लासी का विजेता

बनने से भी न रोका था। नन्दकुमार की फाँसी न्याय की हत्या थी। इसके पीछे हेस्टिंग्स का कितना हाथ था, यह जानने के कोई साधन हमारे पास नहीं हैं। इतना अवश्य असंदिग्ध है कि नन्दकुमार की मृत्यु से हेस्टिंग्स को असीम आनंद प्राप्त हुआ।

हेस्टिंग्स की वापसी—१७८५ ई० के फरवरी मास में हेस्टिंग्स अपने कार्य-भार से अवकाश लेकर इँगलैंड लौट गया, जहाँ चार बातों के लिए उस पर पालिया-मेंट में मुकदमा चलाया गया। ये बातें थीं—

(१) चेतसिंह के साथ दुर्व्यवहार,
(२) रुहेला-युद्ध,
(३) अवध की बेगमों के साथ दुराचार,
(४) नन्दकुमार की हत्या।

हेस्टिंग्ज़ की जाँच फरवरी १७८८ में प्रारम्भ होकर अप्रैल १७९५ ई० में समाप्त हुई। हेस्टिंग्स चारों दोषों से मुक्त सिद्ध हुआ। उसने अपने विरोधियों के आक्रमणों का बहुत धैर्य एवं शांतिपूर्वक सामना किया। उस समय के सर्वश्रेष्ठ अँगरेज वक्ता बर्क एवं शेरीडन की कठोर आलोचनाएँ उसको बहुत कष्ट देती थीं, परन्तु उसने क्षमा-याचना करने या अपना अपराध मान लेने से इनकार कर दिया। १८१८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

हेस्टिंग्ज़ की उपलब्धियों की नाप-जोख उसकी कठिनाइयों को सामने रखकर ही की जानी चाहिए। संभवतः उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी गवर्नर-जनरल को ऐसी संकटपूर्ण परिस्थितियों में कार्य नहीं करना पड़ा और ऐसी स्थिति में भी उसने जैसा धैर्य प्रदर्शित किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हेस्टिंग्ज़ अपनी योग्यता एवं ईमानदारी के बल पर बहुत साधारण स्थिति से उन्नति करता हुआ उच्च पद पर पहुँचा था। अतः उसको अपने अधीन कर्मचारियों से सहज ही वह सम्मान उप-लब्ध नहीं था जो उच्च वर्ग के किसी अँगरेज को, जिसका निचले स्तर के पदों से कोई संबंध न रहा हो, स्वतः प्राप्त हो जाता था। यह भी एक कारण है कि हेस्टिंग्ज़ ऐसा अंतिम गवर्नर-जनरल था, जो पहले कम्पनी का कर्मचारी भी रह चुका हो। उसका उद्देश्य अँगरेजों के प्राप्त राज्याधिकार को सुरक्षित रखना था और महान् संकटों का सामना करते हुए भी उसने इस उद्देश्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की। राज्य-विस्तार अथवा नवीन उपलब्धियों की ओर उसका ध्यान न था और न इनके अनुकूल परिस्थिति ही थी। उसके शासन-संबंधी सुधार निस्संदेह अल्प-जीवी थे। उसके धन बटोरने के उपायों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और उसके प्रबल समर्थकों को भी स्वीकार करना पड़ता है कि 'वह जिस व्यवस्था का प्रधान

था, वह व्यवस्था भ्रष्टाचार से एवं दोषों से पूर्ण थी। उसके कार्यों का मूल्यांकन उस चारित्रिक मापदंड से करना जिससे तत्कालीन पाश्चात्य समाज अपरिचित था और विशेषतया राष्ट्रीय स्वार्थों पर आँच आते देखकर तो जिससे बिलकुल ही अपरिचित बन जाता था, उचित न होगा। इसमें संदेह नहीं कि उसने जो उपाय अपनाये वे बहुत ही लज्जापूर्ण थे, परन्तु जिन परिस्थितियों में उसको काम करना पड़ रहा था, वे भी कम संकटपूर्ण न थीं। हेस्टिंग्ज़ का स्थान ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माताओं में न होकर उसके संरक्षकों में है। उसने किसी नवीन वस्तु को जन्म नहीं दिया, अपितु वह उन परिस्थितियों से संघर्ष करता रहा, जिन पर उसका कोई वश नहीं था और जो प्रायः कम्पनी की बरबादी का भय उपस्थित कर देतीं थीं भारत में कम्पनी के साम्राज्य के रक्षक तथा कम्पनी के वास्तविक हितों के पोषक के रूप में उसका नाम इतिहास में सदैव स्मरण किया जायगा।

सातवाँ अध्याय

शासन-प्रणाली का समारम्भ; लार्ड कॉर्नवालिस १७८६-९३ ई०

लार्ड कार्नवालिस की नियुक्ति के साथ भारत के इतिहास में ऐसे गवर्नर-जनरलों का काल प्रारम्भ होता है जो इँगलैंड के अभिजात-वर्ग के उन लोगों में से चुने गये, जिनका वहाँ के जन-जीवन में सक्रिय सहयोग रहता था। इसके आगमन के साथ ही भारत में उस शासन-प्रणाली का भी समारम्भ हुआ, जो थोड़े-बहुत परिवर्तन-परिवर्धनों के साथ आधुनिक समय तक चलती रही है। कार्नवालिस का सात वर्ष का शासन-काल शांति का काल था, जिसमें तीसरे मैसूर-युद्ध के सिवाय अन्य कोई अशांतिकारक घटना नहीं हुई। उसकी ख्याति उसकी वैदेशिक नीति के कारण नहीं, अपितु शासन-व्यवस्था में सुधारों पर टिकी हुई है। वह सुविस्तृत अधिकारों से सुसज्जित होकर भारत में आया था; गवर्नर-जनरल के साथ-साथ वह प्रधान सेनापति भी था। गवर्नर-जनरल के रूप में उसको अपनी 'मंत्रि परि-षद्' के निर्णयों को न मानने का भी अधिकार था। वह भारत में शासन-सुधार करने एवं जमींदारों के साथ राज्य का न्यायोचित सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चित ध्येय लेकर आया था। जमींदारों के प्रति पिछले शासन में बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया था। कॉर्नवालिस अभिजात कुल का सदस्य था; उसको अपनी मुट्ठी गरम करने की तनिक भी आवश्यकता न थी, क्योंकि उसके परिवार में धन का अभाव न था। इँगलैंड की सरकार की सेवा में भी उसके कार्य-कलाप बहुत निर्दोष एवं आदरणीय रहे थे। सप्तवर्षीय युद्ध एवं अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध में वह इँगलैंड के एक उच्च अधिकारी के रूप में काम कर चुका था। उसको यार्कटाउन में अमेरिकनों के सामने आत्म-समर्पण करना पड़ा था, परन्तु यह घटना स्वयं उसकी किसी प्रकार की अयोग्यता अथवा असावधानी का परिणाम नहीं थी और उसकी सैनिक ख्याति पर इससे किसी प्रकार का लांछन नहीं लगा था। परन्तु उसकी सबसे बड़ी योग्यता उसकी ईमानदारी तथा उसके आचरण की पवित्रता थी। इन्हीं को देखते हुए उसको गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया

था। इन बातों में उसने अपने स्वामियों की आशाओं को भली भाँति पूर्ण किया।

पिट का 'इंडिया बिल' (भारत-सम्बन्धी प्रस्ताव)—१७८४ ई०—कम्पनी की आंतरिक व्यवस्था को नये साँचे में ढालनेवाला और उसके संघटन में महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन करनेवाला पिट का इंडिया बिल (भारत-सम्बन्धी प्रस्ताव) यद्यपि कॉर्नवालिस के गवर्नर-जनरल पद पर आरूढ़ होने से कुछ समय पूर्व का है, परन्तु कॉर्नवालिस के समय से कार्यान्वित होने के कारण उसका यहाँ वर्णन करना सुविधाजनक होगा।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट कम्पनी की व्यवस्था एवं शासन-प्रणाली में कुछ भी सुधार न कर सका था। सभी पक्ष इस बात में एकमत थे। १७८३ ई० में कम्पनी के इँगलैंड की सरकार से आर्थिक सहायता की प्रार्थना करने पर उसकी व्यवस्था में सुधार का प्रश्न नये सिरे से उठाया गया। इसके लिए डन्डास, फॉक्स और पिट ने पार्लियामेंट के समक्ष अपने-अपने प्रस्ताव उपस्थित किये। फॉक्स के प्रस्ताव का तृतीय जार्ज द्वारा अस्वाभाविक रूप से विरोध किये जाने पर, अंत में पिट का प्रस्ताव मान्य हुआ और यह १७८४ ई० में विधि (कानून) बन गया। कम्पनी के शासन-प्रबंध को सुधारने के लिए उस पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना आव-श्यक समझा जाता था। पिट की इस विधि में इस आवश्यकता को पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया था।

पिट के इंडिया बिल की प्रमुख व्यवस्थाएँ—(१) इस विधि ने 'भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए ६ कमिश्नरों की एक समिति बनाने का नियम बनाया। यह समिति 'नियामक-समिति' (बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल) के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। राज्य-मंत्री (सेक्रेटरी-ऑफ स्टेट), जो इस समिति का सभापति होता था, अर्थ-मंत्री (चांसलर ऑफ एक्सचेकर) तथा प्रिवी कौंसिल के चार सदस्य जिनको नियुक्त करने अथवा वियुक्त करने का अधिकार राजा को दिया गया, इस समिति के सदस्य बनाये गये।

(२) एक गुप्त संचालक-समिति (सीक्रेट कमिटी आफ डायरेक्टर्स) स्थापित करने का नियम बनाया, जिसके द्वारा 'नियामक-समिति' के गुप्त अथवा अत्या-वश्यक आदेश भारत में पहुँचाये जा सकें।

(३) कम्पनी के संस्थापकों की समिति से संचालक-समिति (बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स) के किसी भी ऐसे प्रस्ताव को रद्द करने अथवा रोकने का अधिकार छीन लिया गया, 'जो 'नियामक-समिति' द्वारा समर्थन पा चुका हो।

(४) भविष्य में गवर्नर-जनरल की 'मंत्रि-परिषद्' की सदस्य-संख्या तीन

८

कर दी गई और अधीन प्रेजीडेंसियों पर युद्ध, भूमिकर एवं संधि के मामलों में गवर्नर-जनरल का नियन्त्रण पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा दिया गया।

हेस्टिंग्ज को अपनी 'मंत्रि-परिषद्' के विरोध के कारण जैसी आपत्तियों का सामना करना पड़ा था, उनसे बचने के लिए कॉर्नवालिस ने 'मंत्रि-परिषद्' के निर्णयों को अमान्य करने के अधिकार की माँग की और १७८६ की एक संशोधक-विधि (एमेंडिंग ऐक्ट) द्वारा उसको यह अधिकार भी दे दिया गया।

इस बिल का स्पष्ट ध्येय कम्पनी के कार्यों को मंत्रिमंडल (केबिनेट) के नियन्त्रण में लाना था। कम्पनी के संचालक भी भली भाँति समझ चुके थे कि उन्हें अपने कुछ अधिकारों का त्याग करना ही पड़ेगा। अतः अपने लिए संरक्षण का अधिकार ही शेष रह जाने से उन्होंने संतोष कर लिया। इस बिल ने जिस शासन-तंत्र की स्थापना की, वह १८५८ ई० में भारत का शासन पूर्णतया इँगलैंड की राज-शक्ति (क्राउन) के हाथ में आ जाने तक, छोटे-मोटे सुधारों के साथ बना रहा।

इस विधि का यह अनुच्छेद ध्यान देने योग्य है—"क्योंकि भारत में विजय एवं राज्य-विस्तार की योजनाओं को अपनाना इस राष्ट्र की इच्छा, सम्मान एवं नीति के सर्वथा विरुद्ध है, अतः गवर्नर-जनरल एवं उसकी 'मंत्रि-परिषद्' बिना 'संचालक-मंडल' अथवा 'गुप्त-समिति' के स्पष्ट निर्देश के भारत में किसी भी देशी रजवाड़े अथवा राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा अथवा लड़ाई-झगड़े या युद्ध करने के समझौते न करें।"

इस अनुच्छेद को भारत में अँगरेजों की तटस्थ नीति का स्थापक बताया जाता है। आगे के वर्णन में हम देखेंगे कि व्यवहार में इस नीति पर आचरण किया गया या इसकी अवहेलना की गई।

कॉर्नवालिस और भारतीय राज्य-शक्तियाँ—जिस समय कॉर्नवालिस भारत आया, उस समय यहाँ मराठे, निजाम और टीपू—ये तीन प्रमुख राज्य-शक्तियाँ थीं। इनके पारस्परिक विरोधी स्वार्थ इनको अँगरेजों के विरुद्ध कोई सुदृढ़ संघटन न बनाने देते थे। इन शक्तियों में टीपू अँगरेजों के विनाश के लिए सबसे अधिक बेचैन रहता था, क्योंकि कम्पनी ने उसके चारों ओर के राज्यों के साथ समझौता कर उसका विस्तार रोक दिया था। मराठे सर्वाधिक शक्तिशाली थे, परन्तु वे आपस में ही राज्य एवं अधिकारों के लिए छीना-झपटी में व्यस्त थे। मराठा-सरदारों में ग्वालियर का शासक महादजी सिंधिया सर्वाधिक प्रभावशाली था। निजाम दक्षिण की ओर से टीपू से और पश्चिम की ओर से मराठों से घिरा था; इन दोनों शक्तियों से अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाने के लिए वह अँगरेजों की मैत्री का अभिलाषी था।

कॉर्नवालिस ने अपने सामने प्रधान लक्ष्य यह रखा कि ये भारतीय शक्तियाँ कम्पनी के विरुद्ध गुट न बना सकें और विशेषतया 'निजाम को अन्य समस्त भारतीय सम्बन्धों से तोड़ लिया जाय तथा उसको अपने निकटतम सम्पर्क में ले लिया जाय अपने संरक्षण पर अवलम्बित बना दिया जाय। भारत में पहुँचते ही वह समझ गया था कि टीपू के साथ संघर्ष अनिवार्य है और पिट के इंडिया बिल में निर्धारित तटस्थता की नीति का अक्षरशः पालन असम्भव है। टीपू भी भली भाँति समझता था कि अँगरेज उसकी गर्दन दबाने का मौका कभी न छोड़ेंगे; इसलिए अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाने के लिए उसने आंग्ल-फ्रांसीसी वैमनस्य का सहारा लेने की सोची, जिसके दबाव से अँगरेज उसकी ओर हाथ न बढ़ा सकें। इस विचार से उसने १७८७ ई० में अपने राजदूत फ्रांस भेज दिये थे, परन्तु ये वहाँ से सहायता के आश्वासन के अतिरिक्त और कुछ न पाकर १७८९ ई० में वापिस लौट आये।

फ्रांसीसियों के साथ टीपू को मेल-जोल बढ़ाते देखकर अँगरेजों का माथा ठनका, कॉर्नवालिस समझ गया कि अब झपट हुए बिना न रहेगी; इसलिए वह मराठों एवं निजाम को अपनी ओर गाँठने के प्रयत्नों में लग गया, जिससे टीपू अकेला छूट जाय। कार्नवालिस के इन कारनामों से टीपू भी सशंकित हो उठा और उसने तैयारियाँ शुरू कर दीं। इस प्रकार तैयारियों का चाक तेजी से चलने लगा; दोनों पक्ष युद्ध की आशंका से सचेत हो रहे थे और जब दो पक्ष युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जायँ तो फिर युद्ध रुक ही कैसे सकता है?

निजाम के साथ सम्बन्ध—गुन्तूर सरकार (जिला) अँगरेजों एवं निजाम के बीच झगड़े का विषय बनी हुई थी। हम पीछे देख चुके हैं कि द्वितीय मैसूर-युद्ध में हेस्टिंग्ज़ से गुन्तूर का जिला निजाम का लौटा दिया था और इस प्रकार उसको हैदरअली से अलग कर लिया था। भारत का मान-चित्र देखने से गुन्तूर की स्थिति का महत्त्व स्पष्ट विदित होता है। अँगरेजों के लिए यह जिला उनके मद्रास के प्रदेशों को उत्तरी सरकारों के साथ जोड़ता हुआ बंगाल के साथ मिलाने का साधन था। निजाम के पास यही एक स्थान था, जहाँ से वह समुद्र-तट पर पहुँच सकता था और मैसूर भी इसी कारण से उसको हथियाने के लिए लालायित था। अँगरेज इस जिले पर इसलिए भी अधिकार करना चाहते थे कि इससे निजाम का समुद्र-तट से कोई सम्पर्क न रह जाने के कारण वह केवल एक स्थल-शक्ति मात्र रह जाता था।

अब कॉर्नवालिस ने निजाम से गुन्तूर वापिस माँगा। निजाम गुन्तूर लौटाने के लिए इस शर्त पर तैयार था कि अँगरेज उसको हैदरअली द्वारा छीने गये अपने प्रदेशों को लौटाने में सहायता दें। परन्तु मद्रास (१७६९ ई०) तथा मंगलौर

(१७८४ ई०) की संधियों के अनुसार अँगरेज इन प्रदेशों पर मैसूर का अधिकार स्वीकार कर चुके थे। इसलिए गुन्तूर के बदले में निजाम की रखी हुई शर्त पूरी करने के लिए टीपू के साथ मुठभेड़ अनिवार्य थी और कॉर्नवालिस भी निजाम को अपने हाथ से निकल जाने न देना चाहता था, क्योंकि तब वह टीपू से जा मिलता।

इस द्विविधा में कॉर्नवालिस ने निजाम की मित्रता का त्याग करने की अपेक्षा टीपू से बैर बाँधना अधिक उपयुक्त समझा और इतिहासकार राबर्ट के शब्दों में "विवेक-बुद्धि के एक साहसिक निर्णय" का अनुगमन कर १७८५ ई० में एक समझौते के अनुसार निजाम की शर्त मान ली। इस समझौते में अँगरेजों ने वचन दिया कि यदि वे प्रदेश, जिन पर निजाम अधिकार चाहता है, कभी अँगरेजों के हाथ में आये, तो वे उन्हें निजाम को सौंप देंगे और सेनाओं द्वारा उसकी सहायता इस शर्त पर करेंगे कि इन सेनाओं का उपयोग कम्पनी के किसी भी मित्र-राज्य के विरुद्ध न किया जाय। मित्र-राज्यों की सूची में टीपू का नाम जान-बूझकर न रखा गया। स्पष्ट है कि यह संधि मैसूर के साथ की गई संधियों को भंग करनेवाली थी। इसलिए यदि टीपू अँगरेजों की योजनाओं के प्रति सशंक था तो कॉर्नवालिस ने भी उसको इसके पर्याप्त प्रमाण दे दिये थे। यदि युद्ध छिड़ ही गया, तो निश्चय ही यह संधि उसको जन्म-दायिनी थी और इसका सारा दोष कॉर्नवालिस पर था। इस प्रकार पिट की विधि (ऐक्ट) के तटस्थ-नीतिवाले अनुच्छेद को व्यवहार में अमान्य कर दिया गया; इस प्रकार टीपू को तृतीय मैसूर-युद्ध के लिए बाध्य होना पड़ा।

मैसूर का तीसरा युद्ध (जनवरी १७९० ई० से मार्च १७९२ ई० तक)—निजाम के साथ अँगरेजों की संधि ने टीपू की इस आशंका को पुष्ट कर दिया कि अँगरेज उस पर आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं। समुद्र-तट पर अपने लिए अड्डा बनाने के विचार से उसने दिसम्बर १७८९ ई० में दक्षिण के छोर पर स्थित त्रावनकोर राज्य पर आक्रमण किया। त्रावनकोर-राज्य अँगरेजों का मित्र था; अतः कॉर्नवालिस ने भी जनवरी १७९० ई० में युद्ध की घोषणा कर दी। निजाम और मराठों के भी अपने-अपने मंसूबे थे और ये भी लूटपाट में हिस्सा बँटाने की आशा से आक्रमण में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार टीपू अकेला छूट गया और उसके राज्य पर जल एवं स्थल, चारों ओर से हमले होने लगे। टीपू अपनी ख्याति के अनुरूप पराक्रम दिखाता हुआ दो वर्षों तक युद्ध करता रहा। जनरल मेंडोज की अध्यक्षता में युद्ध का प्रथम वर्ष अनिर्णीत झड़पों में बीत गया। कार्नवालिस को भय होने लगा कि देर करने से कहीं विपरीत परिणाम न भुगतना पड़े; इसलिए उसने स्वयं सैन्य-संचालन का भार ग्रहण किया और बंगलौर पर अधिकार कर टीपू की

राजधानी श्रीरंगपट्टम् के बहुत निकट पहुँच गया। परन्तु वर्षा के कारण युद्ध रोक देना पड़ा। पुनः युद्ध प्रारम्भ होने पर टीपू ने कोयम्बटूर पर धावा बोल दिया और नवम्बर १७९१ ई० में इस पर अधिकार कर लिया। परन्तु विपक्षी की अपने से कहीं अधिक विशाल सेना के साथ टीपू का व्यक्तिगत पराक्रम कब तक काम दे सकता था। इस युद्ध ने उसके देश को तहस-नहस कर दिया था और उसके साधन समाप्त होते जा रहे थे। एक-एक कर उसके दुर्ग शत्रुओं के हाथ पड़ने लगे। फरवरी सन् १७९२ ई० तक श्रीरंगपट्टम् की बाहरी दीवारें गिराई जा चुकी थीं। ऐसी पूर्णतः निराशाजनक परिस्थितियों में टीपू ने संधि की बातचीत प्रारम्भ की और मार्च १७९२ ई० में श्रीरंगपट्टम् की संधि पर हस्ताक्षर हुए।

श्रीरंगपट्टम् की संधि—इस संधि से टीपू को अपने आधे राज्य से हाथ धोना पड़ा। उसके ये प्रदेश मित्र-राज्यों (अँगरेज निजाम एवं मराठों) में बाँट दिये गये। इस बंटवारे में सबसे बड़ा हिस्सा अँगरेजों को मिला। उनको मालाबार प्रदेश पर अधिकार एवं कुर्ग-राज्य पर प्रभुत्व, दक्षिण में डिंडीगल एवं उसके आस-पास के प्रदेश तथा पूर्व में बड़ा महल एवं पर्वतीय दर्रे प्राप्त हुए। इन प्रदेशों पर अधिकार हो जाने से अँगरेजों ने मैसूर राज्य को तीन ओर से घेर लिया, चौथी उत्तर की ओर निजाम तथा मराठों की राज्य सीमाएँ थीं। कुर्ग पर प्रभुत्व मिल जाने से अब वे श्रीरंगपट्टम् के इतने समीप पहुँच गये कि इच्छा होते ही उस पर टूट पड़ सकते थे। निजाम को अपने राज्य से सटे हुए प्रदेश मिले जो कृष्णा नदी से लेकर पेनार के आगे तक फैले हुए थे; इन्हीं प्रदेशों के अंतर्गत कड़ापा एवं गन्जदीकोट्टइ के दुर्ग भी आ जाते थे। मराठों को वे प्रदेश मिले जिनसे उनकी राज्य-सीमा तुंगभद्रा तक पहुँच गई। इसके अतिरिक्त टीपू को युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए ३०,००,००० पौं० से भी अधिक धन-राशि देनी पड़ी और अपने दो पुत्रों को भी अँगरेजों के हवाले कर देना पड़ा।

टीपू को ऐसे अवसर पर क्यों छोड़ा गया, जब कि उसके पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति आने ही वाली थी, क्यों नहीं उसको सिंहासनच्युत किया गया, जिससे चौथे मैसूर युद्ध की नौबत न आती—ये प्रश्न कॉर्नवालिस को इस युद्ध-नीति के सम्बन्ध में उसके आलोचकों ने उठाये हैं। इनका उत्तर बहुत संक्षेप में स्वयं कॉर्नवालिस के ही इन शब्दों में मिल जाता है; "हमने अपने शत्रु को पूर्णतः पंगु भी कर दिया है और अपने मित्रों की शक्ति को भी दुर्दमनीय नहीं बनने दिया है।" इसके अतिरिक्त क्रांतिकारी फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ गया था और कम्पनी के संचालक इस भय से कि कहीं टीपू फ्रांस की सहायता न प्राप्त कर ले, बहुत शीघ्र शांति चाहते थे। टीपू के सारे राज्य को मिला लेने से मित्र-राज्यों में बँटवारे में जटिल समस्याओं

के उठने की संभावना थी। बराबर-बराबर बँटवारा करने से निजाम और मराठों की शक्ति बहुत बढ़ जाती और अँगरेजी राज्य की सीमा मराठों से टकरा जाती। अँगरेजों की हमेशा यह नीति रही है कि अपने तथा दूसरी शक्ति के राज्य के बीच कोई तटस्थ राज्य रख दिया जाय। टीपू को सिंहासन से उतारकर सिंहासन के न्यायोचित-अधिकारी हिंदू-राजवंश को पुनः प्रतिष्ठित करने की नीति, जो बाद में वेलेजली ने अपनाई, इस समय लाभकारी न होती, क्योंकि हिंदू राजा की निजाम के साथ अनबन एवं समीपस्थ मराठा-राज्य के साथ मेल की अधिक संभावना थी। इसके अतिरिक्त इन दोनों हिंदू-शक्तियों का अँगरेजों के विरुद्ध एक हो जाना भी संभव था, जिससे अँगरेजों की स्थिति संकटपूर्ण बन जाती। इस प्रकार के सोच-विचार ने कॉर्नवालिस को टीपू के साथ समझौता करते हुए प्रभावित किया।

अवध के साथ सम्बन्ध—भारत में आते ही कॉर्नवालिस का ध्यान अवध की ओर आकर्षित हुआ। नवाब का प्रतिनिधि हैदर बेग कॉर्नवालिस की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने अवध से अँगरेजी सेना हटा लेने की प्रार्थना की, क्योंकि इस सेना का भारी खर्चा अवध की सारी आय को हड़प किये जा रहा था। हैदरबेग ने अँगरेज़ एजेंट द्वारा अवध के आंतरिक मामलों में कदम-कदम पर टाँग अड़ाये जाने की भी शिकायत की। सुरक्षा-व्यय के रूप में नवाब जो कर देता था, वह बढ़ाकर ७४ लाख कर दिया गया था। इसका कारण यह बताया गया था कि उसकी रक्षा के लिए एक दूसरी अँगरेजी सेना रखना आवश्यक है। परन्तु यह दूसरी सेना एक रहस्य ही बनी रही और इसके व्यय के लिए वसूल होनेवाली रकम उच्च-पदस्थ अँगरेज अधिकारियों के पेट में समाती रही। इन भारी-भारी खर्चों के अतिरिक्त अँगरेजों के एवं अवध में व्यापार करनेवाले अथवा रहनेवाले सभी यूरोपीय लोगों के माल पर व्यापार-कर की छूट होने के कारण अवध के राज-कोष को भारी क्षति सहनी पड़ती थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अँगरेजों की माँगों की अनिश्चितता के कारण नवाब भी लापरवाह हो गया था। कॉर्नवालिस ने सेना हटाना यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि ऐसा करने से अवध की आंतरिक सुरक्षा बहुत संकटग्रस्त हो जायगी; परन्तु उसने सेना के व्यय की रकम घटा कर ५० लाख कर दी; व्यापारिक-विशेषाधिकार समाप्त कर दिये और रेजीडेंट को अवध के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का आदेश दे दिया। परन्तु यह सब जबानी जमा-खर्च था, वास्तव में पुरानी परिपाटी चलती रही और अवध के इतिहास में 'कुशासन तथा भ्रष्टाचार' एवं 'अँगरेजों का ऋण' यथावत् बने रहे।

आन्तरिक सुधार—धन-सम्बन्धी मामलों में हेस्टिंग्ज़ के गिरे हुए आचरणों ने तथा सर जॉन मेक्फर्सन के शासन-काल में, जो हेस्टिंग्ज़ के जाने के बाद तथा कॉर्न-

वालिस के आने तक रहा, फैले हुए विनाशकारी भ्रष्टाचार ने ऐसा वातावरण तैयार कर दिया था जिसमें प्रत्येक का एकमात्र ध्येय कम से कम समय में अधिक से अधिक धन बटोरना बन गया था।

कॉर्नवालिस के सामने दो प्रकार की समस्याएँ थीं; एक तो शासन-तंत्र के कार्य-वाहक (एक्जीक्यूटिव) एवं न्याय—इन दोनों विभागों को जो सिर से पैर तक भ्रष्टाचार में डूबे थे, सुधारना; और दूसरे उन जमींदारों की आपत्तियों को दूर करना, जो अपनी भूमि एवं अपने विशेषाधिकारों के अन्यायपूर्वक छीने जाने की शिकायत कर रहे थे। इन समस्याओं के समाधान में कॉर्नवालिस को जो सफलता मिली, वही उसकी वास्तविक उपलब्धियाँ हैं।

कर्मचारियों का सुधार—वातावरण में व्याप्त भ्रष्टाचार के अतिरिक्त दो कारण और भी थे जो कम्पनी के कर्मचारियों को भ्रष्टाचार के लिए प्रेरित करते थे। ये कारण थे—अत्यल्प वेतन और व्यक्तिगत व्यापार। कॉर्नवालिस इनको दूर करने में बहुत तत्परतापूर्वक संलग्न हुआ। स्वयं उसके निर्दोष आचरण का भी बहुत प्रभाव पड़ा और उसके आचरणों को देखकर कम्पनी के कर्मचारियों में भी ईमानदारी के भाव जागृत होने लगे। उसने कम्पनी के संचालकों को समझाया कि यदि वे उत्तरदायित्व का दुरुपयोग रोकना चाहते हैं तो उन्हें कर्मचारियों को अच्छा वेतन देना चाहिए। समझा बुझाकर उसने संचालकों को वेतन बढ़ाने के लिए तैयार कर लिया। इसी प्रकार उसने व्यक्तिगत-व्यापार भी समाप्त किया। कम्पनी का आर्थिकभार कम करने के लिए उसने उन व्यर्थ के पदों को समाप्त कर दिया जो संचालकों के मित्रों या सम्बन्धियों को काम देने के लिए बना दिये गये थे। कम्पनी के संचालक भारत को एक ऐसा स्थान समझते थे जहाँ वे अपनी उदारता पर आश्रित लोगों को निश्चित-विहार के लिए भेज सकें। कॉर्नवालिस ने उनको अपना यह विचार त्यागने और इस पक्षपात की नीति को समाप्त करने का बहुत आग्रह किया, परन्तु इसमें उसको आंशिक सफलता ही मिल सकी।

कर्मचारियों के सुधार के सिलसिले में उसने जातीय-पक्षपात की वह नीति चलाई जो उसके बहुत समय बाद तक चलती रही। उसका विश्वास था कि हिंदुस्तानी बेईमान होते हैं; इसलिए उसने हिंदुस्तानियों को उत्तरदायित्वपूर्ण ऊँचे पदों से दूर रखने और ऐसे पदों पर केवल यूरोपीय लोगों को ही नियुक्त करने की नीति अपनाई। योग्यता का ध्यान न रखते हुए भेदभाव की यह नीति हिंदुस्तानियों को बहुत बुरी लगी; परन्तु उस समय इसका विषाक्त-प्रभाव संकुचित-क्षेत्र में सीमित होने के कारण, हिंदुस्तानियों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

शासन-तंत्र में सुधार—कर्मचारियों का सुधार शासन-तंत्र के सुधार का ही

एक महत्त्वपूर्ण अंग था। कॉर्नवालिस प्रारम्भ में ही अनुभव कर चुका था कि कर्मचारियों के सुधार के बिना शासन-तंत्र का सुधार कभी स्थायी नहीं हो सकता।

शासन-व्यवस्था के सुधार की समस्या के दो अंग थे; एक तो वास्तविक शासन-तंत्र का सुधार और दूसरे व्यापारिक व्यवस्था में सुधार। कम्पनी का व्यापारिक रूप अभी तक सुरक्षित था; अतः इस दिशा में सुधार बहुत आवश्यक था। वास्तविक शासन-तंत्र के अंतर्गत लगान वसूली तथा दीवानी एवं फौजदारी मुकदमों के न्याय की समस्या प्रमुख थी और व्यापारिक व्यवस्था में स्वदेश से भारत में आयात के लिए माल जुटाने और भारत में निर्यात के लिए माल प्राप्त करने की समस्या मुख्य थी। इस व्यापारिक आयात-निर्यात को 'पूँजी लगाना' कहा जाता था और इसका निरीक्षण एक 'व्यापार-मंडल' (वोर्ड आफ ट्रेड) करता था।

व्यापारिक सुधार—कार्नवालिस के व्यापारिक सुधार मुख्यतया भारत से निर्यात के लिए माल जुटाने के तरीकों के विषय में थे। इस निर्यात-व्यापार से ही कम्पनी को लाभ की प्रमुख राशि प्राप्त होती थी। भारत में खरीदे गये माल का क्रय-मूल्य तथा यूरोप में इसी माल के विक्रय मूल्य का अंतर कम्पनी का लाभ होता था। माल जुटाने के काम के लिए १७७४ ई० में व्यापार-मंडल की स्थापना की गई थी। यह मंडल भारत के प्रमुख स्थानों पर नियुक्त रेजीडेंटों के द्वारा इस कार्य को सम्पन्न करता था। माल ठेके पर प्राप्त किया जाता था; लेकिन १७७८ ई० में इस व्यवस्था में यह परिवर्तन किया गया कि अब रेजीडेंटों के साथ ठेका किया जाने लगा। ये रेजीडेंट इस व्यवस्था से व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए सब प्रकार के अत्याचार करते और कम से कम दाम देते थे। इसका परिणाम व्यापार के लिए बहुत घातक सिद्ध हो रहा था। अतः कॉर्नवालिस ने यह व्यवस्था समाप्त कर दी। सुधार-कार्य में अपने सहायक चार्ल्स ग्रांट के द्वारा आवश्यक सूचनाएँ एकत्र कर कॉर्नवालिस ने भ्रष्टाचारी रेजीडेंटों की खूब खबर ली और उनको पद च्युत कर दिया। उसने फिर से पुरानी परिपाटी प्रारम्भ की जिसके अनुसार रेजीडेंट लोग केवल दलालों का काम करते थे और ठेका सौदागरों के साथ किया जाता था। उसने आदेश दिया कि सौदागरों के साथ कोई दुर्व्यवहार न किया जाय। मार्च १७७८ ई० में उसने इस नवीन व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए सुनिश्चित नियम प्रचारित किये। यह व्यवस्था कॉर्नवालिस की एक स्थायी-चिर-स्थायी सफलता थी और जब तक कम्पनी का व्यापार चलता रहा, यह व्यवस्था बनी रही।

शासन-व्यवस्था में सुधार—शासन-व्यवस्था के सुधारों में कॉर्नवालिस के तीन प्रधान ध्येय थे—सरलता, निर्दोषिता एवं अल्प व्यय। कम्पनी के शासन-संबंधी कर्तव्यों के अंतर्गत करों की वसूली और दीवानी तथा फौजदारी झगड़ों का

न्याय करना था। करों का मुख्य स्रोत भूमि थी; इसके अतिरिक्त चुंगी और व्यापार-कर तथा नमक एवं अफीम के एकाधिकार से मिलनेवाले कर भी आय के साधन थे। करों के नियन्त्रण के लिए प्रधान सरकारी संस्था कलकत्ते में 'कर-विभाग' (बोर्ड ऑफ रेवेन्यू) था; नमक का एकाधिकार एक अलग संस्था के हाथ में था, जो प्रधान-मंत्रालय (सुप्रीम कौंसिल) के प्रति उत्तरदायी थी। दीवानी एवं फौजदारी मुकदमों के निर्णय के लिए अलग-अलग अदालतें थीं और इनके फैसलों की अपील कलकत्ते में क्रमशः 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर निजामत अदालत' में सुनी जाती थी। जमींदारों और काश्तकारों के लगान संबंधी झगड़ों के निपटारे के लिए 'माल अदालतें' थीं, जिनकी अध्यक्षता कलक्टर करता था।

कॉर्नवालिस के गवर्नर-जनरल पद पर आरूढ़ होने के समय ये शासन-तंत्र के प्रधान यंत्र थे, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। स्वयं भारतीय स्थिति से अपरिचित होने के कारण वह अनुभवी पदाधिकारियों पर भरोसा करता था; इन अधिकारियों में सर जान शोर, जोनाथन डन्कन एवं जेम्स ग्रांट प्रमुख थे।

कर-सम्बन्धी सुधार—करों के संबंध में कॉर्नवालिस के सामने दो भिन्न समस्याएँ सुलझाने को थीं—एक तो भूमि-कर का निर्धारण, जिसके अंतर्गत भूमि की उपज में राज्य का भाग निश्चित करना था और दूसरी कर-व्यवस्था, जिसका संबंध करों की वसूली और भूमि-संबंधी विवादों के निर्णय से था।

भूमि कर का निर्धारण—स्थायी बन्दोबस्त—भूमि-कर-निर्धारण के अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ आती थीं—एक थी राज्य का हिस्सा तय करने की और दूसरी थी जमींदारों और वस्तुतः जमीन को जोतनेवाले 'रैयतों' के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने की। आज तक उपज में राज्य का भाग बहुत कुछ मनमाने ढंग से, वर्ष भर के लिए अथवा पाँच वर्ष के लिए निश्चित कर लिया जाता था। यह निर्णय अधिकतर जमींदारों के साथ किया जाता था; परन्तु जमीन के स्वामी के रूप में उनकी स्थिति कानूनी तौर पर मान्य नहीं थी। ऐसी दशा में उनकी स्थिति बहुत असुरक्षित एवं संदिग्ध रहती थी; इसलिए खेती का सुधार करने तथा पैदावार बढ़ाने में उनका कोई उत्साह न रह पाता था। कॉर्नवालिस का एकमात्र ध्येय यही था कि भूमिकर सामान्य हों, परन्तु नियमित रूप से एवं निश्चित समय पर एकत्र हों। उसने जमींदारों के साथ लगान तय किया तथा राज्य का भाग स्थायी रूप से निश्चित कर दिया। भूमि पर जमींदारों के स्वामित्व को कानूनी स्वीकृति देकर उसने उनको ब्रिटिश-राज्य का भक्त बना दिया और उनकी व्यक्तिगत सुरक्षा का नाता ब्रिटिश-राज्य की सुरक्षा के साथ जोड़ दिया। ये जमींदार

वास्तव में केवल लगान वसूल करनेवाले कर्मचारी मात्र थे, और उस समय की अव्यवस्थित स्थिति से लाभ उठाकर इन्होंने अपना पद आनुवंशिक कर लिया था। कॉर्नवालिस ने उनके अधिकार को कानूनी स्वीकृति देकर उनको ब्रिटिश राज्य का भक्त भी बना लिया और कम्पनी के लिए भी, कर्मचारियों का एक विशाल दल रखे बिना, सुंदर नियमित आय प्राप्त करने का निश्चित साधन उपस्थित कर दिया। इसमें अब किसी को भी संदेह नहीं हो सकता कि इस व्यवस्था ने भूमि के वास्तविक अधिकारियों—'रैयतों' के अधिकारों एवं हितों को कुछ जमींदारों की सुख-सुविधा के लिए बलि चढ़ा दिया और इनको जमींदार की कृपा पर छोड़ दिया। परन्तु इनके हितों से कॉर्नवालिस को कोई मतलब न था; उसका तो एकमात्र उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था बना देना था, जिससे कम्पनी थोड़े से थोड़े व्यय में लगान की अच्छी सी रकम प्राप्त कर सके। इस व्यवस्था में कम्पनी के भविष्य के हितों को भी भुला दिया गया, क्योंकि खेती की दशा के सुधार के साथ-साथ जब उपज बढ़ने लगी तब भी कम्पनी, इस व्यवस्था से बँधी होने के कारण, भूमिकर बढ़ाकर अपनी आय न बढ़ा सकती थी। इस प्रकार 'स्थायी बन्दोवस्त' ने रैयत और राजा दोनों के हितों का घात किया। इससे यदि किसी को लाभ हुआ तो जमींदारों को। फिर भी, राजनीतिक दृष्टि से यह बन्दोबस्त बहुत हितकर सिद्ध हुआ। जमींदार ब्रिटिश-राज्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व के इच्छुक बन गये। १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-संग्राम तक में वे ब्रिटिश-राज से चिपके रहे। इस दृष्टि से यह बन्दोबस्त अत्यधिक सफल रहा।

कर-व्यवस्था—स्थायी बन्दोवस्त से शासन के कर-विभाग के काम का बोझ बहुत हल्का हो गया। जमींदारों को भूमि के एकमात्र स्वामी मान लेने से, भूमि पर अधिकार संबंधी अनेक उलझनें सुलझ गईं। अतः कलक्टर के न्याय-संबंधी अधिकार उससे हटा कर कर-विभाग को सौंप दिये गये। अब 'कलक्टर' अपने नाम के अनुसार केवल लगान-वसूल करनेवाला अधिकारी मात्र रह गया; इस कार्य के अतिरिक्त उसके पास जो अन्य थोड़े से अधिकार रह गये, उनका वर्णन न्याय-संबंधी सुधारों के अन्तर्गत किया जायेगा। परन्तु यह सुधार अधिक दिनों तक टिक न सका और पुनः कलक्टर को भूमि-कर संबंधी न्याय के अधिकार दिये गये, जो आज तक उसके पास बने हुए हैं। कलक्टर के अधीन जिलों की संख्या ३५ से घटा कर २३ कर दी गई; कलक्टर बिना किसी अपवाद के, यूरोपीय ही होता था और सीधे कर-विभाग (बोर्ड आफ रेवन्यू) के अधीन होता था।

न्याय-सम्बन्धी सुधार—कार्नवालिस ने न्याय-विभाग में अव्यवस्था, न्याय की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ तथा अधिकार-क्षेत्र की अनिश्चितता पाई। उसके

न्याय-सम्बन्धी सुधारों का उद्देश्य इन दोषों को दूर करना था। उसने जिले को एक इकाई मानकर अपने सुधार इसी पर केन्द्रित किये।

दीवानी न्यायालय—दीवानी मुकदमों के न्याय के लिए दीवानी अदालतें थीं। कॉर्नवालिस ने कलक्टरों को, न्याय-सम्बन्धी अधिकार देकर, इनका अध्यक्ष बनाया। इनके अतिरिक्त २०० रु० तक के मामलों की सुनाई के लिए एक अदालत स्थापित की गई, जिसका प्रधान एक हिन्दुस्तानी रजिस्ट्रार रखा गया। जिले की अदालतों के ऊपर उसने चार प्रांतीय अदालतों का क्रमशः कलकत्ता, ढाका, पटना तथा मुर्शिदाबाद में संघटन किया। इन प्रांतीय अदालतों का प्रधान न्यायाधीश यूरोपीय होता था और इनमें जिलों की अदालतों के फैसलों की अपील की सुनाई होती थी। इन प्रांतीय अदालतों के ऊपर कलकत्ते में 'सदर दीवानी अदालत' थी जो इनके फैसलों की अपील सुनती थी और साधारणतया दीवानी मामलों की न्याय-व्यवस्था की देख-रेख करती थी।

फौजदारी न्यायालय—फौजदारी न्याय का सम्बन्ध अपराधी की जाँच और उसके दंड-विधान से था। कॉर्नवालिस के समय में मजिस्ट्रेट अँगरेज होते थे, परन्तु दंड-विधान उनके हाथ में न था; उनका कार्य केवल अपराधी की जाँच करना मात्र था। दंड देना फौजदारी अदालत के अधिकार में था; इस अदालत में हिन्दुस्तानी न्यायाधीश होते थे। फौजदारी अदालतों के ऊपर कलकत्ते में 'सदर-निजामत-अदालत' थी जिसका अध्यक्ष मुहम्मद रजा खाँ था। इस दिशा में कॉर्नवालिस के सुधारों का प्रधान लक्ष्य हिंदुस्तानी न्यायाधीशों को हटाकर उनके स्थान पर यूरोपीय न्यायाधीशों को सुनिश्चित अधिकार दे कर प्रतिष्ठित करना था। दीवानी न्याय-व्यवस्था के समान फौजदारी न्याय-व्यवस्था के संघटन की इकाई जिला होता था। कलक्टर को भी कुछ फौजदारी अधिकार प्राप्त थे, जो आज भी उसको प्राप्त हैं। प्रत्येक जिले की अदालत के ऊपर कॉर्नवालिस ने सेशन-जज नियुक्त किये। इनके अतिरिक्त उसने ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना और कलकत्ता—इन चार स्थानों पर दौरा करनेवाले प्रांतीय न्यायाधिकरण (प्रॉविंशियल कोर्ट ऑफ सर्क्विट) स्थापित किये। इस न्यायाधिकरण में भी वही न्यायाधीश होते थे जो प्रांतीय दीवानी अदालत में थे; अंतर केवल यह था कि दौरा करनेवाले न्यायाधिकरण के सदस्य की हैसियत में इन्हें अपने प्रांत के भिन्न-भिन्न भागों का दौरा कर फौजदारी मुकदमों का फैसला करना होता था। इन सबसे ऊपर कलकत्ते में सदर निजामत अदालत थी, जिसका प्रधान मुहम्मद रजा खाँ था। मुहम्मद रजा खाँ को हटाकर अब उसका स्थान गवर्नर-जनरल तथा उच्चतम मंत्रालय (सुप्रीम कौंसिल) के सदस्यों ने ग्रहण किया और इनकी सहायता के लिए

हिंदुस्तानी सलाहकार नियुक्त हुए तथा यह अदालत कलकत्ता से हटाकर मुर्शिदाबाद लाई गई।

फौजदारी झगड़ों का निर्णय इस्लामी कानून के अनुसार किया जाता था और दीवानी मामलों के निर्णय में वादी-प्रतिवादी के जातीय कानून को प्रधानता देकर अँगरेजी कानून की मान्यताओं को अपनाया जाता था। प्रायः हिंदू-मुसलमान-विधि एवं अँगरेजी कानून की मान्यताओं में बहुत विरोध रहता था और अँगरेज-न्यायाधीश, अँगरेजी कानून के अनुसार जो वादी-प्रतिवादी के लिए सर्वथा अपरिचित वस्तु थीं, निर्णय सुना देते थे।

पुलिस में सुधार—शांति की रक्षा करने एवं संदिग्ध व्यक्तियों को पकड़ने के पुलिस के कर्तव्य मुख्यतया जमींदार ही निभाते थे, जिनके अधीन स्थानीय पुलिस होती थी। कॉर्नवालिस ने जमींदार के पुलिस-सम्बन्धी अधिकार समाप्त कर दिये और जिलों को छोटे-छोटे भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग में एक-एक दारोगा नियुक्त किया। इनके निरीक्षण के लिए प्रत्येक जिले में कम्पनी का एक प्रतिनिधि रखा। इस सुधार में भी भारतीयों के प्रति अविश्वास की गंध मिल जाती है। इस प्रकार शासन-तंत्र के सब विभागों में यूरोपीय कर्मचारी भर दिये गये। उनका वेतन एवं कर्तव्य निश्चित कर दिया गया।

कॉर्नवालिस कोड—कॉर्नवालिस के शासन-काल में शासन-तंत्र के प्रत्येक विभाग के लिए विस्तृत नियम बनाये गये, जिनके अनुसार राज्य का कार्य चलाया जाना था। शासन एवं व्यापार से सम्बन्धित नौकरियों का स्पष्ट विभाजन किया गया और कम्पनी के कर्मचारियों को दोनों में से एक को चुनने के लिए कहा गया।

१७९३ ई० तक यह बात स्पष्ट हो गई थी कि 'कर-विभाग' (बोर्ड आफ रेवेन्यू) कर सम्बन्धी उन बहुसंख्यक मामलों को तय करने में असमर्थ है जो समय के साथ-साथ सामने आते जा रहे थे। काम जमा होता गया और फैसले करने में इतनी देर होने लगी कि समय पर न्याय न पाकर लोग सरकारी व्यवस्था की निन्दा करने लगे। इसलिए इस व्यवस्था का सुधार अनिवार्य हो गया। अतः प्रत्येक जिले में 'माल-अदालतें' स्थापित की गईं और इनको कलक्टर के अधीन रखा गया। कलक्टर को पुनः न्याय-सम्बन्धी अधिकार दिये गये। कलक्टर का लगान-वसूली का काम उसके सहायक कर्मचारी देखने लगे।

इस प्रकार १७९३ ई० तक कॉर्नवालिस, अपने कठोर परिश्रम द्वारा, शासन एवं व्यापारिक विभागों को पृथक् कर चुका था और उस शासन-प्रणाली का ताना-बाना तैयार कर चुका था जो थोड़े-बहुत संशोधनों के साथ आज भी विद्यमान है। इस प्रणाली के सूत्रधार यूरोपीय कर्मचारी एवं अधिकारी थे और कलक्टर

इसका केन्द्र-विन्दु था; वह जिले के शासन को शासन-तंत्र के सर्वोच्च विभाग के साथ जोड़नेवाला प्रधान सूत्र था। यह ठीक है कि शासन-तंत्र के ये सभी अंग कॉर्नवालिस के पहले से विद्यमान थे, परन्तु यह कॉर्नवालिस की ही शासन-पटुता थी जिसने इन अंगों को सुडौल आकार दिया, उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया और उनको एक साँचे में ढाल दिया। उसने इन विभिन्न अंगों को उनके उचित स्थान पर जमाया और उनसे एक सुघटित प्रणाली उत्पन्न की। यही उसकी सफलता एवं उपलब्धियों का माप-दंड है। भारतीय प्रजा की अत्याचारों से रक्षा करने के लिए यह व्यवस्था वनाई गई कि "लगान वसूल करनेवाले अधिकारी (कलक्टर) और वास्तव में सभी सरकारी अधिकारी सरकारी हैसियत में किये हुए अपने कार्यों के लिए न्यायाधिकरण के समक्ष उत्तरदायी होंगे और स्वयं सरकार भी यदि अपनी प्रजा के साथ सम्पत्ति-विषयक किसी झगड़े में भाग लेगी तो उसकी भी जाँच अपने अधिकारों से मुक्त होकर प्रचलित कानून एवं नियमों के अनुसार न्यायाधिकरण में की जायगी।" इस व्यवस्था से कॉर्नवालिस ने भारत में कानून का प्रभुत्व स्थापित किया।

कॉर्नवालिस के भारत से विदा होने के बाद बीस वर्षों तक उसकी शासन-प्रणाली पूर्णतया अक्षुण्ण रही। इस वीच जो नये प्रदेश हस्तगत हुए उनमें भी इसकी स्थापना की गई। इन बीस वर्षों में इसके गुण और दोष—दोनों ही स्फुट हो गये। स्थायी बन्दोबस्त को राज्य एवं रैयत दोनों के लिए विनाशकारी सिद्ध होने पर त्याग देना पड़ा। अनुभव किया गया कि न्यायालयों की स्थापना मात्र से ही न्याय का प्रसार नहीं होता और इसके लिए प्रजा के अपने आदर्शों के अनुरूप कानून बनाना अनिवार्य है। शासन-तंत्र के सभी विभागों को पूर्णतया यूरोपीय लोगों से भरना बहुत ही खर्चीली नीति प्रतीत हुई और तब भारतीयों को शासन-विभागों में लेना पड़ा। परन्तु कॉर्नवालिस की शासन-प्रणाली के गुण उसके दोषों से कहीं अधिक थे; इसके गुण सिद्धान्ततः भले ही कम प्रतीत हों, परन्तु व्यवहार में अधिक स्पष्ट हुए। यह कहना असत्य न होगा कि कॉर्नवालिस की शासन-प्रणाली घोर परिश्रम एवं शासन-प्रबन्ध की योग्यता का आज भी एक आदर्श उपस्थित करती है। ब्रिटिश शासन-तंत्र के निर्माताओं में कॉर्नवालिस का नाम सदैव ऊँचा रहेगा। उसकी शासन-प्रणाली के दोष हमें यही ध्यान दिलाते हैं कि वह भी मनुष्य था। भारतीयों के प्रति उसका इतना तीव्र अविश्वास, जिसकी समता संभवतः लार्ड कर्जन की ही समान भावनाएँ कर सकीं, अँगरेजों के चरित्र के उस पक्ष को प्रतिफलित करता है जो कॉर्नवालिस के भारतीय तट से अंतिम बिदाई लेने के बाद दीर्घ काल तक सक्रिय रहा। इस अविश्वास की नीति ने अविश्वास ही उत्पन्न

किया और बाद के वर्षों में जो जातीय कटुता आ गई थी तथा जिसके कारण ब्रिटिश शासन को भारत में गम्भीर आपत्तियों का सामना करना पड़ा, उसका बहुत बड़ा कारण यह अविश्वास की नीति ही थी। वास्तव में राजनीतिज्ञ लोगों का इतिहास की चेतावनियों पर बहुत बाद में ध्यान जाता है और कॉर्नवालिस भी इस तथ्य का अपवाद न था।

आठवाँ अध्याय

अँगरेजों के प्रभुत्व की स्थापना

लार्ड वेलेजली (१७९८-१८०५)—१७८४ ई० में वारेन हेस्टिंग्ज़ की विदाई से लेकर १७९८ ई० में मार्क्विस वेलेजली के पहुँचने तक का समय अपेक्षाकृत शांति का काल था, जिसमें व्यवस्था एवं सुधार की ओर ध्यान दिया गया। इस काल में कार्नवालिस के समय के तीसरे मैसूर-युद्ध को छोड़कर, अँगरेजों ने भारतीय शक्तियों के साथ लड़ाई-झगड़ा मोल न लेने का सतर्कतापूर्वक प्रयत्न किया और शांति बनाये रखने की इस इच्छा पर उन्हें प्रायः अपने हितों की भी बलि चढ़ानी पड़ी। १७८४-१७९८ ई० के बीच के इस काल को, जिसमें लार्ड कॉर्नवालिस (१७८४-९३ ई०) तथा सर जॉन शोर (१७९३-९८ ई०) गवर्नर-जनरल के पद पर प्रतिष्ठित रहे, प्रायः तटस्थ नीति का काल कहा जाता है; इस बीच कम्पनी के भारतीय शक्तियों के साथ सम्बन्ध १७८४ ई० के पिट के 'इंडिया-बिल' की उस प्रसिद्ध धारा, जिसका पिछले अध्याय में उल्लेख हो चुका है, तथा शांति बनाये रखने की इच्छा द्वारा निर्धारित हुए। परन्तु इसके पश्चात् १७९८-१८५८ ई० के मध्यवर्ती काल में पिट के 'इंडिया-बिल' में निर्धारित तटस्थ नीति की अवहेलना कर हस्तक्षेप एवं राज्य-विस्तार की नीति को खुल्लमखुल्ला अपनाया गया।

तटस्थ नीति तथा विस्तार-नीति के समर्थक—भारतीय राज्य-शक्तियों के साथ अँगरेजों के सम्बन्ध के विषय में इँगलैंड में दो मत प्रचलित थे; एक मत तटस्थ नीति का समर्थक था और दूसरा राज्य-विस्तार-नीति का पोषक। पहले मत के समर्थक भारतीय राज्यों के घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप करने के विरोधी थे; इनकी मान्यता थी कि भारतीय राज्यों को एक दूसरे का प्रतिरोधक बनाकर ही भारत में अँगरेजों के हित सुरक्षित किये जा सकते हैं और अँगरेज इन लोगों के पारस्परिक झगड़ों से लाभ उठाकर अपना विरोध करनेवाली भारतीय राज्य-शक्ति से सफलतापूर्वक निपट सकते हैं। विस्तार-नीति के समर्थकों का कहना था कि अँगरेजों को भारतीय राज्यों को अपने अधीन करने और अपना राज्य बढ़ाने की नीति का अवलम्बन करना चाहिए। भारत में अँगरेजों की समय-समय पर शांति एवं यद्ध-नीति का कारण इँगलैंड में इन मतों का समय-समय पर प्रभावशाली

होना बताया जाता है। परन्तु यथार्थ में, इँगलैंड की वैदेशिक नीति अवसरवादी रही है और बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन होता रहा है। अपना हित-साधन ही इसका निर्देशक रहा है। १७८४ ई० से १७९८ ई० तक का शांति-काल अँगरेजों की हार्दिक इच्छा का परिणाम नहीं था, अपितु परिस्थितियों ने उन्हें शांति-पूर्ण नीति अपनाने के लिए वाध्य कर दिया था। इस समय युद्ध न छेड़ना ही उनके लिए हितकर था। हम पीछे देख ही चुके हैं कि पिट के इंडिया-बिल की तटस्थ नीतिवाली धारा भी कॉर्नवालिस को टीपू को युद्ध में घसीटकर उसका आधा राज्य हड़प करने से न रोक सकी थी। इसी प्रकार १७९८ ई० के पश्चात् जो युद्ध-काल प्रारम्भ होता है, वह भी परिस्थितियों का परिणाम था। इस समय तक अँगरेज शक्तिशाली हो चुके थे और भारतीय राज्य-शक्तियाँ बहुत निर्बल हो चुकी थीं। इससे अँगरेजों की राज्य-लिप्सा पुनः भड़क उठी और वे युद्ध छेड़ने लगे। यह वात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि राज्य-विस्तार की नीति का अँगरेजों ने कभी भी त्याग नहीं किया। यूरोपीय उलझनों अथवा भारतीय कठिनाइयों से वाध्य होकर भले ही उन्होंने कुछ समय के लिए शांति-पूर्ण नीति का अवलम्बन बुद्धिमत्तापूर्ण समझ कर किया हो, परन्तु परिस्थितियों के अनुकूल होते ही उनकी राज्य-विस्तार की नीति पुनः प्रकट हो जाती थी।

वेलेज़ली के आगमन के समय भारत की राजनीतिक दशा—वेलेजली के आगमन के समय भारत की राजनीतिक स्थिति उससे बहुत भिन्न थी, जिसका १७८४ ई० में लॉर्ड कार्नवालिस को सामना करना पड़ा था। उस समय तक भी टीपू 'मैसूर का वाघ' वना हुआ था और उसने मद्रास की कौंसिल की नींद हराम कर रखी थी। निजाम तव ढुलमुल ही था; मराठा-संघ भय का विषय था। उसमें एकता बनाये रखने और उसको एक सूत्र में पिरोये रखनेवाले तत्त्व तब भी उपस्थित थे; उत्तर भारत में महादाजी सिंधिया का बोलवाला था तो पूना दरबार में नाना फड़नवीस की धाक जमी हुई थी। परन्तु जव १७९८ ई० में वेलेजली भारतीय तट पर उतरा तव स्थिति वदल चुकी थी। कॉर्नवालिस के मैसूर युद्ध ने 'मैसूर के वाघ' के पंजों के भयंकर नाखून काट लिये थे। अब टीपू न तो आत्म-रक्षा में समर्थ था और न कम्पनी पर आक्रमण करने में ही। निजाम अँगरेजों की ओर ढलता जा रहा था। मराठा-संघ परस्पर ईर्ष्या रखनेवाले प्रतिद्वंद्वी राज्यों में बँट गया था। पराक्रमी परन्तु स्वार्थी महादाजी सिंधिया का प्रताप-सूर्य अस्त हो चुका था और पूना दरबार में भी अब नाना फड़नवीस की तूती नहीं सुनाई देती थी। यह थी भारत की राजनीतिक परिस्थिति जिसने वेलेजली की राज्य-विस्तार की योजनाओं का पोषण किया।

भारत की राज्य-शक्तियाँ उस भय के प्रति पूर्णतया जागरूक हो चुकी थीं, जो उनको अँगरेजों की ओर से घूर रहा था। भारतीय शासक भली भाँति अनुभव कर चुके थे कि अँगरेजों की मित्रता भी उतनी ही घातक है, जितनी उनकी शत्रुता और उनकी संधियों एवं वचनों का कोई भरोसा नहीं है। वे अपनी सैनिक-शिक्षण की प्रणाली के दोष भी समझ चुके थे और उनमेंसे प्रत्येक यूरोपीय अधिकारियों द्वारा अपनी सेनाओं को नवीन युद्ध-प्रणाली से परिचित कराने के लिए प्रयत्नशील था। इन यूरोपीय अधिकारियों में से अधिकतर फ्रांसीसी थे; अतः अँगरेजों का संदेह बढ़ना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यूरोप में अँगरेज-फ्रांसीसी युद्ध चल रहा था। सिंधिया के दरवार में दि-वोइन और निजाम के दरवार में रेमंड—ये दो फ्रांसीसी नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्धि पा चुके हैं । वेलेजली इस संशयात्मक स्थिति का अंत करने, भारतीय राज्यों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने तथा उनको अधीन वनाने का निश्चय लेकर भारतीय तट पर उतरा।

वेलेजली और निजाम—पश्चिम से मराठों और दक्षिण से मैसूर के आक्रमणों से भयभीत निजाम सहायता के लिए सदैव अँगरेजों की ओर देखा करता था। अँगरेजों से पहले फ्रांसीसियों ने उसको सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था; परन्तु वुसी के वापिस बुला लिये जाने के वाद से अँगरेजों के ही शस्त्र उसके शत्रुओं को डरा कर उससे दूर रखे हुए थे। स्वयं अपने राज्य के अंदर भी उसकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी, क्योंकि उसकी प्रजा अधिकतर हिंदू थी। कॉर्नवालिस के समय में उसने अँगरेजों के साथ युद्ध और संधि में परस्पर सहायक होने की संधि कर ली थी और तृतीय मैसूर-युद्ध की लूटपाट में भी हिस्सा बँटाया था। परन्तु शीघ्र ही उसके बुरे दिन आ गये और वह घोर संकट में पड़ गया। नाना फड़नवीस की अध्यक्षता में मराठों ने उससे अपने कर की बकाया रकम का तकाजा किया। उसने भी अँगरेजों की सहायता और रेमंड की देख-रेख में शिक्षित अपनी सेना में भरोसा कर मराठों को टका सा जवाव दे दिया। नाना फड़नवीस का विचार था कि अँगरेज मराठों से टक्कर लेने का साहस न कर सकेंगे; अतः उसने पेशवा की अध्यक्षता में मराठा-संघ के प्रतिनिधि राज्यों को संघटित कर निजाम पर युद्ध की घोषणा कर दी। निजाम ने १७९० ई० की संधि की याद दिलाते हुए, अँगरेजों से सहायता की याचना की; परन्तु उसकी प्रार्थना व्यर्थ हुई। सर जॉन शोर मराठों के साथ लड़ाई मोल न लेना चाहता था; अतः उसने तरह-तरह के बहाने बना-कर संधि में दिये गये वचनों से अपना पीछा छुड़ाया। परिणाम यह हुआ कि १७९५ ई० में निजाम खर्दा नामक स्थान पर बुरी तरह परास्त हुआ। उसको बहुत अप-मान-जनक शर्तों पर संधि करनी पड़ी। अँगरेजों के व्यवहार से निजाम का क्रोध

भड़क उठा; उसने अपनी अँगरेज सेना को छुट्टी दे दी। अब वह फ्रांसीसियों की ओर अधिकाधिक झुकने लगा। अँगरेजों के लिए यह स्थिति बहुत भय-प्रद थी, क्योंकि इन दिनों उसका क्रांतिकारी फ्रांस के साथ युद्ध चल रहा था।

वेलेजली निजाम को पुनः अँगरेजों के पक्ष में लाने का निश्चय करके आया था। उत्तमाशा-अन्तरीप में वह डेविड बेयर्ड नामक एक व्यक्ति से टीपू सुलतान के मन्सूबों के बारे में सुन चुका था। बेयर्ड टीपू का युद्ध-बंदी रहा था और बंगलौर की संधि के अनुसार मुक्त हुआ था। टीपू की तैयारियों को देखते हुए निजाम के साथ अँगरेजों का समझौता करवाना अत्यन्त आवश्यक हो गया था, क्योंकि निजाम के दरबार में एक टीपू का समर्थक तथा एक फ्रांसीसियों का पक्षपाती दल सक्रिय था। वेलेजली ने तत्काल निजाम के साथ समझौते की बातचीत शुरू कर दी। निजाम के एक मंत्री मीर आलम ने अँगरेजों के पक्ष का समर्थन किया और निजाम पुनः अँगरेजों की ओर मिल गया। सितम्बर १७९८ ई० में एक संधि पर हस्ताक्षर किये गये। यह संधि वेलेजली की 'सहायक-संधियों' (Subsidiary Alliances) में सर्वप्रथम है; अतः इसकी शर्तें ध्यान देने योग्य हैं। इसकी शर्तें ये थीं—

(१) हैदराबाद दरबार में सहायक सेना स्थायी बनाई गई और बढ़ाकर ६ बटेलियन कर दी गई, इसका वार्षिक व्यय, २४ लाख रुपया, निजाम के कोष से दिया जाना तय हुआ।

(२) निजाम की सेना की फ्रांसीसी टुकड़ियों का भंग करना स्वीकृत हुआ।

(३) निजाम और मराठों के बीच के झगड़े अँगरेजों को निपटाने थे। यदि मराठे न मानें तो पेशवा की 'किन्हीं भी अन्यायपूर्ण एवं अनुचित' माँगों से निजाम की रक्षा अँगरेजों को करनी थी।

निजाम ने अँगरेजों की टीपू के साथ युद्ध में सहायता की और विजय में हिस्सा बँटाया; इसी अध्याय में आगे इसका वर्णन किया जायगा। राजनीतिक क्षेत्र से टीपू के हट जाने पर वेलेजली का साहस बहुत बढ़ गया; उसने निजाम को पूर्णतया अधीन बनाने के उद्देश्य से १८०० ई० में उससे एक दूसरी संधि स्वीकार करा ली, जिसके फलस्वरूप वह समानता की स्थिति से उतरकर अँगरेजों की अधीनता में आ गया। इस संधि के अनुसार निजाम की सहायक अँगरेज सेना और भी बढ़ाई गई। इसके व्यय के लिए निजाम से वे सभी प्रदेश ले लिये गये जो उसको मैसूर-युद्ध में सहायता करने के फलस्वरूप प्राप्त हुए थे। इस संधि के अनुसार सहायक सेना के कर्तव्य भी निर्धारित किये गये। निजाम को किसी भी विदेशी शक्ति के साथ समझौता करने से रोक दिया गया और निश्चय किया गया कि उसके सभी झगड़ों को निपटाने के लिए अँगरेज मध्यस्थ का काम करेंगे। इन अधिकारों के

वदले में अँगरेजों ने निजाम के आंतरिक प्रभुत्व को सुरक्षित रखने का वचन दिया।

इस संधि से निजाम को आंतरिक विप्लवों एवं बाह्य-आक्रमणों से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुआ। अँगरेजों के लिए तो निजाम का अधीन हो जाना, उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक विजय थी। इस संधि से निजाम का मराठों से मिलने का भय सर्वथा समाप्त हो गया और स्वयं निजाम के राज्य में उसके ही व्यय से अँगरेज सेना पलने लगी, जिसके वल पर निजाम से मनचाही बातें मनवा लेना और अवसर पड़ने पर इसका मराठों के विरुद्ध उपयोग करना सरल होगया। निजाम की शासन-व्यवस्था का इससे कुछ भी सुधार न हुआ, अपितु इसके मार्ग में अनेक वाधाएँ उठ खड़ी हुईं। अँगरेजों के शस्त्रों से सुरक्षित निजाम शासन-प्रवन्ध की ओर से लापरवाह हो गया; शासन-तंत्र ढीला पड़ने लगा और अव्यवस्था वढ़ने लगी।

चौथा मैसूर-युद्ध (१७९९)—वेलेजली भारतीय राज्यों में फ्रांसीसी प्रभाव को जड़ से उखाड़ फेंकने का दृढ़ निश्चय लेकर भारत आया था। यूरोप में आंग्ल-फ्रांसीसी युद्ध तथा पूर्व की ओर नेपोलियन के आक्रमण की संभावना से ऐसा करना अनिवार्य हो गया था। इसी निश्चय के परिणाम स्वरूप चौथा मैसूर-युद्ध तथा टीपूं का पूर्ण विनाश हुआ।

कॉर्नवालिस के मैसूर-युद्ध एवं उसके फल स्वरूप टीपू का आधा राज्य हड़प लिये जाने से, टीपू शक्तिहीन हो गया था। परन्तु वह चुपचाप हार मान लेनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ गत युद्ध की क्षति पूर्ति कर ली, अपने सैनिक एवं आर्थिक साधन वढ़ा लिये, अपने तोपखाने एवं दुर्गों में सुधार कर लिया और सहायता प्राप्त करने के लिए काबुल, फारस, अरब और मॉरीशस में अपने राजदूत भेज दिये। वह अँगरेजों की शक्ति को खूब पहचानता था; इसलिए वह ऐसे सहायकों को ढूंढ़ रहा था जो अँगरेजों को निकालने में उसकी सहायता कर सकें। मॉरीशस के फ्रांसीसी गवर्नर ने टीपू को उत्साहित किया और कुछ फ्रांसीसी स्वयंसेवक टीपू की सेना में आ मिले। टीपू फ्रांसीसी जनतंत्र का सदस्य बन गया। उसने अपने दुर्ग की दीवालों पर स्वतंत्रता का वृक्ष लगा दिया। स्वयं को वह 'नागरिक टीपू' कहने लगा। टीपू की इन चेष्टाओं का वेलेजली ने यह अर्थ लगाया कि टीपू अँगरेजों के विरुद्ध तैयारियाँ कर रहा है; अतः वह भी युद्ध के लिए सन्नद्ध होने लगा। इंगलैण्ड में कम्पनी के अधिकारियों ने भी उसकी तैयारियों का समर्थन किया। कम्पनी के 'अध्यक्ष-मंडल' (बोर्ड ऑफ कमिश्नर्स) के तत्कालीन भारतीय कार्यों के अध्यक्ष हेनरी डन्डास ने कम्पनी की नीति का निर्देश इन शब्दों में किया—"मुझे यह कहने में कुछ भी आपत्ति नहीं है कि वर्तमान परिस्थितियों में

टीपू की सेना में किसी भी फ्रांसीसी सैनिक दल का प्रवेश हमारे प्रति टीपू की प्रत्यक्ष शत्रुता समझना हमारे लिए सर्वथा उचित है।" कम्पनी की गुप्त-समिति (सीक्रेट कमेटी) ने वेलेजली को सूचना भेजी कि यदि टीपू की योजनाएँ वास्तव में अँगरेजों के प्रति शत्रुतापूर्ण हैं, तो तुम उसके आघात की प्रतीक्षा किये विना ही उसके राज्य पर तत्काल धावा बोल दो। उसी समय इँगलैंड से नई सेना भी भेज दी गई। निजाम और मराठे भी अँगरेजों के साथ आक्रमण में सम्मिलित हो गये और फरवरी सन् १७९९ ई० में टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई। अँगरेज सेनाएँ जनरल हैरिस और गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेजली के सेनापतित्व में आगे बढ़ीं और स्वयं लॉर्ड वेलेजली मद्रास से युद्ध का संचालन करने लगा। टीपू पर पूर्व तथा पश्चिम से आक्रमण किया गया; साथ ही उसकी प्रजा एवं अधीन राज्यों को भी अपनी ओर मिलाने का उद्योग किया जाने लगा। ६ मार्च, सन् १७९९ ई० को जनरल स्टुअर्ट ने पश्चिम की ओर से बढ़ते हुए टीपू को सहासीर नामक स्थान पर परास्त कर दिया और फिर जनरल हैरिस ने उसे २७ मार्च को मलावली नामक स्थान पर हराया। अब टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टम् में चला गया; इसको भी शत्रु-सेना ने तत्काल घेर लिया और टीपू वीरतापूर्वक नगर की रक्षा करता हुआ खेत रहा। टीपू की मृत्यु के साथ मैसूर में मुसलमानों का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

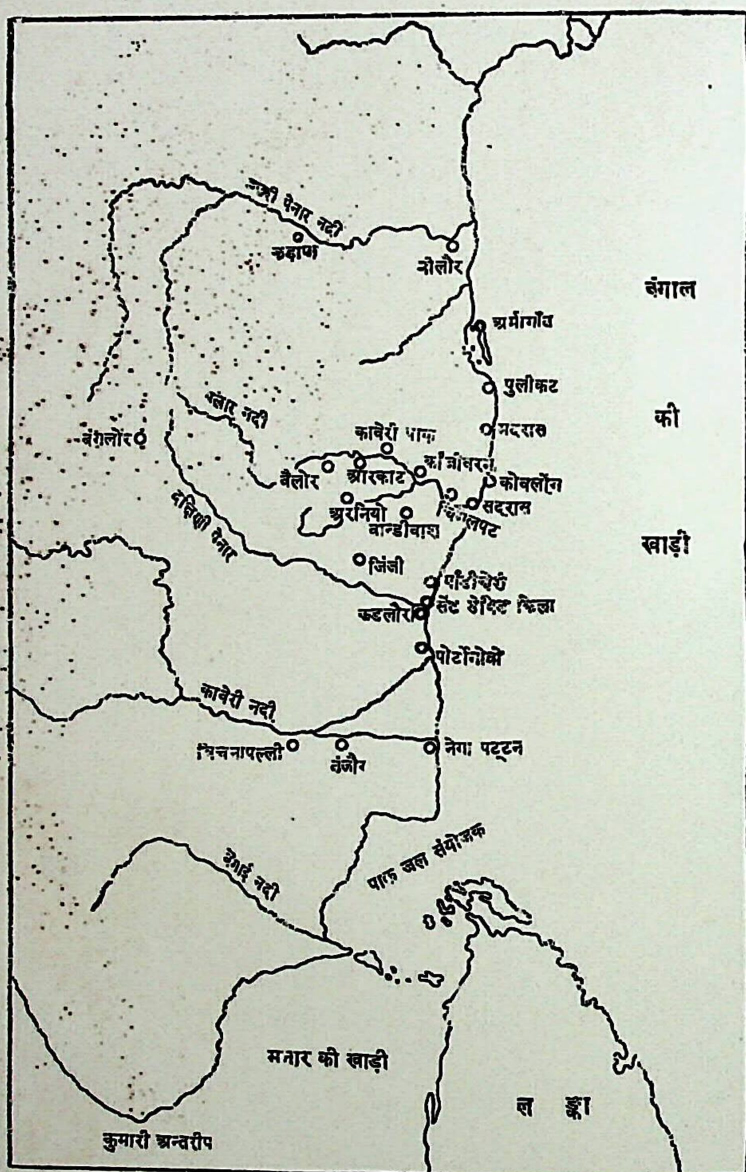
टीपू का राज्य अँगरेजों, मराठों एवं निजाम ने आपस में बाँट लिया। अँगरेजों को पश्चिम की ओर कनारा, दक्षिण-पश्चिम की ओर वायनाड, कोयम्बटूर एवं दारापुरम् के जिले और पूरब की ओर श्रीरंगपट्टम् के नगर एवं टापू के साथ-साथ दो अन्य जिले प्राप्त हुए; निजाम को गूटी, गुरमकोन्डा तथा दुर्ग को छोड़कर चितलद्रुग का कुछ भाग मिला; पेशवा को निजाम को दिये गये प्रदेशों एवं अँगरेजों के प्रदेशों के मध्यवर्ती हरपनहाली और सून्डा के जिले दिये गये; परन्तु जैसी आशा की जा रही थी, पेशवा ने इन जिलों को लेना अस्वीकार कर दिया, और तब यह प्रदेश भी निजाम तथा अँगरेजों में बँट गये। मैसूर-राज्य का शेष भाग पुराने हिन्दू राज-वंश के एक नाबालिग राजकुमार को इन शर्तों पर सौंपा गया कि राज्य की रक्षा के लिए नियुक्त सेना पूर्णतया अँगरेज होगी, जिसके व्यय के लिए राजा को प्रति वर्ष ७ लाख पगोडा (एक सिक्का) देने पड़ेंगे, युद्ध के समय अँगरेज इससे भी अधिक धन की माँग कर सकेंगे, और यदि राज्य की शासन-व्यवस्था ठीक न हुई तो अँगरेजों को हस्तक्षेप करने तथा शासन-प्रबन्ध स्वयं अपने हाथों में ले लेने का भी अधिकार होगा। राजा को निषेध किया गया कि वह कभी किसी यूरोपीय व्यक्ति को अपनी नौकरी में न ले और न विदेशी राज्यों के साथ पत्र-व्यवहार करे। पूर्णिया नामक अधिकारी को नाबालिग राजकुमार का संरक्षक एवं सारे शासन-प्रबन्ध का

निरीक्षक नियुक्त किया गया; पूर्णिया हैदर का अर्थ-मंत्री रह चुका था, परन्तु अब तो वह अँगरेजों का बनाया पुतला भर था।

इस समझौते से वेलेजली ने समस्त मैसूर-राज्य पर अँगरेजों का आधिपत्य स्थापित कर दिया; राजा तो अँगरेजों के प्रभुत्व-विस्तार को छिपाये रखने के लिए एक पर्दा भर था। स्वयं वेलेजली ने लिखा था कि "इस व्यवस्था के अनुसार मैं राजा के प्रदेशों से प्राप्त होनेवाले समस्त साधनों पर अधिकार जमाने में समर्थ हो सकूँगा।" यदि वेलेजली मैसूर में राज-वंश को प्रतिष्ठित न कर सारे मैसूर को ही हड़प कर लेता, जो सर्वथा संभव भी था, तो निजाम के हिस्से में भी और अधिक प्रदेश चले जाते; तब उसकी शक्ति अवांछनीय रूप से बढ़ गई होती। पेशवा को इन शर्तों पर टीपू के राज्य में हिस्सा देना स्वीकार किया गया था कि वह फ्रांसीसियों के विरुद्ध युद्ध में भाग लेना स्वीकार करे, यूरोपीय व्यक्तियों को अपनी नौकरी से निकाल दे और नये मैसूर-राज्य की सुरक्षा का वचन दे। जैसी आशा थी, पेशवा ने वचन-बद्ध होना स्वीकार न किया और निजाम को भी जो प्रदेश इस मैसूर-युद्ध में मिले, वे जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, सन् १८०० ई० में उससे वापिस ले लिये गये; इस प्रकार टीपू के राज्य की सारी लूट अँगरेजों के हाथ लगी। इँगलैंड की सरकार ने गवर्नर-जनरल वेलेजली को 'मार्क्विस' (Marques) की उपाधि दी और जनरल हैरिस को 'बैरन' (Baron) का सम्मानित पद दिया।

टीपू का चरित्र—टीपू की शक्ति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अँगरेज उसके नाम से ही थर्राते थे। वे उससे डरते थे और उससे घृणा भी करते थे। टीपू के प्रति अँगरेजों की यह घृणा अँगरेज इतिहासकारों द्वारा उसके चरित्र-चित्रण में साफ-साफ झलकती है। कर्कपैट्रिक ने उसको "हृदयहीन और आततायी शत्रु....अत्याचारी और अन्यायी शासक और क्या-क्या नहीं" बताया है; कर्नल विल्क्स लिखता है "हैदर शायद ही कभी गलती करता था और टीपू शायद ही कभी ठीक रास्ते पर चलता था.... उसके असीम अत्याचारों के कारण उसके राज्य का प्रत्येक हिन्दू उसके शासन से घृणा करने लगा था। जहाँ कठोरता पाप होती थी, वहाँ वह बर्बर बन जाता था और जहाँ कठोरता एक गुण होती थी, वहाँ वह अकर्मण्य बन जाता था। यदि उसमें साम्राज्य सँभालने की कुछ योग्यता थी भी तो वह उसके दोषों से बड़े विचित्र ढंग से ढक गई थी।" टीपू के दोष स्पष्ट एवं असंदिग्ध हैं और इतिहास का निर्णय भी मैसूर में अति-प्रचलित इस लोकोक्ति से अधिक भिन्न नहीं हो सकता कि "हैदर जन्मा था साम्राज्य-निर्माण के लिए और टीपू पैदा हुआ उसके विनाश के लिए।" अन्य इतिहासकारों ने, जो इतने पक्षपात पूर्ण नहीं थे, टीपू के चरित्र एवं शासन-प्रबन्ध का प्रशंसापूर्ण वर्णन किया है।

मेजर दिरोम ने लिखा था—"टीपू का राज्य सर्वत्र निवासियों से भरपूर और जहाँ तक धरती खेती के योग्य थी, वहाँ तक पूर्णतया कृषि से आबाद दिखाई देता था; उधर उसकी सेना का अनुशासन और पराजय के अंतिम क्षणों तक अनन्य राजभक्ति उसकी सेना में अति सुंदर नियमों के प्रचलित होने का प्रमाण थी। उसका शासन कठोर एवं स्वेच्छाचारपूर्ण होते हुए भी, एक शिष्ट एवं योग्य शासक का निरंकुश शासन था।" एक अन्य सैनिक अधिकारी लेफ्टिनेंट मूर ने लिखा है "जब कोई पर्यटक किसी अपरिचित देश में भ्रमण करते हुए, उसको भली भाँति खेती से भरपूर, परिश्रमी प्रजा से आबाद, नये बसाये नगरों से शोभायमान, व्यापार की उन्नति में संलग्न, नगरों की संख्या बढ़ाने में प्रयत्नशील और सर्वतोमुखी विकास से सुखी पाता है, तो वह स्वभावतया इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वहाँ का शासन प्रजा के मनोनुकूल है। यही टीपू के राज्य का चित्र है, और यही इसके शासन-तंत्र के विषय में हमारा निष्कर्ष है।" स्पष्ट है कि टीपू वैसा बर्बर और धर्मान्ध नहीं था, जैसा उसके शत्रुओं ने उसको चित्रित किया है। वह शासन की बागडोर अपने हाथों में कसकर रखनेवाला और अपने कर्मचारियों को स्पष्ट एवं विवरणपूर्ण आदेश देनेवाला परिश्रमी शासक था। मिल ने उसके विषय में लिखा था "एक पारिवारिक शासक के रूप में वह बड़े से बड़े पूर्वी शासक के साथ तुलना करने पर पासंग में भारी निकलता है।" वह स्वभावतया निर्दय नहीं था; उसकी निर्दयताओं की तह में भी एक नीति थी। वह अपने शत्रुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार इसलिए करता था कि दूसरों को चेतावनी मिल जाय। स्वयं कट्टर मुसलमान होते हुए भी उसने हिन्दू-मन्दिरों को अनुदान दिये थे और हिन्दुओं को उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया था। अँगरेजों से उसकी किसी प्रकार न बन पाती थी; उनके साथ वह आजीवन युद्ध करता रहा और अन्त में उनके साथ लड़ते हुए ही उसने अपने प्राण और अपना राज्य भी गँवाया। फ्रांसीसियों का साथ करने में उसने अवश्य विवेकहीनता प्रदर्शित की; क्योंकि फ्रांस के टापू से उसको कभी अधिक सहायता न मिल सकती थी। निश्चयात्मक रूप से यह जानना आज कठिन है कि वह फ्रांसीसियों की सहायता पर कितना भरोसा रखता था और फ्रांस के साथ मित्रता गाँठने में उसका उद्देश्य अँगरेजों को ठीक रास्ते पर लाना मात्र था या कुछ और भी। परन्तु यह विश्वास कर लेना अवश्य कठिन है कि वह इस बात को न समझता रहा हो कि फ्रांस उतनी दूर से मैसूर के मैदानों में उसको अधिक सहायता नहीं पहुँचा सकता। फिर भी उसका फ्रांस की ओर झुकाव युद्ध का बहाना बनाया गया और वह अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लड़ता हुआ एक शहीद की तरह काम आया।



पेनार नदी
कड़ापा
नीलौर
अर्मागाँव
पुलीकट
मदरास
बंगाल
की
खाड़ी
नदी
बंगलोर
कावेरी पाक
कांजीवरम
वैलोर
आरकाट
कोवलोंग
आरनियो
सदरास
वान्डीवाश
लपट
दक्षिणी पेनार
जिंजी
पांडीचेरी
सेंट डेविड किला
कुडलोर
पोर्टोनोवो
कावेरी नदी
त्रिचनापल्ली
तंजौर
नेगा पट्टन
वेगाई नदी
पाक जल संयोजक
मनार की खाड़ी
ल ङ्का
कुमारी अन्तरीप

कर्नाटक-युद्ध

मैसूर की विजय एवं निजाम के साथ संधि से शक्ति-संतुलन सर्वथा परिवर्तित हो गया। टीपू की मृत्यु से अँगरेजों का एक प्रबल शत्रु इस संसार से उठ गया और उसके राज्य के जिन प्रदेशों पर अँगरेजों ने अधिकार किया, उनसे दक्षिणी समुद्र तट पर उनका पूर्णतया प्रभुत्व स्थापित हो गया और परिणामस्वरूप फ्रांसीसियों की गुप्त मंत्रणाओं का रहा-सहा भय भी मिट गया। अब केवल मराठा-शक्ति शेष रह गई। मराठों के साथ अँगरेजों की गुत्थमगुत्था का वर्णन करने से पहले कर्नाटक, तंजौर और अवध के रजवाड़ों के साथ वेलेजली के व्यवहार के वर्णन से छुट्टी पाना सुविधाजनक होगा।

कर्नाटक—टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम् में जो सरकारी कागज-पत्र प्राप्त हुए, उनमें कुछ ऐसे दस्तावेज भी थे जिनसे कर्नाटक के नवाब का टीपू के साथ गुप्त रूप से पत्र-व्यवहार करना प्रमाणित होता था। वेलेजली ने इन कागज-पत्रों को कर्नाटक के मामलों में हस्तक्षेप करने का एक न्यायोचित कारण बना डाला। कर्नाटक के कार्य-कलाप किसी भी प्रकार संतोषजनक न थे। सहायक-कर (सबसाइडी) की रकम बकाया पड़ी थी, नवाब अँगरेज सज्जनों का कर्जदार बना हुआ था और शासन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त दशा में थी। वेलेजली ने नवाब का शासन समाप्त कर इस सारी व्यवस्था का सुधार किया। उसने घोषणा की कि नवाब ने संधि भंग की है; अतः वह सिंहासन का अधिकार खो चुका है। नवाब के सौभाग्य से मृत्यु ने समय पर आकर उसको वेलेजली की योजना का शिकार बनने से बचा लिया। नवाब उमदुत-उल-उमरा सन् १८०१ में चल बसा और तब उसका पुत्र अली हुसैन नवाब बना। वेलेजली ने नये नवाब पर कर्नाटक का सार्वजनिक एवं सैनिक शासन अँगरेजों को सौंप देने के लिए जोर डाला। अली हुसैन ने अपने पिता पर लगाये गये विश्वासघात के अपराध का प्रमाण माँगते हुए वेलेजली का प्रस्ताव स्वीकार न किया। इस कार्य को कठिन जानकर वेलेजली ने भूतपूर्व नवाब के भतीजे अजीमुद्दौला से समझौता किया और उससे, नवाब की पदवी एवं निश्चित वार्षिक वृत्ति के बदले में, कर्नाटक का सार्वजनिक एवं सैनिक शासन अँगरेजों को सौंप देने का वचन ले लिया और अली हुसैन को हटाकर उसको नवाब बना दिया जिससे कर्नाटक का पूरा-पूरा शासन अँगरेजों के हाथ में आ गया। कर्नाटक की यह व्यवस्था अँगरेजों के लिए तो हितकर थी, परन्तु यह न न्यायपूर्ण थी और न विधि-सम्मत ही। अजीमुद्दौला को ऐसी वस्तु दे डालने का कोई अधिकार न था, जो स्वयं उसकी अपनी न थी। विश्वासघात का जो दोष अँगरेजों ने भूतपूर्व नवाब पर लगाया था और जिसका बहाना बना कर उन्होंने उसके पुत्र को अपने न्यायोचित अधिकार से वंचित किया था, किसी प्रकार प्रमाणित न किया जा सका। अब इसमें

कोई संदेह नहीं रह गया है कि श्रीरंगपट्टम् में प्राप्त कागज-पत्रों से कर्नाटक के नवाब का विश्वासघात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। वेलेजली के प्रशंसक टोरेन्सन को भी कहना ही पड़ा है कि "श्रीरंगपट्टम् में प्राप्त कूड़े-करकट के ढेर से राजनीतिक विश्वासघात का कोई प्रमाण उपलब्ध हुआ नहीं जान पड़ता।" यथार्थ में बात यह थी कि टीपू के समाप्त हो जाने पर कर्नाटक को मद्रास और मैसूर के बीच तटस्थ राज्य के रूप में बनाये रखना आवश्यक न रह गया था। अब नवाब के शासन को, जो बहुत समय पहले से ही नाम-मात्र के लिए रह गया था, पूर्णतया समाप्त करने में कोई हानि न थी; इसी के लिए चिट्ठियों का बहाना बनाया गया। यदि वेलेजली कोई बहाना बनाये बिना भी नवाब को हटा देता, तब भी कोई उसको रोकनेवाला न था। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि वेलेजली अपने इस कार्य को नियमानुमोदित सिद्ध करने के लिए क्यों प्रयत्नशील था—यद्यपि उसके सारे प्रयत्न असंगत एवं अप्रामाणिक थे। इसी प्रकार तंजौर एवं सूरत के शासकों को भी उपाधियाँ एवं वार्षिक वृत्ति देकर शासन-भार से मुक्त किया गया। इस समस्त कार्यवाही का अत्याचार एवं अन्यायपूर्ण होना न तो वेलेजली की चिंता का विषय था और न इँगलैण्ड में कम्पनी के अधिकारियों की नैतिक भावनाओं पर ही इससे ठेस पहुँचती थी। इन अँगरेज अधिकारियों की दृष्टि में वे सभी कार्य न्यायपूर्ण थे, जिनसे अँगरेजों का प्रभुत्व-विस्तार होता था। वेलेजली ने अपने समस्त कार्यों में इसी नीति का अवलम्बन किया।

अवध के साथ सम्बन्ध—मेमने को हड़पने के लिए भेड़िये को हमेशा कोई न कोई बहाना मिल ही जाता है। अवध की गर्दन दबोचने के लिए वेलेजली को कुशासन का बहाना मिला। कॉर्नवालिस के समय तक अवध का कम्पनी के साथ सम्बन्ध हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। सन् १७९७ ई० में नवाब आसफुद्दौला की मृत्यु हुई। तब अवध की नवाबी के लिए नवाब आसफुद्दौला के मनोनीत उत्तराधिकारी पुत्र वजीर अली, जो मिर्जा अली के नाम से भी प्रसिद्ध है और उसके सब से बड़े भाई सआदत अली में, जो पेंशन लेकर बनारस में रहता था, झगड़ा शुरू हुआ। सर जॉन शोर ने अवध में अँगरेजों के स्वार्थों को तृप्त करने का यह अच्छा अवसर समझा। वास्तव में अँगरेजों ने यह एक नियम ही बना लिया था कि उत्तराधिकार के झगड़ों में वे उसी का पक्ष लें जिससे उनको अधिक से अधिक प्राप्त होने का आश्वासन मिले; अँगरेजों की इस नीति से उत्तराधिकार के मामलों में झंझटें पैदा होना स्वाभाविक ही था। जॉन शोर ने सआदत अली को ठीक उत्तराधिकारी मान कर उसको जनवरी सन् १७९८ ई० में अवध के सिंहासन पर बैठा दिया। सआदत अली के साथ एक संधि की गई जिसके अनुसार 'सहायक कर'

(सब्साइडी) की रकम बढ़ाकर ७६ लाख कर दी गई और इलाहाबाद का किला अँगरेजों को सौंप दिया गया; इस संधि में यह भी व्यवस्था की गई कि नवाब न तो किसी विदेशी राज्य के साथ पत्र-व्यवहार करे और न कम्पनी की अनुमति के विना किसी यूरोपीय को अपनी सेवा में रखे। इनके अतिरिक्त नवाब ने 'मसनद' पर बैठाने के वदले में अँगरेजों को १२ लाख रुपया देना स्वीकार किया। इस संधि की शर्तें स्पष्ट प्रकट करती हैं कि अँगरेजों ने सआदत अली का पक्ष लेकर उसको क्यों नवाव वनाया।

वेलेजली का ध्यान अवध की ओर प्रारम्भ में ही आकर्षित हो गया था। कूटनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं के आधार पर उसने अवध के प्रति अपनी नीति निर्धारित की। उसकी नीति का उद्देश्य था अवध के नवाव वजीर को चारों ओर से अँगरेजी इलाकों से घेर लेना, जिससे वह न अफगानों से मिल सके और न मराठों से, सहायक सेना के व्यय के रूप में नवाव से कुछ प्रदेश ले लेना, जिससे यह सेना उससे स्वतंत्र हो जाय और नवाव की सेना को विघटित कर उसकी निजी सैन्य-शक्ति को समाप्त करना। अपनी इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए वेलेजली को कर्नाटक की तरह यहाँ भी विश्वासघात का बहाना तो नहीं मिला; अतः यहाँ उसने कुशासन और जमानशाह के आक्रमण की खवर का वहाना ढूँढ़ निकाला। जमानशाह अफगानिस्तान का शासक था; बताया जा रहा था कि वह भारत पर आक्रमण करने का विचार रखता है। नवाव ने वेलेजली के इन बहानों का प्रतिवाद किया, परन्तु उसकी सुनता ही कौन था। वेलेजली ने कानपुर और इलाहाबाद से सेनाओं को लखनऊ की ओर बढ़ने का आदेश दिया। नवाब विरोध करने में असमर्थ था; अतः उसने हथियार डाल दिये और तव सन् १८०१ ई० में उस पर एक दूसरी संधि लादी गई, जिसके अनुसार उसको अपना आधा राज्य, जिसमें रुहेलखंड एवं गंगा-जमुना का मध्यवर्ती प्रदेश निचला दोआव शामिल थे, कम्पनी को सौंप देना पड़ा; सहायक सेना की संख्या बढ़ा दी गई और नवाबकी अपनी सेना की संख्या घटाई गई तथा अन्त में उसको पूर्णतया तोड़ ही दिया गया। नवाब ने शासन-प्रवन्ध में सुधार करने और अँगरेज रेजीडेंट के सुझावों के अनुसार कार्य करने का वचन दिया। यह व्यवस्था निस्संदेह अँगरेजों के लिए हितकर थी। इससे नवाब विल्कुल अकेला पड़ गया, उसकी सैन्य-शक्ति वहुत घट गई, अँगरेजों की राज्य-सीमा और साधन बहुत वढ़ गये। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यह समस्त कार्यवाही अत्याचार एवं अन्यायपूर्ण थी। अँगरेज गवर्नर-जनरल न्यायपूर्ण अधिकारों की चिंता भी कव करते थे? अपना उद्देश्य पूर्ण कर लेने पर वेलेजली ने शासन-प्रवन्ध को जैसे का तैसा रहने दिया; नवाब के आश्वासन-मात्र से उसने शासन-प्रबन्ध की

सुव्यवस्था पर संतोष कर लिया। कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल (बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स) ने वेलेजली के इन कार्यों की कठोर आलोचना की, परन्तु 'नियामक-समिति' (बोर्ड ऑफ कंट्रोल) ने उसको वेलेजली की वापसी की माँग करने से रोक दिया।

वेलेजली और मराठे—हैदराबाद, लखनऊ और मैसूर को सहायक संधियों से जकड़ लेने के बाद, वेलेजली ने मराठों की ओर ध्यान दिया। "भारत में शांति को सुदृढ़तम आधार पर स्थापित करने और फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप को सर्वथा मिटाने के लिए, यह परम आवश्यक है कि अँगरेज सरकार मराठों को अपनी छत्रछाया में खींच ले।" ये थे सन् १८०३ ई० में वेलेजली के विचार, जिनके अनुसार उसने अपना भावी कार्यक्रम बनाया; जिसके फलस्वरूप बसीन की संधि और द्वितीय मराठा युद्ध हुए। मराठा शक्ति को अँगरेज सरकार के संरक्षण में लाने का अर्थ यही था कि उन प्रदेशों पर भी अँगरेजों का आधिपत्य स्थापित किया जाय, जो आज तक उनकी गहरी चालों और तेज तलवारों से टक्कर लेते आ रहे थे। फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप की आशंका एक ऐसी झिलमिल चादर थी, जो वेलेजली ने अपने आलोचकों को फ्रांसीसी आक्रमण से भयभीत कर अपने वास्तविक मंतव्यों की ओर से उनकी नज़र बचाने के लिए फैला दी थी। स्वयं गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेजली को फ्रांसीसियों का कोई भय न था; उसका विचार था कि यदि फ्रांसीसियों ने भारत-भूमि पर पैर रखने का साहस किया भी तो अपने अड्डे से इतने दूर पड़ जाने के कारण उनको बड़ी आसानी से तत्काल नष्ट किया जा सकेगा। मिस्र से फ्रांसीसियों के हट जाने, और उनकी सामुद्रिक शक्तिहीनता सर्वविदित होने के कारण उनकी ओर से कुछ भी भय न था।

वास्तव में बात यह थी कि नाना फड़नवीस की मृत्यु के पश्चात् मराठा मंडल में जो अव्यवस्था फैल गई थी उससे वेलेजली लाभ उठाये बिना चैन लेनेवाला न था; क्योंकि इस गड़बड़ी ने अँगरेजों के राज्य-विस्तार का सुंदर सुयोग उपस्थित कर दिया था। फ्रांसीसियों के आक्रमण का भय तो वेलेजली की साम्राज्यवादी योजनाओं पर आत्म-रक्षा का रंग चढ़ाने का एक बड़ी आसानी से प्राप्त साधन-मात्र था।

साल्बाई की संधि (१७८२ ई०) तथा १८०२ ई० में द्वितीय मराठा युद्ध छिड़ने के बीच के इक्कीस वर्षों में अँगरेजों तथा मराठों की राजनीतिक स्थिति में महान् परिवर्तन हो चुका था। अँगरेजों ने अपनी राजनीतिक शक्ति बहुत बढ़ा ली थी और वे अब मराठों के इतने समीप पहुँच गये थे कि उन पर आसानी से चोट कर सकते थे। उधर मराठा-संघ में नाना फड़नवीस के प्रयत्नों के फलस्वरूप जो थोड़ी-बहुत एकसूत्रता आई भी थी, वह मराठा सरदारों के परस्पर विरोधी स्वार्थों

से छिन्न-भिन्न हो गई थी। सन् १७९५ ई० में अन्तिम वार सब मराठा सरदार पेशवा के नाममात्र के नेतृत्व में निजाम के विरुद्ध, खर्दा के युद्ध में, संघटित हुए थे। खर्दा के युद्ध की विजय नाना फड़नवीस की व्यक्तिगत विजय थी, जिससे नाना का नाम चमक उठा था और उसकी ख्याति बढ़ती हुई देखकर सिंधिया, होल्कर और भोंसले सरीखे मराठा-संघ के प्रमुख सरदार उससे जल-भुन उठे थे। नाना फड़नवीस का एक साधारण मंत्री पद से उठकर मराठा साम्राज्य का कर्ताधर्ता बन जाना मराठा-संघ को ग्रसनेवाले किसी घातक रोग का निर्देशक था। नाना ने पेशवा को अपना गुलाम-सा बना डाला था और उसको केवल नाम-मात्र का अधिपति रहने दिया था। इससे दोमुँही प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जो मराठा-संघ के लिए जानलेवा सिद्ध हुई। इससे पेशवा नाना की दासता से मुक्त होने के लिए तड़फने लगा और सिंधिया होल्कर जैसे महत्त्वाकांक्षी सरदार नाना को अधिकार-च्युत कर पेशवा को अपने अपने हाथ का खिलौना बनाने की चेष्टा करने लगे, जिससे उनकी स्वार्थवृत्ति तृप्त हो सके। युवक पेशवा माधवराव नारायण ने नाना फड़नवीस की दासता से तंग आकर अक्टूबर १७९५ ई० में आत्महत्या कर ली; नाना उसको अपने चचेरे भाई राघोवा के पुत्र बाजीराव तक से भी मिलने न देता था। इस प्रकार पेशवा-पद के रिक्त हो जाने पर राजशक्ति हथियाने के लिए महादाजी सिंधिया के दत्तक पुत्र दौलतराव सिंधिया एवं नाना फड़नवीस में तनातनी होने लगी। आखिर राघोवा के पुत्र द्वितीय बाजीराव को पेशवा बनाकर नाना फड़नवीस बाजी जीत गया। परन्तु विश्वासघाती, कृतघ्न, षड्यंत्री बाजीराव नाना को पदच्युत करने का कुचक्र रचने लगा। नाना के प्रभाव को समाप्त करने के लिए वह दौलतराव सिंधिया से जा मिला। सिंधिया को भी अपने महान् प्रतिद्वंद्वी नाना से निपटने का स्वर्ण-अवसर मिल गया। नाना को पकड़कर कारागार में डाल दिया गया। परन्तु शीघ्र ही बाजीराव को अनुभव होने लगा कि नाना को पदच्युत कर सिंधिया को पदारूढ़ करने का अर्थ केवल अपने स्वामियों की अदला-बदली मात्र था; इसलिए अब वह सिंधिया के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। इन षड्यंत्र-प्रतिषड्यंत्रों के साथ-साथ एक ओर महादाजी सिंधिया की विधवाओं और दूसरी ओर जसवंतराव होल्कर के साथ दौलतराव सिंधिया के लड़ाई-झगड़ों से समस्त मराठा-संघ में घोर अव्यवस्था व्याप्त हो गई। जसवंतराव होल्कर दौलत राव सिंधिया का घोर शत्रु था, इधर दौलतराव पूना में अपना अधिकार जमा रहा था तो उधर जसवंतराव मालवा की ओर से उसके राज्य में लूटपाट मचा रहा था। मालवा में जसवंतराव के आ धमकने पर सिंधिया और पेशवा ने अपने पारस्परिक मनमुटावों को बाहरी दिल से धो डाला और वे दिखावे के लिए एक हो गये।

अस्थिर चित्तवाले बाजीराव को निजाम के साथ गुप्त मंत्रणा करते देखकर सिंधिया ने उस पर नियन्त्रण रखने के विचार से नाना फड़नवीस को पुन: पदारूढ़ कर दिया।

ऐसी विषम परिस्थिति में मार्च संन् १८०० ई० में नाना फड़नवीस की मृत्यु के साथ मराठा-संघ अपना एक प्रधान पथ-निर्देशक खो बैठा। मराठों के विस्तृत इतिहास के लेखक ग्रांट डफ ने नाना को एक महान् राजनीतिज्ञ बताया है और अँगरेज रेजीडेंट कर्नल पामर ने उसके विषय में लिखा है कि "उसके साथ मराठा शासन से बुद्धि और विवेक भी चल बसे।" यहाँ पर नाना फड़नवीस के गुण-दोषों की विस्तृत विवेचना प्रासंगिक नहीं है। एक प्रकार से वह एक महान् राजनीतिज्ञ था, क्योंकि पूरे अड़तीस वर्षों तक वह मराठा-संघ का सूत्र-संचालन करता रहा था। परन्तु उसके कार्य सदैव राष्ट्र-हित की भावना से प्रेरित न होते थे और इतिहास उसको भी मराठा शक्ति के पतन के कारणों में ही स्थान देगा।

नाना की मृत्यु से, पूना में प्रधानता हथियाने के लिए दौलतराव सिंधिया, जसवंतराव होल्कर और पेशवा द्वितीय बाजीराव का त्रिमुखी संघर्ष जोर पकड़ गया। पेशवा द्वितीय बाजीराव तथा दौलतराव सिंधिया ने आपस में यह समझौता किया कि पेशवा सिंधिया की होल्कर के विरुद्ध सहायता करेगा और सिंधिया पेशवा की दिवंगत नाना के मित्रों से, जिनको वह अपना 'स्वभावसिद्ध शत्रु' समझता था, प्रतिशोध लेने में मदद करेगा। जब सिंधिया होल्कर की सेनाओं के साथ मालवा में उलझा हुआ था, बाजीराव पर अपने और अपने पिता के राजनीतिक विरोधियों का सर्वनाश करने का भूत सवार हो गया। उसने जसवंतराव होल्कर के भाई बिठ्ठूजी होल्कर का निर्दयतापूर्वक वध कर दिया, जिसका समाचार पाकर जसवंतराव अपने भाई की निर्मम हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए पूना पर चढ़ दौड़ा। सन् १८०२ ई० में पेशवा एवं सिंधिया की सेनाओं को परास्त कर उसने पूना में प्रवेश किया। पेशवा प्राण बचाकर भाग निकला; उसने बसीन में जाकर शरण ली, जहाँ अँगरेज उसके स्वागत के लिए तैयार खड़े थे। घोर आपत्ति में फँसे हुए भगोड़े बाजीराव ने 'सहायक प्रणाली' की सदस्यता स्वीकार कर ली और दिसम्बर सन् १८०२ ई० में बसीन की संधि हुई। वेलेजली बहुत पहले से मराठा-संघ को 'सहायक प्रणाली' में बाँधने का प्रयत्न कर रहा था; परन्तु आज तक उसके सहायता एवं मध्यस्थता के प्रस्ताव ठुकराये जाते रहे थे। अब मराठा-संघ का नियमानुमोदित प्रधान (पेशवा) भाग्य की ठोकरें खाता हुआ उसके हाथ आ पड़ा था, और वह भी इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए तैयार बैठा था।

बसीन की संधि की शर्तें—इस संधि का उद्देश्य सामान्यत: रक्षात्मक मैत्री

और पेशवा तथा अँगरेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी की एवं इनके मित्र राज्यों की राज्य सीमा की पारस्परिक सुरक्षा घोषित किया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम से कम ६,००० स्थायी सैनिकों की एक सहायक सेना पेशवा के राज्य में स्थायी रूप से रखने का निश्चय किया गया; इस सेना के साथ यथोचित संख्या में तोपखाना एवं यूरोपीय तोपची भी रखे जाने थे। पेशवा किसी ऐसी जाति के यूरोपीय व्यक्ति को अपने यहाँ स्थान न देगा जो अँगरेजों के प्रति शत्रुभाव रखती हो; सहायक सेना के वेतन के लिए पेशवा २६ लाख आयवाला प्रदेश देगा और सेना के उपयोग की वस्तुएँ चुंगी दिये विना लाई और ले जाई जा सकेंगी। पेशवा सूरत पर अपना अधिकार छोड़ देने और निजाम एवं गायकवाड़ के साथ अपने झगड़ों में अँगरेजों की मध्यस्थता स्वीकार करने की इन शर्तों के अतिरिक्त भविष्य में अँगरेज सरकार से परामर्श किये बिना किसी भी राज्य के साथ लड़ाई न छेड़ने और संधि करने अथवा निवाहने से दूर रहने के लिए वचनबद्ध हुआ। इस संधि से पेशवा ने सुरक्षा का मोल अँगरेजों की अधीनता की स्थिति में दुबक कर चुकाया। इस संधि का वैधानिक पक्ष वहुत महत्त्वपूर्ण है। पेशवा मराठों का प्रधान और मुगल साम्राज्य का प्रतिनिधि शासक (वकील-उल-मुल्लक) था। इस प्रकार उसकी अधीनता का अर्थ था सारे हिन्दुस्तान की अधीनता। मुगल बादशाह शाह आलम पेशवा की ही तरह एक गुड्डा भर था; वह स्वयं अपने ही महल में सिंधिया का बंदी था। कहने को सिंधिया हिन्दुस्तान में पेशवा का प्रतिनिधि था। इस प्रकार वैधानिक पक्ष की दृष्टि से इस संधि द्वारा अँगरेजों को भारत का साम्राज्य प्राप्त हो गया। वास्तव में यह साम्राज्य उनको इस संधि से नहीं मिला, अपितु तलवार के जोर से उन्होंने इस पर अधिकार किया। इस संधि ने उनकी दुधारी तलवार पर कानून का रंग चढ़ा दिया और उनके सम्मुख ऐसी अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित कर दीं जो इस संधि के बिना वन न सकती थीं। आर्थर वेलेजली ने इस संधि को 'शून्ययुक्त संधि' ठीक ही कहा था और उसने इस संधि का समर्थन इस आधार पर किया था कि इससे फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप का भय सर्वथा मिट जायगा और भारत में शांति को कोई भय न रह जायगा। परन्तु इँगलैंड में अधिकारियों ने इसकी तीव्र आलोचना की। नियामक-समिति (बोर्ड आफ् कन्ट्रोल) के प्रधान लॉर्ड कासलरे ने इस संधि की आलोचना करते हुए कहा था कि यह संधि "हमें मराठा साम्राज्य के अनन्त और उसके उलझे हुए झगड़ों में घसीट लेगी।" मिल ने भी इसकी आलोचना यह कह कर की कि इससे युद्ध अनिवार्य हो जायगा। स्वयं वेलेजली इससे शांति की आशा करता था, परन्तु अपने सतर्क स्वभाव के अनुसार उसने किसी भी विषम परिस्थिति का सामना करने की तैयारी कर ली। मराठों के लिए

तो यह संधि उनकी स्वतंत्रता का गला घोंटनेवाली थी और वे संघर्ष किये बिना इसको स्वीकार करने के लिए तैयार होनेवाले न थे। परन्तु इस सर्वसामान्य आपत्ति काल में भी वे अपनी पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता को मिटाकर एक न हो सके। अँगरेजों ने भी उनको संघटित न होने देने का भरसक प्रयत्न किया। सिंधिया तथा बरार के भोंसला राजा अपने विरोधों को समाप्त कर एक हो भी गये, परन्तु जसवंतराव होल्कर उनके साथ सहयोग करने के लिए किसी भी प्रकार से तैयार न हुआ। वह मालवा चला गया और वहीं से घटना-चक्र देखने लगा तथा जब वह कार्यक्षेत्र में उतरा तब तक स्थिति काबू से बाहर हो चुकी थी। गायकवाड़ इस संघर्ष में प्रारम्भ से अंत तक तटस्थ रहा।

१३ मई सन् १८०३ ई० में पेशवा ने आर्थर वेलेजली के सेनापतित्व में अँगरेज सेना साथ लेकर पुनः पूना में प्रवेश किया। जसवंतराव होल्कर तब पूना में ही था; पेशवा के लौट आने पर वह मालवा की ओर चल दिया। सिंधिया और भोंसला नर्मदा के दक्षिण की ओर डेरा डाले पड़े थे; वेलेजली ने उनके साथ समझौते की बातचीत शुरू की। परन्तु बातचीत का कोई फल न निकला और सिंधिया तथा भोंसला ने अपने-अपने राज्यों की ओर लौट जाने से इनकार कर दिया। ३ अगस्त सन् १८०३ के दिन अँगरेजों का दूत कर्नल कॉलिन्स सिंधिया के शिविर से लौट चला; उसका लौटना युद्ध का संकेत था।

वेलेजली मराठा सरदारों की संघटित सेना का सब तरफ से और स्वयं उनके ही राज्य में सामना करने के लिए पूरी तरह से तैयार था। अवध, निजाम, मैसूर और बड़ौदा के साथ संधियाँ कर लेने के कारण वेलेजली अपनी सेनाओं को हिन्दुस्तान और दक्खिन में संघर्ष के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर खड़ा करने में समर्थ हो गया था। युद्ध के लिए उसकी तैयारियाँ इतनी पूर्ण थीं कि वह पहले से ही युद्ध के उद्देश्य भी स्पष्टतः निर्धारित कर चुका था। ये उद्देश्य थे सिंधिया के राज्य के गंगा-यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश को, जिसमें आगरा और दिल्ली भी शामिल थे, विजय करना; फ्रांसीसी सेनाओं को समाप्त करना और गुजरात में भड़ौंच तथा बुन्देल-खंड को हस्तगत करना। इनके अतिरिक्त वेलेजली कटक पर अधिकार कर मद्रास को बंगाल के साथ जोड़ना और अंधे बादशाह शाह आलम को अपने कब्जे में करना चाहता था।

कर्नल कॉलिन्स के सिंधिया का शिविर छोड़ने के बाद से घटना-चक्र बड़ी तीव्र गति से चलने लगा। यथार्थ युद्ध प्रधान रूप से दक्षिण में आर्थर वेलेजली के सेनापतित्व में और हिन्दुस्तान में जनरल लेक के सेनानायकत्व में लड़े गये और इनके साथ-साथ गुजरात, बुन्देलखंड एवं कटक में भी गौण रूप से छोटी-मोटी लड़ाइयाँ

लड़ी गईं। मानचित्र पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस संघर्ष में अँगरेजों का पलड़ा प्रारम्भ से ही भारी था, क्योंकि वे सिंधिया और भोंसला को चारों ओर से घेरने और उन पर सब दिशाओं से प्रहार करने की स्थिति में थे। मराठों ने अपनी प्राचीन युद्ध-प्रणाली छोड़कर पाश्चात्य पद्धति से युद्ध चलाया; परन्तु इस नवीन युद्ध-प्रणाली में वे अभी पूर्णतया दक्ष न हो पाये थे। मराठों के यूरोपीय सेनानायक उनका पक्ष छोड़कर अँगरेजों की सेना में घुलमिल कर इतिहास से लुप्त हो गये। उनके चले जाने से मराठों के सैन्य-बल को गहरा धक्का लगा, क्योंकि उनके बिना मराठों की सेना गड़रिये के बिना भेड़ों जैसी नेतृत्वहीन हो गई।

दक्खिन में आर्थर वेलेजली ने अगस्त में अहमदनगर पर अधिकार कर लिया और सितम्बर में सिंधिया तथा भोंसले की सम्मिलित सेना को अस्सये नामक स्थान पर हरा दिया। नवम्बर में भोंसला राजा फिर आरगाँव में परास्त हुआ और दिसम्बर १८०३ ई० में ग्वालीगढ़ के दुर्ग पर अँगरेजों ने अधिकार कर लिया। उत्तर-भारत से भी मराठों के लिए निराशाजनक समाचार मिल रहे थे। भोंसला राजा ने दिसम्बर १८०३ ई० में देवगाँव की संधि द्वारा युद्ध से अपना पिंड छुड़ाया। इस संधि के साथ दक्खिन में लड़ाई एक तरह से बंद ही हो गई।

दक्खिन के इन सामरिक प्रयत्नों के साथ-साथ हिन्दुस्तान में जो लड़ाइयाँ लड़ी जा रही थीं, वे भी समान रूप से अँगरेजों के ही पक्ष में पड़ रही थीं। जनरल लेक ने अगस्त सन् १८०३ ई० में अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया और सितम्बर में उसने दिल्ली और उसके बादशाह पर भी कब्जा कर लिया। अक्टूबर में आगरा भी अँगरेजों के हाथ चला गया और नवम्बर में इस संघर्ष की अन्तिम लड़ाई लस्सवारी में लड़ी गई, जिसमें सिंधिया की सेना ने अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया। स्वयं लेक ने इस युद्ध के विषय में लिखा था कि "ये सिंधिया के सैनिक शैतानों की या यों कहिए कि शूरों की तरह लड़े। भगवान् करे कि मैं फिर कभी ऐसी स्थिति में न पड़ूँ।" ३० दिसम्बर १८०३ को सिंधिया के साथ सुरजी अर्जुनगाँव की संधि द्वारा यह संघर्ष भी समाप्त हुआ।

भोंसले और सिंधिया के साथ देवगाँव और सुरजी अर्जुनगाँव की संधियों से अँगरेजों की शक्ति बहुत बढ़ गई। देवगाँव की संधि के अनुसार भोंसला राजा ने नागपुर में एक अँगरेज रेजीडेंट रखना और अँगरेजों के साथ शत्रुता रखनेवाले किसी भी देश के व्यक्ति को अपने यहाँ आश्रय न देना स्वीकार किया, उसने निजाम पर अपने जितने भी अधिकार थे, सब छोड़ दिये और कटक तथा वर्धा नदी के पश्चिम का सारा प्रदेश भी अँगरेजों के हवाले कर दिया। परन्तु उसने अपने यहाँ

सहायक सेना रखना स्वीकार न किया और अँगरेजों ने भी इस बात के लिए उस पर अधिक जोर नहीं डाला। सिंधिया ने भी गंगा-यमुना का मध्यवर्ती प्रदेश अँगरेजों को सौंप दिया, भड़ौंच तथा जयपुर, जोधपुर एवं गोहद के उत्तरवर्ती प्रदेशों पर अपने समस्त अधिकार त्याग दिये। उसने अँगरेजों के साथ लड़नेवाली किसी भी जाति के व्यक्ति को अपने यहाँ न रखना, उन राजपूत सरदारों के अधिकारों को मान्यता देना जिनको लेक ने अपनी ओर मिला लिया था तथा अपने दरबार में अँगरेज रेजीडेंट रखना भी स्वीकार किया। फरवरी में एक अन्य संधि द्वारा सिंधिया ने अँगरेजों के साथ पारस्परिक रक्षा का समझौता कर लिया। भोंसला राजा एवं सिंधिया दोनों ने बसीन की संधि को भी मान लिया।

इन युद्धों और संधियों से अँगरेज अत्यधिक लाभान्वित हुए। उनकी राज्य-सीमा बहुत विस्तृत हो गई और वे भारत में सर्वप्रमुख राज-शक्ति बन गये तथा सभी बड़े-बड़े भारतीय राज्यों का नियन्त्रण उनके हाथ में आ गया।

होल्कर के साथ युद्ध—अब केवल होल्कर ही 'सहायक प्रणाली' से बाहर छूट रहा था। उसके साथ समझौते के सब प्रयत्न विफल हुए। अन्त में जब उसने जयपुर राज्य पर, जो अँगरेजों का मित्र-राज्य था, आक्रमण किया तो वेलेजली ने अप्रैल सन् १८०४ ई० में उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। एक साथ तीन सेनाएँ—हिन्दुस्तान से जनरल लेक, दक्खिन से वेलेजली और गुजरात से कर्नल मॉनसन की सेना—होल्कर के विरुद्ध आगे बढ़ीं। परन्तु इन तीनों सेनाओं के एक स्थान पर मिल पाने के पहले ही होल्कर मुकुन्दद्वारा की घाटी में कर्नल मॉनसन पर टूट पड़ा और उसको अस्त-व्यस्त अवस्था में आगरा की ओर भाग निकलने के लिए बाध्य कर दिया। मॉनसन की इस पराजय से सिन्धिया और भोंसले के मन में नई आशाएँ जाग उठीं, इँगलैंड में कम्पनी के अध्यक्ष चौंक उठे और उन्होंने अपने युद्ध-प्रेमी गवर्नर-जनरल को वापिस बुलाने का निश्चय किया, और होल्कर का दिल्ली पर घेरा डालने का हौसला बढ़ गया। जब होल्कर उत्तर-भारत में व्यस्त था, कर्नल मुर्रे ने उसकी राजधानी इन्दौर पर अधिकार कर लिया। दिल्ली की सहायता के लिए लेक के आगे बढ़ने पर होल्कर दिल्ली का घेरा उठाकर दोआब की ओर चल पड़ा। उसकी सेना का एक भाग १३ नवम्बर को डिग नामक स्थान पर अँगरेजों के हाथों समाप्त हुआ और चार दिनों बाद वह स्वयं फर्रुखाबाद में परास्त हुआ। भरतपुर का जाट राजा अँगरेजों का पक्ष छोड़कर होल्कर से जा मिला था; भरतपुर के किले पर अधिकार करने में जनरल लेक विफलप्रयत्न हुआ। परन्तु उसकी यह विफलता होल्कर का अधिक उपकार न कर सकी। इससे इतना अवश्य हुआ कि इँगलैंड में कम्पनी के अधिकारियों ने वेलेजली को तत्काल वापिस


अँगरेजी भारत
अधीनस्थ देश
काबुल
पेशावर
सिंधु नदी
लाहौर
मुलतान
सतलज
गढ़वाल
कमायूँ
दिल्ली
ब्रह्मपुत्र नदी
नै पा ल
रा ज पू त
जैपुर
जोधपुर
उदयपुर
हैदराबाद
अ व ध
लखनऊ
पटना
कूच बिहार
इलाहाबाद
बनारस
बं गा ल
कलकत्ता
बुंदेल खंड
बड़ौदा
भड़ौंच
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
नागपुर
भों स ला
कटक
देवगाँव
गोदावरी नदी
बेसीन
सालसट
बम्बई
पूना
कृष्णा नदी
नि जा म
हैदराबाद
मछलीपट्टन
अ र ब
सा ग र
ब ङ्गा ल
की
खा ड़ी
दिया हुआ प्रदेश
मै सू र
मदरास
मंगलौर
तंजोर
कोचीन
त्रिविन्द्रम
लङ्का

सन् १८०५ में भारत

बुला लेने का पक्का निश्चय कर लिया। उसकी लड़ाइयों से कम्पनी पर ऋण की रकम, जो १७९७ ई० में १७ लाख थी, अब १८०६ ई० में बढ़कर ३१ लाख हो गई थी। ३० जुलाई सन् १८०५ ई० के दिन ६७ वर्ष का बूढ़ा लॉर्ड कॉर्नवालिस कलकत्ते में आ पहुँचा और वेलेजली की 'अग्रगामी नीति' (फॉरवर्ड पॉलिसी) समाप्त हुई। साधारणतया यह धारणा बन गई है कि इस समय वेलेजली की नीति को उलटना एक भूल थी; क्योंकि होल्कर का विनाश अधिक दूर की बात न रह गया था और जो सफलता लॉर्ड हेस्टिंग्स (द्वितीय) को कुछ वर्षों बाद प्राप्त हुई वह उस समय भी पहुँच के अन्दर ही थी जब लॉर्ड कॉर्नवालिस वेलेजली की नीति को उलटने का आदेश लेकर कलकत्ते में उतरा था। भविष्य में क्या-क्या हुआ होता या न हुआ होता—इस विवाद में पड़ना इतिहास का काम नहीं है। इतिहास इतना जान लेने से ही संतुष्ट है कि उस समय वेलेजली के युद्धों से इंगलैंड में कम्पनी के अधिकारियों की व्यग्रता स्पष्टतः प्रकट हो रही थी। भरतपुर में जनरल लेक की विफलता और कर्नल मॉनसन के अस्त-व्यस्त दशा में पलायन करने से अँगरेजों की अजेयता की गप्प झूठी सिद्ध हो चुकी थी। सिंधिया की छटपटाहट के लक्षण स्पष्ट होते जा रहे थे और सबसे अधिक भय की बात तो यह थी कि मराठा-संघ के पुनरुत्थान की संभावना बढ़ती जा रही थी। यही कारण थे; जिन्होंने इँगलैंड में कम्पनी के मंत्रि-मंडल तथा लॉर्ड कॉर्नवालिस की नीति को नये साँचे में ढाल दिया था। आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के पुनः छिड़ जाने, नैपोलियन की निरंतर विजयों तथा उसके इँगलैंड पर हमला करने के मंसूबों को देखते हुए भारत में अनिश्चित गति एवं परिणामवाला यह संघर्ष जारी रखना बहुत भयपूर्ण लग रहा था।

भारत में पैर रखते ही कॉर्नवालिस मराठा सरदारों के साथ समझौता करने की इच्छा प्रकट करने लगा। परन्तु अक्टूबर सन् १८०५ ई० में उसकी मृत्यु के परिणामस्वरूप मराठा सरदारों को शांत करने का कार्य-भार बंगाल की मंत्रि-परिषद् (कौंसिल) के प्रधान सदस्य सर जॉर्ज बार्लो पर आ पड़ा, जिसने पूर्णतया कॉर्नवालिस के पदचिह्नों का अनुगमन किया। सर जॉर्ज बार्लो ने नवम्बर सन् १८०५ ई० में सिंधिया के साथ एक नई संधि की जिसमें सुरजी अर्जुनगाँव की संधि सिंधिया के लिए अनुकूल कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार की गई। इसके अनुसार चम्बल नदी सिंधिया एवं कम्पनी के राज्यों के बीच की सीमा मानी गई; ग्वालियर का दुर्ग और गोहद प्रदेश सिंधिया को लौटाये गये। गोहद के राणा के साथ अँगरेजों ने जो सुलह की थी, वह राणा को शासन के अयोग्य ठहरा कर खतम कर दी गई। सिंधिया के लिए चार लाख की व्यक्तिगत वृत्ति (पेंशन) स्वीकार की गई और कम्पनी ने मालवा, मेवाड़ एवं मारवाड़ में सिंधिया के करद जयपुर, जोधपुर,

उदयपुर इत्यादि राज्यों के साथ किसी प्रकार की संधि न करने का वचन दिया। इसी प्रकार कम्पनी ने होल्कर के साथ भी २५ दिसम्बर सन् १८०५ में व्यास नदी के किनारे राजपुर घाट की संधि द्वारा सुलह कर ली। इस संधि के अनुसार होल्कर ने चम्बल के उत्तर की ओर के प्रदेश पर अपने अधिकार त्याग दिये और पूना, बुंदेलखंड तथा अँगरेजों एवं उनके मित्र-राज्यों पर अपने हक छोड़ दिये। कम्पनी ने भी चम्बल के दक्षिण में उसके अधिकृत प्रदेशों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया और दक्खिन में उसके जो प्रदेश पिछले युद्धों में छीने गये थे, लौटा दिये। जनरल लेक के तीव्र विरोध करने पर भी, सर जॉर्ज बार्लो ने चम्बल के उत्तरवर्ती राज्यों से—कोटा से लेकर यमुना तक के प्रदेश से—अँगरेजी संरक्षण हटा लिया और इन प्रदेशों को पुनः मराठा सरदारों की दया पर छोड़ दिया। भोंसले के साथ जो संधि की गई उसके अनुसार भरतपुर और मछेरी ज्यों के त्यों बने रहे; केवल इतना परिवर्तन हुआ कि पटना और सम्भलपुर भोंसले को लौटा दिये गये।

वेलेजली के कार्यों की समीक्षा—वेलेजली की सफलताएँ युद्धों अथवा युद्ध की धमकियों का परिणाम थीं। उसका उद्देश्य कम्पनी सरकार को भारत की केंद्रीय सार्वभौम सत्ता बनाना था—एक ऐसी राजसत्ता बनाना जो भारत के प्रमुख राज्यों को अपने इशारे पर चला सके। इस उद्देश्य में उसको अपूर्व सफलता मिली। भारत से बिदाई लेने से पहले वह सारे प्रधान-प्रधान राज्यों को सैनिक बल से अथवा सैनिक बल की धमकियाँ देकर कम्पनी के साथ 'सहायक संधियों' में जकड़ चुका था। वेलेजली की ये सहायक संधियाँ उसके अपने ही दिमाग की उपज तो न थीं, परन्तु इनके उद्देश्य एवं क्षेत्र को पूर्णतया विकसित करने का श्रेय उसे अवश्य प्राप्त है। सहायक संधियों को भारतीय राज्यों पर लाद कर उसने इन राज्यों की वैदेशिक नीति पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया, इन राज्यों को किसी ऐसी ज़ाति के व्यक्ति को अपने यहाँ रखने का निषेध किया, जो अँगरेजों की शत्रु हो और इन राज्यों के केंद्र में सहायक सेना रख दी, जिसका उपयोग समयानुसार इन राज्यों की रक्षा अथवा स्वयं इनके ही विरुद्ध किया जा सकता था। इस प्रकार उसने भारतीय राजनीति में अँगरेजों का प्रभुत्व जमा दिया। भारतीय राज्यों को एक दूसरे से अलग कर और उनकी फ्रांसीसी सेनाओं को भंग कर उसने इन राज्यों के फ्रांसीसी अधिकारियों की देख-रेख में सिखाई-सधाई हुई सेनाएँ लेकर एक गुट में संघटित होने के भय को निर्मूल कर दिया। अपनी विजयों से उसने कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों को बहुत बढ़ा दिया और कम्पनी की राज्य-सीमा को इस स्थिति तक पहुँचा दिया कि अब वह अपनी सर्वोच्चता पर आघात करनेवाली किसी भी शक्ति का सफलतापूर्वक सामना करने में समर्थ हो गई। नये प्रदेशों को

कम्पनी के राज्य में मिलाने में उसका उद्देश्य या तो कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों को सुघटित करना होता था या भारतीय राज्यों के बीच एक बाड़ बना देना होता था, जिससे वे पहले तो परस्पर मिल ही न सकें और यदि उनमें किसी प्रकार मेल-जोल हो भी जाये तो उसको आसानी से मिटाया जा सके। कटक को कम्पनी के राज्य में मिलाकर उसने मद्रास और बंगाल के बीच का व्यवधान मिटा दिया और बुंदेलखंड को इसके समस्त छोटे-छोटे रजवाड़ों सहित अँग्रेजी संरक्षण में लाकर तथा इस प्रकार उन्हें अँगरेजी शक्ति के स्थायित्व का इच्छुक बनाकर उसने उत्तर-भारत में कम्पनी को सर्वथा निर्भय बना दिया। टीपू के जिन प्रदेशों को उसने कम्पनी के राज्य में सम्मिलित किया, उनसे मैसूर-राज्य चारों ओर से अँगरेजों के अधिकृत प्रदेशों से घिर गया और अँगरेज इस स्थिति में हो गये कि निजाम अथवा मराठों में अपने प्रति शत्रुता का थोड़ा भी संकेत पाकर वे उनसे तत्काल निपट सकें। मैसूर में हिन्दू-राज-वंश को प्रतिष्ठित कर उसने टीपू के मुसलमान राज्य और निजाम के मिलने की संभावनाओं की जड़ ही काट डाली। मराठा राज्यों के बीच में कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों का जाल बिछा कर अथवा किसी ऐसे राज्य के प्रदेशों को रखकर जो कम्पनी के संरक्षण में हों, उसने मराठा राज्यों को एक दूसरे से वियुक्त कर दिया। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उसने यह किया कि समस्त भारत की राजधानी दिल्ली को तथा इसके बादशाह अंधे शाहआलम को कम्पनी के कब्जे में लाकर उसने कम्पनी को बादशाह के नाम पर वे लाभ उठाने का अवसर दिला दिया जो तब तक मराठे उठाते आ रहे थे। बादशाह को कम्पनी का वृत्तिभोगी (पेंशनर) बनाने तथा उसके प्रतिनिधि शासक (वकील-ए-मुतलक) पेशवा को कम्पनी के अधीन कर लेने के कारण वेलेजली को भारत में अँगरेजी प्रभुत्व का संस्थापक कहना उचित ही है।

वेलेजली की 'सहायक संधियों' को शांति के शस्त्र और उसके युद्धों को 'आवश्यकता' के औजार कहा गया है। वेलेजली ने जो शांति स्थापित की, वह श्मशान की शांति थी। उसकी संधियों का शिकार कार्यक्षमता खोकर, सुधार की इच्छा खोकर स्वयं अपनी दृष्टि में हीन बन जाता था। सहायक सेना के व्यय के लिए राज्य की आय का जितना भाग निकल जाता था, उससे राज्य के विकास के लिए इतनी धन-राशि बच पाती थी कि वह सर्वथा नगण्य होती थी। जिस राज्य के शासन-प्रबन्ध में स्वयं उसके शासक की कोई रुचि न रह गई हो, उसमें अव्यवस्था और अराजकता का बोलबाला होना स्वाभाविक ही था और आवश्यकता पड़ने पर कम्पनी-सरकार इस अव्यवस्था का बहाना बनाकर, प्रजा के कल्याण के लिए नहीं, बल्कि अपने और अधिक विस्तार के लिए इन राज्यों में हस्तक्षेप कर लेती

थी। प्रजा के हितों की ओर किसी का रत्ती भर भी ध्यान न था। प्रजा की दुख-भरी पुकार राजा के कानों में न पहुँच पाती थी। अत्याचार का उपचार विद्रोह भी उनकी सामर्थ्य से बाहर की बात बना दिया गया था। राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का बहाना बनाकर अँगरेज भी किनारा कर लेते थे। उनको इन राज्यों का धन चूसने के अतिरिक्त इनकी सम्पन्नता से कोई सरोकार न था। बेचारी प्रजा भारवाही पशुओं के समान दयनीय जीवन बिता रही थी।]

अँगरेजों की दृष्टि से इन सहायक संधियों ने भारतीय राज्यों को एक दूसरे से वियुक्त कर और उनकी वैदेशिक नीति पर नियन्त्रण कर शांति स्थापित कर दी थी। अँगरेजी प्रभुत्व स्थापित करने की यह निश्चिततम प्रणाली थी। इससे कम्पनी की सैन्य शक्ति भारतीय राज्यों के खर्चे पर बढ़ने लगी, भारतीय नरेशों की सैन्य शक्ति घट गई और स्वयं भारतीय राज्यों के अन्दर कम्पनी के पैर ऐसे जम गये कि अब वह स्वयं उस राज्य के नरेश को थोड़ा भी अपने विरुद्ध जाते देखकर उस पर तत्काल आघात कर सकती थी। सहायक सेना के व्यय के लिए देशी राज्यों से निश्चित आयवाले प्रदेश लेने की नीति चलाकर वेलेजली ने सहायक सेना को स्वयं उस देशी राज्य से स्वतंत्र तो किया ही साथ-साथ कम्पनी के साधनों में भी वृद्धि कर दी। सहायक संधि से बँधे इन देशी रजवाड़ों की दशा दयनीय होने के साथ-साथ हास्यास्पद भी कम नहीं है। ये बेचारे अपने खर्चे पर सेना रखें, परन्तु उसका सेनापतित्व इनके हाथ में न हो और अवसर पड़ने पर यही सेना स्वयं उनका गला धर दबाये—यह कैसी घोर विडम्बना है।

पूरे सात वर्षों तक वेलेजली भारत के किसी न किसी कोने में युद्ध चलाता रहा। उसके ये सामरिक प्रयत्न आवश्यकता के परिणाम न थे, अपितु प्रभुत्व लालसा से प्रेरित थे। उनको आवश्यकता का परिणाम तभी माना जा सकता है जब भारत में अँगरेजी राज्य के विस्तार को भी आवश्यक मान लिया जाय। अपनी [शक्ति और अपने प्रतिपक्षियों की निर्बलता से परिचित वेलेजली का आचरण उस उद्दण्ड बालक के समान था जो अपने से कमजोर बच्चों की मिठाई झपटता फिरता हो। यदि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले सिद्धान्त की दाद देना ठीक है तो कहा जा सकता है कि वेलेजली भारत में अँगरेजी साम्राज्य के संस्थापकों में से एक था। भारतीय प्रजा और भारतीय नरेशों के लिए तो वह उनकी दुर्बलता से लाभ उठाकर उनकी स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाला, उनकी आत्मा को कुचलनेवाला एक निरंकुश शासक ही था। वेलेजली के विषय में टॉमस मुनरो की यही राय थी और उसने अपने प्रशंसनीय विवरण में वेलेजली की प्रणाली की तीव्र निंदा की है। परन्तु, सत्य संभवत: यह है कि इस संसार में निर्बल के लिए कोई स्थान नहीं है।

नौवाँ अध्याय

यूरोपीय राजनीति की प्रतिक्रिया

वेलेजली के सात वर्षों के सामरिक कार्यकाल के पश्चात् सात वर्षों का शांतिपूर्ण काल आता है, जिसमें अँगरेजों ने देशी राज्यों के साथ झगड़े मोल न लेने और उनके आपसी मामलों में तटस्थ रहने तथा अपने अधिकृत प्रदेशों के शासन-प्रवन्ध में सुधार करने की नीति अपनाई। वेलेजली के पश्चात् उसका कार्यभार कॉर्नवालिस को सौंपा गया और उसको यह आदेश देकर भारत भेजा गया कि वह कम्पनी को वेलेजली के फैलाये हुए संधियों के जाल से उत्पन्न पेचीदा उत्तरदायित्वों से मुक्त करे; परन्तु इस दिशा में वह कुछ कर ही न पाया था कि उसको यमराज का बुलावा आ पहुँचा। उसकी मृत्यु के बाद से सन् १८०७ ई० में लॉर्ड मिन्ट के गवर्नर-जनरल नियुक्त होने के बीच के समय में सर जॉर्ज बार्लो को गवर्नर-जनरल का कार्य-भार सौंपा गया। लॉर्ड मिंटो १८०७ ई० से १८१३ ई० तक गवर्नर-जनरल रहा।

इस काल का प्रधान आकर्षण यूरोपीय घटनाओं की भारतीय नीति पर प्रतिक्रिया में संनिहित है। इन्हीं यूरोपीय घटनाओं ने कम्पनी को वेलेजली की अग्रगामी नीति का त्याग करने, शांतिपूर्ण नीति अपनाने और पंजाब, सिंध, अफगानिस्तान एवं फारस जैसे उत्तर-पश्चिम की ओर के राज्यों पर ध्यान देने के लिए बाध्य किया। भारतीय सीमा के भीतर कम्पनी अपने आज तक के अधिकृत प्रदेशों को बनाये रखने, अपनी राज्य-सीमा को चारों ओर से मित्र-राज्यों की बाड़ खड़ी कर सुरक्षित करने तक ही संतुष्ट दिखाई देती थी; अन्य प्रदेशों की उसे जैसे कोई चिन्ता न थी। मध्य भारत के छोटे-छोटे रजवाड़े, जो पहले संरक्षण का आश्वासन देकर मराठा राज्यों के विरुद्ध उठने के लिए उकसाये गये थे, अब सिंधिया और होल्कर को सौंप दिये गये। सहायक सेनाओं की स्थापना के फलस्वरूप देशी राज्यों की जो सेनाएँ भंग की गई थीं, उनके बेकार सिपाही अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल सरदारों के अधीन गिरोह बनाकर इधर-उधर लूट-खसोट की ताक में घूमते-फिरते रहे थे; ये लोग लूट-खसोट को जीविकोपार्जन का न्यायो-

चित उपाय समझते थे। इस सारी अव्यवस्था और अराजकता को, जो स्वयं अँगरेजों के पिछले कारनामों का फल थी, मिटाने का इस समय उनको अवकाश ही कहाँ था! उनकी आँखें तो उत्तर-पश्चिम की ओर गड़ी हुई थीं, क्योंकि १८०७ ई० में टिल्सिट की संधि एवं नैपोलियन और रूस के जार ऐलेक्जेंडर की व्यक्तिगत मैत्री के कारण इस दिशा से भारत पर फ्रांस और रूस के सम्मिलित आक्रमण की आशंका उत्पन्न हो गई थी।

तब नैपोलियन का प्रताप-सूर्य चढ़ता जा रहा था। वह यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र से, जो भी उसके मार्ग में पड़ा था, टक्कर लेकर उसको जमीन दिखा चुका था, अपने विरुद्ध संघटित सभी गुटों को छिन्न-भिन्न कर चुका था और कहा जा रहा था कि अब वह भारत में इँगलैंड को चारों कोने चित्त करने के स्वप्न देख रहा था। नैपोलियन के इसी स्वप्न ने वेलेजली को विजय-यात्रा के लिए तत्पर किया था और अब यही स्वप्न कम्पनी को भारत में शांतिपूर्ण नीति अपनाने के लिए बाध्य कर रहा था, क्योंकि रूस के साथ फ्रांस का गठबन्धन हो जाने से उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्ग से भारत पर फ्रांस के अभियान की संभावना बहुत बढ़ गई थी।

इस नई दिशा से आनेवाले इस भय ने लॉर्ड मिन्टो को भारत में कम्पनी के प्रदेशों एवं रूस की सीमा के बीच में स्थित राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपने राजदूतों के दल भेजने पर विवश किया। ये राज्य थे पंजाब, जिस पर रणजीतसिंह की अधीनता में सिक्खों का शासन था, अफगानिस्तान, सिन्ध और फारस। इन राज्यों के प्रति लॉर्ड मिन्टो के समय में जो आंग्ल-भारतीय (एंग्लो इंडियन) नीति निर्धारित की गई उसका उद्देश्य इन राज्यों को रूस और कम्पनी की राज्य-सीमा के बीच तटस्थ राज्य बनाने का था। यह नीति समय-समय पर कैस्पियन सागर तथा वक्षु (ऑक्सस) नदी के समीपवर्ती इन प्रदेशों में घटनाओं के उतार-चढ़ाव और लन्दन तथा मास्को के सम्बन्धों में परिवर्तनों के अनुरूप कभी व्यग्र तत्परता के रूप में सक्रिय हुई तो कभी गहरी नींद में डोलती रही।

काबुल और फारस में राजदूत—फारस के शाह और रूस के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। शाह को १८०४-५ ई० के युद्ध में भारी क्षति उठानी पड़ी थी और उसने नैपोलियन एवं कलकत्ते में कम्पनी-सरकार दोनों से सहायता की प्रार्थना की थी। परन्तु तब भारतीय सरकार को फारस की मित्रता से कोई लाभ न था। उधर फ्रांस की सरकार ने तत्काल उसकी प्रार्थना पर ध्यान देते हुए सहायता का वचन देने के लिए तेहरान में अपने राजदूत भेज दिये। परन्तु टिल्सिट

की संधि से स्थिति बदल गई। अब कम्पनी-सरकार भारत पर स्थल-मार्ग से फ्रांस-रूसी आक्रमण की स्थिति में फारस के शाह के सहयोग की अभिलाषा करने लगी। फ्रांस और रूस के गठबन्धन से फारस का शाह भयभीत हो उठा था; अतः उसने अँगरेज राजदूतों के सुझावों को तत्काल स्वीकार कर लिया। १८०९ ई० में तेहरान में संधि की गई, जिसके अनुसार अँगरेजों ने अकारण आक्रमण किये जाने पर शाह की सहायता का वचन दिया और शाह ने अपने राज्य से फ्रांसीसियों को निकाल बाहर करना तथा अपने राज्य में से होकर फ्रांस-रूस की सेनाओं को न जाने देना स्वीकार किया।

१८०९ ई० में माउंट स्टुअर्ट ऐलफिस्टन की अध्यक्षता में काबुल में भी राजनीतिक वार्ता के लिए एक दल भेजा गया, परन्तु यह असामयिक सिद्ध हुआ और इससे कोई राजनीतिक महत्त्व का परिणाम न निकला। ऐलफिस्टन ने अफगानिस्तान में आंतरिक कलह व्याप्त देखा, जिसका परिणाम शाहशुजा की पराजय और निर्वासन हुआ। इस दल से एक लाभ अवश्य हुआ कि इस देश के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें मालूम हुई जिनको ऐलफिस्टन ने 'ऐन एकाउंट ऑफ दि किंगडम ऑफ काबुल' नामक एक उपयोगी पुस्तक में संगृहीत किया है।

रणजीतसिंह के दरबार में—मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ-साथ पंजाब में सिक्खों का अभ्युदय हुआ, जिनको महाराज रणजीतसिंह के रूप में एक शक्तिशाली शासक प्राप्त हुआ? 'सिक्ख' शब्द 'शिष्य' का अपभ्रंश रूप है; गुरु नानकदेव ने अपने अनुयायियों को यह नाम दिया था। गुरु नानकदेव सिक्खों के प्रथम गुरु थे; इन्होंने सिक्खों को वह धर्म प्रदान किया जो इनके धर्म-ग्रन्थ "आदि ग्रन्थ" में निबद्ध है। इनके दशम एवं अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने इनको एक धार्मिक सम्प्रदाय मात्र से उठाकर एक सैनिक जाति के रूप में संघटित किया। गोविन्दसिंह तब केवल पन्द्रह वर्ष के बालक थे जब धर्मान्ध औरंगजेब ने उनके पिता को अमानुषिक यातनाएँ देकर मार डाला था। इस घटना का गोविन्दसिंह पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनके मन में मुसलमानों के प्रति तीव्र घृणा एवं उनसे अपने पिता के प्राणों का प्रतिशोध लेने की उग्र भावना बद्धमूल हो गई। आत्मरक्षा के लिए उन्होंने अपने अनुयायियों को सैनिक जाति के रूप में संघटित किया। १७०८ ई० में गुरु गोविन्दसिंह ने आँखें मूँद लीं; उनका स्वभावसिद्ध शत्रु औरंगजेब भी ठीक इसी समय चल बसा। नादिरशाह एवं अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमणों ने केन्द्रीय राजसत्ता को इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था कि पंजाब बड़ी आसानी से सिक्खों के हाथ में चला गया। इस समय के लगभग सिक्ख-शासन बारह 'मिस्लों' अथवा 'संघ-राज्यों' में विभक्त था; प्रत्येक 'मिस्ल' का

अपना सरदार था और इन 'मिस्लों' में मुसलमानों के प्रति घृणा-भाव की समानता के अतिरिक्त अन्य कोई संघटनकारिणी वृत्ति न थी।

रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० ई० में हुआ। उसका पिता महासिंह सुकेरचकिया मिस्ल का सरदार था। वह १७९१ ई० में अपनी मिस्ल का शासन-भार अपने बारह वर्ष के पुत्र रणजीतसिंह पर छोड़कर चल बसा। रणजीतसिंह ने अल्प काल में ही एक महान् व्यक्ति एवं शासक के गुण प्रकट किये। उसने अपनी सेना को संघटित किया और विभिन्न मिस्लों को विजयों, विवाह-सम्बन्धों अथवा कूटनीतिक चालों से अपने अधीन कर लिया। जिस समय लॉर्ड मिन्टो ने भारत में गवर्नर-जनरल का पद-भार सँभाला, उस समय तक रणजीतसिंह सिक्खों का निर्विवाद अधिनायक बन चुका था; लाहौर उसकी राजधानी थी।

सिक्खों की उभरती हुई राज-शक्ति की ओर अँगरेजों का ध्यान सबसे पहले तब गया जब १८०४ ई० में फतेहगढ़ के युद्ध में हार कर होल्कर पंजाब की ओर भागा था। रणजीत सिंह होल्कर की सहायता करना चाहता था परन्तु उसके परामर्शदाताओं को अँगरेजों के साथ झड़प होने का भय था; अतः उन्होंने रणजीत-सिंह को होल्कर की सहायता करने से रोक दिया। होल्कर के साथ संधि होते ही अँगरेजों का रणजीतसिंह के कार्यों के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। सन् १८०६ ई० तक रणजीतसिंह सतलज नदी तक सारे पंजाब पर आधिपत्य स्थापित कर चुका था। अब वह पटियाला, नाभा और झिंद की चिस-सतलज रियासतों को ललचाई निगाह से देख रहा था। झिंद और पटियाला के एक झगड़े में झिंद के राजा से आमन्त्रण पाकर रणजीतसिंह ने सन् १८०६ में सतलज नदी पार की और इन दोनों रियासतों पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। चिस-सतलज रियासतों को अपने अधिकारलिप्सु पड़ोसी के हाथों अपनी समाप्ति का भय सताने लगा। उन्होंने अँगरेजों से संरक्षण की प्रार्थना की। दिल्ली के अँगरेज रेजीडेंट सर चार्ल्स मेटकाफ ने इन रियासतों को पूरी-पूरी आशा बँधाई, क्योंकि अँगरेज भी इन राज्यों को अपने और रणजीतसिंह के राज्य के बीच में तटस्थ राज्य बनाना चाहते थे। टिल्सिट की संधि के बाद भारत पर फ्रांस और रूस के सम्मिलित अभि-यान की अफवाहों से स्थिति ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया था। अँगरेज चाहते थे कि चिस-सतलज रियासतों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ रणजीत-सिंह को भी रुष्ट न किया जाये; क्योंकि रुष्ट हो जाने पर उसका फ्रांस या रूस से जा मिलने का भय था। लॉर्ड मिन्टो ने सर चार्ल्स मेटकाफ को रणजीतसिंह के साथ अँगरेजों की मित्रता स्थापित करने के साथ-साथ चिस-सतलज रियासतों को सुरक्षित करने का गुरुतर कार्य सम्पन्न करने के लिए भेजा। सर चार्ल्स मेटकाफ

ने सितम्बर के महीने में रणजीतसिंह से कसूर में भेंट की और उसके सामने फ्रांस के विरुद्ध अँगरेजों के साथ रक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक संधि करने का प्रस्ताव रखा। रणजीतसिंह ने इस प्रकार की मित्रता के लिए बहुत उत्सुकता प्रकट की, परन्तु यह भी माँग की कि अँगरेज उसके कार्यों में टाँग न अड़ायें और चिस-सतलज रियासतों पर उसका प्रभुत्व स्वीकार करें। मेटकाफ को रणजीतसिंह की इन माँगों को स्वीकार करने का अधिकार न था और उसने रणजीतसिंह से यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस विषय में कलकत्ते में कम्पनी के अधिकारियों के साथ लिखा-पढ़ी करने से भी कोई लाभ न होगा। रणजीतसिंह अँगरेजों की चाल भाँप गया और अपना शिविर उठा कर उसने अँगरेजों के भयों से, जब तक वे बने हुए थे, लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। विद्युत्-गति से उसने चिस-सतलज रियासतों का जितना भाग वह जीत सकता था जीत लिया; मेटकाफ भी इस बीच संधि के विषय में उसके अनुकूल प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में उसके पीछे-पीछे चलता जा रहा था। इसी बीच फ्रांस-रूस के सम्मिलित अभियान का भय स्पेन के विप्लव के नीचे दब गया, जिससे लॉर्ड मिन्टो अधिक साहसपूर्ण कदम उठाने के योग्य हो गया। जनरल ऑक्टरलोनी रणजीतसिंह को अँगरेजों के मंतव्य की दृढ़ता का परिचय देने के लिए एक सेना लेकर सतलज प्रदेश में आ पहुँचा, रणजीतसिंह अँगरेजों के साथ युद्ध करना न चाहता था। उसने अँगरेजों के कार्यों की घोर निंदा की और उन पर अपनी योजनाओं में बाधा डालने का दोष लगाया। परन्तु अन्त में अप्रैल सन् १८०९ ई० में अमृतसर की संधि हो गई, जिसके अनुसार सतलज नदी सिक्ख-राज्य की दक्षिणी सीमा घोषित की गई, दोनों पक्षों ने परस्पर शांति बनाये रखना और एक दूसरे की राज्य-सीमा का सम्मान करना स्वीकार किया। इसी के साथ-साथ एक घोषणा द्वारा चिस-सतलज रियासतों को अँगरेजों के संरक्षण का आश्वासन दिया गया।

रणजीतसिंह के साथ मिन्टो की नीति हस्तक्षेप न करने की नीति अवश्य थी, परन्तु यह पूर्णतया सफल हुई। रणजीतसिंह ने मृत्युपर्यन्त अपना वचन निभाया। उसने अपनी वाहिनी का मुख काबुल और सिंध की ओर मोड़ा, परन्तु अपने जीवन में उसने फिर कभी सतलज को पार करने की चेष्टा न की।

लॉर्ड मिन्टो के कार्य-काल के प्रारम्भिक दिनों की व्यग्रतापूर्ण कूटनीतिक भाग-दौड़ का एकमात्र स्थायी परिणाम अमृतसर की संधि ही था, जिसके द्वारा कम्पनी की राज्य-सीमा सतलज तक पहुँच गई। स्पेन में विप्लव और रूस पर नैपोलियन के अभियान की तैयारियों से वह भय बिलकुल जाता रहा जो टिल्सिट की संधि से पैदा हुआ था। इस भय के समाप्त होते ही अँगरेजों का उत्तर-पश्चिम

के राज्यों के प्रति आकर्षण भी समाप्त हो गया। फिर बीस वर्ष के बाद इस ओर अँगरेजों का ध्यान जाने लगा, जिसका परिणाम प्रथम अफ़गान-युद्ध हुआ।

फ्रांसीसी बस्तियों पर अधिकार—यूरोप में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष का एक परिणाम यह हुआ कि सामुद्रिक यातायात के मार्ग में पड़नेवाले फ्रांसीसियों के अड्डे और उनके अधीन प्रदेश, विशेषतया पूर्व में डच बस्तियाँ विजय की गईं। इन विजयों में लॉर्ड मिन्टो की सरकार ने सक्रिय भाग लिया और धन-जन से सहायता पहुँचाई। १८०९ ई० में रोड्रीग्वेक्स का टापू अँगरेजों के हाथ लगा और १८१० ई० में वोर्वन और मारीशस के टापू भी अँगरेजों ने जीत लिये। इनसे भी अधिक लाभ-प्रद मसालों के टापुओं में डचों की बस्तियों तथा जावा का हाथ आना था जो १८१० ई० में विजय किये गये। इनमें से अधिकतर प्रदेश नैपोलियन की पराजय के पश्चात् की गई संधि द्वारा इनके भूतपूर्व स्वामियों को लौटा दिये गये।

आंतरिक व्यवस्था—लॉर्ड मिन्टो उत्तर-पश्चिम की ओर से फ्रांस-रूस के सम्मिलित अभियान की आशंका समाप्त करने के प्रयत्नों में इतना व्यस्त रहा कि कम्पनी और भारतीय सीमा के अन्तर्गत देशी राज्यों के मामलों की ओर ध्यान देने का उसको थोड़ा भी अवकाश न मिला। देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसका उद्देश्य शांति बनाये रखने का था, परन्तु उसकी नीति निश्चित रूप से हस्तक्षेप न करने की थी। हम देख ही चुके हैं कि रणजीतसिंह और चिस-सतलज रियासतों के मामलों में उसने किस प्रकार टाँग अड़ाई थी। मिन्टो के समय में देशी राज्य मोटे तौर पर तीन प्रकार के थे—(१) अवध, हैदराबाद, पेशवा और मैसूर जैसे सहायक संधि से बँधे राज्य; ये राज्य अँगरेजों के साथ 'सहायक संधि' द्वारा सम्बद्ध थे और अपने संरक्षण के लिए कम्पनी को कीमत चुकाते थे; (२) बूँदी, कोटा इत्यादि छोटे-छोटे राज्य जो कम्पनी के संरक्षण में थे, परन्तु संरक्षण के बदले में उनसे कोई प्राप्ति न होती थी; और (३) सिंधिया, होल्कर, भोंसले के से राज्य थे जो अँगरेजों के समकक्ष थे और अभी तक 'सहायक संधि' के क्षेत्र से बाहर थे। मिन्टो की नीति इन तीसरी श्रेणी के राज्यों पर शत्रुता न उभाड़ते हुए, सतर्क दृष्टि रखने एवं प्रथम और द्वितीय श्रेणी के राज्यों को दिये आश्वासनों के अनुसार उनकी रक्षा करने की थी। जब कभी कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों अथवा उसकी समृद्धि के लिए कोई भी भय उत्पन्न हुआ, मिन्टो ने उसका प्रतिकार करने में कभी थोड़ा भी विलम्ब नहीं किया। अपने कार्य-काल के प्रारम्भिक दिनों में ही उसका ध्यान बुंदेलखण्ड के राज्यों की, जो द्वितीय मराठा युद्ध के पश्चात् कम्पनी के राज्य में मिला लिया गया था, अव्यवस्था की ओर आकर्षित हो चुका था। यहाँ अनेक ऐसे छोटे-छोटे रजवाड़े थे जो किसी भी प्रकार अपनी व्यवस्था न कर पाते थे

और यदि ये अँगरेजी संरक्षण में न होते तो इनका अस्तित्व मिट ही गया होता। ये रजवाड़े परस्पर लड़ते रहते थे और अजयगढ़ एवं कालिंजर के शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप इनमें अँगरेजों के प्रति असन्तोष की भावना बढ़ती जा रही थी। बाह्य आक्रमण एवं अमीर खाँ और चीतू के नापकत्व में लूटपाट मचाते घूमते हुए पिंडारियों के भय से लार्ड मिन्टो इन राज्यों में फैलते हुए भयंकर विद्रोहात्मक भावों को कुचलने के लिए बाध्य हुआ। उसने बुंदेलखंड में एक सेना भेज कर वहाँ की हलचलों को दबाया, अजयगढ़ और कालिंजर के दुर्ग छीन लिये। इस प्रकार बुंदेलखंड की जनता को जता दिया कि अभी अँगरेज शक्ति मरी नहीं है।

ऐसी ही तत्परता उसने तब भी प्रदर्शित की जब पठान सरदार अमीर खाँ नागपुर पर यह बहाना लेकर चढ़ बैठा कि होल्कर के कुछ जवाहरात, जो होल्कर ने अमीर खाँ को भेंट किये थे, भोंसले ने हस्तगत कर लिये हैं और वह उन जवाहरातों को भोंसले से प्राप्त करना चाहता है। होल्कर और अमीर खाँ में बड़ी गहरी छनती थी। मिन्टो ने तत्काल एक सेना अमीर खाँ को रोकने के लिए भेज दी और अमीर खाँ को चेता दिया कि यदि उसने भोंसला राजा के प्रदेशों पर आक्रमण किया तो उसके विरुद्ध बल का प्रयोग किया जायगा। नागपुर के राजा की रक्षा के लिए अँगरेज किसी भी संधि से बँधे नहीं थे। अमीर खाँ ने मिन्टो की चेतावनियों का बहुत विरोध किया, परन्तु मिन्टो ने उसकी एक न सुनी। जान पड़ता था कि लड़ाई ठन कर ही रहेगी, परन्तु तभी अमीर खाँ लौट चला। इस प्रकार अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेने पर मिन्टो पुनः अपने सुरक्षित घेरे में लौट आया। उसका अमीर खाँ को रोकने का यह कार्य पूर्णतया स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित हुआ था। होल्कर के मित्र अमीर खाँ के हाथों भोंसला राजा की पराजय से महाराष्ट्र में शक्ति-संतुलन समाप्त हो गया होता और होल्कर की शक्ति इतनी बढ़ गई होती कि उससे भय उत्पन्न हो गया होता।

इस काल में राजपूताना की छोटी-छोटी रियासतों के प्रति अँगरेजों की नीति को विश्वासघात बताकर उसकी कड़ी आलोचना की गई है। ये राज्य, जो मुसलमान शक्ति के तूफान को सफलतापूर्वक झेल चुके थे और जहाँ मध्यकालीन संस्कृति का लालन-पालन हुआ था, अब अपने पैरों पर खड़े होने में भी असमर्थ थे। मराठों के उत्तर भारत की ओर फैलने पर, राजपूताना के ये राज्य सिंधिया और होल्कर की आखेट-भूमि बन गये थे और इन दोनों मराठा सरदारों के प्रभाव-क्षेत्र की सीमा-रेखा निश्चित न होने के कारण, ये राज्य प्रायः इन दोनों सरदारों के घोर संग्राम का कारण भी बन जाते थे। आत्म-रक्षा के विचार से ये राज्य अँगरेजों के चढ़ते हुए प्रताप-सूर्य की ओर ढलने लगे और वेलेजली ने द्वितीय मराठा-युद्ध के समय

सिंधिया की पीठ में छुरा भोंकने और अपने हित-साधन के लिए, अँगरेजी राज्य के सुरक्षार्थ उत्कंठित वर्ग खड़े करने के उद्देश्य से इन राज्यों को अपने संरक्षण में ले लिया था। परन्तु लंदन के व्यापारी इस उत्तरदायित्व की वृद्धि से बहुत डर रहे थे; और विशेषतया इसलिए भी वे इस उत्तरदायित्व से घबड़ा रहे थे क्योंकि राजपूताना के रेगिस्तान से पौंड, शिलिंग, पेंस के रूप में थोड़े भी लाभ की आशा न थी। अतः जैसा हम पीछे देख चुके हैं, सर जॉर्ज बार्लो ने इन राज्यों को मराठा सरदारों के हाथ सौंप दिया था और इन राज्यों के प्रति उनके व्यवहार में हस्तक्षेप न करने का भी वचन दिया था। बार्लो का यह कार्य घोर विश्वासघात का एक उदाहरण था, क्योंकि ये राजपूत राज्य वेलेजली के युद्धों में सहायता पहुँचाते रहे थे और अब उनको सिंधिया तथा होल्कर के प्रतिशोध का शिकार बना दिया गया था। इन राज्यों के साथ अँगरेजों का यह व्यवहार उद्देश्यहीन न था; इससे अँगरेजी सेनाओं का उत्तरदायित्व कम हो गया, अँगरेजों के प्रति सिंधिया और होल्कर की कटु भावनाएँ बहुत कुछ शांत हो गईं और ये राज्य उनके बीच में झगड़े का ऐसा विषय बन गये कि पारस्परिक झगड़ों में फँसकर उनकी शक्ति भी क्षीण होती रहे और उन्हें अँगरेजों की ओर ध्यान देने का भी समय न मिल पावे। इन राज्यों के सम्बन्ध में मिन्टो ने भी अपने पूर्वगामियों की तटस्थ नीति का पालन किया।

त्रावनकोर में विद्रोह (दिसम्बर १८०८)—इन सब झंझटों से कहीं अधिक गम्भीर चिन्ताजनक था सहायक संधि से बँधे हुए त्रावनकोर राज्य का स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करना। त्रावनकोर के दीवान वेलू ताम्पी और अँगरेज रेजीडेन्ट में बहुत तनातनी चल रही थी; रेजीडेन्ट के निरन्तर हस्तक्षेप और अधिकार जताने की चेष्टाओं से दीवान तंग आ गया था। वेलू ताम्पी ने प्रजा के नाम एक घोषणा प्रचारित की, जिसमें उनको अँगरेजों के अत्याचारों से अपने धर्म की रक्षा के लिए हथियार उठाने का आह्वान किया गया था। यह भावना इतनी उग्र थी कि नय्यर लोग एक होकर अँगरेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। उन्होंने रेजीडेन्ट के निवास-स्थान पर आक्रमण कर दिया; वह बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचा कर भाग सका; कुछ यूरोपीय सैनिकों को भी उन्होंने मार डाला। इस विप्लव को दबाने के लिए एक सेना त्रावनकोर राज्य में भेजी गई जिसने विप्लव को दबा दिया। वेलू ताम्पी ने आत्महत्या कर ली और सन् १८०५ ई० की संधि की शर्तों के अनुसार कुशासन के आधार पर कोचीन सहित त्रावनकोर का शासन कम्पनी सरकार ने कुछ समय के लिए अपने हाथ में ले लिया।

मद्रास के अधिकारियों का विद्रोह—इससे भी अधिक भयंकर मद्रास की

सेना के अँगरेज अधिकारियों का विद्रोह था। इसका कारण यह था कि मद्रास के तत्कालीन गवर्नर सर जॉर्ज वार्लो ने इँगलैंड से आदेश पाकर कुछ चीजों को ठेके पर चढ़ाना वन्द कर दिया था। इससे सैनिक अधिकारियों में वहुत असंतोष उत्पन्न हो गया और श्रीरंगपट्टम् में खुल्लमखुल्ला युद्ध प्रारंभ हो गया। लॉर्ड मिन्टो ने तत्काल घटनास्थल की ओर प्रयाण किया, परन्तु उसके पहुँचने से पहले ही स्थिति काबू में लाई जा चुकी थी।

कम्पनी के अधिकार-पत्र की पुनः स्वीकृति---१८१३ ई० की विधि (एक्ट) पूर्वी व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार को लेकर पार्लियामेंट में अनेक वार वाद-विवाद चल चुका था और प्रायः इसके विरुद्ध प्रस्ताव रखे जा रहे थे। व्यावसायिक क्रांति और ऐंडम स्मिथ एवं उसके अनुयायियों द्वारा स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त के प्रचार से यह एकाधिकार सिद्धान्त-विरुद्ध वात हो गई थी। १८०८ ई० में पार्लियामेंट ने कम्पनी के कार्यों की जाँच के लिए 'हाउस ऑफ कॉमन्स' की एक समिति नियुक्त की। इस समिति के परिश्रम के परिणामस्वरूप १८१२ ई० में 'पाँचवीं रिपोर्ट' प्रकाशित हुई। १८१३ ई० में कम्पनी का अधिकार-पत्र पुनः अगले वीस वर्षों के लिए मंजूर किया गया, परन्तु भारतीय व्यापार पर इसका एकाधिकार छीन लिया गया, यद्यपि चीन के साथ अधिकांश में चाय और अफीम के व्यापार पर इसका एकाधिकार जारी रहा। १८१३ ई० की यह विधि (ऐक्ट) इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें पहले-पहल भारतीय प्रजा की शिक्षा की व्यवस्था की गई। इस विधि में यह निश्चय किया गया कि शिक्षा के प्रसार के लिए प्रति वर्ष १ लाख रुपये की रकम अलग जमा कर दी जाये। १८१३ ई० से पूर्व कम्पनी शिक्षा की व्यवस्था करना अपना कर्तव्य न मानती थी। अव पहले-पहल इसने अपने इस चिर-विस्मृत कर्तव्य की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। भारत में धर्म-प्रचारक दलों के प्रवेश के प्रश्न पर वहुत गरमागरम वहस हुई और आखिरकार उनका प्रवेश प्रमाण-पत्रों द्वारा नियन्त्रित करने का निश्चय किया गया। यूरोपीय लोगों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम्पनी के खर्चे से एक बिशप (प्रधान पुरोहित) और तीन उप-प्रधान पुरोहित (आर्कडेकन्स) नियुक्त किये जाने का निश्चय किया गया। धार्मिक संस्थाओं इत्यादि का संरक्षण कम्पनी को सौंपा गया और अन्य वातों में पुरानी परिपाटी चलने दी गई।

१८१३ ई० की इस विधि (ऐंक्ट) का महत्त्व इस वात में है कि इसमें भारतीय प्रजा की शिक्षा की व्यवस्था की गई और कम्पनी का भारतीय व्यापार का एकाधिकार भंग किया गया। अब भारत में कम्पनी उन विभिन्न व्यापारिक दलों में से एक बन गई जो भारतीय व्यापार के लिए प्रतिस्पर्धा करते थे। अब

अँगरेजी पूँजी और उद्योग भारत में स्वतन्त्र रूप से प्रवेश पाने लगे, जिससे भारतीय व्यवसाय दिन प्रतिदिन समाप्त होने लगे, क्योंकि मशीन के बने माल के सामने वे टिक न पाते थे। भारतीय व्यवसायों के इस विनाश से भारत की आर्थिक स्थिति का दुहरा विनाश हुआ, क्योंकि भारतीय व्यापार के लाभ की सारी रकम भारत की सीमा में न रहकर इँगलैंड पहुँचती थी। लगभग इसी समय से भारतीय उद्योग-धन्धों का विनाश, कृषि पर अधिकाधिक निर्भरता और परिणामतः जनता की निर्धनता का प्रारम्भ होता है।

लॉर्ड मिन्टो के कार्यों का मूल्यांकन—मिन्टो ने जब ५६ वर्ष की अवस्था में भारत के गवर्नर-जनरल का पद सँभाला, तब वह भारतीय समस्याओं से अपरिचित न था। 'नियामक समिति' (बोर्ड ऑफ कंट्रोल) के प्रधान के रूप में वह भारतीय परिस्थितियों का अनुभव प्राप्त कर चुका था। उसके शासन का प्रधान कार्य फ्रांस-रूसी अभियान के भय को मिटाना और भारतीय उलझनों से कम्पनी को मुक्त करना था। उसकी नीति न तो तटस्थता की थी और न प्रत्यक्ष आक्रमण की। स्कॉटलैंड में जन्म लेने के कारण, वह वहाँ के स्वभावानुकूल मध्य-मार्ग पसन्द करता था और इसी का उसने अनुसरण भी किया। जब उसने गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण किया, तब कम्पनी का कोष खाली पड़ा था और वह ऋण के भार से दबी हुई थी। उसने कम्पनी की आर्थिक दशा को इतना सुदृढ़ बना कर छोड़ा कि उसके बाद हेस्टिंग्स, वेलेजली की युद्धात्मक नीति को पुनः चला सका। नैपोलियन के युद्धों की चकाचौंध, स्पेन में राष्ट्रीय विप्लव, रूस से नैपोलियन का विनाशपूर्ण प्रत्यागमन—इन सब घटनाओं ने इस चतुर स्कॉट-स्मैन (मिन्टो) की ओर संसार को ध्यान देने का अवकाश न दिया, जो केवल प्राप्त किये हुए की रक्षा के लिए ही उद्योग कर रहा था और इस उद्योग में वह पूर्णतया सफल भी हुआ।

दसवाँ अध्याय

आक्रामक नीति का पुनः प्रयोग

१८१३-१८२८ ई०

सन् १८१२ ई० में नैपोलियन के मास्को से विनाशपूर्ण प्रत्यावर्तन और १८१३ ई० में लाइजिग की लड़ाई में—जो 'राष्ट्रों की लड़ाई' ('बैट्ल ऑफ् नेशन्स') के नाम से प्रसिद्ध है—उसकी पराजय से, इँगलैंड को फिर से भारत में अपनी युद्ध और राज्य-विस्तार की नीति अपनाने की छुट्टी मिल गई। १८१३ ई० में लॉर्ड मिन्टो के त्याग-पत्र देने के बाद मॉयरा का अर्ल (अमीर) जो 'मार्क्विस आफ् हेस्टिंग्स' नाम से अधिक प्रसिद्ध है, तत्कालीन युवराज प्रतिनिधि (प्रिन्स रीजेंट) बाद में चतुर्थ जॉर्ज, की सिफारिश पर गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ; मॉयरा के अर्ल ने १८१२ ई० के मंत्रिमंडलीय संकट में युवराज-प्रतिनिधि की बहुत राजनीतिक सेवा की थी। अमेरिका के स्वातन्त्र्य-संग्राम के अवसर पर वह सेना में कार्य कर चुका था और पार्लियामेंट का सदस्य भी रह चुका था; पार्लियामेंट में उसने वेलेजली की आक्रामक नीति का घोर विरोध किया था। परन्तु गवर्नर-जनरल के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात् इसी हेस्टिंग्स ने ब्रिटिश सरकार के प्रभुत्व-विस्तार की नीति अपनाई। शीघ्र ही उसे ज्ञात हो गया कि उसके सामने सात ऐसे झगड़े उपस्थित हैं, जो तलवार के जोर से ही सुलझ सकते हैं। भारत की तत्कालीन स्थिति किसी प्रकार भी संतोषजनक न थी। मराठा सरदार पराजित अवश्य हुए थे, परन्तु वे कुचले न जा सके थे। सिंधिया, होल्कर और भोंसले ने लॉर्ड मिन्टो के सात वर्ष के शांतिपूर्ण कार्य-काल से लाभ उठाकर अपनी-अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और अब वे ब्रिटिश शक्ति से अंतिम टक्कर लेने के लिए सन्नद्ध हो गये थे। पेशवा भी 'सहायक संधि' के नियन्त्रणों से तंग आ चुका था और इसके प्रति उसका असंतोष गहरा होता जा रहा था। मध्य भारत में अव्यवस्था एक संक्रामक रोग के समान फैलती जा रही थी। पिंडारियों के उपद्रवों ने वहाँ की दशा और भी शोचनीय बना दी थी। चारों ओर अँगरेजों के प्रति शत्रुभाव बढ़ता दिखाई दे रहा था। भारतीय सीमा के बाहर उत्तर की ओर से

गोरखों और पूरव की ओर से वर्मियों की वढ़ती हुई शक्ति भय उत्पन्न कर रही थी और आशंका हो रही थी कि यदि इनको शीघ्र न रोका गया तो ये अँगरेजी राज्य की नींव हिला देंगे।

शस्त्रों के वल पर बढ़नेवाली साम्राज्यवाद की नीति का सदैव यह एक महान् अनर्थकारी दोष रहा है कि दूसरों की स्वतन्त्रता का वलपूर्वक हरण कर वह शत्रुता के ऐसे बीज बो देती है जो युद्धों की परम्परा के रूप में फलते हैं और शान यह है कि साम्राज्यवादी शक्ति उन राज्यों के विरुद्ध, जो अपने खोये हुए अधिकारों और प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के लिए शस्त्र उठाते हैं, अपने युद्धों को रक्षात्मक युद्ध कहकर प्रसिद्ध करती है। हेस्टिंग्स ने जो युद्ध लड़े, उनके वीज वेलेजली के युद्ध वो चुके थे।

नेपाल के साथ युद्ध (१८१४–१६ ई०)—इससे पहले कि हेस्टिंग्स मराठों की स्वातंत्र्य भावना को हमेशा के लिए कुचल डालने की तैयारियों को पूर्ण कर पाता, उसको हिमालय के अंतर्वर्ती प्रदेश में गोरखों और नेपाल-राज्य के प्रतिदिन बढ़ते हुए विस्तार की ओर ध्यान देना पड़ा।

१८०१ ई० में अवध के नवाव वजीर से गोरखपुर प्राप्त कर लेने पर अँगरेजी राज्य नेपाल-राज्य के सम्पर्क में आ गया। नेपाल के आदिवासियों के विषय में अधिक ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। चौदहवीं शताब्दी में नेवार जाति ने इस देश पर अधिकार जमा कर इसकी घाटियों में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। इन राज्यों के निरन्तर पारस्परिक युद्धों के फलस्वरूप गोरखों ने इन सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और उनके शासक पृथ्वीनारायण ने १७६७ ई० में अपने राज-वंश की प्रतिष्ठा की। सुशिक्षित सैन्य-वल के कारण गोरखा-राज्य तीव्र वेग से वढ़ने लगा। बढ़ते-बढ़ते इसका विस्तार पूर्व में सिक्किम तथा पश्चिम में सतलज नदी तक हो गया।

कम्पनी ने वहुत पहले गोरखा राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की थी, परन्तु इसमें उसे अधिक सफलता न मिली थी। १७९२ ई० में फिलपैट्रिक और १८०२ ई० में कर्नल नॉक्स इस कार्य के लिए नेपाल भेजे गये थे, परन्तु उनके प्रयत्नों का कोई फल न निकला और नेपाल अँगरेजों के सम्पर्क से दूर एक रहस्यमय देश वना रहा।

गोरखा-युद्ध के कारण—गोरखा-युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी सामग्री उपलब्ध होती है, वह सब अँगरेजों के वर्णनों से प्राप्त होती है; अतः इसका एकपक्षीय होना स्वाभाविक ही है। इन वर्णनों में गोरखों को आक्रात्मक बता कर इस युद्ध को रक्षात्मक युद्ध कहा गया है। गोरखों के साथ अँगरेजों

क सीमा-सम्बन्धी झगड़े १८०१ ई० से प्रारम्भ हो गये थे, जब गोरखपुर के अँगरेजी राज्य में मिला लिये जाने से अँगरेजों की राज्य-सीमा नेपाल के साथ जा मिली थी। कम्पनी की राज्य-सीमा को उन प्रदेशों की ओर बढ़ते हुए देखकर, जिनको वे अपने लिए महत्त्वपूर्ण प्रदेश समझते थे, गोरखों का चौकन्ना होना स्वाभाविक ही था। नेपाल और कम्पनी की राज्य-सीमा के सुनिश्चित न होने के कारण समस्या बहुत पेचीदा हो गई थी। तराई-प्रदेश में नेपाल के प्रत्येक बढ़ते हुए कदम को कम्पनी अपने राज्य पर नेपाल का हस्तक्षेप समझती थी। दूसरी ओर गोरखे लोग कम्पनी के विरोध को अपने न्यायोचित विस्तार के प्रति कम्पनी का खुल्लमखुल्ला नियन्त्रण का प्रयत्न समझते थे। परन्तु लॉर्ड मिन्टो के समय तक अँगरेजों ने बहुत दबी जबान में और यदा-कदा ही विरोध किया था, क्योंकि तब तक वे गोरखों की प्रबल शक्ति से टक्कर लेने का साहस न कर पाये थे; युद्धों में गोरखों के पराक्रम के विषय में उनको पर्याप्त ज्ञान था। लॉर्ड मिन्टो के समय में गोरखों ने सारन तथा गोरखपुर जिलों के कुछ भूभाग पर अपना अधिकार जताया। लॉर्ड मिन्टो ने समाधान के लिए यह मामला दोनों पक्षों की एक सम्मिलित समिति के सिपुर्द कर दिया, जिसके सदस्य मेजर ब्रेडशॉ तथा कुछ नेपाली अधिकारी बनाये गये, परन्तु गवर्नर-जनरल के यह धमकी देने पर कि यदि नेपाल चुपचाप इन प्रदेशों से अपना अधिकार न उठा लेगा तो वह बल-प्रयोग द्वारा इन पर अधिकार कर लेगा, यह समिति भंग हो गई। गोरखों ने अपने हकों को ही ठीक मानते हुए बुटवल एवं शिवराज नामक जिलों पर अधिकार कर लिया। अँगरेजों ने भी गोरखों के बाद शीघ्र ही इन पर अपना अधिकार जमा दिया। गोरखों ने अँगरेजों के इस कार्य को अपने पर उनका अकारण आक्रमण समझा और मई १८१४ ई० में बुटवल की पुलिस-चौकी पर धावा बोल दिया, जिस पर गवर्नर-जनरल ने नवम्बर १८१४ ई० में नेपाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इस समय गोरखों की सेना का प्रमुख भाग सतलज की ओर व्यस्त देखकर, हेस्टिंग्ज़ ने शीघ्र विजय प्राप्त करने की आशा से गोरखों पर सब तरफ से आक्रमण करने की योजना बनाई। उसने युद्ध का एक विस्तृत और सूक्ष्म विवरणयुक्त मानचित्र प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार कर्नल ऑक्टरलोनी को सतलज की ओर से बढ़ना था; मेजर जनरल जिलेप्सी को मेरठ से चलकर ऑक्टरलोनी के साथ गोरखों की प्रधान सेना पर, जो अमरसिंह थापा के सेनापतित्व में थी, आक्रमण करने में सहयोग देना था; मेजर जनरल मार्ले एवं सुलिवन वुड को पटना और गोरखपुर से गोरखों की राजधानी की ओर बढ़ना था, जब कि मेजर लैटर को पूर्निया से प्रयाण करना था। इसी के साथ-साथ गोरखा सेनानायक को बड़े-बड़े

११

पुरस्कारों का प्रलोभन देकर पतित करने और परिणामतः गोरखों के सुदृढ़ सैन्य-संघटन को तोड़ने के भी असफल प्रयत्न किये गये। हेस्टिंग्ज़ ने तीस सहस्र से भी अधिक सैनिकों को समर-भूमि में उतार दिया; परन्तु गोरखों की वीरता, दृढ़ता तथा उनकी युद्ध-प्रणाली ने अँगरेजों के छक्के छुड़ा दिये। प्रकृति भी गोरखों का साथ दे रही थी; पहाड़ी देश की भौगोलिक स्थिति अँगरेजी सेना की प्रगति में अनेकानेक बाधाएँ खड़ी कर रही थी। अँगरेजी सेना के सन् १८१४ ई० के समस्त प्रयत्न बुरी तरह विफल हुए; मार्लें तथा वुड को गोरखों के कड़े प्रहारों से संत्रस्त होकर पीठ दिखानी पड़ी और जिलेप्सी कलंगा की पहाड़ी गढ़ी को हथियाने के प्रयत्न में मारा गया।

अँगरेजों की इन पराजयों के समाचार से भारत की उन शक्तियों में, जो अँगरेजों को इस देश से बाहर खदेड़ने की इच्छुक थीं, नई आशा का संचार होने लगा। मराठा-राज्यों, पिंडारियों और यहाँ तक कि रणजीतसिंह के बीच में भी परस्पर समझौतों की सूचनाएँ मिलने लगीं। हेस्टिंग्ज़ के कान खड़े हो गये। वह अपनी सेनाओं को जनरल डेविड ऑक्टरलोनी के सेनापतित्व में सुदृढ़तया संघटित करने और भारतीय राज्यों को एक दूसरे से अलग रखने के लिए जी-जान से प्रयत्न करने लगा। अँगरेजों के सौभाग्य से भारतीय राज्यों के पारस्परिक अविश्वास ने उनको सर्वसामान्य शत्रु के विरुद्ध एक न होने दिया। ऑक्टरलोनी ने गोरखों की युद्ध-प्रणाली अपनाकर अमरसिंह के विरुद्ध सतलज की ओर से प्रयाण किया। मई १८१५ ई० में मलावँ के दुर्ग पर अधिकार कर और अमरसिंह को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य कर उसने पहली बड़ी विजय प्राप्त की। गोरखा सिपाहियों को अपनी ओर तोड़ने के लिए अँगरेजों ने अपने कोष का मुँह खोल दिया, जिससे नेपाली सरकार संधि-वार्ता के लिए बाध्य हो गई। हेस्टिंग्ज़ ने पहले तो बड़ी ऊँची शर्तें पेश कीं, परन्तु भारतीय सीमा में तनातनी बढ़ते देखकर उसको अपनी माँगों को कम करना पड़ा और नवम्बर १८१५ ई० में सिगौली की संधि पर हस्ताक्षर हो गये। परन्तु अमरसिंह के नेपाली सरकार को युद्ध जारी रखने के लिए उकसाने पर, पुनः लड़ाई छिड़ गई। नेपाल-सरकार ने संधि की शर्तों को पूरा करना अस्वीकार कर दिया। ऑक्टरलोनी इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार खड़ा था। उसने तत्काल नेपाल की राजधानी की ओर प्रयाण कर दिया और फरवरी १८१६ ई० में गोरखों को मकवानपुर की लड़ाई में हरा दिया। इस पराजय से गोरखों की हिम्मत टूट गई। सिगौली की संधि मान ली गई। इस प्रकार युद्ध का अंत हो गया।

सिगौली की संधि—इस संधि से अँगरेजों को गढ़वाल तथा कुमाऊँ जिले और

तराई का बहुत सा भाग मिला। नेपाल-सरकार ने काठमांडू में एक अँगरेज रेजीडेंट रखना और शिकम को स्थायी रूप से छोड़ना स्वीकार किया। इस संधि से अँगरेजी राज्य पहाड़ी प्रदेशों के आंतरिक भागों में पहुँच गया और रणजीत-सिंह एवं गोरखों के राज्य के बीच एक ऐसी बाड़ खड़ी हो गई, जिससे ये दोनों आपस में मिल न सकें और यदि कभी इनका मेल हो भी जाय तो उसको तोड़ने के साधन भी इसने उपस्थित कर दिये; शिमला, अल्मोड़ा, नैनीताल इत्यादि प्रमुख पहाड़ी स्थान अँगरेजों के हाथ लगे। काठमांडू में रेजीडेंसी की स्थापना से मध्य-एशिया की सूचनाएँ प्राप्त करने और उसके साथ यातायात करने का एक अच्छा साधन अँगरेजों को प्राप्त हो गया।

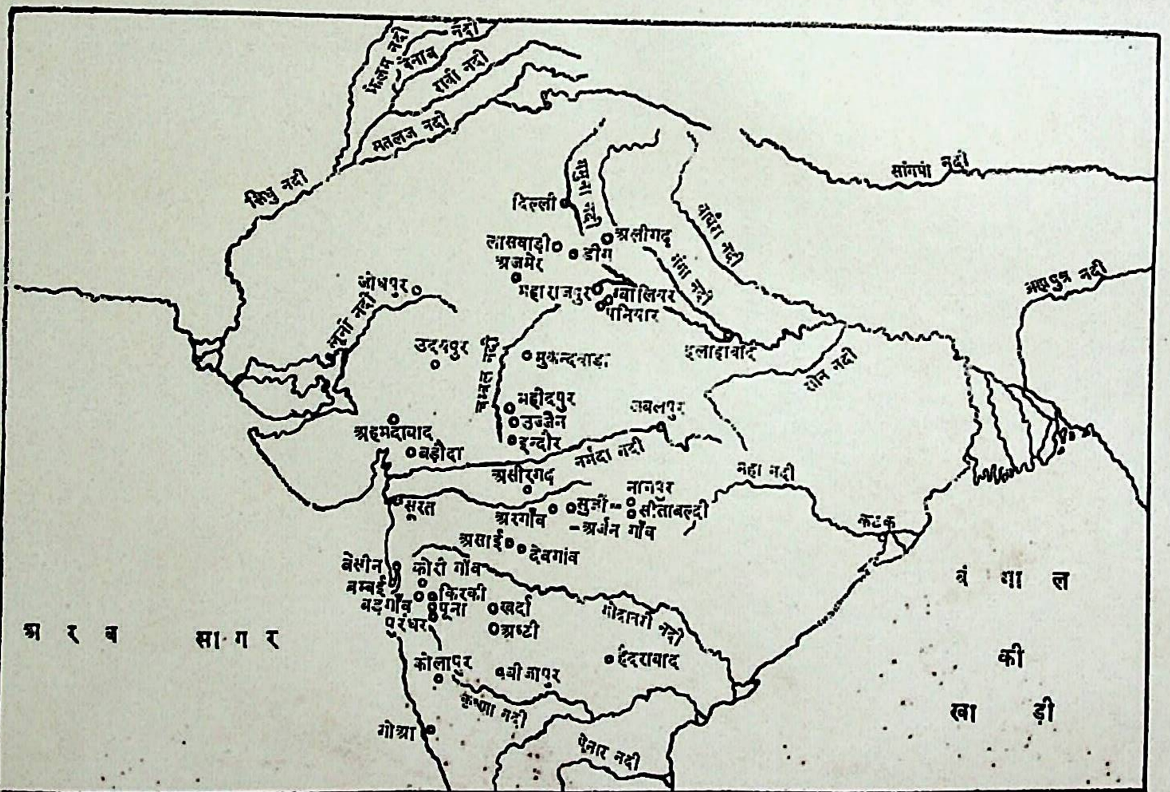
तब से लेकर आज तक इस संधि का बड़ी ईमानदारी के साथ पालन किया जाता रहा है और नेपाल के साथ भारत के सम्बन्ध बड़े प्रेमपूर्ण बने चले आ रहे हैं। मराठा संघर्ष छिड़ने की संभावना से नेपालियों को खुश करने के लिए तराई-प्रदेश का बहुत सा भाग गोरखों को लौटा दिया गया।

अव्यवस्था और अराजकता—मराठों और पिंडारियों से युद्ध—वेलेजली के मराठा युद्धों एवं मध्य भारत के छोटे-छोटे राज्यों के प्रति उसकी नीति से वह राजनीतिक व्यवस्था समाप्त हो चली थी जो १८०५ ई० तक भारत का शासन-संचालन करती आई थी। इस सारी व्यवस्था का प्रधान मुगल बादशाह ही माना जाता था, यद्यपि वह अंधा था और सिंधिया का बंदी बना हुआ था। उसके नीचे प्रधान अधिकारी पेशवा था जो उसका प्रतिनिधि (वकील-उल-मुतलक़) था। पेशवा का भी प्रतिनिधि सिंधिया था। इसमें संदेह नहीं कि बादशाह सर्वथा शक्तिहीन बन चुका था; बादशाह का पद किसी एक व्यक्ति का न रहकर एक संस्था बन चुका था। तत्कालीन मुगल बादशाह और इँगलैंड के वर्तमान राजा की स्थिति में बहुत कुछ समानता है। यदि अँगरेजों ने बीच में पड़कर, इस व्यवस्था के विकास को समाप्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर दिया होता तो भारत का भावी इतिहास क्या होता, यह कल्पना करना व्यर्थ है। इतना अवश्य असंदिग्ध है कि यदि १८५७ ई० तक नहीं तो कम से कम १८०५ ई० तक तो मुगल सम्राट् की अपनी ही शान और प्रभाव था, जिसका सभी भारतीय शक्तियाँ—चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान—आदर करती थीं और अपने-अपने हित-साधन के लिए उपयोग करने का प्रयत्न करती थीं। यहाँ तक कि अँगरेजों को भी, जब उनकी राजनीतिक शक्ति सुदृढ़ भी हो गई तब भी, बादशाह के नाम पर ही शासन करने का स्वाँग भरना पड़ा और उसको प्रभु-शक्ति का सम्मान प्रदान करना पड़ा। १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम के नेताओं का सारा प्रयत्न बादशाह बहादुर शाह को मुगल-

सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने का रहा। हिंदुओं के लिए यह महा अपमानजनक बात थी कि सम्राट्-पद पर एक मुसलमान प्रतिष्ठित हो; परन्तु वे भी मुगल बादशाह को अपना समझने लगे थे, क्योंकि अब वह विदेशी न रहकर उनके समान ही भारतीय बन चुका था। महान् सम्राट् अकबर पहला बादशाह था जिसने भारत के बड़े भाग को एक शासन-सूत्र में बाँधने के साथ-साथ मुसलमान बादशाह को भारतीय सम्राट् का रूप दिया था। औरंगजेब के समय में हिन्दुओं की प्रतिक्रिया बादशाहत के खिलाफ न होकर धर्मान्ध औरंगजेब के विरुद्ध हुई थी। अकबर द्वारा चालित विकास-क्रिया औरंगजेब की धर्मान्ध नीति के कारण कुछ समय के लिए रुक अवश्य गई थी; परन्तु हिंदू प्रतिक्रिया के शान्त होते ही वह पुनः गतियुक्त हो गई थी। इस विकास-क्रिया के परिणामस्वरूप अभी भारतीय शासन का संश्लिष्ट चित्र पूरा भी न हो पाया था कि अँगरेजों ने बीच में आकर हमारे देश के इतिहास को नई दिशा में मोड़ दिया और हमारी वर्तमान स्थिति की भूमिका प्रस्तुत कर दी।

अपने प्रस्तुत प्रसंग की ओर मुड़ने पर, हम देखते हैं कि वेलेजली दिल्ली को हस्तगत करने के साथ-साथ शाहआलम को अपने वश में कर तथा पेशवा को सहायक संधि से जकड़कर भारतीय शासन-तंत्र के दो सर्वोच्च स्तंभों को उखाड़ चुका था। भारतीय स्वतंत्रता के जानी दुश्मन अँगरेजों के हाथों में पड़कर बादशाह का शासन-तंत्र में सारा महत्त्व लुप्त हो गया और इसी प्रकार पेशवा के अधीन हो जाने से महान् मराठा-संघ के सदस्य-राज्य भी स्वतंत्र हो गये और उनमें एकसूत्रता लाने के लिए अब अँगरेजों के प्रति समान शत्रु-भाव तथा अपनी गौरवशाली परंपरा की स्मृति के अतिरिक्त और कोई बात बाकी न रह गई।

बार्लो के वे राजनीतिक उपचार जिनको मिन्टो ने भी बनाये रखा, उस राजनीतिक ढाँचे के अभाव की पूर्ति करने में असमर्थ थे जो वेलेजली की सेनाओं के हाथों छिन्न-भिन्न हो चुका था। परिणामतः जो अराजकता और अव्यवस्था फैली उसके वर्णन में भारतीय इतिहास के अँगरेज लेखकों ने बड़े कलुषित तृप्तिपूर्ण हृदय से सजीव रंग भरा है। इन्होंने पठानों और पिंडारियों की सैनिक लूट-पाट के फलस्वरूप उत्पन्न दुर्दशा का अतिरंजित वर्णन किया है, जिससे मराठा राज्यों पर हेस्टिंग्ज़ के आक्रमणों के लिए एक अच्छा-सा बहाना बनाया जा सके; क्योंकि इन मराठा राज्यों का पिंडारियों के साथ सम्बन्ध बताया जाता था। पिंडारियों के साथ मराठा राज्यों का क्या सम्बन्ध था, यह बात निश्चित रूप से कभी भी विदित न हो सकी। इन दोनों के गुप्त गठबन्धन का दोषारोपण अँगरेज ही करते आये हैं और उन्होंने इस बात को इतना तूल दे दिया था कि हेस्टिंग्ज़ की धारणा यहाँ


झेलम नदी
चेनाब
रावी नदी
सतलज नदी
सिंधु नदी
यमुना नदी
गंगा नदी
घाघरा नदी
सांगपो नदी
ब्रह्मपुत्र नदी
सोन नदी
दिल्ली
अलीगढ़
लासवाड़ी
डीग
अजमेर
महाराजपुर
ग्वालियर
पनियार
इलाहाबाद
जोधपुर
उदयपुर
मुकन्दवाड़ा
महीदपुर
उज्जैन
इन्दौर
जबलपुर
अहमदाबाद
बड़ौदा
नर्मदा नदी
असीरगढ़
महानदी
नागपुर
सूरत
अरगाँव
सुर्जी
सीताबल्दी
अर्जन गाँव
कटक
असाई
देवगांव
बेसीन
कोरी गाँव
बम्बई
किरकी
बड़गाँव
पूना
खर्दा
पुरंधर
अष्टी
गोदावरी नदी
हैदराबाद
कोलापुर
बीजापुर
कृष्णा नदी
गोआ
पैनार नदी
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
मराठा-युद्ध

तक वन गई थी कि पिंडारियों पर आक्रमण होते ही उनके मराठा मित्र युद्ध-क्षेत्र में उतर पड़ेंगे। यह संभव है कि मराठों ने भावी युद्ध में, जो दोनों पक्ष जानते थे कि अनिवार्य है, इन अवसरवादी सैनिक दलों को अँगरेजों के विरुद्ध काम में लाने की आशाएँ बाँध ली हों और अँगरेजों तथा उनके संरक्षित राज्यों को परेशान करने के लिए उनके राज्यों पर धावा वोलने के लिए भी पिंडारियों को उत्साहित किया हो; परन्तु मराठा-पिंडारी सम्वन्ध के निश्चित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। संभव है, ऐतिहासिक गवेषणाएँ किसी दिन इस विषय पर प्रकाश डाल सकें।

'पिंडारी' शव्द की व्युत्पत्ति के विषय में तरह-तरह के तुक भिड़ाये गये हैं; सवसे अधिक मान्य मत यह है कि इस शव्द की व्युत्पत्ति 'पिंडा' शव्द से हुई है, जो एक मादक पेय का नाम है; इस पेय के रसिक 'पिंडारी' नाम से अभिहित हुए। पिंडारियों का न अपना कोई धर्म था और न राज्य; पहले-पहल इनका नाम औरंगजेव के समय के मुगल-मराठा युद्धों में सुनाई पड़ा था। ये एक प्रकार के अनियमित सैन्य-दल थे, जिनका उपयोग मराठे मुगलों के विरुद्ध करते थे। उन्नीसवीं शती में इनका जोर फिर से बढ़ने लगा; नर्मदा की घाटी और मालवा में इनके प्रमुख अड्डे थे। इनके नेता अपने साहस और शौर्य के बल पर चमके थे। चीतू, वासिल मुहम्मद और करीम खाँ इनके सरदार थे जिनकी अधीनता में १५,००० से २०,००० तक आदमी रहते थे।

लूट-पाट और ठगी का व्यवसाय करनेवाला दूसरा दल पठानों का था, जिसके सरदार अमीर खाँ और मुहम्मद शाह खाँ थे। इनकी सेनाएँ, पिंडारियों के विपरीत, नियमित और सुसज्जित जान पड़ती थीं। इनका प्रधान कार्य-क्षेत्र राजपूताना था; वहाँ ये छोटे-छोटे राजपूत-रजवाड़ों के महत्त्वपूर्ण झगड़ों में भाग लेते थे और उस पक्ष की सहायता करते थे जो इन्हें अधिक से अधिक धन दे पाता था। अमीर खाँ ने १७९९ के लगभग जसवंतराव होल्कर से मेल कर लिया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य के मामलों में अपने बहनोई गफूर खाँ के द्वारा, जो मध्य भारत की जावरा रियासत के शासक-वंश का संस्थापक था, बहुत प्रभाव रखने लगा था। १८१४ ई० में मुहम्मद शाह खाँ की मृत्यु हो जाने पर अमीर खाँ का सैन्य-बल दुगना हो गया। अब वह राजपूताना की रियासतों का यथावसर प्रबल शत्रु या मित्र वनने लगा।

यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी कि भारतीय राज्यों में वेलेजली की सहायक सेनाओं की नियुक्ति के साथ-साथ लूट-पाट से गुजारा करनेवाले पठानों और पिंडारियों के अराजक-सैन्य-संघटनों का, जो मध्यकालीन यूरोप की 'स्वतंत्र

कम्पनियों' (फ्री कम्पनीज़) से समानता रखते थे, अभ्युदय होने लगा था। 'सहायक सेनाओं' की नियुक्ति के साथ-साथ प्राय: अँगरेजों के आग्रह से, भारतीय सेनाएँ भंग की जाने लगी थीं; इन सेनाओं से निकले हुए सैनिक जीविका की खोज में पठानों और पिंडारी सरदारों के अनुयायी बनने लगे। अँगरेजों के द्वारा अपनी रोटी छीनी जाने के कारण, पठान और पिंडारी दोनों ही दल अँगरेजों के प्रति शत्रुभाव रखते थे और उनके अथवा उनके अधीन राज्यों के प्रदेशों में लूटपाट करना अपना न्यायसम्मत अधिकार समझते थे। पठानों को तो राजपूताना में अच्छा लाभदायक कार्य-क्षेत्र मिल गया था, परन्तु पिंडारियों की लूटपाट का कोई निश्चित क्षेत्र न था। अपने सरदारों की अधीनता में पिंडारी अपनी लूटखसोट और ठगी का क्षेत्र बढ़ाते जा रहे थे और यूरोपीय उलझनों में अँगरेजों के फँसे होने के कारण वेलेजली की बिदाई से लेकर हेस्टिंग्ज़ के आगमन तक भारत में लड़ाई-भिड़ाई से हाथ खींच लेने के कारण, इन लोगों को अपनी लूटपाट जारी रखने की खुली छुट्टी मिल गई थी। १८०८-९ ई० में इन्होंने गुजरात के समृद्ध भूभाग पर छापे मारे और १८१२ ई० में अँगरेजों के अधिकृत मिर्जापुर और शाहाबाद जिलों पर अकस्मात् आक्रमण कर उनको चक्कर में डाल दिया। १८१५-१६ ई० में उन्होंने निजाम के राज्य पर आकस्मिक आक्रमण किये और अगले वर्ष उत्तरी सरकारों में लूटपाट मचाई।

स्पष्ट था कि अँगरेज कम्पनी के साथ उनकी टक्कर अधिक समय तक टाली नहीं जा सकती थी। उनकी सैनिक लूटपाटों से वाणिज्य-व्यवसाय चौपट हो रहा था। अँगरेजों के अधिकृत जिलों पर उनके आक्रमण का राजनीतिक महत्त्व भी कम न था, क्योंकि मराठों के साथ उनका गुप्त सम्बन्ध बताया जाता था और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनके निर्बाध संचार से अँगरेजों के नाम पर बट्टा लग रहा था। भारत-भूमि पर पाँव रखते ही हेस्टिंग्ज़ इन पिंडारियों पर चारों ओर से टूट पड़ने के लिए बेचैन हो रहा था; परन्तु कम्पनी के 'अध्यक्ष मंडल' ने उसको इस कार्य में उतावलापन न दिखाने दिया, क्योंकि उनको भय था कि पिंडारियों के ऊपर आक्रमण होने पर मराठे भी रणभूमि में उतर आयेंगे; इसलिए उन्होंने हेस्टिंग्ज़ को मराठों और पिंडारियों में शत्रुता उत्पन्न करने की सलाह दी, जिससे इन दोनों का विनाश पारस्परिक संघर्ष से ही हो जाय। परन्तु हेस्टिंग्ज़ को यह नीति पसंद न थी, वह अँगरेजी राज्य की सुदृढ़ता के लिए भय बने हुए इन मराठों और पिंडारियों की शक्ति को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए सारी अँगरेज शक्ति को लगा देने के पक्ष में था। यह तो स्पष्ट ही था कि जब तक मराठों की शक्ति पूर्णतया कुचली नहीं जाती, तब तक वे अपने खोये हुए स्वत्व को पुन: प्राप्त करने

और अपनी स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाले अँगरेजों को खदेड़ बाहर करने के लिए हथियार उठाते रहेंगे। जिस जाति में आत्म-गौरव का थोड़ा भी भाव हो, वह गुलामी को आसानी से गले के नीचे नहीं उतरने दे सकती। अतः अँगरेज और मराठे दोनों ही पक्ष भली भाँति समझ रहे थे कि लड़ाई होकर ही रहेगी। हेस्टिंग्ज़ के सामने द्विधा थी तो यह कि क्या वह मराठों के आक्रमण की प्रतीक्षा करे या उनके पूरी तरह से तैयार होने के पहले ही उन पर स्वयं धावा बोल दे। उसने स्वयं आक्रमण करना ही ठीक समझा, क्योंकि अधिक विलंब करने से मराठों को संघटित होने और अपनी योजनाओं को दृढ़ आधार पर जमाने का अवसर मिल रहा था। आखिर कम्पनी के अध्यक्ष भी हेस्टिंग्ज़ के विचारों से सहमत हो गये और हेस्टिंग्ज़ पिंडारियों एवं मराठों—ब्रिटिश राज्य के इन दोनों महान् शत्रुओं—को नष्ट करने के उद्देश्य से आक्रमण की तैयारी करने लगा।

हेस्टिंग्ज़ की तैयारियाँ कार्य की विशालता के सर्वथा अनुरूप थीं। उसने सभी प्रेसीडेंसियों की सेनाओं को बुलाकर, १,१६,००० जवानों और ३०० तोपों की एक विशाल वाहिनी संघटित की और इसको दो भागों में बाँटा—(१) उत्तरीय सेना, जिसमें चार डिवीजन थे और जो स्वयं उसके सेनापतित्व में रखी गई और (२) दक्षिणी सेना, जो सर टॉमस हिस्लोप के सेनापतित्व में रही। युद्ध की योजना इस प्रकार बनाई गई कि पिंडारियों को चारों ओर से घेर लिया जाय और मराठा राज्यों को रोक कर रखा जाय, जिससे ये दोनों शक्तियाँ मिल न पायें और तब इनके साथ एक-एक कर निपटा जा सके। इस उद्देश्य को लेकर ये उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सेनाएँ उस वृत्त की परिधि से, जिसका केन्द्र इलाहाबाद में इँडिया नामक स्थान के समीप था, एक साथ आंतरिक भागों की ओर बढ़ेंगी और मध्य भारत में पिंडारी-दलों को घेर लेंगी।

इस प्रकार खुल्लमखुल्ला युद्ध के साथ-साथ उसने अपने विरुद्ध संघटित सेनाओं को तोड़ने और मराठा राज्यों के सम्भाव्य सम्मेलन को रोकने के लिए कूटनीतिक युद्ध की भी योजना बनाई।

हेस्टिंग्ज़ ने मराठा राज्यों में सबसे पहले नागपुर की ओर ध्यान दिया, जो इस समय आंतरिक कलह का शिकार हो रहा था। द्वितीय रघुजी भोंसले का २२ मार्च १८१६ ई० को देहांत हो गया था। उसका पुत्र परसोजी बुद्धि और शरीर दोनों से ही निर्बल था। उसके संरक्षक-पद के लिए रघुजी की विधवा बुकाबाई और परसोजी के बाद राज्य के उत्तराधिकारी आप्पा साहब में झगड़ा शुरू हुआ। अँगरेजों ने इस झगड़े में अपने लिए बड़ा अच्छा सुयोग देखा और आप्पा साहब को सहायता का वचन देकर उससे मई १८१६ ई० में 'सहायक-संधि' पर हस्ताक्षर

करा लिये। इस चाल से मराठा-गुटबंदी को बहुत धक्का पहुँचा और अँगरेजों की प्रतिरोधक एवं आक्रामक शक्ति बहुत बढ़ गई। घटनाचक्र के इस अनुकूल परिवर्तन से अँगरेजों को जो प्रसन्नता हुई वह मैलकॉम के इन शब्दों में साफ़ झलकती है कि "नागपुर के साथ सहायक संधि से बढ़कर कल्याणकारी और कोई घटना न हो सकती थी।"

काल-क्रम की दृष्टि से पेशवा दूसरा मराठा-सरदार था, जिसकी ओर हेस्टिंग्ज़ ने ध्यान दिया। इस समय तक पिंडारियों का पीछा किया जाने लगा था। घटनाचक्र बड़े वेग से घूम रहा था। राजपूताना की रियासतों और शक्तिशाली पठान सरदार अमीर खाँ को अँगरेजों की मित्रता के जाल में फँसाया जा रहा था और सामरिक प्रयत्नों को कम से कम करने के लिए सिंधिया तथा होल्कर के साथ भी कूटनीतिक दाँव-पेंच चलाये जा रहे थे। अँगरेजों के ये सब प्रयत्न उखड़े-उखड़े न होकर एक संश्लिष्ट योजना के अंग थे और जितनी शीघ्रता से ये किये जा रहे थे, उससे भारतीय शक्तियाँ दंग रह गई थीं। इन प्रयत्नों का पृथक्-पृथक् वर्णन करना सुविधाजनक होगा।

अँगरेज और पेशवा—पेशवा पहला मराठा सरदार था, जिसने अँगरेजों के साथ 'सहायक-संधि' कर ली थी और इस प्रकार मराठा-संघ की प्रमुखता का अपना अधिकार गँवा दिया था। अँगरेजों की अधीनता से छुटकारा पाने के लिए उसका प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही था। उसको पूर्ण आशा थी कि उसकी इन योजनाओं में अन्य मराठा राज्य भी उसका सहयोग करेंगे, क्योंकि मराठा राज्यों के लिए यह अपमानजनक बात थी कि उनका वैधानिक प्रधान एक विदेशी सरकार के अधीन हो। बेसीन की संधि के पश्चात् कुछ वर्षों तक पेशवा द्वितीय बाजीराव अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने में दत्तचित्त रहा। इस बीच उसने अँगरेजों के साथ प्रेम-भाव बनाये रखा। पेशवा की शक्ति को बढ़ते देखकर अँगरेजों के कान खड़े हो गये। वे अपनी चालबाजी की नीति के अनुकूल उसके अधीन राज्यों को उससे अलग करने का प्रयत्न करने लगे। पूना-दरबार के तत्कालीन रेजीडेंट एँल्फिस्टन ने कोल्हापुर और सावन्तवाडी के राज्यों को पेशवा की अधीनता से मुक्ति पाने के लिए उकसाया और पेशवा के साथ जोर-जबर्दस्ती से इनका एक समझौता करवा लिया, जिसके अनुसार ये राज्य पेशवा के प्रभुत्व से मुक्त हो गये; इस दलाली में अँगरेजों को कोल्हापुर के राजा से मलावाँ का दुर्ग प्राप्त हुआ।

१८१४ ई० तक अँगरेजों के प्रति पेशवा के व्यवहार में रूखापन साफ झलकने लगा था। पेशवा की इस मनःस्थिति का कारण त्र्यम्बकजी डांगलिया के प्रभाव को बताया जा रहा था, जो अँगरेजों का घोर विरोधी था। त्र्यम्बकजी ने पेशवा के

मन्त्रिमंडल में अपना प्रभाव वहुत वढ़ा लिया था और अव पेशवा के खोये गौरव को पुनः प्राप्त करने की योजनाएँ वनने लगी थीं। इन योजनाओं में सहयोग प्राप्त करने के लिए सिंधिया, भोंसले और होल्कर के पास दूत भेजे गये। पेशवा ने वेसीन की संधि की शर्तों के विरुद्ध निजाम और गायकवाड़ से अपने अधिकारों की पुनः माँग की। वड़ौदा से पेशवा की माँग यह थी कि अहमदावाद के दससाला वन्दोवस्त में, जिसकी मियाद १८१४ ई० में खतम होनेवाली थी, पेशवा का हिस्सा चुकाया जाय। इस सम्वन्ध में कहा जाता है कि वड़ौदा-राज्य का मंत्री गंगाधर शास्त्री पेशवा के साथ सुलह करने के लिए पूना-दरवार में आया; यहाँ उसको विश्वासघातपूर्वक मार डाला गया। उसकी हत्या के विषय में कहा गया कि पेशवा के संकेत पर त्र्यम्वकजी ने यह पाप किया था; परन्तु इस विषय में आजतक की जी-तोड़ गवेषणाओं से भी इस वात का कुछ भी प्रमाण नहीं मिल सका है कि गंगाधर शास्त्री की हत्या में पेशवा अथवा त्र्यम्वकजी का थोड़ा भी हाथ था। फिर, यह भी वड़े आश्चर्य की वात है कि पेशवा और गायकवाड़ दोनों को ही 'सहायक-संधि' से वँधे होने के कारण परस्पर समझौते की वातचीत करने का कुछ भी अधिकार न होने पर भी, अँगरेज कैसे उनके परस्पर समझौते के प्रयत्नों को चलने देते रहे, जिसके परिणामस्वरूप गंगाधर शास्त्री की हत्या तक हो गई? वात वास्तव में जो कुछ भी रही हो, अँगरेजों ने इस हत्या से पूरा-पूरा लाभ उठाया। पूना-दरवार के रेजीडेंट ऐंल्फिस्टन ने त्र्यम्वकजी को इस हत्या के लिए दोषी ठहराया। त्र्यम्वकजी को वंदी बनाकर थाना के कारागार में डाल दिया गया, जहाँ से वह भाग निकला। पेशवा के परों को और भी कतरने के लिए ऐंल्फ़िस्टन ने हेस्टिंग्ज़ के आदेश पर, द्वितीय वाजीराव को अँगरेजों का शत्रु घोषित किये जाने का भय दिखाकर, एक नई संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए वाध्य कर दिया। अपने खर्चे पर पलनेवाली सहायक सेना को अपने विरुद्ध प्रदर्शन करते देखकर पेशवा समझ गया कि अँगरेजों से उसका पल्ला छूट नहीं सकता। अतः १३ जून सन् १८१७ ई० को उसने पूना की संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि के अनुसार पेशवा ने मराठा-साम्राज्य की प्रधानता का पद त्याग दिया, अन्य राज्यों के साथ अपने आप से ही समझौते न कर अँगरेजों को मध्यस्थ बनाकर ही इस प्रकार की वातचीत करना स्वीकार किया, सहायक-सेना के खर्चे के लिए ३४ लाख वार्षिक आय का प्रदेश अँगरेजों को सौंप दिया और अपने राज्य में उतनी अँगरेज सेना रखना स्वीकार किया, जितनी कम्पनी-सरकार आवश्यक समझे। उसने अहमदनगर का दुर्ग और नर्मदा के उत्तरवर्ती प्रदेशों पर अपने समस्त अधिकार अँगरेजों के हवाले कर दिये। बुंदेलखंड, मालवा और हिन्दुस्तान में अपने अधि-

कारों को भी उसने अँगरेजों को सौंप दिया और वचन दिया कि वह त्र्यम्बकजी को पकड़कर अँगरेजों के हवाले कर देगा तथा जब तक वह इस कार्य को सम्पन्न न कर सकेगा तब तक उसका परिवार अँगरेजों के पास बंधक के रूप में रहेगा। इस संधि की कड़ी शर्तों ने पेशवा को युद्ध के लिए बाध्य कर दिया, जिसमें अन्ततोगत्वा उसकी शक्ति का पतन हुआ।

सिंधिया तथा राजपूताना के सरदार—यूरोपीय उलझनों से छुटकारा पा लेने पर, अँगरेजों को राजपूत राज्यों के सामरिक महत्त्व को समझने में देर न लगी। वे अनुभव करने लगे कि सिंधिया और होल्कर के साथ इन राज्यों के उनके व्यवहार में हस्तक्षेप न करने का वचन देकर उन्होंने भारी भूल की है। इसलिए १८१४ ई० के आसपास ही अँगरेज अपनी इस भूल को सुधारने और अपने वायदे से छुटकारा पाने का प्रयत्न करने लगे तथा इन राजपूत राज्यों को अपने संरक्षण में लाने के लिए सचेष्ट हो गये। १८१४ ई० में इँगलैंड से भी आदेश जारी किया गया था कि जयपुर-राज्य को कम्पनी-सरकार के संरक्षण में ले लिया जाय; परन्तु तब गवर्नर-जनरल ने उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में इस आदेश के अनुसार कोई कदम न उठाया था। १८१७ ई० में गवर्नर-जनरल ने दिल्ली के अँगरेज रेजीडेंट मेटकाफ को इन राजपूत राज्यों को ब्रिटिश-संरक्षण में लाने के लिए सुलह की बातचीत चलाने का आदेश दिया। अँगरेजों के प्रभुत्व-विस्तार के लिए कटिबद्ध हेस्टिंग्ज़ की दृष्टि में इन राज्यों का अँगरेजों के संरक्षण में आ जाना बहुत अधिक राजनीतिक महत्त्व रखता था। उसका विचार था कि ये राज्य 'मध्य भारत में कम्पनी की सैनिक एवं राजनीतिक स्थिति को आशातीत महत्त्वपूर्ण लाभ पहुँचायेंगे' और इनकी मित्रता से 'कम्पनी के बाह्य एवं आंतरिक शत्रुओं के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक एवं आक्रमणात्मक प्रयत्नों के लिए राजपूताना के साधन' कम्पनी-सरकार को उपलब्ध हो जायँगे। मेटकाफ ने इन राज्यों के साथ संधि की सर्वसामान्य शर्तें ये निर्धारित कीं कि एक तो ये राज्य आज तक जो कर मराठों या पठानों को देते आये हैं, अब अँगरेज-सरकार को दें और अँगरेज 'उन दलों से स्वयं निपट लेंगे जो आज तक इन करों के अधिकारी रहे हैं; और अँगरेजों का संरक्षण इन राज्यों को इस शर्त पर दिया जायगा कि ये अन्य राज्यों के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करें तथा अपने बाहरी झगड़ों में अँगरेज-सरकार की मध्यस्थता स्वीकार करें। आंतरिक कलहों से छिन्न-भिन्न एवं मराठों और पठानों के अत्याचारों से संत्रस्त इन राजपूत राज्यों के लिए अँगरेज-सरकार का संरक्षण मिलना महान् हर्ष और संतोष की बात थी।

इधर जब राजपूतों के साथ समझौते की बातचीत चलाई जा रही थी, उधर सिंधिया से भी पिंडारियों के विरुद्ध सहायता करने और हिन्दिया एवं असीरगढ़

के किले अँगरेजों को सौंप देने की माँग की जा रही थी, जिससे सिंधिया बहुत आश्चर्य में पड़ गया था। सिंधिया पर पिंडारियों की पीठ ठोकने का दोपारोपण किया गया और उसको सूचित किया गया कि कम्पनी-सरकार १८०५ ई० की संधि के विरुद्ध मालवा और राजपूताना को अपने संरक्षण में ले रही है। घटनाचक्र के इस अप्रत्याशित परिवर्तन से सिंधिया भौंचक रह गया। वह अभी स्थिति पर विचार भी न कर पाया था कि हेस्टिंग्ज़ सेना लेकर ग्वालियर के सामने आ धमका। युद्ध की धमकी से भयभीत होकर सिंधिया ने ग्वालियर की संधि स्वीकार कर ली और ५ नवम्बर १८१७ ई० को इस पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि के अनुसार सिंधिया ने पिंडारियों के विरुद्ध सहायता देना, पिंडारियों को अपने राज्य में न आने देना, राजपूत राज्यों पर अपने समस्त अधिकारों को छोड़ देना और अँगरेजों की आज्ञा के बिना इन राज्यों के मामलों में कभी हस्तक्षेप न करना स्वीकार किया। इसी बीच लगभग एक वर्ष के अल्पकाल में ही सर चार्ल्स मेटकाफ राजपूत राज्यों को अँगरेजों के संरक्षण में लाकर कम्पनी-सरकार के लिए सामरिक महत्त्व के स्थान प्राप्त कर चुका था जिससे आगामी युद्ध में सिंधिया को तटस्थता अपनानी पड़ी।

होल्कर और पठानों के साथ निपटारा—होल्कर के राज्य के साथ पठानों के सम्बन्ध के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं। अब हम अँगरेजों की उन कूटनीतिक चालों का वर्णन करेंगे जिनसे उन्होंने होल्कर और पठान सरदार अमीर खाँ तथा उसके वहनोई गफूर खाँ को एक दूसरे से अलग कर दिया। जसवंतराव होल्कर का १८११ ई० में देहांत हो गया। उसके बाद उसका अल्पवयस्क दत्तक पुत्र शासक-पद का उत्तराधिकारी हुआ। इस अल्पवयस्क शासक के संरक्षक-पद के लिए झगड़ा छिड़ गया, जिसमें जसवंतराव की रखेली रानी तुलसीबाई विजयी हुई। वह रूपवती तो थी ही, साथ ही बुद्धिमती भी ऐसी थी कि उसके वर्ग की स्त्रियों में इतनी बुद्धि का होना एक असाधारण वात थी। परन्तु उसकी सफलता अधिक समय तक टिक न सकी; लोग उसके चरित्र से बहुत रुष्ट हो गये और सिपाहियों ने वेतन न मिलने के कारण विद्रोह कर दिया। चारों ओर अव्यवस्था फैल गई। तुलसीवाई को प्राण-रक्षा के लिए भागना पड़ा। वह अल्पवयस्क होल्कर को भी अपने साथ लेती गई, जिससे समस्या बहुत जटिल हो गई और कुछ समय के लिए राज्य शासक विहीन हो गया। इस स्थिति में तुलसीबाई ने अँगरेजों से संरक्षण की प्रार्थना की और लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के साथ गुप्त संधि भी कर ली। अँगरेजों के साथ तुलसीबाई के समझौते से सैनिक सरदारों की समिति, जो इस समय राज्य का शासन-संचालन कर रही थी, और भी क्रुद्ध हो उठी।

साथ ही साथ पठान सरदार अमीर खाँ को होल्कर से अलग करने के उद्देश्य से अँगरेजों ने अमीर खाँ के साथ समझौते की बातचीत शुरू की। प्रसिद्ध अँगरेज कूटनीतिज्ञ सर चार्ल्स मेटकाफ अमीर खाँ को अँगरेज-सरकार की अधीनता में ले आने में सफल हो गया। मई सन् १८१७ ई० में उसके साथ एक संधि की गई जिसके अनुसार अमीर खाँ टोंक का नवाब बना, होल्कर राज्य के जो प्रदेश उसके अधिकार में थे उन पर उसका अधिकार स्वीकार कर लिया और अमीर खाँ ने अपने दल को विघटित कर अँगरेजों के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। इस प्रकार आगामी युद्ध में होल्कर का सहायक अमीर खाँ होल्कर से अलग ही नहीं कर दिया गया अपितु उसको होल्कर के विरुद्ध भी कर दिया गया। अब वह 'लुटेरों का सरदार' न रहकर टोंक का नवाब बन गया था। यह है वह राजनीतिक जादू जो किसी व्यक्ति के शत्रु-दल छोड़कर चले आने के ही दिन, उसको हृदयहीन लुटेरे से उठाकर अभिजात वर्ग में स्थान दिलाकर, उसके चेहरे का रंग बदल देता है। अमीर खाँ के बहनोई गफूर खाँ का भी इसी प्रकार रूप-परिवर्तन किया गया; उसके लिए भी होल्कर के राज्य में से कुछ भूभाग निकालकर एक राज्य का निर्माण किया गया और वह जावरा-रियासत का पहला नवाब बना। ये दो मुसलमान राज्य भारत के इस भाग में हिन्दुओं के शक्तिशाली प्रभुत्व को मंदा करने के लिए खड़े किये गये। क्लाइव ने हिंदुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर उनकी शक्ति समाप्त करने की जो नीति चला दी थी, उसका पालन अँगरेज हमारे जमाने तक करते रहे हैं।

मराठों और पिंडारियों के साथ युद्ध—बल-प्रयोग की धमकी देकर जो यह कूटनीतिक चालें खेली जा रही थीं, इनके परिणामस्वरूप युद्ध अनिवार्य हो गया। मराठा-सरदारों को पूर्ण विश्वास हो चुका था कि हेस्टिंग्ज़ उनका सर्वनाश करना चाहता है; इसलिए चुपचाप गर्दन झुका देने की अपेक्षा उन्होंने युद्ध का निश्चय किया।

सबसे पहले पेशवा बाजीराव ने नवम्बर १८१७ ई० में युद्ध का डंका बजाया। अँगरेज रेजीडेंसी पर पेशवा के आक्रमण ने एक सार्वजनिक संघर्ष की भूमिका प्रस्तुत कर दी। थोड़े ही दिनों में नागपुर का भोंसला राजा और होल्कर के सैन्य-नायक भी पेशवा के साथ आ मिले। इस प्रकार दिसम्बर १८१७ ई० तक पेशवा, भोंसले और होल्कर तीनों ही अँगरेजों के साथ युद्ध छेड़ बैठे थे और आशा थी कि सिन्धिया भी इनके साथ आ मिलेगा।

यह युद्ध अप्रत्याशित नहीं था। हेस्टिंग्ज़ बहुत पहले से इसकी आशा कर रहा था; उसने इसके लिए पूरी-पूरी तैयारियाँ कर ली थीं और यहाँ तक कि मराठा-

सरदारों को सुसंघटित होने का मौका न देकर वह पहले ही इसमें कूद भी पड़ा। अँगरेजों के प्रभुत्व का प्रश्न तलवार के बल पर ही हल हो सकता था; दोनों पक्ष इस वात को भली भाँति जानते थे और इसके लिए तैयारियाँ भी कर रहे थे। हेस्टिंग्ज़ को इस वात का श्रेय प्राप्त है कि उसने कम्पनी-सरकार के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा कर दी थी। उसके कूटनीतिपूर्ण सैनिक कार्यों से मराठा-सरदारों का गठवन्धन असम्भव हो गया था, पिण्डारी घेरे में फँस गये थे और सिन्धिया को तटस्थ रहने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

पेशवा के साथ युद्ध---बाजीराव पेशवा पर लादी गई पूना की सन्धि एक ऐसा कड़वा घूँट थी, जिसको वह गले के नीचे उतार नहीं पा रहा था। इससे पेशवा के अधिकार वहुत कम हो गये थे और उसके चारों ओर अँगरेज सेना का ऐसा जाल बिछ गया था, जो थोड़े से संकेत पर उसके ऊपर डाला जा सकता था। अपने प्रतिपक्ष में ऐसी विषम स्थिति देखकर पेशवा ने अँगरेजों के जुए से अपने कन्धों को मुक्त करने के लिए पूरे जोर से झटका दिया। पूना के अँगरेज रेजीडेण्ट ऐंल्फिस्टन ने तूफान खड़ा होते देखकर अपना डेरा पूना से उठाकर किर्की में डाल दिया। ५ नवम्बर १८१७ के दिन पेशवा किर्की के अँगरेज शिविर पर टूट पड़ा और उसने सारे शिविर को जलाकर राख का ढेर कर दिया; परन्तु उसका स्वभावसिद्ध शत्रु ऐंल्फिस्टन जान बचाकर भाग निकला। अँगरेज इस हमले के लिए तैयार तो थे ही, उन्होंने पेशवा को भारी क्षति के साथ पीछे हटा दिया। पेशवा बाजीराव को पलायन करना पड़ा और जनरल स्मिथ ने १७ नवम्बर को पूना पर अधिकार कर लिया। पेशवा दक्षिण की ओर भाग चला और मराठा साम्राज्य के वैधानिक अधिपति सतारा के राजा को भी अपनी हिरासत में ले चला, जिससे वह अँगरेजों के हाथ न पड़ सके। जनरल स्मिथ ने पेशवा का पीछा किया और उसको जनवरी १८१८ ई० में कोरीगाँव में तथा फरवरी में अष्टी नामक स्थान पर युद्ध करने के लिए बाध्य कर दिया। अष्टी के युद्ध में, अपने योग्य सेनापति गोखले को खोकर पेशवा परास्त हुआ। इस पराजय से वह इतना निराश हो उठा कि उसने जून १८१८ ई० में जनरल मेलकॉम के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। मेलकॉम ने पेशवा के लिए आठ लाख की वार्षिक वृत्ति निश्चित की; मराठा-संघटन के प्रतीक के रूप में पेशवाई समाप्त कर दी गई और बाजीराव को कानपुर से कुछ मील दूर, बिठूर नामक स्थान पर, रहने के लिए भेजा गया, जहाँ उसने शान्तिपूर्वक दिन बिताते हुए इहलीला समाप्त की। मैसूर के साथ वेलेजली के व्यवहार का अनुसरण करते हुए सतारा की गद्दी पर शिवाजी के एक वंशज प्रतापसिंह को बिठाया गया और उसको एक अर्ध-स्वतन्त्र राजा बनाया

गया। इस कार्य का उद्देश्य सम्भवतः मराठों की भावनाओं को शान्त करना था। पेशवा के राज्य का शेष भाग कम्पनी-सरकार को प्राप्त हुआ।

नागपुर के भोंसले के साथ युद्ध—नागपुर में आपा साहब ने भी, जो अपने स्वामी परसोजी की हत्या के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ था, पेशवा का अनुसरण कर नवम्बर सन् १८१७ ई० में रेजीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। २७ नवम्बर को सीतावल्दी की लड़ाई और १६ दिसम्बर को नागपुर की लड़ाई ने आपा साहब के भाग्य का निर्णय कर दिया। वह सिंहासन-च्युत किया गया। भोंसले राज्य का नर्मदा का उत्तरवर्ती सारा प्रदेश, जो सागर और नर्मदा जिलों के नाम से कहा जाता था, अँगरेजी राज्य में मिलाया गया। राज्य का शेष भाग द्वितीय रघुजी भोंसले के अल्पवयस्क पौत्र को सौंपा गया और उसको अँगरेज रेजीडेण्ट की अध्यक्षता में रखा गया।

होल्कर के साथ युद्ध—पेशवा के आक्रमण का समाचार पाते ही होल्कर के सैनिक अधिकारियों ने भी अपनी सेनाएँ सँजोकर अन्य मराठा-सरदारों के साथ मिलने के विचार से दक्षिण की ओर प्रयाण कर दिया; परन्तु सर टॉमस हिस्लॉप तथा सर जॉन मैलकॉम ने उनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। मैलकॉम ने सन्धिवार्ता प्रारंभ की परन्तु उसका यही परिणाम निकल सका कि अँगरेजों की पक्षपातिनी तुलसीबाई और उसके प्रशंसकों की हत्या हो गई। दोनों सेनाओं का २१ दिसम्बर १८१७ ई० के दिन महीदपुर के युद्ध में सामना हुआ; विजय अँगरेजों के हाथ रही। इस युद्ध में होल्कर की पदाति-सेना दूर खड़ी तमाशा देखती रही। जनवरी सन् १८१८ ई० में मन्दसौर में सन्धि की गई जिसके अनुसार होल्कर ने 'सहायक-सन्धि' स्वीकार कर ली, अमीर खाँ और गफूर खाँ के अधिकृत प्रदेशों पर अपने अधिकार छोड़ दिये और बूँदी की पहाड़ियों के अन्तर्गत एवं उत्तर की ओर के प्रदेश पर से भी अपना कब्जा उठा लिया, राजपूत राज्यों से भेंट और कर प्राप्त करने के अपने समस्त अधिकार अँगरेज-सरकार को सौंप दिये। उसने 'सहायक-सेना' का खर्च देने, अन्य राज्यों के साथ अपने झगड़ों में कम्पनी-सरकार की मध्यस्थता और नियन्त्रण मानने तथा किसी भी राजशक्ति के साथ केवल अँगरेज रेजीडेण्ट के द्वारा पत्र-व्यवहार को छोड़कर अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने का वचन दिया।

सिन्धिया को सफलतापूर्वक इस युद्ध से अलग रखा गया था; १८१८ ई० में उसके साथ एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार उसको अजमेर प्रदेश कम्पनी को सौंप देना पड़ा और कम्पनी सरकार तथा उसकी राज्य-सीमाएँ फिर से निर्धारित की गईं।

इस संघर्ष में मराठों को परास्त होते देखकर और अँगरेज सेनाओं को अपने चारों ओर घेरा डालते देखकर, पिण्डारियों के दल अपने छिपने के स्थानों से खदेड़े जाकर दर-बदर भागने लगे; उनको चम्बल पार खदेड़ा गया और जनवरी १८१८ ई० तक उनके संघटित दल पूर्णतया विघटित कर दिये गये। करीम खाँ को गोरखपुर जिले में गणेशपुर की जागीर दी गई। इस प्रकार वह एक पिण्डारी से बदलकर सम्भ्रान्त व्यक्ति बना दिया गया; वासिल मुहम्मद ने कारागार में आत्महत्या कर ली; चीतू मालवा के जंगलों में भाग गया और सम्भवतः किसी चीते का आहार बनकर उसके पेट में समा गया।

सन् १८१८ ई० के समाप्त होते-होते तोपें शान्त हो चुकी थीं। मृत्यु की-सी शान्ति स्थापित कर दी गई थी। सिन्ध और पञ्जाब को छोड़कर अब अन्य कोई भी भारतीय राज्य अँगरेजी राज्य के बाहर न रह गया था। कम्पनी-सरकार के प्रभुत्व में अब कोई सन्देह न रह गया था। भारत में अँगरेजी राज्य का रेखा-चित्र अस्तित्व में आ गया था, अब उसमें केवल रंग भरना शेष रह गया था; हेस्टिंग्ज के उत्तरवर्ती अधिकारियों के लिए यही काम बच रहा था।

'पॉमर एण्ड कम्पनी' का मामला—इतिहास में 'पॉमर एण्ड कम्पनी का मामला' नाम से कुख्यात घटना से बढ़कर दुराचारपूर्ण और साथ ही साथ रोचक कोई ओर भी घटना हो सकती है, इसमें सन्देह है। किस्सा यह था कि १८१४ ई० में विलियम पॉमर नामक एक व्यक्ति हैदराबाद में साहूकार (बैंकर) बन बैठा था। उसकी साहूकारी खूब बढ़ने लगी और गवर्नर-जनरल के एक निकट सम्बन्धी सर विलियम रम्बोल्ड ने भी उसके व्यवसाय में साझा कर लिया। इन दोनों ने मिलकर हैदराबाद दरबार के एक मन्त्री चन्दूलाल को अपनी ओर मिला लिया और उसके द्वारा निजाम को, जो सदैव अर्थसंकट में फँसा रहता था, बड़ी-बड़ी रकमें ऋण के रूप में देना प्रारम्भ किया। इन लोगों की सूद की बहुत ऊँची दरों और इनकी कम्पनी के अन्य भ्रष्टाचारों को देखकर सर चार्ल्स मेटकॉफ ने इस कम्पनी को भंग करने का प्रस्ताव किया। परन्तु हेस्टिंग्ज को निजाम के दिवालियेपन की अपेक्षा सर रम्बोल्ड के हितों की रक्षा अधिक प्रिय थी। किन्तु बात कम्पनी के अध्यक्षों के कानों तक पहुँच गई। उन्होंने तत्काल इस कम्पनी के अधिकार-पत्र (लाइसेंस) को रद्द करने का आदेश दिया। जिस डाक में यह आदेश भेजा गया था, उसमें हेस्टिंग्ज पर छींटाकशी करनेवाले भी कुछ कागज-पत्र थे, जिनके कारण हेस्टिंग्ज ने गवर्नर-जनरल पद से त्याग-पत्र देकर जनवरी १८२३ ई० में इँगलैण्ड के लिए प्रस्थान कर दिया।

हेस्टिंग्ज के कार्यों का महत्त्व—हेस्टिंग्ज की उपलब्धियों ने वेलेजली के

प्रारम्भ किये हुए अँगरेजों के प्रभुत्व-स्थापन के कार्य को पूर्ण कर दिया। यह प्रभुत्व-स्थापना प्रतिरोधात्मक युद्धों का परिणाम न थी अपितु कॉर्नवालिस के समय से ही कम्पनी की नीति का सर्वप्रमुख अंग रही थी। वास्तव में आक्रामक-नीति का स्पष्ट निर्देश सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही सर जोशिआ चाइल्ड, मद्रास और बम्बई के कारखानेदारों को लिखे गये, अपने पत्रों में कर चुका था। हेस्टिंग्ज़ ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा था, "भारत में हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि ब्रिटिश सरकार, ऐलानिया तौर पर न सही, कार्यरूप में प्रभु-शक्ति बन जाय, दूसरे राज्य इसके करद-राज्य बन जायँ, चाहे कहने के लिए वे ऐसे न हों और अपने संरक्षण एवं सुरक्षा के आश्वासन के बदले में हम उन्हें अपने प्रति अधीन राज्यों के दो महान् कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य कर दें; एक तो वे अपनी सारी शक्ति लगाकर हमारे शासन की सहायता करें और दूसरे अपने सभी पारस्परिक झगड़ों में हमें मध्यस्थ बनायें।"

इसी लक्ष्य को सामने रखकर हेस्टिंग्ज़ ने अपने सारे सामरिक प्रयत्नों की योजना बनाई थी और जब उसने भारत से विदा ली उस समय ऐसे राज्यों की संख्या नगण्य रह गई थी जो अँगरेज-सरकार के साथ अधीनतापूर्ण सहयोग की सन्धियों से बँध न गये हों। अँगरेजों के प्रबलतम प्रतिपक्षी मराठों की सैन्य-शक्ति पूर्णतया नष्ट की जा चुकी थी और उसके भावी उत्थान को रोकने के लिए भी उपाय किये जा चुके थे। वेलेजली ने मुगल-सम्राट् को भारतीय राज्य-शक्ति के आकर्षण-बिन्दु के रूप में समाप्त कर दिया था; हेस्टिंग्ज़ ने पेशवा को मराठों की संघटन-कारिणी शक्ति के प्रतीक के रूप में नष्ट कर दिया था। राजनीति कभी रिक्त स्थान की रिक्तता सहन नहीं करती; इसलिए मुगल-सम्राट् और पेशवा के स्थान पर कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया। भारतीय राज्यों की स्वतन्त्रता छिन गई। वे अब किसी भारतीय राजतन्त्र के अंग न रह गये। अब वे एक दूसरे से वियुक्त, अलग-अलग छिटकी हुई इकाइयाँ मात्र रह गये; इन पर कम्पनी का आधिपत्य स्थापित हुआ और इनके सम्बन्ध सन्धियों द्वारा सुनिश्चित हो गये। समय के साथ-साथ अँगरेजों का प्रभुत्व इन सन्धियों की शर्तों की सीमाओं से कहीं आगे बढ़ गया। प्रभुत्व-क्षेत्र के इस विस्तार का वर्णन यथास्थान किया जायगा। अँगरेजों को भारत की प्रभु-शक्ति के पद पर प्रतिष्ठित करना हेस्टिंग्ज़ की महान् सफलता थी। अब इस प्रभु-शक्ति के अधिकारों का क्षेत्र बढ़ाना उसके उत्तराधिकारियों का कार्य रह गया।

हेस्टिंग्ज़ जनवरी १८२३ ई० में भारत से बिदा हुआ और फरवरी १८२४ ई० में प्रथम बर्मी-युद्ध छिड़ा, जिसके परिणामस्वरूप अँगरेजी राज्य और आधि-

पत्य का और भी विस्तार हुआ। यह महान् कार्य हेस्टिंग्ज़ के उत्तराधिकारी लॉर्ड एम्हर्स्ट ने सम्पन्न किया जो १८२८ ई० तक गवर्नर-जनरल के पद पर प्रतिष्ठित रहा।

जॉन एँडम्स का शासन-प्रबन्ध—हेस्टिंग्ज़ की विदाई और अगस्त १८२३ ई० में एम्हर्स्ट के पहुँचने के बीच के सात महीनों में कलकत्ता-कौंसिल का प्रधान सदस्य जॉन एँडम्स गवर्नर-जनरल का कार्य-भार सँभाले रहा। उसका सात महीनों का यह शासन-काल उसके द्वारा प्रेस पर नियन्त्रण (सेंसर) स्थापित किये जाने और पॉमर एण्ड कम्पनी की समाप्ति—इन दो कार्यों के कारण महत्त्वपूर्ण है।

भारत में समाचार-पत्रों की स्थापना का श्रेय अँगरेज उद्योगपतियों को है। जनवरी १७८० ई० में रिके ने अँगरेजी में 'बंगाल गजट' का प्रकाशन प्रारम्भ किया; यही प्रथम भारतीय समाचार-पत्र था। यह पत्र हेस्टिंग्ज़ के शासन-प्रबन्ध की कड़ी आलोचना करता था; अतः १७८२ ई० में इसका दमन किया गया। भारतीय प्रेस द्वारा कम्पनी-सरकार की तीव्र निन्दा किये जाने के परिणामस्वरूप १७९९ ई० में सेंसर की स्थापना की गई। कम्पनी-सरकार के हितों और किसी अँगरेज के व्यक्तिगत स्वार्थों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की भावना का विकास इस समय तक न हुआ था; यह चीज बहुत बाद की है। प्रारम्भिक दिनों में कम्पनी से सम्बन्ध न रखनेवाले अँगरेज कम्पनी के दुराचारों का भण्डाफोड़ करने में बहुत आनन्द का अनुभव करते थे। कम्पनी-सरकार ने भी अनेक ईमानदार अँगरेज सम्पादकों को भारत से बाहर निकाल कर और प्रेस-सम्बन्धी बहुत-से कानून बनाकर इस आलोचना का बदला लिया। ये कानून १८१७ ई० तक चलते रहे, जब लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने इनकी कठोरता को कम कर दिया। हेस्टिंग्ज़ ने केवल कुछ विषयों की आलोचना समाचार-पत्रों में करने का निषेध किया और अन्य बातों में उसने प्रकाशन-संस्था को स्वतन्त्र कर दिया; परन्तु यह स्वतन्त्रता अधिक समय तक बनी न रह सकी। हेस्टिंग्ज़ के पश्चात् मि० एँडम्स ने 'कलकत्ता जरनल' के सम्पादक जेम्स सिल्क बकिंघम की कड़ी एवं व्यंग्यपूर्ण आलोचनाओं से तिलमिलाकर, नियम बना दिया कि प्रत्येक प्रकाशक के लिए सरकार से अधिकार-पत्र (लाइसेंस) लेना अनिवार्य है। परन्तु बकिंघम के चुभते व्यंग्य फिर भी बन्द न हुए और एँडम्स को उसे भारत से बाहर निकालने का कठोर कदम उठाना पड़ा। १८१८ ई० से पूर्व देशी भाषा में कोई समाचार-पत्र न निकलता था; इस वर्ष धर्मप्रचारक इतिहासज्ञ जॉन क्लर्क मार्शमैन के सम्पादकत्व में 'समाचार-दर्पण' नामक पहला देशी भाषा का समाचार-पत्र निकला। देशी भाषा के समाचार-पत्रों की प्रगति की गति वर्त-

मान काल में ही इतनी तीव्र हो पाई है; अतः प्रेस-सम्वन्धी प्रारम्भिक कानूनों का लक्ष्य अँगरेजी के समाचार-पत्र और सम्पादक वने।

एँडम्स का दूसरा उल्लेखनीय कार्य 'पॉमर एण्ड कम्पनी' का दमन था। उसने इस कम्पनी को आदेश दिया कि निजाम को अधिक ऋण न दे। अँगरेजों ने उत्तरी सरकारों पर अपने अधिकार के वदले में निजाम को वार्षिक नजराना देना स्वीकार किया था। नजराने की यह रकम कम्पनी के खजाने में जमा होती जा रही थी। इस रकम में से 'पॉमर एण्ड कम्पनी' का निजाम पर जितना भी ऋण था, एँडम्स ने सब चुका दिया।

प्रथम वर्मी-युद्ध—१८२४-२६ ई०—साम्राज्य-विस्तार की योजनाओं के वर्णन की ओर पुनः ध्यान देने पर हमें अब पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों से, जहाँ इस दीर्घ काल में कम्पनी के शस्त्र चमकते रहे, ध्यान हटाकर पूर्व और उत्तर-पूर्व के प्रदेशों की ओर दृष्टि डालनी होगी; इससे पूर्व इस ओर के प्रदेशों के साथ कम्पनी के सम्वन्ध के विषय में हमें कुछ भी सुनने को नहीं मिला है। १८२३ ई० तक पश्चिम के प्रदेशों में कम्पनी का राज्य-विस्तार चरम सीमा पर पहुँच गया था; अब इस ओर पञ्जाव और सिन्ध ही उसके आधिपत्य से वाहर रह गये थे और इनकी वारी भी शीघ्र ही आनेवाली थी। भारत की प्रभु-शक्ति का पद ग्रहण कर लेने पर कम्पनी का प्रभुत्व-विस्तार स्वभावतया भारत की भौगोलिक सीमाओं के छोर तक पहुँचने लगा। जैसे-जैसे कम्पनी की अधिकार-सीमा बढ़ती गई और उन राज्यों की सीमाओं के सम्पर्क में आती गई, जो अभी तक इसके प्रभाव-क्षेत्र से वाहर थे, वैसे-वैसे साम्राज्य-रक्षा की नई-नई समस्याएँ सामने आने लगीं, जिनके परिणामस्वरूप नये-नये युद्ध छिड़ते रहे और कम्पनी का साम्राज्य-विस्तार होता गया। इस प्रकार युद्ध एवं परिणामतः विस्तार का यह चक्र तव तक चलता गया जब तक कम्पनी की सीमा बराबर की टक्कर के दूसरे साम्राज्य से न जा लगी। यही साम्राज्य-रक्षा की समस्याएँ प्रथम वर्मी-युद्ध का कारण बनीं।

युद्ध के कारण—प्रथम वर्मी-युद्ध का मूल-कारण यह था कि पूर्व की ओर कम्पनी एवं वर्मा की राज्य-सीमा के बीच कोई सुनिश्चित प्राकृतिक हदवन्दी नहीं थी। बर्मी-राज्य भी कम्पनी के समान विजयों एवं अन्य राज्यों को हड़प करने की नीति का अनुसरण करते हुए बढ़ा था। वर्मा राज-वंश के संस्थापक अलोम्प्रा के अभ्युदय से पूर्व वर्मा-राज्य की भौगोलिक सीमाएँ सुनिश्चित थीं। इसके पर्वतों एवं घाटियों में एक दूसरे से स्वतन्त्र शक्तिशाली सरदार राज्य करते थे। अलोम्प्रा इन्हीं में से एक सरदार था। उसने १७५० ई० में पेगू को अपने राज्य में मिलाकर अपना राज्य बढ़ाने का कार्य-क्रम प्रारंभ कर दिया था। उसके

उत्तराधिकारियों और विशेषतया छठवें शासक बोदाओफ़ा (१७७९–१८१९ ई०) ने एक विस्तृत राज्य का निर्माण कर लिया। १७८४ ई० तक पेगू, तेनास्सेरिम और अराकान के स्वतन्त्र राज्य आवा-दरबार के अधीन हो चुके थे। अराकान की विजय के समय से आवा के दरबार का कम्पनी के साथ सम्पर्क प्रारंभ हुआ। इस विजय से अराकान से अनेक शरणार्थी ब्रिटिश राज्य में आ गये। वर्मी सरकार ने कम्पनी से इन लोगों को लौटा देने की माँग की और कम्पनी के इनकार करने पर दोनों सरकारों के सम्बन्धों में तनाव आ गया। आवा-दरबार ने कम्पनी की इनकारी को अपना प्रत्यक्ष विरोध समझा और भारत में कम्पनी की राज्य-विस्तार नीति से परिचित होने के कारण उसे शंका होने लगी कि कहीं इन अराकानी शरणार्थियों की सहायता से अँगरेज अराकान को आक्रांत न कर लें। कम्पनी एवं वर्मा-सरकार के बीच पैदा हुए इस तनाव को दूर करने के लिए दो बार कर्नल साइम्स की अध्यक्षता में और एक बार लेफ्टिनेंट कैनिंग की अधीनता में कम्पनी ने अपने दूत भेजे, परन्तु कोई फल न हुआ।

अँगरेजों की ओर से शंकित आवा-दरबार ने उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया, क्योंकि अँगरेज इसी ओर से, बंगाल के स्थलीय मार्ग से, बर्मा पर आक्रमण कर सकते थे। बर्मियों का लक्ष्य यह था कि अँगरेजों की अधिकार-लिप्सा का आखेट बनने से पहले ही इस ओर के जितने अधिक प्रदेश संभव हों हथिया लिये जायँ। १८२२ ई० में उनके योग्य सेनापति महाबुंदेला ने आसाम-प्रांत पर आवा-दरबार का आधिपत्य स्थापित कर दिया। इसके पश्चात् मनीपुर का छोटा सा पहाड़ी राज्य हस्तगत करते हुए उसने कछार-राज्य में प्रवेश किया; परन्तु अँगरेजों ने इस राज्य को अपना संरक्षित राज्य घोषित कर, इसको बर्मियों के हाथ में जाने से बचा लिया।

बंगाल की उत्तर-पूर्वीय सीमा की ओर आवा-राज्य की निरन्तर प्रगति से अँगरेज सशंक हो उठे। अपनी एकाकी निवास की परम्परा के कारण वे अपनी राज्य-सीमा को किसी अन्य राज्य से टकराते देखकर घबरा जाते हैं; अतः उनका सदैव यह प्रयत्न रहा है कि उनके और दूसरे राज्य के बीच कोई तटस्थ राज्य स्थापित हो जाय और इस तटस्थ प्रदेश के वे संरक्षक बन जायँ तथा अन्य राज्यों को इसके मामलों में हस्तक्षेप न करने दें। इसी नीति के कारण अँगरेजों ने कछार-राज्य को अपने संरक्षण में ले लिया। अँगरेजों की इस कूटनीतिक चाल से बर्मियों का रोष और भी भड़क उठा। वे समझने लगे कि उनके राज्य-विस्तार को रोकने के लिए ही अँगरेजों ने यह चाल चली है। बस फिर क्या था, सारा वातावरण युद्ध के अधिदेवता के आक्रोश से भर उठा। चटगाँव जिले के दक्षिणी छोर पर

अवस्थित शाहपुरी के टापू पर बर्मियों के आक्रमण ने युद्ध का तात्कालिक कारण उपस्थित कर दिया। अँगरेजों ने इस द्वीप पर बर्मियों के अधिकार का विरोध किया। शाहपुरी पर बर्मियों का अधिकार कर लेना बंगाल के लिए भय का विषय बन जाता था; अतः बर्मियों के अधिकार के औचित्य अथवा अनौचित्य के विचार से वढ़कर शाहपुरी के सामरिक महत्त्व की दृष्टि से अँगरेजों ने इस पर बर्मियों के अधिकार का विरोध किया था। लॉर्ड एम्हर्स्ट ने इस टापू पर बर्मियों के हक के औचित्य पर विचार करने के लिए एक सम्मिलित समिति बनाने का प्रस्ताव किया और इस टापू पर कुछ अँगरेज सन्तरियों को तैनात कर दिया। बर्मियों ने इन सन्तरियों को भगाकर अपना झण्डा गाड़ दिया। एम्हर्स्ट ने टापू पर पुनः अधिकार कर बर्मियों से बदला लिया। समझौते की बातचीत विफल हुई और एम्हर्स्ट ने २४ फरवरी १८२४ ई० को युद्ध की घोषणा कर दी।

बर्मा की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण यह युद्ध, जिसमें शौर्य, पराक्रम अथवा रण-कौशल का अभाव था, दो वर्षों तक घिसटता रहा। महाबुन्देला के सेनापतित्व में बर्मी सेना ने अपना सारा ध्यान उत्तर-पूर्व की ओर से बंगाल में घुसने के प्रयत्नों में केन्द्रित किया और उधर अँगरेज अपनी सामुद्रिक शक्ति के भरोसे पर सर आर्चिबाल्ड कैम्पबेल के सेनापतित्व में रंगून पर अधिकार करने के लिए, इरावदी नदी के मार्ग से, आवा की ओर बढ़े। इधर महाबुन्देला ने चटगाँव की सीमा पर युद्ध करते हुए अँगरेजों को रमू नामक स्थान पर परास्त किया और उधर अँगरेज सेना ने मई १८२४ ई० में रंगून पर अधिकार कर लिया। रंगून पर अँगरेजों के अप्रत्याशित अधिकार ने बर्मियों को अचम्भे में डाल दिया। उन्होंने अपने सेनापति महाबुन्देला को वापिस बुला लिया; महाबुन्देला दोनाबेन नामक स्थान की ओर चल दिया। जब बर्मियों की प्रधान सेना कैम्पबेल के साथ उलझी हुई थी; अँगरेजों ने बर्मा की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भी आक्रमण कर दिया। कर्नल रिचर्ड्स के सेनापतित्व में एक अँगरेज सेना ने १८२५ ई० के प्रारम्भ में आसाम पर आसानी से अधिकार कर लिया। बर्मा की राजधानी आवा पर मनीपुर एवं कछार तथा अराकान—इन दोनों ओर से आक्रमण किया गया; परन्तु ये हमले बुरी तरह से विफल हुए। फरवरी १८२५ ई० में कैम्पबेल ने रंगून से प्रयाण कर २८ ता० को दोनाबेन में युद्ध किया, जिसमें महाबुन्देला वीरगति को प्राप्त हुआ और युद्ध का एक प्रकार से अन्त हो गया। दोनों पक्ष थक चुके थे; अतः और थोड़ी-सी झड़पों के बाद समझौते की बातचीत होने लगी, जिसके फलस्वरूप फरवरी १८२६ ई० में यान्डबू की सन्धि पर दोनों पक्षों ने हस्ताक्षर किये। इस सन्धि से अँगरेजों

को अराकान तथा टनासेरिम के प्रान्त मिले; आवा-दरबार ने मनीपुर की स्वतन्त्रता मान लेना, आसाम और कछार एवं जेंता राज्यों पर अपने अधिकारों को त्याग देना, आवा में एक अँगरेज रेजीडेण्ट रखना और युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए अँगरेजों को एक करोड़ रुपये देना स्वीकार किया। इसके साथ-साथ एक व्यापारिक सन्धि भी की गई।

इस युद्ध से कम्पनी का खजाना खाली अवश्य हो गया, परन्तु इससे उसे बहुत अधिक लाभ हुए; इससे बंगाल के समुद्र-तट के साथ बहुत लाभदायक समुद्र-तट सम्मिलित हो गये, उत्तर-पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गई और कम्पनी के साधन के स्रोत बढ़ गये। बर्मा में अँगरेजों ने अपने लिए जो पाँव रखने की जगह बना ली, उससे भविष्य में बर्मा को विजय करना बहुत सरल हो गया। लार्ड एम्हर्स्ट को पुरस्कार-स्वरूप अराकान का अर्ल (अमीर) बनाया गया। वह फरवरी १८२८ ई० में भारत से विदा हुआ।

भरतपुर पर अधिकार---एम्हर्स्ट के कार्य-काल में आन्तरिक महत्त्व की एकमात्र घटना भरतपुर पर अधिकार थी। यह घटना इसलिए महत्त्व रखती है कि इसका सम्बन्ध प्रभु-शक्ति के उत्तराधिकार निर्णय के अधिकार के विकास से है। भरतपुर के राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके अल्पवयस्क पुत्र और इस बालक-राजा के चचेरे भाई दुर्जनसाल में गद्दी के लिए झगड़ा ठन गया। कम्पनी-सरकार ने राजा के अल्पवयस्क पुत्र को शासक घोषित किया, परन्तु दुर्जनसाल स्वयं राजा बन बैठा और यदि आवश्यक हुआ तो तलवार के बल पर भी इस मामले का फैसला करने के लिए तैयार होने लगा। पोलिटिकल एजेण्ट सर डेविड ऑक्टरलोनी ने सक्रिय सैनिक-प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया, परन्तु गवर्नर-जनरल ने उसको रुक जाने का आदेश दिया, जिस पर उसने त्याग-पत्र दे दिया। थोड़े ही दिनों में उसकी मृत्यु हो गई।

अनावश्यक हिचकिचाहट के बाद एम्हर्स्ट ने सक्रिय कदम उठाने का निश्चय किया। लॉर्ड कॉम्बरमेयर को यह कार्य-भार सौंपा गया। भरतपुर के किले को, जहाँ दुर्जन ने डेरा डाल रखा था, तोड़कर उस पर अधिकार किया गया। अँगरेज सेनाओं ने जी भरकर लूटमार मचाई। सर चार्ल्स मेटकाफ ने अपनी सरकार को लिखा था कि "भरतपुर में हमारी लूटपाट बहुत लज्जाजनक थी . . . मैं जब तक घूसखोर एजेण्टों से पिण्ड नहीं छुड़ा लेता, तब तक यहाँ उस बालक राजा का प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता, जिसकी रक्षा का ढिंढोरा पीट कर हम यहाँ आये, परन्तु जब से बालक राजा हमारे हाथ में आया है, तब से उसके अन्तिम लोटे तक को लूटने में लगे हुए हैं।"

बर्मी-युद्ध की विजय और भरतपुर पर अधिकार से होनेवाले लाभों ने लोगों का ध्यान कम्पनी की उस आर्थिक दुरवस्था की ओर से हटा दिया, जो एम्हर्स्ट की परिहार्य भूलों का परिणाम थी। इसके परिणाम उसके उत्तराधिकारी बैंटिक को झेलने पड़े और इस आर्थिक कमी को दूर करने के लिए उसको घोर परिश्रम करना पड़ा।

ग्यारहवाँ अध्याय

आंतरिक सुधार, १८२८-३६ ई०

लॉर्ड विलियम बैंन्टिक का शासन-काल—भारत में अँगरेजी कम्पनी का विकास-चक्र आक्रामक युद्ध-नीति, तत्पश्चात् शान्ति और पुनः युद्ध—इस क्रम से परिवर्तित होता रहा है। १८२८-३६ ई० तक के वर्ष, जिनमें लॉर्ड विलियम बैंन्टिक भारत का भाग्य-विधाता रहा, हेस्टिंग्ज और एम्हर्स्ट के युद्ध-काल एवं आकलैण्ड तथा एलेनवरा के अफगान तथा सिन्ध के युद्धों के बीच शान्तिपूर्ण काल के वर्ष थे। हम पहले कह चुके हैं कि बीच-बीच में कम्पनी-सरकार को जो शान्तिपूर्ण नीति अपनानी पड़ी, वह उसके नीति-परिवर्तन का फल न होकर उसकी बाह्य अथवा आन्तरिक समस्याओं का प्रभाव-मात्र थी। इस शान्ति-काल को देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि कम्पनी ने कभी भी राज्य-विस्तार की नीति का त्याग कर दिया हो; उसकी राज्य-विस्तार नीति तो १८५७ ई० तक निरन्तर बनी रही। १८२८-३६ ई० के बीच का शान्ति-काल उस आर्थिक दुरवस्था का परिणाम था जो वर्मी-युद्ध के फलस्वरूप कम्पनी के ऊपर छा गई थी; कहना न होगा कि यह शान्ति-काल दो छलाँगों के बीच का व्यवधान-काल मात्र था। इस काल में भी जहाँ कहीं युद्ध किये बिना अँगरेजी राज्य अथवा प्रभाव बढ़ सकता था, बढ़ाया गया। इस कार्य में बैंन्टिक भी अपने पूर्व अथवा परवर्ती किसी घोर-साम्राज्यवादी से किसी भी प्रकार कम सतर्क न था। उसने भी १८३२ ई० में कछार को, १८३४ ई० में कुर्ग को और १८३५ ई० में जेंता-राज्य को अँगरेजी राज्य में मिलाया तथा मैसूर का शासन-प्रवन्ध अपने हाथ में लेकर वहाँ कम्पनी-सरकार का प्रभाव स्थापित किया।

आन्तरिक सुधार—बैंन्टिक जब गवर्नर-जनरल हुआ तो उसने देखा कि कोष खाली है और ऋण वहुत बढ़ गया है। उसके सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि किस प्रकार राजस्व की आय और राजकीय व्यय में सन्तुलन स्थापित किया जाय। उसके समस्त सुधार-कार्य इसी समस्या के समाधान के लिए प्रवृत्त हुए। अर्थ-संग्रह, व्यय कम करना तथा राजस्व की आय बढ़ाना, ये उसकी नीति के ध्येय बन गये। निकट भविष्य में कम्पनी के अधिकार-पत्र की पुनः स्वीकृति को दृष्टि में रखते

हुए अर्थ-संग्रह और सुधार दुगने आवश्यक हो गये। फ्रांस की राज्य-क्रांति के सिद्धान्तों से उत्पन्न उदार शासन-तंत्र की लहर गत शताब्दी के पूर्वार्ध के उत्तर भाग में यूरोप में फैलती जा रही थी और इँगलिश चैनेल को पारकर यह इँगलैंड में भी पहुँच गई थी, जिसके फलस्वरूप लोगों के मन नई आशाओं एवं आकांक्षाओं से उत्फुल्ल हो रहे थे। पार्लियामेण्ट में सुधार की पुकार मच गई थी, जिसके परिणामस्वरूप १८३२ ई० का सुधार-बिल सामने आया। इँगलैण्ड में कम्पनी के अध्यक्ष भली भाँति समझ रहे थे कि यदि वे भारत में कम्पनी के शासन का कोई अच्छा चित्र सामने न रख सके तो उसका अधिकार-पत्र पुनः स्वीकृति न पा सकेगा; अतः भारत में अँगरेजी शासन को सुन्दर एवं लाभकारी रूप में लाने के लिए बैंन्टिक को भेजा गया। कम्पनी के अध्यक्ष यह भी समझ रहे थे कि चीन के व्यापार का उनका एकाधिकार भी छिननेवाला है; पार्लियामेंट में इस उद्देश्य के प्रस्तावों की बाढ़ सी आ गई थी। स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपना लेने के कारण, एकाधिकार समाप्त करना इँगलैण्ड का सिद्धान्त ही बन गया था। कम्पनी को इससे चीन के अफीम के अति लाभकारी व्यापार से हाथ धोना पड़ता था; इसलिए खर्चे कम करने और युद्धों से किनारा करने की नीति और भी आवश्यक हो गई थी।

आर्थिक सुधार—बैंन्टिक के आर्थिक सुधार दो लक्ष्यों को सामने रखकर चले थे—एक तो व्यय कम करना और दूसरे राजस्व की आय बढ़ाना।

बैंन्टिक ने पद-ग्रहण करने पर शीघ्र ही दो अनुसन्धान समितियाँ नियुक्त कीं—एक सैनिक व्यय और दूसरी सार्वजनिक शासन के व्यय की जाँच-पड़ताल करने तथा इसको कम करने के उपाय सुझाने के लिए। इन समितियों के सुझावों पर उसने अनेक व्यर्थ के पदों को तोड़ दिया, बढ़े हुए भत्ते बन्द कर दिये गये और सार्वजनिक आयोग के अधिकारियों (सिविल अफसरों) के वेतन घटा दिये गये। सैनिक आयोग में भत्ते कम करने के अतिरिक्त और किसी छँटनी की गुंजाइश न थी। सेना को नियमित वेतन के अतिरिक्त भत्ता भी मिलता था, जिसकी रकम सेना की नियुक्ति के स्थान के अनुसार निश्चित होती थी। कम्पनी के अध्यक्षों ने बैंन्टिक के आने से पहले भी इस भत्ते को तोड़ने का आदेश भेजा था, परन्तु तब समझाने-बुझाने के अतिरिक्त इस दिशा में और कोई कदम न उठाया गया था। परन्तु अब यह काम अनिवार्य हो गया था और अध्यक्षों ने बैंन्टिक को तत्काल भत्तों को कम करने का आदेश दे दिया था। अतः बैंन्टिक के सामने और कोई चारा न था; इसलिए उसने नवम्बर १८२८ ई० में एक आदेश जारी किया, जिसके अनुसार कलकत्ता से ४०० मील दूरी तक के सभी स्थानों पर सेना का भत्ता आधा कर दिया गया। इस आदेश के निकलते ही सेना में हुल्लड़ मच गया;

गवर्नर-जनरल को खुले आम अपमानित किया गया और भारतीय आंग्ल समाचार-पत्रों ने उस पर अपने तीखे व्यंग्य-बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। बैन्टिक अपनी बात पर डटा रहा और यह आन्दोलन स्वाभाविक मृत्यु से समाप्त हो गया। इस प्रकार बैन्टिक ने २०,००० की वार्षिक बचत कर ली।

व्यय कम करने का दूसरा उपाय बैन्टिक ने यह अपनाया कि कम्पनी द्वारा स्थापित न्याय-विभाग में छँटनी कर दी। उसने अपील सुनने तथा दौरा करने-वाले प्रान्तीय न्यायालय तोड़ दिये। वही जज अपील के न्यायाधिकरण के रूप में अधीन न्यायालयों के फैसलों की अपील भी सुनते थे और दौरा करनेवाले न्यायाधिकरण के रूप में वर्ष में दो बार न्याय के मामलों पर विचार भी करते थे। यह व्यवस्था सर्वथा दोषपूर्ण थी। न्यायाधीशों की न्याय करने की योग्यता सन्देहास्पद थी। बैन्टिक ने न्यायालयों की आलोचना करते हुए ठीक ही कहा था कि ये न्यायालय "उन कर्मचारियों के विश्रामस्थल हैं, जो अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के लिए अयोग्य समझे जाते हैं।" इन प्रान्तीय न्यायाधिकरणों को भंग करना मित-व्ययिता एवं न्याय-व्यवस्था में सुधार—इन दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

राजस्व बढ़ाने के उपाय—अफीम का व्यापार—चीन के बाजारों और पूर्वीय द्वीप समूह में अफीम की बहुत माँग थी। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि एक सभ्यता का अभिमान करनेवाली जाति अफीम के घातक प्रभावों की ओर बिलकुल ध्यान न देकर इससे पैसा कमाये; परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि अफीम का व्यापार कम्पनी के आय के साधनों में प्रमुख था। बिहार और बनारस में अफीम उपजाने के ठेके दिये जाते थे और कम्पनी सरकार अफीम के खरे-खोटेपन की जाँच करती थी। मालवा में भी अफीम बनती थी, परन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी कम्पनी इससे लाभ न उठा पाई थी। बम्बई में इसके आयात का निषेध होने के कारण, यह अफीम कराची के मार्ग से डामन और ड्यू के पुर्तगाली बंदरगाहों में पहुँचाई जाती थी और वहाँ से पुर्तगाली जहाजों में लदकर पूर्वी देशों की मंडियों में पहुँचती थी। इस प्रकार पुर्तगाली प्रतिस्पर्धा कम्पनी के अफीम-व्यापार को बहुत क्षति पहुँचा रही थी। बैन्टिक ने देखा कि यदि मालवा की अफीम को पुर्तगालियों के हाथ में पड़ने से रोका जा सके तो कम्पनी पूर्व की मंडियों में अफीम के मनमाने भाव रख सकती है और इस प्रकार बहुत लाभ उठा सकती है। अतः उसने मालवा से बम्बई के बंदरगाह तक सीधे अफीम पहुँचाने के लिए अधिकार-पत्र (लाइसेंस) जारी किये, जिससे इस ओर से भी कम्पनी की आय खूब बढ़ गई।

माफीदारियों को छीनना—शासक लोग किन्हीं व्यक्तियों अथवा संस्थाओं

को भूमि-कर से मुक्त भूमि (माफीदारी) हमेशा से देते आये हैं। अँगरेजों ने १७६५ ई० में दीवानी पाते ही घोषणा कर दी थी कि इस वर्ष (१७६५ ई०) से पूर्व की माफीदारियों को विधि-सम्मत समझा जायगा और शेष छीन ली जायँगी। अर्थात् उन पर भूमि-कर लगाया जायगा। १७९३ ई० और तत्पश्चात् १८१९ ई० के एक अधिनियम (रेग्यूलेशन) द्वारा कलक्टरों को माफीदारियों की जाँच करने, इनके दस्तावेजों को देखने और गवाहों की जाँच करने तथा इस प्रकार विधि-विरुद्ध सिद्ध होनेवाली माफियों को समाप्त करने का अधिकार दिया गया। माफीदारों को कलक्टरों के फैसलों की अपील दीवानी अदालत (सिविल कोर्ट) में करने का अधिकार स्वीकार किया गया। कम्पनी-सरकार के अधिकारियों की किसी प्रकार यह धारणा बन गई थी कि अनेक माफियाँ जाली तथा विधि-विरुद्ध हैं; परन्तु इस जाँच-पड़ताल के फलस्वरूप जितनी माफियाँ खतम की गईं वे इन अधिकारियों की आशाओं से बहुत कम थीं। परन्तु बर्मी-युद्ध से कम्पनी-सरकार की जो आर्थिक दुरवस्था हो गई थी, उसके फलस्वरूप पुनः इस ओर ध्यान दिया गया। १८२८ ई० में अधिनियम ३ स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार कलक्टरों को माफियाँ समाप्त करने के लिए तत्परतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रेरित किया गया और उनके फैसलों की अपील सुनने के लिए विशेष कमिश्नर नियुक्त किये गये। इस प्रकार जिनकी माफियाँ छीनी गईं, वे किसी भी प्रकार पक्का सबूत सामने न ला सकते थे, क्योंकि समय ने ऐसे सबूतों को नष्ट कर दिया था। परन्तु अर्थलोलुप कम्पनी-सरकार उनकी प्रार्थनाओं और तर्कों पर ध्यान ही क्यों देती; अतः माफियाँ धड़ाधड़ खतम होने लगीं। इससे असंतोष फैलना स्वाभाविक था और जिनको क्षति उठानी पड़ी उन्होंने इसको गाँठ बाँध लिया और अँगरेजों के विरुद्ध एक और शिकायत बन गई जो १८५७ ई० के विप्लव के कारणों में सम्मिलित हुई। माफियाँ छीनने की नीति से बैंन्टिक ने कम्पनी-सरकार के राजस्व में ३० लाख रुपये वार्षिक की बढ़ती की।

पश्चिमोत्तर प्रांत में भूमिकर का बन्दोबस्त—राजस्व के सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रांत (आधुनिक आगरा अथवा उत्तर प्रदेश) में भूमि का बन्दोबस्त था। यह प्रांत अवध एवं सिंधिया राज्य से प्राप्त हुए भूभागों को मिलाकर बनाया गया था। वेलेजली ने स्थायी बन्दोबस्त का वचन दिया था, परन्तु कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के आदेश के अनुसार भूमि-कर का पाँच-साला बन्दोबस्त ही किया गया था। भूमि की दशा में थोड़ा भी सुधार देखकर भूमि-कर बढ़ा देने की प्रवृत्ति से किसानों का उत्साह ठंडा पड़ जाता था और कृषि की दशा सुधारने में उनकी कोई रुचि न रह जाती थी, जिससे कृषि की उपेक्षा की

जाने लगी। यह दशा देखकर अधिकारियों का ध्यान कृषि की ओर आकर्षित हुआ और होल्ट मैकेन्जी के परिश्रम के फलस्वरूप १८२२ ई० के अधिनियम (रेग्यूलेशन) ७ के रूप में भूमि-वन्दोवस्त की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत हुई। परन्तु इस योजना के विस्तृत होने के कारण कलक्टर लोग इसके अनुसार कार्य करने में टालमटोल करने लगे। परिणाम यह हुआ कि दस वर्ष तक लागू रहने पर भी यह योजना कोई फल न दिखा सकी। वैंन्टिक ने पहुँचते ही इस ओर ध्यान दिया। उसने सारे प्रांत का दौरा किया और बड़े-बड़े जानकार लोगों से विचार-विमर्श कर भूमि-वन्दोवस्त की एक योजना बनाई जो १८३३ ई० में कानून बनी। वैंन्टिक की इस योजना के अनुसार, वोर्ड ऑफ रेवेन्यू के नये प्रधान रॉवर्ट बर्ड की अध्यक्षता में अत्यंत परिश्रम के साथ सारी भूमि की जाँच की गई और नकशा बनाया गया; जमीन का वर्गीकरण किया गया और ३० वर्ष के लिए लगान निर्धारित किया गया। यह बन्दोवस्त स्थानीय स्थिति के अनुसार रैयतों, जमींदारों अथवा ग्राम-पंचायतों के साथ किया गया। सामान्यतया वैंन्टिक का यह वन्दोवस्त टोडरमल के बन्दोवस्त से वहुत समानता रखता है। इस व्यवस्था से सरकार की आय निश्चित हो गई, भूमि के अधिकारियों के लेखे-जोखे रखे जाने लगे और भूमि की दशा में सुधार को प्रोत्साहन मिला। परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि इससे किसानों पर लगान का वोझ वहुत बढ़ गया। भूमि की उपज में सरकार का हिस्सा असाधारण रूप से अत्यधिक रखा गया। इन आर्थिक और राजस्व-सम्बन्धी सुधारों के परिणाम स्वरूप एम्हर्स्ट के समय की आर्थिक दुरवस्था दूर होकर सरकारी कोष में बचत की रकम बढ़ने लगी।

सार्वजनिक सेवाओं में भारतीयों की नियुक्ति—अब तक कम्पनी-सरकार की यह घोषित नीति रही थी कि भारतीयों को ऊँचे पदों पर न रखा जाय। यह नीति कॉर्नवालिस के समय से चली आ रही थी, जिसने भारतीयों का विश्वास न करना एक सिद्धांत वना दिया था। अँगरेजी राज्य की सीमाएँ जैसे-जैसे बढ़ती गईं, पढ़े-लिखे भारतीय लाभप्रद पदों से वंचित होने लगे; इससे बहुत असंतोष फैलने लगा। अपने पर विश्वास न किया जाना भारतीयों को बहुत अपमानजनक लगता था। वैंन्टिक ने इस दिशा में जो सुधार किये वे भारतीयों की भावनाओं का अथवा न्याय की माँग का आदर करने के लिए नहीं अपितु परिस्थितिवश किये। राज्य-विस्तार और शासन के कार्य में विस्तार के साथ-साथ प्रत्येक पद पर किसी अँगरेज को नियुक्त करना अत्यधिक व्ययपूर्ण सिद्ध हो रहा था। भारतीय कम वेतन पर मिल जाते थे; इसलिए धीरे-धीरे वे अधीन पदों पर और विशेषतया न्यायालयों में नियुक्त किये जाने लगे। इन भारतीय कर्मचारियों को निपुण 'बाबू'

बनाने और इनमें अपने अँगरेज अधिकारियों के आदेशों को समझ सकने की क्षमता लाने के लिए अँगरेजी की शिक्षा प्रारम्भ की गई, जिस पर आगे प्रकाश डालेंगे। बंगाल प्रेसीडेंसी के न्यायाधिकरण को पुनः संगठित करने के लिए १८३१ ई० में प्रचारित एक अधिनियम द्वारा, बैंन्टिक ने भारतीयों को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त करने का अधिकार दिया और भारतीय-न्यायाधीशों का अधिकार-क्षेत्र एक निश्चित रकम तक के मुकदमों तक सीमित कर दिया। बैंन्टिक ने भारतीय न्यायाधीशों की तीन श्रेणियाँ बनाईं, जिनमें सबसे ऊँची श्रेणी में 'सदर अमीन' होते थे, जिनका वेतन ७५० रु० होता था। बैंन्टिक से पहले भी, शासन-प्रबन्ध की आवश्यकताओं से बाध्य होकर, कॉर्नवालिस के भारतीयों पर अविश्वास के सिद्धान्त की अवहेलना करनी पड़ती रही थी और भारतीय अधीन पदों पर नियुक्त किये जाते रहे थे। बैंन्टिक ने केवल यही किया कि ऐसी नियुक्तियों को नियमानुमोदित घोषित कर दिया। यह कहना कि बैंन्टिक की यह नीति कॉर्नवालिस के सिद्धांत की मूर्खता को समझ जाने अथवा 'भारतीयों के प्रति भेदभाव के दरवाजों को उन्मुक्त करने और उन्हें राज्य के सभी प्रकार के सम्मानों और लाभों में पूरा-पूरा हिस्सा देने' के निश्चय का परिणाम थी—उन अनेक निरर्थक कथनों में से एक है जो अँगरेजों के लिखे हुए भारतीय इतिहासों में भरे पड़े हैं। यदि सचमुच भारतीयों के लिए 'भेदभाव के दरवाजे उन्मुक्त' कर दिये जाते और उन्हें 'राज्य के सभी प्रकार के सम्मानों और लाभों में पूरा-पूरा हिस्सा' दिया गया होता, तो उस आन्दोलन का प्रसंग ही उपस्थित न होता, जिसको सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने प्रारम्भ किया और जो प्रति वर्ष जोर पकड़ता हुआ स्वतंत्रता की माँग के साथ जा मिला।

शासन-तंत्र और न्यायाधिकरण में सुधार—भारत में अँगरेजी राज्य के शासन-तंत्र को कॉर्नवालिस एवं कॉर्नवालिस-कोड एक निश्चित रूप प्रदान कर चुके थे। परन्तु कम्पनी का राज्य कॉर्नवालिस के समय से बहुत आगे बढ़ चुका था और इस विस्तार के साथ-साथ गतिशील न होने के कारण शासन-तंत्र के इस ढाँचे में अनेक विकार उत्पन्न हो गये थे। विशेषतया न्यायव्यवस्था 'विलंब, व्यय और अव्यवस्था' इन तीनों महान् दोषों का शिकार बन रही थी। कम्पनी-सरकार के शासन-तंत्र का स्नायु-केन्द्र कलकत्ता, कम्पनी के नये अधिकृत प्रदेशों से बहुत दूर पड़ गया था। बैंन्टिक ने सर चार्ल्स मेटकाफ, बटरवर्थ बेली तथा होल्ट मैकेन्जी जैसे योग्य अधिकारियों की सहायता से न्याय-व्यवस्था के पुनः संगठन के कार्य में हाथ डाला। उसने अपील और सर्किट (दौरा करनेवाले) प्रांतीय न्यायालय तोड़ दिये। सेशन-कोर्ट का कार्यभार उसने जिला-जजों को सौंप दिया और उत्तर-पश्चिम प्रांत की एक सदर अदालत स्थापित की जो नीचे की अदालतों के फैसलों की अपील सुनती थी।

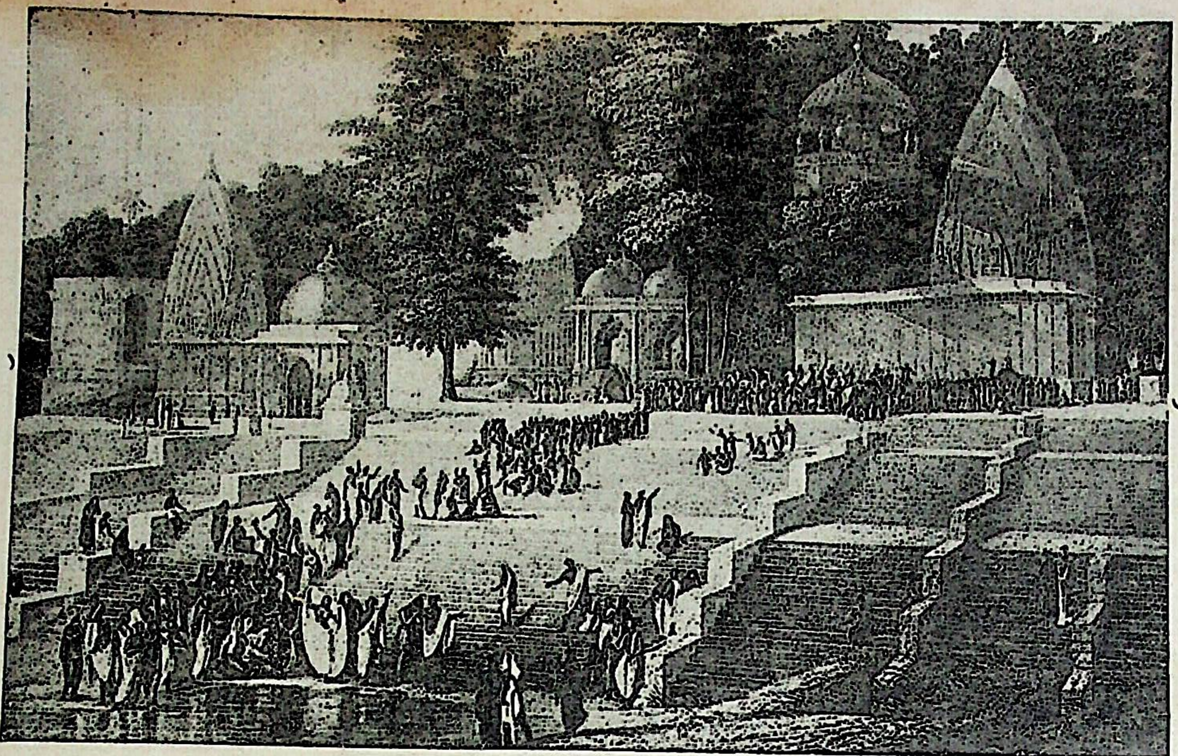
न्यायालयों में इन हेर-फेरों से प्रजा की अनेक कठिनाइयाँ दूर हो गईं और उनकी न्याय-प्रार्थनाओं की सुनाई शीघ्रतापूर्वक होने लगी।

शासन-तंत्र के पुनः संगठन में बैन्टिक ने सामान्यतया चार्ल्स मेटकाफ द्वारा प्रस्तावित मार्ग का अनुसरण किया, जो इस प्रकार था कि "सभी विभागों में सबसे पहले तो देशी कर्मचारी, तथा यूरोपीय अध्यक्ष जो, न्याय, पुलिस और राजस्व की सभी शाखाओं के स्थानीय अधिकारों को अपनी-अपनी अध्यक्षता में पड़नेवाले जिलों में अपने में एकत्र करें; इन अध्यक्षों के ऊपर कमिश्नर और इनके भी ऊपर एक बोर्ड रखा जाय जिसका सीधा सम्बन्ध सरकार से हो और जिनका नियन्त्रण भी उसी के हाथ में हो।" इस योजना के अनुसार उसने पश्चिमोत्तर प्रांत के लिए इलाहाबाद में एक राजस्व कार्यालय (बोर्ड ऑफ रेवेन्यू) नियुक्त किया; राजस्व के एवं दौरा करनेवाले कमिश्नर नियुक्त किये और कुछ न्याय के अधिकार देकर कलक्टर के पद में ही जिला-मजिस्ट्रेट का कार्य सम्मिलित कर दिया। शासन-तंत्र के सुधारों में बैन्टिक ने कम खर्च और सरलता का संयोग किया। इस प्रकार उसने शासन-तंत्र का जो ढाँचा खड़ा किया, वह थोड़े से हेर-फेर के साथ आज तक चला आ रहा है।

फारसी को अदालती भाषा के पद से हटाकर बैन्टिक ने एक दूसरी कुप्रथा को समाप्त किया, क्योंकि इस भाषा को न तो न्यायाधीश ही समझते थे और न प्रार्थी ही। बैन्टिक ने फारसी को हटाकर देशी भाषाओं को अदालत में स्थान दिया। इस परिवर्तन से प्रजा को बड़ा लाभ हुआ और वे अब अपनी परिचित भाषा में अपनी शिकायतों को अदालतों के सामने रखने में समर्थ हो गये।

शिक्षा-सम्बन्धी और सामाजिक सुधार—शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी का प्रचलन बैन्टिक के समय से प्रारम्भ हुआ। काल-क्रम के विचार से शिक्षा-प्रसार के लिए कम्पनी के प्रयत्न १८१३ ई० के अधिकार-पत्र (चार्टर ऐक्ट) के समय से शुरू होते हैं, जिसके अनुसार एक लाख रुपया वार्षिक "अँगरेज-राज्य के निवासियों में विज्ञानों के ज्ञान के पुनरुज्जीवन एवं प्रसार के लिए" रखे गये। यह धन-राशि अब तक जमा होती जा रही थी, क्योंकि सरकार इसके उचित व्यय के उपाय न सोच पाई थी। एम्हर्स्ट के आगमन से पूर्व गवर्नर-जनरल के पद पर कार्य करनेवाले मि० ऐडम्स ने इस उलझी हुई समस्या को सुलझाने के लिए १८२३ ई० में एक "सार्वजनिक शिक्षा-समिति" (कमिटी ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) नियुक्त की थी; परन्तु बर्मी-युद्ध की परेशानियों ने इस कार्य को उपेक्षित बना दिया और इसको व्यवस्थित रूप देने का काम बैन्टिक के लिए छूट गया। सबसे पहले तो इस समस्या का समाधान आवश्यक था कि सरकार पूर्वीय शिक्षा-पद्धति एवं साहित्य के पुनरुत्थान तथा प्रसार को प्रोत्साहित करे और उन हिन्दू तथा मुसलमान विद्यालयों

को आर्थिक सहायता दे जो पहले से ही विद्यमान थे या अँगरेजी की शिक्षा के प्रसार में ही अपना ध्यान केन्द्रित करे। इस समस्या को लेकर दो दल बन गये—एक तो डा० विल्सन के नेतृत्व में पूर्वीय शिक्षा के समर्थकों का और दूसरा सर चार्ल्स ट्रेवेलियन की प्रधानता में अँगरेजी की शिक्षा के पक्षपातियों का। इन दलों में खूब वाद-विवाद चलने लगा। १८३४ ई० में लार्ड मैकॉले के १८३३ ई० के ऐक्ट के अनुसार, जिसका हम आगे वर्णन करेंगे, कानूनी सलाहकार (लॉ मेम्बर) के रूप में भारत आने पर इस वाद-विवाद ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। मैकॉले के विवरण-पत्र साहित्यिक शैली के आदर्श होते थे, परन्तु उनमें उसका पूर्वीय संस्कृति एवं शिक्षा-पद्धति का घोर अज्ञान भी साफ झलकता था। अंत में इस वाद-विवाद का निर्णय पक्ष-विपक्ष के तर्कों की समीचीनता के आधार पर न होकर व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से हुआ। हिन्दुस्तानियों को शासन-तंत्र के निम्न पदों पर नियुक्त किये जाने के योग्य बनाने के लिए उनमें अँगरेजी की शिक्षा का प्रसार आवश्यक हो गया था। कम खर्च की दृष्टि से उनको इन निचले पदों पर नियुक्त करना आवश्यक हो गया था और इस प्रकार शासन-तंत्र की आवश्यकताओं को देखते हुए अँगरेजी की शिक्षा अत्यावश्यक हो गई। अँगरेजी की शिक्षा के प्रसार का अन्य कारण यह आशा भी थी कि इससे भारतीयों में अँगरेजी माल के प्रति रुचि जागृत होगी, जिससे अँगरेजी माल की खपत बढ़ेगी। यह आशा सफल भी पूर्ण रूप से हुई है; इसका प्रमाण आज भारतीय जीवन में फैशन की विदेशी वस्तुओं का बढ़ा हुआ प्रयोग है। सरकारी नौकरियों में स्थान पाने के इच्छुक हिन्दुस्तानी भी अँगरेजी की शिक्षा पाने के लिए उत्कंठित थे। प्रथम समाज-सुधारक राजा राममोहन राय के नेतृत्व में उन्होंने बैन्टिक से अँगरेजी शिक्षा के प्रसार की प्रार्थना की। इन प्रगतिशील लोगों के विरोध में कुछ ऐसे लोग भी थे जिनको भय था कि शिक्षा-प्रसार साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध होगा। ये लोग उस विचार-धारा के अनुयायी थे, जिसके अनुसार जनता के अज्ञान से ही ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा का पक्का आश्वासन मिल सकता था। अंत में निश्चय किया गया कि अँगरेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाय। मार्च १८३५ ई० में एक निर्णय द्वारा बैन्टिक ने घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य देशी जनता में साहित्य और विज्ञान की उन्नति करना होना चाहिए और शिक्षा के लिए स्वीकृत धन-राशि का सबसे अच्छा उपयोग केवल अँगरेजी शिक्षा के लिए ही हो सकता है।" इस दिन भारत में अँगरेजी शिक्षा ने जन्म लिया। आगे के वर्षों में देशी भाषाओं के अधिकारों को भी कुछ समर्थन प्राप्त हुआ। अँगरेजी शिक्षा से भारत को जो लाभ हुए उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना कठिन है। अँगरेजी भारत



सती का एक दृश्य

जिसने 'ठगी' के पेशे को समाप्त करने के लिए व्यवस्थित रूप से कार्य किया। ठगी के विनाश के लिए उसने सर विलियम स्लीमैन की अधीनता में एक नये विभाग की स्थापना की, जिसके घोर परिश्रम के फलस्वरूप ठगों के दल, मुखबिरों की सहायता से, हमेशा के लिए समाप्त हो सके। ठगों का हर जगह पीछा किया गया; वे पकड़े गये और दंडित किये गये। उन ठगों के सुधार के लिए, जिन्होंने जघन्य अपराध नहीं किये थे, जबलपुर में एक 'औद्योगिक विद्यालय' खोला गया, जहाँ उनको जीवन के उपयोगी शिल्पों की शिक्षा देकर सभ्य नागरिकों के समान जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी गई।

बैन्टिक और भारतीय राज्य—भारतीय राज्यों के प्रति बैन्टिक की कोई निश्चित नीति नहीं थी। इनके प्रति उसका व्यवहार अवसर के अनुसार होता था। हेस्टिंग्स के प्रभुत्व-स्थापक युद्धों ने भारतीय राज्यों को स्वतंत्र राज्य शक्तियों के पद से हटाकर प्रधान राज्यसत्ता (कम्पनी-सरकार) के संरक्षित अथवा करद राज्य बना दिया था। अब उनकी ओर से कोई भय न था। केवल उनको एक दूसरे से अलग रखना ही पर्याप्त था। उनकी प्रजा के भले-बुरे का ध्यान रखना साम्राज्य-सत्ता अपना कर्तव्य न समझती थी। कम्पनी-सरकार के विचार से यह तो राजा-प्रजा का घरेलू मामला था और किन्हीं विशेष परि-स्थितियों को छोड़कर वह इसमें हस्तक्षेप न करना ही बुद्धिमत्तापूर्ण समझती थी। सुशासन की शर्त पर ही देशी राज्यों को अपने संरक्षण में लेने की नीति अभी तक कम्पनी-सरकार ने नहीं अपनाई थी। देशी-राज्यों को प्रमुख राज्य-सत्ता (कम्पनी-सरकार) की अधीनता में लाने की नीति अपनी चरम-सीमा पर पहुँच चुकी थी, परन्तु देशी राज्यों में सुशासन की व्यवस्था की ओर ध्यान देने की नीति अभी तक नहीं अपनाई गई थी। यही कारण था कि देशी राज्यों के प्रति बैन्टिक का व्यवहार एकसा न रहा। उसने कछार राज्य को १८३२ ई० में, कुर्ग को १८३४ ई० में और जैंता को १८३५ ई० में अँगरेजी राज्य में मिला लिया। कुशासन के कारण उसने मैसूर-राज्य का शासन-प्रबन्ध तो सीधे अपने हाथ में ले लिया, परन्तु इसी कारण को सामने रखकर कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल (Court of Directors) द्वारा अवध का शासन भी अपने हाथ में ले लेने का आदेश पाकर भी उसने ऐसा नहीं किया। उसने भोपाल में सिकंदर बेगम और उसके दत्तक पुत्र के झगड़ों में हस्तक्षेप करना अस्वीकार कर दिया; सिकंदर बेगम अपने दत्तक पुत्र को शासन-सूत्र सौंपने के लिए तैयार न होती थी, यद्यपि वह बालिग हो गया था; परिणाम यह हुआ कि गृह-युद्ध के कारण भोपाल-राज्य तहस-नहस होता रहा और बैन्टिक ने जबान तक न हिलाई। बैन्टिक ने जोधपुर के सरदारों तथा

उनके अर्ध-पागल अधिपति के झगड़ों में तो बीच-बचाव किया, परन्तु जयपुर में एक अधिकार-लोलुप जैन सेठ के दुराचारों के कारण उत्पन्न उत्पातों की ओर से आँखें मूंद लीं।

वैदेशिक कार्य—टिल्सिट की संधि ने अँगरेजों का ध्यान आकर्षित कर लिया था और हम पहले कह चुके हैं कि इस संधि के कारण जो फ्रांस-रूसी आक्रमण का भय उत्पन्न हो गया था, उसको दूर करने के लिए लॉर्ड मिन्टो ने सिंधु नदी के समीपस्थ राज्यों के साथ मित्रता की संधि कर ली थी। वाटरलू के युद्ध के साथ यह भय जाता रहा और तब इस ओर के राज्यों की ओर से अँगरेजों का ध्यान हट गया। परन्तु अब पूर्व की ओर रूस के निरन्तर बढ़ते जाने पर उन्हें फिर से इस ओर ध्यान देना पड़ा। रूस तथा कम्पनी की राज्य-सीमाओं के बीच सिंध के अमीरों का राज्य, भावलपुर रियासत और रणजीतसिंह का राज्य तथा इससे भी आगे अफ़गानिस्तान एवं फारस पड़ते थे। उत्तर-पश्चिम की ओर से किसी भी भय का प्रतिरोध करने में अँगरेजों की सदैव यह नीति रही है कि इन बीच में पड़नेवाले राज्यों के साथ संधि कर इनको बढ़ती हुई विरोधी राज्य-शक्ति एवं अपने राज्य के बीच तटस्थ राज्य (बफ़र स्टेट्स) बना दिया जाय।

पूर्वीय देशों के प्रश्न पर रूस और इँगलैंड के सम्बन्धों में तनाव बढ़ता जा रहा था। रूस भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत की ओर अपनी प्रगति को यूरोप में अँगरेजों के प्रभाव-विस्तार को रोकने का हथकंडा बना रहा था और भूमध्यसागर की ओर रूस की प्रगति को रोकने के इँगलैंड के प्रत्येक प्रयत्न का जवाब रूसी सरकार भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत की ओर बढ़कर दे रही थी। रूस का भय तब तो और भी बढ़ गया जब फारस निश्चित रूप से रूस के नियन्त्रण में चला गया और जब रूस का घोर विरोधी लॉर्ड पामर्स्टन इँगलैंड का परराष्ट्र मंत्री बना। ऐसे वातावरण में यह कोई अस्वाभाविक बात न थी कि रूस के विरुद्ध अनेकानेक शिकायतें आने लगीं और उस पर संदेह किया जाने लगा कि वह भारत पर आक्रमण करने का विचार रखता है। अब सिंधु नदी के सारे कूल-कगारों की पूरी-पूरी खोज और उसके तटवर्ती राज्यों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करना अँगरेजों की नीति के उद्देश्य बन गये। नियामक समिति (बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल) के तत्कालीन प्रधान लॉर्ड एलेनबरा ने एक विलक्षण युक्ति सोच निकाली कि रणजीतसिंह ने लॉर्ड ऐम्हर्स्ट के समय में इँगलैंड के राजा को जो शालों का उपहार भेजा था, उसके बदले में रणजीतसिंह को भेंट करने के लिए अँगरेजी घोड़ों का एक दल लेफ्टिनेंट राबर्ट बर्न्स के साथ सिंधु नदी के मार्ग से भेजा जाय। बर्न्स को आदेश दिया गया कि वह इस अवसर से लाभ उठाते हुए

सिंधु नदी की अच्छी तरह से खोज करे और इसके तटवर्ती राज्यों के साथ व्यापारिक संधियाँ कर ले।

सिंध के अमीरों एवं रणजीतसिंह को यह सुनकर कि बर्न्स गंगा नदी के सीधे मार्ग से न आकर सिंधु नदी के मार्ग से आ रहा है, इसमें राजनीतिक चाल का संदेह होने लगा। जब बर्न्स सिंध में पहुँचा तो वहाँ का वातावरण उसके इतना विरुद्ध हो उठा कि वहाँ कोई भी उसके साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए तैयार न हुआ। सिंध कभी मुगल साम्राज्य का एक भाग था, परन्तु बाद में अफगानिस्तान में मिल गया था। काबुल राज्य के आंतरिक कलह से लाभ उठा कर बिलोचिस्तान की एक जाति 'तालपूरों' ने १७६८ ई० में सिंध पर अपना अधिकार जमा लिया था। सारा सिंध-प्रदेश तीन भागों में बँटा था और प्रत्येक भाग एक-एक अमीर के अधीन था। ये अमीर एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र थे। इन अमीरों को अपनी स्वतन्त्रता बहुत प्रिय थी और वे खूब समझते थे कि अँगरेजों की मित्रता का क्या परिणाम होता है; इसलिए अपने अधिकारों की सुरक्षा के विचार से उन्होंने अँगरेजों से पल्ला बचाना ही उचित समझा। कहा जाता है कि जब बर्न्स ने सिंध में प्रवेश किया तो एक बलोची सरदार चिल्ला उठा कि "शैतान की करामात शुरू हो गई है, क्योंकि अँगरेजों ने हमारा देश देख लिया है।" भविष्य ने दिखा दिया कि इस बलोची सरदार का कथन कितना सत्य था। बर्न्स को आगे बढ़ने का रास्ता देने से इनकार किया गया और स्थान-स्थान पर जान-बूझकर उसका अपमान किया गया और वह तभी सिंधु नदी में आगे बढ़ सका जब कच्छ के रेजीडेंट कर्नल पोटिन्जर ने सिंध के अमीरों पर बहुत दबाव डाला।

बर्न्स सिंध से भावलपुर होता हुआ लाहौर पहुँचा और वहाँ उसने अपने साथ लाया हुआ बहुमूल्य उपहार भेंट किया। लाहौर से वह शिमला पहुँचा। वहाँ उसने अपनी एकत्र की हुई सूचनाएँ बैंन्टिक के सामने रखीं। रणजीतसिंह सिंध में शिकारपुर की मंडी को हथियाना चाहता था; अतः बर्न्स के सिंध के मार्ग से यात्रा करने में उसको अँगरेजों की कूटनीतिक चाल का संदेह हुआ। अब उसमें और अँगरेजों में कूटनीतिक दाँव-पेंच चलने लगे। अँगरेज रणजीतसिंह को किसी भी प्रकार सिंध का अधिपति न होने देना चाहते थे, क्योंकि तब उसकी पहुँच समुद्र तक हो जाती थी। अँगरेजों की नीति में यह एक प्रधान बात रही है कि किसी भी भारतीय राज्य-शक्ति को समुद्र तक न पहुँचने दिया जाय।

इस कूटनीतिक संघर्ष में बैंन्टिक ने मैदान मार लिया, क्योंकि जब रणजीत सिंह अँगरेजों के मंतव्यों की गहराई टटोलने में ही व्यस्त था, तब तक अँगरेजों ने सिंध के साथ व्यापारिक संधि कर उसके मन्सूबों पर पानी फेर दिया।

सिंध के साथ संधि (१८३२ ई०)—सिंधु नदी के व्यापारिक महत्त्व का परिचय पाकर और इससे भी अधिक राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर बैंन्टिक ने कर्नल पोटिंजर को सिंध के अमीरों के साथ व्यापारिक संधि करने के लिए भेजा। अमीरों ने पहले तो बहुत आनाकानी की परन्तु कूटनीतिक दबाव पड़ने पर और सिक्ख आक्रमण के भय से अवगत कराये जाने पर वे मान गये। १८३२ ई० में एक व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर किये गये जिसमें अमीरों की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त यह थी कि "इस संधि में बँधनेवाले दल वचन देते हैं कि वे एक दूसरे की अधिकृत वस्तुओं को लालच भरी निगाह से कभी न देखेंगे।" अभी सिंध के अमीर यह न सीख पाये थे कि राजनीति में वचन का पालन कितनी दृढ़ता से होता है और राजनीतिक शब्दकोष में 'कभी नहीं' पद है ही नहीं।

रूपड़ दरबार, १८३१ ई०—जब कर्नल पोटिंजर सिंध के अमीरों के साथ संधि वार्ता चला रहा था, बैंन्टिक रणजीतसिंह को सतलज के किनारे रूपड़ में एक विशाल दरबार का आयोजन कर, बहला रहा था। यह सम्मेलन रूस की प्रगति की दिशा में सिक्खों की मित्रता पक्की करने के उद्देश्य से किया जा रहा था। दरबार का सारा वातावरण सत्कार और हार्दिक स्नेह की सुगंधि से महक रहा था और इस आयोजन की समाप्ति एक संधि पर हस्ताक्षर करके की गई, जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने दृढ़ मैत्री की प्रतिज्ञा की जो "इतिहास में सूर्य के समान गौरव के साथ चमके।"

१८३३ ई० का अधिकार-पत्र—१८३३ ई० में कम्पनी के अधिकार-पत्र को फिर से जारी करते हुए, चीन के व्यापार पर उसका एकाधिकार समाप्त कर उसका व्यापारिक रूप मिटा दिया गया। सारा देश एकाधिकार समाप्त करने के पक्ष में था, इसलिए कम्पनी के पास चुपचाप स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई चारा न था। १८३३ ई० के इस ऐक्ट में भारतीय शासन के विषय में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश रखे गये। इस ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल को, जो अब से समस्त भारत का गवर्नर-जनरल हो गया, सभी स्थानों एवं सभी विषयों को लेकर समस्त देश के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया। कौंसिल में कानूनी सलाहकार के रूप में एक चौथा सदस्य बढ़ाया गया और इस उच्च पद को सुशोभित करने के लिए लार्ड मैकॉले को चुना गया; अधीन प्रेसीडेंसियों से कानून बनाने का अधिकार छीन लिया गया। इस ऐक्ट से भारतीय विधान का श्रीगणेश हुआ। इस ऐक्ट ने अँगरेजों को जमीन खरीदने की स्वीकृति दे दी; अब तक उन्हें भूमि मोल लेने का निषेध था। इस ऐक्ट में घोषणा की गई कि "न किसी भारतीय को और न 'हिज मेजेस्टी' के किसी प्रकृत प्रजाजन को ही उसके धर्म,

जन्म-स्थान, वंश अथवा वर्ण के कारण किसी भी स्थान, पद अथवा व्यवसाय के अयोग्य समझा जाय।" इन परिवर्तनों एवं सद्भावपूर्ण घोषणाओं के साथ भारत का शासन पुनः बीस वर्षों के लिए कम्पनी के हाथ सौंप दिया गया।

इस ऐक्ट में भारतीयों की सरकारी पदों पर नियुक्ति की स्वीकृति की जो अतिरंजित प्रशंसा की गई है, उसके विषय में यहाँ पर कुछ कहना आवश्यक है। इस ऐक्ट का यह अंश एक तो नवीन प्रचलित उदार दल की भावनाओं को संतुष्ट करने और दूसरे पहले से ही सरकारी पदों पर काम करनेवाले भारतीयों की नियुक्ति को वैध बनाने के उद्देश्य से जोड़ा गया था। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि अँगरेज सरकार ने भारतीयों के लिए सरकारी ओहदों का दरवाजा खोल दिया, ऐतिहासिक तथ्यों को देखते हुए सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्य तो इसके विपरीत परिणाम ही प्रकट करते हैं। प्रोफेसर रैम्जे म्योर ने लिखा है कि "इस ऐक्ट ने एक असंदिग्ध सिद्धान्त के रूप में इस स्मरणीय और महान् मत की स्थापना कर दी कि जब कभी भारतीयों और यूरोपीयों के हितों में द्वन्द्व उपस्थित हो तो यूरोपीयों की अपेक्षा भारतीयों के हितों पर अधिक ध्यान दिया जाय। क्या इतिहास में इसके जैसा कोई और उदाहरण मिल सकता है, जहाँ शासक जाति ने नई-नई जीती हुई प्रजा के विषय में ऐसी घोषणा की हो? और यह घोषणा पूर्णतया सच्चे हृदय से की गई थी। यह घोषणा अँगरेजी शासन के नवीन आदर्शों को प्रकट करती है।" इतिहास के अगले पृष्ठों में पाठक स्वयं ही देख लेंगे कि जिन लोगों के हाथ में भारत का शासन-सूत्र दिया गया था, उन्होंने इस घोषणा का आदर इसकी अवहेलना कर किया या इसका पालन कर।

बैन्टिक की समीक्षा—बैन्टिक का शासन-काल शांति के शीतल प्रकाश से उज्ज्वल है। यह काल अपने पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती काल की तुलना में सर्वथा विपरीत दिशा की ओर उन्मुख दिखाई देता है। बैन्टिक को न तो कोई युद्ध ही लड़ने थे और न आर्थिक दिवालियापन के कारण आक्रामक नीति अपनाने का उत्साह भी वह प्रकट कर सकता था; इसलिए उसने आर्थिक-सुदृढ़ता लाने और शासन-तंत्र सुधारने में ध्यान लगाया। उसका लक्ष्य कम्पनी-सरकार के शासन-तन्त्र को ऐसा व्यवस्थित रूप देना था, जो पार्लियामेंट को स्वीकार्य हो सके। इसमें वह सफल हुआ। उसने जो व्यय घटाने के उपाय किये और जो व्यर्थ के विभाग खतम किये उनसे ऐम्हर्स्ट के समय से चली आती हुई आर्थिक कमी तो समाप्त हुई ही, राजस्व की आय से बचत भी होने लगी। उसके सारे सुधार यद्यपि आर्थिक दृष्टि से किये गये थे, परन्तु उनसे उसके अधीनस्थ प्रदेशों की प्रजा को भी कम लाभ नहीं हुआ। उसने पतनोन्मुख शासन-तंत्र में नये जीवन का संचार किया। उसने पहले-

पहल गंगा में वाष्पयानों से यातायात प्रारम्भ किया, जिसका परिणाम संतोषजनक रहा। उसने हिन्दुओं के विरासत के कानून में सुधार कर तथा ईसाई-धर्म ग्रहण करनेवाले भारतीयों को कम्पनी-सरकार में नियुक्ति पाने की स्वीकृति देकर अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई-धर्म के प्रसार में भी सहायता की। हिंदुओं की दाय-भाग-व्यवस्था के अनुसार जाति-च्युत व्यक्ति का पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता। पैतृक सम्पत्ति से हाथ धो बैठने के भय से प्रायः ईसाई मिशनरियों से प्रभावित व्यक्ति ईसाई न बन पाते थे और इस प्रकार मिशनरियों का परिश्रम व्यर्थ चला जाता था। बेंन्टिक ने नियम बना दिया कि हिन्दुओं और मुसलमानों की दाय-भाग-व्यवस्था उन्हीं लोगों पर लागू हो सकेगी जो इसके लागू किये जाने के समय पर उस धर्म (हिंदू अथवा मुसलमान-धर्म) के नियमित अनुयायी हों।

बेंन्टिक ने भारत से १८३५ ई० में और इसके चार साल बाद इस संसार से विदा ली।

बारहवाँ अध्याय

अफ़गानिस्तान और सिन्ध

लॉर्ड ऑकलैंड--१८३६-१८४२

लॉर्ड ऐलेनबरा--१८४२-१८४४

लार्ड ऑकलैंड का आगमन---लॉर्ड ऑकलैंड, मार्च सन् १८३६ ई० में, ह्विग-मन्त्रिमंडल के प्रधान लॉर्ड मेलवोर्न द्वारा मनोनीत होकर भारत आया। वैन्टिक की विदाई और ऑकलैंड के आगमन के बीच के समय में सर चार्ल्स मेटकाफ ने पदभार ग्रहण किया। मेटकाफ ने समाचार पत्रों को स्वतंत्र कर और 'काला कानून' बना कर अपने बारह महीने के संक्षिप्त कार्यकाल को स्मरणीय बना दिया। समाचार पत्रों को स्वतंत्रता देने के कारण उसको अपनी पदोन्नति से हाथ धोने पड़े, क्योंकि इस कार्य से कम्पनी के अध्यक्ष बहुत रुष्ट हो गये और 'काला कानून' बनाकर उसे यूरोपीय लोगों के हाथों घोरअपमान सहना पड़ा। इसकानून की प्रस्तावना लॉर्ड मैकॉले ने इस ध्येय से की थी जिससे कानून की दृष्टि में यूरोपीय तथा भारतीय लोगों में कोई भिन्नता न रह जाय। वस्तुस्थिति यह थी कि हिन्दुस्तानियों के लिए तो कम्पनी की सदर अंदालत ही अपील का सर्वोच्च न्यायालय थी, परन्तु यूरोपीय लोग उच्चतम न्यायालय 'सुप्रीम कोर्ट' तक अपील कर सकते थे। यह कानून इस भेदभाव को समाप्त करने के लिए बनाया गया था। यूरोपीय लोग समझने लगे कि उनको 'काले' हिन्दुस्तानियों की बराबरी के दर्जे में रख दिया गया है; इसलिए यह कानून 'काला कानून' कहा जाने लगा। परन्तु इस कानून के न्यायौचित्य पर दृढ़ विश्वास होने के कारण मेटकाफ अपने निश्चय पर डटा रहा और इस प्रकार उसने हिन्दुस्तानी प्रजा का सद्भाव प्राप्त किया।

अफगानी दुर्घटना---लॉर्ड ऑकलैंड के छः वर्ष के कार्यकाल में केवल एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई; यह अफगानिस्तान की वह दुर्घटना थी जिसमें १५ लाख पौंड की हानि हुई और २०,००० जानें गँवानी पड़ीं।

दुनिया के नकशे में अफगानिस्तान के हमेशा से बने रहने का कारण उसकी भौगोलिक स्थिति है, जिससे वह उन दर्रों पर नियन्त्रण रखता है, जिनसे होकर

पंजाब में प्रवेश होता है। अफगानिस्तान की इस भौगोलिक स्थिति के कारण ही अँगरेजों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि उनको भय था कि कहीं रूस स्थल मार्ग से भारत पर आक्रमण न कर दे। रूस और इँगलैंड इन दो प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यों के वीच में पड़कर अफगानिस्तान की स्थिति वहुत संकटमय हो रही थी। ये दोनों साम्राज्यवादी शक्तियाँ अफगानिस्तान के वैदेशिक सम्वन्धों पर अपना अपना नियन्त्रण जमाना चाहती थीं, परन्तु दोनों ही इस भय से इसको अपने राज्य में न मिलाती थीं कि ऐसा करने से उनकी राज्य-सीमा शत्रु-साम्राज्य से जा मिलेगी। यही कारण है कि आज तक अफगानिस्तान-राज्य की सत्ता बनी हुई है।

साधन-सम्पत्ति-विहीन, पर्वत श्रृंखलाओं पर बसे हुए, स्वतंत्रता-प्रिय अफगानों के इस देश में अँगरेजों को आर्थिक लाभ की दृष्टि से कोई आकर्षण न था। 'यात्रियों' के वेश में साम्राज्यवाद के अग्रदूत, जिनका ध्येय दूसरों के खजाने टटोलना होता था, इस देश के आर्थिक साधनों की भली भाँति जाँच-पड़ताल कर चुके थे। फॉरेस्टर नामक व्यक्ति इन खोजी यात्रियों में सर्वप्रथम था; उसके वाद घोड़ों के व्यापारी के रूप में जानेवाले मूरक्रॉफ्ट और बर्न्स इन यात्रियों में सर्वप्रमुख हुए। स्वयं अफगानिस्तान भी, जो अकेला ही अहमदशाह अव्दाली के समय में (१७४७–१७७४ ई०) उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया था, अव्दाली की मृत्यु के पश्चात् इतना शक्ति हीन हो गया था कि उसकी ओर से किसी प्रकार का भय न रह गया था। सदोजई एवं वर्रुकजई नाम के दो प्रतिद्वंद्वी कवीलों के रक्तपातमय उत्पातों से अफगानिस्तान की हालत वहुत खराब हो गई थी। अफगानिस्तान की ओर से अव इतना ही भय रह गया था, कि यह कहीं फ्रांस अथवा रूस के साथ न जा मिले। जब कभी यह भय प्रकट होता, अँगरेज भी अफगानिस्तान की ओर सक्रिय हो जाते थे।

ऑकलैंड के भारत में पहुँचने पर यह भय प्रकट हो रहा था। नवम्वर सन् १८३७ ई० में फारस के शाह मुहम्मद मिर्जा ने हिरात पर घेरा डाल दिया था। उधर १८२८ ई० में तुर्की मंचाई की संधि के परिणामस्वरूप फारस के दरबार में रूस का प्रभाव छा गया था; अतः हिरात पर फारस का घेरा डालना रूस का अप्रत्यक्ष रूप से भारत की ओर वढ़ने का प्रयत्न करना समझा जाने लगा। इसलिए अँगरेज सरकार भी रूस की योजनाओं के विरुद्ध अफगानिस्तान को खड़ा करने की योजनाओं में जुट गई।

इस समय अफगानिस्तान के सिंहासन पर वर्रुकजई कवीले का सरदार दोस्त मुहम्मद प्रतिष्ठित था। इसने अपनी योग्यता एवं पराक्रम से सन १८२६

ई० में यह पद प्राप्त किया था। परन्तु दोस्त मुहम्मद के लिए अफगानिस्तान का सिंहासन फूलों की सेज न बन सका; उसके चारों ओर संकट घिर आये। अफगानिस्तान राज्य का ही एक भाग हिरात, इस समय सदोज़ई कवीले के सरदार कामरान के हाथ में था; कन्धार में उसका अपना भाई शत्रु-भाव प्रकट कर रहा था और उत्तर की ओर बलख में विद्रोह सिर उठा रहा था। पूरब की ओर रणजीत-सिंह उसे चैन न लेने देता था और उसने पेशावर पर अधिकार कर लिया था। काबुल का पद-च्युत शासक शाहशुजा सिक्खों तथा अँगरेजों के साथ गुप्त मन्त्रणाएँ कर उसकी परेशानियों को और भी बढ़ा रहा था। पेशावर का हाथ से निकल जाना दोस्त मुहम्मद के हृदय में शूल सा चुभ रहा था। वह किसी भी प्रकार इस पर पुनः अधिकार करने के लिए बेचैन था। परन्तु दो प्रकार के भय उसको रोके हुए थे। एक ओर तो उसको रूस-फारस गुट से भय था, जो इस कारण और भी बढ़ गया था कि हिरात का शासन उसके शत्रुपक्षीय सदोजई सरदार कामरान के हाथ में था, जो कभी भी रूस की ओर मिल कर काबुल में उसकी स्थिति को संकटमय बना सकता था; दूसरा भय यह था कि सिक्ख शाहशुजा का उसके विरुद्ध बड़ी अच्छी तरह से उपयोग कर सकते थे और इस कार्य में उनको अँगरेजों की सहायता मिल जानी भी सर्वथा संभव थी। इससे हम समझ सकते हैं कि शाहशुजा की स्थिति इस समय कितनी विचित्र बन गई थी; वह इस समय लुधियाना में शरणार्थी के रूप में निवास कर रहा था और अँगरेज सरकार उसको वृत्ति (पेंशन) दे रही थी। इसी शाह-शुजा ने १८०३ ई० में काबुल में, विजेता के सम्मान के साथ, प्रवेश किया था और फिर १८०९ ई० में निमुला के युद्ध में परास्त होकर इसको खानाबदोशों की सी जिन्दगी अपनानी पड़ी थी। इसी समय वह रणजीतसिंह के हाथ जा पड़ा। रणजीतसिंह खूब जानता था कि इस भगोड़े शासक से उसको क्या-क्या लाभ हो सकते हैं। इसलिए उसने शाहशुजा को आशाओं की मृग-मरीचिका में खूब भटकाया और उससे विश्व-विख्यात 'कोहेनूर' हीरा खसोट लिया। आखिर रण-जीतसिंह के आश्वासनों की असत्यता समझ जाने पर १८१६ ई० में शाहशुजा लाहौर छोड़कर लुधियाना आ गया। अँगरेजों ने उसके लिए वृत्ति बाँध दी और उन्हीं उद्देश्यों से उसको अपनी करवट में रखा, जिन उद्देश्यों से रणजीतसिंह उसको इतने दिनों तक अपने साथ रखे हुए था। काबुल के सिंहासन एवं प्रदेशों पर शाह शुजा के अधिकार का उपयोग अँगरेज अपने लाभ के लिए करना चाहते थे। अँगरेजों की इस चाल से रणजीतसिंह का माथा ठनका, क्योंकि वह समस्त प्रदेश जिस पर रणजीतसिंह शासन कर रहा था अथवा जिस पर वह अधिकार करना चाहता था (जैसे सिंध), कभी अफगानिस्तान राज्य का ही भाग था।

लुधियाना में शाहशुजा अपनी तरह का अकेला ही व्यक्ति न था। वहीं उसके साथ अंधा जमानशाह भी अँगरेजों की वृत्ति पर पल रहा था, जो कभी काबुल का शक्तिशाली शासक था और जिसके विषय में लॉर्ड वेलेजली के समय में यह प्रवाद चल पड़ा था कि वह भारत पर आक्रमण करने की इच्छा रखता है। इन पदच्युत शासकों को अँगरेजों की जो सहायता मिल रही थी, इसका कारण अँगरेजों की उदारता नहीं समझना चाहिए। इस सहायता की नीति के पीछे राजनीतिक मंतव्य थे। अँगरेजों की यह नीति उनके प्रभुत्व-विस्तार की नीति की ओर संकेत करती है। क्लाइव ने सन् १७६५ ई० में दिल्ली से निष्कासित शाह आलम से दीवानी प्राप्त कर यह दिखा दिया था कि निष्कासित शासकों से कैसे-कैसे लाभ उठाये जा सकते हैं और यही कारण था कि शाहशुजा एवं जमानशाह लुधियाना में अँगरेजों की ओर से इतनी बड़ी-बड़ी वृत्तियाँ पा रहे थे।

दोस्त मुहम्मद जिस विलक्षण स्थिति में आ फँसा था, उसमें उसके सामने दो ही विकल्प थे; या तो वह रूस के साथ जा मिले या फिर अँगरेजों से मित्रता गाँठे। पहले तो उसका झुकाव अँगरेजों की ओर हुआ। रूसियों के प्रति उसका संशय तब से बहुत बढ़ गया था जब १८३४ ई० में रूस का पक्षपाती मुहम्मद मिर्जा फारस में सिंहासनारूढ़ हुआ। तब से रूस का एजेंट काउन्ट सिमोनिच फारस-दरबार में सर्वेसर्वा बन गया था। अफगानिस्तान भी पहले फारस-राज्य का ही एक अंग था और इसकी स्वतंत्रता १७७४ ई० में नादिरशाह के वध एवं उसके सेनानायक अहमदशाह अब्दाली के अधिकार प्राप्त करने के साथ-साथ प्रारम्भ हुई थी। इधर फारस के शाह के साथ कन्धार के सरदारों की गुप्त मन्त्रणाओं और हिरात पर फारस के शाह के प्रत्यक्ष आक्रमण से दोस्त मुहम्मद की स्थिति और भी संकटमय बन गई थी।

ऐसी परिस्थिति में दोस्त मुहम्मद ने अँगरेजों का पल्ला पकड़ने की सोची। लॉर्ड ऑकलैंड के भारत-आगमन के अवसर पर उसने मई सन् १८३६ में उसको एक बधाई का पत्र भेजा। इस पत्र में उसने सिक्खों के साथ अपनी उलझनों का उल्लेख करते हुए इनको सुलझाने में उसकी सहायता की याचना की।

ऑकलैंड ने दोस्त मुहम्मद के इस पत्र को स्वीकार तो किया परन्तु सहायता का कोई आश्वासन न दिया। लॉर्ड ऑकलैंड के शब्द ये थे "मेरे मित्र, तुम जानते ही हो कि अन्य स्वतंत्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करना ब्रिटिश सरकार का स्वभाव नहीं है।" ये शब्द दोस्त के कानों में उस समय अवश्य गूँज उठे होंगे जब बाद में अँगरेजों ने अफगानिस्तान पर धावा बोला। अँगरेजों की ओर से निराश होकर दोस्त मुहम्मद ने फारस के शाह से मैत्री करने का निश्चय किया। उसके

इस निश्चय में कूटनीतिक विचार ही प्रमुख थे, हृदय से वह ऐसा नहीं चाहता था। फारस के शाह के पास मैत्री का संदेश भेजने के साथ-साथ उसने अपने पुत्र अकबर खाँ के अधीन एक सेना पेशावर पर अधिकार करने के लिए भेज दी। अकबर खाँ को प्रारम्भ में जमरूद में सफलता अवश्य मिली, परन्तु यह सफलता क्षणिक सिद्ध हुई, क्योंकि नई सिक्ख सेना के आते ही वह काबुल लौट गया। पेशावर सिक्खों के ही अधिकार में बना रहा।

१८३६ ई० का व्यापारिक प्रतिनिधि-मंडल और निर्देशपत्र—पूरब की ओर रूस की प्रगति और फारस पर उसके प्रभाव के विषय में हम पीछे लिख आये हैं। रूस और इँगलैंड के सम्बन्धों में तनाव पैदा हो जाने और इँगलैंड के प्रधान मंत्री पामर्स्टन की रूस के प्रति विरोधी भावनाएँ होने के फलस्वरूप फारस में रूस के प्रभाव को बढ़ते देखकर सहज ही यह कल्पना कर ली गई कि रूस भारत की ओर अपना पंजा बढ़ाना चाहता है। रूस के बढ़ते हुए प्रभाव का रोकने और वस्तु-स्थिति का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए लॉर्ड ऑकलैंड की सरकार ने नवम्बर सन् १८३६ ई० में रॉबर्ट बर्न्स की अध्यक्षता में एक दल व्यापारिक वार्ता चलाने के लिए काबुल भेजा। इस प्रकार के व्यापार-मंडल को भेजने का विचार, जिसका इँगलैंड की सरकार ने भी समर्थन किया, कोई नई उद्भावना नहीं थी। यह विचार पहले-पहल लॉर्ड मेल्कॉम को सूझा था। उसने इसको लॉर्ड बैंन्टिक के सामने रखा था। इस प्रतिनिधि-मंडल का कार्य केवल व्यापारिक वार्ता करना ही न था। स्वयं बर्न्स ने अपने एक मित्र को अपने व्यक्तिगत पत्र में लिखा था कि "मैं काबुल में केवल व्यापारिक सुविधाएँ खोजने के लिए ही नहीं आया हूँ, वरन् वस्तुस्थिति की समीक्षा करने और भावी कार्य-क्रम का निश्चय करने के लिए आया हूँ।" खैबर के मार्ग से चलकर बर्न्स काबुल में सितम्बर १८३७ ई० में पहुँचा। इसी बीच ऑकलैंड को गुप्त समिति (सीक्रेट कमेटी) का जून १८३६ ई० का निर्देशपत्र प्राप्त हुआ, जिसमें रूस की ओर से उत्पन्न भय का सामना करने के लिए अपनाई जानेवाली नीति की रूपरेखा अंकित की गई थी। इस निर्देशपत्र को जॉन रसल कॉलविन सन् १८६४ ई० में सर्वप्रथम प्रकाश में लाया। इसके प्रकाश में आ जाने से उन आक्षेपों का बहुत कुछ परिहार हो जाता है जो सर जॉन ने अपनी पुस्तक "अफगान-युद्ध का इतिहास" (हिस्ट्री ऑफ दि अफगान वार) में ऑकलैंड पर लगाये हैं। इस निर्देशपत्र से स्पष्टतया विदित हो जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में लॉर्ड ऑकलैंड स्वयं अपनी बनाई नीति का अनुसरण नहीं कर रहा था, अपितु घरेलू सरकार के आदेशों का ही पालन कर रहा था। इस निर्देशपत्र में गवर्नर-जनरल को आदेश दिया गया था कि तुम "निश्चय करो कि तुम्हारे लिए ऐसे

कौन-कौन साधन उचित और आवश्यक हैं, जिनसे अफगानिस्तान में घटनाओं की प्रगति उससे भी अधिक बारीकी से देखी जा सके, जितनी कि इससे पहले देखी जाती रही है और उस प्रदेश में रूस के प्रभाव को बढ़ने से रोको, जिसमें एक बार रूसी-प्रभाव जम जाने पर, इस प्रभाव का हमारे भारतीय मित्र-राज्यों की स्थिति पर घातक परिणाम हुए बिना न रहेगा और संभवतः स्वयं हमारे अधिकृत प्रदेशों की शांति में विक्षेप पड़ेगा, क्योंकि अफगानिस्तान हमारे भारतीय अधिकृत प्रदेशों के इतने समीप है। इस अति महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान चाहे तुम कावुल में दोस्त मुहम्मद के पास एक विश्वस्त दूत केवल घटना-चक्र का निरीक्षण करने के लिए भेज कर करो या इस सरदार के साथ चाहे राजनीतिक अथवा व्यापारिक समझौता करके करो। यह हम तुम्हारी विवेक-बुद्धि के विश्वास पर छोड़ते हैं और साथ ही सीमांत में अपने दूतों से प्राप्त सूचना से अथवा इसके पश्चात् मि० मेकनील के फारस में पहुँच जाने पर (उससे प्राप्त सूचना से) यदि तुम्हें विश्वास हो जाय कि अब वह समय आ गया है जब कि तुम्हें अफगानिस्तान के मामलों में निश्चित रूप से हस्तक्षेप कर देना है, तो ऐसी स्थिति में अफगानिस्तान की दिशा में रूसी प्रभाव की प्रगति रोकने के लिए जो भी अन्य उपाय तुम उचित समझो, अपना सकते हो। परन्तु अफगानिस्तान के मामलों में हस्तक्षेप निश्चित रूप से या तो उस ओर फारस के आधिपत्य को रोकने अथवा रूसी-प्रभाव के अनिवार्य परिणामों के विरुद्ध बाड़ खड़ी करने के लिए ही होना चाहिए।" यहाँ पर यह निर्देश-पत्र विस्तार पूर्वक उद्धृत किया गया है, क्योंकि इसी के कारण उन भारी भूलों की परम्परा प्रारम्भ हुई जिनके परिणाम स्वरूप १८४२ ई० की महान् दुर्घटना हुई। इस निर्देशपत्र में उस समय में छाया हुआ रूस का आतंक स्पष्ट दिखाई देता है, जिसके कारण ऐसी घातक नीति अपनाई गई। इस निर्देश पत्र के मिलने पर बर्न्स का व्यापारिक प्रतिनिधि-मंडल राजनीतिक प्रतिनिधि-मंडल बना दिया गया और इसका उद्देश्य दोस्त मुहम्मद को अँगरेजों की मित्रता में लाकर अफगानिस्तान को कम्पनी-सरकार के राज्य और "बढ़ते हुए रूसी प्रभाव-क्षेत्र" के बीच एक तटस्थ राज्य बना देना हो गया।

हिरात का घेरा—नवम्बर सन् १८३७ ई० में फारस की शाह की सेना ने हिरात पर घेरा डाल दिया। हिरात के शासक कामरान ने फारस के साथ हुई पिछली संधियों को भंग कर तथा फारस के प्रदेशों में लूटमार मचाकर फारस को हिरात के साथ युद्ध छेड़ने के लिए बाध्य कर दिया था। फारस और हिरात के बीच बहुत पुराने समय से ही लड़ाई-झगड़े होते रहते थे, परन्तु रूस के आतंक और फारस में रूस के प्रभाव के कारण १८३७ ई० के इस घेरे का अँगरेजों की दृष्टि

में महत्त्व बहुत बढ़ गया था। इस घेरे का यह मतलब लगाया गया कि यह रूस की भारत की ओर बढ़ने की एक चेष्टा है। बहुत से ऐसे भी लोग थे, जिनको इस घेरे से उत्तेजित होने का कोई भी कारण न दिखाई देता था; इन लोगों का कहना था कि हिरात और सतलज के बीच अनेक स्वतंत्र राज्यों के रहते हुए डरने का कोई भी कारण नहीं है। परन्तु भारत में लॉर्ड ऑकलैंड और इँगलैंड में रूस-विरोधी पामर्स्टन को हिरात के इस घेरे से विश्वास हो गया कि "अफगानिस्तान के मामलों में" हस्तक्षेप करने का समय निश्चित रूप से आ पहुँचा है। जहाँ तक इस घेरे का सम्बन्ध है, इससे कुछ भी लाभ की वात न निकली। कम्पनी-सरकार की ओर से भेजा गया एक यात्री ऍल्फ्रेड पोटिंजर तव अफगानिस्तान में रह रहा था; उसके नायकत्व में हिरात के सैनिकों ने फारस की सेना को पीछे हटने के लिए वाध्य कर दिया।

दोस्त मुहम्मद के साथ समझौता—हिरात के घेरे को देखते हुए दोस्त मुहम्मद के साथ समझौता करना बहुत आवश्यक हो गया। हम पीछे लिख चुके हैं कि दोस्त मुहम्मद रूस की मैत्री की अपेक्षा अँगरेजों की मित्रता का अधिक इच्छुक था। उसने ब्रिटिश सरकार के साथ मित्रता कर लेने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, परन्तु इसके साथ ही रणजीतसिंह से पेशावर को प्राप्त करने में अँगरेजों की सहायता की भी माँग की। दोस्त मुहम्मद यहाँ तक तैयार था कि यदि सिक्खों की अधीनता में रहते हुए भी पेशावर उसे मिल जाय तो वह स्वीकार कर लेगा। परन्तु ऑकलैंड इस प्रकार की सहायता देने के लिए तैयार न था; उसने पेशावर के मामले में किसी प्रकार का भी आश्वासन देने से इनकार कर दिया। इस प्रकार स्थिति यह बन गई थी कि अँगरेज दोस्त मुहम्मद को फारस तथा रूस के साथ सम्बन्ध तोड़ देने के लिए तो कहते थे परन्तु पेशावर के मामले में उसकी सहायता करने अथवा फारस एवं रूस के कोप से, जो निश्चित रूप से उसके ऊपर आ पड़ता, उसकी रक्षा करने के लिए तैयार न थे।

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही था कि दोस्त मुहम्मद रूस की ओर ध्यान देता; रूस का प्रतिनिधि कैप्टेन विक्तेविच दिसम्बर १८३७ ई० में कावुल पहुँचा। रूस भी अफगानिस्तान को अपने पक्ष में करने के लिए उतना ही उत्सुक था जितना इँगलैंड और उसकी इस उत्सुकता के भी ठीक वही कारण थे जो इँगलैंड के; रूस का इतना स्वार्थ अवश्य अधिक था कि अफगानिस्तान को अपने पक्ष में कर वह यूरोप में इँगलैंड पर दबाव डालना चाहता था। रूस के दूत का कावुल पहुँचना दोस्त मुहम्मद द्वारा रूस के जार को लिखे गये पत्र का परिणाम था या नहीं, यह बात अभी तक रहस्यमय ही है। इतना अवश्य निश्चित ज्ञात है कि

रूसी दूत के पहुँचने पर बर्न्स की स्थिति बड़ी डावाँडोल हो गई थी। प्रारम्भ में विक्तेविच के साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार प्रकट कर दोस्त मुहम्मद ने अँगरेजों के साथ मित्रता करने की अपनी इच्छा की सत्यता को प्रमाणित कर दिया; परन्तु वह अँगरेजों की ओर से सहायता का आश्वासन चाहता था। बर्न्स ने उसकी इच्छाओं का समर्थन भी किया, परन्तु ऑकलैंड इस विषय में मौन रहा। परिणाम यह हुआ कि दोस्त मुहम्मद अँगरेजों के हाथ से निकल गया और बर्न्स को २६ अप्रैल १८३८ ई० के दिन काबुल को यह दृढ़ धारणा लेकर छोड़ देना पड़ा कि पेशावर का मामला आसानी से सुलझाया जा सकता था और इस प्रकार दोस्त मुहम्मद को अपने पक्ष में कर रूस के विरुद्ध एक बाधक शक्ति के रूप में खड़ा किया जा सकता था। कहा जाता है कि अफगानिस्तान के विषय में भावी नीति के पोषकों में अग्रणी कुछ लोगों ने बर्न्स को अपने ये विचार गवर्नर-जनरल के सामने प्रकट करने से रोक दिया था। अफगानी दुर्घटना में मेकनॉटन, टॉरेन्ट्स और कॉलविन—ये तीन महाशय ऑकलैंड के प्रमुख परामर्शदाता थे। यह निश्चय कर सकना कठिन है कि ये लोग इस दुर्घटना के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी हैं। पेशावर के मामले में ऑकलैंड की चुप्पी साधने के अनेक कारण थे। पेशावर के सम्बन्ध में रणजीतसिंह को कोई सुझाव देना उसके मन में संदेह पैदा करना ही होता और तब उसके सम्बन्ध अँगरेजों के साथ कटु हो जाते, क्योंकि वह अभी तक यह न भूल पाया था कि अँगरेजों की चालों के कारण ही उसको सतलज रियासतों तथा सिंध से वंचित रहना पड़ा था। अफगानों की अनिश्चित मित्रता के लिए सिक्खों की निश्चित मित्रता को खो देना किसी प्रकार से भी बुद्धिमानी का काम न होता। दूसरी बात यह थी कि पेशावर के कारण सिक्खों और अफगानों में जो द्वेष उत्पन्न हो गया था, उसको बनाये रखना ही अँगरेजों के लिए हितकर था, क्योंकि तब ये दोनों शक्तियाँ किसी प्रकार से भी मिल न पा सकती थीं। अफगानों के साथ रणजीतसिंह का शत्रुभाव बने रहने से अँगरेजों को यह भी लाभ था कि तब रणजीतसिंह अँगरेजों के साथ मित्रता बनाये रखने के लिए बाध्य हो जाता था और उसको अपनी सबसे बढ़िया सेना अफगान-सीमा पर तैनात रखनी पड़ती थी।

त्रिदलीय गठबन्धन (Tripartite Alliance)—बर्न्स की विफलता एवं दोस्त मुहम्मद के रूसी प्रभाव-क्षेत्र में खिसक जाने के कारण, उस पुराने आतंक का सामना करने के लिए अब नये उपाय अपनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। १२ मई १८३८ के विवरण-पत्र में लार्ड ऑकलैंड ने सारी परिस्थिति का ब्योरा उपस्थित किया और वे तीनों उपाय भी सामने रखे जो ऐसी स्थिति में संभव थे। पहला उपाय यह था कि अफगानिस्तान और फारस को उनके भाग्य पर छोड़ दिया

जाय और अपनी सारी शक्ति सिन्धु के तटवर्ती प्रदेश पर केन्द्रित की जाय; दूसरा यह था कि काबुल और कन्धार के अमीरों को सहायक-संधियों में बाँधकर रूस के मार्ग में बाड़ बना दिया जाय; और तीसरा उपाय यह था कि रणजीतसिंह को काबुल पर आक्रमण करने के लिए उभाड़ा जाय और "उसकी प्रगति की सहायता के रूप में शाहशुजा के नेतृत्व में एक अभियान का संघटन किया जाय।" स्वयं ऑकलैंड तीसरे उपाय का पक्षपाती था और इँगलैंड की सरकार की सहमति मिलने पर यही उपाय अपनाया भी गया।

रणजीतसिंह को इस योजना के लिए तैयार करने के लिए मैकनाटन को लाहौर भेजा गया। रणजीतसिंह ने तब तक इस योजना से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध रखना अस्वीकार कर दिया, जब तक अँगरेजी सरकार इसमें पूरा-पूरा हाथ बँटाना स्वीकार न कर ले और उसके अपने हितों की सुरक्षा का आश्वासन न दे दे। इस प्रकार पर्दे के पीछे से सूत्र-संचालन करने और शुजा को सिक्खों की सहायता से अपना खोया अधिकार प्राप्त करने के लिए छोड़ देने की मूल-योजना त्याग देनी पड़ी और उसके स्थान में अँगरेजी शस्त्रों की सहायता से शुजा को काबुल के तख्त पर बैठाने की योजना अपनानी पड़ी। रणजीतसिंह पर थोड़ा सा ही कूटनीतिक दबाव काम कर गया। जब उसके कानों में यह बात डाली गई कि यदि वह इस योजना में सहयोग न करेगा तो अँगरेज स्वतन्त्र रूप से शुजा को काबुल के तख्त पर बैठा देंगे, तो वह मान गया और इस प्रकार अँगरेजों, रणजीतसिंह एवं शुजा—इन तीन पक्षों ने २६ जून १८३८ ई० के दिन एक त्रिदलीय संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि में निश्चय किया गया कि शाहशुजा को काबुल के तख्त पर बैठाया जाय और शाहशुजा अँगरेजों तथा रणजीतसिंह की सहमति के बिना किसी विदेशी राज्य-शक्ति के साथ सम्बन्ध न रखे तथा अफगानिस्तान से होकर बढ़ने-वाली प्रत्येक सेना का प्रतिरोध करे। शाहशुजा ने उन सभी प्रदेशों पर रणजीत-सिंह के आधिपत्य को मान्यता देना स्वीकार कर लिया जो रणजीतसिंह ने अफगा-निस्तान-राज्य से जीते थे और सिंध पर अपने समस्त अधिकार छोड़ दिये तथा सिन्ध के विषय में अँगरेजों तथा रणजीतसिंह के बीच हुए समझौते का पालन करना भी स्वीकार कर लिया। यहाँ यह स्मरणीय है कि पहले सिंध प्रदेश अफ-गानिस्तान-राज्य में ही था और यद्यपि सिन्ध के अमीर व्यवहार में स्वतन्त्र हो चुके थे, परन्तु वैसे वे काबुल के अधीन ही समझे जाते थे। शिकारपुर की मंडी की क्षतिपूर्ति के रूप में रणजीतसिंह को ५० लाख रुपये दिये जाने का निश्चय हुआ। हिरात को स्वतन्त्र राज्य मानने और काबुल में एक अँगरेज राजदूत रखने का भी निश्चय हुआ।

६ सितम्बर १८३८ ई० के दिन फारस की सेना ने हिरात पर से घेरा उठा लिया और १ अक्टूबर १८३८ ई० को लॉर्ड ऑकलैंड ने अपना वह प्रसिद्ध घोषणा-पत्र प्रसारित किया जिसमें उसने इस अफगानी योजना के कारण और प्रस्तावित अफगान-युद्ध के लिए अपनी सफाई पेश की। यह घोषणा-पत्र जान-बूझकर झूठी-झूठी बातों और झूठे-सच्चे बहानों से भरा था; परन्तु जिस प्रकार की नीति की इसमें रूपरेखा प्रकट की गई थी, उसको देखते हुए, ये झूठे बहाने आश्चर्यजनक नहीं लगते। इस नीति पर अधिक गंभीर आक्षेप यह किया गया कि फारस के हिरात पर से घेरा उठा लेने पर इस नीति को कार्यान्वित करने का कोई भी कारण शेष न रह गया था। रूस ने अपने दूत विक्तेविच को वापिस बुला लिया था और उसकी की हुई वार्त्ताओं को अनधिकारपूर्ण घोषित कर दिया गया था। ऐसी स्थिति में योजना को स्थगित कर उस पर पुनः विचार कर लेना आवश्यक था। इँगलैंड का अधिकारीवर्ग भी सोच-विचार कर लेने का परामर्श दे रहा था, परन्तु ऑकलैंड ने अपनी योजना का त्याग करना अस्वीकार कर दिया। ८ नवम्बर १८३८ ई० की घोषणा में उसने स्पष्टतया अपना यह निश्चय व्यक्त किया कि वह—

"अफगानिस्तान के पूर्वी प्रांतों में शत्रुतापूर्ण शासक के स्थान पर एक मित्रतापूर्ण शासक को स्थापित करने और उत्तर-पश्चिमी सीमा के विरुद्ध आक्रमण की योजनाओं को रोकने के लिए एक स्थायी बाड़ बना देने के विचार से घोषित उपायों को······बलपूर्वक कार्यान्वित करेगा।"

ऑकलैंड के लिए, जैसा कि बाद में लॉर्ड लिटन के लिए भी रहा, रूस के भय का हट जाना सँभल कर चलने का अवसर न होकर अपनी पूर्व-योजनाओं को और भी अधिक बलपूर्वक कार्यान्वित करने का सुयोग था, क्योंकि इससे रूसी हस्तक्षेप की आशंका दूर हो गई थी। इँगलैंड में और भारत में भी ऐसे व्यक्ति कम न थे, जिनको गवर्नर-जनरल की इस योजना के औचित्य में गंभीर संदेह था। परन्तु जान-बूझकर चिट्ठी-पत्रियों में गोलमाल कर दोस्त मुहम्मद एवं बर्न्स के मंतव्यों को बहुत गलत रूप में सामने लाकर जन-सम्मति को धोखे में रखा गया। इन सब बातों का भंडा तब फूटा जब शैतान अपना काम कर चुका था। हिरात से फारस की सेना के हट जाने पर इस योजना पर से रक्षात्मकता का जो थोड़ा-बहुत रंग शेष था, वह भी धुल गया और तब इसके रूप में कार्य करनेवाली साम्राज्यवादी प्रवृत्ति अपने नग्न रूप में प्रकट हो गई।

काबुल की ओर प्रयाण—नवम्बर सन् १८३८ ई० के अंतिम दिनों में फिरोजपुर में एक विशाल सेना एकत्र की गई, जिसको 'सिंधु-सेना' (आर्मी ऑफ दि इंडस) नाम दिया गया। प्रधान सेनापति सर हेनरी फेन ने, जो इस

योजना का प्रत्यक्ष विरोधी था; अस्वास्थ्य का बहाना कर अवकाश ले लिया और तब बम्बई के सर जॉन कोन ने उसका स्थान ग्रहण किया। बंगाल की सेना सर विलौबी के नायकत्व में थी और मैकनॉटन को काबुल में शाहशुजा के दरबार में अँगरेज राजदूत बना कर इस अभियान के राजनीतिक पहलू का अध्यक्ष बनाया गया। मध्य एशिया में ब्रिटिश मैत्री का जाल बिछाने के उद्देश्य से इस अभियान के साथ अन्य कूटनीतिज्ञों का एक दल रखा गया। रणजीतसिंह ने पंजाब के मार्ग से सेना ले जाने की अनुमति न दी; अतः सिंधु नदी के मार्ग से कन्धार होकर काबुल जाने का मार्ग अपनाया गया; निश्चय किया गया कि प्रधान सेना बोलन दर्रे के मार्ग से बढ़ेगी और शाहशुजा का पुत्र तैमूर सिक्खों के साथ खैबर के मार्ग से चलेगा।

सिन्ध के प्रति व्यवहार—सिन्धु का मार्ग अपनाये जाने के कारण सिन्ध-प्रदेश भी रंगभूमि में उतर आया। सिन्ध के साथ जो संधि हुई थी उसके अनुसार सिन्धु के मार्ग से सेनाएँ अथवा युद्ध-सामग्री ले जाने का निषेध था। परन्तु सिन्ध के अमीरों को आन्तरिक दुर्बलता प्रकट हो जाने के कारण उनको जबर्दस्ती मना लेना और यहाँ तक कि उनसे कुछ धन भी खसोट लेना संभव हो गया। भक्कर नामक स्थान पर अधिकार कर लेना आवश्यक समझा गया और बर्न्स ने तत्काल इस आवश्यकता को पूर्ण कर दिया। अमीरों के न्यायोचित विरोध को उनके शत्रु-भाव का लक्षण बताया गया। उनसे २५ लाख रुपये की माँग इस बहाने से की गई कि यह रकम उन पर अपने अधिपति शाहशुजा की, जो पिछले तीस वर्षों से क़ाबुल के तख़्त से निष्कासित था, वार्षिक भेंट की चढ़ी हुई है। डरा-धमका कर एवं सैनिक बल-प्रयोग की धमकी देकर इन अमीरों को काबू में किया गया। उनसे कहा गया कि युद्ध-काल में पिछली संधियों की शर्तें स्थगित मानी जाती हैं। साथ ही यह बात भी जोड़ दी गई कि 'इस महत्त्वपूर्ण संकट-काल में केवल वे ही नहीं जिन्होंने हमारे शत्रु-पक्ष की ओर झुकाव प्रकट किया है बल्कि वे भी जो हमारे इस न्यायपूर्ण एवं आवश्यक कार्य में सहायता न देने का भाव प्रकट करेंगे, अवश्य पदच्युत किये जायेंगे और इनको उन लोगों के लिए स्थान रिक्त कर देना पड़ेगा जिनकी मित्रता एवं सहयोग पर हम पूर्णतया निर्भर रह सकें।" सिन्ध के अमीरों की गर्दन पर एक सहायक सेना भी लाद दी गई, जिसके खर्चे के लिए उनको ३ लाख रुपये वार्षिक देने का आदेश दिया गया। जैसा कि स्वाभाविक ही था, अमीरों ने इन आदेशों का विनम्र विरोध किया, जिस पर उनको बताया गया कि "यदि भारत में अँगरेजी साम्राज्य की सुरक्षा अथवा संघटन के लिए थोड़ी

भी ऐसी आवश्यकता जान पड़ी तो न तो अमीरों को कुचलने और नष्ट करने की तत्पर शक्ति का अभाव है और न इस शक्ति को प्रयोग में लाने की इच्छा का ही।" राजधानी में सर जॉन कीन को बम्बई की सेना के साथ उपस्थित देखकर अमीर भयत्रस्त हो उठे और वे अँगरेजों के सामने झुक गये। उन्होंने सहायक संधि पर हस्ताक्षर कर दिये और अपने पर लगाई गई भेंट का कुछ अंश भी चुका दिया।

सिन्धु नदी पार करते ही सेना को मार्ग की कठिनाइयों का अनुभव होने लगा। परन्तु अब तो इनसे बचने का कोई उपाय था ही नहीं। सारी सेना जोर लगाकर आगे बढ़ती गई और इस प्रकार २६ मार्च, १८३९ ई० को क्वेटा पहुँची। अप्रैल में शाहशुजा ने कन्धार में प्रवेश किया। सभी जानते थे कि अफगान लोग विलासी शाहशुजा की अपेक्षा शूरवीर दोस्तमुहम्मद को कहीं अधिक चाहते हैं और यह जान लेने पर कि शाहशुजा विदेशियों के हाथ की कठपुतली बन गया है और उनके हाथों देश की स्वतन्त्रता बेच रहा है, उसके प्रति अफगानों की घृणा और भी बढ़ गई थी; इसलिए कबीलों को जी-भर घूस दी जाने लगी। जुलाई में गजनी में प्रवेश हुआ और ७ अगस्त सन् १८३९ के दिन शाहशुजा के कदम फिर से काबुल में पड़े; दोस्तमुहम्मद चार दिन पहले काबुल छोड़ चुका था। लड़ाई नाम-मात्र को भी न हुई। धन की बौछार शाहशुजा का मार्ग प्रशस्त कर चुकी थी, परन्तु लोगों के मन में उसके स्वागत का उत्साह न था। काबुल में उसका प्रवेश "एक राजा के अपने पुनः प्राप्त राज्य में प्रवेश की अपेक्षा एक श्मशान-यात्रा के जलूस के समान ही था।" नवम्बर में दोस्त मुहम्मद ने मैकनॉटन के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और तब उसको बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया। उस समय जान पड़ता था कि अँगरेजों की योजना पूर्णतया सफल हो गई है; शत्रुता पूर्ण शासक के स्थान पर एक मित्र-शासक की स्थापना हो गई और चारों ओर शान्ति दिखाई देने लगी।

वास्तव में यह शान्ति तूफान के उठने से पहले के कुछ क्षणों की ही शान्ति थी; बाद की घटनाओं ने यह पूर्णतया सिद्ध कर दिया। काबुल में प्रवेश करते ही अँगरेजों की कठिनाइयाँ बढ़ने लगीं। स्पष्ट विदित होने लगा कि अँगरेजों के शस्त्रों के बिना तो शाहशुजा एक दिन के लिए भी गद्दी पर अधिकार नहीं रख सकता। पीछे हटने का अर्थ था सारी योजना को नष्ट कर देना और काबुल में डटे रहना भी उतना ही भयंकर था क्योंकि अफगान लोग इन विधर्मियों (अँगरेजों) को अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला समझ रहे थे। आखिर निश्चय यह हुआ कि अफगानिस्तान में १०,००० सैनिक काबुल, जलालाबाद, गजनी और कन्धार की

छावनियों में बाँटकर रखे जायें और बाकी सेना सर जॉन कीन की अधीनता में भारत लौट जाय।

जून १८३९ ई० में रणजीतसिंह की मृत्यु से अँगरेजों की स्थिति और भी संकटमय हो गई। सिक्खों में केवल वही एक आदमी था जो अँगरेजों के प्रति मित्रता का भाव रखता था। उसके पश्चात् उसका पुत्र खड़गसिंह पदारूढ़ हुआ और अब सिक्ख लोग अपने राज्य में से होकर अँगरेज सेनाओं के जाने का घोर विरोध करने लगे। खैबर का मार्ग भयपूर्ण था और सिक्ख पंजाब का मार्ग न देना चाहते थे; ऐसी स्थिति में अफगानिस्तान में अँगरेजों के सामने अकेले पड़ जाने का भय उपस्थित हो गया। दिन-प्रतिदिन अँगरेजों के प्रति अफगानों का शत्रुभाव जोर पकड़ रहा था। अँगरेजों ने जो दुहरी शासन-नीति स्थापित कर दी थी उससे शक्तिशाली अफगान सरदारों के राजनीतिक अधिकार छिन गये थे। घूस की रकम का वहाव धीरे-धीरे सूख जाने पर कवीलों में घूस के कारण जो शान्ति का रंग छा गया था, वह भी उड़ने लगा। इन सब कारणों के साथ-साथ अँगरेज अधिकारियों की और विशेषतया बर्न्स की चरित्र-हीनता ने अफगानों के क्रोध की ज्वाला और भी प्रचण्ड कर दी। अफगानों में घनीभूत होता हुआ झंझा-वात मैकनॉटन के अतिरिक्त सभी को स्पष्टतया दिखाई देने लगा। घरेलू सरकार ने भी, शाहशुजा की जनता में बदनामी को ध्यान में रखते हुए, १८४० ई० के अपने निर्देश-पत्र में परामर्श दिया कि या तो अफगानिस्तान से सेना पूर्णतया हटा ली जाय अथवा सेना को पर्याप्त रूप से बढ़ा दिया जाय। परन्तु ऑकलैण्ड ने इन दोनों में से कोई भी बात न की और परिणामस्वरूप वह दुर्घटना घटित हुई जिसका अभी वर्णन किया जायगा।

१८४१–४२ ई० की भीषण घटना—नवम्बर सन् १८४१ ई० में लगभग १०० आदमियों की एक भीड़ ने बर्न्स पर हमला किया और उसको मार डाला। यह घटना जन-विप्लव का संकेत थी। अँगरेज सेनाओं की निष्क्रियता ने विप्लवियों को सङ्गठित होने का अवसर दे दिया और दोस्तमुहम्मद के पुत्र मुहम्मद अकबर खाँ के रूप में उन्हें एक नेता भी मिल गया। कन्धार में जनरल नॉट यातायात के साधन उपलब्ध न होने के कारण हिलडुल न सका और गण्डमक में जनरल सेल ने काबुल की अपेक्षा जलालाबाद की ओर प्रयाण करना अधिक उपयुक्त समझा। २३ नवम्बर के दिन अफगानों ने बेमारू नामक स्थान पर अँगरेजों को करारी हार दी। स्थिति को काबू से बाहर पाकर मैकनॉटन ने अकबर खाँ के साथ समझौते की बात-चीत शुरू की, जिसके फलस्वरूप ११ दिसम्बर १८४१ को अँगरेजों को एक अपमान-जनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि में शर्तें यह रखी गईं कि अँगरेज

अफगानिस्तान से अपनी सारी सेना हटा लें और भारत में वन्दी वनाकर ले जाये गये दोस्त मुहम्मद एवं सभी दूसरे अफगानों को मुक्त कर दें। शुजा को अफगानिस्तान में रहने अथवा अपने समर्थक अँगरेजों के साथ भारत चले जाने की छूट दी गई। निश्चय किया गया कि चार अँगरेज अफसर अमानत के रूप में अफगानिस्तान में रहेंगे और २२ दिसम्वर के दिन अँगरेज सेना अफगानिस्तान से चल देगी। मैकनॉटन पर इन पिछले महीनों की घटनाओं का कोई प्रभाव न पड़ा। उसने शत्रु-पक्ष में फूट डालकर अपनी योजना पर डटे रहने का प्रयत्न किया; परन्तु इस प्रयत्न में उसको अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। २३ दिसम्वर को उसका वध कर दिया गया। इस हत्या से अँगरेज और भी भयत्रस्त हो उठे; अफगानिस्तान छोड़ देने की सन्धि को १ जनवरी, १८४२ ई० के दिन कार्यान्वित किया गया; तोपें, वन्दूकें और शस्त्रागार अफगानों को सौंपकर ६ जनवरी को अँगरेज सेना कावुल से लौट चली। १६,००० लोगों ने, जिन्होंने कुछ समय पहले कावुल में विजयोल्लास के साथ प्रवेश किया था, अव अपमानित होकर कावुल से निकल रहे थे—"एक शिथिल गति, अवनत मस्तक, उत्साहविहीन सेना" के रूप में; दुर्भाग्य ठहाका मारकर हँस रहा था; अभी वह और भी विनाशकारी खेल खेलने वाला था।

इस प्रत्यावर्तन की कहानी, अफगानों का लौटती हुई अँगरेज सेना का वध कर देना और इस विनाश की कथा सुनाने के लिए अकेले डॉ० व्रायडन का वचकर जलालावाद पहुँचना—ये सब वातें इतनी प्रसिद्ध हैं कि यहाँ इनको दुहराना व्यर्थ है। परन्तु इस संहार का कारण क्या था—यह ज्ञात नहीं होता। इसके लिए अकवर खाँ और अफगानों पर एक पवित्र विश्वास घात करने का दोष लगाया जाता है। परन्तु जरा गहराई में जाने पर मालूम पड़ता है कि ऐंल्फिस्टन की सेना के संहार का कारण वास्तव में अफगानों का विश्वासघात न था अपितु अंगरेजों द्वारा सन्धि की शर्तों को कार्यान्वित करने से इनकार किये जाने से उत्पन्न सन्देह था। कन्धार, जलालावाद और गजनी में स्थित अँगरेजी सेनाओं का सन्धि की शर्तों के अनुसार अफगानिस्तान छोड़ देने से इन्कार करना ऐंल्फिस्टन की सेना के विनाश का कारण वना। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि सन्धि में शर्त यह रखी गई थी कि उस समय अफगानिस्तान में जितनी भी अँगरेज सेना थी उस सव को यह देश खाली कर देना पड़ेगा। उस समय कन्धार, गजनी, कलात, गिलजाई और जलालावाद में अँगरेज सेनाएँ थीं। सन्धि के अनुसार इन सवको अफगानिस्तान छोड़ देना था। परन्तु इन सेनाओं ने इस शर्त को यह वहाना वनाकर अस्वीकार कर दिया कि क्योंकि ऐंल्फिस्टन कोई स्वतन्त्र प्रतिनिधि नहीं था, इसलिए वे इस सन्धि से वँधे नहीं थे।

अँगरेजी सेनाओं के इस पैंतरे से अफ़गान लोग क्रुद्ध हो उठे ; उनको डर हुआ कि कहीं ऍल्फिस्टन की सेना जलालाबाद में जनरल सेल की सेना के साथ और जनरल पोलक के अधीन भेजी गई एक नई सेना के साथ, जिसके विषय में अफ़गान सुन चुके थे, न जा मिले; इसलिए उन्होंने ऍल्फिस्टन की सेना का वध कर दिया। अफ़गानिस्तान की सँकरी घाटियों में मारी गई ऍल्फिस्टन की निःशस्त्र सेना के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि उनके इस वध का कारण अफ़गानिस्तान के अन्य भागों में स्थित उनके भाई-वन्धु ही थे।

कन्धार में जनरल नॉट अफ़गानों का प्रतिरोध करता रहा; परन्तु इसी वीच उसको विश्राम देने के लिए भेजा गया जनरल इँग्लैण्ड फरवरी में हाकलज़ई के युद्ध में अफ़गानों से हार खा गया और तव जनरल नॉट को उसकी रक्षा के लिए युद्ध-स्थल की ओर लपकना पड़ा, जिससे उसकी सैन्य-शक्ति वहुत वढ़ गई। गजनी में सेनानायक पामर ने शत्रुओं से घिर जाने पर आत्मसमर्पण कर दिया। ऍल्फिस्टन की सेना के संहार के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी जनरल सेल जलालावाद में तब तक डटा रहा, जव तक जनरल पोलक की अधीनता में एक नई सेना उसकी सहायता के लिए न आ पहुँची।

परन्तु अव हमारे सामने वे घटनाएँ आती हैं जो आकलैण्ड के शासन-काल के अन्तर्गत न होकर, लार्ड ऍलेनवरा के कार्यकाल में हुईं, जिसने फरवरी १८४२ ई० में पद-ग्रहण करने की शपथ ली। ऍलेनवरा ने पहले तो अफ़गानिस्तान से सेनाएँ हटा लेने का विचार किया, परन्तु बाद में यह देखकर कि अँगरेज सेनाओं ने "अफ़गानों पर कुछ अपूर्व और निश्चयात्मक प्रहार कर हमारी सैनिक प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर दी हैं," उसने यह विचार त्याग दिया। फिर भी जनरल इँगलैण्ड की पराजय और जनरल पामर के आत्म-समर्पण की सूचना पाकर उसने अफ़गानिस्तान में डटे रहने का विचार वदल दिया। परन्तु जलालाबाद में जनरल सेल और पोलक की सेनाओं के मिल जाने से स्थिति में सुधार होते देखकर उसकी प्रतिशोध की पाशविक वृत्ति पुनः जाग्रत हो उठी और उसने नॉट और पोलक को पत्र लिख भेजे, जिनमें इन सेनानायकों को कावुल और गजनी को पुनः विजय कर लौटने की खुली छुट्टी दी गई थी, परन्तु गवर्नर-जनरल ने अपने आप को इस उत्तरदायित्व से मुक्त कर लिया था। ऍलेनवरा का निर्देश-पत्र इस प्रकार था, "यदि अपने पराक्रम से तुम गज़नी और कावुल पर अधिकार पाने में समर्थ हो सको तो तुम ब्रिटिश-सेना की मनुष्यता को लांछित न करते हुए, जैसा भी ठीक समझो वैसा करो और ब्रिटिश-सेना की शक्ति के निश्चित प्रमाण छोड़ आओ। महमूद गजनवी के मकबरे से तुम उसकी गदा, जो इसके ऊपर झूलती है, निकाल लाना और उसके मकबरे के दरवाजों

को निकाल लाना, जो (वास्तव में) सोमनौत (सोमनाथ) के मन्दिर के द्वार हैं। ये वस्तुएँ तुम्हारे सफल प्रयाण के सच्चे पदक होंगे।" इतना संकेत पर्याप्त था। पोलक ने जलालाबाद से और नॉट ने कन्धार से काबुल में सम्मिलित होने के लिए कूच कर दिया। पोलक ने कुछ झड़पों के बाद अकबर खाँ को तेहजिन में परास्त कर १५ सितम्बर को काबुल में प्रवेश किया; नॉट भी १७ ता० को वहाँ आ पहुँचा। नॉट ने मार्ग में गजनी पर आक्रमण कर उसकी किलेबन्दी को तहस-नहस कर दिया था और तब गाजी महमूद के मकबरे के दरवाजे से निकालकर काबुल में विजय-दुन्दुभि बजाते हुए प्रवेश किया। काबुल के बड़े बाजार को धूल में मिलाकर, काबुल में जी भर विनाश का खेल खेलकर अँगरेजों ने १२ अक्टूबर को यहाँ से प्रयाण किया। काबुल का यह विनाश बौखलाये हुए साम्राज्यवाद का अन्तिम कृत्य था—एक ऐसा कृत्य जैसे कि कोई बच्चा अपनी प्रिय वस्तु को अपने से छिनते देखकर उसको नष्ट कर देता है।

इसी बीच ऐलेनबरा ने १० अक्टूबर की एक घोषणा में, जिस पर १ अक्टूबर की तारीख डाली गई थी, ऑकलैण्ड की नीति का दिवालियापन दिखाते हुए, अपनी नीति की यह रूप रेखा प्रस्तुत की "गवर्नर-जनरल अफगानों पर ही यह कार्य-भार छोड़ देगा कि वे स्वयं उस अराजकता के बीच, जो उनके ही अपराधों का परिणाम है, शासन-व्यवस्था उत्पन्न करें। (इस वाक्य में 'उनके ही' के स्थान पर 'हमारे ही' कहना अधिक सत्यतापूर्ण होता।) किसी जाति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई शासक लाद देना ब्रिटिश नीति के उतना ही विरुद्ध होगा जितना कि यह ब्रिटिश सिद्धान्तों के विरुद्ध है। अपनी उन सीमाओं तक ही सन्तुष्ट रहते हुए, जो प्रकृति द्वारा इसके साम्राज्य को प्राप्त जान पड़ती ह, भारत-सरकार सार्वजनिक शान्ति स्थापित करने और बनाये रखने में ही अपना समस्त उद्योग लगा देगी।" इस घोषणा के बाद ही सिन्ध-प्रदेश जीता गया।

भारत के समस्त राजाओं, सरदारों और जनता के नाम निकाली गई एक दूसरी अर्थशून्य घोषणा में ऐलेनबरा ने फर्माया "हमारी विजयी सेना सोमनौत (सोमनाथ) के मन्दिर के द्वारों को अफगानिस्तान से विजय कर लाई है और सुल्तान महमूद की ध्वस्त समाधि गजनी के खण्डहरों को देख रही है। आठ सौ वर्ष पूर्व के अपमान का अन्ततः प्रतिशोध ले लिया गया है।" इस घोषणा की आलोचना करते हुए, 'अफगान-युद्ध' का मान्य लेखक लिखता है "इस घोषणा की मूर्खता से किसी प्रकार भी इनकार नहीं किया जा सकता। यह मूर्खता बहुत ही बेहूदे किस्म की थी, क्योंकि यह प्रसन्न तो किसी को न कर पाई परन्तु रुष्ट बहुतों को कर गई।" इससे मुसलमानों की भावनाओं को ठेस पहुँची और हिन्दुओं पर इसका कुछ भी

प्रभाव न पड़ा, क्योंकि ये द्वार सोमनाथ के नहीं थे। यह सारा प्रदर्शन आँसू पोंछकर चेहरे पर मुस्कान लाने का प्रयत्न मात्र था। इसी प्रकार की इच्छा से फिरोजपुर में एक विशाल सैनिक-प्रदर्शन का आयोजन भी किया गया, जहाँ ऐंलेनबरा बड़ी सजधज के साथ लौटी हुई सेनाओं से मिलने गया। फिरोजपुर का यह प्रदर्शन कुछ तो अँगरेजी सेना की खोई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने और कुछ सिक्खों को भयभीत करने और पराजय पर विजय का रंग चढ़ाने की भावना से किया गया था। परन्तु उत्सवों एवं पारितोषिक वितरण का कैसा भी विशाल आयोजन एक ऐसे अन्यायपूर्ण युद्ध के लांछन को न मिटा सकता था, जिसका अन्त भी अपमानपूर्ण हुआ हो।

ब्रिटिश-नीति का शिकार निर्दोष दोस्त मुहम्मद चुपचाप मुक्त कर दिया गया। काबुल लौटकर उसने अपना तख्त पुनः प्राप्त कर लिया और वह १८६३ ई० तक शासन करता रहा। शाहशुजा भी दण्ड से बच न पाया। बरुकज़ई सरदार के पुत्र जमाल खाँ ने उसका वध कर दिया।

अफगान-युद्ध की विफलता का दोष किसी एक कारण पर नहीं मढ़ा जा सकता। यह विफलता अनेक प्रकार के कारणों का परिणाम थी। एक स्वतन्त्रता-प्रिय एवं योद्धा जाति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई शासक लादना महान् मूर्खता थी। फिर स्वतन्त्र राज्यों एवं पर्वतीय प्रदेशों में से होकर जाने के लिए यातायात के साधनों की ओर पर्याप्त ध्यान न देना और भी बड़ी मूर्खता थी। सेना को मैकनॉटन सरीखे राजनीतिज्ञों के अधीन रखना, जिनकी बुद्धि अधिकार-लिप्सा से भ्रमित थी, बहुत बड़ी भूल थी। परन्तु सबसे महान् भूल तो यह थी कि ऐंल्फिस्टन को प्रधान सेनापति बनाया गया, जो संकट के प्रथम चिह्नों से ही घबरा उठा था। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि कुकर्मों का दण्ड तो मिलता ही है, भले ही वह देर से मिले। के लिखता है कि "जब हमारे किसी अपवित्र कार्य पर ईश्वरीय कोप गहरा होकर छा गया हो, तब हमारे राजनीतिज्ञों की बुद्धिमत्ता केवल मूर्खता मात्र बन जाती है और हमारी सेनाओं की शक्ति निर्बलता मात्र रह जाती है।"

अफगानिस्तान के प्रति इस नीति की विफलता के विषय में के ने जो टिप्पणी दी है, उससे अच्छी आलोचना और क्या हो सकती है! के लिखता है "इतिहास के पृष्ठों में इससे अधिक पूर्ण और विनाशकारिणी विफलता का उल्लेख नहीं है। संसार के समस्त इतिहास में इससे अधिक महान् और प्रभावोत्पादक पाठ और कोई नहीं मिलता।......पुराने कागज-पत्रों में अंकित है कि इस विनाशकारी युद्ध में भारतवासियों का, जिनके हम संरक्षक हैं, पन्द्रह लाख रुपया व्यय हुआ। यह समस्त विशाल भार भारत के राजस्व पर पड़ा और अनेक वर्षों तक यह देश इस

भार के नीचे कराहता रहा।" अफगानिस्तान में मित्रतापूर्ण शासक बैठाने की अपेक्षा, जिसके लिए यह सारी योजना बनाई गई थी, अँगरेजों ने "अफगानिस्तान के प्रत्येक नगर और गाँव को अँगरेजों के प्रति शत्रुभाव से पूर्ण बना कर छोड़ा, जब कि उस देश में अँगरेजों के विनाश से फारस की प्रभाव-विस्तार की प्रवृत्ति को तथा उसके मास्को के मित्र की गुप्त मन्त्रणाओं को प्रोत्साहन मिला।"

सिन्ध की विजय—सिन्ध की विजय सभी दृष्टियों से अफगानिस्तान में हुई विनाश लीला की प्रतिक्रिया थी। अफगानिस्तान में करारी चोट खाकर अँगरेजों ने सिन्ध के अमीरों पर अपना क्रोध उतारा। ऐंल्फिस्टन ने लिखा था कि "अफगानिस्तान से लौटने पर (सिन्ध में जो घटनाएँ हुईं, उन्हें देखकर) उस उद्दण्ड मनुष्य का स्मरण हो जाता था जो सड़क में लातें खाने के बाद घर जाकर अपनी पत्नी को पीटकर इस अपमान का बदला लेता है; यह (सिन्ध की घटना) अफगानी तूफान की दुम थी।"

हम पीछे अफगान-युद्ध के दौरान में सिन्ध के अमीरों के प्रति अँगरेजों के व्यवहार का वर्णन कर आये हैं।

साम्राज्य की सुरक्षा की समस्याओं को लेकर अँगरेजों का ध्यान सिन्ध की ओर आकर्षित हुआ था और उन्होंने पहले तो फ्रांसीसियों और बाद में रूस-फारस की सम्भाव्य प्रगति को रोकने के लिए सिन्ध को एक तटस्थ प्रदेश बनाने का विचार किया था। रणजीतसिंह के प्रभाव-क्षेत्र को सीमित करने और उसको समुद्र तक न पहुँचने देने की इच्छा ने अँगरेज-सरकार को सिन्ध में हस्तक्षेप करने के लिए और भी अधिक प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप बैंटिक के समय में सिन्ध के साथ सन्धि की गई थी।

सिन्ध प्रदेश कहने को तो अफगानिस्तान के अधीन था, परन्तु व्यवहार में स्वतन्त्र था। यह प्रदेश तीन सरदारों के अधिकार में था; खैरपुर के अमीर उच्चतर (Upper) सिन्ध पर शासन करते थे और इनका सरदार मीर रुस्तम था और निचला सिन्ध हैदराबाद के अमीरों के अधीन था। ये अमीर एक दूसरे से स्वतन्त्र थे; और अँगरेजों ने उनकी पारस्परिक स्वतन्त्रता को मान्यता देते हुए उनसे अलग-अलग सन्धि की।

सिन्ध और अफगानिस्तान का अभियान—अफगान-युद्ध की आवश्यकताओं ने सिन्ध के अमीरों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया। फरवरी सन् १८३९ ई० में उनके ऊपर सहायक सन्धि लादी गई, जिसके अनुसार ऑकलैण्ड के शब्दों में "इन सरदारों का संघ भंग हो गया है, प्रत्येक सरदार को उसके अधिकृत प्रदेश तक सीमित कर दिया गया है और अपने झगड़ों में हमारी मध्यस्थता स्वीकार करने

के लिए बाध्य कर दिया गया है।" उन पर ३ लाख रुपया सहायक-कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त अफगान युद्ध-काल में उनसे भक्कर, कराची और सक्खर ले लिये गये और अमीरों से आशा की गई कि वे रसद इत्यादि की सहायता पहुँचायें। वास्तव में अमीरों द्वारा ३००० ऊँट भेजे जाने पर ही जनरल नॉट कन्धार से बाहर निकल सका और काबुल की ओर प्रयाण कर सका।

अफगानिस्तान में महान् क्षति हो जाने और रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों का मनोभाव बदल जाने से, परिस्थिति बहुत बदल गई और अँगरेजों के लिए आवश्यक हो गया कि युद्ध के दौरान में जिन स्थानों पर उन्होंने अस्थायी रूप से अधिकार कर लिया था उन पर अब स्थायी रूप से अधिकार जमा लें। काबुल में दोस्तमुहम्मद के पुनः पदारूढ़ हो जाने पर अफगानिस्तान की ओर से शत्रुभाव की ही आशा की जा सकती थी; इधर सिक्खों पर भी भरोसा नहीं रखा जा सकता था। ऐसी स्थिति में बोलन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक समझा गया। उच्चतर सिन्ध प्रदेश पर अधिकार हो जाने पर अँगरेज गजनी और कन्धार के मार्ग से बढ़कर अफगानिस्तान से आनेवाले किसी भी भय का सामना कर सकने में समर्थ हो सकते थे।

इस प्रकार सिन्ध में सामरिक महत्त्व के स्थानों पर अधिकार करने का निश्चय हो जाने पर, बहाना ढूँढ़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई। जाली चिट्ठियों के आधार पर अमीरों पर शत्रुभाव रखने का आरोप लगाया गया, और इसलिए पिछली सन्धियों को फिर से दुहराना आवश्यक बताया गया। अमीरों को एक दूसरे से अलग समझने की पुरानी प्रवृत्ति को छोड़ दिया गया और अब किसी एक अमीर के विरुद्ध प्राप्त प्रमाण सभी अमीरों को दोषी ठहराने के लिए पर्याप्त समझा गया। इसी अवसर पर सर्वोच्च सैनिक एवं राजनीतिक अधिकार लेकर सर चॉर्ल्स नेपियर सिन्ध के रंग-मञ्च पर अवतरित हुआ और अब घटना-चक्र तीव्र गति से बढ़ने लगा। नेपियर समझता था कि सरकार ने सिन्ध को हस्तगत करने के लिए उसे भेजा है; अतः वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ। खैरपुर के अमीरअली रुस्तम के भाई अली मुराद के रूप में नेपियर को सिन्ध में एक मीर जाफर मिल गया। नेपियर ने उसको सरदारी के चिह्न उस 'पगड़ी' से विभूषित करने का वचन दिया जो इस समय वृद्ध मीर रुस्तम के सिर पर बँधी हुई थी। हैदराबाद पहुँचकर नेपियर आतंकपूर्ण भाषणों से अमीरों को डराने लगा; बेचारे अमीर भयभीत होकर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। अमीरों पर पुरानी सन्धियों को भंग करने का दोष लगाकर, एक नई सन्धि का मसविदा तैयार किया गया। अक्टूबर सन् १८४२ ई० में एलेनबरा ने नेपियर को आदेश दिया कि वह अमीरों के साथ सन्धि को दुहराने की बातचीत चलाये और अमीरों को धमकी दे कि यदि आवश्यक समझा गया तो उनके विरुद्ध

शक्ति का प्रयोग किया जायगा। नवम्बर सन् १८४२ ई० की नई सन्धि के अनुसार, जो अमीरों पर लादी जा रही थी, अमीरों से अपने सिक्के चलाने का प्रभुत्वशाली अधिकार छिन रहा था, तथा कराची और थट्टा भी उनके हाथ से निकल रहे थे। साथ-साथ यह भी शर्त थी कि कराची और थट्टा के बीच अमीर के राज्य में से होकर अँगरेजों को यातायात का अधिकार मिलेगा तथा इस मार्ग की सीमा नेपियर ही निश्चित करेगा और यह गलियारा अँगरेजों का प्रदेश समझा जायगा; इसके अतिरिक्त भावलपुर एवं रोड़ी नामक स्थान के बीच पड़नेवाला प्रदेश भावलपुर रियासत में मिलाया जायगा और रोड़ी नगर भी भावलपुर के नवाव को मिलेगा। इसी प्रकार की सन्धि खैरपुर के अमीरों के साथ भी की जानेवाली थी। उनका भी कुछ प्रदेश भावलपुर के नवाव और अँगरेजों के राज्य में मिलाया जाना था। अँगरेजों को सक्खर, भक्खर और रोड़ो प्राप्त होने थे, इनकी सीमा-निर्धारण का अधिकार नेपियर को मिलना था। इन शर्तों के बदले में अमीरों को सहायक-कर से मुक्ति दी गई थी। मीरपुर के अमीरों के साथ पुरानी सन्धि ही बनी रहने दी गई; उनके लिए सन्धि का नया मसविदा नहीं बनाया गया।

अमीरों पर थोपे गये आरोपों की जाँच की कोई आवश्यकता न समझी गई, क्योंकि इन्हीं आरोपों का आधार लेकर तो पुरानी संधियाँ दुहराई जा रही थीं। अमीरों को अपनी सफाई का कुछ भी अवसर न देकर, फैसला उनके विरुद्ध कर दिया गया। दिसम्बर सन् १८४२ ई० में ये संधियाँ अमीरों की स्वीकृति के लिए भेज दी गईं। इससे पहले नेपियर ने १ दिसम्बर १८४२ ई० को यह घोषणा प्रसारित की कि अमीरों की स्वीकृति के लिए इन सन्धियों को भेजने के साथ-साथ वह इन सन्धियों में निर्धारित प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए प्रयाण कर रहा है। नेपियर की यह घोषणा केवल अत्याचारपूर्ण ही नहीं थी अपितु अमीरों को अपमानित करने की नीयत से भी की गई थी, क्योंकि अमीरों की स्वीकृति के पहले ही उनके प्रदेशों पर अधिकार करना उनकी प्रजा की दृष्टि में उनकी शक्तिहीनता का परिचय दिलाने की ही चेष्टा थी। अमीरों से कहा गया कि वे २० जनवरी १८४३ ई० तक संधियों पर स्वीकृति दे दें और इस कार्य के लिए औट्रम ने उनसे खैरपुर में मिलने का कार्यक्रम बनाया। परन्तु नेपियर तो अँगरेजों की शक्ति का परिचय देने के लिए बेचैन हो रहा था; इसलिए उसने २० जनवरी की प्रतीक्षा न की। उसने पहले ही इमामगढ़ की ओर प्रयाण कर दिया और चारों ओर प्रचारित कर दिया कि यह गढ़ उच्चतर सिन्ध का जिब्राल्टर है; ९ जनवरी को उसने इस पर अधिकार कर लिया। नेपियर का विरोध करने के लिए किले में कोईं भी न था। अमीर भली भाँति जानते थे कि प्रतिरोध का परिणाम

क्या होगा; अतः वे नेपियर के पहुँचने से पहले ही किला छोड़ चुके थे। किसी प्रकार का प्रतिरोध न देखकर नेपियर बहुत निराश हुआ; उसका खून तो लड़ने के लिए खौल रहा था और वह पराक्रमी युद्ध-विजेता का गौरव पाने के लिए लालायित था। अपनी इन आशाओं को ध्वस्त देखकर उसने किले की दीवारों की ओर तोपों का मुँह कर उन्हें उड़वा दिया। युद्ध की किसी प्रकार की घोषणा न होने पर भी नेपियर के इस विचित्र आचरण को देखकर अमीर शंकित और आतंकित हो उठे। परन्तु असहाय होने के कारण वे चुपचाप अँगरेजों की इस धृष्टता और बर्बरता का दृश्य देखते रहे।

खैरपुर में यथासमय सम्मेलन हुआ; परन्तु इसमें केवल निचले सिन्ध के अमीर ही उपस्थित थे; अली मुराद की कुचालों के कारण उच्चतर सिन्ध के अमीर ठीक समय पर यहाँ न पहुँच सके। औट्रम ने नेपियर की पूर्ण सहमति से पुनः सम्मेलन का स्थान हैदराबाद रखा और २८ जनवरी इसकी तिथि निश्चित की। दो दिन बाद ही उच्चतर सिन्ध के अमीरों के वकील सन्धिपत्र पर लगाने के लिए मोहर साथ लेकर खैरपुर पहुँचे; परन्तु नेपियर ने उन्हें आज्ञा न दी और हैदराबाद लौटने का आदेश दिया।

औट्रम को पूर्ण विश्वास था कि अमीर सन्धि स्वीकार करने के लिए तैयार हैं; इसलिए उसने नेपियर से आग्रह किया कि हैदराबाद के सम्मेलन से पहले किसी प्रकार की लड़ाई न छेड़ी जाय। परन्तु नेपियर ने औट्रम को भी झाँसा दे दिया। उसने सामरिक कार्यवाही को तो रोक दिया परन्तु साथ ही औट्रम के पास अमीरों से मिलने का आज्ञा-पत्र भेजने में भी विलम्ब कर दिया, जिससे औट्रम की स्थिति बड़ी आक्षेपपूर्ण हो गई। औट्रम ने अमीरों से ८ फरवरी और दो दिन पहले भेंट की। नेपियर ने इसी बीच एक विशाल सेना के साथ हैदराबाद की ओर प्रयाण कर दिया; औट्रम प्रयाण रोकने के लिए चिल्लाता ही रहा। अमीरों ने १२ फरवरी को सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, परन्तु इसी बीच खुल्लमखुल्ला धींगामुश्ती होते देख बिलोचियों का क्रोध उबल पड़ा और वे काबू से बाहर हो गये। अमीरों ने संकटमय स्थिति उत्पन्न होते देख, औट्रम से हैदराबाद छोड़ देने की विनती की। परन्तु उसने उनकी प्रार्थना न मानी; बिलोचियों ने रेजिडेंसी पर आक्रमण कर नेपियर को उसकी करनी का फल चखा दिया। यह निश्चित सत्य है कि यदि नेपियर कुछ दिनों के लिए हैदराबाद की ओर प्रयाण रोक देता तो सन्धियों पर अवश्य ही हस्ताक्षर हो जाते और उस युद्ध की नौबत न आती जो अब छिड़ गया था। परन्तु प्रारम्भ से ही नेपियर जैसी चालें खेलता आ रहा था, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह युद्ध के लिए कोई बहाना ढूँढ़कर सिन्ध को अँगरेजी-राज में मिला

लेने की योजना बनाकर चला था। अब उसने तत्काल युद्ध की घोषणा कर दी। १७ फरवरी को मियानी के युद्ध में उच्चतर और निचले सिन्ध के अमीर परास्त हुए। मीरपुर का अमीर भी, जिसके साथ कोई सन्धि नहीं की जानी थी, लड़ाई में घसीट लिया गया और २४ मार्च को हैदराबाद के युद्ध में हरा दिया गया। सैनिक-दृष्टि से ये लड़ाइयाँ एकपक्षीय प्रदर्शन ही थीं।

अमीरकोट पर ४ अप्रैल को अधिकार किया गया। नेपियर ने गवर्नर-जनरल के पास अपनी विजयों का समाचार इस सर्व-विदित वाक्य में भेजा "सिन्ध मेरे अधिकार में है" ('Peccavi, I have Sindle')। अगस्त १८४३ ई० में एँलेनबरा ने सिन्ध को अँगरेजी राज में मिलाने की घोषणा की, जिसका निश्चय मार्च में ही हो गया था। इस नाटक में हिस्सा बँटाने के पुरस्कारस्वरूप अलीमुराद को खैरपुर सौंप दिया गया; अमीरों को देशनिकाला मिला और नेपियर को ७०,००० का पुरस्कार मिला; इसके अतिरिक्त वह सिन्ध का गवर्नर भी बना दिया गया।

सिन्ध के विलीनीकरण की सभी ओर से निंदा हुई। भारत में अँगरेजों ने जो अनेक अन्यायपूर्ण युद्ध किये, उनमें सिन्ध का युद्ध सर्वाधिक अन्यायपूर्ण था। नेपियर ने स्वयं लिखा था "सिन्ध को छीनने का हमें कोई अधिकार नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे और हमारा यह कार्य एक बहुत महत्त्वपूर्ण, लाभदायक और मनुष्यतापूर्ण शैतानी होगा।" इस कथन पर डा० मार्शमैन ने आलोचना की है कि, "इस कार्य से लाभ की अपेक्षा शैतानी ही अधिक स्पष्ट है।" औट्रम ने दुःखपूर्ण हृदय से इच्छा व्यक्त की कि अच्छा होता यदि हमारी तलवार किसी भले कार्य के लिए म्यान से बाहर निकलती। परन्तु यह सारी निंदा अमीरों को क्या संतोष दे सकती थी। ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के इन भाग्यहीन आखेटों का सब कुछ छिन गया; संसार में तब कोई भी ऐसा न्यायाधिकरण न था, जहाँ ये न्याय की माँग कर सकते।

आन्तरिक व्यवस्था—१८३६-४४ ई०—१८३६-४४ ई० के बीच के काल में आन्तरिक व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। शासन-व्यवस्था उसी प्रकार चलती रही जैसी बैंटिक बना गया था। शिक्षा को अवश्य थोड़ा-सा प्रोत्साहन मिला; मद्रास और बम्बई में मेडिकल कॉलेज खोले गये; सरकारी स्कूलों में कुछ छात्र-वृत्तियाँ रखी गईं और देशी भाषाओं की उन्नति के लिए भी कुछ धन स्वीकृत हुआ।

भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में इस काल में उस नीति का बीजारोपण हुआ जो अगले शासन-काल में विकसित हुई। राज्याधिकार छीनने और अधिका-

धिक हस्तक्षेप की नीति का पूर्वरूप इस काल में प्रकट होने लगा। देशी रियासतों की आंतरिक अव्यवस्था की ओर आज तक अँगरेज सरकार जो उदासीनता का भाव वनाये हुए थी, वह अव धीरे-धीरे हटने लगा, यद्यपि इस विषय में अभी तक उसकी कोई निश्चित नीति न वन सकी। इस विषय को लेकर दो विरोधी दल वन गये; एक तो देशी राज्यों के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप कर वहाँ के कुशासन को समाप्त करने के पक्ष में था और दूसरा दल इनके आंतरिक मामलों में विलकुल भी हस्तक्षेप न कर कुशासन को बढ़ने देने का समर्थक था, जिससे आगे चलकर इन राज्यों के अँगरेजी राज्य में विलीनीकरण का अच्छा वहाना मिल जाय। विलीनीकरण की वढ़ती हुई प्रवृत्ति भी, जो आगे डलहौजी के शासन-काल में चरम सीमा पर पहुँची, इस काल में दिखाई देती है। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने १८४१ ई० में "राज्य अथवा राजस्व के किसी भी न्याय-सम्मत एवं सम्मानपूर्ण विलीनीकरण को न छोड़ने" की अपनी इच्छा विधिवत् प्रकट की। राज्याधिकार समाप्ति का सिद्धान्त, (डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स), जो लॉर्ड डलहौजी के नाम के साथ इतना अधिक सम्वद्ध है, गवर्नर-जनरल के लिए लिखे गये अध्यक्ष-मण्डल के १८३४ ई० के इन शब्दों में ही स्पष्ट दिखाई देता है कि "जव भी तुम्हारे सामने दत्तक पुत्र की स्वीकृति देने या न देने का विकल्प उपस्थित हो, तब तुम्हें स्वीकृति को नियम न बनाकर अपवाद ही समझना चाहिए और (दत्तक पुत्र रखने की) स्वीकृति, किसी विशेष कृपा के रूप में देने के अतिरिक्त, और कभी भी नहीं दी जानी चाहिए।" ऑकलैंड ने मांडवी, जालौन, कोलाबा और सूरत की रियासतों को दत्तक-पुत्र रखने की स्वीकृति न दी और इन राज्यों को अँगरेजी राज में मिला लिया। कुर्नूल-राज्य को उसने एक दूसरे ही आधार पर अँगरेजी राज्य में मिलाया। इस छोटी सी रियासत के नवाब पर अँगरेजी राज्य को समाप्त करने का षड्यन्त्र रचने का अपराध लगाकर पदच्युत किया गया। अपने और अपने परिवार के लिए बड़ी-बड़ी पेंशनें लेकर कुर्नूल के नवाब ने गद्दी छोड़ दी। सतारा के राजा पर भी ऐसा ही दोष लगाया गया, परन्तु सतारा के विलीनीकरण का श्रेय लॉर्ड डलहौजी के लिए छूट गया। ऑकलैंड ने तत्कालीन सतारा-नरेश को पदच्युत कर और उसके भाई शाहजी को पदारूढ़ करके ही संतोष कर लिया। यदि हम ब्रिटिश नीति में एकरूपता मानकर चलें तो कुर्नूल और सतारा के शासकों के साथ एक ही अपराध होते हुए भी, इतना भिन्न व्यवहार किये जाने का कारण नहीं पा सकते; इसका कारण तो तभी समझ में आता है जब हम ब्रिटिश नीति की अवसरवादिता को ध्यान में रखें।

इन्दौर और अवध—इन दो रियासतों ने भी ऑकलैंड का ध्यान आकर्षित किया। ब्रिटिश चिकित्सक को ये दोनों राज्य एक ही रोग से पीड़ित जान पड़े;

यह रोग था कुशासन। अवध में जुलाई १८३७ ई० में नवाब नसीरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के झगड़े ने इस रोग को और भी पेचीदा बना दिया था। इन्दौर में तो एक चेतावनी ने ही हरिराव होल्कर को उसके कर्त्तव्य का ज्ञान करा दिया। उसने तत्काल उस व्यक्ति को अपना मंत्री नियुक्त कर दिया, जिसकी ओर अँगरेज प्रभु का संकेत था और इतने से ही उसकी रियासत की शासन-व्यवस्था सुधर गई।

अवध में भूतपूर्व नवाब नसीरुद्दीन के चाचा मुहम्मद अली की पदलोलुपता के कारण झगड़ा खड़ा हो गया था। अँगरेज सरकार को यहाँ पिछली सन्धि को अपने लिए और भी लाभपूर्ण बनाने के उद्देश्य से दुहराने का सुयोग दिखाई दिया और उसने इसी शर्त पर मुहम्मद अली को सहायता का वचन दिया। मुहम्मद अली ने भी इस कहावत को मानते हुए कि 'कुछ न मिलने से कुछ मिल जाना अधिक अच्छा है' शर्त मान ली। अवध के रेजीडेंट कर्नल लो ने मुहम्मद अली को साथ लेकर महल की ओर प्रयाण किया और थोड़ी सी झड़प के बाद मुहम्मद अली को तख्त पर बैठा दिया। इस नये नवाब से एक सन्धि की गई। जिसके अनुसार उस पर जबर्दस्ती एक नई सेना लादी गई, जो अँगरेजों द्वारा ही सिखाई-सधाई जानी थी और जिस पर १,६०,००० पौं० का खर्च लगना था और अँगरेज सरकार ने यह भी अधिकार पा लिया था कि कुशासन की स्थिति में वह शासन-व्यवस्था अपने हाथ में ले लेगी। इस संधि पर अध्यक्ष-मंडल तक का मन गवाही न दे सका। उसने इसको अमान्य कर ऑकलैंड को आदेश दिया कि वह नवाब को उनके इस निश्चय की सूचना दे दे। किन्तु ऑकलैंड ने अध्यक्ष-मंडल का निश्चय नवाब पर प्रकट न किया; उसे केवल इतना ही बताया कि वह नई सहायक सेना के भार से मक्त किया गया है। अगले गवर्नर-जनरल ने भी यह खेल जारी रखा; अध्यक्ष-मंडल द्वारा इस संधि की अमान्यता का ज्ञान नवाब को लॉर्ड डलहौजी के समय में तब हो सका जब कि उसका यह ज्ञान अँगरेजों की एक नई नीति की सफलता के लिए आवश्यक समझा गया। यहाँ अँगरेज सरकार के इन गंदे व्यवहारों पर टीका टिप्पणी करना अनावश्यक है।

ऐलेनबरा और ग्वालियर—सतलज के इस ओर केवल ग्वालियर ही एक ऐसा राज्य रह गया था, जो थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता का उपभोग करता था और जिसके पास ४०,००० सैनिकों एवं २०० तोपों की एक शक्तिशाली सेना थी। इस राज्य की सैनिक शक्ति ने ऐलेनबरा का ध्यान आकर्षित किया। उसको भय था कि सतलज के उस पार के ७०,००० सिक्ख, जिनका अँगरेजों के प्रति मनोभाव अनिश्चित था, ग्वालियर की इस सेना के साथ सम्बद्ध न हो जायँ। अफगान-दुर्घटना को एक

शानदार विजय का रूप देने की अपनी समस्त वीरतापूर्ण चेष्टाओं के वाद भी वह इस भयपूर्ण विचार से मुक्ति न पा रहा था कि यदि देशी रियासतों को स्वतंत्र छोड़ा गया तो वे दूसरा कावुल वन जायेंगी। सिक्खों के साथ युद्ध होने का तो उसे दृढ़ विश्वास हो गया था। सिक्खों से टक्कर लेने के लिए वढ़ते हुए अँगरेजों की पीठ पीछे ग्वालियर के ४०,००० सैनिकों के दल को वने रहने देना, वहुत ही भयंकर था। ग्वालियर की सेना की सिक्खों के साथ जा मिलने की संभावना भी भुलाई न जा सकती थी। दोनों ही राज्य भारतीय थे। उनका धर्म भी एक और उनका सांस्कृतिक सम्वन्ध भी घनिष्ठ। इन सव वातों पर विचार करने पर ऐँलेनवरा इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ग्वालियर की सैन्य की संख्या को कम करना अत्यंत आवश्यक है।

फरवरी सन् १८४३ ई० में जनकोजी सिन्धिया पुत्रहीन मर गया। उसकी तेरहवर्षीय विधवा ताराबाई ने प्रमुख सरदारों एवं ऐँलेनवरा की सहमति से आठ वर्ष के वालक जयाजी राव को गोद लिया। परन्तु संरक्षक के प्रश्न पर मामला उलझ गया। ऐँलेनवरा किसी ऐसे व्यक्ति को संरक्षक बनाना चाहता था, जो उसके प्रभाव में हो और जिसके द्वारा वह ग्वालियर की व्यवस्था पर अपना नियन्त्रण रख सके; उसकी कृपादृष्टि कृष्णराव कदम पर पड़ी जो मामा साहव के नाम से कुख्यात था। दूसरी ओर ग्वालियर के सरदार और रानी चाहते थे कि किसी एक व्यक्ति को संरक्षक न वनाकर राज्य के प्रवन्ध संचालन के लिए एक मंत्रि-परिषद् नियुक्त कर दी जाय और यदि कोई एक व्यक्ति ही संरक्षक वनाना आवश्यक हो तो दादा खासजीवाला को ही इस पद पर नियुक्त किया जाय। परन्तु दादा ऐँलेनवरा के मनोनुकूल न था; अतः उसने रानी और सरदारों की इच्छा के प्रतिकूल मामा साहव को ही संरक्षक वनाया। जैसी कि आशा करनी ही चाहिए थी, मामा साहव का किसी ने भी सम्मान न किया और दादा के हितों को वढ़ावा देने के लिए मामा का पतन किया गया। ऐँलेनवरा ने इस व्यवहार को अपना व्यक्तिगत अपमान समझा; वह क्रोध से उवल उठा। उसने ग्वालियरसे अँगरेज रेजीडेंट को वापिस वुलाकर ग्वालियर के साथ सब कूटनीतिक सम्वन्ध तोड़ दिये। उसको निश्चय हो गया कि अव ग्वालियर में सशस्त्र हस्तक्षेप करने का अवसर आ गया है। एक अँगरेज सेना सर ह्यू गफ की अधीनता में ग्वालियर की ओर भेजी गई। स्वयं ऐँलेनवरा ११ दिसम्वर १८४३ ई० को आगरा आ गया। उसने बुरहानपुर में हुई एक पुरानी सन्धि (१८०४ ई०) खोज निकाली, जिसके अनुसार अँगरेजी सरकार ने आवश्यकता पड़ने पर ग्वालियर के महाराज को सहायक सेना देकर सहायता पहुँचाने का वचन दिया था और इस संधि के आधार पर उसने ग्वालियर में अपने

सशस्त्र हस्तक्षेप को यह कहकर न्यायसम्मत बताया कि यह हस्तक्षेप नाबालिग जयाजी राव की सहायता के लिए किया जा रहा है। ब्रिटिश रेजीडेंट के हटा लिये जाने पर रानी और उसके सलाहकार शंकित हो उठे थे। उन्होंने दादा को पदच्युत कर दिया; परन्तु अब सर ह्यूगफ के प्रयाण को कुछ भी न रोक सकता था। रानी ने एँलेनबरा से चम्बल न पार करने की अनुनय-विनय की, परन्तु वह तो ग्वालियर की सैन्य-शक्ति को समाप्त करने पर तुला हुआ था; अतः वह बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि रियासत की सेनाओं के साथ अँगरेज-सेना आ टकराई; रानी को इसी बात का भय हो रहा था। ग्वालियर के सैनिक अँगरेज-सेना की प्रगति में अपनी स्वतंत्रता का अंत देख रहे थे। सिन्ध की घटनाएँ अभी नई ही थीं, और लोग उन्हें भूले न थे; अतः ग्वालियर के सैनिकों ने आक्रांता से भिड़ने का निश्चय कर लिया। महाराजपुर एवं पनियार नामक स्थानों पर दो झड़पों के बाद युद्ध समाप्त हो गया। ग्वालियर के साथ एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार ग्वालियर की सेना घटाकर ९,००० कर दी गई; ग्वालियर में रियासत के खर्चे पर १०,००० ब्रिटिश सैनिक रखे गये और जयाजी राव की अल्पवयस्कता के काल में शासन-प्रबंध चलाने के लिए एक मंत्रि परिषद् नियुक्त की गई। अफगानिस्तान की दुर्घटना के थोड़े समय बाद ही सिन्ध और ग्वालियर की इन घटनाओं को देखकर अधिकारी-वर्ग सशंक हो उठा और एँलेनबरा को जून १८४४ ई० में वापिस बुला लिया गया।

तेरहवाँ अध्याय

सिक्ख-राज्य—अभ्युदय और पतन

दो युद्धों और एक विलीनीकरण से आधुनिक ब्रिटिश भारत का चित्र पूर्ण हो गया। सिन्ध के अँगरेजी राज्य में मिला लिये जाने के बाद भारत में केवल सिक्खों का राज्य ही एकमात्र स्वतंत्र राज्य रह गया था; खालसा योद्धाओं के पराक्रम और रणजीतसिंह की प्रतिभा ने इस राज्य का संघटन किया था। सिक्खों के एक धार्मिक सम्प्रदाय से एक शक्तिशाली राज्य-शक्ति के रूप में संघटित होने का क्रमिक और विस्तृत इतिहास इस छोटे से अध्याय में नहीं दिया जा सकता। लॉर्ड मिन्टो के समय में अमृतसर की संधि (१८०९ ई०) के सिलसिले में इनका कुछ वर्णन किया गया है। इस सन्धि ने, जो अँगरेजों की एक महान् कूटनीतिक विजय थी, सतलज रियासतों को रणजीतसिंह के अधिकार में जाने से रोक दिया था और दक्षिण-पूर्व की ओर सतलज नदी को उसके प्रभुत्व-विस्तार की सीमा बना दिया था। दक्षिण-पूरब की ओर बाधा पाकर रणजीतसिंह ने अपनी सेना के सुधार और राज्य के विस्तार की ओर ध्यान दिया। १८१० ई० में उसने मुलतान की ओर अभियान किया, परन्तु यह प्रदेश १८१८ ई० तक उसके राज्य में मिलाया न जा सका। १८१३ ई० में उसने गोरखों से कांगड़ा और अफगानों से अटक प्राप्त किया। अफगानिस्तान में बरुकजई और सदोजई कबीलों के रक्तपात-पूर्ण उपद्रवों से जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उससे लाभ उठाकर रणजीतसिंह ने अफगानिस्तान के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। पंजाब की राजधानी लाहौर, रणजीतसिंह को जमानशाह से प्राप्त हुई थी; जमानशाह ने भारत की ओर के अपने अंतिम अभियान के समय यह नगर रणजीतसिंह को १७९८ ई० में राजा की उपाधि सहित प्रदान किया था। परन्तु रणजीतसिंह अधिक समय तक अफगानिस्तान के अधीन न रहा। बाद में तो वह अफगानिस्तान राज्य के बड़े बड़े टुकड़ों पर भी हाथ साफ करने लगा। सहायता पाने की आशा से शाहशुजा १८१४ ई० में लाहौर आया। रणजीतसिंह ने उसको आशाओं के नन्दन-वन में भटकाकर उससे कोहेनूर प्राप्त कर लिया और उसको एक बंदी के समान अपने यहाँ रखा। आखिर उसको ब्रिटिश सहायता की आशा से लुधियाना आना पड़ा।

१८१९ ई० में रजणजीतसिंह ने कश्मीर विजय किया और १८२३ ई० में पेशावर पर अधिकार कर लिया। पहले तो पेशावर एक अधीन प्रदेश ही रहा, परन्तु १८३४ में सिक्ख राज्य में पूर्णतया विलीन हो गया। इससे पहले बैन्टिंक ने रूपड़ में रणजीतसिंह से भेंट की थी और १८३१ ई० में अँगरेज़ों के साथ मित्रता की संधि दुहराई गई थी। सिंध के प्रति रणजीतसिंह की योजनाओं को अँगरेजों ने सफल न होने दिया। वास्तव में उन्होंने उसको यहाँ झाँसा दिया। अफ़गान-अभियान में रणजीतसिंह ने जो भाग लिया उसका उल्लेख पीछे हो चुका है। वह एक शक्तिशाली राज्य और सुशिक्षित सेना छोड़कर सन् १८३९ ई० में इस संसार से कूच कर गया।

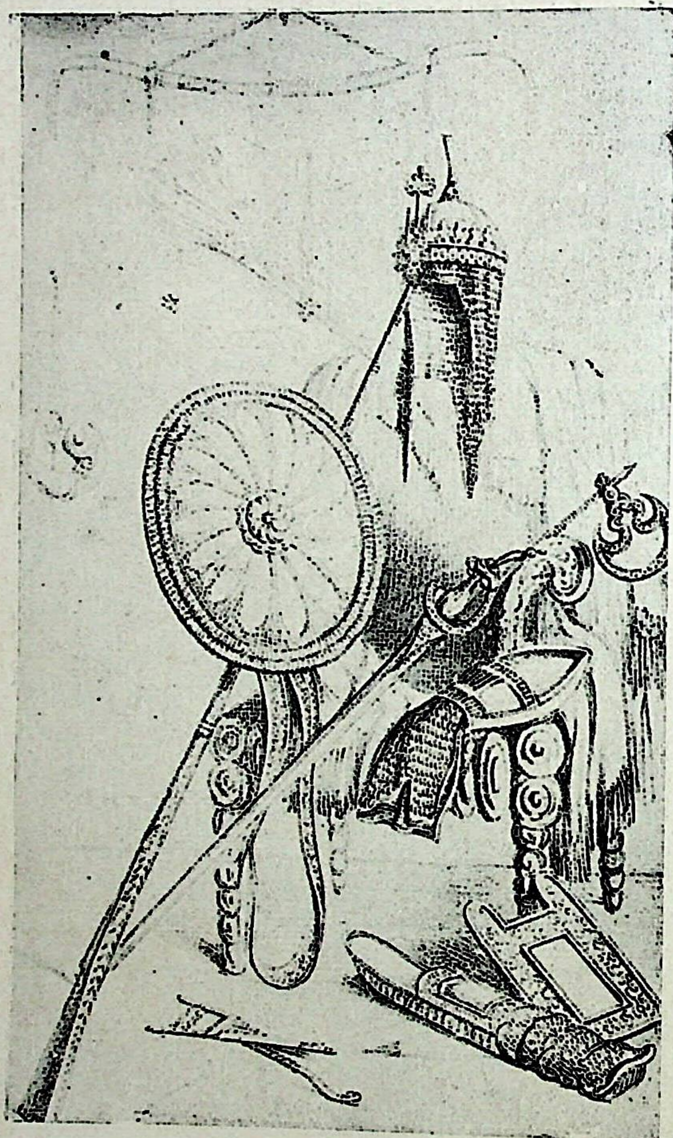
रणजीतसिंह का व्यक्तित्व और कार्य—सिक्खों के अंतिम गुरु गोविन्दसिंह ने उनको एक धार्मिक सम्प्रदाय से उठाकर एक राज्य-सत्ता के रूप में परिणत कर दिया था परन्तु उनको एक केन्द्रीय शासन में बाँधने का श्रेय रणजीतसिंह को ही है। उससे पहले सिक्ख लोग बारह 'मिस्लों' में विभक्त थे। ये 'मिस्लें' परस्पर स्वतंत्र छोटे-छोटे गण-राज्य थे और इनमें एकता केवल इतनी ही थी कि ये सभी एक धर्म सम्प्रदाय के अनुयायी और 'ख़ालसा' के भक्त थे। कनिंघम ने इनके शासन-तन्त्र को 'धार्मिक संघात्मक-सामंतशाही' कहा है। सिक्ख-सम्प्रदाय को एक दृढ़ राजनीतिक शक्ति का रूप देना और सिक्खों को एक सुव्यवस्थित राज्य अथवा संघ में संघटित करना रणजीतसिंह ने अपना उद्देश्य बनाया और इसमें वह पूर्णतया सफल भी हुआ।

मुगल साम्राज्य का पूर्णतया पतन हो जाना और अफ़गानिस्तान में घरेलू कलहों से अव्यवस्था फैलना—ये सिक्खों के अभ्युदय में सहायक बाह्य अथवा ऋणात्मक कारण थे। उनके उत्कर्ष के आंतरिक अथवा धनात्मक कारण थे उनकी दृढ़ धर्म-निष्ठा और 'खालसा' के प्रति उनकी उत्साहपूर्ण भक्ति। 'वाहे गुरुजी का खालसा' यह उनका युद्ध-घोष था जो रणजीतसिंह के सैनिकों में युद्ध का उत्साह भर देता था। परन्तु इस बिखरे हुए सम्प्रदाय की सतेज निष्ठा को एक धारा में एकत्र करना और केंद्रीय शासन को दृढ़ बनाने में इसका उपयोग कर सकना रणजीतसिंह की प्रतिभा का ही कार्य था। उसने अपने आपको और सारी जनता को 'खालसा' का सामुदायिक नाम देकर इस उत्साह को अक्षुण्ण रखा। महाराज होते हुए भी, वह अपने आप को 'खालसा' का प्रथम सेवक कहा करता था। उसने जितनी भी विजयें कीं वे सभी खालसा के नाम पर और खालसा के गौरव के लिए।

अपने उद्देश्य के विषय में रणजीतसिंह की कल्पना बहुत स्पष्ट थी; परन्तु



महाराजा रणजीतसिंह, ध्यानसिंह और हीरासिंह



सिक्ख-कवच

वह कभी साधनों के भले-बुरे होने का विचार न करता था और इस बात में वह अँगरेजों से बहुत भिन्न न था। उसके व्यक्तिगत जीवन में बहुत सी कमियाँ थीं परन्तु इनके कारण उसके वाह्य-जीवन की चमक-दमक में कोई भी कमी न आ सकी। वह कद में छोटा था और उसकी सूरत सुन्दर तो किसी प्रकार भी नहीं कही जा सकती; फिर भी उसमें अपना ही एक अपूर्व आकर्षण था। बचपन में चेचक ने उसकी एक आँख समाप्त कर दी थी, परन्तु जो एक बची हुई थी वही उसके शत्रुओं के वदन में कँपकँपी लाने और उसके सैनिकों को अद्वितीय शौर्य प्रदर्शन के लिए प्रेरित करने में समर्थ थी। वह एक वीर योद्धा था और अजेय पराक्रम के साथ बाधाओं से टक्कर लेता था। उसके पराक्रमपूर्ण कार्यों ने उसके सैनिकों के मन में उसके प्रति अगाध श्रद्धा पैदा कर दी थी और वे एक रणक्षेत्र से दूसरे रणक्षेत्र में उसका अनुगमन करने में अपना सौभाग्य समझते थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि विजय-मुकुट उनके इसी नेता के मस्तक पर रहेगा। कट्टर सिक्ख होते हुए भी वह अन्य सम्प्रदायों का आदर करता था। अनेक मुसलमान उसकी सेवा में नियुक्त थे; जाति अथवा सम्प्रदाय की चिंता न कर वह गुणग्राहक था।

उसकी सेना उसके शत्रुओं के दिल दहला देती थी। अपने कार्य-काल के प्रारंभ से ही उसने इसको अपने प्रभुत्व-स्थापन तथा राज्य-विस्तार का एक प्रबल साधन बनाने के लिए घोर परिश्रम किया था। सिक्ख सेना के निर्माण में फ्रांसीसी-अफसरों का कितना हाथ था---इसके विषय में बहुत विरोधी मत हैं। वैन्टूरा और अल्लार नामक दो फ्रांसीसी जनरल सन् १८२२ ई० में लाहौर पहुँचे। रणजीतसिंह ने उनको अपनी सेना में नौकरी दी। इनके आने के थोड़े समय बाद जनरल कोर्ट और अवीतेवील भी उसके दरबार में नियुक्त हुए। सिक्ख सेना के अनुशासन और शौर्य के उत्कर्ष का श्रेय भूल से इन साहसिक विदेशी जनरलों को दे दिया गया है, जो धनलिप्सा से भारत की ओर चले आये थे। परन्तु वस्तुतः सिक्खों में एक निपुण सैनिक के गुण स्वभावतः विद्यमान थे; वे अदम्य उत्साही और कष्ट-सहिष्णु होते थे। राष्ट्रीय भावनाओं एवं धार्मिक जोश ने उनके इन स्वभाव-सिद्ध गुणों को और भी उभार दिया था। फ्रांसीसी जनरलों के आने के बहुत पहले से ही तोप एक सर्वसामान्य शस्त्र बन चुका था और रणजीतसिंह ने कम्पनी-सरकार की सेवा से अवकाश-प्राप्त सैनिकों की सहायता से अपनी सेना को खूब सिखा-सधा कर तथा अनुशासन में बाँध कर पैदल दस्तों के रूप में संघटित कर लिया था। इस काम की उसको सबसे पहले अँगरेजों से ही प्रेरणा मिली थी। उनकी सैनिक सफलताओं ने रणजीतसिंह का ध्यान आकर्षित कर लिया था और वह उनके सैनिक-प्रबन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सन् १८०५ ई० में लॉर्ड लेक की सेना को देखने

गया था; इस बात का उल्लेख उसके दरबारी वकील लाला सोहनलाल की डायरी में मिलता है। उसने १८०९ ई० में मेटकॉफ के अंगरक्षक दस्ते की कवायद और अनुशासन को बड़े ध्यान से देखा था और कांगड़ा में गोरखा सेना ने उसका जितनी निपुणता से कड़ा प्रतिरोध किया, उससे तो उसको सेना की कवायद और अनुशासन की उपयोगिता का पूरा-पूरा अनुभव हो गया। सन् १८२२ ई० के बहुत पहले से ही सिक्ख सेना में नियमित रूप से कवायद होने लगी थी और घुड़सवारों की अपेक्षा पैदल दस्तों की संख्या बढ़ाई जा रही थी। फ्रांसीसी-जनरलों ने केवल इतना किया कि इस प्रारम्भ की गई सैनिक व्यवस्था को पूर्णता पर पहुँचा दिया और सेना में आदेश के नये-नये फ्रांसीसी शब्द चला दिये। इन जनरलों को केवल शिक्षक के रूप में रखा गया था। इनको उन सैनिक दस्तों के साथ घनिष्ठता उत्पन्न करने न दिया जाता था जो इनके पास सिखाने के लिए भेजे जाते थे और युद्ध-काल में तो इन्हें नायकत्व शायद ही कभी सौंपा गया हो। जैसे ही कोई सैनिक दल पूर्णतया शिक्षित हो जाता, उसको हटा लिया जाता था और नया दल इनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज दिया जाता था।

रणजीतसिंह के शासन-तन्त्र को किसी निश्चित शासन-प्रणाली के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इस शासन-तन्त्र में न्याय और सुरक्षा की थोड़ी-बहुत व्यवस्था हो जाती थी और जनता का हितसाधन बहुत सीमा तक हो जाता था। इससे प्रजा संतुष्ट थी और रणजीतसिंह को इससे अधिक और किसी बात की चिंता भी न थी। इस शासन-तन्त्र की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें राजा ही सब कुछ था, सारी शक्ति उसमें ही केन्द्रित थी और सैनिक एवं सार्वजनिक शासन के लिए अलग-अलग विभाग न थे। रणजीतसिंह इस शासन-चक्र की धुरी बन गया था। उसके विदा हो जाने पर यह चक्र भी खंड-खंड हो गया; व्यक्तिगत अधिनायक तन्त्र का सर्वत्र यही हाल हुआ है।

अँगरेजों के प्रति उसका व्यवहार बहुत सहृदयतापूर्ण था; परन्तु यह सहृदयता सर्वथा कूटनीतिक थी। वह अपनी कमजोरियों और अँगरेजों की शक्ति को भली भाँति पहचानता था; इसलिए और विशेष रूप से अफगानों के साथ शत्रु-भाव होने के कारण वह अँगरेजों से टक्कर लेना नहीं चाहता था। इसी विचार से उसको सतलज रियासतों तथा सिन्ध के मामले में झुकना पड़ा।

रणजीतसिंह की शासन-व्यवस्था—रणजीतसिंह के शासन में राजा और प्रजा के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध था। किसान और सिपाही रणजीतसिंह का अत्यधिक सम्मान करते थे। धन का वितरण अवश्य ही असमान रूप से था। सरदार लोग बहुत धनी थे; वे अपनी-अपनी गद्दियों में उन सभी सुखोपभोग की सामग्रियों

से घिरे रहते थे, जो देहातों में मिल सकती थीं। ये लोग कभी-कभी परस्पर लड़ भी पड़ते थे और अपने पारस्परिक युद्धों से जनता का जीवन अरक्षित बना देते थे। राजस्व प्राप्त करने के ढंग बहुत अव्यवस्थित और पुराने थे। राज्य की भूमि कुछ सरदारों में बाँट दी गई थी; ये लोग राजा और प्रजा के मध्यस्थ का काम करते थे। उपज में राज्य का भाग समान रूप से नहीं रखा गया था। भूमि के उपजाऊपन के अनुसार भूमि-कर आधे से लेकर चौथाई या इससे भी कम होता था। भूमि-कर के विषय में नियम ऐसा जान पड़ता है कि यह वर्ष भर की उपज का $\frac{२}{५}$ से लेकर $\frac{१}{३}$ भाग तक होता था। भूमि-कर के अतिरिक्त राज्य कुछ अन्य 'अब्वे' (कर) भी लेता था, जो भूमि-कर के साथ-साथ वसूल किये जाते थे। कारदार राजस्व वसूल करता था; मुकद्दम, पटवारी तथा कानूनगो इस काम में उसकी सहायता करते थे। इन अधिकारियों को वेतन मिलता था, परन्तु वसूली में से पाँच प्रतिशत कमीशन लेने की भी इन्हें स्वीकृति दी गई थी। ये अनेक गाँवों (मौजों) की देख-रेख करते थे और इन गाँवों की वकाया रकम वसूल करना भी इन्हीं के सिपुर्द था। 'इनामी' जमीन बड़ी लाभकारी शर्तों पर दी जाती थी। जब सरदार लोग किसानों को कावू से बाहर जाते देखते तो उस स्थान के किसी शक्तिशाली व्यक्ति को 'इनामी' जमीन देकर, उसके द्वारा स्थानीय किसानों को वश में करते थे। स्थानीय अधिकारी मनमानी करने के लिए मुक्त थे; यातायात के साधनों की कमी के कारण केन्द्रीय शासन उनकी देखरेख ठीक प्रकार से न कर पाता था। न्याय-व्यवस्था भी बहुत पुराने ढंग की थी। कानून लिखित नहीं थे और पंचायतें स्थानीय रीति-रिवाजों, देशाचारों के अनुसार झगड़ों को निपटाती थीं। नगरों में 'कारदार' लोग न्याय करते थे; ये लोग अपने तालुके के बड़े-बड़े मुकदमों को भी सुनते थे। मंत्रियों को अपने-अपने विभाग से संबंधित झगड़ों का फैसला करने का अधिकार था। कारदारों, नाजिमों, अदालतियों और मंत्रियों के फैसलों की अपीलें महाराज स्वयं राजधानी के अपने दरबार में सुनता था। दंड-विधान कड़ा था; दंड के रूप में अंग-भंग भी किया जाता था और अर्थ-दंड तो सर्व-सामान्य ही थे। घूसखोरी और भ्रष्टाचार के मामले महाराज के पास पहुँचाये जाते थे और वह इनके लिए कठोर दंड देता था। महाराज कभी-कभी अपने अधिकारियों को राज्य में दौरा कर लोगों की विपत्तियाँ क्लेश जानने के लिए भेजता था। इसमें संदेह नहीं कि न्याय-व्यवस्था बहुत धीमी और खर्चीली थी और निर्धन लोग राज्य के न्यायालयों से दूर रहते थे। परन्तु इसकी सरलता पंजाब की कृषक प्रजा को बहुत पसंद थी और इसकी कार्य-प्रणाली किसानों की समझ में आ सकने योग्य होने के कारण अपने झगड़ों का निर्णय कराने के लिए

राज्य के न्यायालयों की शरण लेनेवाले लोगों का कार्य बहुत सरल बन गया था।

सम्पूर्ण शासन-तन्त्र का केन्द्र स्वयं महाराज ही था। वह एक निरंकुश शासक था और उसके आदेश अथवा स्वीकृति के बिना कुछ भी न हो सकता था। वह बहुत महत्त्वाकांक्षी था, परन्तु उसकी समस्त विजयें खालसा के नाम पर और खालसा के गौरव के लिए की गई थीं। शांति एवं व्यवस्था का उसके शासन में पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था और यह पैनी दृष्टिवाला महाराज शासन के प्रत्येक विभाग के कार्यों पर निगाह रखता था। सिक्खों जैसी सैनिक जाति किसी सर्वांगपूर्ण एवं विशाल शासन-तन्त्र की स्थापना नहीं कर सकती थी; अतः सैनिक सामंतशाही उनकी प्रवृत्तियों के सर्वथा उपयुक्त थी। विजयें प्राप्त करने में असीम उत्साह होने के कारण महाराज रणजीतसिंह शासन-सुधार की ओर अधिक ध्यान न दे सका और उसने शासन-तन्त्र में कोई ऐसा परिवर्तन-परिवर्धन नहीं किया, जिससे यह उन्नत एवं विकासशील बनता; परन्तु उसने शासन-तन्त्र को इतना ठोस और शक्तिशाली अवश्य बना दिया, जिससे निरंकुश शासन की बुराइयाँ दब सकीं और सिक्ख सरदार इसके प्रति सम्मान एवं भक्ति का भाव रखने लगे।

सैनिक-संघटन में बहुत ध्यान दिया गया था; वास्तव में यही राज्य की सबसे बड़ी शान थी। नियमित सेना को 'फौज-ए-आम' कहा जाता था, जिसमें (१) पैदल, (२) घुड़सवार और (३) तोपखाना—ये तीन विभाग थे। 'फौज-ए-खास' एक विशेष सैनिकदल था, जिसको रणजीतसिंह के फ्रांसीसी जनरलों वेन्टूरा और अल्लार ने संघटित किया था। इस सैनिक दल की शिक्षा एवं अनुशासन पर राज्य विशेष ध्यान देता था और वेन्टूरा ने इस दल की निपुणता को बहुत उच्च कोटि का बना दिया था। इनके अतिरिक्त एक 'फौज-ए-बेकवायद' थी; यह एक अनियमित सेना थी। इसमें 'घोड़चढ़ा' कहे जानेवाले घुड़सवार सैनिक होते थे। ये 'घोड़चढ़े' अनेक वर्गों में बाँटे गये थे। इनका चुनाव राज्य के भूमिपतियों में से किया जाता था। सेना के इस भाग में जाट-सिक्ख प्रमुख थे। महाराज इनका बहुत सम्मान करता था। लॉर्ड ऑकलैंड ने सन् १८३८ में 'घोड़चढ़ों' का दल देखा था और उसके विचार से यह दल संसार का सबसे रंगीन सैनिक दल था। सेना में भर्ती सैनिक की इच्छा से होती थी। सिक्ख और जाट लोग शस्त्र का व्यवसाय बहुत पसंद करते थे; इसलिए सैनिक प्राप्त करने में राज्य को कोई कठिनाई न होती थी। सैनिक दल कुछ तो लूटपाट से गुजर करते थे और कुछ भूमि भी इन्हें माफी में मिल जाती थी; यह व्यवस्था, कुछ सुधारों के साथ रणजीतसिंह के समय में भी बनी रही। रणजीतसिंह ने सैनिकों के वेतन निश्चित कर दिये थे, परन्तु

उनको वेतन नियमित रूप से नहीं दिया जाता था और उनके वेतन की बकाया राज्य पर चढ़ती जाती थी। वेतन-क्रम भी सुनिश्चित नहीं थे। राज्य का सैनिक बजट हमेशा अनिश्चित रहता था। परन्तु सेना पूर्णतया महाराज के नियन्त्रण में थी। उसकी आज्ञा अथवा स्वीकृति के बिना कुछ भी न किया जा सकता था। रणजीतसिंह की सैन्य-संख्या के विषय में विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं; परन्तु इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि उसकी नियमित सेना की संख्या ४०,००० से अधिक न थी और घुड़सवारों की संख्या भी लगभग इतनी ही थी। सभी प्रेक्षक इस बात में एकमत हैं कि महाराज रणजीतसिंह सेना के साज-सामान का बहुत ध्यान रखता था। बताया जाता है कि ऑकलैंड ने सर जॉन हॉबहाउस को एक पत्र में लिखा था कि "साज-सामान में, दृढ़ता में और युद्ध-कला के सूक्ष्म-ज्ञान में वे (सिक्ख सैनिक) हमारी अपनी सेना से किसी प्रकार भी घटिया दर्जे के नहीं हैं।" प्रथम और द्वितीय सिक्ख-युद्ध में सिक्ख सैनिकों ने जो अपूर्व पराक्रम और रणनीति के ज्ञान का परिचय दिया, उससे इस मत की पुष्टि होती है।

प्रजा की दशा—इस शासन-तन्त्र में प्रजा की क्या दशा थी, इस पर भी यहाँ कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। अधिकांश प्रजा गाँवों में निवास करती थी। उस समय के कागज-पत्रों से ज्ञात होता है कि प्रजा पर्याप्त सुखी थी। उनके पास खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में थी और उनकी सबल शारीरिक दशा बताती थी कि उन्हें जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी न थी। जमींदार खूब धन-सम्पन्न थे, बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह करते थे और सिक्ख किसान स्वभाव से ही वीर और अदम्य उत्साही होने के कारण आखेट तथा विहार में रुचि रखते थे। गाँवों में हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ शांतिपूर्वक रहते थे। हिन्दुओं और सिक्खों पर ब्राह्मण-धर्म का पूरा प्रभाव था, प्रत्येक परिवार का अपना एक पुरोहित होता था और एक 'पाद्धा' भी, जो बड़े-बड़े धार्मिक उत्सवों को सम्पन्न करता था। जनता अधिनायकतन्त्र से संतुष्ट थी; उसको अपने अधिकारों का कुछ भी ज्ञान न था। पंजाबी गृहस्थ का सामान्य जीवन अपने कुल-क्रमागत रीति-रिवाजों से नियन्त्रित था और परिवार के संघटन की विधि देश भर में एक सी ही थी। पंजाब की स्त्रियाँ स्वस्थ एवं सुन्दर होती थीं, और खुला हवादार जीवन पसन्द करती थीं। उनके विषय में बैरन ह्यूगेल ने लिखा है—

"पंजाब की स्त्रियाँ अपनी आकृति, अपने पैरों और अपने दाँतों की सुन्दरता के लिए विख्यात हैं और वे इस ख्याति के अयोग्य नहीं हैं।"

सभी युवतियाँ और वृद्धाएँ प्रातःकाल चक्की पीसती थीं और सभी के लिए पाँच सेर पीसने का नियम-सा था। चक्की पीसते हुए वे गीत गाती रहती थीं और

प्रभात वेला में सारा गाँव उनके गीतों से मुखर हो उठता था। दोपहर के बाद चर्खा कातने का कार्य-क्रम चलता था; गाँव की लड़कियाँ एकत्र होकर चर्खा कातते समय हँसी-खुशी और गप-शप से वातावरण को प्रसन्नतामय बनाते हुए जीवन को हल्का बनाती थीं और इस प्रकार सामूहिक जीवन का पूर्ण आनन्द लेती थीं। वहुविवाह का सामान्यतः प्रचलन नहीं था, परन्तु कन्या-शिशु की हत्या की प्रथा थी। पुत्री का जन्म अमंगलकारी समझा जाता था और सम्भ्रान्त राजपूत एवं सिक्ख परिवारों में कन्याओं की जीवन-लीला शैशव में ही समाप्त कर दी जाती थी। समाज में उच्च समझे जानेवाले परिवारों में 'सती' की प्रथा थी। मनोरंजन के लिए नर्तकियाँ रखी जाती थीं; बैरन ह्यूगेल ने कांगड़ा के ज्वालामुखी मंदिर में नर्तकियों के एक दल का उल्लेख किया है। मेले और उत्सव बहुत होते थे; धार्मिक प्रवृत्ति के लोग ज्वालामुखी, हरद्वार एवं कुरुक्षेत्र की यात्रा के लिए जाते थे और तीर्थ-यात्रियों का दल जैसे-जैसे यात्रा के मार्ग पर बढ़ता जाता था, यात्रियों में परस्पर बन्धुत्व का भाव दृढ़ होता जाता था। तीर्थ-यात्रियों के इन दलों के विषय में जॉर्ज कीन ने लिखा है—

"सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में ये अनुशासनपूर्ण दल अपने मार्ग पर बढ़ते जाते हैं। रास्ते में बगल के पेड़ों की एक भी टहनी इनके हाथों टूटती नहीं और न उस यात्री के प्रति कोई भी कड़ी बात कही जाती है जो अपने घोड़े को बड़े ध्यान-पूर्वक इन यात्रियों के झटपट रास्ता छोड़ देनेवाले दलों के बीच में से ले जाता है।"

आन्तरिक अव्यवस्था और प्रथम सिक्ख-युद्ध—रणजीतसिंह की मृत्यु के साथ ही उसका शासन-तन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया। खालसा के प्रतिद्वंद्वी सरदार परस्पर लड़ने लगे; चारों ओर अव्यवस्था व्याप्त हो गई और राज्य की समस्त शक्ति सेना के हाथ में आ गई। यह अराजकता राज्य में उच्चपदस्थ जम्मू के डोगरा राजाओं और सिन्धनवाला सरदारों के पारस्परिक द्वेष के कारण और भी बढ़ गई। डोगरों को अपदस्थ करने के प्रयत्नों में विफल होकर सिन्धनवाला सरदार भाग कर अँगरेजों के पास पहुँचे और उनकी सहायता पाने के लिए उनसे चिपटे रहे।

रणजीतसिंह के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी खड़गसिंह बुद्धिहीन व्यक्ति था; जम्बू का सरदार ध्यानसिंह उसका वजीर था। रणजीतसिंह का ख्याति-प्राप्त लेकिन अवैध समझा जानेवाला पुत्र शेरसिंह तथा स्वयं खड़गसिंह का पुत्र नौनिहालसिंह खड़गसिंह के विरोधी थे; नौनिहालसिंह स्वयं राज्यसत्ता हथियाना चाहता था। नौनिहालसिंह ध्यानसिंह को हृदय से घृणा करता था, परन्तु उसके साथ किसी प्रकार समझौता कर नौनिहालसिंह ने खड़गसिंह के प्रेम-पात्र चेत-

सिंह की हत्या करा दी। शासक-पद पर प्रतिष्ठित दल की इच्छाओं का सम्मान करने के विचार से कम्पनी-सरकार ने अप्रैल सन् १८४० ई० में अपने एजेंट कर्नल वेड को, जो खड़गसिंह के प्रति बहुत सद्भाव रखता था, हटा कर मि० क्लार्क को इस पद पर नियुक्त कर दिया। नवम्बर सन् १८४० ई० में खड़गसिंह का देहांत हो गया और इसके थोड़े दिन बाद नौनिहालसिंह भी संदिग्ध परिस्थितियों में लाहौर दुर्ग के एक दरवाजे के नीचे दबकर मर गया। नौनिहालसिंह की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के लिए फिर से झगड़ा होने लगा और बहुत गुप्त मंत्रणाओं के पश्चात् नौनिहालसिंह के होनेवाले बच्चे के अभिभावक के रूप में माई चाँदकौर को नियुक्त करने का निश्चय हुआ; सिक्ख सरदार और विशेषतया सिन्धनवाला सरदार माई चाँदकौर के समर्थक थे। ध्यानसिंह को वजीर और शेरसिंह को एक प्रकार का उप-शासक बनाने का निश्चय किया गया। शेरसिंह इस व्यवस्था से संतुष्ट न हुआ। उसने सेना के एक भाग को अपने पक्ष में कर जनवरी सन् १८४१ ई० में अपने आप को महाराज घोषित कर दिया। सिन्धनवाला सरदार भयभीत होकर अँगरेजों के पास भाग गये, जिससे अँगरेजों को शेरसिंह के विरुद्ध एक अच्छा हथियार मिल गया, क्योंकि सिन्धनवाला सरदार रणजीतसिंह के सगोत्र थे। अब शेरसिंह को अँगरेजों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार अँगरेज सेना को काबुल से लौटते समय पंजाब का मार्ग मिल सका। इस समय उत्तराधिकार निर्णय में वैध अथवा अवैध संतति होने की अपेक्षा शस्त्र-बल ही महत्त्व प्राप्त कर रहा था और राज्य की समस्त शक्ति सेना में केन्द्रित हो गई थी। इसलिए प्रत्येक अधिकार-लिप्सु दल सेना को अपनी ओर कर शासन-सूत्र अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु, सेना को स्पष्ट अनुभव होने लगा था कि उत्तराधिकार के ये झगड़े 'खालसा' की शक्ति को तोड़ते जा रहे हैं; अतः उसने प्रतिद्वंद्वी दलों के लुभावने वचनों के जाल में न फँसकर, अपनी पंचायत की विवेक-बुद्धि के अनुसार प्रत्येक झगड़े को निपटाने का निर्णय कर लिया। जून १८४२ ई० में चाँदकौर की हत्या हो जाने पर, सितम्बर १८४३ ई० में अजीत-सिंह नामक एक सिन्धनवाला सरदार ने शेरसिंह की हत्या कर दी; इस घटना के पश्चात् ध्यानसिंह भी तलवार के घाट उतारा गया। अपनी हत्या का बदला लेने के लिए वह अपने पुत्र हीरासिंह को छोड़ गया था। हीरासिंह ने कुछ सेना एकत्र कर अजीतसिंह तथा लहनासिंह इन दो सिन्धनवाला सरदारों का वध कर दिया और अल्पवयस्क दलीपसिंह को महाराज घोषित कर स्वयं वजीर बन बैठा। दलीपसिंह की माता रानी जिन्दाकौर को उसने संरक्षक (रीजेंट) घोषित किया। दलीपसिंह को रणजीतसिंह का पुत्र बताया जाता था, परन्तु उसके वैध-संतति

होने में संदेह था। हत्याओं का बाजार फिर से गरम हो उठा, परन्तु पंडित जल्ला नामक एक सुयोग्य मंत्री की सहायता से हीरासिंह राजकाज चलाता रहा। सेना को भी उसने यह समझा कर अपनी ओर मिला लिया कि सिन्धनवाला सरदार अँगरेजों के मित्र वने हुए हैं। इस समय अँगरेजों के साथ 'खालसा' के सम्वन्ध अच्छे नहीं थे; देश में फैले हुए षड्यन्त्रों में अँगरेजों का हाथ होने का संदेह किया जा रहा था और नवम्बर १८४४ ई० में लुधियाना में शांतिमय नीतिवाले ब्रिटिश एजेंट मि० रिचमांड के स्थान पर उग्र स्वभाववाले मेजर ब्रॉडफुट की नियुक्ति से तो यह संदेह और भी बढ़ गया था। कुछ दिनों के वाद हीरासिंह भी हत्यारे की तलवार का शिकार वन गया; दिसम्वर सन् १८४४ ई० में उसकी हत्या हुई और तब कुछ गुप्त मन्त्रणाओं के पश्चात् राज्य-सत्ता रानी जिन्दा के भाई जवाहरसिंह और रानी के प्रेमिक लालसिंह के हाथ आ लगी। परन्तु जवाहरसिंह पर अँगरेजों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचने का संदेह किया गया और वह सितम्बर १८४५ ई० में गोली का निशाना बनाया गया। अव लालसिंह वजीर वन गया। ११ दिसम्वर सन् १८४५ ई० को सिक्ख-सेना ने संधि भंग करते हुए सतलज नदी पार की और १३ ता० को गवर्नर-जनरल लॉर्ड हार्डिंज ने युद्ध की घोषणा कर दी।

प्रथम सिक्ख-युद्ध के कारण—रणजीत सिंह की मृत्यु के वाद से प्रथम सिक्ख-युद्ध के आरंभ होने तक के वीच के समय में पंजाव के लिए जो विनाशकारी घटना-चक्र चल पड़ा, उससे सबसे महत्त्वपूर्ण आंतरिक परिवर्तन यह हुआ कि सिक्ख सेना (खालसा) बहुत शक्तिशाली हो गई और इसने अपने आप को राज्य के सार्वजनिक अधिकारियों के नियन्त्रण से मुक्त कर लिया। इसका निर्माण खालसा की शक्ति को अक्षुण्ण रखने और 'दरवार' के आदेशों से संचालित दृढ़ शासन-तन्त्र स्थापित करने के ध्येय से किया गया था। रणजीतसिंह के देहांत के पश्चात् यह खालसा की शक्ति को सुरक्षित रखने में तो तत्पर थी, परन्तु अपने विषयों का निर्णय अपनी ही सैनिक पंचायतों में करने लगी थी। इससे स्थिति ऐसी वन गई थी कि 'दरवार' की लुप्त शक्ति तब तक पुनः प्राप्त नहीं की जा सकती थी, जब तक सेना की शक्ति भंग न कर दी जाती। ऐसा करने के लिए केवल दो ही उपाय थे; या तो सेना को विघटित कर दिया जाय अथवा उसको किसी विदेशी युद्ध में उलझा दिया जाय। पहला उपाय तो राज्य की शक्ति से वाहर था; अतः वाध्य होकर दूसरा उपाय अपनाया गया। राज्य के आन्तरिक मामलों से सेना का ध्यान हटाने के उद्देश्य से प्रधान सेनापति तेजसिंह, रानी जिन्दाकौर के प्रेमिक लालसिंह और स्वयं रानी ने भी सेना को सतलज पार करने के लिए उकसाया। इन लोगों का विचार था कि इस प्रकार सिक्ख सेना को अँगरेजों से टक्कर लेनी पड़ेगी और इस टक्कर में

हार खाकर वह अवश्य ही शक्तिहीन हो जायगी और यदि हारने की अपेक्षा वह जीत ही गई तो उसके युद्धोत्साह के लिए नया क्षेत्र खुल जायगा। लालसिंह और रानी जिन्दाकौर ने सेना के मन में यह विश्वास बैठा कर कि अँगरेज पंजाब पर आक्रमण करने की तैयारियाँ कर रहे हैं, उसको सतलज पार कर इस संकट का सामना करने के लिए उकसाया।

सेना यद्यपि दरबार का आश्रय न लेकर स्वयं ही अपना कार्य-क्रम और नीति निश्चित करती थी, परन्तु इस बार वह लालसिंह आदि द्वारा बिछाये गये इस जाल में फँस ही गई, क्योंकि उसको स्वयं भी विश्वास हो गया था कि अँगरेज उसकी मातृभूमि पर आक्रमण करने के लिए कटिबद्ध हैं। अँगरेजों की द्रुत एवं अनवरत प्रगति, दूसरों के राज्यों को हड़पने की उनकी तत्परता, अपनी की हुई संधियों की शर्तों को भंग करने में उनका बिलकुल न हिचकिचाना और पंजाब के सम्बन्ध में उनकी चेष्टाएँ—इन सब बातों ने सिक्ख-सेना के मन में अँगरेजों के प्रति आशंका दृढ़ कर दी थी। वह अभी तक यह न भूल पाई थी कि इन्हीं अँगरेजों ने उसको सतलज के तट पर रोक दिया था, सिन्ध-प्रदेश की ओर बढ़ने का निषेध किया था और बाद में स्वयं इस प्रदेश को हड़प लिया था तथा अफगानिस्तान की ओर एक ऐसे राजा को अपदस्थ करने के लिए अभियान किया था, जिसने उनका कुछ भी न बिगाड़ा था। सतलज के तट पर अँगरेजों को अपनी सैन्य-संख्या बढ़ाते देखकर सिक्ख-सेना आतंकित हो रही थी। पहले अँगरेजों की केवल एक छोटी सी सैनिक टुकड़ी लुधियाना में रहती थी; अब इसकी सैन्य संख्या बढ़ाकर ३५,००० कर दी गई थी और ३५,००० जवानों की एक दूसरी सेना फिरोजपुर में रख दी गई थी; फिरोजपुर शहर को अँगरेजों ने अपने अधिकार-क्षेत्र में आनेवाली लावारिस सम्पत्ति बताकर १८३५ ई० में अपने कब्जे में कर लिया था, परन्तु तब रणजीतसिंह ने इस पर अपना अधिकार जताया था। लुधियाना और फिरोजपुर के बीच की दूरी का बहाना बनाकर अँगरेजों ने अम्बाला में भी बहुत-सी सेना एकत्र कर ली थी। फिर यह बात भी छिपी न थी कि अँगरेज उत्तर-पश्चिमी प्रांत में अपनी सैन्य-संख्या बढ़ा रहे थे। इन समस्त सैनिक तैयारियों को, जो सिक्खों को शंकित कर रही थीं, अँगरेज लोग रक्षात्मक प्रयत्न बता रहे थे। परन्तु अपनी निर्बलता का भली भाँति अनुभव करनेवाले सिक्ख नहीं समझ पा रहे थे कि उनसे अँगरेजों को कौन-सा ऐसा भय हो सकता है, जिससे बचाव के लिए वे इतनी बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कर रहे हैं। युद्ध के लिए तैयार रहना एक बात है और हमेशा युद्ध की तैयारियों में लगे रहना दूसरी। यह बात भी छिपी न थी कि अँगरेजों ने सतलज पार करने के लिए नावों का एक पुल बना लिया है और वे सिन्ध में मुलतान पर आक्रमण

करने की तैयारियाँ कर रहे हैं। स्पष्ट ही ये सब तैयारियाँ बचाव के लिए न होकर आक्रमण के लिए जान पड़ रही थीं। बर्न्स, मेकनॉटन और नैपियर की पंजाब को खण्ड-खण्ड करने की योजनाएँ यद्यपि सिक्खों को बताई नहीं गई थीं, परन्तु उनसे छिपी भी नहीं थीं। इन सब बातों से सिक्ख सेना को विश्वास हो गया था कि अँगरेज आक्रमण करने पर उतारू हैं; अतः उसने सतलज पार कर इस संकट का सामना करने का निश्चय कर लिया।

दरबार बहुत पहले से ही अँगरेजों पर आक्रमण करने का प्रस्ताव करता आ रहा था, परन्तु अब तक सेना इस प्रस्ताव का घोर विरोध करती रही थी। यहाँ तक कि नवम्बर सन् १८४५ ई० तक सिक्ख सेना अँगरेज एजेंट ब्रॉडफुट को मित्रता का आश्वासन देती रही थी। सेना की पंचायतों में युद्ध के विषय में बहुत मत-भेद था। आखिर १७ नवम्बर के दिन अँगरेजों के विरुद्ध प्रयाण करने का निर्णय हुआ, परन्तु ३ दिसम्बर को यह निर्णय बदल दिया गया। ३ दिसम्बर का निर्णय भी शीघ्र ही रद्द कर दिया गया; नवम्बर १८४५ में अँगरेजों की सरगर्मियों को बढ़ते देखकर सेना को विश्वास हो चला था कि अब युद्ध के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। अतः अन्त में युद्ध का ही निश्चय हुआ।

प्रथम सिक्ख-युद्ध (दिसम्बर १८४५ से मार्च १८४६ ई० तक)—अब जो युद्ध छिड़ा और जिसमें विजय अँगरेजों के हाथ रही, वह जितना शस्त्र-युद्ध था उतना ही षड्यन्त्रों का भी युद्ध था। सिक्ख सेना अँगरेजों के रण-कौशल के कारण पराजित नहीं हुई; उसकी हार का कारण था उसके अपने नेताओं का विश्वासघात। यह एक अत्यंत लज्जाजनक सत्य है कि भारत के इतिहास में ऐसे देशद्रोहियों का कभी अभाव न रहा जो अपने तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपनी जाति के नाम पर बट्टा लगाकर अपने ही बंधुओं की पीठ में छुरा भोंकते रहे। इस देश-घाती प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने का दोष अँगरेजों के माथे मढ़ देना ठीक न होगा। वे युद्ध के समय में भले-बुरे सभी उपायों को उचित समझते थे और उन्हें ऐसे लोग भी इस देश में मिलते रहे, जिनको वे अपना हथियार बना सकें।

सिक्खों के नेता लालसिंह और तेजसिंह सिक्ख सेना की पराजय की अपेक्षा उसकी विजय से अधिक भयभीत थे। लालसिंह का फिरोजपुर के अँगरेज एजेंट केप्टेन निकल्सन के साथ गुप्त सम्बन्ध था; इसका परिणाम यह हुआ कि जब सिक्ख सेना निर्विरोध फिरोजपुर पहुँच गई तो वहाँ के ७,००० अँगरेज सैनिकों को, जो सरलता से हराये जा सकते थे, पीठ-पीछे अछूता छोड़ दिया गया। सिक्ख सेना ने पहली लड़ाई मुदकी नामक स्थान पर दिसम्बर सन् १८४५ ई० में लड़ी। अँगरेज सेना का नायकत्व सर ह्यूग गफ कर रहा था। सिक्ख सेना के प्रबल प्रहारों से अँगरेज

सैनिक जमीन पर लुढ़कने लगे और विजय होने ही वाली थी कि लालसिंह अपने अनुयायियों को छोड़ कर चल दिया। इस प्रकार लड़ाई अकस्मात् समाप्त हो गई और दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ी। सिक्ख सेना फिरोजशहर की ओर वढ़ी और २१ दिसम्वर को यहाँ दूसरी लड़ाई लड़ी गई। सर जॉन का सैनिक दल अँगरेज सेना में आ मिला। परन्तु अँगरेज सेना किसी प्रकार भी सिक्ख सेना की मोर्चेबन्दी को न तोड़ सकी; अँगरेजों की स्थिति वहुत संकटपूर्ण हो गई। सर ह्यूगफ ने लिखा था कि "उस विभीषिकामयी रात्रि में, हम अत्यंत गम्भीर एवं संकटपूर्ण स्थिति में थे।" परन्तु आखिर में सिक्ख सेनापति तेजसिंह के विश्वास-घात ने अँगरेजों की सहायता की; वह सिक्ख सेना को नायक विहीन छोड़कर भाग गया। लड़ाई हार-जीत के निर्णय के विना ही समाप्त हो गई।

फिरोजशहर की लड़ाई के पूरे एक महीने बाद तक लड़ाई की आग ठंडी सी पड़ी रही। सिक्ख सेना नायक विहीन थी और अँगरेजों की वुद्धि चकरा रही थी। आखिर सिक्ख सेना को रणजोरसिंह के रूप में एक नेता मिल गया और वह जनवरी में सतलज पार कर लुधियाना की ओर झपट पड़ी, जहाँ अँगरेज नई कुमुक की प्रतीक्षा कर रहे थे। रणजोरसिंह ने वुडीवाल नामक स्थान पर २१ जनवरी के दिन सर हैरी स्मिथ को, जो उसका सामना करने के लिए भेजा गया था, करारी हार दी; परन्तु उसने भागते हुए शत्रु का पीछा न किया। रणजोर ने अप्रत्याशित रूप से वुडीवाल छोड़ दिया और सर हैरी स्मिथ ने तत्काल इस स्थान पर अधिकार कर लिया। रणजोर का वुडीवाल छोड़ने में क्या उद्देश्य था, यह ज्ञात नहीं होता। वुडीवाल में ह्वीलर एक व्रिगेड लेकर सर हैरी से आ मिला और तव २८ जनवरी १८४६ ई० को अलीवाल में एक लड़ाई लड़ी गई, जिसमें सिक्ख-सेना तितर वितर कर दी गई। रणजोरसिंह लड़ाई से पहले ही सेना को छोड़कर भाग चुका था।

इसी बीच गुलावसिंह नामक एक डोगरा सरदार लाहौर में कर्त्ता-धर्त्ता बन वैठा था। अँगरेज भी अपनी प्रतिष्ठा को निष्कलंक रखते हुए युद्ध समाप्त कर देना चाहते थे। अतः समझौते की बातें चलने लगी थीं। डोगरा और सिक्ख सरदार के शत्रु-भाव का तो पीछे उल्लेख हो ही चुका है। गुलाबसिंह के सामने भी अपने स्वार्थ थे। अँगरेजों को अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए लाहौर पर अधिकार कर लेना अनिवार्य था। समझौते की बातचीत चलती रही और दोनों पक्षों के लिए संतोषजनक हल भी निकाल लिया गया। इस विषय में कनिंघम ने लिखा है कि "निश्चय यह किया गया कि अँगरेज सिक्ख सेना पर आक्रमण करेंगे और सिक्ख सेना के हार जाने पर यह अपनी ही सरकार द्वारा विघटित कर दी जायगी। इसके अतिरिक्त सतलज का मार्ग निर्विरोध छोड़ दिया जायगा; विजेता अँगरेजों

के लिए राजधानी का मार्ग खोल दिया जायगा। इसके लिए गुलाबसिंह को कश्मीर मिलना था। ऐसी चालभरी नीति एवं निर्लज्ज देश-द्रोह की परिस्थिति में १० फरवरी १८४६ को सोबराँव की लड़ाई लड़ी गई।"

जून १८४७ के 'कलकत्ता रिव्यू' नामक समाचार-पत्र ने लिखा था कि लालसिंह ने सोबराँव में सिक्खों की स्थिति तक की योजना कर्नल लॉरेंस के पास ७ फरवरी १८४६ को भेज दी थी। सिक्ख सैनिक अपने नेताओं के विश्वासघात कर देने पर भी लड़ते रहे। वे दृढ़तापूर्वक अँगरेजों की चोटों का सामना करते रहे। पहले धावे के बाद ही तेजसिंह भाग गया और "या तो अकस्मात् अथवा किसी चाल से समाचारों के यातायात के पुल के बीच एक नाव डूब गई।" आखिर संघटित अँगरेज सेना अस्त-व्यस्त सिक्ख सेना पर विजयी हुई। नेतृत्वहीन सिक्ख सेना १२ फरवरी को तितर-वितर कर दी गई। ठीक ही कहा गया है कि खालसा के सशस्त्र प्रतिनिधियों की शक्ति समाप्त हो गई; अन्न और धन एवं समस्त अस्त्र-शस्त्रों के खजांचियों ने पहले तो उनको हराने का अप्रत्यक्ष प्रयत्न किया था और बाद में ये प्रत्यक्ष रूप से शत्रु के साथ जा मिले। अल्पवयस्क राजा दलीपसिंह तथा अनेक अन्य सरदार १५ फरवरी को कसूर नामक स्थान में हार्डिज से मिले। २० फरवरी को अँगरेजों ने लाहौर पर अधिकार कर लिया और ९ मार्च को संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये।

कम्पनी सरकार के अनेक अधिकारी पंजाब को अँगरेजी राज्य में विलीन कर लेने के पक्ष में थे, परन्तु हार्डिज इसके विपक्ष में था। उसने दो बातों को सोचकर यह निश्चय किया था। उसका विचार था कि एक तो अफ़गानिस्तान एवं अँगरेजी राज्य के बीच में एक हिन्दू राज्य का होना कम्पनी-सरकार के लिए हितकर होगा और दूसरे पंजाब से आर्थिक लाभ की आशा नहीं की जाती थी। हार्डिज की नीति यह थी कि सिक्खों की शक्ति घटा दी जाय और पंजाब में अँगरेजों का प्रभाव सर्वोपरि स्थापित कर दिया जाय। सिक्ख युद्ध में अँगरेजों को सहायता देनेवाले लालसिंह और गुलाबसिंह की प्रतिद्वंद्वी माँगों का संतोषजनक समाधान. हार्डिज के लिए एक बड़ा सिरदर्द बन गया। ये दोनों सरदार लाहौर में अपना-अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे, क्योंकि राजा अल्पवयस्क था। अन्त में लाहौर के खजाने की दुर्दशा ने हार्डिज को इन सरदारों का समाधान करने में मदद दी। पिछले युद्ध की क्षति पूर्ति के रूप में अँगरेज सरकार को डेढ़ करोड़ रुपया मिलना था। परन्तु लाहौर के कोष की दशा इतनी हीन थी कि यह रकम किसी प्रकार भी चुकाई न जा सकती थी। अतः कम्पनी-सरकार ने इस रकम के बदले में कुछ प्रदेश ले लिये और कश्मीर एवं व्यास से सिंधु नदी तक के पहाड़ी राज्यों को

पंजाब से अलग कर एक नये राज्य का रूप दे दिया तथा गुलाबसिंह को इस राज्य का महाराजा बना कर उसके साथ अलग से संधि कर ली। इस लेनदेन को विश्वास-घात के पुरस्कार के बदले एक सौदे का रंग देने के लिए प्रकट यह किया गया कि ये प्रदेश गुलाबसिंह के हाथ एक लाख स्टर्लिंग में बेचे जा रहे हैं। गुलाबसिंह को यह रकम चुकाने लायक बनाने के लिए इसको घटाकर चौथाई कर दिया गया और उसको इस कार्य में और भी सुविधा देने के लिए उसका अपने भाई सुचेत-सिंह के फिरोजपुर में गड़े हुए खजाने पर अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार गुलाबसिंह को संतुष्ट कर लालसिंह को अल्पवयस्क दलीपसिंह का कार्यवाहक मंत्री मान लिया गया और रानी जिन्दा को संरक्षक बनाया गया।

लाहौर की संधि की शर्तों के अनुसार कम्पनी-सरकार को सिक्खों के सिस-सतलज प्रदेश तथा जालन्धर, दोआब और हजारा प्रदेश प्राप्त हुए। सिक्ख सेना को घटाकर उसमें केवल २५ पैदल बटालियन और १२,००० घुड़सवार रहने दिये गये। महाराज ने अँगरेजी राज्य अथवा किसी भी यूरोपीय राज्य के प्रजाजन को अँगरेजी सरकार की सहमति के बिना अपनी सेवा में नियुक्त न करना स्वीकार किया। अँगरेजी सेना को पंजाब के मार्ग से आने-जाने की स्वतंत्रता दी गई। महाराज दलीपसिंह को अँगरेजी सरकार ने शासक मान लिया। लाहौर में एक अँगरेजी सेना रखी गई जो वर्ष के अन्त तक हटाई जानी थी। सर हैनरी लॉरेंस को रेजीडेंट नियुक्त किया गया। लॉर्ड हार्डिज ने लाहौर के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का मंतव्य प्रकट किया था, परन्तु यह विचार शीघ्र ही छोड़ देना पड़ा और थोड़े दिनों बाद ही सन्धि को दुहराने का सुयोग उपस्थित हो गया। कश्मीर को पंजाब से अलग कर डोगरा सरदार गुलाबसिंह को दे देना, बहुत से सिक्ख सरदारों के लिए एक बहुत कड़वा घूँट था। यहाँ तक कि रानी जिन्दा कौर और लालसिंह भी इसके विरोधी थे। कश्मीर में सिक्खों के प्रतिनिधि शासक शेख इमा-मुद्दीन को इन सिक्ख सरदारों ने कश्मीर का शासन-सूत्र गुलाबसिंह को न सौंपने के लिए प्रोत्साहित किया। अँगरेजी सरकार ने उससे आत्म-समर्पण कराने के लिए एक बड़ी सेना भेजी। आखिर गुलाबसिंह को कश्मीर के शासक-पद पर प्रतिष्ठित तो कर दिया गया, परन्तु लड़ाई के बिना यह कार्य न हो सका। रानी जिन्दा और लालसिंह पर कश्मीर में विद्रोह कराने का दोष लगाया गया। जाँच-समिति ने इनको दोषी पाया; अतः इनको पदच्युत किया गया। लालसिंह को निष्कासित कर बनारस भेजा गया। दिसम्बर सन् १८४६ ई० में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार अँगरेज पंजाब के वास्तविक शासक बन गये। अँगरेजों के पक्ष-समर्थक आठ सरदारों की एक संरक्षक-समिति बनाई गई। इस समिति को

अँगरेज रेजीडेंट के परामर्श एवं मार्ग-प्रदर्शन के अनुसार कार्य करना था। लाहौर में एक अँगरेजी सेना रखने का निश्चय हुआ, जिसके खर्च के लिए सिक्ख राज्य से २२ लाख रुपये लिये जाने थे। इस व्यवस्था की अवधि सन् १८५४ तक रखी गई; इसी वर्ष दलीपसिंह वयस्क बननेवाला था। लाहौर में हेनरी लॉरेंस को अप्रैल १८४८ ई० तक के लिए रेजीडेंट नियुक्त किया गया और उसके पश्चात् सर फ्रैड्रिक लॉरेंस को यह पद ग्रहण करना था।

बीच की घटनाएँ और द्वितीय सिक्ख-युद्ध—दिसम्बर सन् १८४६ की सन्धि से अँगरेजों को पंजाब में जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ, उसने विविध सुधारों एवं पंजाब के प्रत्येक भाग में अँगरेज कर्मचारियों की भर्ती के रूप में अपना रंग दिखाया। इन सुधारों के सैद्धान्तिक गुणों का बखान न कर केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इनसे सिक्ख सरदारों के हितों को बहुत ठेस पहुँची। इससे सिक्खों की स्वतंत्रता छिन जाने से उत्पन्न क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी। सिक्ख सेना भी अपनी संख्या एवं वेतन घटा दिये जाने के कारण असन्तुष्ट थी। सीमांत-प्रदेश में अँगरेज एजेण्टों को कबाइलियों के साथ घनिष्ठता बढ़ाते देखकर सिक्खों के मन में संदेह उत्पन्न होने लगा और पंजाब में मुसलमानों को 'अज़ान' एवं गो-हत्या की थोड़ी बहुत छूट दे दिये जाने से तो यह संदेह और भी बढ़ गया। वास्तव में सिक्ख यह स्वीकार करने के लिए तैयार न थे कि वे विधिवत् एवं पूर्णतः परास्त किये गये हैं। रानी जिन्दा अपना अधिकार छिन जाने से बहुत कुढ़ी बैठी थी और अँगरेजों को निकाल बाहर करने के लिए चेष्टा कर रही थी। उस पर षड्यंत्र-रचना का अपराध लगाकर उसको निष्कासित कर पहले शेखूपुरा और तब चुनार में भेजा गया। उसका निष्कासन सिक्ख-राजवंश का अपमान समझा गया। इस समय सारा पंजाब बारूद का घर बना हुआ था। आवश्यकता थी केवल एक चिनगारी की और मुलतान के गवर्नर मूलराज ने वह भी जुटा दी।

मूलराज अपने पिता सावंतमल की मृत्यु के पश्चात् सन् १८४४ ई० में मुलतान का गवर्नर बना था। लाहौर-दरबार ने उससे उत्तराधिकार-प्राप्ति के कर के रूप में एक करोड़ की माँग की। मूलराज ने इस भारी रकम का विरोध किया और तब यह घटाकर १८ लाख कर दी गई, परन्तु प्रथम सिक्ख-युद्ध के कारण मूलराज को इस कर से छुट्टी मिल गई। युद्ध-समाप्ति के पश्चात् कर की माँग दुहराई गई और कर की रकम बढ़ाकर १९ लाख कर दी गई। मूलराज ने लाहौर-दरबार को अपनी राजभक्ति का आश्वासन देते हुए यह रकम चुका देने का वचन दिया। उसको रकम चुकाने को बाध्य करने के लिए लालसिंह को सेना लेकर भेजा गया, जिसको मूलराज ने हरा दिया। इसी बीच दिसम्बर १८४६

में भैरोंवाल की संधि के अनुसार शासन-सूत्र अँगरेजों के हाथ में चला गया। अँगरेजों ने पुनः कर की माँग की—रकम भी बढ़ा दी। मूलराज से २० लाख रुपये तथा अपना ⅓ राज्य देने के लिए कहा गया। इसके अतिरिक्त उसकी भेंट की रकम भी १२ लाख से बढ़ाकर १८ लाख कर दी गई। परन्तु इन सबसे भी अधिक जो बात उसको चुभी वह यह थी कि संरक्षक-सरकार (रीजेंसी-गवर्नमेंट) उसके शासन-प्रबन्ध पर नियन्त्रण रखने का अपना अधिकार जतला रही थी। रणजीतसिंह की शासन-व्यवस्था में प्रतिनिधि-शासकों के आन्तरिक शासन में तब तक किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाता था, जब तक वे भेंट की रकम नियमित रूप से चुकाते रहते थे और दरबार का प्रभुत्व मानते रहते थे। मूलराज ने अपने ऊपर लगाये गये कुशासन के उस आक्षेप का विरोध किया, जो मुलतान के कुछ बिगड़े हुए लोगों की झूठी-सच्ची शिकायतों पर आधारित था। परन्तु संरक्षक सरकार अपनी बात पर अड़ी रही। परिणाम यह हुआ कि मूलराज ने पद-त्याग करने की इच्छा प्रकट की और साथ ही यह भी लिख भेजा कि इस बात को गुप्त रखा जाय तथा उसके विरुद्ध किसी शिकायत पर ध्यान न दिया जाय एवं उससे केवल एक वर्ष का हिसाब-किताब लिया जाय।

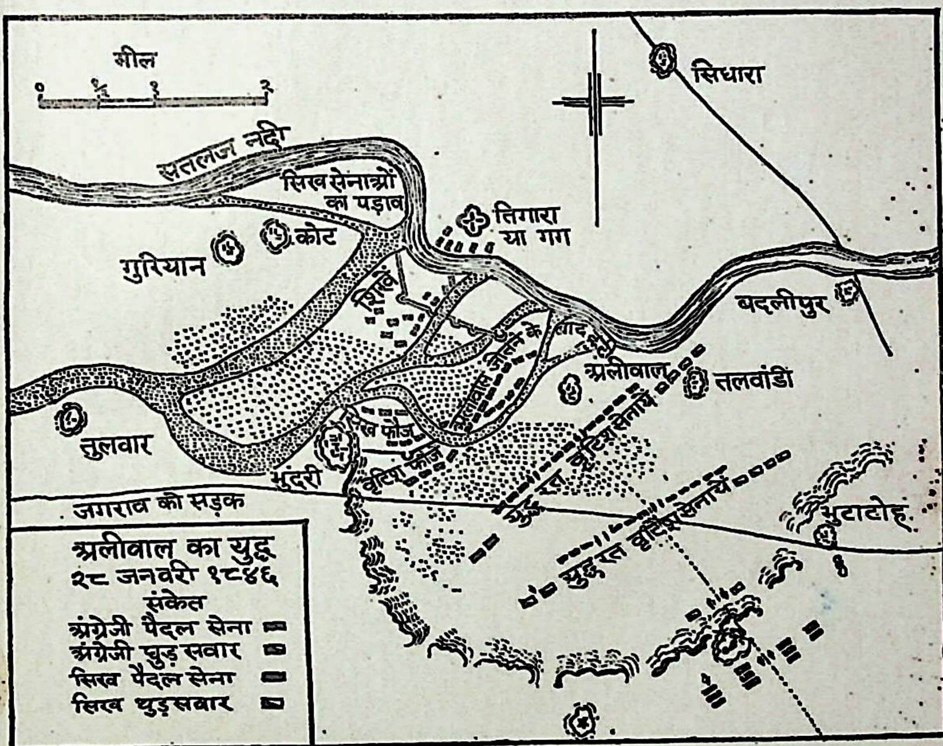
रेजीडेंट कुछ भी सुनने को तैयार न था; उसने मूलराज को बिना किसी शर्त के पद-त्याग करने और पिछले दस वर्षों का हिसाब उपस्थित करने का आदेश दिया। मूलराज का कहना था कि "मैं अपने पिता के कागज-पत्र कैसे उपस्थित कर सकता हूँ?" क्योंकि उसने तो १८४४ ई० में ही पद-भार ग्रहण किया था। अभी समझौते की बातचीत चल ही रही थी कि रेजीडेंट ने, इस उद्देश्य से कि मूलराज के पद-त्याग करने से पहले ही अँगरेज अधिकारी मुलतान की आंतरिक दशा से परिचित हो जायँ, नये गवर्नर सरदार खानसिंह को लैफ्टिनेंट ऐन्डरसन तथा वान्स एग्न्यू के साथ शासन-भार ग्रहण करने के लिए मुलतान भेज दिया। ये लोग १८ अप्रैल को मुलतान पहुँचे और मूलराज ने १९ अप्रैल को इनको दुर्ग सौंप दिया। अँगरेजों को देखकर कुछ नागरिक क्रुद्ध हो उठे। २० अप्रैल को विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसकी समाप्ति अँगरेज अधिकारियों की हत्या के साथ हुई। यह विद्रोह द्वितीय सिक्ख-युद्ध का उपोद्घात था। इसमें कोइ संदेह नहीं कि इन हत्याओं में, जो पूर्वनियोजित नहीं थीं और अँगरेजों को आया देखकर अपना विघटन किये जाने के भय से क्रुद्ध सेना का कार्य थीं, मूलराज का कोई हाथ न था। यह भी निश्चित है कि पहले से ही सारा वातावरण विद्रोह की भावना से भरा हुआ था। पंजाब की स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए गुप्त योजनाएँ बनाई जा रही थीं और इन योजनाओं में रानी जिन्दा के उकसाये हुए संरक्षक-समिति के

सरदार भी शामिल थे। रानी जिन्दा के दो वकीलों शिवदयाल और गंगाराम के पास से मिले हुए कागज-पत्रों पर हम भले ही विश्वास करें या न करें और ये कागज-पत्र असंदिग्ध भी नहीं हैं, इतना तो सर्वथा निश्चित है कि अँगरेजों के जुए को फेंक देने के लिए सारा पंजाब बेचैन हो उठा था। परन्तु मुलतान में दो अँगरेज अधिकारियों की हत्या का इन योजनाओं से कोई सम्बन्ध न था। इन हत्याओं से मूलराज की छाती ठंडी हुई और एक ऐसी गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई, जिसने शीघ्र ही भयंकर रूप धारण कर लिया।

इस प्रसंग में लार्ड डलहौजी, जो जनवरी १८४८ ई० में लॉर्ड हार्डिंज के बाद गवर्नर-जनरल हुआ था, तथा प्रधान सेनापति लॉर्ड गफ की निष्क्रियता भी रहस्य-मय है और इसकी कोई भी संतोषजनक व्याख्या नहीं हुई है। इतना अवश्य निश्चित है कि यदि मूलराज से तत्काल निपट लिया जाता तो द्वितीय सिक्ख-युद्ध की तिथि टल गई होती।

अँगरेज रेजीडेंट फ्रैडरिक करी ने गफ को तत्काल सूचना भेजी कि इस विद्रोह को तत्काल दवाया जाना चाहिए और डलहौजी को भेजे गये अपने पत्र में उसने लिखा कि "यदि इस विद्रोह को शीघ्र दंडित न किया गया तो हमें आशा करनी चाहिए कि अफगान सिंधु-प्रदेश पर अधिकार कर लेंगे; सिस-सतलज रियासतें भी तब शांत न रहेंगी और सहस्रों सिक्ख मूलराज से जा मिलेंगे।" बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि करी की यह चेतावनी निराधार न थी। परन्तु गफ़ और डलहौजी ने निष्क्रियता का जो जामा पहन लिया था उसको कोई आँच न पहुँची। गफ ने यह विचार प्रकट किया कि ग्रीष्म ऋतु बड़े पैमाने पर सैनिक-कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। डलहौजी ने उसका अनुमोदन किया। स्पष्ट था कि ये लोग शरत्कालीन आखेट की विशाल योजना बना रहे थे। ट्रॉटर नामक एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने इस निष्क्रियता को जान-बूझकर इसलिए अपनाई गई बताया है कि जिससे मूलराज का विद्रोह एक देशव्यापी विप्लव का रूप धारण कर ले और तब सारे देश को अँगरेजी राज्य में विलीन करने का अच्छा बहाना मिल जाय।

जब प्रधान अधिकारी शरत्कालीन आखेट की योजना बनाने में व्यस्त थे, अधीनस्थ अँगरेज कर्मचारी अपने ही उत्तरदायित्व पर मैदान में उतर पड़े। बन्नू में लैफ्टिनेंट एडवर्ड्स ने कबाइलियों की एक सेना एकत्र कर मुलतान की ओर प्रयाण कर दिया; उसके साथ कर्टलैंट भी आ मिला। मूलराज का अभी तक इस विप्लव में उत्साह न था; इसलिए लाहौर से सेना के पहुँचने का समाचार पाकर वह पीछे हट गया, जिस पर एडवर्ड्स ने सिंध-सौगर-दोआब की राजधानी लेइया


मील
0 ½ 1 2
सतलज नदी
सिख सेनाओं का पड़ाव
सिधारा
तिगारा या गग
कोट
गुरियान
बदलीपुर
अलीवाल
तलवंडी
सिख फौज
तुलवार
भुंदरी
जगराव की सड़क
भुटाटोह
अलीवाल का युद्ध
२८ जनवरी १८४६
संकेत
अंग्रेजी पैदल सेना
अंग्रेजी घुड़सवार
सिख पैदल सेना
सिख घुड़सवार

अलीवाल का युद्ध

पर अधिकार कर लिया। बहावलपुर के नवाब ने भी सेना भेजी, जिसने लैफ्टिनेंट लेक के साथ मिलकर ३ जून को जलालपुर पर अधिकार कर लिया। मूलराज एडवर्ड्स तथा बहावलपुर की सेना के संगम को रोकने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु ८ जून को किनेयरे की लड़ाई में हार खाकर वह मुलतान चला गया।

आग अब सुलग चुकी थी; पंजाब में विप्लव की ज्वाला फैल गई थी। मूलराज इस विप्लव का प्रधान सेनानी था। मुलतान का विद्रोह पंजाब का युद्ध बन गया। अटक में छत्तरसिंह ने अगस्त में विद्रोह कर दिया और सितम्बर में उसके पुत्र शेरसिंह ने भी उसका अनुसरण किया। शेरसिंह को एक सिक्ख सेना के साथ मूलराज के विरुद्ध भेजा गया था; परन्तु वह समस्त सेनासहित ११ सितम्बर को मूलराज के साथ जा मिला, जिसके परिणामस्वरूप एडवर्ड्स को मुलतान छोड़कर सूरजकुंड भाग जाना पड़ा।

अब डलहौजी को घटनास्थल की ओर अँगरेज सेना के कूच कराने की आवश्यकता जान पड़ी और वह पंजाब में देशव्यापी युद्ध तथा पंजाब पर अधिकार करने की बातें बनाने लगा। १० अक्टूबर १८४८ ई० को उसने घोषणा की कि "पिछली घटनाओं से चेतावनी न लेते हुए, उदाहरणों से प्रभावित न होते हुए, सिक्ख राष्ट्र ने युद्ध का आह्वान किया है और श्रीमानो, मैं वचन देता हूँ कि उन्हें इसका उत्तर प्रतिशोध सहित मिलेगा।" परन्तु इस प्रतिशोधयुक्त युद्ध के प्रारम्भ होने में भी एक महीना लग गया। इसी बीच मूलराज और शेरसिंह के बीच विरोध प्रकट हो गया। अँगरेजों ने मूलराज के हाथ में शेरसिंह के नाम लिखा गया जनरल ह्विश का एक पत्र पड़ने दिया, जिसमें जनरल ह्विश ने शेरसिंह को मुलतान पर अधिकार करने की उसकी चाल की सफलता पर बधाई दी थी, इससे मूलराज के मन में शेरसिंह के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया। शेरसिंह ने इस स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति का विश्वास दिलाने का बहुत प्रयत्न किया। परन्तु मूलराज का संदेह दूर न हुआ। अँगरेजों की चाल अपना रंग जमा चुकी थी; आखिर शेरसिंह को मुलतान छोड़ देना पड़ा, जिससे मूलराज का सैन्यबल बहुत घट गया। अब शेरसिंह विप्लव का नायक बन गया; सहस्रों देश-प्रेमी उसके झंडे के नीचे जुटने लगे। यहाँ तक कि दोस्त मुहम्मद के अधीनस्थ अफगान भी उसके पक्ष में हो गये। अफगानों से सिक्खों को सैनिक सहायता तो अधिक न मिली, परन्तु उनकी मित्रता का अपना ही महत्त्व था और यह भी पंजाब के विलीनीकरण का एक कारण बनी।

१६ नवम्बर के दिन लॉर्ड गफ ने रावी पार की। २२ ता० को चिनाब के किनारे रामनगर में एक अनिर्णीत संग्राम हुआ। २३ दिसम्बर को डलहौजी भी लुधियाना

पहुँच गया। यहाँ उसे शेरसिंह का एक पत्र मिला जिसमें इस युद्ध का औचित्य बताया गया था। शेरसिंह ने घृणित डोगरा सरदार गुलाबसिंह की पद-वृद्धि; रानी का निष्कासन और उस पर किये गये अत्याचारों, अँगरेजों द्वारा सिक्खों की भावनाओं की अवहेलना तथा उनका अफगानों को बढ़ावा देना—ये सब बातें इस विप्लव का कारण बताईं और अंत में उसने अँगरेजों पर पंजाब के राज-कोष में गोलमाल करने का दोषारोपण किया।

कुछ महीने अपने लिए लाभकर स्थिति बनाने में बीत गये; इस बीच सिक्खों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली और अँगरेजों के पास अटक, लाहौर तथा जालन्धर दोआब को छोड़ और कुछ भी न रह गया। दिसम्बर १८४८ में मुलतान पर पुनः घेरा डाला गया। अकस्मात् एक गोली लगने से सिक्खों के बारूद के भंडार में आग लग गई। अँगरेज दुर्ग में घुस पड़े और कुछ समय तक जान हथेली पर रखकर लड़ते हुए मूलराज ने २२ जनवरी १८४९ ई० में आत्मसमर्पण कर दिया; परन्तु इससे पहले चिलियाँवाला की खूनी लड़ाई १३ जनवरी को लड़ी जा चुकी थी। इस लड़ाई में विजय सिक्खों की हुई थी, परन्तु अब युद्ध का पाँसा पलटने लगा। मुलतान पर अधिकार हो जाने से गफ की अँगरेज सेना को, जिसमें २५०,००० सैनिक और १०० तोपें थीं, नई कुमुक मिल गई; उधर सिक्ख सेना में केवल ६१,५०० सैनिक तथा २१ तोपें थीं। इन दोनों सेनाओं की २१ फरवरी को गुजरात के समीप मुठभेड़ हुई। यह लड़ाई वास्तव में गोलाबारी की लड़ाई रही, इसलिए इसको 'तोपों की लड़ाई' कहा गया है। तीन घंटे की गोलाबारी के बाद सिक्खों का मोर्चा टूट गया और अँगरेजों की पूर्ण विजय हुई। इससे युद्ध समाप्त हो गया और गफ की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो गई। सिक्खों ने १३ मार्च को हथियार डाल दिये और २९ मार्च को पंजाब के विलीनीकरण तथा महाराज दलीपसिंह को पदच्युत करने की घोषणा की गई। विश्वविख्यात कोहेनूर हीरा ब्रिटिश ताज की शोभा बन गया।

लार्ड हार्डिंज प्रथम सिक्ख युद्ध के समय, पंजाब के विलीनीकरण के विपक्ष में था; परन्तु अब वह भी इसका समर्थक बन गया था। उस समय उसके सामने जो समस्याएँ थीं, वे अब न रह गई थीं। दोस्त मुहम्मद का, अँगरेजों के विरुद्ध, सिक्खों से मैत्री कर लेने से अफगानिस्तान और अँगरेजी राज्य के बीच एक हिन्दू तटस्थ राज्य को रखने का कोई अर्थ न था। पंजाब से आर्थिक लाभ न हो सकेगा यह तर्क भी झूठा सिद्ध हो चुका था। संरक्षक सरकार के शासनकाल में अँगरेजों को पंजाब का जो घनिष्ठ परिचय मिला, उससे उनके सामने पंजाब के छिपे हुए आर्थिक स्रोत और आर्थिक लाभ की संभावनाएँ प्रकट हो गई थीं। अतः डलहौजी

इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि "पंजाब के विलीनीकरण की नीति का पालन हमारे लिए सर्वाधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।" आगे उसका कहना था कि "तब तक भारत में शांति का कोई भरोसा नहीं है, जब तक हम समस्त सिक्ख जाति को पूर्णतया अधीन नहीं कर लेते और एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में इसकी शक्ति को समाप्त नहीं कर देते।" उसने इस सुझाव को भी ठुकरा दिया कि दलीपसिंह को सिंहासन पर रखते हुए पंजाब का शासन अपने हाथ में ले लिया जाय। इस सम्बन्ध में उसने लिखा था कि "सिंहासन के प्रदर्शन को बनाये रखकर, हम इतना प्रभुत्व शेष रहने देंगे जो सिक्खों को उनकी स्वतन्त्रता का स्मरण दिलाता रहेगा और षड्यन्त्रों का केन्द्र बन जायेगा।" आगे उसने लिखा था कि "मुझे अच्छी तरह से यह विश्वास हो जाने पर कि हमारे राज्य की सुरक्षा हमसे सिक्ख जाति को बलपूर्वक अधीन करने की माँग कर रही है, मैं इस आवश्यक कार्य को केवल इसलिए नहीं छोड़ सकता कि सिक्ख राष्ट्र को वस्तुतः अधीन करने में उनके राजा को भी पदच्युत करना पड़ रहा है। ....अपने ऊपर लिये हुए उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण जागरूक होते हुए मुझे असंदिग्ध रूप से अपने इस कार्य की न्यायोचितता एवं आवश्यकता का विश्वास हो चुका है। मैंने जो कुछ किया है, वह स्पष्ट हृदय से, इस सच्चे विश्वास के साथ किया है कि राज्य के प्रति मेरे कर्त्तव्यों की यह एक अनिवार्य माँग थी।"

पंजाब के विलीनीकरण की उपयोगिता पर तो किसी को क्या संदेह होता, परन्तु इसके न्यायोचित्य पर आक्षेप करनेवाले कम न थे। सबसे पहले मद्रास कौंसिल के सदस्य जॉन सलिवन ने अपनी पुस्तक "कोहेनूर किसका है" ("Kohinoor, to whom does it belong?") में इसके विरुद्ध अपनी अकेली आवाज उठाई; जे० एम० लडलो तथा अनेक दूसरे सज्जनों ने उसका अनुगमन किया। कानून की दृष्टि में स्थिति यह थी कि भैरोंवाल की सन्धि के अनुसार अँगरेज सरकार दलीपसिंह और उसके राज्य की संरक्षक थी। उसके राज्य में उपद्रवों का दमन करने के लिए और उसके वयस्क हो जाने पर उसका राज्य उसको सौंप देने के लिए अँगरेज सरकार कर्तव्यबद्ध थी। अपनी निष्क्रियता से, जो जान-बूझकर अपनाई गई थी या अनजाने में, अँगरेज सरकार ने मुलतान के विद्रोह को एक राष्ट्रीय विप्लव का रूप धारण करने दिया और तब शांति स्थापित करने के बदले में उसने पंजाब को ही हड़प कर लिया। यदि संरक्षकों का यह व्यवहार न्याय-संगत है तो ऐसे संरक्षकों के संरक्षितों की भगवान् ही रक्षा करें।

पञ्जाब का शासन-प्रबन्ध--डलहौजी ने पंजाब के लिए जो शासन-व्यवस्था बनाई वह सरल थी और उसके दो उद्देश्य थे; एक तो पंजाब में शांति और व्यवस्था

स्थापित करना और दूसरे पंजाब के आर्थिक स्रोतों को विकसित कर इस भय को दूर करना कि पंजाब से आर्थिक लाभ न हो सकेगा। शासन का समस्त भार तीन सदस्यों की एक समिति पर रखा गया; इसके अधीन एक कार्यवाहक और एक उपकार्यवाहक नियुक्त किया गया। यह समिति सीधे गवर्नर-जनरल के नियन्त्रण में रखी गई। यह समिति ही केन्द्रीय सरकार थी और इसके अधीन पंजाब के चार बड़े भागों-लाहौर, झेलम, मुलतान और लेह के कमिश्नर थे। ये चार बड़े भाग भी छोटे-छोटे भागों में बाँट कर डिप्टी कमिश्नरों के अधीन रखे गये और इनके मातहत तहसीलदार एवं नायब-तहसीलदार नियुक्त किये गये। शासन का यह ढाँचा बहुत सीधा-सादा और कम खर्च का था। डलहौजी ने इसमें अच्छे से अच्छे कर्मचारी नियुक्त किये।

आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा और व्यवस्था के लिए सिक्ख सेना को पूर्णतया विघटित किया गया, जनता को निःशस्त्र किया गया और सिक्ख सरदारों की जागीरें छीन ली गईं। आन्तरिक शांति के लिए हिन्दुस्तानियों का एक पुलिस-दल अँगरेजों की देख-रेख में संघटित किया गया। इसकी सहायता के लिए सैनिक पुलिस एवं गुप्तचर विभाग रखे गये। गाँवों में प्रहरी नियुक्त किये गये। जमींदारों को पुलिस के अधिकार तथा सीमांत में शांति बनाये रखने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। कबाइलियों में से एक सीमांत सेना संघटित की गई, जिसकी सहायता के लिए एक पथ-निर्देशक सैनिक दल रखा गया; इसके पीछे द्वितीय पंक्ति के रूप में नियमित सेना रखी गई। आर्थिक आवश्यकताओं को देखते हुए और अँगरेजों को पर्दे के पीछे रखने की इच्छा से डलहौजी ने, आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा के लिए अपनी सेनाओं में देशी सिपाहियों को भर्ती किया; इनकी भर्ती बड़ी सावधानी से की गई। इनको अँगरेज अधिकारियों की देख-रेख में रखा गया।

कार्यवाहक (एक्जीक्यूटिव) अधिकारियों को न्याय-सम्बन्धी अधिकार देकर न्याय-व्यवस्था की गई। तहसीलदार की अदालत सबसे निचली अदालत रखी गई; इसके ऊपर विशेष—कमिश्नरों तथा सहायक कमिश्नरों की, तब डिप्टी कमिश्नरों की और इनके ऊपर कमिश्नरों की अदालतें थीं। इन सबके ऊपर ज्यूडीशियल कमिश्नर की अदालत रखी गई। राजस्व एवं भूमि-कर के मामलों का फैसला 'राजस्व-निर्णायक-विभाग' (रेवेन्यू सेटलमेंट डिपार्टमेंट) करता था। न्यायाधिकारियों की सुविधा के लिए स्थानीय विधियों में अँगरेजी न्याय-सिद्धान्तों की छौंक देकर एक 'न्याय-विधान' बनाया गया। दंड-विधान में कुछ हेर-फेर किये गये, जेलों में सुधार हुआ और कैदियों को जीवनोपयोगी कलाएँ सिखाने की व्यवस्था की गई।

पंजाब के आर्थिक साधनों का सुधार डलहौजी का हमेशा लक्ष्य रहा। सड़कें, पुल और नहरें बनाई गईं, कृषि की दशा सुधारी गई, नये-नये बीजों का आयात किया गया और अपनी दशा सुधारने के लिए किसानों को ऋण दिये गये। सामंतों की शक्ति तोड़ने और राज्य की आय के साधन बढ़ाने के उद्देश्य से सरदारों की जागीरें और माफियाँ छीन ली गईं।

डलहौजी के इन साहसपूर्ण कार्यों ने इस भय को निर्मूल कर दिया कि पंजाब से आर्थिक लाभ न हो सकेगा। राजस्व की आय वस्तुतः बढ़ने लगी और उससे बचत भी होने लगी। सिक्ख सरदार विनम्र बना दिये गये थे; इनकी सैनिक प्रवृत्तियाँ पूर्णतः कुचल दी गई थीं और आगामी विद्रोह के समय पंजाब शांत ही न बना रहा अपितु अँगरेजों का बहुत बड़ा सहायक भी सिद्ध हुआ।

चौदहवाँ अध्याय

लार्ड डलहौजी का शासन-काल (१८४८-५६ ई०)

वैदेशिक नीति—गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी के शासन-काल के आठ वर्ष ईस्ट इंडिया कंपनी के इतिहास में वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उसके शासन-काल में "राज्य-सीमा अथवा राजस्व की किसी भी न्याय-संगत एवं सम्मान-पूर्ण वृद्धि को न छोड़ने के आग्रह" की नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई; साथ ही इस नीति-वाक्य में से 'न्याय-संगत एवं सम्मानपूर्ण' शब्द भी अलग कर दिये गये। इस काल में देशी राज्य अँगरेजी राज्य में मिलाये गये, प्राचीन राज-वंश निःस्वत्व किये गये और इस प्रकार ब्रिटिश-भारत का जन्म हुआ। राज्य-सीमा का विस्तार और आन्तरिक शासन का संघटन ये दो वातें इन आठ वर्षों के इतिहास का सारांश हैं। पंजाव में डलहौजी के युद्ध और उसके फलस्वरूप पंजाब के विलीनीकरण का वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। वर्मा के युद्ध और उसके फलस्वरूप बर्मा के विलीनीकरण के वर्णन से उसकी वैदेशिक नीति का इतिहास पूर्ण हो जाता है।

द्वितीय बर्मी-युद्ध, १८५२ ई०—वर्मा के साथ भारत-सरकार के सम्बन्ध यान्डबू की सन्धि (१८२६ ई०) द्वारा निश्चित हुए थे। लॉर्ड एम्हर्स्ट ने बर्मा-राज्य का वहुत-सा भाग हड़प लिया था, आवा में एक अँगरेज रेजीडेंट रख दिया था और वर्मा में वहुत सी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली गई थीं तथा इनको ऐसे संदिग्ध शब्दों में लिखा गया था कि इन सुविधाओं की ठीक-ठीक सीमा विदित न हो पाती थी।

द्वितीय वर्मी-युद्ध के वास्तविक कारण, इस घटना से सम्बन्धित सरकारी कागज-पत्रों से विदित नहीं हो सकते, क्योंकि ये कागज-पत्र सच्ची बात तो शायद ही कभी प्रकट करते हों और यदि इनमें कुछ सत्यता हो भी तो वह आंशिक ही होती है। इस युद्ध का वास्तविक कारण बर्मा द्वारा संधि की शर्तों को भंग करने में न होकर वस्तुतः अमेरिका और फ्रांस की पूर्वीय समुद्र में प्रगति थी। डलहौजी को रात-दिन यह भय बना रहता था कि कहीं वर्मा किसी अन्य यूरोपीय राष्ट्र के हाथ

न पड़ जाय। इसलिए वह ऐसी किसी भी बात को मान लेने को तैयार बैठा था, जिसको वर्मा के साथ युद्ध छेड़ने का वहाना बनाया जा सके; उसे पूर्ण विश्वास था कि युद्धों का निर्णय सदा अँगरेजों के पक्ष में ही होगा। अतः उसने अँगरेज व्यापारियों के प्रति वर्मा-सरकार के दुर्व्यवहार की शिकायत को झटपट ठीक मान लिया और वर्मा-सरकार द्वारा यान्डवू की सन्धि की शर्तों को तोड़ा जाना, जो अब अतीत की घटना वन गया था, युद्ध का एक अच्छा वहाना बना दिया और प्रारम्भ से ही अपना व्यवहार ऐसा वना लिया, जिसका परिणाम युद्ध के अतिरिक्त और कुछ न हो सकता था।

यांडवू की सन्धि के पश्चात् अनेक अँगरेज व्यापारी बर्मा में बस गये थे। वहाँ व्यापार से इनको आशातीत लाभ होने लगा, परन्तु ये वर्मी-सरकार के दुर्व्यवहार और उसके करों की शिकायत करने लगे। वर्मा-सरकार की भी हमेशा यही शिकायत रहती थी कि ये व्यापारी कर देने में आनाकानी करते हैं; करों से बच निकलनेवाले व्यापारियों को वर्मा-सरकार दंडित भी करती थी। वास्तव में बर्मा में भी स्थिति लगभग वैसी ही वन गई थी जैसी कि सिराजुद्दौला और मीर कासिम के समय में बंगाल की हो गई थी अँगरेजों के व्यापारिक अधिकार की शर्तें स्पष्ट शब्दों में लिखी नहीं गई थीं, जिससे दोनों पक्ष इनका अर्थ अपने-अपने हितों के अनुकूल लगा लेते थे। अँगरेज व्यापारियों की ये शिकायतें वहुत समय से कम्पनी-सरकार के पास जमा होती जा रही थीं परन्तु अब तक कम्पनी-सरकार ने इन पर कोई ध्यान न दिया था और अँगरेज व्यापारी भी दुर्व्यवहार की अपेक्षा अपने आर्थिक लाभ को महत्त्व देते हुए रंगून में जमे हुए थे।

यांडवू की सन्धि द्वारा आवा में जो अँगरेज रेजीडेंट रखा गया था, उसको वहुत पहले ही हटा लिया गया था और अव वर्मा-सरकार के साथ टनासेरिम के ब्रिटिश कमिश्नर द्वारा ही लिखा-पढ़ी होती थी। यह निश्चित रूप से विदित नहीं है कि अँगरेज रेजीडेंट को भारत-सरकार ने स्वयं हटा लिया था या आवा-दरबार ने निकाल बाहर कर दिया था। परन्तु, दो बातें निश्चित हैं। आवा-दरबार भारत-सरकार द्वारा नियुक्त रेजीडेंट के साथ व्यवहार करना अपना अपमान समझता था। उसका कहना था कि इसके पास इँगलैंड से राजकीय राजदूत आना चाहिए। दूसरे राजा थर्रावडी (१८३७-४५) ने यांडवू की सन्धि से बद्ध होना अस्वीकार कर दिया था। इस बात में वह बर्मा के विधान का पालन कर रहा था क्योंकि इस विधान के अनुसार "नये राजा के पदारूढ़ होते ही पूर्वागत अधिकार तब तक समाप्त हुए समझे जाते थे जब तक वह (नया राजा भी) उनको स्वीकार करना पसंद न करे।"

डलहौजी और बर्मी-युद्ध—डलहौजी के मंतव्यों के सुविदित होने के कारण वर्मा के अँगरेज व्यापारियों को उसके पास अपने प्रति किये जानेवाले वर्मा-सरकार के दुर्व्यवहारों को रोकने की प्रार्थनाएँ भेजने का प्रोत्साहन मिल गया। उन्होंने एक लम्बे आवेदन-पत्र में वर्मा-सरकार के दुर्व्यवहारों का विस्तृत वर्णन करते हुए, दो दुर्घटनाओं पर विशेष बल दिया और लिखा कि यदि अँगरेज सरकार हस्तक्षेप न करेगी तो उन्हें वर्मा को हमेशा के लिए छोड़ देने को बाध्य होना पड़ेगा। ये दो दुर्घटनाएँ दो अँगरेज व्यापारियों के दो छोटे-छोटे जहाजों से सम्बन्धित थीं, जिनका नाम शेपर्ड और ल्युइस था। वर्मा-सरकार ने शेपर्ड पर चिटगाँव के एक मल्लाह को जहाज से बाहर फेंक देने का तथा ल्युइस पर अपने एक देशी मल्लाह (लस्कर) की हत्या करने का अपराध लगाकर इनको अर्थदंड दिया था।

डलहौजी के लिए तो यह आवेदन-पत्र मानो भगवान् का अनुग्रह था। उसने घोषणा कर दी कि यांडवू की सन्धि भंग की गई है और रंगून के गवर्नर से अँगरेज व्यापारियों की क्षतिपूर्ति की माँग की जानी चाहिए। वास्तव में यह सन्धि तो कभी से बेकार हो चुकी थी, परन्तु झगड़ा मोल लेने के लिए तो कोई भी बहाना काम दे सकता था। उसने क्षतिपूर्ति कराने के लिए कोमोडोर लैम्बर्ट को 'फॉक्स', 'प्रॉस्पेरीन' तथा 'टनासेरिम' नामक तीन लड़ाई के जहाजों के साथ रंगून भेज दिया। शांतिपूर्ण समझौते के लिए युद्ध-पोत भेजना ऐसा असाधारण कार्य था, जो स्पष्टतः प्रकट करता था कि अँगरेज सरकार विचार-विनिमय के शिष्ट उपायों की अपेक्षा तलवार के बल पर इस झगड़े को निपटाना चाहती है। डलहौजी के इस कार्य की अनेक लोगों ने युद्ध के लिए ललकारनेवाला बता कर आलोचना की है, परन्तु इस कार्य का वास्तविक उद्देश्य इससे भिन्न और कुछ भी न था और आगे लैम्ब्रर्ट के व्यवहार से तो इस धारणा की और भी पुष्टि हो जाती है।

लैम्बर्ट को यह आदेश देकर भेजा गया था कि वह रंगून के गवर्नर को अपमानित किये जाने तथा शेपर्ड एवं ल्युइस को क्षतिपूर्ति के रूप में ९,००० रु० दिये जाने की माँग करे। लैम्बर्ट २५ नवम्बर को रंगून के तट पर उतरा और गवर्नर के डिप्टी के पास आवा-नरेश के लिए एक पत्र दिया तथा तीन सप्ताह के अंदर इस पत्र के उत्तर की माँग की।

आवा-नरेश खूब जानता था कि अँगरेजों के युद्ध-पोतों का पहुँचना क्या अर्थ रखता है। यथासंभव शीघ्रता के साथ उसने अपने दरबार से एक अधिकारी को लैम्बर्ट के पास रवाना कर दिया और उसके द्वारा 'अपमानकारी' गवर्नर को हटा लेने, अँगरेज व्यापारियों के प्रति किये गये अन्यायों की जाँच करने तथा क्षति-पूर्ति करने का वचन दिया और नम्रतापूर्वक 'महान् युद्ध-नेता'

(डलहौजी) के रूखे व्यवहार की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया। रंगून में शीघ्र ही दूसरा गवर्नर नियुक्त कर दिया गया और उसको तथाकथित अन्यायों की जाँच करने का आदेश दिया गया। लैम्वर्ट ने गवर्नर से मिलने की इच्छा प्रकट की। गवर्नर ने भी उसको अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी समय भेंट करने के लिए आमंत्रित किया। लैम्वर्ट ने स्वयं न जाकर नौ-सेना के प्रधान अधिकारियों को भेंट करने के लिए भेज दिया। सरकारी कागज-पत्रों का कहना है कि इनको गवर्नर के पास जाने से इस कारण रोक दिया गया कि गवर्नर उस समय सो रहा था। तभी गवर्नर जाग भी उठा, परन्तु उसने दुभाषिये के अतिरिक्त और किसी से भेंट करना अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि इन अँगरेज अधिकारियों ने उसके दालान में घोड़ों पर सवार होकर प्रवेश करके उसका अपमान किया था। ये अधिकारी तत्काल लौट आये और इन्होंने लैम्वर्ट को गवर्नर के व्यवहार की सूचना दी। लैम्वर्ट ने उसी समय गवर्नर के साथ समझौते की बातचीत भंग कर दी, रंगून पर घेरे की घोषणा कर दी और क्षतिपूर्ति की रकम को तत्काल चुका देने तथा रंगून के गवर्नर से क्षमा-याचना करने की माँग की। वास्तव में बात क्या हुई, यह जानना अब असंभव ही है। वर्मा-सरकार के अधिकारी अँगरेजों पर दोष लगाते थे कि अँगरेज अधिकारी मदिरापान किये हुए थे, उनका व्यवहार बहुत उद्दण्डतापूर्ण था और किसी भी तरह से समझौते के उद्देश्य से आये हुए राज-प्रतिनिधियों के अनुरूप न था। लैम्बर्ट एक कदम और आगे बढ़ा; उसने 'पीले पोत' (वर्मा के राजकीय पोत) पर अधिकार कर लेने का आदेश दे दिया, यद्यपि रंगून के गवर्नर ने उसको ऐसा करने से रोका था और साथ ही उसको यह भी चेतावनी दे दी थी कि वह अपने जहाजों को नदी के मार्ग से न ले जायें। परन्तु जान पड़ता है कि लैम्वर्ट बर्मियों को लड़ाई के लिए उत्तेजित करने पर तुला हुआ था। अँगरेजों ने राजकीय पोत को पकड़ ही नहीं लिया अपितु उसको एक प्रदर्शन की वस्तु के समान इधर-उधर घुमाने भी लगे और जिस प्रदेश में उनको जाने का निषेध किया गया था उसमें अँगरेज सैनिक बार-बार आने-जाने लगे। बर्मी अधिकारी अपनी कमजोरियों को समझते हुए चुप रहे और लैम्बर्ट की छेड़-छाड़ का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। दूसरे दिन सबेरे लैम्बर्ट एक कदम और आगे बढ़ा। उसने अँगरेजी युद्ध-पोत 'हैम्रेस' को 'पीला पोत' साथ लेकर रवाना हो जाने का आदेश दिया। उसकी यह चेष्टा बर्मियों की सहनशक्ति के बाहर थी। अतः तोपों ने आग उगलना प्रारम्भ कर दिया। लैम्बर्ट तो यह चाहता ही था; उसने भी बर्मियों की गोलाबारी का जवाब दिया और इस प्रकार द्वितीय बर्मी-युद्ध छिड़ गया।

डलहौजी तत्काल कलकत्ते पहुँचा। उसने बर्मा-सरकार को एक आखिरी ऐलान भेज दिया, जिसकी अंतिम तिथि १ अप्रैल सन् १८५२ रखी गई। इसमें उसने बर्मी सरकार से क्षमा माँगने, हरजाना देने और युद्ध-व्यय के रूप में १००,००० पौंड चुकाने की माँग की। इसके साथ-साथ उसने सामरिक तैयारियाँ भी प्रारम्भ कर दीं जिससे वर्षा आरम्भ होने से पहले ही बर्मी सेना पर निश्चयात्मक प्रहार किया जा सके। डलहौजी को विश्वास था कि वर्मा-सरकार उसकी इतनी कड़ी शर्तों को स्वीकार न करेगी। इसलिए आखिरी ऐलान की अवधि समाप्त होने के पहले ही उसने जनरल गॉडविन के अधीन एक सेना रवाना कर दी। अल्टीमेटम के संबंध में आवा-दरवार की हलचलों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। गॉडविन ने आदेश के अनुसार २ अप्रैल को युद्ध प्रारम्भ कर दिया। मर्तबान पर अँगरेजी सेना ने अधिकार कर लिया; इसके बाद रंगून पर अधिकार किया गया और तब बेसीन पर अधिकार कर लेने पर पेगू का समस्त समुद्री-तट अँगरेजों के हाथ में आ गया। इस अवसर पर डलहौजी ने लिखा था कि "यदि अब मैं विजय का उद्देश्य सामने रखूँ तो यह विजय कोई निश्चयात्मक भलाई न होकर हमारे सामने उपस्थित उन बुराइयों में से सबसे हल्की बुराई होगी, जिनमें से हमको एक न एक चुननी ही पड़ेगी।" पेगू के अँगरेजी राज्य में सम्मिलित करने के विषय में उसका विचार था कि यह "सामान्य नीति के बुद्धिसम्मत विचारों की अनिवार्य माँग" था। परंतु उसकी मृत चेतना उसके इन शब्दों में स्पष्टतया प्रकट हो जाती है कि "यद्यपि यह विजय भले ही एक बुराई हो, परन्तु यह बुराई किन्हीं अच्छाइयों से सर्वथा रहित भी नहीं है।" अँगरेज सेना आगे बढ़ती रही और उसने ९ अक्टूबर के दिन प्रोम पर अधिकार कर लिया। डलहौजी के लिए तो इस युद्ध का उद्देश्य इस विजय के साथ ही पूर्ण हो गया था। इँगलैंड में डलहौजी के महत्त्वाकांक्षी स्वामी उसे, लड़ाई को तब तक जारी रखने का निर्देश कर रहे थे, जब तक आवा-नरेश अधीनता स्वीकार न कर ले और उसकी यह स्वीकृति किसी संधि-पत्र में अंकित न हो जाय। परन्तु डलहौजी आवा की ओर बढ़ने का विरोधी था। अपनी मनचाही वस्तु प्राप्त हो जाने पर वह संधि करने के लिए अधिक उत्सुक न था और उसने अपनी इच्छा के अनुसार ही कार्य किया। दिसम्बर सन् १८५२ ई० में पेगू को अँगरेजी राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी गई और कुछ समझौता तो अवश्य किया गया, परन्तु किसी संधि-पत्र पर हस्ताक्षर न किये गये। आर्नल्ड ने लिखा है कि "द्वितीय बर्मी-युद्ध का न तो प्रारम्भ ही न्याय-सम्मत था और न इसको न्यायपूर्ण ढंग से चलाया ही गया था।" पेगू के मिला लेने से अँगरेजों के अधिकार में समुद्र-तट के साथ-साथ एक धनी प्रदेश भी आ गया।

यही इस युद्ध के लाभ थे और यही इसके लक्ष्य भी थे, शेपर्ड और ल्युइस को हर्जाने की रकम चुका देने की माँग इस युद्ध के लिए एक बहाना मात्र थी। साम्राज्यवाद केवल उस वस्तु पर ही ध्यान देता है जो उसे प्राप्त करनी होती है, इसकी प्राप्ति के साधनों की भलाई-वुराई का वह कभी विचार नहीं करता। अतः साम्राज्यवाद के साधनों की आलोचना करना किसी अंधे को अंधा कहने जैसा ही होगा।

डलहौजी का प्रारम्भिक जीवन---डलहौजी का जन्म अप्रैल सन् १८१२ में हुआ था और १८४८ ई० में उसको लॉर्ड हार्डिंज के बाद भारत का गवर्नर-जनरल वनाया गया। इतनी युवावस्था में उसका इतना सम्मान प्राप्त कर लेना ही वता देता है कि अपने ऊपर छोड़े गये कार्यों को अपनी स्वाभाविक शक्तिशालिता एवं पूर्णता से सम्पन्न कर उसने अधिकारियों के हृदय में अपने लिए कितना उच्च स्थान वना लिया था। उसने पार्लियामेंट में सन् १८३७ में प्रवेश किया और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी जागीर (अर्लडम) का उत्तराधिकार प्राप्त कर लेने पर सन् १८३६ ई० में वह 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' में पहुँचा। पार्लियामेंट में वह कन्सर्वेटिव दल का सदस्य था और सर रॉवर्ट पील के प्रधान मंत्रित्व में व्यापार-मंडल (वोर्ड ऑफ ट्रेड) के सभापति पद पर कार्य करता रहा तथा सन् १८४६ में उसने भी कन्सर्वेटिव दल के साथ पद-त्याग कर दिया। १८४७ ई० में उसने लॉर्ड जॉन रसल के ह्विग-मंत्रिमंडल की अधीनता में भारत के गवर्नर-जनरल का पद स्वीकार किया।

जनवरी सन् १८४८ में डलहौजी कलकत्ते में उतरा। ७ फरवरी सन् १८५६ में उसने अवध के विलीनीकरण की घोषणा की जो उसके शासन-काल में इस प्रकार की अंतिम घटना थी। २८ फरवरी सन् १८५६ को उसने पद-त्याग किया और उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड कैनिंग ने २९ फरवरी १८५६ के दिन पद ग्रहण किया। डलहौजी के भारतीय तट से बिदा लेने के ठीक १३ महीने बाद २९ मार्च सन् १८५७ के दिन एक ब्राह्मण सिपाही मंगल पांडे ने ३४ वीं उत्तर-भारत रैजीमेंट के एडजुटेंट का वध कर बारकपुर में उस महान् विप्लव का श्रीगणेश किया जो सिपाही-विद्रोह के नाम से विख्यात है। यह घटना-क्रम किन्हीं विशेष तथ्यों की ओर इंगित करता है। यह तो सत्य है कि डलहौजी का शासन १८५७-५८ की घटनाओं के दोष से सर्वथा मुक्त नहीं किया जा सकता, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि इनका समस्त उत्तरदायित्व भी उसी पर नहीं डाला जा सकता। उसका शासन-काल तो इनके कारणों को उभाड़नेवाला मात्र था; उसने इन घटनाओं को जन्म न देकर इनके प्रकट होने की तिथि को समीप लाने का ही कार्य किया था। इनके बीज तो डलहौजी

के शासन-काल से बहुत पुराने समय में ही पड़ चुके थे और इसके कारण, चर्बी लगे हुए कारतूसों की अपेक्षा, बहुत गंभीर थे।

डलहौजी के आठ वर्ष के शासन-काल में भारत के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों ने एक नया मोड़ लिया। इन वर्षों में कम्पनी-सरकार के शासन की समाप्ति स्पष्ट दीखने लगी यद्यपि काल-क्रम के विचार से यह घटना सन् १८५८ में हुई। इस काल में देशी राज्यों के विलीनीकरण की नीति भी चरम सीमा तक पहुँच कर समाप्त हो गई, क्योंकि डलहौजी के पश्चात् किसी देशी राज्य के विलीनीकरण का उल्लेख नहीं मिलता, और इसी काल में वे अनेक सुधार प्रारम्भ हुए जिनका फल आगे आनेवाले वर्षों में प्रकट हुआ।

विलीनीकरण की नीति—डलहौजी के शासन-काल के घटना-चक्र का केन्द्र-विन्दु उसके अनेक विलीनीकरणों में निहित है, जो युद्धमय भी थे और शांतिमय भी। पंजाव एवं पेगू के युद्धमय विलीनीकरण का वर्णन किया जा चुका है; यहाँ पर हमें उसके शांतिमय विलीनीकरणों का तथा इनके तथा कथित आधारभूत बेदखली के सिद्धान्त (डॉक्ट्रीन ऑफ़ लेप्स) का संक्षेप में वर्णन कर देना है। इस बेदखली के सिद्धान्त की व्यवहार में कोई सीमा न थी, और जिस किसी विशेष स्थान पर यह लागू न हो सका, वहाँ इसके स्थान पर "जनता की भलाई एवं सर्वथा कुशासन" के बहाने का उपयोग किया गया।

उस समय डलहौजी एवं कम्पनी-सरकार के अध्यक्ष-मंडल का पथ-प्रदर्शन जिस सिद्धान्त के द्वारा हो रहा था, वह डलहौजी के ही शब्दों में यह था; उसने कहा था "मुझसे अधिक कोई भी व्यक्ति हमारी अपनी राज्य-सीमा के उस विस्तार की निन्दा नहीं कर सकता, जो टाला जा सकता हो, अथवा जो हमारे राज्य की सुरक्षा तथा स्वयं हमारे प्रान्तों की शांति के लिए अनिवार्यतः आवश्यक न बन गया हो। परन्तु मैं नहीं समझ सकता कि कोई भी इस नीति के औचित्य में कैसे संदेह कर सकता है कि हम अपनी उस राज्य-सीमा को, जो कि हमारे अधिकार में है, दृढ़ करने के लिए उपस्थित होनेवाले प्रत्येक न्याय-सम्मत अवसर का लाभ उठाकर उन राज्यों पर अधिकार कर लें जो इसके बीच में बेदखल हो गये हों; क्योंकि इस प्रकार हम (हमारी राज्य-सीमा के) बीच में पड़नेवाले इन राज्यों से पीछा छुड़ा लेंगे, जो हमारी परेशानी का कारण बनाये जा सकते हैं, परन्तु जो मैं समझता हूँ, कभी भी शक्ति का स्रोत नहीं बन सकते; इस प्रकार सार्वजनिक कोष की आय के स्रोत बढ़ जायेंगे; और हमारी शासन-व्यवस्था उन प्रदेशों में भी समान रूप से प्रचलित हो सकेगी, जिनका हित-साधन, हम हृदय से विश्वास करते हैं, इससे सम्पन्न हो सकेगा।" इस कथन में से शब्द-जाल हटा देने पर स्पष्ट दिखाई

पड़ जाता है कि विलीनीकरण की नीति को अपनाने का उद्देश्य शासन-व्यवस्था में एकरूपता लाना, राज्य-सीमा को दृढ़ करना और सरकारी कोष की आय के साधन बढ़ाना था; और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक 'न्याय-सम्मत अवसर' से लाभ उठाया जाना था। विलीनीकरण की यह नीति, जिसका डलहौजी ने कमर कसकर अनुसरण किया, कोई नई नीति नहीं थी; यह नीति तो सर जोशुआ चाइल्ड के समय से ही प्रयत्नपूर्वक अपनाई जाती रही थी। डलहौजी के हाथों यह नीति चरम सीमा पर पहुँच गई, इसके दो प्रधान कारण थे। एक तो, देशी राजाओं के माध्यम से भारतीय प्रदेशों पर शासन करना अव उपयोगी न रह गया था। अब ब्रिटिश राजसत्ता सर्वोपरि बन चुकी थी ; अतः इसको देशी राजाओं की आड़ में छिपाने की अब कोई आवश्यकता न थी। अब अँगरेज वास्तविक शक्ति के रूप में अपने आप को प्रकट करने में समर्थ हो चुके थे। दूसरा कारण यह था और यही सर्वप्रधान कारण था कि व्यावसायिक क्रांति के फलस्वरूप इँगलैंड की आर्थिक स्थिति अधिकाधिक व्यापार-मंडियों तथा कच्चे माल की माँग कर रही थी। उपनिवेशों के लिए दौड़ में अब इँगलैंड अकेला न था; उसका पुराना प्रतिद्वंद्वी फ्रांस तो इसमें फिर से आ ही चुका था, साथ ही जर्मनी और इटली भी इसमें कूदनेवाले थे। इन सब बातों को देखते हुए यह स्पष्ट हो गया था कि यदि इँगलैंड को इस दौड़ में जीतना है तो उसे अपने अधिकृत प्रदेशों से पूरा-पूरा लाभ उठाना ही चाहिए ; यही डलहौजी की नीति का मुख्य कारण था। राज्य-विस्तार की आवश्यकता को भली भाँति समझ लेने पर डलहौजी की देशी राज्यों के प्रति अपनाई गई नीति का वास्तविक आधार समझ में आ जाता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए डलहौजी ने बेदखली करके अथवा कुशासन का बहाना बनाकर एक के बाद दूसरे सिंहासन को भूमिसात् करना प्रारम्भ किया।

लैप्स का सिद्धान्त (Doctrine of Lapse)—प्रारम्भ में ही यह समझ लेना चाहिए कि यह सिद्धान्त डलहौजी का बनाया हुआ नहीं था। वास्तव में कम्पनी-सरकार के अध्यक्ष-मंडल ने सन् १८३४ ई० में यह घोषित कर दिया कि किसी देशी राज्य के औरस उत्तराधिकारी न होने पर उत्तराधिकारी गोद लेने की अनुमति देना "एक नियम न बनाकर, अपवाद ही रखना चाहिए और (यह अनुमति) किसी विशेष कृपा अथवा पुरस्कार के रूप में दी जाने के अतिरिक्त अन्य किसी भी अवसर पर न दी जानी चाहिए," लैप्स (बेदखली) की नीति ग्रहण कर ली थी। सन् १८४१ में "राज्य अथवा राजस्व की किसी भी न्याय-सम्मत एवं सम्मानपूर्ण वृद्धि को न छोड़ने का आग्रह करने" का निश्चय कर विलीनीकरण की नीति को और भी स्पष्ट एवं विस्तृत कर दिया गया था। डलहौजी ने केवल

इतना ही किया कि इस सिद्धान्त का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया। यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित था कि भारत में अँगरेज सरकार प्रभु-सत्तात्मक है; प्रभु-शक्ति की स्वीकृति के विना अधीनस्थ राज्य दत्तक पुत्रों को प्राप्त नहीं हो सकते और प्रभु-शक्ति दत्तक पुत्रों के राज्याधिकार को अस्वीकार भी कर सकती है।

कम्पनी-सरकार का प्रभु-शक्ति होना इस अर्थ में निर्विवाद है कि यहीं भारत की सबसे शक्तिशाली राज्यसत्ता बन गई थी। परन्तु यदि प्रभु-शक्ति से अधिपति एवं उसके करद-राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का अर्थ ग्रहण किया जाये तो इस अर्थ में कम्पनी-सरकार कभी भारत में प्रभु-शक्ति के पद को न पा सकी थी; यह बात दूसरी थी कि सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यसत्ता होने के कारण उसने जबर्दस्ती अपने आप को इस पद पर आसीन कर लिया था। कम्पनी के प्रभुत्व के अधिकार, जहाँ तक वे पार्लियामेंट की स्वीकृति पर आधारित थे, भारतीयों तथा भारतीय राज्यों के प्रसंग में अर्थहीन थे; इसका सीधा-सादा कारण यह है कि ये ब्रिटिश पार्लियामेंट की प्रजा नहीं थे। कम्पनी ने जो कुछ भी अधिकार प्राप्त कर लिये थे, वे या तो भारतीय राज्य-शक्तियों की देन थे, या संधियों अथवा विजयों द्वारा प्राप्त किये गये थे। इनमें से कोई भी विधि कम्पनी को अधिपति का वह अधिकार नहीं देती थी, जिसको इसने अपनी शक्तिमत्ता के अभिमान में अपना समझ लिया था। यह एक स्मरणीय तथ्य है कि ठीक १८१३ ई० में लॉर्ड मॉयरा के समय तक कम्पनी की मोहर पर जो वाक्य खुदा होता था उसमें गवर्नर-जनरल को बादशाह का सेवक बताया गया था और मुगल बादशाह को 'नजरें' (अधीन लोगों के द्वारा अधिपति को दी जानेवाली भेंट), दी जाती थीं। १८३५ ई० तक कम्पनी का सिक्का बादशाह के नाम पर होता था। इसी वर्ष पहले-पहल अँगरेज राजा का चित्र रुपये के सिक्के पर खोदा गया था। यह कथन, कि मुगलों का आधिपत्य कम्पनी के पास हस्तान्तरित हुआ, एक ऐसी धारणा है जिसका समर्थन ऐतिहासिक तथ्यों से नहीं होता। मुगलों का अधिपतित्व कभी का समाप्त हो चुका था। अँगरेजों ने उनका प्रभुत्व अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करने के अतिरिक्त और कभी भी स्वीकार न किया था। राजनीतिक दृष्टि से भारत एक इकाई न रह गया था। यह पुनः उसी पुरानी स्थिति में आ पड़ा था, जिसमें यह अनेक परस्पर स्वतंत्र तथा सम्राट् के प्रभुत्व से मुक्त राज्यों का एक समूह था, यद्यपि सम्राट् का नाम आज भी चला आ रहा था। अँगरेजों ने भारत की प्रत्येक राज्य-शक्ति को पृथक्-पृथक् समझ कर उनके साथ अलग-अलग से व्यवहार किया था, उनके साथ संधियाँ की थीं, युद्ध लड़े थे, विजयें की थीं और संधियों की सीमा से बाहर के अधिकार भी वे

अपनाने लगे थे। उनकी इस मनमानी का आधार था केवल शक्ति और भारतीय राज्यों ने भय के कारण इसका विरोध नहीं किया।

आरोप किया जाता है कि डलहौजी का लैप्स का सिद्धान्त केवल अधीन राज्यों तक ही सीमित था, जो प्रभु-शक्ति की स्वीकृति के विना गोद लिये उत्तराधिकारियों को नहीं मिल सकते थे। कम्पनी की प्रभु-शक्ति की मान्यता से उसको अधीन राज्यों के उत्तराधिकार को मान्यता देने का अधिकार भी स्वतः मिला हुआ समझा गया। यह अधिकार सामंती प्रथा से अपनाया गया था और मुगलों की शासन-प्रणाली में भी इसका सादृश्य वर्तमान था। इस अधिकार के अंदर सभी प्रकार के उत्तराधिकार आ जाते थे, चाहे वे औरस संतति के हों या गोद ली हुई संतान के और यह अधिकार केवल गोद लिये गये उत्तराधिकारियों को मान्यता देने तक ही सीमित न था। यदि मान्यता देने के अधिकार का प्रयोग किसी दत्तक पुत्र के उत्तराधिकार का निषेध करने में किया जा सकता था, तो इसका प्रयोग औरस पुत्र के उत्तराधिकार का निषेध करने में भी किया जा सकता था। हिंदू-विधि में औरस और दत्तक पुत्र एक ही स्तर पर रखे गये हैं। संतानहीन हिन्दू को धर्म-शास्त्र पुत्र गोद लेने का आदेश देते हैं; इसका उद्देश्य सम्पत्ति के लिए उत्तराधिकारी बनाना इतना अधिक नहीं है, जितना मृत व्यक्ति के श्राद्ध-तर्पण इत्यादि कर्मों को पूर्ण करने के लिए कोई अधिकारी नियुक्त करना है और इस दृष्टि से औरस तथा दत्तक संतान का कानूनी स्तर एक है। हिन्दू-विधि में 'उत्तराधिकारी' शब्द में औरस और दत्तक संतान दोनों ही आ जाते हैं। डलहौजी का दत्तक पुत्रों के उत्तराधिकार को अस्वीकार कर देना, समस्त राज्य-परिवारों के भय का कारण बन गया, क्योंकि हिन्दुओं में दत्तक और औरस पुत्र में कोई भेद न होने के कारण, जिन राजाओं के औरस पुत्र भी थे वह भी उनके उत्तराधिकार के अस्वीकार किये जाने की संभावना से भयभीत हो उठे और यह तो मानना ही पड़ेगा कि औरस पुत्रों के उत्तराधिकार को अस्वीकार करने से डलहौजी को कोई भी रोक नहीं सकता था।

'स्वतंत्र', 'मित्र-राज्य' और 'अधीन राज्य' इन श्रेणियों के बीच के सूक्ष्म अन्तर और इस कथन के सम्बन्ध में कि डलहौजी के लैप्स के सिद्धान्त का क्षेत्र केवल अन्तिम श्रेणी (अधीन राज्य) तक सीमित था, यह स्मरणीय है कि इतिहास में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे हम 'मित्र' और 'अधीन' राज्यों के अन्तर के आधारभूत सिद्धान्त का निष्कर्ष निकाल सकें। पहली श्रेणी अर्थात् 'स्वतन्त्र' राज्यों की स्थिति के विषय में कोई गलत धारणा नहीं हो सकती थी; परन्तु डलहौजी के समय के भारत में कोई भी राज्य उस अर्थ में 'स्वतन्त्र' नहीं कहा

जा सकता था जिसमें कि 'फ्रांस'-राज्य इँगलैंड से स्वतन्त्र था। अँगरेजी राज्य में मिलाये गये राज्यों से सम्बन्धित विवरण पत्रों एवं चिट्ठी-पत्रियों में 'अधीन' ('सबार्डिनेट') एवं 'परतन्त्र' ('डिपेन्डेन्ट') शब्दों को निरंतर दुहराया गया है; परन्तु न तो डलहौजी ने और न कम्पनी के डाइरेक्टरों ने ही कभी 'अधीन' या 'परतन्त्र' राज्य की ठीक-ठीक परिभाषा करने की चिंता की और न कभी यह स्पष्ट करने की कि 'अधीन' और 'मित्र' राज्य में क्या अन्तर था। देशी राज्यों को अँगरेजी राज्य में मिला लेने की स्पष्ट प्रवृत्ति देखकर यही प्रभाव पड़ता है कि राज्यों की इन विभिन्न श्रेणियों की ठीक-ठीक व्याख्या जान-बूझकर नहीं की गई थी। इससे यह 'लेप्स का सिद्धान्त' सभी पर लागू हो सकता था, और इसी रूप में, देशी नरेशों ने इसको समझा। गवर्नर-जनरल के रूप में अपने कार्य-काल के प्रारम्भिक दिनों में डलहौजी ने लिखा था, "मैं अपने इस दृढ़ और सुवि-चारित मन्तव्य को लिपिबद्ध करने का यह अवसर ग्रहण करता हूँ कि एक बुद्धि-मत्तापूर्ण और पुष्ट नीति को कार्यान्वित करते हुए, ब्रिटिश सरकार, राज्य-सीमा अथवा राजस्व प्राप्त करने के ऐसे न्यायोचित अवसरों की अवहेलना न करने के लिए बाध्य है, जो समय-समय पर उपस्थित होते हैं, चाहे वे किसी भी प्रकार के उत्तराधिकारी के अभाव में अधीन राज्य की बेदखली से उत्पन्न हों या जहाँ का उत्तराधिकार हिंदू-विधि द्वारा गोद लेने की प्रथा की सरकार द्वारा स्वीकृति पर टिक सकता हो, वहाँ औरस उत्तराधिकारी के अभाव से उत्पन्न हों।" स्पष्ट है कि डलहौजी ने 'अधीन राज्यों' के लेप्स की कल्पना दो स्थितियों में की थी। एक स्थिति थी "किसी भी प्रकार के उत्तराधिकारी के अभाव में" और दूसरी थी "औरस उत्तराधिकारी के अभाव में; जहाँ उत्तराधिकार सरकार द्वारा गोद लेने की प्रथा की स्वीकृति पर ही टिक सकता हो।" "किसी भी प्रकार के किसी उत्तराधिकारी के अभाव में" इस कथन में दत्तक पुत्र भी सम्मिलित जान पड़ते हैं और आगे "औरस उत्तराधिकारी" एवं "गोद लेने की प्रथा" के उल्लेख से यह स्पष्ट भी हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि डलहौजी के मस्तिष्क में दो प्रकार के 'अधीन राज्य' थे; एक तो वे जिनमें उत्तराधिकार दत्तक पुत्र को मिल सकता था और दूसरे वे जिनमें दत्तक पुत्र को उत्तराधिकार सरकार की स्वीकृति होने पर ही मिल सकता था। इस भिन्नता का वास्तविक आधार क्या था, यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं हैं, और जिन-जिन स्थानों पर यह सिद्धान्त प्रयुक्त हुआ, उनको देखते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि अवसरवादिता के अतिरिक्त वास्तव में इस सिद्धान्त का अन्य कोई मूल-तत्त्व था भी नहीं। करौली नामक एक प्राचीन राजपूत राज्य का मामला हमारे सामने है। डलहौजी ने

इस राज्य को 'अधीन राज्यों' की श्रेणी में रखकर, इस पर प्रहार किया। परन्तु अध्यक्ष-मंडल का विचार कुछ और ही था और उन्होंने इसको 'संरक्षित मित्र-राज्य' बताया। यह उदाहरण स्पष्ट कर देता है कि राज्यों का वर्गीकरण किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया गया था, क्योंकि यदि ऐसा कोई सिद्धान्त रहा होता तो इस राज्य के विषय में डलहौजी और अध्यक्ष-मंडल में यह मद-भेद उत्पन्न होने का प्रसंग ही न आता। वर्गीकरण के किसी सैद्धान्तिक आधार के अभाव में सभी देशी राज्य डलहौजी की स्वेच्छा पर निर्भर थे और इससे अधीन ('सवार्डिनेट' एवं 'परतन्त्र' ('डिपेन्डेन्ट') शब्द निरर्थक हो गये, क्योंकि किसी देशी राज्य का भाग्य-निर्णय इन पारिभाषिक शब्दों पर निर्भर न होकर गवर्नर-जनरल की स्वेच्छा पर अवलम्बित था। एक अन्य स्थल पर, डलहौजी ने लैप्स के सिद्धान्त के कार्य-क्षेत्र के विषय में बताते हुए लिखा था कि यह उन राज्यों पर लागू होगा जो "कार्यरूप में ब्रिटिश सरकार के बनाये हुए थे या जो अपनी पूर्व स्थिति से ब्रिटिश सरकार के साथ इस प्रकार सम्बद्ध थे कि इसको (ब्रिटिश सरकार को) उत्तराधिकारी गोद लेने से लेकर उस राज्य की प्रभुता तक के सभी प्रश्नों पर सार्वभौम शक्ति के मान्यता-प्राप्त अधिकार मिल गये थे।"

कोई भी देशी राज्य, वस्तुतः, अँगरेजों का बनाया हुआ नहीं था। वे सभी पहले से चले आ रहे थे। परन्तु यदि बनाने का अर्थ युद्ध के पश्चात् अथवा युद्ध के बिना ही की गई संधियों द्वारा इन राज्यों को मान्यता देना किया गया था तो इस अर्थ में तो सभी राज्य 'कार्यतः निर्माण' थे और तब नागपुर और ग्वालियर में भी कोई अन्तर न हो सकता था। देशी राज्यों की 'पूर्व स्थित' में जो मंतव्य प्रकट किया गया है वह गोलमोल बात कहने का एक आदर्श उदाहरण है। बहुत विचारपूर्ण विश्लेषण के बाद सर जॉन स्ट्रैची, ने यह मत प्रकट किया है कि इस बेदखली के सिद्धान्त को लेकर सभी राज्यों की समाप्ति केवल काल की उपेक्षा रखती थी और 'अधीन' एवं 'मित्र' राज्यों में जो भेद किया गया था, वह तो कपोलकल्पना मात्र था।

अन्त में हम अन्तिम मान्यता, सार्वभौम शक्ति का उत्तराधिकार को मान्यता न देने का अधिकार, पर आते हैं। इस अधिकार के निर्धारण में पिछला इतिहास कुछ भी सहायता नहीं देता। मुगल शासन-काल में, जब कि उत्तराधिकार को मान्यता देने का अधिकार सुप्रतिष्ठित था, इसकी अमान्यता का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। मान्यता देना एक नियम बन गया था और अधीन राज्यों का यह कर्तव्य बन गया था कि वे उत्तराधिकार की सार्वभौम शक्ति से मान्यता प्राप्त करें, परन्तु यह एक प्रथा मात्र थी।

ब्रिटिश सरकार के प्रारम्भ के आचरण तो मुगलों से मेल खाते थे। परन्तु १८३१ ई० में एक स्पष्ट परिवर्तन तब प्रकट हुआ जब बम्बई सरकार ने निश्चय किया कि परिस्थितियों के अनुसार या तो स्वीकृति दी जायगी या रोक ली जायगी। एक प्रेसीडेन्सी की यह नीति तब कम्पनी-सरकार की भी नीति बन गई, जब अध्यक्ष-मंडल ने १८३४ ई० के अपने एक पत्र में लिख भेजा कि "जहाँ कहीं भी गोद लेने के लिए अपनी स्वीकृति देने या रोक लेने का विकल्प तुम्हारे अधिकार में हो, वहाँ स्वीकृति देना एक नियम न होकर अपवाद ही होना चाहिए और एक विशेष कृपा के उपलक्ष्य के अतिरिक्त और कभी भी स्वीकृति न दी जानी चाहिए।" तब और तब से लेकर हमेशा यह तर्क दिया जाता रहा है कि स्वीकृति देने के अधिकार के साथ ही स्वीकृति न देने का अधिकार भी लिपटा हुआ है। परन्तु यदि पूर्व-घटनाओं को किसी अधिकार के स्वरूप का निर्देशक माना जाय तो उत्तराधिकार अस्वीकार करने का अधिकार कहीं भी प्रमाणित नहीं होता। यह अधिकार जान-बूझकर इसलिए पैदा किया गया था कि बीच में पड़नेवाले उन देशी राज्यों को मिटाकर, जिनको औरस उत्तराधिकारी प्राप्त करने का सौभाग्य न मिला था, ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ बना दिया जाय—भाग्य डलहौजी का साथ दे रहा था। यह एक विचित्र घटना है कि डलहौजी के समय में एक-दो नहीं अपितु कई देशी राज्यों में औरस उत्तराधिकारी नहीं थे और इनके राजा डलहौजी के कार्य-काल में मरे और डलहौजी ने उन सब पर हाथ साफ किया। लैप्स के सिद्धांत को लेकर जो देशी राज्य ब्रिटिश राज्य में मिलाये गये, वे ये थे—सतारा (१८४८ ई०), जैतपुर और सम्भलपुर (१८५० ई०), बघाट (१८५० ई०), उदयपुर (१८५२ ई०), झाँसी (१८५३ ई०) और नागपुर (१८५४ ई०) में। इनमें से सतारा, झाँसी और नागपुर के प्रसंग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और वस्तुस्थिति का परिचय देनेवाले हैं।

सतारा का मामला, १८४८ ई०—सतारा-रियासत लैप्स के सिद्धान्त का सबसे पहला शिकार बनी। सन् १८४८ ई० में सतारा-नरेश का देहांत हुआ। उसका कोई औरस पुत्र न था; अतः उसने मरने से पहले हिन्दू-विधि के अनुसार एक बालक को गोद ले लिया था। यह गोद लेना, यद्यपि सब प्रकार से विधि के अनुसार सम्पन्न हुआ था; परन्तु डलहौजी ने इसको अमान्य ठहराया, क्योंकि गोद लेने से पहले राजा ने कम्पनी-सरकार की स्वीकृति न ली थी और इसलिए सतारा-राज्य बेदखल होकर प्रभु-शक्ति के अधिकार में चले जाने की घोषणा कर दी गई। कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल ने सतारा को 'अधीन राज्य' मानने में डलहौजी का साथ दिया और घोषित किया कि "भारत के सर्वसाधारण कानून और प्रथा

के अनुसार, सतारा जैसी कोई अधीन रियासत सार्वभौम-शक्ति की अनुमति के बिना किसी दत्तक पुत्र को प्राप्त नहीं हो सकती; कि हम इस प्रकार की स्वीकृति देने के लिए प्रत्यक्ष अथवा अनुमानित, किसी प्रकार के वचन से बद्ध नहीं है, और यह कि हमारे भरोसे पर रखे गये सर्वसाधारण के हित इस (स्वीकृति) को रोकने में ही सबसे अच्छी तरह निभाये जा सकते हैं।" इस प्रकार सतारा-रियासत समाप्त हुई जो अँगरेजों के लिए आर्नाल्ड के शब्दों में "एक धनी परन्तु अन्यायपूर्ण पुरस्कार" थी।

सतारा के विषय में एक अति प्रचलित भ्रान्त धारणा यह है कि यह रियासत अँगरेजों की खड़ी की हुई थी। कोई झूठी बात जब बार-बार दुहराई जाती है, तो वह सत्य सी जान पड़ने लगती है; यही स्थिति इस धारणा की है कि सतारा-रियासत अँगरेजों की बनाई हुई थी। वास्तव में सतारा-रियासत उस समय से पहले से ही विद्यमान थी, जब कम्पनी ने सार्वभौम-शक्ति का पद ग्रहण किया था। सतारा-नरेश, सिद्धान्ततः, पेशवा का अधिपति था और 'छत्रपति' कहा जाता था। यह सच है कि पेशवाओं के आकस्मिक उत्थान की चकाचौंध में सतारा का राजा महाराष्ट्र-मंडल के केन्द्र-बिन्दु के रूप में लुप्त हो चुका था। परन्तु महान् शिवाजी के वंशज होने के कारण, सतारा के राजा मराठा-संघ की दृष्टि में अत्यधिक सम्मान के पात्र थे और उनका यह सम्मान कभी भी कम न हुआ था। वास्तव में यही कारण था कि हेस्टिंग्ज़ ने सन् १८१९ ई० में सतारा के राजा के साथ संधि की थी। हेस्टिंग्ज़ की नीति की समालोचना करते हुए प्रिन्सेप लिखता है कि "सतारा के राजा को पुनः प्रतिष्ठित करने की नीति, पेशवा के अधिक अर्वाचीन पद और सत्ता को दबाकर प्राचीन मराठा-परिवारों को प्रसन्न करने के लिए, बहुत सुन्दर सिद्ध हुई।" अतः हेस्टिंग्ज़ की इस नीति का राजनीतिक उद्देश्य था। इस प्रकार सतारा का राज्य कम्पनी द्वारा बनाया नहीं गया था, अपितु १८१९ ई० में कम्पनी ने इस राज्य के साथ पहले-पहल संधि का सम्बन्ध स्थापित कर, मराठों की भावनाओं को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया था।

सतारा के मामले का सारांश इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि क्या सतारा-राज्य एक 'अधीन राज्य' था, जैसा कि डलहौजी समझ रहा था, और क्या दत्तक पुत्र के उत्तराधिकार को अमान्य करने का कम्पनी को कोई अधिकार था। इन प्रश्नों का उत्तर हमें १८१९ ई० की संधि में खोजना चाहिए, क्योंकि सतारा-राज्य के साथ कम्पनी के सम्बन्ध इसी संधि द्वारा निर्धारित हुए थे। मानना पड़ता है कि इस संधि के शब्द प्रकट करते हैं कि यह एक अधिपति एवं अधीन राज्य की अपेक्षा दो समान स्तर की राज्य शक्तियों की संधि थी। परन्तु १८४८ ई० में डलहौजी

ने इस संधि को भुला देना, और यह भूल जाना कि यह समझौता 'स्थायी रूप से बाँधनेवाला था और कम्पनी ने सतारा राज-वंश की संतति एवं उत्तराधिकारियों को मान्यता देना स्वीकार किया था' अपने अनुकूल समझा। सतारा-राज्य के एक 'स्वतंत्र राज्य' होने के विषय में यदि और भी कोई संदेह हो तो वह स्वयं कम्पनी की १८१८ ई० की घोषणा से दूर हो जाता है। इसने तब घोषणा की थी कि "सतारा का राजा, जो अब बाजीराव के पास बंदी के रूप में है, छुड़ाया जायगा और एक स्वतंत्र प्रभुत्व का स्वामी बनाया जायगा।" डलहौजी और हन्टर तथा सर चार्ल्स जैकसन जैसे उसके समर्थकों की अप्रासंगिक दलीलें इस प्रश्न का कोई भी उत्तर प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं कि 'स्वतंत्र प्रभुत्व' का क्या अर्थ था। सच्चाई और न्याय की दृष्टि से, देशी राज्यों को हड़पने के डलहौजी के किसी भी कार्य का समर्थन नहीं किया जा सकता और इन सबमें से सतारा और नागपुर के मामले सबसे कमजोर हैं।

नागपुर का मामला—कालक्रम से नागपुर को १८५४ ई० में हड़प किया गया; इससे पहले डलहौजी अनेक प्रदेशों पर हाथ साफ कर चुका था, जिनमें से यहाँ बरार-प्रदेश उल्लेखनीय है, क्योंकि बरार को अँगरेजी राज्य में मिला लेने के ारण ही नागपुर को हड़पने की आवश्यकता उत्पन्न हुई थी। यह ठीक कहा गया है कि "अँगरेजों ने भारत के कपास के क्षेत्र बरार, को प्राप्त कर लिया था, परन्तु नागपुर के बिना उनके पास (बरार प्रदेश ऐसा ही था जैसे कि) पहुँचने के रास्ते के बिना कोई राज्य, या दालान के बिना कोई महल।" बरार से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए नागपुर 'आवश्यक' था।

सन् १८५३ ई० में नागपुर का राजा राघोजी पुत्रहीन दशा में किसी पुत्र को गोद लिये बिना ही मर गया। स्वयं अपनी संतान होने की आशा न रहने पर राघोजी ने रेजीडेंट से दत्तक पुत्र की अनुमति के लिए बार-बार प्रार्थना की थी। वह गोद लेने की रस्म को इसलिए स्थगित करता आ रहा था, क्योंकि वह भली भाँति जानता था कि कम्पनी-सरकार की अनुमति के बिना गोद लेने से इस दत्तक पुत्र का उत्तराधिकार अँगरेजों को मान्य न होगा। डलहौजी अभी राजा की प्रार्थना पर ध्यान भी न दे पाया था कि राजा की मृत्यु हो गई; परन्तु मृत्युशय्या पर उसने अपनी रानी को आदेश दे दिया था कि वह यशवन्तराव को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण कर ले, जो उसके ही वंश का और राज्य का निकटतम उत्तराधिकारी था; यशवन्तराव ने राघोजी की चिता पर पुत्र के सभी कर्तव्यों का निर्वाह भी किया। हिन्दू-विधि विधवा को अपने पति की संतान के रूप में दत्तक पुत्र ग्रहण करने की अनुमति देती है और अँगरेजी सरकार भी इस प्रथा को स्वीकार करती

आई थी। १८२७ ई० में सिन्धिया की विधवा रानी ने एक पुत्र गोद लिया था, १८३६ ई० में जनको जी सिन्धिया की विधवा ने दत्तकपुत्र ग्रहण किया था। यहाँ तक कि सन् १८४१ में किशनगढ़ के राजा की विधवा ने भी इस अधिकार का उपयोग किया था और कम्पनी-सरकार ने उसको मान्यता दी थी।

यशवन्तराव विधिवत् गोद लिया गया था, यद्यपि गोद लेने का उत्सव इसलिए स्थगित कर दिया गया था, क्योंकि उन दिनों दरवार मृतराजा का शोक मना रहा था; और गोद लेने की अनुमति के लिए रेजीडेंट के पास भी भेंटें पहुँचा दी गई थीं। रेजीडेंट, उन भेंटों का उत्तर न देकर, नागपुर के शासन पर झपट पड़ा; और उसने राज-कोष तथा राजा के व्यक्तिगत भंडारघर पर भी मोहर लगाकर ताले ठोंक दिये। नागपुर को, किसी वैध उत्तराधिकारी के अभाव में, वेदखल घोषित कर दिया गया। डलहौजी ने लिखा कि नागपुर का मामला, "पूर्णतः पूर्व-दृष्टान्त रहित है। यहाँ हमारे सामने असंगत, अपूर्ण अथवा अनियमित दत्तक पुत्र का कोई प्रश्न नहीं है।......राजा की मृत्यु हो चुकी है और वह जान-वूझकर दत्तक पुत्र ग्रहण करनेसे वचता रहा है। उसकी विधवा ने कोई उत्तराधिकारी गोद नहीं लिया है। १८१८ ई० में अँगरेजों द्वारा उसके उत्तराधिकारियों को सौंपा गया नागपुर राज्य, राजा के उत्तराधिकारी न छोड़कर मर जाने पर, अँगरेजी सरकार के हाथ में लौट आया है। न्याय और प्रथाएँ और पूर्व दृष्टान्त, (कम्पनी) सरकार को, जैसा भी यह अच्छा समझे वैसा निर्णय करने के लिए पूर्णतः वन्धन-रहित छोड़ देते हैं। नीति ही इस प्रश्न का समाधान कर सकती है।"

हम पहले ही लिख चुके हैं कि दिवंगत राजा ने और उसकी विधवा रानी ने गोद लेने की अनुमति के लिए वार-वार प्रार्थना की थी, जो अस्वीकृत हुई। वे जानते थे कि अनुमति के विना गोद ली हुई वैध-संतान को भी कम्पनी-सरकार अवैध घोषित कर देगी। उनका सार्वभौम सत्ता की अनुमति का मुँह ताकने का अर्थ यह लगाया गया कि वे जान-वूझकर उत्तराधिकारी गोद लेने की रस्म को टाल रहे थे। डलहौजी के विवरण-पत्रों में इस मामले के वर्णन से कुछ ऐसा आभास मिलता है जैसे दिवंगत राजा और विधवा रानी डलहौजी का मार्ग सरल बनाने के लिए ही दत्तक पुत्र ग्रहण करने से वचते रहे हों। किसी वात को असत्य रूप में उपस्थित करने का इससे बड़ा उदाहरण इतिहास में और कोई नहीं मिलता। यदि कोई दत्तक पुत्र नहीं भी था, तब भी यशवन्तराव हिन्दुओं और अँगरेजों दोनों ही की विधि के अनुसार राज्य का नियमानुमोदित उत्तराधिकारी था, आर्नल्ड लिखता है "जिस कानून से नागपुर राज्य अँगरेजी राज्य में मिलाया गया था, कहना पड़ता है कि वह वास्तव में एक प्राचीन कानून था, परन्तु जो इसी कारण अधिक सम्मान्य नहीं है,—सबसे शक्ति-

शाली का कानून।" नागपुर के मामले के सम्बन्ध में ली-वार्नर जैसे कट्टर पक्षपाती तक को यह लिखना पड़ा है कि "सतारा और नागपुर के मामलों में डलहौजी के ऊपर साम्राज्यवादी हितों का प्रभाव था। ये राज्य मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के ही यातायात के मार्ग के ठीक आरपार स्थित थे। अतः इनको हड़प कर ही साम्राज्य की सुदृढ़ता प्राप्त की जा सकती थी।"

झाँसी को अँगरेजी राज्य में मिलाना, १८५३ ई०—सन् १८१७ ई० में पेशवा ने झाँसी-प्रदेश अँगरेजों को दे दिया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि झाँसी पेशवा के अधीन एक 'सूबेदारी' मात्र था। परन्तु यह सम्बन्ध १८१७ ई० में समाप्त हो गया। इसी वर्ष लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने राव रामचन्द्र को झाँसी की गद्दी पर प्रतिष्ठित किया और उसके साथ की गई सन्धि की दूसरी धारा के अनुसार उसके वंश का उत्तराधिकार स्थायी रूप से स्वीकार किया गया, जो या तो राजा की औरस संतान, अथवा निकटतम वंशज अथवा सामान्यतः मनोनीत उत्तराधिकारी को प्राप्त होना माना गया। सन् १८३५ ई० में राजा रामचन्द्रराव संतानहीन मर गया; परन्तु वह दत्तक पुत्र ग्रहण कर चुका था, यद्यपि इसके लिए उसने ब्रिटिश सरकार की अनुमति न ली थी। इस दत्तक पुत्र को हटाकर मृत राजा के चाचा रघुनाथराव को गद्दी पर विठाया गया था। इसकी मृत्यु १८३८ ई० में हुई और तव उसका भाई गंगाधरराव राजा बना जो १८५३ ई० में संतानहीन मर गया। परंतु मरने से पहले उसने सभी विधि-विधानों को पूरा करते हुए आनन्दराव को गोद ले लिया था और सरकार को इसकी सूचना देते हुए उसने अपने पत्र में यह इच्छा प्रकट की थी कि उसके वाद आनन्दराव को राजा माना जाये।

उधर डलहौजी, रानी के वंध्या होने के लिए अपने भाग्य की प्रशंसा कर रहा था और इसमें उसने अपने लिए अच्छा सुयोग आया हुआ समझा। वह संधि को और पूर्व-दृष्टान्तों को भूल गया; उसने अपने आप को इस विश्वास से दृढ़ कर लिया कि "झाँसी की अधीन स्थिति किसी झगड़े को स्थान नहीं देती" और झाँसी को वेदखल सम्पत्ति घोषित कर दिया। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने तथाकथित गदर में इसका प्रतिशोध लिया।

बरार को हड़प करना : १८५३ ई०—वरार प्रांत, एक समय हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत था। डलहौजी ने सन् १८३५ ई० में इस प्रांत को हैदराबाद से उस ऋण के बदले में प्राप्त कर लिया था जो निजाम को कम्पनी को चुकाना था। इस ऋण की उत्पत्ति निजाम पर लादे गये उस अँगरेजी सेना के अतुल व्यय से हुई थी, जिसको हैदराबाद-राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक बता कर हैदरावाद में रखा गया था। इस अँगरेजी सेना को हैदराबाद में रखने या इसके खर्चे की जिम्मे-

दारी लेने का निजाम की ओर से कोई विधिवत् प्रतिज्ञापत्र लिखा गया नहीं दिखाई देता; परन्तु निजाम के दव्वूपन का लाभ उठाकर यह सेना तब भी हैदराबाद पर लाद कर रखी गई, जब कि हैदराबाद-राज्य की सुरक्षा के लिए भय का कोई भी कारण न रह गया था। इस सेना का व्यय-भार निजाम के कोप के लिए असह्य था; कम्पनी-सरकार भी उसको इसके लिए कर्ज देती रही और परिणामतः निजाम पर कम्पनी का वहुत ऋण चढ़ गया।

इस सारे प्रसंग में अन्यायपूर्ण तत्त्व यह है कि निजाम किसी प्रकार से भी अँगरेजी सेना को अपने राज्य में वनाये रखने के लिए वाध्य नहीं था और वस्तुतः इस सेना पर, इसका व्यय-भार उठानेवाले निजाम की अपेक्षा, कम्पनी-सरकार का ही अधिक अधिकार था। यह सेना उस सहायक सेना के अतिरिक्त उस पर लादी गई थी, जिसको अपने राज्य में रखने के लिए वह सन् १८०० ई० की संधि से वाध्य था।

जव कभी निजाम ने नम्रता पूर्वक इस अतिरिक्त सेना को रखने की आवश्यकता के अभाव और इसके खर्चे के कारण अपने राज्य पर वढ़ते हुए ऋण की ओर कम्पनी का ध्यान आर्कषित किया, तब-तब उसे यह धमकी दी गई कि उसके राज्य से सैनिक-रक्षा विलकुल हटा ली जायगी। उसको वताया गया कि सन्धि के अनुसार वह इस अतिरिक्त सेना को रखने के लिए वँधा हुआ था; परन्तु यह वात असत्य थी।

धीरे धीरे यह ऋण ७८०,००० पौं० तक वढ़ गया। १८५१ ई० में एक योजना तैयार की गई, जिसके अनुसार इस ऋण के बदले में निजाम से कुछ प्रदेश लेने का निश्चय किया गया; १८५३ ई० में यह योजना कार्यान्वित हुई, जब कि निजाम के साथ एक नई सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार निजाम ने वरार और कुछ अन्य जिले, जिनका कुल राजस्व ५० लाख रुपये होता था, कम्पनी को उसके ऋण के बदले में तथा अतिरिक्त सेना के व्यय के रूप में सौंप दिये; निश्चय किया गया कि इस सब रकम के चुक जाने के वाद यदि कुछ वचत रही तो वह निजाम को लौटा दी जायगी।

१८५३ ई० की इस व्यवस्था का वास्तविक कारण यह था कि कम्पनी-सरकार वरार के कपास के खेतों को मन्चैस्टर के उपयोग के लिए हथियाना चाहती थी। इस व्यवस्था को संधि कहना वहुत भ्रान्त कथन होगा, क्योंकि न तो निजाम ने इसके लिए अनुनय की थी और न उसको हार्दिक इच्छा से स्वीकार ही किया था; यह तो उस पर लाद दी गई थी। यदि उसने इस व्यवस्था को स्वीकार करने में थोड़ी भी देर की होती तो डलहौजी उसके विरुद्ध बल-प्रयोग करने का और उसके

खर्चे से पलनेवाली सेना को ही उसके विरुद्ध भेजने का निश्चय कर डालता। आश्चर्य-जनक बात तो यह है कि इस प्रकार निजाम को लूटकर, डलहौजी ने यह घोषित करने की धृष्टता की कि "अतिरिक्त सेना के सम्वन्ध में, भारत-सरकार का निजाम के साथ व्यवहार अपरिवर्तित विश्वास, उदारता और सहनशीलता के गुणों से युक्त था।"

अवध पर दखल—"डकैती की चरम सीमा"—१८५६ ई०—अवध अन्तिम राज्य था, जिस पर कम्पनी ने दखल किया। वक्सर की लड़ाई (१७६५ ई०) से जब से यह रियासत अँगरेजों के सम्पर्क में आई थी, तब से अँगरेज इसको अपनी आर्थिक कठिनाइयों का समाधान करनेवाला स्वर्ण-कोष बनाये हुए थे। भारत में अँगरेजों की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो जाने के वाद से एक तटस्थ मित्र-राज्य के रूप में अवध का महत्त्व समाप्त हो गया था। इस प्रदेश की उपजाऊ भूमि और अत्यधिक साधन-सम्पन्नता देखकर अनेक गवर्नर-जनरलों के मन में इस पर दखल करने की इच्छा उठी थी, परन्तु अवध के नवाव वजीर की दृढ़ भक्ति ने अँगरेजों की इस लोलुपता के लिए कभी कोई वहाना न निकलने दिया। कुशासन अथवा किसी नवाब की मृत्यु का लाभ उठाकर अवध पर नई-नई संधियाँ लादी जाती रहीं, जो निश्चित रूप से कम्पनी के लिए हितकर होती थीं।

१८०१ ई० में वेलेजली की सन्धि ने नवाव का बहुत-सा प्रदेश उसके अधिकार से निकाल लिया था और उसके ऊपर रेजीडेंट के परामर्श के अनुसार कार्य करने की शर्त लाद दी थी। इतने से भी सन्तुष्ट न होकर वेलेजली ने लिखा था कि "अवध-प्रांत की बरवादी के विरुद्ध तब तक कोई प्रभावपूर्ण आश्वासन नहीं दिया जा सकता, जब तक उस देश की समस्त सैनिक एवं सार्वजनिक शासन-व्यवस्था कम्पनी को नहीं सौंप दी जाती।"

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ और ऐम्हर्स्ट को अवध की शासन-व्यवस्था में कुछ भी दोष न दिखाई दिया। हेस्टिंग्ज़ तो इतना प्रसन्न हुआ था कि उसने नवाव को "राजा" ('किंग') की उपाधि से विभूषित कर दिया था। इस भाव-परिवर्तन का कारण वे बड़ी-वड़ी रकमें थीं, जो नैपाली और बर्मी-युद्ध के समय अवध से 'कर्ज' कहकर ली गई थीं। बैंटिक के रंगमंच पर उतरने पर अवध में पुनः कुशासन खोज निकाला गया और इस खोज के पर्याप्त कारण भी थे। बैंटिक को आशा थी कि अवध उस रिक्त कोष को पुनः भर सकेगा, जो बैंटिक को ऐम्हर्स्ट से प्राप्त हुआ था। उसने लखनऊ का दौरा किया और नवाब को चेतावनी दी कि "यदि नवाब के प्रदेश, आज तक के अपनाये गये सिद्धान्तों से भिन्न किन्हीं अन्य सिद्धान्तों के अनुसार शासित न होंगे और शासन-व्यवस्था का प्रधान ध्येय जनता की समृद्धि न बनाया

जायगा, तो कर्नाटक और तंजौर की रियासतों ने जो दृष्टांत उपस्थित किये हैं, वे अवध-राज पर भी लागू किये जायँगे और इस देश की समस्त व्यवस्था कम्पनी अपने हाथ में ले लेगी तथा नवाव कों राज-वंदी बना दिया जायगा।"

"जनता की समृद्धि" वैंटिक का गढ़ा हुआ एक नया शस्त्र था और क्योंकि जनता समृद्ध है या नहीं, इसका निर्णय 'जनता' को नहीं करना था, अपितु अँगरेजों को करना था; इसलिए अवध को अँगरेजी राज्य में मिला लेना केवल समय की वात ही रह गया। नवाव की नितांत निस्सहाय अवस्था को छोड़कर, कम्पनी को ऐसा कोई भी अधिकार न था, न कानून से और न संधि से ही। इस कमी को लॉर्ड ऑकलैंड ने १८३७ ई० में पूरा करना चाहा, जव नवाव नसीरुद्दीन की मृत्यु वहुत संदेहपूर्ण रूप से हुई। विधवा रानी वादशाह वेगम ने उसके एक पुत्र को गद्दी पर विठाया, परन्तु अँगरेजों ने मुहम्मदअली शाह का पक्ष लिया, क्योंकि उसके नवाव वनने से उनको अवध पर एक नई संधि लादने का सुयोग मिल जाता था। कृतज्ञता के भार से दवा हुआ, मुहम्मदअली शाह कुछ भी अस्वीकार न कर सका; और उसने सितम्वर सन् १८३७ ई० में एक नई संधि पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसके अनुसार कम्पनी को कुशासन की अवस्था में अवध की शासन-व्यवस्था अपने हाथ में ले लेने का अधिकार मिल गया और अवध पर एक नई अँगरेजी सेना थोप दी गई, जिसका व्यय १६ लाख रुपये आता था। परन्तु, कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल ने इस संधि को स्वीकार न किया और लॉर्ड ऑकलैंड को लिख भेजा कि वह इस संधि के रद्द किये जाने की सूचना नवाव को दे दे। ऑकलैंड ने इस वात को छिपा दिया और नवाब को केवल इतनी ही सूचना दी कि उसको इस नई सेना के व्यय-भार से मुक्त किया गया है। ऑकलैंड का यह निंदनीय कृत्य स्पष्ट वता देता है कि कम्पनी का गवर्नर-जनरल नीचता की किस गहराई तक उतर सकता था। डलहौजी के समय तक अवध का नवाव तथा अन्य कुछ लोग यही समझे वैठे थे कि सन् १८३४ की संधि वनी हुई है। जान पड़ता है कि कम्पनी के अध्यक्षों ने भी ऑकलैंड के आचरण को स्वीकृति दे दी थी, क्योंकि जव उनको इस सव की सूचना दी गई तब भी उन्होंने इस पर कोई आक्षेप नहीं किया। इस संधि को सरकारी प्रकाशनों में स्थान मिल गया था और सन् १८४४ ई० में सर हैनरी लॉरेंस ने अवध के विषय में लिखे गये अपने एक लेख में इसका उद्धरण दिया था। १८४७ ई० में लॉर्ड हार्डिंज ने पिछले गवर्नर-जनरल की चेतावनी को फिर दुहराया; यह दुहराना तव तक एक नित्यप्रति का कार्य-क्रम ही वन चुका था, परन्तु इस चेतावनी में ध्यान देने की वात यह है कि इसमें उसने १८३४ ई० की संधि की ओर स्पष्ट संकेत किया था।

१८४८ ई० में डलहौजी रंगमंच पर यह निश्चय लेकर उतरा कि वह मध्यवर्ती सभी रियासतों को मिटा देगा। कम्पनी की नियामक समिति (वोर्ड ऑफ कन्ट्रोल) के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड के रूप में उसे अपनी दखल की नीति का एक उत्साही समर्थक मिल गया। दखल का निश्चय हो जाने पर, कर्नल स्लीमैन और कर्नल आउट्रम ने, जिनको अवध की व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करने के लिए अवध में रेजीडेंट नियुक्त किया गया था, एक वहाना तैयार कर दिया। ऐसे गैर-सरकारी लुटेरों की भी कमी न थी, जिन्होंने कल्पना के वल पर अवध की दशा का वुरा से वुरा चित्र उपस्थित कर दिया। एक ऐसा ही व्यक्ति "एक पूर्वीय नरेश का घरेलू जीवन" ('ए प्राइवेट लाइफ् ऑफ ईस्टर्न किंग') का लेखक था।

सन् १८४६ ई० में दखल की नीति का कट्टर पक्षपाती स्लीमैन रेजीडेंट नियुक्त हुआ। अवध के दखल के लिए पक्के से पक्का मामला खड़ा करने के उत्साह में वह इस सीमा तक वढ़ गया कि उसने उन सब देशद्रोहियों की एक सूची तैयार कर दी जो अवध में ब्रिटिश राज्य चाहते थे। उसकी यह रिपोर्ट १८५१ ई० में प्रकाशित हुई और उसके बाद के रेजीडेंट कर्नल आउट्रम ने १८५४ ई० में इसको फिर दुहराया। ऐसी सामग्री के आधार पर डलहौजी ने वड़े परिश्रम से अपना विवरण-पत्र लिखा। इस विवरण-पत्र में वह यह मानकर चला था कि १८३७ ई० की संधि का अस्तित्व नहीं है और उसने यह सुझाव रखा कि अवध के शासक को अपनी उपाधि तो धारण करने दी जाय, परन्तु अवध का शासन स्थायी रूप से कम्पनी अपने हाथ में ले ले। अवध के नवाव की दृढ़ राजभक्ति का ध्यान रखते हुए, उसने नवाब को जवर्दस्ती पदच्युत कर अवध पर दखल करने का समर्थन न किया। एक वड़ी मजेदार बात यह है कि कर्नल स्लीमैन ने अपनी रिपोर्ट में सन् १८३७ की संधि के अनुसार कार्य करने का समर्थन किया था और यह भी लिखा था कि अवध को वेदखल कर छीन लेने से हमारे भले नाम पर कलंक लगेगा "और यह भला नाम हमारे लिए दर्जनों अवधों से भी मूल्यवान् है।" अवध-नरेश के इस व्यवस्था को अस्वीकार करने की अवस्था में, डलहौजी ने सुझाव दिया कि १८०१ ई० की संधि रद्द कर दी जाय और उसको उसके ही भाग्य पर छोड़ दिया जाय।

डलहौजी की कौंसिल के सदस्य इस योजना पर एकमत नहीं थे। अधिकांश सदस्य इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे और १८०१ ई० की संधि को रद्द करने के उसके सुझाव के विरोध में तो सभी सदस्य एकमत थे। परन्तु इँगलैंड में कम्पनी के अधिकारियों ने इस मामले का निपटारा कर दिया; उन्होंने डलहौजी के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए, अवध को दखल करने का आदेश दिया। संधि का एक मसविदा तैयार किया गया और आउट्रम को आदेश दिया गया कि वह अवध के

प्रमुख व्यक्तियों को अँगरेजों के पक्ष में कर ले। जैसी कि आशा थी, अवध-नरेश ने संधि पर हस्ताक्षर करना अस्वीकार कर दिया। अवध को १३ फरवरी १८५६ की एक घोषणा द्वारा अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया। इस दखल का आधार, डलहौजी ही के शब्दों में, यह बताया गया कि "ब्रिटिश सरकार भगवान् और मनुष्य दोनों की निगाह में अपराधी बन जायगी, यदि यह अपने ही मुख से एक ऐसी शासन-व्यवस्था को और अधिक समय तक चलने देगी, जो लाखों के लिए यातनाओं से भरी हुई है।" इस घोषणा से पहले ही अँगरेजी सेना, अपनी तलवारों से इस दखल के 'न्याय' को सिद्ध करने के लिए, लखनऊ में चक्कर लगा चुकी थी। यह तलवारें चमक भी पड़तीं, परन्तु नवाव वाजिदअली शाह ने अपनी प्रजा को रोक लिया और अपने शासक के सम्मान की रक्षा के लिए लखनऊ में एकत्र हुए अनेकानेक राजाओं तथा ताल्लुकेदारों की क्रुद्ध भावनाओं को शांत कर दिया। वे लाखों सताये हुए लोग, जिनकी यातनाओं पर तरस खाकर अवध को अँगरेजी राज में मिलाने की कृपा की गई थी, अँगरेजों के विरुद्ध शस्त्र लेकर उठ खड़े हुए—इस समस्त कार्यवाही के झूठेपन पर यह एक दु:खपूर्ण टीका है।

उपाधियों और वृत्तियों (पेंशनों) की समाप्ति—वेदखली की नीति की ही एक शाखा के रूप में उपाधियों और वृत्तियों की समाप्ति का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। तर्क यह दिया गया कि उपाधियाँ और वृत्तियाँ व्यक्तिगत होती हैं, और जिसको ये दी जाती हैं उसकी मृत्यु के पश्चात् ये वेदखल हो जाती हैं; उसके उत्तराधिकारियों का इस पर कोई हक नहीं होता और न ब्रिटिश सरकार उनको ये उपाधियाँ और वृत्तियाँ देते रहने के लिए बाध्य ही है।

धोंधूपंत, जो नाना साहव के नाम से प्रसिद्ध है और १८५७ को विप्लव का प्रमुख नेता बना, इस वेदखली की अवसरवादी नीति का पहले-पहल शिकार हुआ। वह भूतपूर्व पेशवा, द्वितीय बाजीराव का दत्तक पुत्र था। हेंस्टिग्ज़ के मराठा-युद्धों के पश्चात् बाज़ीराव को ८ लाख की वार्षिक वृत्ति और कानपुर के समीप बिठूर नगर दिया गया था। १८५२ ई० में वाजीराव का देहांत हो गया और तब नाना साहब ने डलहौजी से प्रार्थना की कि उसको दिवंगत बाजीराव की वृत्ति तथा बिठूर नगर का उत्तराधिकारी मान लिया जाये। डलहौजी आर्थिक लाभ अथवा प्रदेश-प्राप्ति के किसी भी सुयोग को न छोड़ने की नीति का कट्टर पक्षपाती था ही; उसने नाना साहव के अधिकार को अस्वीकार कर दिया। डलहौजी के इस कृत्य से, जिसको सर जॉन के ने 'कठोर', आर्नल्ड ने 'बेदम करनेवाला' कहा है, नाना के मन में जो गाँठ बँध गई, उसका परिणाम कानपुर ने सन् १८५७ ई० में खुली आँखों देखा।

कर्नाटक के नवाब के प्रति व्यवहार—अक्टूबर १८५५ ई० में कर्नाटक का नवाब मुहम्मद गौस, पुत्रहीन दशा में, मर गया। इस्लामी और अँगरेजी दोनों ही विधियों के अनुसार अजीमजाह उसका उत्तराधिकारी ठहरता था और उसने मद्रास के गवर्नर लॉर्ड हैरिस को अपने उत्तराधिकार की स्वीकृति के लिए लिखा।

लॉर्ड हैरिस ने यह तर्क उपस्थित किया कि उपाधियाँ और वृत्तियाँ तो व्यक्तिगत होती हैं और "अधिकार के बिना राज-चिह्न (धारण करना) सत्ता का उपहास है, जो विनाशकारी भी है—कि इस दिखावे को जारी रखना राजनीति के विरुद्ध और बुद्धिहीनता का कार्य है, जो (दिखावा) यद्यपि, राजनीतिक दृष्टि से अहानिकर रहा है, फिर भी, किसी भी समय षड्यन्त्र और आन्दोलन का केन्द्र वन सकता है।"

डलहौजी ने भी हैरिस की वात दुहराई और (कर्नाटक की नवाबी का) यह दिखावा मिटा दिया गया। डलहौजी ने लिखा कि "यह स्वीकार करने में मैं हैरिस से पूर्णतः सहमत हूँ कि १८०१ की सन्धि आनुवंशिक उत्तराधिकार का कोई अधिकार नहीं देती। यह तो पूर्णतः एक व्यक्तिगत सन्धि है।....इस सन्धि के किसी भी भाग में उत्तराधिकारियों का उल्लेख नहीं हुआ है और इसमें स्वयं नवाब अजीमुद्दौला के अतिरिक्त और किसी भी अन्य व्यक्ति को कोई भी वस्तु देना स्वीकार नहीं किया गया है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्नाटक में अँगरेजों की स्थिति नवाब की दी हुई स्वीकृतियों पर टिकी हुई थी और पारिभाषिक दृष्टि से अँगरेज नवाब के 'सामंत' थे। परन्तु अँगरेजों की शक्ति के द्रुत विकास के फलस्वरूप, स्थिति वदल गई और नवाब कानून की दृष्टि से तो नहीं परन्तु वास्तव में अँगरेजों के अधीन हो गया और उसमें इतनी भी शक्ति न रह गई कि वह अँगरेजों द्वारा अपने ऊपर लादी जानेवाली किसी सन्धि का भी विरोध कर सके। १७९२ ई० में कार्नवालिस ने उसके समस्त अधिकार छीन लिये थे और उसके नाम वार्षिक वृत्ति लगा दी थी।

वेलेजली ने टीपू सुल्तान को हराने के बाद, नवाब ओमदुत-अल-ओमरा, जो मुहम्मदअली के वाद उसके पद पर आसीन हुआ था, के विरुद्ध अपनी जालसाजी का हाथ वढ़ाया। वेलेजली ने उस पर टीपू के साथ गुप्त मन्त्रणा करने का अपराध लगाया और इस दोषारोपण का आधार कुछ कागज-पत्रों को बताया जो श्रीरंगपट्टम के पतन के वाद अँगरेजों के हाथ लगे थे। न तो ये कागज-पत्र ही कभी प्रामाणिक सिद्ध हुए और न गुप्त मंत्रणा का अपराध ही कभी सिद्ध हो सका; परन्तु वेलेजली तो नवाब पर एक नई व्यवस्था लादने पर उतारू था और शक्ति उसके हाथ में थी। परन्तु ओमदुत के सौभाग्य से, मृत्यु उसकी सहायता के लिए आ

पहुँची। उसके पुत्र अली ने राजकीय अधिकारों की उस परछाईं से नाता तोड़ने से इनकार कर दिया, जो उसको अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में मिली थी; अत: अँगरेजों ने उसको हटाकर अजीमुद्दौला को नवाव वना दिया। अजीमुद्दौला ने अँगरेजों की इस कृपा का आभार प्रकट करने के लिए सन् १८०१ की संधि स्वीकार कर ली। इस संधि के अनुसार कर्नाटक के राजस्व का ⅘ भाग हमेशा के लिए कम्पनी को सौंप दिया गया और ⅕ भाग नवावी को वनाये रखने के लिए नियत किया गया। इसमें स्वीकार किया गया कि "इस समझौते के दोनों पक्षों का यह उद्देश्य है कि ये उपर्युक्त धन-राशियाँ भविष्य में सदैव ही कर्नाटक के राजस्व से स्थायी कटौती समझी जायँगी।"

यह सन्धि थी जिसको व्यक्तिगत वताकर डलहौजी ने आजिमजाह को दिवंगत मुहम्मद गौस का उत्तराधिकारी मानना अस्वीकार कर दिया। यहाँ किन्हीं प्रदेशों पर अधिकार करने की वात न थी, परन्तु एक वृत्ति के प्रश्न ने ही डलहौजी की लोलुपता को उभाड़ दिया था। उसने बड़े परिश्रम से तर्क जुटाकर, ऐंसे तर्क जो ईमानदारी की अपेक्षा मक्कारी ही प्रकट करते थे, कर्नाटक के नवाव की वृत्ति कम्पनी के कोष में डाल दी और घोषित किया कि पिछले सरकारी कागज-पत्रों में आजिमजाह का मुहम्मद गौस के उत्तराधिकारी के रूप में उल्लेख केवल यही निर्देश करता है कि "ब्रिटिश सरकार की ओर से इस आशा का कि यदि मुहम्मद गौस को कोई संतान न हो पाई, तो वह उसके चाचा आजिमजाह को उसके उत्तराधिकारी के रूप में नवाब बनने देगी। परन्तु कोई आशा या उद्देश्य तक का भी व्यक्त करना किसी के अधिकार को स्वीकार करना या किसी को अधिकार देना नहीं होता।" पिछले उत्तराधिकारों के संवंध में, जो इस वात के प्रमाण थे कि डलहौजी के समय तक कर्नाटक की संधि व्यक्तिगत नहीं मानी गई थी, डलहौजी ने यह घोषित करने की धृष्टता की कि वे उत्तराधिकार तो बपौती सम्पत्ति से किसी प्रकार भी सम्बद्ध न थे। एक दुष्कृत्य को छिपाने के लिए डलहौजी के इन कुतर्कों को देखकर तर्क और न्याय को लज्जा से मुँह छिपा लेना पड़ता है। इस मामले में एक पक्ष का प्रतिनिधि होने पर भी डलहौजी ने न्यायासन ग्रहण किया और उसका निर्णय, यह मानना पड़ेगा, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के प्रागैतिहासिक सिद्धान्त पर आधारित था।

तंजौर के राजा के साथ व्यवहार—डलहौजी ने जो दूसरी बड़ी वृत्ति हड़प की, वह थी तंजौर के राजा की। सन् १८५५ ई० में महाराज शिवाजीराव अपनी विधवा और दो पुत्रियों को छोड़कर मरे। कर्नाटक के नवाब की तरह तंजौर का राजा भी राज्यहीन था। उसको वृत्ति (पेंशन) मिलती थी और कुछ जागीर

मिली हुई थी। शिवाजीराव की मृत्यु हो जाने पर डलहौजी ने यह बताकर कि शिवाजीराव के कोई पुत्र-संतान नहीं है, उसकी पेंशन बन्द कर दी और जागीर छीन ली। तंजौर के राजवंश की परम्परा के अनुसार कन्याएँ भी अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थीं और तंजौर के पाँचवें महाराज के पश्चात् उनकी पुत्री सुजनाबाई को राजपद प्राप्त हुआ था, जो प्रस्तुत मामले में एक स्पष्ट दृष्टान्त था। डलहौजी ने किसी बात पर ध्यान न दिया। यह मामला इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि यह मामला प्रीवी कौंसिल तक पहुँचा था और लॉर्ड किंग्स-डाउन ने इसका निर्णय किया था।

मृत राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई थी; इस पर उसकी विधवा रानी ने मद्रास के उच्च न्यायालय में दावा दायर किया। मद्रास के उच्च न्यायालय ने उसके पक्ष में निर्णय दिया, जिस पर कम्पनी ने प्रीवी कौंसिल में अपील की। प्रीवी कौंसिल ने मद्रास के उच्च न्यायालय का फैसला उलट दिया; इसका आधार दावे का औचित्य नहीं था, अपितु न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र का प्रश्न था। प्रीवी कौंसिल का मत था कि यह जब्ती "राज्य का कृत्य था अतः यह किसी नागरिक न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं था।" परन्तु लॉर्ड किंग्सडाउन को अपने फैसले में लिखना पड़ा कि :

"इन कागज-पत्रों में ईस्ट इंडिया कम्पनी अथवा ग्रेट ब्रिटेन के ताज के पक्ष में कोई ऐसा आधार खोज निकालना अत्यंत कठिन है, (जिसके बल पर) वे इस राज को अथवा राजा की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति के किसी भाग को अधिकृत कर सकें।......(तंजौर का) राजा एक स्वतंत्र शासक था ऐसे प्रदेशों का, जो निस्संदेह अत्यल्प थे और संधियों से बँधा था एक प्रबल पड़ोसी के साथ, जिसने, व्यवहारतः, उसके पास स्वतंत्र आचरण की कुछ भी शक्ति न छोड़ी थी, परन्तु उसे अपने प्रदेश प्राप्त नहीं थे, जैसा कि वस्तुस्थिति थी, ब्रिटिश ताज की अथवा ईस्ट इंडिया कम्पनी की (दी हुई) जागीर के रूप में न इस पर अधिकार करने का कोई ऐसा बहाना विद्यमान दिखाई देता है जिससे राजा के पुत्रहीन मर जाने पर, किसी भी कानूनी उपाधि से, या एक राजसात्करण के रूप में या निपूती सम्पत्ति की जब्ती के रूप में (ब्रिटिश सरकार इस पर अधिकार करती)।"

१८५३ ई० का चार्टर ऐक्ट और १८५४ ई० का भारत-सरकार कानून—कम्पनी द्वारा भारत पर शासन करने की नियम-विरुद्ध पद्धति, काल में प्रवाह के साथ, अपनी समस्त उपयोगिता खो चुकी थी। भारत को ताज के अधीन बनाने की माँग बढ़ती जा रही थी और चीन के व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार निरन्तर आक्षेपों का शिकार बन रहा था। अतः १८५३ ई० का अधिकार-पत्र (चार्टर

ऐक्ट) जनता के शोर-गुल को शांत करने, ताज के अधिकारों को बढ़ाने और इतने पर भी कम्पनी का पर्दा बनाये रखने के उद्देश्य से निर्मित हुआ था।

इस अधिकार-पत्र ने कम्पनी को पुनः जीवन दान दिया, परन्तु "केवल तब तक के लिए जब तक पार्लियामेंट कोई और प्रबन्ध न कर ले।" ताज का प्रभाव बढ़ाने के लिए अध्यक्षों की संख्या २१ से घटाकर १६ की गई, ताज द्वारा मनोनीत सदस्यों की संख्या ६ कर दी गई और भविष्य में केन्द्र अथवा प्रांतों में 'सचिवों' (कौंसेलर्स) की नियुक्ति के लिए ताज की स्वीकृति आवश्यक ठहराई गई।

अध्यक्षों से भारतीय संरक्षण का अधिकार छीन कर उनकी शक्ति और भी कम कर दी गई। सरकारी नौकरियों में पक्षपात रोकने के लिए प्रतियोगिता-मूलक परीक्षाएँ ('कम्पिटीटिव ऐंक्जामिनेशन्स') प्रारम्भ की गईं। इस अधिकार-पत्र ने नियामक-समिति को अधिकार दिया कि वह सार्वजनिक नौकरियों (सिविल सर्विस) के उम्मीदवारों की परीक्षा के नियम बनाये और ताज के सभी स्वभावज ('नैचुरल-बौर्न') प्रजा जनों को इन परीक्षाओं में भाग लेने के लिए योग्य ठहराया गया। परन्तु परीक्षा के नियम इस प्रकार के बनाये गये कि, उनके फलस्वरूप भारतीय इन परीक्षाओं से बहिष्कृत हो जाते थे।

शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र में इस अधिकार-पत्र ने गवर्नर-जनरल की विधि-निर्माण के अधिकारों की सीमा विस्तृत कर दी, कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका से अलग कर दिया और भारतीय व्यवस्थापिका के श्रीगणेश के लिए सामग्री जुटा दी। इस अधिकार-पत्र ने, व्यवस्थापिका के व्यवस्था-निर्माण के प्रत्येक कार्य पर गवर्नर-जनरल की स्वीकृति अनिवार्य बनाकर, उसको निषेधाधिकार (वीटो) की शक्ति से सज्जित कर दिया। अब तक उसको केवल निर्णायक-मत (कास्टिंग वोट) देने का ही अधिकार था और निषेधाधिकार इँगलैंड में कम्पनी के अधिकारियों के हाथ में था। १८३३ ई० के ऐक्ट द्वारा जिस कानूनी सदस्य की नियुक्ति की गई थी, वह अब कौंसिल का एक सामान्य सदस्य बना दिया गया और उसको सभी विषयों पर मत देने का अधिकार दिया गया। विधि-निर्माण के लिए, गवर्नर-जनरल की मंत्रि-परिषद् (कौंसिल) में 'व्यवस्थापक मंत्री' नाम से कुछ सदस्य बढ़ाये गये, जो विभिन्न प्रांतीय प्रधान अधिकारियों द्वारा उन कर्मचारियों में से मनोनीत होते थे, जो दस साल से सार्वजनिक नौकरियों (सिविल सर्विस) पर नियुक्त हों। इसमें गैर-सरकारी लोगों को सम्मिलित करने का अध्यक्ष-मंडल के प्रधान सर चार्ल्स वुड ने प्रबल विरोध किया और यह विचार छोड़ दिया गया।

इस अधिकार-पत्र की अन्य धाराओं ने भारत के शासन-तन्त्र के ढाँचे में परिवर्तन किये। बंगाल के लिए एक अलग गवर्नर या लैफ्टिनेंट गवर्नर नियुक्त किये

जाने और इस पद को गवर्नर-जनरल के पद से अलग करने की व्यवस्था बनाई गई। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह अपनी अनुपस्थिति में मंत्रि-परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करने के लिए एक उप-प्रधान नियुक्त कर सकता है; भारत में ताज की सेनाओं के प्रधान सेनापति को कम्पनी की सेनाओं का प्रधान सेनापति बनाया गया।

१८५३ ई० के इस ऐक्ट के पश्चात् सन् १८५४ का भारत-सरकार-कानून (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट) आ पहुँचा। इसका प्रधान उद्देश्य गवर्नर-जनरल को यह अधिकार सौंपना था कि वह नये प्राप्त किये गये प्रदेशों के शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था करे। इस विधि ने गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया कि वह कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों का अधिकार और व्यवस्था तत्काल अपने हाथ में ले ले और इनकी शासन-व्यवस्था करे। इस अधिकार का उपयोग चीफ कमिश्नरों को नियुक्त करके किया गया, जो सीधे गवर्नर-जनरल के अधीन रखे गये।

१८५३ और १८५४ ई० की इन दोनों विधियों ने भारतीय शासन के ढाँचे में वाहरी परिवर्तन करने के अतिरिक्त, नीति अथवा शासन-व्यवस्था में किसी नये जीवन का संचार न किया। पुराने पड़े हुए सिद्धान्त शासन-तन्त्र के सूत्र बने रहे; फल यह हुआ कि उनसे तत्कालीन भावधाराओं की अपेक्षा उनके निर्माताओं के आदर्श जो साम्राज्य की सुरक्षा और केन्द्रीकरण थे—ही प्रतिफलित होते थे।

डलहौजी के शासन-सम्बन्धी सुधार

केन्द्रीकरण—डलहौजी के सुधारों का प्रधान लक्ष्य था केंद्रीकरण। ये सुधार समस्त शक्ति-तन्तुओं को गवर्नर-जनरल के हाथ में एकत्र करने के लिए बनाये गये थे। डलहौजी के उद्योग से जो विस्तृत प्रदेश अँगरेजी राज में आ गये थे, उनके कारण यह समस्या सर्वप्रमुख बन गई थी कि उन प्रदेशों में पिछली शासन-प्रणाली का स्थान ग्रहण करने के लिए कोई नया ढाँचा खड़ा किया जाये। डलहौजी ने इस समस्या के समाधान के लिए "नियमन-विहीन प्रणाली" ('नॉन रेग्यूलेशन-सिस्टम') बनाई। इस प्रणाली में शासन-प्रबन्ध का अध्यक्ष एक कमिश्नर होता था जो सीधे गवर्नर-जनरल के अधीन होता था। इस प्रणाली का प्रधान उद्देश्य शांति बनाये रखना, राजस्व वसूल करना, और एक पुराने ढंग की फौजदारी न्याय-व्यवस्था चलाना था। यह प्रणाली जनता के कष्टों को दूर करने की सदिच्छा से निर्मित नहीं हुई थी। इसका एकमात्र गुण था कर्मचारियों की बचत। इसमें सैनिक और सार्वजनिक शासन का भेद न था। जिले के अधिकारी में न्याय, पुलिस, कार्यकारिणी और राजस्व इन सभी के अधिकार निहित थे। इस अधि-

कारी की मनमानी रोकने के लिए कोई कानून न था और गवर्नर-जनरल के अतिरिक्त और कोई भी उसकी मन की मौजों को नहीं रोक सकता था। डलहौजी के समर्थकों ने यह कहकर इस व्यवस्था का बचाव किया है कि यह तो एक अस्थायी कामचलाऊ व्यवस्था थी; परन्तु सत्य यह है कि जितने समय तक भी यह व्यवस्था चली, उतने ही दिनों में इसने जनता का नैतिक वल समाप्त कर दिया और बड़े विनाशकारी परिणाम प्रकट किये।

सैनिक और सामरिक महत्त्व के परिवर्तन—देशी रियासतों को अँगरेजी राज्य में मिला लेने और पंजाव को जीत लेने के फलस्वरूप साम्राज्य की बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा की नई-नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं। पुरानी सैनिक-व्यवस्था, जिसके अनुसार सेना वहुत कुछ वंगाल में एकत्र की गई थी, अब समयोचित न रह गई थी, क्योंकि अव राजनीतिक आकर्षण के केन्द्र वंगाल से हटकर मध्य और उत्तर भारत में चला गया था। उत्तर में कम्पनी की राज्य-सीमा अफगानिस्तान की सीमा से जा मिली थी, जिसके आगे रूस की झपटनेवाली शक्ति का प्रदेश था। डलहौजी ने परिवर्तित स्थितियों के अनुकूल वहुत से सैनिक सुधार कार्यान्वित किये और वहुत से ऐसे सुधार प्रस्तावित किये जो भारत की सुरक्षा के लिए नितांत आवश्यक थे। उसने सेनाओं को वंगाल से हटाकर उत्तर की ओर ले जाना शुरू किया और बंगाल आर्टिलरी (तोपखाने) का प्रधान केन्द्र कलकत्ता से हटाकर मेरठ में वना दिया। धीरे-धीरे सेना का प्रधान केन्द्र शिमला वना दिया गया, जहाँ गवर्नर-जनरल और उसकी मंत्रि-परिषद् भी निवास करती थी, जिससे ये निकट सम्पर्क में आ जायँ। नियमित देशी सैनिक दलों से किसी प्रकार के भय की आशंका रोकने के लिए उसने उनको घटाने, अलग-अलग करने और स्थान-स्थान पर बाँटने की नीति ग्रहण की; उसको आशा थी कि थोड़ी संख्या में होने और एक दूसरे से दूर होने से वे परस्पर गुप्त मन्त्रणाएँ न कर सकेंगे। सुरक्षा के एक उपाय के रूप में और भारतीय सैनिक दलों के भयकारी प्रभाव को समाप्त करने के लिए उसने गोरखा रेजीमेंटों का संघटन किया और गोरखों को कम्पनी-सरकार की सेना में भरती होने के लिए प्रोत्साहित किया तथा पंजाब में एक अनियमित सेना (Irregular Force) तैयार की। उसने इँगलैंड के अधिकारियों के समक्ष भारत में अँगरेज सैनिकों की संख्या बढ़ाने का भी प्रस्ताव रखा; परन्तु यूरोप में रूस के साथ इँगलैंड के युद्ध की संभावना के कारण उसका यह प्रस्ताव कार्यान्वित न किया गया। डलहौजी अपने इन सैनिक परिवर्तनों से कभी भी संतुष्ट न हुआ। उसको रात-दिन यही भय सताता रहता था कि देशी सैनिक-दल कहीं षड्यन्त्र रचने की चेष्टा न करें। उसको भय था कि भारतीय साम्राज्य

के लिए अन्तिम युद्ध अभी भी लड़ने को बाकी है। भारत में कम्पनी के सैनिक बल को सुदृढ़ बनाने के लिए उसने अनेक प्रस्ताव उपस्थित किये जो उसके द्वारा प्रस्तुत नौसैनिक विवरण-पत्रों में निबद्ध हैं। डलहौजी के समर्थक इन विवरण-पत्रों को गंभीर, बुद्धिमत्तापूर्ण, अन्तर्दृष्टि और दूरदर्शिता के स्मारक बताते हैं। परन्तु इँगलैंड में अधिकारी-वर्ग का इन विवरण-पत्रों के गुणों के प्रति कुछ दूसरा ही मत था। उन्होंने इनकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया; बाद में डलहौजी के समर्थक हाथ मलते हुए इन अधिकारियों को कोसने लगे कि यदि डलहौजी के ये प्रस्ताव कार्यान्वित कर दिये जाते तो गदर रुक जाता। डलहौजी के इन विवरण-पत्रों का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि इनका सारांश था अँगरेज सैनिकों की संख्या बढ़ाना और देशी सैनिक-दलों को कम करना। डलहौजी की दृष्टि में ब्रिटिश सैनिक-दल "हमारी शक्ति के मूल तत्त्व" थे जिन पर वह "पूर्व में हमारी स्थिति की सुरक्षा एवं सुदृढ़ता" को आधारित समझता था। परन्तु डलहौजी जैसे साम्राज्यवादी और उसके समर्थकों के मन में यह विचार शायद ही कभी आया हो कि केवल पशु-शक्ति के द्वारा ही किसी राष्ट्र की आध्यात्मिक भावनाओं को एक शत्रुपक्षीय शासन के विरुद्ध संघटित होने से रोकना असंभव है। अँगरेज सैनिकों की संख्या में वृद्धि होने से स्वतन्त्रता-प्राप्ति का यह पवित्र उत्साह भले ही दबा दिया गया होता, परन्तु यह सेना इस भावना को नष्ट नहीं कर सकती थी। भय एक भौतिक वस्तु है और यह हमारे अपने ध्येय तक पहुँचने के प्रबल निश्चय के सामने झुक जाता है। डलहौजी के प्रस्ताव यदि कार्यान्वित किये जाते तो संभव था कि १८५७ की घटनाएँ देर से होतीं; परन्तु वे होती ही नहीं, यह असंभव था।

रेलवे और टेलीग्राफ—डलहौजी ने जो रेलवे और टेलीग्राफ व्यवस्था प्रारम्भ की, उसके उल्लेख के बिना उसके सैनिक परिशोधनों का वर्णन अधूरा ही रहेगा। यह व्यवस्था उसके विचार से, सैनिक दृष्टि से, शीघ्र यातायात और समाचार-वहन के लिए तथा व्यापारिक दृष्टि से ब्रिटिश पूँजी की खपत के लिए महत्त्वपूर्ण थी। भारतीयों की आत्मरक्षा की भावना ने इस व्यवस्था को लोहे की बेड़ियाँ समझा। इँगलैंड में अपने अधिकारियों के पास इस व्यवस्था की सिफारिश करते हुए उसने लिखा कि "सम्मान्य अध्यक्ष-मंडल ऐसे कार्यों कोस्वयं अपने हाथ में लेकर, जिस समय और धन की बचत कर पायेंगे, वे इस अवसर पर अँगरेजी पूँजी और कार्य-क्षमता की बहुत बड़ी मात्रा को खपत में भली भाँति व्यय किये जा सकेंगे, जिससे, इन सफल प्रयत्नों के फलस्वरूप, जैसा कि मैं इस रेलवे व्यवस्था को समझता हूँ, इसके बाद भारतीय उपजों और व्यापार के सम्बन्ध में इसी प्रकार की पूँजी और प्रयत्नों को लगाने का प्रोत्साहन मिलेगा।" इन सफल प्रयत्नों में

अँगरेजी निगमों (कॉरपोरेशन्स) को उत्साहित करने के लिए, इनके साथ ठेके किये गये और डलहौजी ने इनको सब प्रकार की सुविधाएँ दीं तथा इनके अपने लाभ के अतिरिक्त, इनको व्याज देने का भी आश्वासन दिया, जिसके लिए सरकार जिम्मेदार हो गई। साम्राज्यवाद के एक औजार के रूप में, सरकारी आश्वासन की यह पद्धति विलक्षण नीतिपूर्ण थी, परन्तु एक व्यापारिक कृत्य के रूप में यह पद्धति कर देनेवाली जनता के साथ एक वहुत वड़ी धोखेवाजी थी। इस व्यवस्था के अनुसार कुछ सामरिक महत्त्व की रेलवे लाइनें बिछाई गईं, जिनके लिए भारत को बड़ी महँगी कीमत चुकानी पड़ी और अँगरेज पूँजीपतियों को आशातीत लाभ हुआ। भारत में रेलवे का विकास मुख्यतः डलहौजी के उन प्रस्तावों के आधार पर हुआ है, जो उसने अपने रेलवे विवरण-पत्र में रखे थे। इस व्यवस्था का महत्त्व भारतीय समाज के उस संघटन से, जो इसके फलस्वरूप हुआ है, या उस विचार-समता से, जो बार-बार मिलने-जुलने से स्वभावतया उत्पन्न हो जाती है, आँकना, इसके अप्रत्यक्ष और अप्रत्याशित परिणामों का आधार लेकर चलना ही होगा।

व्यापारिक सुधार—डलहौजी के व्यापारिक सुधारों का उद्देश्य भारतीय उपज और मंडियों को अँगरेजी पूँजी के शोषण के लिए उन्मुक्त कर देना था। इसमें उसको आशातीत सफलता मिली। उसके ये सुधार वे दरवाजे थे जिनके द्वारा आर्थिक परतंत्रता की बेड़ियों ने प्रवेश कर भारत को जकड़ लिया। ये सुधार एक सैनिक साम्राज्यवाद का आर्थिक साम्राज्यवाद के रूप में विवर्तन प्रतिविम्बित करते हैं। डलहौजी ने स्वतंत्र व्यापार का सिद्धान्त भारत में भी प्रारम्भ किया; यह सिद्धान्त सत्य का आदर्श रूप बताया जाता था और प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में इसके प्रचलन की घोषणा की गई थी। भारत के सभी बंदरगाह उन्मुक्त घोषित किये गये। लाइट हाउसों तथा बंदरगाहों में आवश्यक मरम्मतें की गईं। व्यापारिक माल और पूँजी के स्वतंत्र प्रवाह में बाधक सभी प्रकार की रोक-थामों को हटा दिया गया। परिणाम यह हुआ कि भारत का समस्त तटवर्ती शिल्प अँगरेज पूँजीपतियों के हाथ में आ गया। डलहौजी के व्यापार-वाणिज्य सम्बन्धी सुधारों से भारतीय पूँजी और उद्यम पर, जो अँगरेजी दवाव के कारण पहले से ही क्षीण हो रहे थे, पाला पड़ गया। आगे चलकर इन सुधारों के बहुत गंभीर परिणाम हुए, जिनकी छाप आज भी भारत के चेहरे पर दिखाई देती है; ये हैं—व्यावसायिक निर्धनता, बिलकुल खेती पर निर्भर रहना और असंतुलित आर्थिक व्यवस्था। डलहौजी के एक समर्थक सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर ने उसके वाणिज्य-सम्बन्धी सुधारों की महान् सफलता की प्रशंसा करते हुए जो आँकड़े दिये

हैं, वे भारतीयों की दृष्टि से भारत में आर्थिक शोषण की करुण कथा सुनाते हैं। डलहौजी के इन सुधारों के फलस्वरूप कपास का निर्यात १½ लाख स्टालिंग से बढ़-कर ३½ लाख हो गया, अनाज का निर्यात ८९ लाख स्टालिंग से बढ़कर २९० लाख तक पहुँच गया। व्यापारिक वस्तुओं का कुल निर्यात सन् १८४८ में १३½ लाख स्टालिंग से बढ़कर सन् १८५६ ई० में २३ लाख हो गया था। दूसरी ओर, इसी बीच इँगलैंड में बने हुए माल का आयात १०½ लाख से बढ़कर २५¾ लाख स्टालिंग तक हो गया था।

सार्वजनिक निर्माण-विभाग का संघटन—डलहौजी से पहले सार्वजनिक निर्माण-कार्य सैन्य-समिति के अधीन था; परन्तु यह समिति अपने ही काम के भार से इतनी दबी रहती थी कि सैनिक या नागरिक निर्माण-कार्यों के अतिरिक्त यह और कोई काम न कर पाती थी। डलहौजी समितियों की प्रणाली के बहुत विरुद्ध था और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को ही सफलता का रहस्य समझता था; अतः उसने इस सैन्य-समिति के अधिकारों पर आघात करना प्रारम्भ किया और अंत में इसको तोड़ ही दिया। अध्यक्ष-मंडल के आदेशों के अनुसार प्रत्येक प्रेसीडेंसी में सैन्य-समिति के कार्यों की जाँच करने के लिए एक-एक कमीशन नियुक्त किया गया और इनकी सिफारिश पर सार्वजनिक निर्माण-कार्य सैन्य-समिति से हटा लिये गये और इनके लिए प्रत्येक प्रेसीडेंसी में एक-एक सार्वजनिक निर्माण-विभाग की स्थापना की गई। इस विभाग का प्रधान एक चीफ इंजीनियर होता था, जिसकी सहायता के लिए कार्यवाहक अधिकारी तथा अन्य अधीन कर्मचारी रखे गये; ये सब अधिकारी इँगलैंड से नियुक्त किये गये। इंजीनियरिंग कर्मचारियों की व्यवस्था की गई और रुड़की एवं प्रेसीडेंसियों में इंजीनियरिंग कॉलेजों की स्थापना कर भारतीय नागरिकों में इंजीनियरिंग के प्रति रुचि को प्रोत्साहन दिया गया। इस नये संघटित विभाग ने सड़कें, नहर, पुल बनाने के तथा सार्वजनिक हित के अन्य कार्य अपने हाथ में लिये।

डाक-विभाग का संघटन—डलहौजी ने जिस डाक-विभाग के संघटन की नींव डाली थी, वह अत्यंत दोषपूर्ण था और भ्रष्टाचार के लिए अवसर उपस्थित करता था। डाक-महसूल एक-से न थे; चिट्ठी पानेवाले से डाक-महसूल वसूल किया जाता था; परिणाम यह होता था कि निर्धारित शुल्क से कुछ अधिक दिये बिना वह चिट्ठी नहीं पा सकता था। डलहौजी ने एक जाँच-समिति नियुक्त की, जिसकी सिफारिश पर सारा डाक-विभाग फिर से संघटित किया गया। उसने ½ तोला तक वजन के पत्र के लिए भारत के प्रत्येक भाग में ½ आना महसूल निर्धारित किया, जो चिट्ठी भेजनेवाले से टिकट के रूप में लिया जाने लगा। उसके सुधारों

ने डाकघरों को राजस्व का एक स्रोत वना दिया; ये सुधार उसके शासन-काल की सर्वाधिक स्थायी सफलताएँ थीं।

डलहौजी के शिक्षा-सम्बन्धी सुधार—कम्पनी का अधिकार-पत्र १८३३ ई० में वीस वर्ष के लिए पुनः स्वीकृत किया गया था। जैसे-जैसे इसकी पुनः स्वीकृति का समय समीप आने लगा, कम्पनी के अधिकारी भारतीय जनता की शिक्षा-सम्बन्धी और नैतिक उन्नति की ओर ध्यान देने लगे, क्योंकि अधिकार-पत्र में यह कार्य उनको सौंपे गये थे। उनका यह आकर्षण परमार्थ की भावना का फल न था; वास्तव में वे इँगलैंड की लोक-सभा (हाउस ऑफ् कॉमन्स) के सामने, जिसका उनके प्रति वहुत अच्छा भाव न रह गया था, अपने शासन-प्रवन्ध का एक उज्ज्वल चित्र उपस्थित करना चाहते थे। मैकॉले के समय से शिक्षा की कुछ भी उन्नति न हुई थी और इस पर जो धन-राशि व्यय की गई थी वह नगण्य थी। देशी भाषाओं की शिक्षा के विषय में मैकॉले के विष-वमन के पश्चात् इस ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया था। सरकार द्वारा समर्पित अँगरेजी की शिक्षा भी धनाभाव से निष्प्राण हो रही थी। इस विषय में सरकार की पिछली नीति विफल रही थी और समस्त शिक्षा-व्यवस्था के पुनः संघटन के लिए अनेक प्रकार के अनेक सुझाव दिये जा रहे थे। इसके लिए पार्लियामेंट की एक समिति नियुक्त की गई, जिसकी रिपोर्ट पर, अध्यक्ष-मंडल के तत्कालीन अध्यक्ष, सर चार्ल्स वुड ने, जो बाद में लॉर्ड हैलीफैक्स के नाम से प्रसिद्ध हुआ, शिक्षा-व्यवस्था के सारे ढाँचे का पुनः संघटन करने के लिए एक योजना तैयार की, जो 'वुड का १८५४ का विवरण-पत्र' ('वुड्स डिस्पैच ऑफ् १८५४') के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

१८५४ ई० के इस विवरण-पत्र में लिखा गया कि "महत्त्व के अनेक विषयों में से, शिक्षा की अपेक्षा अन्य किसी भी विषय का अधिक जोरदार अधिकार नहीं है। यह हमारा परम पवित्र कर्तव्य है कि हम, जहाँ तक हमारे लिए संभव हो, भारत के निवासियों को उन विशाल नैतिक और भौतिक वरदानों से मुक्त करने के साधन बनें, जो उपयोगी ज्ञान के प्रसार से प्रवाहित होते हैं।" ये शब्द पौरुष भले ही प्रकट करते हों, पर हैं निरर्थक ही, क्योंकि भारत में इतनी बुरी तरह से और किसी बात की उपेक्षा नहीं की गई, जितनी शिक्षा की। वुड की योजना में, शीर्ष स्थान पर प्रेसीडेंसियों में विश्व-विद्यालय रखे गये, जो शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ न होकर केवल परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ मात्र रखी गईं। इनके नीचे इनसे सम्बद्ध कॉलेज रखे गये। इन कॉलेजों को इंटरमीडियेट से प्रारम्भ कर डिग्री-कक्षाओं तक की शिक्षा सौंपी गई। इन कॉलेजों के नीचे ऐंग्लो वर्नाक्यूलर तथा हाईस्कूलों को रखा गया। इनमें निचले दर्जों में शिक्षा का माध्यम प्रांतीय देशी भाषा रखी गई।

इस प्रकार अँगरेजी तथा प्राच्य भाषाओं के पक्षपातियों का विवाद समाप्त किया गया; शिक्षा की भारतीय-प्रणाली तथा व्यक्तिगत शिक्षा-संस्थाओं को सरकारी सहायता देकर प्रोत्साहित करने का निश्चय किया गया। इस सारी व्यवस्था के निरीक्षण के लिए शिक्षा-विभाग को सुदृढ़ किया गया, जो एक प्रधान संचालक (डाइरेक्टर जनरल) के अधीन था। शिक्षा को पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष बनाने और अँगरेजी एवं देशी भाषाओं के बीच समान रूप प्रद.न करने का निश्चय किया गया।

इस विवरण-पत्र के फलस्वरूप, शिक्षा-विभागों का नये सिरे से संघटन किया गया और १८५७ के ऐक्ट के अनुसार बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। जब दुबारा अँगरेजों का ध्यान भारत में शिक्षा-प्रसार की उन्नति की ओर मुड़ा, तो जान पड़ा कि १८५४ के वुड के विवरण-पत्र के अनुसार जो व्यवस्था प्रारम्भ की गई थी, उससे भी कोई अधिक उन्नति नहीं हो पाई है।

डलहौजी की सफलताएँ—डलहौजी का आठ वर्ष का शासन-काल, जिसके तत्काल पश्चात् और बहुत कुछ जिसके परिणामस्वरूप भारतीय विद्रोह उठ खड़ा हुआ, भारत और इँगलैंड के साथ भारत के सम्बन्धों के इतिहास में एक विशेष परिच्छेद है। अपनी विजयों तथा व्यापारिक सुधारों के कारण डलहौजी अँगरेजी साम्राज्य के महानतम संस्थापकों में से एक है। उसने अलग-अलग छितरे हुए प्रदेशों को एक शासन-सूत्र में बाँधा, साम्राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था की, रेलवे एवं तार की सामरिक दृष्टि से समुचित व्यवस्था कर इस साम्राज्य की युद्ध-शक्ति को सुदृढ़ किया और अंततः भारत की उपज और व्यापार को अँगरेजी पूँजी के लिए उन्मुक्त कर दिया। भारत के लिए तो डलहौजी एक हृदयहीन विजेता ही था, जिसने सिद्धान्तों को अवसरवादिता का दास बना दिया था, भारत के धन के अधिक से अधिक शोषण के लिए योजनाएँ बनाईं और भारत की आर्थिक व्यवस्था को इँगलैंड की व्यावसायिक प्रणाली के अधीन कर दिया।

इस बात को लेकर बहुत वाद-विवाद चलता रहा है कि डलहौजी १८५७ ई० की घटनाओं के लिए कहाँ तक उत्तरदायी था। वास्तव में, डलहौजी न तो १८५७ ई० के विद्रोह के लिए उत्तरदायी था और न वह इसको रोक ही सकता था। यह विद्रोह तो विदेशी शासन के प्रति एक राष्ट्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। डलहौजी का उत्तरदायित्व इतना ही है कि उसने इसके विस्फोट को प्रबल कर दिया। उसकी अनवरत विजयों ने जनता के हृदय में प्रसुप्त स्वातन्त्र्य भावना को चाबुक मार कर जगा दिया और विभिन्न शासन-तन्त्रों के अधीन होने के कारण एक दूसरे से पृथक् जनता को एक शासनसूत्र में बाँधकर एक हो जाने का अवसर दे दिया। प्राचीन राजवंशों पर उसके आघातों ने विद्रोह की लहर उत्पन्न कर दी जो १८५७

ई० में प्रबल वेग के साथ प्रकट हुई। परन्तु उसका उत्तरदायित्व यहीं पर समाप्त हो जाता है; अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि उसने सतह के नीचे सक्रिय विद्रोह की शक्तियों को सतह के ऊपर आने के लिए उभाड़ दिया। यदि डलहौजी को कभी भारत के भाग्य पर शासन करने का अवसर न भी मिला होता, तब भी विद्रोह तो अवश्य ही हुआ होता; अन्तर संभवत: इतना ही होता कि तब इस विद्रोह की तिथि कुछ बाद में पड़ी होती।

पन्द्रहवाँ अध्याय

उत्तर भारत में स्वतंत्रता-संग्राम

१८५७–५८ ई०

विप्लव विषयक रचनाएँ—१८५७-५८ ई० की चिरस्मरर्णाय घटनाओं के समय से, इनके कारणों और परिणामों को लेकर एक विशाल साहित्य बन गया है। इस साहित्य की अधिकांश कृतियाँ अँगरेज इतिहासकारों की कलम से निकली हैं, जिनमें घटनाओं का वर्णन तो विस्तार से किया गया है, परन्तु उनका विन्यास किसी पहले से ही सोचे हुए परिणाम तक पहुँचने के लिए किया गया जान पड़ता है। डलहौजी पर दोषारोपण करना या इन घटनाओं का सारा उत्तरदायित्व उसी पर थोप देना इन सभी रचनाओं का एक सामान्य प्रयत्न है। डलहौजी इन घटनाओं के लिए कहाँ तक उत्तरदायी था, इस पर हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इन घटनाओं का, जो कि 'भारतीय विद्रोह' ('इंडियन-म्यूटिनी'), 'सिपाही युद्ध' ('सिपॉय वार'), 'भारतीय विप्लव' ('इंडियन रिवोल्ट') या 'स्वातन्त्र्य-युद्ध' ('वार ऑफ इंडिपेंडेंस') के विभिन्न नामों से कही गई हैं, निष्पक्ष विवरण अभी तक लिखने को बाकी है; परन्तु ऐसा विवरण प्रस्तुत करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन घटनाओं का कोई भी समसामयिक निष्पक्ष वर्णन नहीं मिलता। इन घटनाओं के जो भारतीय वर्णन बड़ी खोज-बीन के बाद प्राप्त हुए भी हैं, वे बहुत ही कम हैं। यह विद्रोह नर्मदा के उत्तरवर्ती प्रदेश तक ही सीमित था और इस प्रदेश में भी पंजाब तथा देशी रियासतें इससे अलग ही रहीं। बहुत सी बातें थीं जिनके कारण देशी रियासतों ने इन घटनाओं में भाग नहीं लिया और सिक्ख स्वयं अपने देशी बन्धुओं को कुचलने के लिए अँगरेजी सेना में भर्ती हुए। ये बातें कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और इनके कारण इस विद्रोह को 'राष्ट्रीय' नहीं कहा जा सकता।

संग्राम के कारण—जून सन् १७५७ ई० में प्लासी के मैदान में देशद्रोह की घटना के परिणामस्वरूप ब्रिटिश राज के आगमन से लेकर २९ मार्च सन् १८५७ ई० में मंगल पांडे द्वारा अपने सैनिक दल के एडजूटेंट की हत्या कर विद्रोह का झंडा

फहराये जाने तक के बीच ठीक सौ साल का समय बीत चुका था। १८५७ ई० के विप्लव के कारण, सौ सालों के इस ब्रिटिश-शासन से उत्पन्न, असंतोष में ही मिल जाते हैं; चर्बी लगे कारतूस तो असंतोष के इस बारूदखाने में एक चिनगारी के समान थे। जस्टिन मैकार्थी ने अपने ग्रंथ "हिस्ट्री ऑफ अवर टाइम्स" में लिखा है कि "सत्य यह था कि भारतवर्ष के उत्तरीय एवं उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के अधिकतर भागों में देशी जातियों में अँगरेजों की शक्ति के विरुद्ध एक विद्रोह विद्यमान था। ......चर्बी लगे कारतूसों के विषय में झगड़ा तो एक आकस्मिक चिनगारी थी जो तत्काल आग पकड़ लेनेवाली इस (असंतोषरूपी) समस्त सामग्री में जा पड़ी थी......(यह विद्रोह) एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था।" यही सम्मति "मार्च १८५७ से मार्च १८५८ तक––एक वर्ष का युद्ध" ("ए इयर्स कैम्पेन फ्रॉम मार्च १८५७ टु मार्च १८५८") नामक पुस्तक के लेखक मैंडले की भी है। मैंडले लिखता है कि "चर्बी लगे कारतूस केवल मात्र एक दियासलाई थी। जिसने उस बारूद की सुरंग का विस्फोट कर दिया जो अनेक प्रकार के कारणों से बहुत समय से तैयार हो रही थी।" हमारे स्कूलों और कालेजों में अँगरेजों की लिखी हुई भारतीय इतिहास की जो अनेक पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, उनमें चर्बी लगे कारतूसों की घटना को इसलिए महत्त्व दिया गया है कि इन इतिहासकारों का उद्देश्य इस विप्लव की उत्पत्ति को सैनिक असंतोष तथा ब्राह्मणधर्म की कट्टरपंथी मनोवृत्ति के कारण बतलाना और इसका विस्तार-क्षेत्र भारतीय सेना तक सीमित दिखलाना रहा है। 'सिपाही-युद्ध' ('सिपॉय वार') के लेखक ने ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध जो विष-वमन किया है, उसकी समानता मैकाले के उन द्वेषपूर्ण आक्षेपों से ही की जा सकती है जो उसने हिंदू पुराणों और संस्कृति से अनभिज्ञ होते हुए भी, इन पर उछाले हैं। एक ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि कारतूसों में गाय और सुअर दोनों की चर्बी का प्रयोग होने के कारण, इनसे हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के मानने-वाले सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को चोट लगी थी, परन्तु इन इतिहासकारों ने इस विप्लव का कारण बताकर उग्र आक्षेप करने के लिए ब्राह्मण-धर्म को ही छाँट लिया है। कुछ इतिहासकार तो यहाँ तक बढ़ गये हैं कि वे इन कारतूसों में सुअर की चर्बी के प्रयोग की बात, जो मुसलमानों के लिए आक्षेप की वस्तु है, छिपा गये हैं और कुछ ने जान-बूझकर इस सत्य का उल्लेख ही नहीं किया कि गाय की चर्बी का प्रयोग हिन्दू-सिपाहियों को बड़ी सफाई से अपने धर्म से च्युत करने का एक प्रयत्न था। इस विप्लव के कारणों में चर्बी लगे कारतूसों का क्या स्थान है, इसका विवेचन यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि यही एक मात्र कारण नहीं था और न यह विप्लव का प्रबलतम कारण ही था।

१८५७-५८ ई० का विप्लव राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक धार्मिक असंतोष की सम्मिलित उपज था। यह एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था, जिसका उद्देश्य अँगरेजों की पराधीनता से मुक्ति पाना तथा बादशाह बहादुरशाह के अधीन मुगल-साम्राज्य की पुनः स्थापना। ये दो बातें थीं; यद्यपि सर्वसामान्य का दूसरी बात पर इतना अधिक ध्यान नहीं था जितना पहली पर।

राजनीतिक कारण—विदेशी शासन से मुक्ति पाने की प्रबल इच्छा प्रत्येक देश और काल में सभी सभ्य जातियों में रही है। भारतवासी भी इसके अपवाद न थे, यद्यपि भारतीय इतिहास को ऊपर-ऊपर से पढ़ने से वस्तुस्थिति इसके विपरीत ही जान पड़ती है। भारतीय इतिहास के तथ्यों को राजनीति के पाश्चात्य आदर्शों की दृष्टि से देखने के फलस्वरूप भारतीय इतिहास में बहुत गड़बड़ी पैदा हो गई है और भारतीय इतिहास के प्रति भ्रान्त धारणाओं के कारण बड़े गलत निष्कर्ष निकाले गये हैं। भारत को, परस्पर-विरोधी जातियों और सम्प्रदायों का देश बताकर, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों के अनुसार "राष्ट्र" शब्द से अभिहित किये जाने के और भारतवासियों को एक "जाति" ('प्यूपल्') कहे जाने के अयोग्य बताया गया है। गंगा के तटों पर बंगाल, मद्रास, बम्बई, पंजाब और नैपाल तक के लोगों का जो समागम देखने को मिलता है और इन लोगों के मुख पर जो आध्यात्मिक उत्साह की समरूपात्मक झलक दिखाई देती है, वह जिस 'एकता' को प्रकट करती है उसको व्यक्त करने के लिए पाश्चात्य राजनीतिक शब्दकोष के पास कोई भी शब्द नहीं है। "राष्ट्र" या "जाति" कहलाने के लिए किसी एक सर्वसामान्य राजनीतिक संघटन का होना अनिवार्य है या नहीं यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण हम इस प्रश्न पर विस्तृत विवेचन नहीं कर सकते। इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि भारत सन् १८५७-५८ ई० में सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बँधा हुआ देश था; व्यवहार में अँगरेज सार्वभौम-शक्ति बन गये थे, परन्तु सिद्धान्त में बहादुरशाह बादशाह था। यह एक महत्त्व-पूर्ण बात है कि देश में या दिल्ली-दरबार में—कहीं भी चाहे जो भी दल या व्यक्ति सत्ताधारी रहा हो, चाहे वह आसफजाह रहा हो या मराठे या अवध का नवाब वजीर, या अँगरेज, परन्तु मुगल-बादशाह के सैद्धान्तिक प्रभुत्व को ठुकराने का साहस अब तक किसी ने भी न किया था। अँगरेजों ने अपने राज्य-विस्तार के लिए खुल्लमखुल्ला प्रयत्न करते हुए भी और यहाँ तक कि अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर भी अपने आप को हमेशा मुगल-बादशाह के अधीन बताते रहने का अत्यधिक ध्यान रखा था। कम्पनी की मोहर पर जो वाक्य खुदे थे, वे गवर्नर-जनरल को मुगल-बादशाह का सेवक प्रकट करते थे। दिल्ली-दरबार में जो

भी अँगरेज अधिकारी आता था, यहाँ तक कि गवर्नर-जनरल भी यदि दरबार में जाता था तो वह भी, सिंहासन के सामने आदरपूर्वक झुक कर अपनी अधीनता प्रकट करता था और बादशाह को "नजरें" भेंट करता था, जिनका स्पष्टतया यही अर्थ होता था कि वह बादशाह के अधीन है। सन् १७७८ से लेकर १८३५ ई० तक कम्पनी के सिक्के बादशाह आलम के नाम पर चलते थे। जब जनरल लेक ने दिल्ली पर अधिकार किया तब भी दिल्ली के रेजीडेंट को यही आदेश मिला था कि वह "हिन्दुस्तान के बादशाहों के प्रति उचित समझी जानेवाली" अदब (सम्मान) की सभी रस्में निभाये। वेलेजली ने शाह आलम को यह विश्वास दिलाने में बड़ी उत्सुकता प्रकट की थी कि सिन्धिया का पराभव करने में कम्पनी का यह उद्देश्य बिलकुल नहीं है कि वह "सार्वभौम प्रभुत्व के उन बाहरी रूपों में से किसी को भी समाप्त करे या किसी का भी विरोध करे, बादशाह सलामत जिनके अभ्यस्त हैं। हिज़ एक्सलैंसी (वेलेजली) बादशाह सलामत (हिज़मैजेस्टी) को अपने सभी सामान्य विशेषाधिकारों तथा निषेधाधिकारों के निर्बाध उपभोग के लिए स्वतन्त्र छोड़ देने के इच्छुक हैं।" अँगरेजों के इस व्यवहार में परिवर्तन के स्पष्ट दर्शन लॉर्ड मॉयरा के समय में हुए। गवर्नर-जनरल मॉयरा के कार्य-काल में मराठा शक्ति का पूर्ण पराभव हो चुका था और अँगरेजों का भारत में निर्विरोध राजनीतिक प्रभुत्व जम चुका था। अब कोई ऐसी राज्य-शक्ति तो रह नहीं गई थी, जिससे मुगल बादशाह को सहायता मिल सकती; अतः लॉर्ड मॉयरा ने कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल को "मुगल सरकार के स्वाँग को समाप्त कर देने के औचित्य (और सचमुच में आवश्यकता)" के विषय में लिख भेजा। धीरे धीरे मुगल बादशाह को 'नजरें' देना और उसके प्रति अधीनता व्यक्त करनेवाली रस्में अदा करना बंद किया जाने लगा। परन्तु अँगरेजों की इन हरकतों का जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। इनसे स्पष्ट हो रहा था कि अँगरेज अब मुगल बादशाह के सेवक नहीं रह गये हैं, अपितु उसको भी अपने अधीन बनाकर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। उधर मुगल बादशाह, व्यक्तिगत रूप से जितना भी असहाय रहा हो, परन्तु उसका पद अब भी जनता की श्रद्धा का विषय बना हुआ था। बादशाह के प्रति अँगरेजों का व्यवहार जैसे-जैसे सम्मानरहित होता जा रहा था, वैसे वैसे जनता के मन में अँगरेजों के प्रति द्वेषभाव भी उग्र रूप धारण करता जा रहा था। बादशाह से उसका महल, किला और उसकी उपाधियाँ छीन लेने की एलेनबरो और डलहौजी की योजनाओं से अँगरेजों के प्रति जनता का क्रोध और घृणा उग्र हो गये और बादशाह के प्रति उनके मन में श्रद्धा का भाव बढ़ने लगा। अँगरेज तो अपनी स्थिति दृढ़ बना ही चुके थे; अतः उनकी धृष्टता दिन-प्रतिदिन

बढ़ती ही जा रही थी, जिससे उनके प्रति जनता की घृणा उग्रतर होती जा रही थी। परन्तु अँगरेजों के पास जनता की भावनाओं से परिचय पाने का साधन ही क्या था, यह घृणा विप्लव के रूप में फूट पड़ी।

इसी प्रकार अवध के नवाब और झाँसी की रानी के प्रति अँगरेजों के दुर्व्यवहार ने उनकी प्रजा के मन में अँगरेजों के लिए घृणा उत्पन्न कर दी। विप्लव के समय में अवध की जनता अपने नवाब के झंडे के नीचे एकत्र हुई और उन्होंने नवाब को अपना नेता घोषित किया; अँगरेजों ने नवाब पर कुशासन का जो आरोप लगाया था, उसका यह कितना उपयुक्त उत्तर था! डलहौजी ने राजपरिवारों को अपदस्थ कर जो सामाजिक और आर्थिक गड़बड़ पैदा कर दी, वह भी राजनीतिक असंतोष में परिणत होकर विप्लव के रूप में प्रकट हुई। देशी रियासतों के विलीनीकरण की आलोचना करते हुए लुडलो ने अपनी पुस्तक "थाट्स ऑन दि पॉलिसी ऑफ दि क्राउन" ('ताज की नीति पर विचार') में लिखा है—

"निश्चय ही भारत के निवासी मनुष्यों के निचले दर्जे के ही होते, यदि ऐसी परिस्थितियों में उनकी भावनाएँ विलीनीकरण के शिकारों के पक्ष में और (रियासतों को) विलीन करनेवाली शक्ति के विरुद्ध जाग्रत न हो जातीं। निश्चय ही भारत में कोई भी ऐसी स्त्री न थी जिसको ऐसे विलीनीकरण के कृत्य हमारा शत्रु न बना देते, कोई ऐसा बच्चा न था जिसको ये (विलीनीकरण) फिरंगी शासन से घृणा करने की शिक्षा न दे देते।"

आर्थिक कारण—अँगरेजों के आने से पहले दिल्ली में साम्राज्यों के उत्थान-पतन का जनता के आर्थिक संघटन और जीवन पर कोई भी प्रभाव न पड़ता था। कारण यह था कि देश का धन देश में ही रहता था और दिल्ली में चाहे जिस राज-शक्ति का शासन हो, उसकी सहानुभूति भारत की सीमा से बाहर न होती थी। परन्तु अँगरेजों के साथ तो बात ही दूसरी थी। भारत में सार्वभौम सत्ता हो जाने पर भी कम्पनी सरकार इँगलैंड के क्राउन (ताज) के अधीन थी और उसकी आर्थिक नीति इँगलैंड के हितों के अनुसार निर्धारित होती थी। इस प्रकार भारत का धन देश के बाहर जाने लगा। भारत की आर्थिक व्यवस्था उद्योगपति इँगलैंड की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाई जाने लगी। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई, उससे इँगलैंड एक व्यापारिक देश-मात्र न रहकर संसार का उत्पादन केन्द्र बन गया। अब इँगलैंड की सबसे बड़ी आवश्यकता यह हो गई कि कारखानों के लिए कच्चा माल जुटाया जाये और तैयार माल के लिए मंडियाँ ढूँढ़ी जायँ। भारत में अँगरेजों की अर्थ-नीति का उद्देश्य इन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करना था। अँगरेजों की प्रतिस्पर्धा और उदासीनता के कारण भारत के

अपने उद्योग, जो कभी संसार भर में प्रसिद्ध थे, समाप्त होने लगे। कृषि पर बोझ बढ़ गया और भारत कच्चे माल का निर्यात तथा तैयार माल का आयात करने-वाला देश बन गया। भारत में अँगरेजी पूँजी बढ़ने लगी जो यहाँ से व्याज और लाभ दोनों के रूप में धन खींच ले जाने लगी; इसका परिणाम भारत के लिए बड़ा घातक हुआ। भारत इँगलैंड का पेट भरनेवाली एक दुधारू गाय बन गया और स्वयं इसकी सन्तान अपर्याप्त पारिश्रमिक के कारण भूखों मरने लगी।

जागीरों और माफीदारों को सोचे-समझे बिना छीन लेने और जागीरदारों एवं ताल्लुकेदारों जैसे भूमिपतियों को समाप्त कर देने के बहुत गहरे आर्थिक और सामाजिक परिणाम हुए। जनता ने धनी परिवारों को भिखारी बनाये जाते हुए देखा तो उनका मन क्रोध और आतंक से भर उठा। भूमिपति अभिजात-वर्ग की उत्पत्ति चाहे जिस भी रूप में हुई हो, उसका तत्कालीन समाज में एक अपना ही स्थान था। जनता में उनकी पैठ थी और उनके विनाश से अनेक हृदयों में असंतोष जाग उठा। ये लोग विप्लव के नेता और असंतोष एवं झगड़ों के केन्द्र बन गये।

सामाजिक, आर्थिक ढाँचे की यह बरबादी प्रत्येक विलीनीकरण के साथ-साथ फैलती गई। मद्रास कौंसिल के एक सदस्य जॉन सुलवाँ ने अपनी पुस्तक "ए प्ली फार दि प्रिंसेज आफ इण्डिया" ("भारत के राजाओं के पक्ष में एक दलील") में लिखा है कि "एक देशी रियासत की समाप्ति पर, एक अँगरेज, 'कमिश्नर' के नाम से, (उस रियासत के) शासक का स्थान ग्रहण कर लेता है, उसके तीन या चार सहायक देशी अधिकारी वर्ग के एक दर्जन लोगों को अपदस्थ कर देते हैं, जब कि हमारे कुछ सैकड़े सिपाही उन कई हजारों का स्थान ले लेते हैं, जिनका प्रत्येक देशी सरदार भरण-पोषण करता है। (रियासत का) छोटा-सा न्यायालय लुप्त हो जाता है, व्यापार ढीला पड़ जाता है, राजधानी विनष्ट हो जाती है, जनता धन-हीन हो जाती है, अँगरेज फलने-फूलने लगता है, और गंगा के तट से धन सोखकर टेम्स के तट पर इस धन को निचोड़ते हुए, एक स्पंज के समान काम करने लगता है।" इस प्रक्रिया ने भारतवासियों के अर्थ और अभिमान दोनों का घात किया और उनके हृदयों में अँगरेजों के प्रति तीव्र असंतोष की जड़ें खूब गहरी जमा दीं।

सामाजिक-धार्मिक कारण—हिन्दू समाज, संसार की किसी भी अन्य सामाजिक व्यवस्था से भिन्न, 'धर्म' पर आधारित एक सामाजिक धार्मिक संस्था है। इसके दाय-भाग (इन्हैरिटैंस), विवाह और उत्तराधिकार के नियम, किसी व्यवस्थापिका सभा के निर्णय पर आधारित नहीं हैं, अपितु इनका आधार है धार्मिक आदेश; इसलिए इन नियमों में परिवर्तन करने की चेष्टा धर्म पर आघात करता प्रतीत होता है। हिन्दू के लिए धर्म से बढ़कर प्रिय वस्तु और कोई नहीं है। जन्म

से लेकर मृत्यु पर्यंत उसका जीवन धार्मिक संस्कारों से नियन्त्रित एवं परिष्कृत होता है। उसके जीवन का एकमात्र ध्येय जन्म-मरण और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पाना है। वर्तमान की, जो कि भूतकाल के कर्मों का फल है, चिन्ता न करते हुए वह भविष्य को सुधारने का निरन्तर प्रयत्न करता है और अपने ध्येय की पूर्ति के लिए वह धार्मिक जीवन यापन करता है।

भारतीय दर्शन के प्रति अपने अज्ञान से विमोहित अँगरेजों ने दाय-भाग, विवाह और उत्तराधिकार की पाश्चात्य धारणाओं को भारत में भी प्रचारित करने का प्रयत्न जाने या अनजाने करके हिन्दू-जीवन के सबसे भावप्रवण भाग को कुचलना प्रारम्भ किया। मैल्कॉम ल्युइन ने **"इंडियन रिवोल्ट"** ("भारतीय विप्लव") नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि "हम (अँगरेज और भारतीय) एक दूसरे से अपरिचित हैं, समाज के सदस्यों के रूप में, हमारा पारस्परिक सम्पर्क स्पार्टावासियों और हैलटों जैसा है। जीवन को वाञ्छनीय वना देनेवाली प्रत्येक वस्तु को छीनकर हमने इस देश के लोगों को उन सभी वस्तुओं से हीन कर दिया है जो उन्हें समाज में ऊँचा उठा सकतीं, जो उनको मनुष्य के रूप में उन्नत वना सकतीं; हमने उनकी जाति को अपमानित किया है, हमने उनके दाय-भाग के नियमों को भंग किया है; हमने उनकी विवाह-सम्वन्धी प्रथाओं को बदला है, हमने उनके धर्म के पवित्रतम संस्कारों की अवहेलना की है; हमने उनके देवालयों की सम्पत्ति को हड़प लिया है; हमने उनको सरकारी कागज-पत्रों में 'धर्म-हीन' (हीदन) कहकर लांछित किया है; हमने उनके देशी राजाओं की सम्पत्ति छीनी है और उनके अमीरों की जागीरों को हड़पा है; हमने अपनी वसूलियों से देश को अस्त-व्यस्त किया है और कठोर यातनाएँ देकर लगान वसूल किया है, हमने संसार के प्राचीनतम अभिजात-वर्ग को उखाड़ने और उसको अतिशूद्रों की स्थिति में धकेलने की चेष्टा की है।"

जनता को गिराने की जिन चेष्टाओं का मैल्कम ल्युइन ने उल्लेख किया है, वे एक सुनिश्चित योजना का परिणाम थीं। (सभी साम्राज्यवादी सत्ताओं का यह एक सामान्य विश्वास रहा है कि विजित जाति को गिराना, उसकी सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देना, उसको अपना पिछला इतिहास भुला देना, उसको धनहीन वना देना और उसको विजेता का धर्म ग्रहण करने के लिए ललचाना, अपने साम्राज्य की सुदृढ़ता के कोरी सैनिक-शक्ति से कहीं बढ़कर विश्वसनीय अवलम्वन हैं। परन्तु भारतीय समाज पर प्रयोग किये जाने पर यह नीति उल्टी अपने प्रयोक्ताओं के माथे पर ही आकर गिरी। इसने भारतीय जनता को जगा दिया, उसको उसके गौरवपूर्ण इतिहास का स्मरण करा दिया और विप्लव के विभिन्न कारणों को संघटित कर दिया।

धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न—भारतीय जनता को ईसाई धर्म में दीक्षित करने के अँगरेजों के प्रयत्न उतने ही सुनियोजित और दृढ़ थे, जितने कि राज्य-विस्तार के। धर्म-परिवर्तन के इन प्रयत्नों के विषय में अधिक जानकारी इसलिए नहीं मिलती, कि एक तो इनके विषय में बहुत कम लिखा गया है और दूसरे सैनिक प्रयाणों तथा राज-वंशों के पतनों के दृश्यों की तुलना में ये वहुत ही कम ध्यान आकर्षित करने-वाले थे। अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से हिन्दू-धर्म की एक बहुत बड़ी भिन्नता इस वात में है कि यह धर्म-परिवर्तन (कन्वर्शन) से सर्वथा अनभिज्ञ है। जो जन्म से हिन्दू नहीं है, वह हिन्दू वन ही नहीं सकता। भारत में सबसे पहले पुर्तगालियों ने राजनीतिक उद्देश्य से धर्म-परिवर्तन प्रारम्भ किया था और इस विषय के प्रारम्भिक पाठ अँगरेजों ने उन्हीं से सीखे थे। परन्तु अँगरेजों ने इस कार्य को सरकार से असम्वद्ध रखने और गैर सरकारी मिशनरियों तथा व्यक्तियों के कार्य बता कर छिपाने की सावधानी बरती थी। कम्पनी-सरकार अँगरेज पादरियों और मिशनरियों को वड़े-वड़े वेतन तथा जागीरें देकर पालती थी। ईसाई हो जानेवालों को सरकारी नौकरियाँ आसानी से मिल जाती थीं। मिशन-स्कूलों को सहायता दी जाती थी; हिन्दू और मुसलमान धर्मों पर मिशनरियों के विषाक्त प्रहारों और ईसाई-धर्म को ही एकमात्र सच्चा धर्म वताने के उनके उग्र प्रयत्नों की ओर से सरकार आँखें वंद कर लेती थी। भारत में अँगरेजों की धार्मिक नीति दोमुँही थी; एक तो इसका उद्देश्य था, धर्म-निरपेक्ष (सैक्यूलर) सरकार होने के बहाने, जनता के धर्म की शिक्षा देनेवाले भारतीय विद्यालयों को सहायता न देकर और सरकारी स्कूलों में जनता के धर्म की शिक्षा न देकर, जनता के धर्म को समाप्त कर देना। इसका लक्ष्य था ईसा मसीह के आदेशों का प्रसार करना और भारतीयों को ईसाई वनाना। अँगरेज मिशनरियों को अपने इस घृणित कार्य के लिए सेनाएँ अच्छा स्थान जान पड़ीं। यहाँ उन्हें अपने धर्म-प्रचार के लिए एक जमी-जमाई सभा मिल जाती थी। एडवर्ड स्टैनफोर्ड द्वारा प्रकाशित **"दि कॉजेज ऑफ दि इण्डियन रिवोल्ट बाइ ए हिन्दू ऑफ बंगाल"** ("बंगाल के हिंदू द्वारा भारतीय विप्लव के कारण") नामक पुस्तक में हमें यह महत्त्वपूर्ण उद्धरण मिलता है; "इस वर्ष (१८५७ ई०) के प्रारम्भ में, भारतीय सेना के अनेकानेक कर्नल सेना को ईसाई बनाने जैसे राक्षसी और दुस्साध्य कार्य में निरत पकड़े गये। बाद में यह ज्ञात हुआ कि ये सज्जन सेना में आजीविका के उद्देश्य से प्रविष्ट नहीं हुए थे, वरन् पूर्णतः (सेना का) धर्म-परिवर्तन कराने के उद्देश्य से ही। (इस कार्य के लिए) विशेषकर सेना को ही छाँटा गया, क्योंकि शांति के समय इसमें सैनिकों और सेनानायकों को अधिकतम अवकाश मिल जाता है। और क्योंकि सेना में धर्महीन (हीदन्स) लोग,

गाँव-गाँव भटकते फिरने का कष्ट उठाये बिना ही, अत्यधिक संख्या में मिल जाते हैं......वे (ईसाई प्रचारक) हिन्दू और मुसलमान पदाधिकारियों एवं सैनिकों में धर्मोपदेश करने और प्रचार-पत्र (ट्रैक्ट्स) एवं अनुवाद बाँटने लगे। प्रारम्भ में तो उनके कार्यों को सहन किया जाता रहा, कभी घृणा के साथ और कभी उदासीनतापूर्वक; परन्तु जब यह कार्यक्रम चलता ही रहा, जब दिन-प्रतिदिन ईसाई बनाने के प्रयत्न अधिक गम्भीर और कष्टदायक होने लगे तो दोनों धर्मों के अनुयायी (हिन्दू और मुसलमान) सिपाही चौंक उठे।...... इस बीच ये विचित्र सैनिक-अधिकारी भी, जो 'मिशनरी कर्नल' और 'पादरी लैफ्टिनेंट' कहलाते थे, निष्क्रिय नहीं थे। सिपाहियों की सहनशीलता से बल पाकर ये लोग पहले से कहीं अधिक उग्र बन गये। हिन्दू और मुसलमान धर्मों पर कटाक्ष करने में इनकी आवाज और ऊँची होने लगी। (ईसाई-धर्म में) विश्वास न रखनेवाले (हिन्दू और मुसलमानों को) अपने तैंतीस करोड़ घृणित देवताओं को छोड़कर, इनके स्थान पर खुदा के बेटे ईसा मसीह के रूप में सच्चे प्रभु की उपासना ग्रहण करने की इनकी प्रेरणाओं में गर्मी आने लगी, (और ये कहने लगे कि) मुहम्मद और राम, जिनको तुम आज तक सच्चा प्रभु मानते रहे हो, वास्तव में उच्च कोटि के छद्मवेशधारी और अनैतिक कुकर्मी हैं। धीरे-धीरे ये (ईसाई-धर्म के) प्रचारक कर्नल लोग घूस-रिश्वत से सिपाहियों को ईसाई-धर्म की ओर ललचाने लगे और ईसाई-धर्म ग्रहण करनेवालों को पदोन्नति एवं अन्य पुरस्कार देने लगे। इस अपवित्र कार्य में वे निर्लज्ज भाव से पदाधिकारियों के रूप में अपने प्रभाव का उपयोग करने लगे। सिपाही लोग विरोध करते और उनके अधिकारी अपना धर्म छोड़ने-वाले प्रत्येक सिपाही को हवलदार, प्रत्येक हवलदार को सूबेदार, मेजर इत्यादि बनाने का वचन देते। परिणाम हुआ महान् असंतोष।"

ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल के चेयरमैन मि० मैंगल्स ने एक बार लोकसभा (हाउस ऑफ् कॉमन्स) में कहा था कि "विधाता ने इँगलैंड को हिन्दुस्तान का विस्तृत साम्राज्य इसलिए सौंपा है जिससे क्राइस्ट का झंडा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक विजय-दर्प के साथ लहरा सके। प्रत्येक को (इस कार्य में) अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए, जिससे समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान् कार्य में किसी भी प्रकार से शिथिलता न आने पाये।"

इसी आशय को लेकर रेवरेंड (आदरणीय) केनेडी महोदय ने भी लिखा था कि "हम पर चाहे जो भी दुर्भाग्य टूट पड़ें, जब तक भारत में हमारा साम्राज्य बना हुआ है, तब तक हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारा प्रधान उद्देश्य ईसाई-धर्म का प्रचार करना है; जब तक हिन्दुस्तान कुमारी अन्तरीप से हिमालय तक क्राइस्ट के धर्म को

ग्रहण नहीं कर लेता, और जब तक यह हिन्दू एवं मुसलमान धर्मों को तिरस्कृत नहीं कर देता तब तक हमारे प्रयत्न दृढ़तापूर्वक जारी रहने चाहिए। इस कार्य के लिए हम जितने भी उद्योग कर सकते हैं, हमें करने चाहिए और हमारे हाथों में जितनी भी शक्ति और अधिकार हैं, हमें उनका उपयोग करना चाहिए।"

सहिष्णुता के घर, भारत को ईसाई-धर्म के प्रचार से इतनी चिढ़ न थी जितनी इस प्रचार की विधियों से। अँगरेज पादरी, जन-समूहों के समक्ष भाषण करते हुए गला फाड़-फाड़कर हिन्दू और मुसलमान धर्मों की निंदा करते थे और अँगरेज सरकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनता के धार्मिक विधि-विधानों में हस्तक्षेप कर रही थी। धार्मिक अनुदानों और जागीरों को सरासर गैरकानूनी ढंग से, बिना किसी सोच-विचार के, छीन लिया गया था। दत्तक पुत्रों के उत्तराधिकार को अस्वीकार कर डलहौजी ने असंतोष की भड़कती हुई आग में ईंधन झोंक दिया था। हिन्दू के लिए तो पुत्र-प्राप्ति एक आध्यात्मिक आवश्यकता होती है; और धर्म-शास्त्र औरस एवं दत्तक पुत्र में इसीलिए कोई भेद नहीं करते क्योंकि दोनों प्रकार के पुत्र ही मृत पिता के और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न करने के पूर्ण अधिकारी होते हैं। डलहौजी की 'वेदखली की नीति' ('डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स') ने उन लोगों के लिए मानो स्वर्ग का द्वार बन्द कर दिया, जिनके औरस पुत्र नहीं थे क्योंकि इस नीति ने दत्तक पुत्र ग्रहण करने के अधिकार को अमान्य कर दिया था। दत्तक और औरस पुत्र में डलहौजी ने जो यह भेद कर दिया था कि दत्तक पुत्र अपने पिता की व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता और उसकी गद्दी पर नहीं बैठ सकता, उसे जनता स्वीकार न कर सकी क्योंकि उसके धर्मशास्त्र ऐसा कोई भेद नहीं करते थे।

बंगाल की सेना में असंतोष—अँगरेज सैनिकों की कमी के कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी को अपनी सेना में हिन्दुस्तानी लोग भर्ती करने पड़े थे। पुर्तगालियों द्वारा प्रारम्भ की हुई इस प्रथा को, अँगरेजों ने खूब विकसित किया। अँगरेज सेना-पतियों द्वारा शासित हिन्दुस्तानी सैनिक टुकड़ियाँ (रेजीमेंट) कम्पनी की सैनिक शक्ति की रीढ़ बन गईं; इसलिए इस कथन में बहुत सत्य है कि हिन्दुस्तानियों ने अँगरेजों के लिए भारत को विजय किया। हिन्दुस्तानी लोग अँगरेजों की सेना में क्यों भर्ती होते थे और क्यों अपने ही देशवासियों के विरुद्ध लड़ते थे, इसके अनेक कारण हैं; परन्तु इनमें सर्वप्रमुख कारण हैं भर्ती होनेवाले लोगों में राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना का अभाव और घृणित धन-लोलुपता।

कम्पनी का सैनिक संघटन एक राजनीतिक ढाँचे के समान था। कम्पनी की तीन प्रधान सेनाएँ थीं जो बंगाल, बम्बई और मद्रास इन तीन प्रेसिडेंसियों के अनु-रूप बँटी थीं। इनमें से बंगाल की सेना निपुणतम थी। इसके सैनिक प्रधानतः

ऊँची जातियों—उत्तरी प्रांतों के ब्राह्मणों और क्षत्रियों—में से भर्ती किये गये थे; यही सेना थी जिसने १८५७-५८ ई० के विप्लव में प्रमुख भाग लिया। बंगाल की सेना में उच्च-वर्ग के हिन्दुओं का दृढ़ भ्रातृभाव विद्यमान था; जनता के असंतोष में ये सैनिक पूर्णतः हिस्सा बँटा रहे थे, क्योंकि इनके सम्बन्धी और परिजन जनता के बीच ही तो रहते थे। अवध को बेदखल होता देखकर, अँगरेजों के प्रति दृढ़तम भक्तिभाव रखनेवालों का भक्तिभाव भी डगमगा उठा, क्योंकि कम्पनी के प्रति नवाब की वफादारी में कभी किसी ने भी संदेह न किया था। अँगरेजों के स्वागत-सत्कार में नवाब अपने साधनों से भी बाहर चला गया था; अँगरेजों के लिए उसका कोष हमेशा खुला रहता था; इतने पर भी वह अँगरेजों द्वारा सिंहासन-च्युत किया गया। यह विश्वासघात का एक ऐसा कृत्य था, जिसको देखकर सेना के मन में भी अँगरेजों के प्रति घृणा की लहर दौड़ गई। इस घटना ने दिखा दिया कि अँगरेज एक विवेकहीन, अविश्वसनीय जाति है, जो विश्वास करने के बिलकुल योग्य नहीं है, जो उन मित्रों को पटकने में भी देर नहीं लगाती, जिनकी मेहमानदारी इनके आड़े वक्त काम आई थी और अपना काम निकल जाने पर इन मित्रों को छोड़ने में बिलकुल आगा-पीछा नहीं देखती। अवध के अँगरेजी राज में मिला लिये जाने से जो क्षोभ उत्पन्न हुआ था, वह नवाब की सेना के विघटन किये जाने, नवाब के दरबारियों को उनकी पेंशनें न देने, शाही महल पर चीफ कमिश्नर का कब्जा हो जाने तथा नवाब से वृत्तियाँ पानेवालों को, जिनमें नवाब के बहुत से सम्बन्धी भी थे, वृत्तियाँ न देने जैसे अत्याचारों से और भी बढ़ गया। 'लैप्स' के एक वर्ष के भीतर ही अवध-प्रदेश असंतोष का गढ़ बन गया। किसानों का लगान इतना बढ़ा दिया गया था कि उसको चुकाना उनके साधनों से बाहर था; तालुकेदारों के तालुके छीन लिये गये थे। अतः किसान से लेकर तालुकेदार तक सभी के मन में एक समान भावना आन्दोलन मचा रही थी और यह भावना थी अँगरेजों के प्रति घृणा। अपने कृत्यों को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए डलहौजी ने जो तर्क उपस्थित किये थे, वे जनता से उसके कार्यों का औचित्य न मनवा सके; जनता भली भाँति समझ रही थी कि ये सब कार्य अँगरेज अपने प्रभुत्व-विस्तार के लिए कर रहे थे और डलहौजी की बहानेबाजी उसी प्रकार की थी जैसी भेड़िये ने मेमने को हड़पने के लिए प्रस्तुत की थी।

सेना के भक्तिभाव में क्रमिक ह्रास—यूरोपीय सेनानायकों की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना हिन्दुस्तानी सैनिकों का एक लक्षण था। परन्तु वस्तु-स्थिति को बारीकी से देखनेवाले लोग अफगान-दुर्घटना के समय से ही अनुभव करने लगे थे कि हिन्दुस्तानी सैनिकों में अँगरेजों के प्रति यह भक्ति-भाव घटने लगा है।

यह दुर्घटना, दुराचार के लिए प्रकृति द्वारा दिये गये दंड का परिणाम थी और अँगरेजों के इसी दुराचार का फल था कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों की कम्पनी के प्रति आस्था कम होने लगी। अवध की बेदखली ने तो इस आस्था की जड़ ही खोद दी। मंगल पांडे के विद्रोह से पहले भी हिन्दुस्तानी सैनिकों के अनेक छोटे-मोटे विद्रोह हो चुके थे। डलहौजी ने कम्पनी के अध्यक्ष-मंडल को लिखा था कि "सेना का अनुशासन, सिर से पैर तक, पदाधिकारियों एवं साधारण जनों—सभी में दूषित हो गया है।" धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी सिपाहियों के मन में यह वात घर करती जा रही थी कि वे अँगरेजों के प्रभुत्व-विस्तार के हथियार और अपने देशवासियों के पतन के साधन वनाये गये हैं। सेना में गोरखों और सिक्खों की भर्ती, पंजाब में तथा सीमांत प्रदेश में अनियमित सेना की व्यवस्था होते देखकर उनको विश्वास हो गया था कि स्वयं उनका भविष्य संकट में आ पड़ा है।

डलहौजी के उत्तराधिकारी लार्ड कैनिंग ने बंगाल की सेना में जो थोड़े से नये सुधार किये, उनसे बंगाल की सेना में असंतोष बढ़ गया। उसने एक सामान्य आदेश प्रचारित कर दिया था कि वही हिंदुस्तानी कम्पनी की सेना में भर्ती किया जायगा जो किसी भी स्थान पर जाना स्वीकार करे; इसका अर्थ हिन्दुस्तानियों की दृष्टि में यह होता था कि उनको समुद्र पार भी भेजा जा सकता है और यह वात उनके लिए बहुत ही अरुचिकर थी, क्योंकि उनका धर्म समुद्र-यात्रा का निषेध करता था। कैनिंग के दो और आदेश सेना के असंतोष के कारण बन रहे थे; एक आदेश तो यह था कि सैनिकों को अपनी सभी चिट्ठियों पर डाक-महसूल देना पड़ेगा; इससे पहले सैनिकों को डाक-महसूल न देना पड़ता था। दूसरा आदेश यह था कि जो सिपाही वैदेशिक सेवाओं के अयोग्य माने जायँगे उनको अवकाश-वृत्ति (पेंशन) नहीं दी जायेगी, वरन् उन्हें कैन्टोन्मेंट में काम दिया जायगा।

चर्बी लगे कारतूस—बारूदखाने में चिनगारी—बढ़ते हुए असंतोष के इस वातावरण में, चर्वी लगे कारतूसों ने बारूदखाने में चिनगारी का काम किया। सन् १८५३ ई० के लगभग सेना में एक नये प्रकार के कारतूस प्रचारित किये जाने लगे, जिनमें गाय तथा सुअर की चर्बी लगी होती थी; इन कारतूसों को राइफलों में भरने से पहले सैनिकों को मुंह से काटना पड़ता था। प्रारम्भ में तो ये कारतूस थोड़ी मात्रा में बनने के कारण कुछ ही स्थानों में भेजे गये। हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तब ज्ञात न था कि इनमें किस प्रकार की चर्बी का उपयोग किया गया है; अतः उन्होंने इनका कोई विरोध न किया। धीरे-धीरे इन कारतूसों का प्रयोग बढ़ाया जाने लगा और भारत के विभिन्न भागों में इनके निर्माण के लिए कारखाने खोले गये। एक ऐसा कारखाना बारकपुर के पास भी स्थापित किया गया था।

दमदम की घटना, जनवरी सन् १८५७—जनवरी १८५७ में एक दिन एक ब्राह्मण सिपाही हाथ में लोटा लिये हुए छावनी में जा रहा था कि एक लस्कर ने पानी पीने के लिए उससे उसका लोटा माँगा। ब्राह्मण ने लोटा देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि लस्कर के स्पर्श से उसका लोटा अपवित्र हो जाता; इस पर लस्कर ने उस पर व्यङ्ग किया कि अब तो ब्राह्मणों को अपनी जाति का अभिमान छोड़ देना चाहिए, क्योंकि शीघ्र ही उनके पास गाय और सुअर की चर्बी लगे कारतूस पहुँचनेवाले हैं, जिनको उन्हें बंदूक में भरने से पहले मुँह से काटना पड़ेगा। ब्राह्मण इस व्यङ्ग का आघात न सह सका; उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। वह दौड़कर छावनी में पहुँचा। उसने यह समाचार अपने साथियों को सुनाया। इस समाचार के फैलते ही, छावनी के हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों में क्षोभ की लहर दौड़ गई; वे समझने लगे कि अँगरेज उनको धर्म-भ्रष्ट करने पर तुल गये हैं। अँगरेज अधिकारियों ने लस्कर की बात को एक झूठी अफवाह बताकर स्थिति को शांत करना चाहा, परन्तु सिपाहियों का उनकी बातों पर विश्वास न जम सका। लस्कर की बातों की उन्होंने बारकपुर के कारखाने के कर्मचारियों से पुष्टि कर ली। दावाग्नि के समान यह समाचार सारे देश में फैल गया। अपने धर्म पर किये जाने वाले इन प्रहारों का बदला लेने की भावना प्रमुख हो उठी और यह मंगल पांडे के ऐतिहासिक कृत्य के रूप में फूट पड़ी। मंगल पांडे १८५७-५८ ई० के विप्लव का पहला शहीद बना।

प्रतिशोध की यह ज्वाला, लॉर्ड कैनिंग के बार-बार यह सफाई देने से कि चर्बी लगे कारतूसों की बात झूठी है और शैतानों द्वारा फैलाई गई है, शांत न हो सकती थी। स्वयं अँगरेज इतिहासकारों ने यह बात स्वीकार की है कि इन कारतूसों में गाय और सुअर की चर्बी का प्रयोग हुआ था। डब्ल्यू० एच० लैकी ने अपनी पुस्तक **"दि मैप ऑफ लाइफ"** में लिखा है कि "यह एक लज्जाजनक और भयंकर सत्य है कि जहाँ तक इस तथ्य का सम्बन्ध है, सिपाहियों का यह विश्वास बिलकुल सही था।......परन्तु इस घटना की प्रत्यालोचना करने में, अँगरेज लेखकों को लज्जापूर्वक यह स्वीकार करना चाहिए कि यदि यह विद्रोह कभी भी न्यायोचित कहा जा सकता है तो इसके औचित्य के जो कारण सिपाही दलों के पास थे, उनसे बढ़कर और कोई कारण नहीं दिये जा सकते।" यही आशय लॉर्ड रॉबर्ट्स ने अपनी पुस्तक **"फॉर्टी इयर्स इन इंडिया"** ('भारत में चालीस वर्ष') में इन शब्दों में प्रकट किया है कि मि० फॉरेस्ट को भारत-सरकार के कागज-पत्रों में की गई आधुनिक खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि कारतूसों के निर्माण में प्रयुक्त चर्बीदार मिश्रण में गाय और सुअर की चर्बियाँ, जो आक्षेप-योग्य पदार्थ हैं, मिली होती

थीं और इन कारतूसों को बनाने में सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं के प्रति अविश्वसनीय अवहेलना प्रदर्शित की गई थी।

विप्लव का संघटन—विप्लव के नेताओं की दृष्टि से चर्बीदार कारतूसों की घटना बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी; क्योंकि इसके कारण विप्लव का विस्फोट निर्धारित समय से बहुत पहले ही हो गया। विप्लव प्रारम्भ करने के लिए ३१ मई १८५७ ई० की तिथि निश्चित हुई थी। मुरादाबाद के तत्कालीन न्यायाधीश श्री जे० सी० विल्सन महोदय ने लिखा है कि "प्राप्य प्रमाणों से, मुझे पूर्ण विश्वास हो चुका है कि एक साथ विद्रोह करने के लिए ३१ मई १८५७ का दिन निश्चित किया था।" दीर्घकाल से इस विप्लव की योजनाएँ बनाई जा रही थीं, इसका संघटन पूर्ण किया जा रहा था और निःस्वार्थ देशभक्त, जिनके लिए देश की स्वतन्त्रता से बढ़कर संसार में और कोई वस्तु न थी, समस्त देश में इसका ताना-बाना बिछाने में संलग्न थे। विप्लव के नेताओं में सर्वप्रमुख थे, अन्तिम पेशवा बाजीराव का दत्तक पुत्र धोंदो पंत, जो नाना साहब के नाम से अधिक प्रसिद्ध है और उसका वकील अजीमुल्ला खाँ। तृतीय मराठा-युद्ध के बाद से पेशवा बाजीराव आठ लाख वार्षिक की पेंशन पाकर, अपने राज्य से निर्वासित होकर कानपुर के समीप बिठूर में रह रहा था। पुत्रहीन होने के कारण उसने सन् १८२७ ई० में तीन वर्ष के बालक धोंदो पंत को गोद लिया था। सन् १८५१ ई० में बाजीराव का देहान्त हो गया और लॉर्ड डलहौजी ने तत्काल उसकी पेंशन बंद कर दी और यहाँ तक कि उसकी पिछली पेंशन के बकाया ६२ हजार रुपये भी नाना साहब को देना अस्वीकार कर दिया। तब से नाना साहब अँगरेजों का जानी दुश्मन बन गया और देश में एक सार्वजनिक विप्लव की योजना बनाने लगा। इस कार्य में उसको अपने योग्य वकील अजीमुल्ला खाँ से सहायता मिली। अजीमुल्ला खाँ अपने समय का सर्वाधिक गुण-सम्पन्न व्यक्ति था; उसने अतीव सुन्दर रूप पाया था और अँगरेजी एवं फ्रेंच भाषाओं पर उसने अधिकार प्राप्त किया था। नाना साहब का मामला उच्च अधिकारियों के सामने रखने के लिए अजीमुल्ला खाँ इँगलैंड पहुँचा; वहाँ उसकी भेंट सतारा-नरेश के वकील रंगो बापू से हुई, जो ऐसे ही कार्य के लिए वहाँ गया हुआ था। ये दोनों ही अपने कार्य में विफल रहे, परन्तु यहाँ इन्होंने परस्पर परामर्श किया और अँगरेजों की शासन एवं सैनिक-व्यवस्था का बड़े ध्यान से अध्ययन किया। रंगो बापू सतारा लौट आया और दक्षिण भारत के सरदारों तथा जनता में विप्लव का प्रचार करने लगा; उधर अजीमुल्ला खाँ रूस, मिस्र, इटली और तुर्किस्तान होता हुआ बिठूर लौटा; इन देशों में जाने का उसका प्रयोजन यह था कि यदि इन देशों से भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए सैनिक सहायता न भी मिल सके, तो कम से कम अपनी भावी

योजनाओं के प्रति इनकी सहानुभूति ही प्राप्त कर ली जाय। यूरोप के राजदरबारों में अजीमुल्ला की बातचीतों के विषय में यद्यपि कुछ भी ज्ञात नहीं है, परन्तु १८५७-५८ ई० के विप्लव के समय में लोगों का यह एक सामान्य विश्वास था कि इटली का देशभक्त गैरीबाल्डी हिन्दुस्तानियों की सहायता के लिए आ रहा है और यह भी कि अजीमुल्ला खाँ ने रूस के जार के साथ नाना साहब की ओर से सन्धि की है। उस समय रूस की शक्ति का विकास हो रहा था और अँगरेजों के साथ इसका शत्रु-भाव था तथा युद्ध भी चल रहा था। सेबेस्टेपोल में अँगरेजों की पराजय ने भारतीय नेताओं में यह विश्वास जगा दिया था कि साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में इँगलैंड का पतन होने ही वाला है।

अजीमुल्ला के इँगलैंड से लौट आने पर, नाना साहब और अजीमुल्ला भावी महान् विप्लव के संघटन को पूर्ण करने में और इसका संदेश उत्तर भारत के कोने-कोने में फैलाने में जुट गये। विप्लव की योजना यह बनाई गई कि भारत से अँगरेजों को निकाल बाहर करने के उद्देश्य से बादशाह बहादुरशाह के झंडे के नीचे एक साथ एक सर्वसाधारण विप्लव किया जाय। सारी योजना आश्चर्यजनक गुप्त रूप से तैयार की गई और सारे देश में फैलाई जाने लगी। नाना साहब के दूत प्रायः भेष बदलकर सैनिक छावनियों में पहुँचते और सिपाहियों तक विद्रोह का संदेश पहुँचाते। के ने लिखा है कि "महीनों तक, वास्तव में, वर्षों तक, नाना साहब के दूत अपनी गुप्त मन्त्रणा का जाल सारे देश में फैलाते रहे। एक राज-दरबार से दूसरे तक, इस विशाल देश के एक छोर से दूसरे छोर तक, नाना साहब के दूत, विभिन्न जातियों तथा धर्मों के राजाओं एवं सरदारों के लिए बड़ी सावधानी और शायद रहस्यमय ढंग से लिखे हुए (विप्लव के) प्रस्ताव तथा आमन्त्रण लेकर पहुँचे थे। बादशाह बहादुरशाह तथा उसकी गुणवती रानी बेगम ज़ीनत महल ने नाना साहब की योजनाओं का पूरी तरह से अनुमोदन किया और दिल्ली के लाल क़िले में तथा दिल्ली नगर में गुप्त बैठकें होने लगीं। अवध को छीने जाने के बाद तो सारा उत्तरी भारत विप्लव के पक्ष में हो गया और जो राजा तथा सरदार अब तक इन योजनाओं से कतरा रहे थे, अब नाना साहब की योजनाओं में पूरी पूरी सहायता देने का वचन देने लगे। इस प्रकार विप्लव के संघटन-केन्द्र दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगे। अवध के पतन से, नवाब वाजिद अलीशाह, उसकी बेगम हज़रत महल और उसका सुयोग्य मन्त्री अली नकी खाँ भी विप्लव नेताओं की पंक्ति में आ मिले। के लिखता है कि अली नकी खाँ के आह्वान पर हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों ने गंगा और कुरान की कसमें उठाकर प्रतिज्ञा की कि वे अँगरेजों को देश से बाहर निकालने में अपनी जानें लड़ा देंगे। अली नकी खाँ के दूतों ने, साधुओं और फकीरों



बेगम ज़ीनतमहल



सम्राट् बहादुरशाह

का भेस बनाकर कलकत्ता से शुरू कर उत्तरी भारत की प्रत्येक छावनी में विप्लव का संदेश पहुँचाया। सैनिकों के अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों से भी सम्बन्ध स्थापित किया गया और कोई भी ऐसा थाना या दफ्तर न छूटा, जहाँ विप्लव का संदेश न पहुँचाया गया हो। विप्लव के नेताओं में फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह का नाम भी प्रमुख स्थान रखता है। लखनऊ और आगरा में एक भी ऐसा व्यक्ति न था जिसने मौलवी साहब के जोशीले भाषण न सुने हों और विप्लव को सफल बनाने के लिए अपनी जान लड़ा देने की कसम न खाई हो। विद्रोह की भावना उभाड़ने के लिए लोकगीतों, स्वाँगों और नौटंकियों का खूब उपयोग किया जा रहा था, परन्तु यह सब कार्य इतने गुप्त रूप से हो रहे थे कि अँगरेजों को स्वप्न में भी खयाल न आने पाया कि देश में कैसा तूफान जमा हो रहा है। सर ली ग्रैंड जैकब ने अपनी पुस्तक "वैस्टर्न इंडिया" ('पश्चिमी भारत') में लिखा है कि "उस आश्चर्यजनक गोपनीयता का वर्णन करना कठिन है, जिसके साथ यह सारी गुप्त मन्त्रणा चलाई गई थी। उस पूर्व-विचार का जिसने ये योजनाएँ प्रस्तुत की थीं और उस सावधानी का जिसके साथ विप्लवियों का प्रत्येक दल, परस्पर सम्बन्ध जोड़नेवाली कड़ियों को छिपाते हुए और उनको केवल उतनी ही सूचनाएँ देते हुए जो उनके सामने रखे गये उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पर्याप्त समझी जाती थीं, अलग-अलग कार्य कर रहा था, वर्णन करना कठिन है। इन सब बातों की समानता केवल परस्पर विश्वास की वह भावना ही कर सकती थी, जिससे ये दल एक दूसरे से चिपटे हुए थे।"

कमल और चपाती—सेना के लिए कमल और नागरिकों के लिए चपाती ये इस विप्लव के गुप्त संकेत-चिह्न थे। भारत का प्राचीन प्रतीक कमल, सेना में एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचाया जा रहा था, और अन्तिम सिपाही का कर्तव्य बन गया था कि वह विप्लव के इस प्रतीक को अपने समीप की दूसरी सैनिक टुकड़ी में पहुँचा दे, जहाँ फिर से यह प्रक्रिया दुहराई जाती थी। समस्त सेना में इस प्रतीक के घूम जाने का अर्थ था कि वह विप्लव में भाग लेने के लिए तैयार है। इस प्रकार विप्लव का प्रतीक कमल एक रेजीमेंट से दूसरी रेजीमेंट में पहुँचाया गया और यह प्रक्रिया तब तक चलती रही जब तक एक भी ऐसी रेजीमेंट शेष न रह गई जहाँ कमल-पुष्प, सैनिकों में देशभक्ति का उत्साह जगाते हुए और विप्लव के संघटन को दृढ़ करते हुए न घूम चुका हो। इसी प्रकार और यही संदेश लेकर गाँव-गाँव में चपाती घुमाई गई। एक गाँव का चौकीदार अपने पड़ोसी गाँव के चौकीदार के पास चपाती पहुँचा देता था और तब वह चौकीदार इस चपाती को सभी ग्रामवासियों में घुमाता था और एक नई चपाती बनाकर पड़ोस के गाँव में पहुँचा देता था। गाँव में चपाती के घूम जाने का अर्थ था कि सारा गाँव विप्लव में भाग

लेने के लिए तैयार है। सेना में कमल-पुष्प का घुमाया जाना तो समझ में आता है, परन्तु यह अभी भी रहस्यमय बात बनी हुई है कि जनसाधारण में घुमाने के लिए चपाती को प्रतीक क्यों बनाया गया। संभवतः चपाती से यह अर्थ प्रकट किया गया था कि यदि जनता विद्रोह न करेगी तो उसकी रोटी छिन जाने का भी भय है।

नाना साहब की तीर्थ-यात्रा—विप्लव के संघटन को अन्तिम रूप देने और इसकी तिथि निश्चित करने के लिए नाना साहब तीर्थ-यात्रा के बहाने अजीमुल्ला खाँ तथा अपने भाई बाला साहब को साथ लेकर मार्च १८५७ ई० में बिठूर से चल पड़े। वे दिल्ली गये। वहाँ बादशाह बहादुरशाह से भेंट की, वहाँ से अम्बाला पहुँचे और तब लखनऊ आये; इस प्रकार अनेक स्थानों का चक्कर लगाकर वे अप्रैल १८५७ ई० में बिठूर लौट आये। इसी यात्रा के समय एक साथ विप्लव करने की तिथि ३१ मई सन् १८५७ निश्चित की गई थी, जिसकी सूचना प्रत्येक विप्लव-केन्द्र के नेता और प्रत्येक सैनिक रेजीमेंट के तीन पदाधिकारियों को ही दी गई। दूसरे लोगों को यही आदेश था कि वे अपने नेताओं का अनुसरण करें।

मंगल पाण्डे—विप्लव की प्रथम गोलियाँ—जनवरी १८५७ ई० में चर्बी लगे कारतूसों का भेद दमदम की छावनी में खुला था। कुछ ही सप्ताहों में यह बात समस्त बंगाल-सेना में फैल गई थी। अब सैनिक अपने धर्म पर इस घोर प्रहार का प्रतिशोध लेने के लिए बेचैन हो रहे थे और इस कार्य में विलम्ब उन्हें असह्य हो रहा था; परन्तु विप्लव की तिथि ३१ मई निश्चित की जा चुकी थी। विप्लव के नेताओं ने इस तिथि से पहले ही विद्रोह को न फूटने देने की भरसक चेष्टा की, परन्तु प्रतिशोध की भावनाएँ रोकी न जा सकीं। पर्दे के पीछे घिरते हुए तूफान से बेखबर और अपनी शक्ति के प्रति पूर्ण आश्वस्त अँगरेजों ने बलप्रयोग की नीति अपना ली। फरवरी सन् १८५७ ई० में बरहामपुर १९वीं पैदल देशी सेना ने नये कारतूसों को काम में लाने और परेड के लिए आने से इनकार कर दिया। उसके अँगरेज पदाधिकारियों ने धमकियाँ देकर उन्हें बाध्य करने की चेष्टा की, परन्तु कोई अँगरेजी सेना समीप न होने के कारण उनकी धमकियाँ निष्फल रहीं। तब इस रेजीमेंट को दंड देने और विघटित करने का निश्चय किया गया और इसके लिए बर्मा से एक अँगरेजी सेना बुलाई गई। यह बात १९वीं और ३४वीं हिन्दुस्तानी रेजीमेंटों को मालूम हो गई। इनका क्रोध फूटने को हो गया, परन्तु इनके अधिकारियों ने इनको धैर्य रखने की सलाह दी। किन्तु ३४वीं रेजीमेंट के एक सिपाही मंगल पांडे का क्रोध तो किसी प्रकार भी रोका न जा सका। २९ मार्च १८५७ ई० के दिन मंगल पांडे ने पंक्ति से बाहर आकर अपने साथियों को अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिए ललकार कर, अपनी अवरुद्ध भावनाओं को प्रकट किया। 'सार्जेंट

मेजर हसन' नामक एक अँगरेज पदाधिकारी ने रेजीमेंट के सिपाहियों को आदेश दिया, कि मंगल पांडे को वंदी वना लो। परन्तु कोई भी सिपाही अपने स्थान से न हिला। इस पर मंगल पांडे ने एक गोली से हसन का और दूसरी से एक अन्य अँगरेज अफसर का, जो घोड़े पर सवार होकर उसकी ओर वढ़ रहा था, काम तमाम कर दिया। यह सव देखकर कर्नर ह्वीलर ने सैनिकों को आदेश दिया कि वे मंगल पांडे को वंदी कर लें; परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। ह्वीलर चौंक उठा। उसने जनरल हेरसी को इसकी सूचना दी जो कुछ अँगरेज सैनिक लेकर घटनास्थल पर पहुँचा। हिन्दुस्तानी सैनिकों में हृदय और वुद्धि का द्वन्द्व मच गया; हृदय मंगल पांडे के आह्वान स्वीकार कर विद्रोह प्रारम्भ करने के लिए प्रेरित कर रहा था, परन्तु वुद्धि ३१ मई की निश्चित तिथि की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने का आदेश दे रही थी। मंगल ने अपना अंत समीप देखकर अपने को गोली मार ली और घायल होकर गिर पड़ा। हेरसी ने उसको कैद कर लिया; उसके अपराध की जाँच की गई और फाँसी की सजा सुनाई गई। १९वीं तथा ३४वीं दोनों रेजीमेंटों को भंग किया गया और मंगल पांडे की फाँसी के लिए ८ अप्रैल की तिथि निश्चित की गई। मंगल पांडे का समाचार आग की तरह उत्तर भारत की सभी छावनियों में फैल गया और प्रत्येक रेजीमेंट में यह निश्चय करने के लिए गुप्त वैठकें होने लगीं कि ३१ मई तक प्रतीक्षा की जाय या तत्काल विद्रोह प्रारम्भ कर दिया जाय। ८ अप्रैल को मंगल पांडे को फाँसी दी गई; १९वीं तथा ३४वीं रेजीमेंटों को विघटित किया गया, ३४वीं रेजीमेंट के सूवेदार को अपनी रेजीमेंट में गुप्त बैठकें होने देने के अपराध के लिए फाँसी दी गई, जिससे अन्य रेजीमेंट भी सचेत हो जायँ। परन्तु इस घटना ने विप्लव को निश्चित समय से पूर्व ही उभाड़ दिया। योजना के अनुसार, परन्तु निश्चित समय से पहले ही लखनऊ, मेरठ और अम्वाला में यूरोपियनों के मकानों में आग लगाई गई।

मेरठ-काण्ड—इस अवसर पर अँगरेजों ने हिन्दुस्तानी सैनिकों की भावनाओं के प्रति निष्ठुरतापूर्ण अवहेलना प्रदर्शित की। मेरठ में सैनिकों को चर्वीवाले कारतूस दिये गये। सैनिकों ने इनका उपयोग करना अस्वीकार कर दिया, जिस पर उन्हें कोर्ट मार्शल का दंड तथा आठ से दस साल तक के कठोर श्रम का दंड दिया गया। प्रदर्शन करने के लिए, इन दंडित सैनिकों को परेड में लाया गया; तोपखाने सहित एक अँगरेज रेजीमेंट उनके सामने खड़ी थी। मेरठ के समस्त हिन्दुस्तानी सैनिक-दल इस दृश्य को देखने के लिए वहाँ लाये गये। तब दंडित सैनिकों की वर्दी उतार कर सबके सामने हथकड़ियाँ पहनाई गईं और जेल की ओर मार्च कराया गया। इस प्रदर्शन का हिन्दुस्तानी सैनिकों और जनता पर उल्टा ही

असर हुआ। भयभीत होने की अपेक्षा उनका संकल्प और भी दृढ़ हो गया। कहा जाता है कि जब ये सैनिक शाम के समय सड़कों पर घूम रहे थे, बारजों से स्त्रियों ने उन पर व्यङ्ग्यों की बौछार की कि तुम्हारे भाई जेलों में सड़ रहे हैं और तुम सड़कों पर घूम रहे हो। स्त्रियों के ताने सैनिकों के हृदय में चुभ गये। अब उनमें ३१ मई तक प्रतीक्षा करने का धैर्य न रह गया और ९ मई की रात को एक गुप्त बैठक में उन्होंने अगले ही दिन विद्रोह प्रारम्भ कर देने का निश्चय कर लिया और इसकी सूचना दिल्ली में नेताओं के पास भेज दी। १० मई का प्रभात 'दीन-दीन', 'हर हर महादेव' और 'मारो फिरंगी को' इत्यादि नारों के साथ उदय हुआ; विद्रोह प्रारम्भ हो गया था। जेलें तोड़कर बन्दी सैनिक छुड़ाये गये। यूरोपीय पुरुष और स्त्रियाँ, जहाँ कहीं भी मिले, मार डाले गये, उनके मकानों में आग लगाई गई और उसी रात को मेरठ के हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने, विप्लव में सहयोग देनेवाले नागरिकों को साथ लेकर दिल्ली की ओर प्रयाण कर दिया। मेरठ की स्त्रियों ने कभी सोचा भी न होगा कि सिपाहियों को निश्चित समय से पहले ही विद्रोह के लिए उकसा कर उन्होंने इस स्वातन्त्र्य-संग्राम का कितना अपकार किया था। जैसा कि बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया, मेरठ-काण्ड ने विद्रोह को निश्चित समय से पहले ही प्रारम्भ कर ब्रिटिश-राज को उस विनाश के गर्त में गिरने से बचा लिया, जो नाना साहब और उसके सहयोगियों ने इसके लिए खोद दिया था। विल्सन, ह्वाइट और मालेसन भारतीय विप्लव के ये तीन अँगरेज इतिहासकार इस बात में एकमत हैं कि मेरठ का विद्रोह कम्पनी के लिए हितकर और भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए घातक था। इसने विप्लव की सारी योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया, इसकी सुदृढ़ता को तोड़ दिया। अनेक स्थानों पर स्थानीय नेता समझ ही न पाये कि अब उन्हें क्या करना है। इसके कारण अनेक लोगों को मनमानी करने और पहले से अविचारित कार्य करने का अवसर मिल गया।

विप्लव का प्रसार—मुगल-साम्राज्य के केन्द्र दिल्ली की विजय करना विप्लवियों का प्रथम लक्ष्य बन गया। मेरठ की घुड़सवार हिन्दुस्तानी सेना ने ११ मई की सुबह को दिल्ली में 'बहादुरशाह की जय' के नारे लगाते हुए प्रवेश किया। तब दिल्ली में कोई अँगरेज सेना न थी। दो दिन में ही दिल्ली को अँगरेजों से छुड़ा लिया गया। बादशाह बहादुरशाह ने विप्लव का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और उसका झंडा दिल्ली के सार्वजनिक भवनों पर फहराने लगा और विप्लव का प्रतीक बन गया। इसके बाद दिल्ली के शस्त्रागार पर आक्रमण किया गया, जहाँ बहुत अधिक परिमाण में युद्ध-सामग्री एकत्रित थी। उस समय यह स्थान जनरल विलोबी की देख-रेख में था। इस जनरल ने विरोध असंभव जानकर शस्त्रागार में

आग लगा दी। इस प्रकार वह अपने आठ सहयोगियों के साथ वहीं भस्म हो गया। देशभक्ति का यह एक अविस्मरणीय उदाहरण था। १६ मई तक अँगरेज पुरुषों का संहार चलता रहा, परन्तु इस बात का बहुत ध्यान रखा गया कि किसी अँगरेज स्त्री पर न तो हथियार उठाया जाय और न उसको किसी प्रकार से अपमानित ही किया जाय। अँगरेज स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार की जो कहानियाँ फैलाई गईं, वे सरासर झूठ थीं। सर विलियम म्योर ने लिखा है कि "वहाँ चाहे जितनी भी निर्दयता और रक्तपात किया गया हो, परन्तु स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार की जो कथाएँ फैल गई थीं, वे जहाँ तक मैंने देखा है और पूछ-ताछ की है, बिलकुल निराधार थीं।"

दिल्ली की विजय का समाचार कुछ ही दिनों में समस्त उत्तरी भारत में फैल गया। जगह-जगह पर बहादुरशाह का हरा झंडा फहराने लगा और हिन्दुस्तानी सैनिक-दल हथियार और कोष लेकर दिल्ली की ओर प्रयाण करने लगे। २४ मई तक अलीगढ़, इटावा, मैनपुरी तथा दिल्ली के पास-पड़ोस के अन्य कई स्थान स्वतन्त्र हो गये। बरेली के न्यायाधीश खान बहादुर खाँ के नेतृत्व में सारा रुहेलखंड विप्लव में सम्मिलित हो गया। ३१ मई की सुबह को, जो विप्लव की पूर्व-निश्चित तिथि थी, विप्लव प्रारम्भ करने के संकेत के रूप में, तोप दागी गई। तत्काल अँगरेजों का वध प्रारम्भ हो गया, उनके मकानों में आग लगाई जाने लगी, खजाने पर अधिकार किया गया, स्वतंत्रता का प्रतीक हरा झंडा फहराया गया और हिन्दुस्तानी सेनाएँ सूबेदार बख्त खाँ के नेतृत्व में दिल्ली की ओर बढ़ीं। इस प्रकार जून के मध्य तक सारे उत्तर-भारत में विप्लव फैल चुका था। गाँवों और शहरों के सभी हिन्दू और मुसलमानों ने कम्पनी का राज समाप्त करने में सेना के साथ सहयोग किया। अब तक या तो विरोध हुआ ही न था या हुआ भी था तो बहुत थोड़ा। अब तक कोई निर्दयता के कृत्य न हुए थे। अनेक स्थानों पर अँगरेजों को भाग निकलने का अवसर दिया गया और दयालु हिन्दुस्तानियों ने उनको शरण भी दी। कम्पनी के शासन के स्थान पर, बहादुरशाह के नाम पर हिन्दुस्तानी शासन स्थापित किया गया। दिल्ली के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ा गया और शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने के प्रशंसनीय प्रयत्न किये गये।

अँगरेजों का प्रत्याक्रमण—गवर्नर-जनरल लॉर्ड कैनिंग ने मेरठ-काण्ड और दिल्ली-विजय का समाचार पाकर विप्लव की बाढ़ को रोकने के उद्योग तत्काल प्रारम्भ कर दिये। यूरोपीय सैनिकों की कमी उसकी सबसे बड़ी परेशानी थी। उसने अपने समस्त साधन एकत्र किये, बम्बई और मद्रास की प्रेसीडेंसियों को तत्काल सहायता भेजने के लिए अत्यावश्यक आदेश-पत्र भेजे गये और अवध तथा पंजाब में हैनरी तथा जॉन लॉरेन्स को शीघ्रता एवं बलपूर्वक कार्य करने की खुली

छूट दे दी गई। चीन को जाती हुई एक अँगरेजी सेना को भारतीय तट पर रोककर भारत में अँगरेजी सेना की संख्या बढ़ाई गई और जहाँ भी संभव हुआ, हिन्दुस्तानी सैनिक-दलों को तोड़ दिया गया। देश में चारों ओर जासूसों का जाल बिछाया गया और विप्लव के नेताओं को घूस देकर अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाने लगा। विप्लव के नेताओं में फूट के बीज वोने के लिए घोर परिश्रम किया जाने लगा। हिन्दुओं को मुसलमानी शासन का भय दिखाया जाने लगा और मुसलमानों से कहा जाने लगा कि विप्लव की सफलता का अर्थ होगा मराठा-राज्य की स्थापना। देशी रियासतों से युद्ध-सामग्री प्राप्त की गई; देशी रियासतों को अपनी स्थिति का भय पैदा हो गया था; इसलिए वे अँगरेजों का पल्ला न छोड़ना चाहते थे। हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला, नाभा, जिंद तथा राजपूताना की रियासतें और बड़ौदा राज्य, अपने-अपने वंशगत स्वार्थों को सामने रखकर, अपने ही देशवासियों और अपनी ही प्रजा की इच्छा के विरुद्ध अँगरेजों के साथ हो गये। हाल ही में विजित पंजाब और नैपाल राज्य से अँगरेजों को अपनी सेना में भर्ती करने के लिए पर्याप्त संख्या में सैनिक मिल गये; अँगरेजों के पक्ष में होने के इन दोनों प्रदेशों के भिन्न-भिन्न कारण थे। पंजाब के सिक्खों के सामने प्रलोभन यह था कि अँगरेजों का पक्ष लेकर उन्हें औरंगजेब के समय में अपने ऊपर किये गये अत्याचारों का बदला चुकाने का अवसर मिल जायगा और नेपाल के गोरखे अवध के लोगों से १८१६ ई० के युद्ध में उनके विरुद्ध अँगरेजों का पक्ष लेने का मजा चखाने के लिए अब अँगरेजों का पक्ष ले रहे थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस विप्लव के वीच हुए अनेक शौर्यपूर्ण युद्ध, वीरतापूर्ण उदारता के कार्य, और अँगरेजों के निर्दयतापूर्ण कुकृत्य इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितने कि वे पाठ जो १८५७–५८ ई० की इन घटनाओं ने सिखाये। विप्लव के प्रवाह को रोकने के लिए, अँगरेजों ने जो नीति अपनाई, उसके प्रमुख अंग थे, विप्लव को स्थानीय वना देना, विप्लव की आग को नर्मदा के पार न जाने देना और कल्पनातीत निर्दयताओं द्वारा भारतीयों के मन में भय उत्पन्न कर देना। अँगरेज सैनिकों की पाशविक वृत्तियों को उभाड़ने के लिए उनमें प्रतिशोध की ज्वाला भड़काने के लिए, उनमें विप्लवियों के अकथनीय अत्याचारों की मनगढ़ंत कहानियाँ फैलाई गईं, जिनको स्वयं तत्कालीन अँगरेज लेखकों ने सरासर झूठ और "जालसाजों एवं नितान्त कमीने गुंडों" द्वारा गढ़ी हुई कहानियाँ वताया है। तब भी हिन्दुस्तानियों के अत्याचारों की यह झूठी कहानियाँ उन वास्तविक अत्याचारों के आधे पर भी न पहुँचती थीं जो जनरल नाइल और हैवलॉक विशेष रूप से और सामान्यतः सभी अँगरेज सैनिकों ने भारतीय जनता पर ढाये थे।

दिल्ली पर घेरा और जनरल नील की प्रगति—दिल्ली पर पुनः अधिकार करना अँगरेजों के लिए अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित करने के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि इस पर अधिकार करना विप्लव के नेताओं के लिए अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने को आवश्यक था। समस्त उत्तर भारत से हिन्दुस्तानी सैनिक बहादुरशाह के झंडे की रक्षा के लिए, जिसके नाम पर यह विप्लव प्रारम्भ किया गया था, दिल्ली में आ-आकर जुट गये थे। दिल्ली पर हिन्दुस्तानियों का अधिकार होते ही लॉर्ड कैनिंग ने तत्कालीन प्रधान सेनापति ऐंनसन को, जो उस समय शिमले में था, दिल्ली पर घेरा डालने का आदेश भेजा और जनरल नील को एक दूसरी सुसज्जित सेना के साथ बनारस, इलाहाबाद तथा इनके पास-पड़ोस के जिलों पर अधिकार करने के लिए भेज दिया।

दिल्ली को पुनः विजय करने में अँगरेजों को सर्वाधिक आशा और सहायता पंजाब से मिल रही थी। पंजाब के तत्कालीन चीफ कमिश्नर सर जॉन लॉरेंस के चतुर व्यवहार से पंजाब केवल शांत ही न रहा अपितु अँगरेजों को सैनिक देनेवाला प्रधान स्थान भी बन गया। पंजाबियों एवं हिन्दुस्तानियों के पारस्परिक विरोधों तथा सिक्खों एवं मुसलमानों की पारस्परिक घृणा का सिद्धान्तहीन अँगरेजों ने मनमाने ढंग से प्रचार किया और इनसे खूब लाभ उठाया। सारे पंजाब में बादशाह बहादुरशाह के नाम के झूठे फरमान प्रचारित किये गये, जिनमें कहा गया था कि इस लड़ाई में जीत होते ही प्रत्येक सिक्ख का वध कर दिया जायगा। मेटकॉफ ने लिखा है कि जिस दिन यह पोस्टर प्रकट हुए ठीक उसी दिन बहादुरशाह दिल्ली की सड़कों पर जनता को यह आश्वासन देते हुए चक्कर लगा रहा था कि यह युद्ध केवल अँगरेजों के विरुद्ध है और किसी भी भारतीय जाति को इससे भयभीत न होना चाहिए। इसके अतिरिक्त लॉरेंस ने पंजाब में ६% ब्याज पर ऋण लेना प्रारम्भ किया; और बलपूर्वक ऋण लिया गया। इससे अँगरेजों को अत्यावश्यक निधि की प्राप्ति तो हुई ही, पंजाब के साहूकारों के हित भी अँगरेजों की विजय में निहित हो गये। सिक्खों एवं पंजाब की रियासतों को अपने पक्ष में करने के बादशाह बहादुरशाह तथा विप्लव के नेताओं के प्रयत्न विफल रहे। बहादुरशाह ने पटियाला, नाभा और जिन्द की राजसभाओं में अपना एक विशेष राजदूत ताजुद्दीन भेजा, परन्तु वह इनको विप्लव में भाग लेने के लिए तैयार न कर सका। हिन्दुस्तानी सैनिकों की छोटी-छोटी टुकड़ियों को, जिन्होंने विप्लव में भाग लेने की शपथ ली थी, आसानी से निःशस्त्र किया गया और उनके नेताओं को कठोर दंड दिये गये। यदि पंजाब ने विप्लव में भाग ले लिया होता तो घटनाएँ कुछ दूसरे ही परिणाम की ओर अग्रसर हुई होतीं। पंजाब को शांतिपूर्ण एवं सहायता का प्रमुख अड्डा पाकर प्रधान सेनापति

सर हैनरी वर्नार्ड, जो ऐंन्सन् के बाद इस पद पर प्रतिष्ठित हुआ था, एक विशाल सेना लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा। रास्ते में ब्रिगेडियर विलसन की सेना भी उसके साथ आ मिली और इनकी सम्मिलित सेनाओं ने मई-जून में रिज पर डेरा डाला। दिल्ली को कुछ ही घंटों में जीत लेने की उनकी शेखियाँ दिल्ली की दीवारों के नीचे काफूर हो गईं। प्रतिदिन बहादुरशाह की सेनाएँ उन पर टूट पड़ने लगीं और इन्होंने उनको पीछे हटने के लिए बाध्य कर दिया, परन्तु ये उन्हें कभी इस तरह से तितर-बितर न कर पाईं कि दिल्ली के लिए उनसे कोई भय न रह जाय। अँगरेज सेना ने अपार कष्ट उठाने पर भी दिल्ली की दीवारों को तब तक न छोड़ा, जब तक नगर के अंदर की तथा उत्तरी भारत के अन्य स्थानों की घटनाओं ने उन्हें इन दीवारों को तोड़कर अन्दर घुस पड़ने के योग्य न बना दिया। दिल्ली के बाहर उनके टिके रहने के बड़े गम्भीर परिणाम हुए। इससे विप्लवी सेनाएँ नगर के अन्दर ही बन्द हो गईं, उन्हें नगर में प्राप्त थोड़ी-बहुत सामग्रियों पर ही गुजारा करना पड़ा और उनकी सारी छावनी में नैतिक निराशा घनी होने लगी। हिन्दुस्तानी सैनिकों में कोई ऐसा नेता न था, जो उन्हें मिलकर काम करने के लिए उत्तेजित कर सकता। बहादुरशाह इतना बूढ़ा हो चला था कि स्वयं सेना का नेतृत्व नहीं कर सकता था। फिर सेना के विभिन्न दलों में आपसी विरोध भी फूट पड़ने लगे थे, जिनके कारण हिन्दुस्तानी सेना की सामूहिक रूप से आघात करने की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। दूसरी ओर अँगरेज सेनाएँ एक सर्वोच्च सेनापति के आदेशानुसार कार्य करती थीं, देशी रियासतें उन्हें सहायता पहुँचा रही थीं और सिक्ख तथा गोरखों जैसी योद्धा जातियों के युद्ध-निपुण सैनिक उनके साथ थे। बहादुरशाह का पुत्र मिर्जा मुगल, जो हिन्दुस्तानी सेनाओं का प्रधान सेनापति बनाया गया था, संघटनात्मक एवं सैनिक योग्यताओं से हीन था। विशाल सेनाओं के एकत्र हो जाने के कारण उनके भार से दिल्ली नगर का शासन-प्रबन्ध चौपट हो रहा था। जुलाई सन् १८५७ ई० में सूबेदार बख्त खाँ ने अपने बुंदेले वीर सैनिकों के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। उसकी सैनिक-निपुणता ने उसका नाम चमका दिया था। बहादुरशाह ने उसको सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी और दिल्ली का गवर्नर नियुक्त किया। उसने दिल्ली के शासन का पुनः संघटन किया और वह अँगरेजों पर अंतिम प्रहार करने की तैयारियाँ करने लगा। अँगरेजों का प्रधान सेनापति वर्नार्ड मर चुका था; अतः जनरल रीड ने उसका स्थान ग्रहण किया, परन्तु रीड ने भी स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण सेनापतित्व त्याग दिया और तब जनरल विलसन प्रधान सेनापति बना।

जनरल विलसन को दिल्ली की दीवालों के नीचे घेरा डालनेवाले की अपेक्षा

एक स्वयं घिरे हुए सेनापति के रूप में छोड़कर, अब हम भारत के अन्य भागों में होनेवाली सामयिक घटनाओं पर सरसरी निगाह डालेंगे क्योंकि इन घटनाओं का अँगरेज़ों द्वारा दिल्ली के पुनः जीते जाने और बहादुरशाह के वन्दी बनाये जाने पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था।

जनरल नील के अत्याचार—जनरल नील अँगरेजों, सिक्खों तथा मद्रासी सैनिकों की एक विशाल सेना लेकर बनारस की ओर बढ़ा। उसके सामने सबसे मुख्य कार्य था आगरा और अवध के प्रांतों में ब्रिटिश सत्ता की पुनः स्थापना। अवध प्रांत, जहाँ के अभिजात वर्ग को जान-बूझकर गिराया गया था और निःस्वत्व किया गया था, विप्लव का केन्द्र बन गया; लखनऊ इसकी राजधानी थी। आगरा प्रांत, नाना साहब का निवासस्थान बिठूर, अपने पड़ोसी जिले कानपुर सहित विप्लवियों की प्रेरणा का प्रमुख स्थान था; इलाहाबाद इस प्रांत में सैनिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का विप्लव के नेताओं में सर्वाधिक नाटकीय व्यक्तित्व था।

बनारस कभी भी अँगरेजों के हाथ से न निकला था। जनरल नील के पहुँचने पर यह ऊपरी प्रांतों की पुनः विजय के लिए अँगरेजों का प्रमुख केन्द्र बन गया। आतंक फैला देना नील की नीति का प्रमुख अंग था। उसने सबको बन्दी बना लेने का आदेश दे दिया, गाँवों को जला दिया और पुरुषों एवं स्त्रियों को गोली का निशाना बनवा दिया या पेड़ों की शाखाओं पर लटकवा दिया। अँगरेजों के नर-संहार के उदाहरण के रूप में लाशों को जहाँ-तहाँ सड़ने के लिए छोड़ दिया गया या पेड़ों पर लटकता छोड़ दिया गया। सर जॉन के अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ् दि सिपॉय वार" ('सिपाही युद्ध का इतिहास') में लिखता है "सैनिक और असैनिक सभी लोग समान रूप से रक्तपिपासु न्यायकर्ता बन बैठे थे, अपराध की जाँच के बिना ही हिन्दुस्तानी नागरिकों का, स्त्री-पुरुष या आयु में कोई भेद न करते हुए, वध कर रहे थे। गवर्नर-जनरल द्वारा घर (इँगलैंड) भेजे गये कागज-पत्रों में यह बात उल्लिखित है कि "विप्लव के लिए अपराधी लोगों के साथ-साथ बूढ़े, स्त्रियाँ और बच्चे भी बलि चढ़ाये गये हैं।" वे जान-बूझकर फाँसी पर नहीं लटकाये गये थे, वरन् अपने ही गाँव में जला कर खतम किये गये थे, शायद जब तब अकस्मात् गोली का निशाना भी बनाये गये थे। अँगरेज लोग इस बात की शेखी बघारने या अपनी इस शेखी को लिखित रूप में प्रस्तुत करने में नहीं हिचकिचाते थे कि उन्होंने किसीको भी न छोड़ा था और काले लोगों पर पत्थरों की बौछार कर मारना उनका एक बड़ा आनन्दप्रद मनोविनोद था। और पदाधिकारियों द्वारा संरक्षित एक पुस्तक में कहा गया है कि तीन महीनों तक आठ मुर्दे ढोनेवाली गाड़ियाँ चौराहों

और बाजारों में लटकते हुए मुर्दों को उतार ले जाने के लिए सूर्योदय से सूर्यास्त तक चक्कर लगाया करती थीं।"

जनरल नील, अपने साथ आग और तलवार लेकर बनारस से इलाहाबाद की ओर चल पड़ा। रास्ते में एक भी ऐसा झोंपड़ा न बच पाया, जो जलाया न गया हो। उसके अत्याचारों ने चंगेज खाँ और हूण-नेता अतिल्ला के अत्याचारों को भी मात कर दिया। ११ जून १८५७ ई० को वह इलाहाबाद पहुँचा। गंगा-यमुना के संगम पर कलकत्ता से दिल्ली जानेवाली सड़क पर प्रमुख स्थान होने के कारण, इलाहाबाद को शीघ्र हथिया लेना आवश्यक हो गया। इलाहाबाद का किला अब भी अँगरेजों के हाथ में ही था; किले के सिक्ख-सैनिक इस पर कम्पनी-सरकार का अधिकार बनाये हुए थे। इलाहाबाद के हिन्दुस्तानी गवर्नर लियाकत अली का हेडक्वार्टर खुसरोबाग में था। नील ने १७ जून की सुबह खुसरोबाग पर आक्रमण किया। शाम होते-होते स्पष्ट हो गया कि लियाकत अली के पास नील का सामना करने के लिए न आदमी हैं और न सामग्री। १७ जून की रात को वह खुसरोबाग छोड़कर कानपुर की ओर चल पड़ा। इस प्रकार इलाहाबाद पर अँगरेजों का पूर्ण अधिकार हो गया। १८ जून की सुबह से फाँसी पर लटकाने और गाँवों को जलाने का नृशंसतापूर्ण कार्य प्रारम्भ हुआ। इलाहाबाद के चौक के उन सात नीम के वृक्षों में से, जिन पर लोगों को सूली दी गई थी, तीन वृक्ष आज भी नील के अत्याचारों के मूक साक्षी बने हुए विद्यमान हैं। आयु अथवा स्त्री-पुरुष के भेद की जैसी निर्दय उपेक्षा नील ने की वह अकल्पनीय है। होम्स ने अपनी पुस्तक 'सिपॉय वार' ('सिपाही-युद्ध') में लिखा है कि "बूढ़े लोगों ने हमें कोई हानि न पहुँचाई थी; छाती पर दूध पीते बच्चे लिये हुए असहाय स्त्रियों ने भी हमारे प्रतिशोध के भार का उससे कम अनुभव नहीं किया, जितना कि नीचतम कुकर्मियों को करना पड़ा।"

कानपुर और नाना साहब—दिल्ली पर विद्रोहियों का अधिकार हो जाने के कुछ दिनों बाद ही कानपुर नाना साहब के अधिकार में आ गया। अँगरेज सेनापति, सर ह्यू ह्वीलर ने कानपुर के किले में व्यूह-रचना की। नाना साहब के लिए इस किले पर तत्काल अधिकार कर लेना अत्यावश्यक हो गया। उसने ६ जून को ह्वीलर के पास आत्मसमर्पण कर देने का आखिरी ऐलान भेज दिया। ह्वीलर के आत्मसमर्पण करने से इनकार कर देने पर किले पर आक्रमण किया गया। किले की दीवारों पर गोले और गोलियों की लगातार बौछारें होने लगीं। किले की छोटी सी सेना शीघ्र ही लड़खड़ा उठी। अँगरेजों की सहायक सेना के आने से पहले ही किले पर अधिकार करने के लिए नाना व्यग्र हो उठा। उसने कानपुर का सारा शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। कानपुर की जनता ने नाना को प्रशंसनीय

सहयोग दिया। हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ तक देश-सेवा के लिए मैदान में आ गईं; इन स्त्रियों में अज़ीज़न नामक कानपुर की एक वीरांगना का नाम अमर हो गया है। ह्वीलर ने प्रतिरोध करना असंभव जानकर २६ जून को आत्मसमर्पण कर दिया। नाना ने अपनी स्वाभाविक उदारता के साथ सभी अँगरेजों को सुरक्षित रूप से इलाहाबाद पहुँचाने का वचन दे दिया। नावों एवं खाद्य सामग्री की व्यवस्था कर अँगरेजों को सैनिक दल की रक्षा में सतीचौरा घाट तक पहुँचाया गया, जहाँ से उन्हें गंगा के मार्ग से इलाहाबाद जाना था। यहाँ पर विप्लव की वह दुर्घटना हुई जिसको सभी अँगरेज इतिहासकारों के वर्णनों में प्रमुख स्थान मिला है। यह सच है कि सतीचौरा घाट पर जो कुछ भी हुआ वह उस क्रोध का परिणाम था जो बनारस और इलाहाबाद में नील के अमानुषिक अत्याचारों से भड़क उठा था। यह भी सच है कि नाना साहब और उसके सहयोगियों का उस दुर्घटना से कोई सम्बन्ध न था, जो पहले से सर्वथा अविचारित थी और क्रुद्ध जनसमूह की भड़कती हुई क्रोधाग्नि का परिणाम थी। नावों को २७ जून की सुबह यात्रा प्रारम्भ करनी थी। घाट पर सैनिकों एवं नागरिकों का एक विशाल जमघट हो गया था। अकस्मात् एक क्रुद्ध सैनिक ने अँगरेज सेनानायक (कर्नल) पर आक्रमण कर दिया। नाना के पास उसके महल में यह समाचार पहुँचा। उसने आदेश दिया कि स्त्रियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाई जाय। अँगरेज स्त्रियों को क्रुद्ध जनसमूह से बचाकर सौदा कोठी में पहुँचाया गया और वहाँ बंद कर दिया गया। अँगरेज पुरुषों को एक पंक्ति में खड़ा कर उनके सिर काट लिये गये। केवल चार अँगरेज एक नाव में बच निकले। इस प्रकार बंदी की हुई १२५ अँगरेज स्त्रियों के साथ, नाना साहब के आदेशानुसार बड़ी उदारता का व्यवहार किया गया। परन्तु कुछ शैतानों ने अफवाहें उड़ाईं कि इन स्त्रियों के साथ बहुत अपमानपूर्ण व्यवहार किया गया था। जस्टिन मैकार्थी ने "हिस्ट्री आफ् अवर ओन टाइम्स" ('हमारे समय का इतिहास') में लिखा है कि "अँगरेज स्त्रियों पर अनिवार्य रूप से चक्की पीसने के अतिरिक्त और कोई भी अपमानपूर्ण शर्तें नहीं लगाई गई थीं..... स्त्रियों पर 'अत्याचार' शब्द के सामान्यतः स्वीकृत अर्थों में, कोई भी अत्याचार नहीं किया गया था। कोई भी अँगरेज स्त्री नग्न या अपमानित नहीं की गई या उसका जान-बूझकर अंग-भंग नहीं किया गया।" २८ जून १८५७ के दिन कानपुर में एक शानदार दरबार किया गया, जिसमें बादशाह बहादुरशाह के सम्मान में १०१ तोपों की सलामी दी गई और नाना साहब ने पेशवा की पदवी धारण की।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई——मार्च सन् १८५४ ई० में लॉर्ड डलहौजी ने झाँसी की रियासत को बेदखल कर दिया था। इतने से ही संतुष्ट न होकर डलहौजी ने

दिवंगत गंगाधरराव के छोड़े हुए कोष पर भी, जो आभूषण और नकद धन मिलाकर ७ लाख के लगभग होता था, यह वचन देकर अधिकार कर लिया था कि गंगाधरराव के दत्तक पुत्र के बालिग होने पर यह कोष उसे लौटा दिया जायगा। विधवा रानी लक्ष्मीबाई को पाँच हजार रुपये मासिक की वृत्ति दी गई, परन्तु स्वाभिमानी रानी ने इसको लेना स्वीकार न किया। क्षति के साथ अपमान का संयोग करने के लिए रानी के सम्मान के विरुद्ध बातें कही गईं। सर जॉन के ने लिखा है कि "उसके बारे में बुरी-बुरी बातें कही गईं, क्योंकि हम लोगों में किसी देशी राजा का राज्य छीन लेने और तब अपदस्थ राजा को या उसके संभावित उत्तराधिकारी को बदनाम करने का रिवाज-सा है। लांछन यह लगाया गया कि रानी तो एक बच्ची-सी है (और) दूसरों के प्रभाव में है तथा अत्यधिक नशेल है। वह एक बच्ची नहीं थी, यह तो उसकी बातचीत से ही सिद्ध हो जाता था और उसकी नशेबाजी की बात तो एक मनगढ़ंत कथा ही जान पड़ती है।" लक्ष्मीबाई बहुत ही गुणवती महिला थी। बचपन में उसने बिठूर दरबार में, जहाँ उसके माता-पिता रहते थे, शस्त्र चलाने की शिक्षा पाई थी। झाँसी के प्रति किये गये अन्यायों को देखकर उसका खून खौल उठा। वह विद्रोह के सर्वप्रथम समर्थकों में से थी और उसने हमेशा नाना साहब से सम्बन्ध बनाये रखा था। योजना के अनुसार ४ जून १८५७ को झाँसी में विद्रोह प्रारम्भ हुआ। १२वीं देशी रेजीमेंट के हवल्दार गुरुबख्श सिंह ने अपने दल को लेकर झाँसी के किले और शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया। रानी लक्ष्मीबाई ने विप्लव का नेतृत्व ग्रहण किया और अपने अल्पवयस्क पुत्र दामोदरराव के अभिभावक के रूप में वह झाँसी की गद्दी पर आसीन हुई। कम्पनी के झंडे के स्थान पर बादशाह बहादुरशाह का हरा झंडा फहराया गया और सारे राज्य में निम्नलिखित घोषणा प्रसारित की गई—"खल्क़ खुदा का, मुल्क बादशाह का, हुकूमत रानी लक्ष्मीबाई की।"

अवध में विप्लव—कदाचित् विप्लव और कहीं इतना सुसंघटित न था जितना कि अवध में, जिसको डलहौजी ने सबसे बाद में हड़प किया था। इस संघटन में अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अलीशाह, उसकी बेगम, फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह, शाहगंज के तालुकेदार राजा मानसिंह और सुल्तानपुर के राजा हनुमतसिंह ने प्रमुख भाग लिया था। जिस उत्साह के साथ जनता और सेना ने नवाब के पक्ष में हथियार उठाये, उससे नवाब की लोकप्रियता स्पष्ट हो जाती है। अवध के चीफ कमिश्नर हैनरी लारेंस ने हिन्दू-मुसलमानों में विरोध उत्पन्न कर विप्लव का प्रवाह रोकना चाहा, परन्तु इस प्रयत्न में विफल होकर उसने मच्छीभवन एवं रेजीडेंसी के रक्षा-स्थलों को सुदृढ़ किया; निश्चय किया गया कि आपत्ति के समय अँगरेज स्त्री-पुरुष इन स्थानों में शरण लेंगे।



सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम का एक दृश्य

३० मई सन् १८५७ की रात को जब घड़ी ने ६ का घंटा बजाया तभी लखनऊ की छावनी में गोले की आवाज गूँज उठी; यह विद्रोह का पूर्व निश्चित संकेत था। तत्काल अँगरेजों का वध, उनके घरों में आग लगाना और बादशाह बहादुरशाह का हरा झंडा फहराये जाने का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। लॉरेंस ने, अँगरेज सेना के छोटे से दस्ते को लेकर रेजीडेंसी में शरण ली। विद्रोह की आग सारे अवध में फैल गई और दस दिनों के ही अन्दर लखनऊ के थोड़े से भाग को छोड़कर सारा अवध स्वतन्त्र हो गया। सर जार्ज फॉरेस्ट लिखता है कि "इस प्रकार दस ही दिनों में अवध से अँगरेजी शासन एक स्वप्न के समान लुप्त हो गया और उसका एक भी अवशेष न बच रहा। सैनिक-दलों ने विद्रोह कर दिया; जनता ने अधीनता को दूर फेंक दिया। परन्तु वहाँ न कोई प्रतिशोध था और न कोई निर्दयता। वीर एवं शौर्य-सम्पन्न जनता ने, थोड़े से अपवादों को छोड़कर, शासक-जाति (अँगरेजों) के भगोड़ों के साथ स्मरणीय दयापूर्ण व्यवहार किया और अपने परास्त प्रभुओं के प्रति, जिन्होंने अपने अधिकार के दिनों में अपने अच्छे से अच्छे उद्देश्यों में भी अवध के अनेक लोगों के प्रति गंभीर अन्याय किये थे, अवध के लोगों की उच्च कोटि की विनय और शौर्यपूर्ण उदारता दर्शनीय थी।" हैनरी लॉरेन्स ने १००० अँगरेज सैनिकों और ७०० देशी सिपाहियों को लेकर लखनऊ की रेजीडेंसी में व्यूह-रचना की। विप्लवकारियों ने इसको चारों ओर से घेर लिया और रेजीडेंसी को छोड़ सारे अवध में भूतपूर्व नवाब का शासन पुनः स्थापित हो गया।

चक्र-परिवर्तन—इलाहाबाद के सामरिक महत्त्व से आकर्षित होकर लॉर्ड कैनिंग ने इसको १८५७-५८ के विद्रोह के समय में अपना प्रधान निवासस्थान बनाने का निश्चय किया। नील की सेनाओं द्वारा इस पर अधिकार कर लिये जाने के शीघ्र पश्चात् ही वह कलकत्ते से इलाहाबाद आ पहुँचा। दो सेनाएँ, एक जनरल हैवलॉक के अधीन और दूसरी जनरल रेनार्ड के अधीन, कानपुर पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़ीं। मार्ग में इन दोनों सेनाओं ने गाँवों को जलाने और निर्दोष ग्रामवासियों की हत्या करने में अपने नृशंसतापूर्ण अत्याचारों का प्रदर्शन किया। जनरल नील के अत्याचारों से अपने घरबार छोड़कर भागे हुए हजारों लोग नित्यप्रति कानपुर में जमा होने लगे। उनके दुःखों की कहानियाँ सचमुच दिल दहलानेवाली थीं। हैवलॉक और रेनार्ड के पहुँचने पर नाना साहब ने ज्वालाप्रसाद और टीकासिंह के नेतृत्व में एक सेना उनका सामना करने के लिए भेजी। इन दोनों विपक्षी सेनाओं की मुठभेड़ १२ जुलाई १८५७ ई० को फतेहपुर में हुई। भारतीय सैनिकों ने अद्वितीय पराक्रम प्रदर्शित किया, परन्तु अँगरेजों की अत्यधिक सेना का पलड़ा भारी रहा और नाना साहब की सेना को पीछे

हटना पड़ा। हैवलॉक ने फतेहपुर में प्रवेश किया। उसके सैनिकों ने नगर लूट लिया और तब इसको जलाकर भस्मसात् कर दिया।

बीबीगढ़ की दुर्घटना—फतेहपुर की लूट और तत्पश्चात् इसके जलाये जाने के समाचार से कानपुर की जनता की पाशविक वृत्तियाँ भड़क उठीं। इसी समय के लगभग पकड़े गये कुछ अँगरेजों के जासूसों ने यह भेद खोला कि बीबीगढ़ में बंदी बनाई हुई अँगरेज स्त्रियों का इलाहाबाद के अँगरेजों के साथ गुप्त रूप से पत्र-व्यवहार चल रहा था। इस भेद के खुलने पर जनता का क्रोध काबू से बाहर हो गया और बीबीगढ़ में कैद किये हुए १२५ अँगरेज स्त्रियों और बच्चों को मार कर उनके शवों को एक कुएँ में डाल दिया गया। ऐतिहासिक गवेषणाएँ अभी इस स्थिति तक नहीं पहुँची हैं कि बीबीगढ़ की इस घटना की सत्यता अथवा असत्यता के विषय में कोई निश्चित मत प्रकट कर सकें। तब भी इतना तो सिद्ध हो ही चुका है कि इस संहार का नाना साहब या बीबीगढ़ में नियुक्त पहरेदारों से कोई सम्बन्ध न था। सर जॉर्ज फॉरेस्ट ने लिखा है कि "प्रमाणों से सिद्ध होता कि कैदियों पर नियुक्त पहरेदार सैनिकों ने उनका वध करना अस्वीकार कर दिया था। यह दुष्टतापूर्ण अपराध नाना के पहरेदारों में से पाँच शैतानों ने एक वेश्या के उकसाने पर किया था। राष्ट्र पर इस कुकृत्य का अपराध लगाना उतना ही उदारताहीन भी है जितना कि असत्य है। इस दुर्घटना को और भी अधिक घृणापूर्ण बनाने के लिए इसके साथ निर्दयताओं की मनगढ़न्त कहानियाँ जोड़ दी गईं।" के और मैलिसन ने "हिस्ट्री आफ् दि इण्डियन म्यूटिनी" ("भारतीय गदर का इतिहास") में लिखा है कि "निर्दयता का बढ़ा-चढ़ाकर किया गया वर्णन, वह अकथनीय लज्जा, जिसके साथ, कुछ तत्कालीन इतिहासों में, इस नृशंसतापूर्ण संहार का उल्लेख किया गया है, केवल एक भड़की हुई कल्पना के कल्पित वर्णन मात्र हैं, जिन पर बिना किसी पूछताछ के फौरन विश्वास कर लिया गया है और जिनको बिना किसी सोच-विचार के प्रसारित किया गया। न किसी का अंगभंग किया गया था, न किसी को अपमानित किया गया था।" अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया कि बीबीगढ़ का यह काण्ड न तो पूर्व-नियोजित था और न इसका आदेश ही दिया गया था। यह हैवलॉक के नृशंसतापूर्ण अत्याचारों से उत्पन्न भीषण क्रोध का परिणाम था।

कानपुर में हैवलाक—हैवलॉक और नाना साहब की सेनाओं में एक भयंकर युद्ध के पश्चात् हैवलॉक ने १७ जुलाई १८५७ को कानपुर में प्रवेश किया। इस युद्ध में नाना साहब स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व कर रहा था। चार्ल्स बैल लिखता है कि "प्रवेश करते ही, जनरल हैवलॉक भयंकर प्रतिशोध लेने लगा। हिन्दुस्तानियों के दल के दल फाँसी के तख्ते पर झूलने लगे। कुछ क्रान्तिकारियों ने मृत्यु के समय

जो मस्तिष्क की शांति और व्यवहार की शीलता प्रकट की, वह ऐसी थी कि जो किसी सिद्धान्त पर बलिदान करनेवाले लोगों को गौरव प्रदान कर देती है।" पहले नगर में लूट-मार मचाई गई, तब ब्राह्मणों को पकड़ा गया और उनको बीबीगढ़ में खून के धब्बों को, जिन्हें वध की गई अँगरेज स्त्रियों के खून के धब्बे समझा जा रहा था, चाटने के लिए बाध्य किया गया, जिससे वे अपवित्र और पतित हो जायँ और तब उन्हें फाँसी पर चढ़ाया गया। तब नील को कानपुर की रक्षा का भार सौंपकर हैवलॉक लखनऊ की ओर बढ़ गया; उधर नाना साहब बिठूर छोड़कर फतहगढ़ की ओर बढ़ा।

सारे अवध में रेजीडेंसी ही एकमात्र ऐसा स्थान था, जिस पर अँगरेजों का अधिकार रह गया था; शेष सारा अवध बेगम हजरत महल के शासन में आ चुका था जो अपने अल्पवयस्क पुत्र बिर्जिस कदर के नाम पर शासन कर रही थी। रसल ने अपनी डायरी में लिखा है कि "बेगम महान् शक्ति और योग्यता प्रदर्शित कर रही है। वह हमारे विरुद्ध अक्षय युद्ध की घोषणा करती है। इन रानियों और बेगमों के शक्तिपूर्ण चरित्रों से जान पड़ता है कि ये जनानखानों और हरमों में पर्याप्त मात्रा में यथार्थ मानसिक शक्ति प्राप्त कर लेती हैं।" रेजीडेंसी में अँगरेजों पर कड़ा घेरा डाला गया। यदि तत्काल सहायता न आती तो उनकी पराजय निश्चित थी। रेजीडेंसी में घिरे अँगरेजों को सहायता पहुँचाने के लिए हैवलॉक ने गंगा पार कर लखनऊ की ओर प्रयाण किया। अवध की भूमि पर पैर रखते ही हैवलॉक का उत्साह ठंडा पड़ गया। जमींदारों और तालुकेदारों ने उसकी प्रगति रोकने के लिए अपनी सेनाएँ एकत्र कर लीं। जमीन के चप्पे-चप्पे के लिए घोर संघर्ष होने लगा। अवध के लोगों के छोटे-छोटे दल जिस अदम्य शौर्य के साथ हैवलॉक की सेना पर टूट पड़ रहे थे, उसको देख इनीस महोदय को अपनी पुस्तक **"सिपॉइ रिवोल्ट"** ('सिपाही विद्रोह') में लिखना पड़ा कि "कम से कम अवध-वासियों के संघर्ष को तो स्वतन्त्रता का युद्ध ही कहना पड़ेगा।" अनेक बार अपनी सेना को दुर्गति से बचाने के लिए हैवलॉक को पीछे हटना पड़ा। कानपुर की ओर नाना साहब की प्रगति ने उसकी स्थिति को और भी संकटपूर्ण बना दिया। नाना साहब ने अपनी सेना को पुनः संघटित कर और बुंदेलखंड एवं ग्वालियर से सहायता पाकर कानपुर पर आक्रमण कर दिया। कानपुर में नील की सेनाएँ घोर संकट में आ पड़ीं और उसने हैवलॉक से तत्काल सहायता की याचना की। नाना की साम-रिक चाल ने नील और हैवलॉक दोनों के पूर्ण विनाश की संभावना उत्पन्न कर दी। उनके लिए एकमात्र आशा इसीमें रह गई कि वे अपनी सेनाओं को एक कर लें। हैवलॉक ने अवध की ओर से पीठ फेरी, १२ अगस्त को गंगा पार किया और वह फिर

कानपुर आ पहुँचा। इसी बीच नाना ने बिठूर पर अधिकार कर लिया। वह कानपुर पर दो तरफ से आक्रमण करने की तैयारियाँ करने लगा—एक तो बिठूर की ओर से और दूसरे कालपी की ओर से। १७ अगस्त को हैवलॉक और नाना की सेनाओं में मुठभेड़ हुई; दिन ढलते-ढलते दोनों सेनाएँ पीछे हट गईं। अब हैवलॉक को कालपी में नाना की तैयारियों की सूचना मिली। हैवलॉक ने देखा कि वह भयंकर स्थिति में आ फँसा है; उसने तत्काल सहायता भेजने के लिए कलकत्ते लिख भेजा। १५ सितम्बर को जनरल आउट्रम की अधीनता में एक नई अँगरेज सेना कानपुर आ पहुँची।

दिल्ली का पतन—जब हैवलॉक सहायता की प्रतीक्षा कर रहा था और नाना साहब कानपुर पर अन्तिम प्रहार करने की तैयारियों में लगा था, उसी बीच दिल्ली का पतन हो गया और बादशाह बहादुरशाह कैद कर लिया गया; इन घटनाओं ने विप्लव के घटना-चक्र को बदलने में बहुत प्रभाव डाला। बहादुरशाह के कैद हो जाने से विप्लवकारियों से उनकी एकता का प्रतीक छिन गया और दिल्ली के पतन से अँगरेजों के लिए संघर्ष का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया। इन घटनाओं का सामरिक महत्त्व इतना अधिक न था, जितना इनका नैतिक महत्त्व था। इनसे उन देशी रियासतों और बम्बई, मद्रास जैसे प्रांतों को बल मिला, जो विप्लव से अलग रहे थे। अब तक जो लोग किनारे पर बैठकर घटना-चक्र की गति देख रहे थे और विप्लव में भाग लेने या न लेने का निर्णय नहीं कर पा रहे थे, अब कम्पनी के पक्ष में हो गये। संक्षेप में दिल्ली के पतन से विप्लव के भाग्य का निर्णय हो गया और विप्लव अवध की सीमाओं तक ही सीमित हो गया।

मई १८५७ ई० में दिल्ली के स्वतन्त्र होते ही, अँगरेज सेना जनरल विलसन की अधीनता में दिल्ली पहुँच गई थी। परन्तु संख्या में कम होने के कारण उसे रक्षात्मक युद्ध ही करना पड़ रहा था। उधर बादशाह बहादुरशाह की सेनाएँ, एक नेतृत्व न होने के कारण, अँगरेज सेना को दिल्ली की दीवारों से दूर नहीं खदेड़ पा रही थीं। नेतृत्व की एकता के अभाव के कारण दिल्ली में जमा हुई अनेक सेनाओं की प्रहार करने की शक्ति बहुत कम हो गई थी। सूबेदार बख्त खाँ की सैनिक प्रतिभा इस योग्य अवश्य थी कि वह विप्लव की सेनाओं का अँगरेजों के विरुद्ध नेतृत्व कर सकता; परन्तु वह उन सेनाओं में अपने प्रति विश्वास न जगा सका, जो सीधे उसके सेनापतित्व में नहीं थीं। इस संकट-काल में अपने मनमुटावों को दूर कर एक हो जाने की बहादुरशाह की अपीलों पर किसी ने ध्यान न दिया। अँगरेजों ने इस फूट से पूरा-पूरा लाभ उठाया। अपने जासूसों द्वारा उन्होंने इस फूट को खूब बढ़ाया। हडसन जासूसी दल का प्रधान संचालक था। उसको बहादुर-

शाह के दरबार की गुप्त सूचनाएँ देनेवाला था, बहादुरशाह का एक निकट विश्वासघाती सम्बन्धी इलाहीबख्श।

पंजाब से जनरल निकलसन की अधीनता में एक नई अँगरेज सेना के दिल्ली पहुँच जाने से, दिल्ली की दीवारों के नीचे डटी हुई कम्पनी की सेना में आशा की लहर दौड़ गई। उस समय कम्पनी की सेना में अँगरेज, पंजाबी, सिक्ख, गोरखे और कश्मीरी—यह सब दल मिलाकर ११,००० सैनिक थे। इनके अलावा झींद का राजा अपनी सेना का स्वयं सेनापतित्व कर रहा था। अब अँगरेजों ने रक्षात्मक युद्ध छोड़कर आक्रमणात्मक युद्ध प्रारम्भ किया। दिल्ली पर उनका आक्रमण प्रारम्भ हो गया। परन्तु ७ सितम्बर से १३ सितम्बर तक वे दिल्ली की दीवालों में कुछ सेंध लगाने के सिवाय और कुछ भी न कर सके। इस कार्य में भी उनको असंख्य जानों से हाथ धोना पड़ा।

१४ सितम्बर की लड़ाई—१४ सितम्बर की लड़ाई विप्लव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युद्ध था। जनरल विलसन ने अपनी सेना को पाँच टुकड़ियों में बाँटा; एक जनरल निकलसन के अधीन, दूसरी कर्नल कैम्पवैल के अधीन, तीसरी ब्रिगेडियर जोन्स के अधीन, चौथी मेजर रीड के अधीन और पाँचवीं ब्रिगेडियर लॉगफील्ड के अधीन रखी गई। प्रमुख आक्रमण कश्मीरी दरवाजे, काबुली दरवाजे और सब्जीमंडी की ओर से किया गया। जब कि कर्नल निकलसन ने पाँच में से तीन टुकड़ियों को लेकर कश्मीरी दरवाजे की ओर से आक्रमण किया, मेजर रीड ने चौथी टुकड़ी को लेकर काबुली दरवाजे और सब्जीमंडी पर धावा बोला। घमासान युद्ध छिड़ गया, जिसमें दोनों पक्षों ने अद्वितीय शौर्य प्रकट किया। चप्पे-चप्पे के लिए घोर युद्ध होने लगा। परन्तु निकलसन की प्रगति को कुछ भी न रोक सका। गोले और गोलियों की बौछारों के बीच वह सबसे पहले किले की दीवार पर चढ़ गया और उसने विजय का बिगुल बजाया। कश्मीरी दरवाजा बारूद से उड़ा दिया गया और अँगरेज सेनाएँ दिल्ली में घुस पड़ीं, परन्तु २४ सितम्बर तक दिल्ली पर पूर्णतः अधिकार न किया जा सका।

बहादुरशाह की गिरफ्तारी—अँगरेज बहादुरशाह को अपने कब्जे में करने के लिए बेचैन हो रहे थे। उन्हें सबसे अधिक भय इस बात का था कि कहीं वह भाग न निकले। विश्वासघाती इलाहीबख्श को बड़े-बड़े प्रलोभन देकर इस बात के लिए राजी किया गया कि वह बादशाह को दिल्ली से न जाने दे और उसको अँगरेजों के हाथ में पकड़ा दे। १६ सितम्बर को सूबेदार बख्त खाँ ने बादशाह से भेंट की और उससे प्रार्थना की कि वह पराजय स्वीकार न करे और दिल्ली को उसके हाथ में सौंपकर बाहर निकल जाय और संघर्ष जारी रखे। बहादुरशाह ने उसकी प्रार्थना

स्वीकार कर ली और उसे अपना अन्तिम उत्तर अगले दिन हुमायूँ के मकबरे पर देने का वचन दिया। उधर विश्वासघाती इलाहीवख्श ने गुप्त मन्त्रणा के अनुसार बादशाह को यह विश्वास दिलाने में किसी प्रकार की कसर न छोड़ी कि दिल्ली छोड़कर चले जाना महान् मूर्खता होगी और यह भी कि उसका हित इसीमें है कि वह अँगरेजों के सामने आत्मसमर्पण कर दे। इलाहीवख्श ने उसको वचन दिया कि वह अँगरेजों से यह शर्त करवा लेगा कि बादशाह और उसके परिवार पर किसी प्रकार की आँच न आने पायेगी। उसने बख्त खाँ पर यह अभियोग भी लगा दिया कि वह तो एक विश्वासघाती पठान है और पठानों तथा मुगलों के पुराने वैर का बदला चुकाना चाहता है। अगले दिन निश्चित समय पर बख्त खाँ ने हुमायूँ के मकबरे पर बादशाह से भेंट की और उससे प्रार्थना की कि वह उसके साथ दिल्ली छोड़कर चल दे; उधर इलाहीवख्श ने बादशाह को इसके विरुद्ध भड़काया। देशभक्ति और विश्वासघात में दाँव-पेंच होने लगे। अन्त में विश्वासघात की जीत हुई और बहादुरशाह ने बख्त खाँ के साथ दिल्ली छोड़कर चल देने से इनकार कर दिया; भग्न हृदय लेकर बख्त खाँ मकबरे से लौट पड़ा। तत्काल ही इलाही-वख्श ने अँगरेजों को मकबरे पर हमला करने की सूचना भेज दी। कैप्टेन हडसन, जिसको पहले ही सूचना मिल चुकी थी, नजदीक ही प्रतीक्षा कर रहा था। वह शीघ्र ही मकबरे पर आ पहुँचा। उसने बादशाह और उसकी बेगम को बंदी बनाकर गुप्त रूप से दिल्ली के लाल किले में पहुँचा दिया।

शाहजादों की हत्या—हडसन ने इलाहीवख्श से पता पाकर बादशाह के दो पुत्रों और एक नाती को भी कैद कर लिया। इन्होंने तत्काल आत्मसमर्पण कर दिया था। हडसन इन्हें एक जलूस के रूप में एक गाड़ी में बिठाकर नगर की ओर ले चला। जब ये नगर से लगभग एक मील की दूरी पर थे, उसने इनको अपने कपड़े उतारने का आदेश दिया और तब उन्हें चुपचाप गोली का निशाना बना दिया। इतने से ही उसकी पाशविक वृत्ति तृप्त न हो सकी। उसने इनके सिर धड़ से अलग कर दिये और ये सिर बहादुरशाह के सामने पेश किये गये। अपनी संतान के कटे सिर देखकर बूढ़े बादशाह ने कल्पनातीत शान्ति से कहा :—

"हम्दुलिल्लाह; तैमूर की औलाद ऐसे ही सुर्ख-रू होकर बाप के सामने आया करती थी।"

इतने पर भी संतुष्ट न होकर, हडसन ने इन कटे सिरों और धड़ों को खुले-आम सूली पर लटकाने का आदेश दिया। हडसन के इस नारकीय आचरण ने सिद्ध कर दिया कि मनुष्य कैसी-कैसी नीचताओं तक उतर सकता है; ऐसी नीच-ताओं तक जिनका औचित्य प्रतिशोध के कानून से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

विद्रोह करने और हत्या में भाग लेने का अभियोग लगाकर बहादुरशाह को आजीवन कारावास का दंड देकर रंगून भेजा गया, जहाँ उसने सन् १८६३ ई० में इस संसार से विदा ली।

दिल्ली में लूट और संहार—अँगरेज सेनाओं के प्रवेश के साथ-साथ दिल्ली में जो लूट मची, वैसी तो नादिरशाह ने भी न मचाई थी। तीन दिनों तक कम्पनी के सिपाहियों को जी भर लूट-पाट करने की अनुमति दे दी गई। इसके पश्चात् लूट मचाने के लिए एजेंसियाँ स्थापित की गईं, जिनका काम था प्रत्येक घर के सारे सामान को लूट कर नीलाम कर देना और नीलाम से प्राप्त धन को खजाने में जमा करना। इन एजेंसियों ने वर्णनातीत अत्याचार किये। जमीन में गड़े धन का पता बताने को बाध्य करने के लिए यन्त्रणा देने के विलक्षण उपाय अपनाये गये। बहुत से लोग इन अत्याचारों से बचने के लिए घर-बार छोड़कर भाग गये; जो वहीं रह गये उनसे उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली गई और उनका वध कर दिया गया। मंदिरों और मस्जिदों को भ्रष्ट किया गया; मुसलमानों को सुअरों की खालों में सिया गया, उनके शरीर पर अपवित्र चर्बी मली गई और तब उन्हें जलाया गया। थोड़े ही दिनों में शाही नगर जन-शून्य हो गया; वहाँ केवल चीलें मँडराने लगीं, जो अधजले मुर्दों का आहार करने के लिए एकत्र हो गई थीं।

विप्लव का अन्तिम दमन—दिल्ली का पतन विप्लव की समाप्ति का प्रारम्भ था। इसने विप्लव के भाग्य का निर्णय कर दिया। अब अँगरेजी राज्य की स्थिति असंदिग्ध हो गई। विप्लव की कथा को पूर्ण करने के लिए अब अवध में विद्रोह के दमन का और क्रांतिकारियों के नेतृत्व-विहीन छोटे-छोटे छितरे हुए दलों की पकड़-धकड़ का वर्णन ही शेष रह गया है।

लखनऊ पर पुनः अधिकार—दिल्ली के पतन के पश्चात् अँगरेजों का प्रमुख लक्ष्य लखनऊ की रेजीडेंसी में घिरे अँगरेजों को सहायता पहुँचाना बन गया। २० सितम्बर को हैवलॉक एक नई सेना लेकर दुबारा लखनऊ की ओर चल पड़ा और वह २३ सितम्बर को आलमबाग पहुँचा। यहाँ एक घमासान युद्ध लड़ा गया, जिसके अन्त में हैवलॉक ने आलमबाग से अपनी सेना हटा ली और कैंची काटकर वह रेजीडेंसी की ओर बढ़ा। मार्ग में अनेक कड़े प्रतिरोधों का सामना करते हुए जिनमें जनरल नील मारा गया, २५ सितम्बर को वह रेजीडेंसी में पहुँचा। रेजीडेंसी के अन्दर प्रवेश करने पर हैवलॉक ने देखा कि घिरे हुए लोगों को सहायता पहुँचाने की अपेक्षा उसने उनके दल को ही बढ़ा दिया था। रेजीडेंसी की दीवारों के बाहर अवध की सेनाएँ आ डटी थीं और रेजीडेंसी के अन्दर हैवलॉक इसके सिवाय और कुछ भी कर सकने में असमर्थ था कि चुपचाप नई सहायक सेना के पहुँचने की प्रतीक्षा करे।

सर कॉलिन कैम्पवैल, जो अब प्रधान सेनापति था, हैवलॉक के संकट में घिरे होने का समाचार पाकर स्वयं एक विशाल सेना लेकर २७ अक्टूबर को कलकत्ते से लखनऊ की ओर रवाना हुआ। वह ३ नवम्बर को कानपुर पहुँचा और तब उसने लखनऊ पर एक अन्तिम और निश्चयात्मक प्रहार करने की तैयारियाँ कीं। जनरल ग्रांट की अधीनता में एक विशाल सेना जुटाई गई; जनरल ग्रेटहैड भी, जो दिल्ली के विजित हो जाने से अब वहाँ से छुट्टी पा गया था, अपनी सेना लेकर ग्रांट के साथ आ मिला।

नाना साहब के संभावित आक्रमणों से कानपुर की रक्षा करने के लिए विन्डहम को कुछ अँगरेज और सिक्ख सैनिक टुकड़ियों के साथ वहीं छोड़कर, कैम्पवैल ग्रेटहैड के साथ लखनऊ की ओर बढ़ा और ९ नवम्बर को आलमवाग पहुँचा। अब अवध की सेनाएँ इधर हैवलॉक और उधर कैम्पवेल की सेनाओं के बीच फँस गईं। आलमवाग, सिकन्दरवाग और वस्तुत: लखनऊ की एक-एक इंच धरती पर घमासान युद्ध हुए। १४ नवम्बर से २३ नवम्बर तक के नौ दिनों में शहीदों का खून लखनऊ की सड़कों में बहता रहा। रेजीडेंसी का घेरा तोड़ दिया गया और हैवलॉक एवं कैम्पवैल के दल मिल गये। तब भी लखनऊ शहर का बहुत बड़ा भाग स्वतन्त्र ही बना रहा। २४ नवम्बर को हैवलॉक की मृत्यु हो गई। इसी बीच कैम्पवैल को समाचार मिला कि तात्या टोपे ग्वालियर की सेना के साथ कानपुर की ओर बढ़ रहा है। तात्या टोपे नाना साहब के योग्यतम सेनानायकों में से था। उसकी प्रगति के समाचार से अँगरेजी दल में खलबली मच गई और लखनऊ के विषय में कैम्पवैल की योजनाएँ भंग हो गईं, क्योंकि उसे स्वयं कानपुर की ओर प्रयाण करना पड़ा।

तात्या टोपे के शौर्यपूर्ण कार्य—विप्लव के अनेक योग्य नेताओं में से कोई भी तुरन्त निर्णय करने और योजनाओं को साहसपूर्वक निभाने में तात्या टोपे की बराबरी नहीं कर सकता था। प्रकृति ने उसको एक योग्य सेनानायक के सभी गुणों से सम्पन्न बनाया था और शत्रु की दुर्बलताओं को तत्काल भाँप जाने की उसमें अद्भुत प्रतिभा थी। वह जितना उग्र साहसी था, उतना ही आशावादी भी था। उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। नाना साहब के एक सेनानायक के रूप में उसने प्रमुखता प्राप्त की। हैवलॉक के हाथों हार खाकर नाना साहब विठूर छोड़कर फतेहपुर आ गया था और यहाँ कानपुर पर फिर से अधिकार करने की तैयारियाँ कर रहा था। नाना के पास इस समय सैनिकों की बड़ी कमी थी और इसको पूरा करने के लिए उसने तात्या टोपे को शिवराजपुर भेज दिया था, जहाँ कम्पनी की एक पैदल सैनिकों की रेजीमेंट थी, जिसने अभी

तक विप्लव में भाग न लिया था। तात्या ने अपनी देशभक्ति के प्रखर तेज और वाणी की ओजस्विता से सैनिकों को प्रभावित कर अपनी ओर कर लिया और उन्हें लेकर विठूर पर फिर से अधिकार कर लिया। हैवलॉक ने लखनऊ का प्रयाण छोड़कर तात्या पर धावा बोल दिया और एक घमासान युद्ध के बाद उसे १६ अगस्त के दिन परास्त कर दिया। युद्ध का परिणाम अपने विपरीत जाते देखकर, तात्या ने अपनी बची-खुची सेना एकत्र की। वह फतेहपुर पहुँच गया। अपनी सेना को यहीं छोड़कर वह नई सेना जुटाने की आशा से ग्वालियर की ओर झपटा। मुरार नामक स्थान पर कम्पनी की एक सहायक सेना नियुक्त थी। इस सेना को विप्लव के पक्ष में कर लेने के लिए तात्या के पास पर्याप्त प्रतिभा थी। अद्वितीय द्रुत गति से वह इस सेना को लेकर कालपी पहुँचा और उसने ६ नवम्बर को कालपी के दुर्ग पर धावा बोल दिया। यहाँ नाना साहब भी उससे आ मिला और तात्या अपनी सेना लेकर कानपुर पर अधिकार करने के लिए बढ़ा। उसने अँगरेज जनरल विन्डहम की सेनाओं को घेर लिया और तीन दिन के संघर्ष के पश्चात् कानपुर पर पुनः अधिकार कर लिया। इसीका समाचार पाकर कैम्पवैल को लखनऊ पर अधिकार करने की योजनाओं को छोड़कर कानपुर की ओर लौटना पड़ा।

कानपुर पर अँगरेजों का अधिकार—कैम्पवैल के पहुँचने का समाचार पाकर तात्या उसका सामना करने के लिए अपनी सेना लेकर गंगा तट पर आ डटा। वहाँ स्वयं नाना साहब भी उसके साथ आ मिला। १ दिसम्बर से ६ दिसम्बर तक, ६ दिनों तक दोनों पक्षों की सेनाएँ घोर संग्राम में गुथी रहीं। छठे दिन तात्या की सेना का दायाँ भाग कमजोर पड़ने लगा; उसने संग्राम से मुँह मोड़ लिया। कैम्पवैल ने कानपुर में प्रवेश किया और तात्या ने कालपी की ओर प्रयाण किया।

लखनऊ पर पुनः अधिकार—अब कैम्पवैल को लखनऊ पर अधिकार करने की अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का अवकाश मिल गया। दिसम्बर १८५७ ई० में जंगबहादुर के सेनापतित्व में एक गोरखा सेना अँगरेजों की सहायता के लिए आ पहुँची। २३ फरवरी सन् १८५८ को कैम्पवैल ने २२,००० सैनिकों और १३८ तोपों की एक विशाल वाहिनी के साथ कानपुर से लखनऊ की ओर प्रयाण किया। जनरल फ्रैंक के अधीन एक दूसरी विशाल सेना ने और जंगबहादुर के नेतृत्व में गोरखा सेना ने भी लखनऊ की ओर कूच किया। ये तीनों सेनाएँ मार्च १८५८ ई० में एकत्र हुईं। चार हजार सैनिकों के साथ आउट्रम, अनेक आक्रमणों का प्रतिरोध करता हुआ आलमबाग में डटा हुआ था।

लखनऊ में देशभक्ति का उत्साह उमड़ा पड़ रहा था, परन्तु साथ ही फूट के चिह्न भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे थे। अँगरेजों का विरोध करने के लिए लखनऊ में

जो अनेक सेनाएँ आ जुटी थीं, उनका सेनापतित्व करने के लिए फैजाबाद का मौलवी अहमदशाह सब प्रकार से योग्य था; परन्तु विधाता कुछ और खेल रच रहा था। अहमदशाह के बुद्धिमत्तापूर्ण आदेशों की उपेक्षा की जाने लगी। अपने गुणों के बल पर उसने जो प्रमुखता प्राप्त कर ली थी, उसको देखकर उसके अधीनस्थ अनेक लोग ईर्ष्या करने लगे थे। "सिपॉइ वार" ('सिपाही युद्ध') के लेखक होम्स ने उसके बारे में लिखा है कि वह "ऐसा व्यक्ति था जो अपनी भावनाओं और योग्यताओं दोनों के ही कारण एक महान् उद्देश्य को निभाने और एक विशाल सेना का सेनापतित्व करने के योग्य था।" अपने महान् उद्देश्य को तो वह निस्संदेह निभाता रहा, परन्तु सेना ने उसके आदेशों का पालन करना अस्वीकार कर दिया। परिणाम हुआ सर्वनाश। लखनऊ के लिए खूनी संघर्ष छिड़ गया। बेगम हजरत महल स्वयं मैदान में उतर पड़ी। अनेक महिलाओं ने लखनऊ के इस युद्ध में भाग लिया, परन्तु इससे कुछ भी उद्देश्य सिद्ध न हुआ। नेतृत्व की एकता और सैनिक-संख्या की विशालता विजयी हुई। अँगरेजी सेना ने मार्च १८५८ में लखनऊ में प्रवेश किया और लखनऊवासियों का संहार प्रारम्भ हो गया।

लखनऊ पर अधिकार हो जाने पर अब अँगरेजों के लिए केवल विप्लव की बिखरी हुई सेनाओं का पीछा करना और जगदीशपुर के राजा कुँवरसिंह, अहमदशाह, नाना साहब, रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे जैसे नेताओं को हराना ही शेष रह गया।

राजा कुँवरसिंह और अँगरेज—राजा कुँवरसिंह जगदीशपुर नामक एक छोटी-सी रियासत का शासक था; यह रियासत भी डलहौजी के लोभ का शिकार बनी थी। कुँवरसिंह प्रारम्भ में ही विप्लव में सम्मिलित हो गया था और बिहार में अपनी देश-भक्ति के प्रभाव से विप्लव का संघटन करने में जुट पड़ा था। बिहार के विप्लवकारी नेताओं में कुँवरसिंह अग्रणी था। जिस समय विप्लव प्रारम्भ हुआ, उस समय कुँवरसिंह अस्सी वर्ष का हो चला था। परन्तु वृद्धावस्था उसके प्रयत्नों और दृढ़ निश्चयों में बाधक न बन पाई। उसने अँगरेजों के विरुद्ध अनेक युद्ध लड़े और अनेक युद्ध जीते। परन्तु उसकी व्यक्तिगत शक्तिमत्ता अँगरेजों की सुसंघटित शक्ति की धारा को कब तक रोक सकती थी। अप्रैल १८५८ ई० में कुँवरसिंह का देहान्त हो गया। उसके भाई अमरसिंह ने संघर्ष जारी रखा। जगदीशपुर का स्वतन्त्र और विप्लव का केन्द्र बने रहना अँगरेजों की आँखों में बुरी तरह खटक रहा था। अक्टूबर १८५८ में अँगरेजों की एक विशाल सेना ने जगदीशपुर के विरुद्ध प्रयाण किया और इस पर चारों ओर से धावा बोल दिया। जगदीशपुर अँगरेजों के हाथ लगा; परन्तु अमरसिंह अपने कुछ बचे हुए साथियों के साथ भाग निकला।

अँगरेजों ने उसका पीछा किया। १९ अक्टूबर को नौ नदी नामक स्थान पर एक घमासान लड़ाई हुई। अपने दो अनुयायियों के साथ अमरसिंह कैमूर की पहाड़ियों की ओर भाग चला और इतिहास नहीं जानता कि आगे उसका क्या हाल हुआ।

अहमदशाह और नाना साहब—सर कॉलिन कैम्पवैल द्वारा एक विशाल अँगरेजी सेना संघटित होती देखकर और लखनऊ का पतन हो जाने पर विप्लव के नेताओं ने मैदान में डटकर युद्ध करने की नीति त्याग कर गुरिल्ला-युद्ध की नीति अपनाई। अहमदशाह ने लखनऊ छोड़कर शाहजहाँपुर में डेरा डाला; नाना साहब भी उसके साथ आ मिला। सर कॉलिन ने इन दोनों नेताओं को पकड़ने के विचार से शाहजहाँपुर को चारों ओर से घेर लिया। अहमदशाह और नाना साहब लड़ते हुए, अँगरेज सेनाओं के बीच में से होकर, सर कॉलिन के मंसूबों को तोड़ते हुए बाहर निकल गये और रुहेलखंड की राजधानी बरेली में पहुँच गये। कम्पनी-सरकार के एक न्यायाधीश खान बहादुर खाँ के प्रयत्नों से रुहेलखंड स्वतन्त्र हो गया था। अहमदशाह, नाना साहब, बेगम हजरत महल और अन्य नेता अँगरेजों के विरुद्ध भावी कार्यक्रम बनाने के लिए बरेली में एकत्र हो गये। सर कॉलिन ने शाहजहाँपुर छोड़ कर मई १८५८ ई० में बरेली पर घेरा डाल दिया। घमासान युद्ध के बाद बरेली तो अँगरेजों के हाथ आ गया, परन्तु नेता लोग यहाँ से भी बच निकले।

अभी कॉलिन बरेली में ही था कि अहमदशाह ने अपनी बची-खुची सेना को संघटित कर शाहजहाँपुर पर पुनः अधिकार कर लिया। सर कॉलिन ने तत्काल शाहजहाँपुर को घेर लिया। नाना साहब और अन्य नेता अहमदशाह की सहायता के लिए द्रुत गति से रवाना हुए। तीन दिन तक भयंकर युद्ध चलता रहा। शाहजहाँपुर फिर हाथ से निकल गया, परन्तु अहमदशाह विद्युत् गति से रुहेलखंड के बीच से कूच करता हुआ, फिर से अवध में अपनी सेना को पुनः संघटित करने के लिए आ पहुँचा। पवन के राजा जगन्नाथसिंह से सहायता का वचन पाकर वह उसके प्रदेश में जा फँसा, जहाँ राजा के भाई ने विश्वासघातपूर्वक जून १८५८ में उसका वध कर दिया। अपने महान् गुणों के कारण वह अपने शत्रुओं और मित्रों, सभी की प्रशंसा का पात्र बना; मैलिसन लिखता है कि "मौलवी (अहमदशाह) एक स्मरणीय व्यक्ति था। सैनिक नेता के रूप में उसकी सामर्थ्य के विप्लव के दिनों में अनेक प्रमाण प्राप्त हुए। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति सर कॉलिन कैम्पवैल को युद्ध के मैदान में दो-दो बार चकमा देने का घमंड नहीं कर सकता था। यदि देश-भक्त, वह व्यक्ति होता है जो अपने देश की, अन्यायपूर्वक नष्ट की गई स्वतन्त्रता को (पुनःप्राप्त करने) के लिए मन्त्रणाएँ करता और लड़ता है, तो निश्चय ही यह मौलवी एक सच्चा देश-भक्त था। उसने हत्याओं से अपनी तलवार को कलं-

कित न किया था, उसने किसी वध की ओर संकेत न किया था, वह युद्ध-क्षेत्र में एक पुरुष के समान, सम्मानपूर्वक और दृढ़तापूर्वक उन विदेशियों के विरुद्ध लड़ा था, जिन्होंने उसके देश पर अधिकार कर लिया था; और उसकी स्मृति सभी राष्ट्रों के वीर एवं सच्चे मन के व्यक्तियों के सम्मान के योग्य है।"

अहमदशाह के विश्वासघातपूर्वक किये गये वध ने अवध में फिर से विप्लव की आग भड़का दी। खान बहादुर खाँ मैदान में डटा ही हुआ था। निजाम अली खाँ ने पीलीभीत पर आक्रमण कर दिया। नाना साहब, बाला साहब, अली खाँ मेवाती, बेगम हजरत महल तथा अवध के अन्य नेताओं ने स्वतन्त्रता के लिए अपनी तलवारें फिर से म्यान के बाहर निकाल लीं। अवध की जनता उनके आह्वान पर जिस शीघ्रता से मैदान में कूद पड़ी, उसको देखकर विजेता अँगरेज दंग रह गये। लखनऊ की स्थिति फिर से संकटमय हो गई। विप्लव की सेनाएँ राजा बेनीमाधव के नेतृत्व में लखनऊ के समीप नवाबगंज में जमा हुईं। अँगरेजी सेना ने होप ग्रांट के नेतृत्व में विप्लवियों का सामना करने के लिए जून १८५८ ई० में प्रयाण किया। घमासान युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में अँगरेजों की विजय इतनी प्रशंसनीय नहीं थी, जितनी पराजित विप्लवियों की दृढ़ता। ऐसे संघर्ष समस्त अवध में चलते रहे। इन पर १८५८ ई० की घोषणा का, जिसके अनुसार कम्पनी का शासन समाप्त हो गया, कुछ भी प्रभाव न पड़ा। यह संघर्ष अप्रैल १८५९ ई० तक चलता रहा जब कि उस संघर्ष के योद्धा नेपाल की ओर चले गये। नाना साहब, हजरत महल, बाला साहब और उनके कुछ बचे हुए अनुयायियों ने नेपाल में प्रवेश किया। उन्होंने आत्मसमर्पण करना स्वीकार न किया और वे इतिहास के पृष्ठों से नेपाल की पहाड़ियों और जंगलों में लुप्त हो गये।

रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे—रानी लक्ष्मीबाई विंध्याचल पर्वत के उत्तर और जमुना के दक्षिण के प्रदेश में, जिसका केंद्र झाँसी था, विप्लव की सर्वप्रमुख नेत्री थी। वह विप्लव का झंडा फहराने में अग्रणी रही थी और सबसे अंत में हराई जा सकी थी। सर ह्यूरोज ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया। वह मार्च सन् १८५८ ई० में झाँसी पहुँचा। उसके आगमन का समाचार पाकर रानी लक्ष्मीबाई ने उसके मार्ग में पड़नेवाले समस्त प्रदेश को उजाड़ देने का आदेश दिया, जिससे उसको भोजन और चारा न मिल सके। परन्तु ग्वालियर, टेहरी और टीकमगढ़ राज्यों ने ह्यूरोज के प्रति अत्यधिक उदारता दिखाकर रानी की इस नीति को विफल कर दिया। रानी ने स्वयं अपनी देख-रेख में झाँसी के रक्षात्मक स्थलों को सुव्यवस्थित किया, किले की दीवारों पर तोपें चढ़वाईं और २४ मार्च को अँगरेज सेना पर गोलाबारी शुरू की गई। ह्यूरोज की और झाँसी की सेनाओं में प्राणान्तक

मुठभेड़ शुरू हो गई। आठ दिनों तक यह संघर्ष चलता रहा। आखिर अँगरेज सेना की अत्यधिक संख्या का पलड़ा भारी पड़ने लगा। इसी अवसर पर तात्या टोपे के अपनी छोटी सी सेना के साथ अँगरेजी सेना के पृष्ठ भाग में आ जाने से झाँसी को आशा की एक नई किरण दिखाई देने लगी। तात्या को कालपी में रानी लक्ष्मीबाई का पत्र मिला था, जिसमें उससे सहायता की याचना की गई थी। पत्र पाते ही उसने झाँसी की ओर प्रयाण कर दिया। इस प्रकार अँगरेज सेना चक्की के दो पाटों के बीच पड़ गई। उसके सामने लक्ष्मीबाई की सेना थी तो पीठ पर तात्या की सेना। परन्तु ह्यूरोज ने इस अवसर पर प्रशंसनीय रण-कौशल का परिचय दिया। उसने तात्या टोपे पर आक्रमण कर १ अप्रैल १८५८ ई० को उसकी तोपें छीन लीं और उसकी सेना को तितर-बितर कर दिया। अब झाँसी की स्थिति निराशापूर्ण हो उठी। ३ अप्रैल को अँगरेजों ने अपनी पूरी शक्ति के साथ झाँसी पर आक्रमण कर दिया; परन्तु रानी लक्ष्मीबाई के उत्साहपूर्ण नेतृत्व में झाँसी की सेना ने उसको भारी क्षति के साथ पीछे ढकेल दिया। नारी-सौंदर्य, उत्साह-वर्धक शौर्य और पौरुषमय वीरता की साक्षात् प्रतिमा, भारतीय विप्लव की जोन ऑफ् आर्क, रानी लक्ष्मीबाई घोड़े पर सवार होकर हाथ में तलवार लिये, झाँसी के वीर रक्षकों की पंक्तियों में उनको उत्साह दिलाती और आदेश देती घूम रही थी। खुले मैदान में उसका सामना करने में असमर्थ होकर, अँगरेजों ने विश्वासघात का मार्ग अपनाया। झाँसी के अन्दर उन्होंने कुछ देशघातियों को अपनी ओर मिला लिया, जिन्होंने उनके लिए दक्षिण की ओर का फाटक खोल दिया; इस ओर से अँगरेजी सेना किले में घुस पड़ी। रानी प्रधान द्वार पर शत्रु-सेना के आक्रमणों के प्रतिरोध में व्यस्त थी। अब झाँसी के लिए कोई आशा न रह गई। अँगरेज, रास्ते में जो भी पड़ा उसका वध करते हुए महल की ओर बढ़े। अपनी प्रजा का इस प्रकार वध होते देख रानी के क्रोध का ठिकाना न रहा। अपने कुछ हजार चुने हुए साथियों को लेकर वह अँगरेजी सेना पर टूट पड़ी। तलवारों का घमासान युद्ध छिड़ गया। अँगरेजों की हिम्मत टूटने लगी, परन्तु तभी समाचार मिला कि एक नई अँगरेज सेना प्रधान द्वार से किले में प्रवेश कर चुकी है। अब कुछ भी शेष न रह गया। वीर रानी, अपने पुत्र को कमर से बाँधकर, विद्युत्-गति से झाँसी की दीवारों के बाहर घिरी हुई अँगरेजी सेना के व्यूह से बाहर निकल चली, जिससे वह बाहर से संघर्ष जारी रख सके। परन्तु अँगरेजों ने उसका बड़ी तत्परता से पीछा किया; एक बार जब पीछा करनेवाले उसके बिलकुल समीप पहुँच गये, उसने उनको टुकड़े-टुकड़े कर दिया और अपने साथियों के साथ लगातार घोड़े दौड़ाते हुए वह ४८ घंटों में १०२ मील का रास्ता तय कर कालपी पहुँची।

कालपी में तात्या टोपे, बाँदा का नवाब, बानपुर और शाहगढ़ के राजा तथा विप्लव के अन्य नेता एकत्र हो गये थे। अब सर ह्यूरोज कालपी की ओर बढ़ा। रानी लक्ष्मीबाई अपनी सेना लेकर उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ी। पहली झड़प में ह्यूरोज की सेना का दायाँ भाग टूट पड़ा, परन्तु उसके बायें भाग ने तत्काल स्थिति सँभाल ली। लक्ष्मीबाई ने मैदान छोड़ दिया और २४ मई को अँगरेजों ने कालपी में प्रवेश किया।

अक्षुण्ण उत्साह के साथ लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे ने संघर्ष जारी रखने का निश्चय किया। ग्वालियर ने उनको आकर्षित किया, जहाँ से उन्हें पर्याप्त युद्ध-सामग्री मिलने की आशा हुई। तात्या ने गुप्त रूप से ग्वालियर में प्रवेश किया। वह ग्वालियर की सेना को अपने पक्ष में करने के प्रयत्न करने लगा। उसने कुछ को अपने दल में मिला लिया, कुछ को अपने प्रति मुग्ध कर लिया और अनेकों से सहायता का वचन प्राप्त कर लिया। अब लक्ष्मीबाई ने तत्काल ग्वालियर पर धावा बोल देने का परामर्श दिया। ग्वालियर-नरेश जयाजीराव सिन्धिया अपने मन्त्री दिनकरराव के परामर्श से अँगरेजों का पक्षपाती बना हुआ था। मई १८५८ ई० के अन्त तक लक्ष्मीबाई और तात्या ने ग्वालियर के समीप डेरा डाल दिया। सिन्धिया ने उनके आने का समाचार पाकर एक विशाल सेना के साथ उनके विरुद्ध प्रयाण कर दिया। लक्ष्मीबाई मुट्ठी भर सैनिकों के साथ ग्वालियर-नरेश पर टूट पड़ी। ग्वालियर की सेना ने तात्या को दिये हुए अपने बचन का पालन करते हुए, लड़ने से इनकार कर दिया। सिंधिया दिनकरराव के साथ मैदान छोड़कर भाग चला और अँगरेजों की शरण पाने के लिए आगरे की ओर द्रुत गति से बढ़ा। जून १८५८ में ग्वालियर इन दोनों विप्लवी नेताओं के हाथ लगा।

लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे के इस नये कृत्य ने सर ह्यूरोज की आशाओं को एक गहरा झटका दे दिया और भविष्य के विषय में उसके मन में आशंकाएँ उत्पन्न कर दीं। उसको सबसे अधिक भय इस बात का था कि विप्लव की ज्वाला कहीं महाराष्ट्र में न फैल जाय। प्रमुख मराठा-राज्य ग्वालियर बहुत दिनों तक विप्लव का प्रधान केंद्र बना रहा। अँगरेजों को एक नये महाराष्ट्र-मंडल के निर्माण का भय दुख देने लगा और ग्वालियर पर तत्काल अधिकार कर लेना उनके लिए सर्वप्रमुख कार्य बन गया। सर ह्यूरोज ने भगोड़े सिन्धिया के साथ ग्वालियर की ओर प्रयाण किया। ग्वालियर के समीप पहुँचने पर उसने घोषणा कर दी कि अँगरेज सेनाओं का उद्देश्य सिंधिया को उसकी गद्दी पर बिठाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

ग्वालियर के लिए युद्ध—११—१८ जून १८५८—तात्या टोपे अपनी सेना लेकर

सर ह्यूरोज का सामना करने के लिए वढ़ा। पहली ही झड़प में ग्वालियर की सेना हारने लगी। सब कुछ हाथ से निकलते देखकर, लक्ष्मीवाई ने सेना को फिर से संघटित कर उसे शौर्य के नये उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी। लक्ष्मीवाई के साथ उसकी दो वीरांगना परिचारिकाएँ, मंदारा और काशी थीं। वीरांगनाओं की यह त्रयी हाथ में तलवारें लेकर भीषण संग्राम में जुट पड़ी। जनरल स्मिथ ने इस घेरे को तोड़ने के लिए वार-वार प्रवल प्रहार किये, परन्तु उसके वार व्यर्थ रहे। उसको लड़ाई छोड़कर पीछे हटना पड़ा। १७ जून की लड़ाई में मैदान लक्ष्मीबाई के हाथ रहा।

दूसरे दिन सवेरे जनरल स्मिथ ने सर ह्यूरोज के अधीन एक नई सेना का बल पाकर आक्रमण प्रारम्भ किया। इसी समय अन्य अँगरेजी सेनाओं ने ग्वालियर पर विभिन्न दिशाओं से आक्रमण किया। रानी लक्ष्मीवाई फिर मैदान में उतरी, परन्तु उसकी व्यक्तिगत वीरता अँगरेजों की विशाल वाहिनी के प्रवाह को रोक न सकी। वह चारों ओर से घिर गई। उसके सैनिकों के टुकड़े-टुकड़े किये जाने लगे। दुश्मनों के हाथ में पड़ने से वचने के लिए उसने अँगरेजी सेना की पंक्ति के बीच में से अपना घोड़ा दौड़ाया। अँगरेजों ने उसका पीछा किया। उसने घोड़े को सरपट दौड़ाया, परन्तु यह घोड़ा सधा हुआ नहीं था। एक नाले के सामने वह हिचकिचाने लगा कि तभी एक अँगरेज सैनिक ने रानी के सिर पर वार किया और दूसरे ने उसकी छाती पर। फिर भी गिरने से पहले रानी अपने आक्रमणकारियों को धराशायी कर चुकी थी। रानी के एक प्रिय अनुचर रामचन्द्र देशमुख ने गुप्त रूप से रानी का शव हटा लिया; उसने घास-फूस की चिता रचकर उस पर इस वीर रमणी का शव रख दिया। कुछ ही मिनटों में आग की लपटें आकाश से बातें करने लगीं और इस वीर रमणी का भौतिक शरीर स्वाहा हो गया। इस प्रकार, हमारे देश के वीरों में अमर झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की इहलीला समाप्त हुई। उसका नाम आज भी अमर है और देश-सेवा के पावन और कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलने का संकल्प करनेवाले स्त्री-पुरुषों को सदैव प्रेरणा देता रहेगा।

तात्या टोपे का अन्त—विद्रोह के योद्धाओं में से अब केवल तात्या टोपे ही मैदान में रह गया था। उसके पास न तो सेना थी और न अन्य साधन; परन्तु अपने अदम्य निश्चय के बल पर ही उसने संघर्ष जारी रखा। २० जून १८५८ ई० में ग्वालियर छोड़ने के बाद से उसका प्रधान लक्ष्य नर्मदा पार कर दक्षिण में पेशवा के नाम पर सेना एकत्र करना बन गया था। अँगरेज भी तात्या के दक्षिण में पहुँच जाने से उत्पन्न होनेवाले भयों को भली भाँति समझ रहे थे और उसे किसी भी प्रकार दक्षिण में प्रवेश न करने देने के लिए कटिबद्ध थे। चारों ओर से बड़ी-बड़ी

सेनाओं ने उसे घेर लिया, परन्तु कहीं पर छिपकर, कहीं लड़कर वह आखिर नर्मदा के किनारे पहुँच ही गया और इसको पार कर अक्टूबर १८५८ में नागपुर पहुँच गया। परन्तु नागपुर के लोग अँगरेजों की निर्दयताओं से इतने भयभीत हो चुके थे कि वे तात्या से दूर ही रहे। अँगरेजों ने यहाँ भी उसे घेर लिया। तात्या उन्हें चकमा देकर निकल गया और वड़ौदा की ओर चल पड़ा। जब वह उदयपुर पहुँचा, जहाँ से वड़ौदा केवल ५० मील रह गया था, अँगरेजों ने उसे फिर घेर लिया। इस प्रकार ६ अप्रैल १८५६ ई० तक उसका पीछा होता रहा, जब कि अलवर के समीप ग्वालियर के एक सरदार मानसिंह के विश्वासघात से वह आधी रात में पकड़ लिया गया। उस पर अभियोग चलाकर उसको फाँसी की सजा दी गई। १८ अप्रैल को वह सूली पर चढ़ा और स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अन्तिम वलि के रूप में उसने स्वयं अपने हाथ से अपने गले में फाँसी का फंदा डाला।

विप्लव की विफलता—१८५७–५८ ई० के विप्लव की विफलता के तीन प्रमुख कारण थे—एक साथ, सामूहिक रूप से, सर्वसामान्य रूप से प्रयत्न की कमी, साधनों की कमी और दिल्ली के पतन एवं बहादुरशाह के पकड़े जाने के बाद एक सर्वमान्य आदर्श का अभाव। विप्लव जब पूरे जोर पर था, तब भी उत्तरी भारत तक ही सीमित था। यहाँ भी पंजाव, सिक्ख रियासतें, राजपूताना की रियासतें तथा ग्वालियर और इन्दौर के मराठा-राज्य जैसे विशाल प्रदेश इससे अलग रहे। केवल ये प्रदेश ही विप्लव से अलग न थे; उत्तरी प्रांतों में भी अनेक ऐसी छोटी-छोटी रियासतें, जमींदारियाँ और तालुके थे जो या तो दूर से विप्लव का तमाशा देख रहे थे या अँगरेजों की सहायता कर रहे थे। भारत को हमेशा अपनी फूट के लिए आँसू बहाने पड़े हैं और आज भी स्थिति भिन्न नहीं है। इसके लिए उसे भारी दंड सहने पड़े हैं। फूट के कारण भारत ने अपनी स्वतंत्रता से हाथ धोया, फूट के ही कारण उसे स्वतन्त्रता के युद्ध में विफल होना पड़ा। तब भी भारत इन विफलताओं से कुछ सीख न सका। स्वतन्त्रता के लिए इस संघर्ष में हिंदुओं और मुसलमानों, राजाओं और जमींदारों, व्यापारियों और किसानों ने जो दृढ़ संकल्प और समान हित की भावना प्रकट की वह भविष्य के लिए प्रेरणा की वस्तु अवश्य बन गई, परन्तु यह भी सच है कि इस अवसर पर पारस्परिक फूट ने जो रंग दिखाया वह इस संग्राम के उद्देश्य के लिए घातक भी सिद्ध हुआ। सर डब्ल्यू० रसल ने **"माई डायरी इन इंडिया"** ("भारत में मेरी डायरी") में लिखा है कि "फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यदि सारे देशवासी, सर्वतोभाव से अँगरेजों के विरुद्ध हो गये होते, तो अपने समस्त साहस के रहते भी, वे (अँगरेज) पूर्णतः नष्ट कर दिये गये होते। (अँगरेजों की) रक्षक-सेनाओं (गैरिसनों) ने

जिस प्रकार जान पर खेल कर दुर्गों की रक्षा की, वह निस्संदेह वीरतापूर्ण थी; परन्तु उनके इस यश में देशी सिपाहियों का भी हिस्सा था; और देशी लोगों ने अपनी सहायता और उपस्थिति से रक्षा के इस कार्य को संभव वनाया था। यदि पटियाला और झींद के राजा हमारे मित्र न होते और यदि सिक्ख हमारी बटालियनों में भर्ती न हुए होते तथा पंजाव में शांति न वनी रहती तो दिल्ली पर हमारा अधिकार असंभव होता। लखनऊ में सिक्खों ने हमारी अच्छी सेवा की और सभी स्थितियों में देशी लोगों ने हमारी रक्षक-सेनाओं (गैरिसनों) की उसी प्रकार सहायता तथा सेवा की और उन्हें भोजन कराया, जिस प्रकार कि उन्होंने युद्ध-भूमि में हमारी सेनाओं में उपस्थित होकर उनका वल वढ़ाया।"

स्वयं विप्लव की सेनाओं तक में फूट का विप फैला हुआ था। विप्लव की प्रत्येक सेना अपने आप में तो एक ठोस समूह अवश्य थी, परन्तु युद्ध-क्षेत्र में यह अन्य सेनाओं के साथ मिलकर कार्य न कर पाती थी। इसका परिणाम घातक हुआ। ये वहुसंख्यक सेनाएँ पृथक्-पृथक् ही वनी रहीं और एक सर्वोच्च नेता की अध्यक्षता में एक विशाल सेना के रूप में संघटित न हो पाईं। यही कारण था कि अँगरेज, जनरल निकलसन के पहुँचने तक, दिल्ली की दीवारों के नीचे टिके रह सके। उन पर नित्य प्रति प्रवल आक्रमण होते थे, परन्तु ये आक्रमण दिल्ली में जमा हुई सभी सेनाओं द्वारा सामूहिक रूप से, एक नेता की अधीनता में, नहीं किये जाते थे। यदि ऐसा किया गया होता तो आज इतिहास कुछ दूसरी ही कहानी सुनाता। वावर या शिवाजी सरीखा कोई नेता ही, अपने व्यक्तिगत प्रभाव से विप्लव में भाग लेनेवाले विभिन्न दलों को एकता के सूत्र में गूँथ सकता था; परन्तु ऐसे किसी उच्च कोटि के नेता के अभाव में विभिन्न नेताओं की व्यक्तिगत ईर्ष्याएँ, सामूहिक रूप से कार्य करने के मार्ग में महान् बाधाएँ वनकर खड़ी हो गईं। वहादुरशाह "एक महान् सत्ता के चारों ओर स्वभावत: घिरे रहनेवाले प्रभाव" के वल पर ऐसी एकता ला सकता था, पर वह वहुत वृद्ध हो चला था और स्वयं युद्ध-भूमि में न उतर सकता था। सूवेदार वख्त खाँ और तात्या टोपे, जिनमें सैनिक प्रतिभा पर्याप्त मात्रा में थी, साधारण वर्ग के लोग थे; रानी लक्ष्मीबाई एक स्त्री ही तो थी और नाना साहव, पूना से भागकर आये हुए पेशवा का दत्तक पुत्र मात्र था। इन सव वातों का परिणाम यह हुआ कि विप्लवकारियों की प्रहार की शक्ति वहुत क्षीण हो गई और मंगल पांडे एवं मेरठ के सिपाहियों ने निर्धारित समय से पहले ही अपनी देश-भक्ति को सक्रिय रूप देकर विप्लव की योजना को वहुत शिथिल कर दिया। इन अप्रत्याशित घटनाओं ने विप्लव की योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया, अँगरेजों को अपना वल संघटित करने का तथा उन अनेक रेजीमेंटों को भंग कर देने का अव-

सर दे दिया, जिन्होंने ३१ मई के दिन एक साथ विप्लव प्रारम्भ करने का वचन दिया था। उधर अँगरेजों के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह थी कि वे एक सर्वोच्च सेनापति के आदेशानुसार कार्य करते थे और उनके सेनापति शौर्य में विप्लव के नेताओं से किसी प्रकार भी कम न थे।

साधनों की कमी—नर्मदा से नीचे के दक्षिण-भारतीय प्रदेश में १८५७-५८ ई० के विप्लव की रोमांचकारिणी घटनाओं का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। दक्षिण भारत और उसके साथ ही उत्तर भारत के देशी राज्यों, पंजाब एवं नैपाल की साधन-सम्पत्ति और जन-शक्ति अँगरेजों को प्राप्त हो गई। इसके विपरीत विप्लव के नेताओं के पास कोई भी ऐसे सम्पन्न प्रदेश न थे, जिनसे उन्हें सहायता मिल सकती और जन-शक्ति के लिए भी उन्हें उत्तरीय प्रांतों तथा कम्पनी की उन रेजीमेंटों पर निर्भर रहना पड़ा, जिन्होंने विप्लव में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। विप्लव की अनेक सेनाओं के पास लड़ने के लिए अपनी तलवारों के अतिरिक्त और कोई भी शस्त्र न था; उनके नेता उनके लिए तोपें, बंदूकें आदि न जुटा सके थे। उधर अँगरेजों की सेनाएँ तोपखाने से और अन्य भारी-भारी शस्त्रों से सुसज्जित थीं। अप्रैल, १८५८ ई० में अँगरेजों के पास कम्पनी के पक्ष में लड़नेवाले देशी और रियासती सैनिक दलों के अतिरिक्त ९६,००० अँगरेज सैनिक थे। सिक्खों की समस्त सामरिक-शक्ति अँगरेजों के अधिकार में थी। पंजाब में विद्रोह की छोटी सी भी हलचल को उन्होंने भय और आतंक उत्पन्न करने की अपनी नीति के अनुसार बुरी तरह से कुचला था। यहाँ पर इसका केवल एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। लाहौर में कम्पनी-सरकार की जिन रेजीमेंटों को भंग किया गया था, उनमें से एक २६ नं० रेजीमेंट थी। ३० जुलाई, १८५७ ई० की रात को २६ नं० रेजीमेंट के अधिकांश सिपाही छावनी से निकल पड़े और रावी पार कर अमृतसर की ओर बढ़े। अमृतसर के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर फ्रैडरिक कूपर को उनका पीछा करने का कार्य सौंपा गया। कूपर ने बड़े गौरव के साथ अपने कारनामों का वर्णन अपनी पुस्तक "दि क्राइसिस इन दि पंजाब" ("पंजाब में संकट") में किया है। उसने एक सिक्ख सेना को साथ में लेकर उनका रावी के किनारे से अविश्रांत रूप से पीछा किया। ये लोग संख्या में लगभग ५०० थे। निगाह के सामने पड़ते ही उन पर गोलियों की बौछार की गई। निःशस्त्र और घायल हुए इन लोगों ने भाग निकलने का प्रयत्न किया। अनेक तो नदी में ही डूब गये। कुछ बचकर नदी के बीच एक टापू-से स्थान पर पहुँच गये; यहाँ उन्हें घेर लिया गया और किनारे लाया गया, जहाँ से उन्हें अमृतसर की एक तहसील अजनाला की ओर कूच कराया गया। ये लोग रात में अजनाला पहुँचे। उनको सूली पर

चढ़ाने का कार्य सुवह तक के लिए रोक दिया गया। इनमें से वहुतों को पुलिस थाने में रखा गया और ६६ व्यक्तियों को तहसील के लिए नये वनाये गये एक छोटे से कमरे में वंद रखा गया।

सुवह होते ही, थाने में वंद लोगों को दस-दस की कतारों में बाहर लाया गया। उनके सामने एक सिक्ख सेना खड़ी थी और ज्यों ही वे गोली की पहुँच के अन्दर पहुँचे, वंदूकें कड़क उठीं और पहली पंक्ति के दस के दस जमीन पर ढेर हो गये; तव अगले दस यही परिणाम भुगतने के लिए आगे वढ़े; इस प्रकार जव तक थाने में वंद किये गये सव समाप्त न हो गये, यह संहार-लीला चलती रही। इसके वाद उस छोटे-से नये कमरे में वंद लोगों की वारी आई। वहाँ वंद किये गये ६६ में से केवल ११ व्यक्ति गोली का निशाना बनने के लिए वचे हुए थे; शेष सभी दम घुटने के कारण मर चुके थे और अव उनके शवों को घसीट कर बाहर लाने के सिवाय और कुछ करने को वाकी न रह गया था। इस वीभत्स कृत्य का संचालक फ्रेड-रिक कूपर लिखता है कि "अनजाने ही हॉलवैल के ब्लैक होल की घटना यहाँ दुह-राई गई थी।" सव मिलाकर २८२ लाशें घसीट कर एक पुराने कुएँ में डाल दी गईं और इस कुएँ को मिट्टी से पाट दिया गया। कूपर ने इस घटना के विषय में बहादुरी जताते हुए लिखा है "कानपुर में एक कुआँ है, लेकिन अजनाला में भी एक कुआँ है।" आतंक फैलाने की नीति का अनुसरण करते हुए अँगरेजों ने जो नृशंसतापूर्ण अत्याचार किये, उनके ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण पंजाब और उत्तरी भारत में मिलते हैं। इतिहास की दृष्टि से इन अत्याचारों का महत्त्व इस बात में है कि इनसे भारत में वह जातीय घृणा का भाव उत्पन्न हो गया जिसने विप्लव के बाद के दिनों में भारत के सामाजिक जीवन को वदरंग कर दिया। विप्लव का दमन अँगरेजों की जन एवं धन की शक्तियों के बल पर ही हो सका और यह एक बड़ी दु:ख की बात है कि उनको अधिकांश धन और जन-शक्ति भारत से ही प्राप्त हुई।

सर्वमान्य उद्देश्य का अभाव—प्रारम्भ में जिस एक उद्देश्य को लेकर विद्रोह चला था, वह उद्देश्य दिल्ली का पतन हो जाने और वादशाह वहादुरशाह के बंदी कर लिये जाने के बाद भुला दिया गया। बादशाह के कैद हो जाने का विप्लव की सफलता पर ही बड़ा घातक प्रभाव हुआ। इससे अँगरेज कुचक्रियों को झूठी अफवाहें फैलाने का अच्छा अवसर मिल गया; वे लोगों को वहकाने लगे कि नाना साहव तो पुन: पेशवाई राज्य स्थापित करने के लिए ही यह सब प्रयत्न कर रहा था और यह भी कि मौलवी अहमदशाह तो औरंगजेव का-सा धर्मान्ध शासन स्थापित करने का इच्छुक था। अब विप्लव के नेताओं के सामने कम्पनी-सरकार को समाप्त करने के अतिरिक्त और कोई महान् उद्देश्य न रह गया और यह उद्देश्य अपने आप में

एक निषेधात्मक उद्देश्य-मात्र था। बूढ़े बादशाह की उपस्थिति के कारण विप्लव की सेनाओं में जो एकता स्थापित हुई थी, वह भी उसके साथ ही उठ गई। जिन विरोधों को वह अपनी उपस्थिति से दूर न कर सका था, वे अब उसकी अनुपस्थिति में सैकड़ों गुना अधिक बढ़ गये थे। बादशाह के पकड़े जाने के बाद विद्रोह एक राष्ट्र का अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए एक सामूहिक प्रयत्न न रहकर केवल कुछ महान् व्यक्तियों के व्यक्तिगत शौर्यपूर्ण कृत्यों की एक कहानी मात्र रह गया।

विद्रोह का स्वरूप—विद्रोह के स्वरूप के विषय में थोड़ा सा कुछ और बता देने के साथ हम भारतीय इतिहास के एक युग के अन्त पर पहुँच जाते हैं; यह काल अनेक दृष्टियों से एक 'युग' कहा जा सकता है। इस काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी समाप्त हुई, रियासतों की बेदखली समाप्त हुई, दत्तक पुत्रों के उत्तराधिकार को मान्यता मिली; इस काल में अँगरेजों के प्रति जातीय घृणा का भाव बहुत बढ़ गया और सबसे बड़ी बात जो इस काल में हुई वह यह है कि इस काल ने वह सामग्री प्रस्तुत कर दी, जिसमें से भारत की स्वतन्त्रता के भावी संग्राम की शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु क्या यह विप्लव, अपने कारणों और कार्यों की दृष्टि से, कम्पनी की सैनिक रेजीमेंटों तक सीमित एक 'गदर' या 'सिपाही-विद्रोह' मात्र था? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही है। इस विप्लव के रूप में देशभक्ति के प्रदर्शन में सर्वसामान्य जनता ने, नगरवासियों और ग्रामवासियों ने भी उतना ही भाग लिया था जितना सैनिकों ने और अनेक स्थानों पर तो स्त्रियों ने भी मर्दाना भेष धारण कर युद्ध में भाग लिया था। सब बातें यही प्रमाणित करती हैं कि १८५७–५८ ई० का विद्रोह 'सिपाही-विद्रोह' मात्र न था, अपितु और भी बहुत कुछ था। फिर क्या यह एक "स्वातन्त्र्य-संग्राम" था, जैसा कि बहुत से भारतीय लेखकों ने इसको बताया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विप्लव के नेताओं का उद्देश्य भारत को स्वतन्त्र करना ही था, परन्तु बड़े-बड़े प्रदेशों का इसका निरपेक्ष दर्शक बने रहना या इसके विरुद्ध अँगरेजों को मदद पहुँचाना—ये ऐसी बातें हैं जिनको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि यह भारत का अपनी स्वाधीनता के लिए युद्ध था। इन घटनाओं के स्वरूप का सबसे अच्छा वर्णन यही जान पड़ता है कि यं उत्तर-भारत का, कम्पनी-सरकार को समाप्त कर विदेशी शासन के जुए से मुक्ति पाने के उद्देश्य से किया गया, विप्लव था। इस विप्लव ने कम्पनी को तो समाप्त कर ही दिया, परन्तु स्वतन्त्रता आकाश-कुसुम ही बनी रही। भारत को अपने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ध्येय तक पहुँचने के लिए पूरी एक शताब्दी तक संघर्ष करना पड़ा और जब यह उस तक पहुँचा भी तो खून और आँसुओं के बीच ही। स्वतंत्रता-संग्राम की कटु स्मृतियाँ बनी रहीं और बाद के वर्षों में ब्रिटिश नीति को बहुत प्रभावित करती रहीं।

सोलहवाँ अध्याय

विप्लव के पश्चात् पुनर्निर्माण : १८५८-१८६४

भारतीय शासन का 'क्राउन' को हस्तान्तरण--मई १८५९ ई० में सर होप ग्रांट ने रिपोर्ट दी कि अवध में शान्ति स्थापित हो गई है और विद्रोह समाप्त हो चुका है। विद्रोह के दूसरे स्थानों पर इससे वहुत पहले ही शांति स्थापित हो चुकी थी। पिछले दो वर्षों की घटनाओं ने इँगलैंड की जनता के एक वहुत वड़े भाग का ध्यान भारत की ओर आकर्षित कर दिया था। इन घटनाओं का दोष किसी अन्य पर मढ़ कर स्वयं निर्दोष कहाने के लिए इँगलैंड को ईस्ट इंडिया कम्पनी के रूप में एक अच्छा वलिदान का वकरा मिल गया और वहाँ सभी इस बात में एकमत हो गये कि अव भारत जैसे विशाल साम्राज्य पर ईस्ट इंडिया कम्पनी जैसे एक गैर-सरकारी निगम (कॉरपोरेशन) द्वारा शासन करने की नियम-विरुद्ध पद्धति को समाप्त कर देने का समय आ गया है। इँगलैंड में १८५७ ई० के चुनाव में अनुदार-दल (कन्जर्वेटिव-पार्टी) पदारूढ़ हुआ था; लॉर्ड पामर्स्टन इस दल का प्रधान मंत्री था। जुलाई १८५७ ई० में उसने रानी के समक्ष भारत में दुहरे (कम्पनी और क्राउन के) शासन से होनेवाली असुविधाएँ रखीं और यह मंतव्य प्रकट किया कि अव भारत का शासन सीधे क्राउन (इँगलैंड के 'ताज') की अधीनता में ले लिया जाय। दिसम्बर १८५७ ई० में पामर्स्टन ने भारत के भावी शासन-तन्त्र के पुनर्निर्माण के लिए एक योजना के शीर्षक तैयार किये, जिनका मंत्रि-मंडल की एक समिति ने अनुमोदन किया। फरवरी १८५८ ई० में पार्लियामेंट के सामने भारत के अधिक सुन्दर शासन के लिए अपना विधेयक (बिल) प्रस्तुत करते हुए पामर्स्टन ने कहा "हमारी राजनीतिक-प्रणाली का सिद्धान्त यह है कि शासन-सम्बन्धी समस्त कार्यों के साथ मंत्रिमंडल का उत्तरदायित्व, पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायित्व, संयुक्त होना चाहिए, परन्तु भारत के शासन के मामले में, भारत के शासन के प्रमुख कार्य एक ऐसी संस्था को सौंपे गये हैं जो न तो पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी है और न क्राउन द्वारा नियुक्त ही की गई है, परन्तु जो उन लोगों द्वारा चुनी गई है, जिनका भारत के साथ इससे अधिक सम्बन्ध नहीं है, जितना कि भारतीय स्टॉक की किसी मात्रा के सीधे-सादे अधिकार में रहता है। पामर्स्टन ने भारत का भावी शासन

एक 'भारतीय परिषद्' (इंडियन कौंसिल) को सौंप देने का प्रस्ताव किया, जिसका अध्यक्ष एक 'राज्य-सचिव' (सेक्रेटरी ऑफ् स्टेट) हो और इस राज्य-सचिव को पार्लियामेंट में स्थान मिले।

कम्पनी ने, इस प्रकार अपनी समाप्ति किये जाने का विरोध किया, और यह विरोध निष्कारण भी न था। कम्पनी के चेयरमैन रॉस मैंगल्स ने, किसी संसदीय जाँच के बिना ही कम्पनी के समाप्त किये जाने की धमकी पर आश्चर्य प्रकट किया और अपनी यह धारणा व्यक्त की कि भारत में सुशासन के लिए कम्पनी सरीखी एक मध्यस्थ, अराजनीतिक और पूर्णत: स्वतन्त्र संस्था अनिवार्यत: आवश्यक है। कम्पनी ने नियमानुसार एक आवेदन-पत्र भी प्रस्तुत किया; यह आवेदन-पत्र जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे स्पष्टद्रष्टा, विचारपूर्ण और दार्शनिक व्यक्ति की कलम की देन था; तब मिल कम्पनी की सेवा में नियुक्त था। यद्यपि यह आवेदन-पत्र कम्पनी की समाप्ति को न रोक सका, फिर भी यह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें प्रस्तावित प्रणाली की जो आलोचना की गई थी, उसका बाद में भारत में राज्य-सचिव की परिषद् के विरुद्ध उपयोग किया गया। मिल ने इस बात पर जोर दिया था "कि आपके (मंत्रि-परिषद् के) आवेदक, भारत के लिए इससे बढ़कर बुरी सरकार की कल्पना नहीं कर सकते जैसी कि एक परिषद् सहित एक मंत्री की सरकार होगी, जिसको यह स्वतंत्रता होगी कि वह इस परिषद् से अपनी इच्छानुसार, चाहे मंत्रणा करे या न करे......कि मंत्री के साथ संयुक्त व्यक्तियों का कोई भी समुदाय, जो उस (मंत्री) पर एक रोक न बन सके, (उसके दोषों को छिपाने के लिए) एक पर्दा ही होगा।"

१७८४ ई० के पिट के भारतीय-विधेयक (इंडिया बिल) के अनुसार निर्मित नियामक-समिति (बोर्ड ऑफ् कंट्रोल) और अध्यक्ष-मंडल (कोर्ट ऑफ् डाइरेक्टर्स) के रूप में स्थापित किये गये दुहरे शासन के विषय में, जिसके विरुद्ध पामर्स्टन ने अपने प्रबलतम तर्क उपस्थित किये थे, मिल ने सकारण बल देते हुए लिखा "कि इन (दुहरे शासन की) परिस्थितियों में, यदि शासन-तन्त्र विफल रहा है, तो आपके आवेदक यह बतला देना चाहते हैं, यह न्यायसंगत नहीं है कि शासन-तन्त्र के उस विभाग में, जिसका प्रत्येक यथार्थ या कल्पित भूल में हिस्सा रहा है, सारे अधिकारों को केन्द्रित करने के लिए शासन-तन्त्र के उस विभाग को समाप्त कर दिया जाय जो (शासन-तन्त्र की विफलता के लिए) प्रमुखतया एकमात्र दोषी नहीं रहा है और जो कदाचित् सर्वथा निर्दोष भी रहा है। यह विश्वास करना कि यदि भारत का शासन क्राउन के किसी मन्त्री द्वारा अध्यक्ष-मंडल (Court of Directors) की सहायता के बिना संचालित होता, तो यह (शासन) भूलों

से अधिक मुक्त होता, इस बात पर विश्वास करना ऐसा ही होगा जैसा स्वेच्छानुसार शासन करने के पूर्ण अधिकारों से युक्त (क्राउन के) मन्त्री का शासन इसलिए बुरा रहा है, कि उसे उत्तरदायित्वपूर्ण और अनुभवी परामर्शदाताओं का सहयोग प्राप्त था।"

इस आवेदन-पत्र का कुछ भी प्रभाव न हुआ। पामर्स्टन के विधेयक का द्वितीय वाचन भी हो गया, परन्तु इसके कानून बनने के पहले ही पामर्स्टन को "हत्या-विधेयक के प्रति षड्यन्त्र" (Conspiracy to Murder Bill) में हार कर पद-त्याग कर देना पड़ा। पामर्स्टन के बाद लॉर्ड डर्बी ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया; डिजरायली कोषाध्यक्ष (Chancellor of the Exchequer) बने। लॉर्ड डर्बी ने भारतीय शासन के सम्बन्ध में एक नया विधेयक प्रस्तुत किया, जो उपहास का विषय बनकर समाप्त हो गया। संसद ने भारतीय शासन की नई योजना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास करना स्वीकार किया और अंततः १८५८ में "भारत के अधिक अच्छे शासन के लिए एक कानून" (An Act for the better Government of India) नामक विधेयक पास हुआ।

१८५८ का अधिनियम—गृह-सरकार—१८५८ के कानून में भारत-सरकार को ज्यों का त्यों रहने दिया गया था, परन्तु इसने शासन-तन्त्र के उस भाग में अवश्य परिवर्तन किये जिसके द्वारा इँगलैंड का भारत पर नियन्त्रण रहता था। ये परिवर्तन सिद्धान्तों से सम्बन्धित न होकर केवल बाहरी आकार-प्रकार और संघटन तक ही सीमित थे। भारत-सरकार का नियन्त्रण ब्रिटिश-मंत्रिमंडल के हाथों में, मंत्रिमंडल के एक राज्य-सचिव के द्वारा तो सन् १७८४ के कानून के अनुसार ही जा चुका था; १८५८ के कानून ने पिट द्वारा १७८४ में प्रारम्भ की गई भारत-सरकार पर ब्रिटिश-मंत्रिमंडल के नियन्त्रण की नीति को पूर्णता तक पहुँचा दिया और शक्ति एवं उत्तरदायित्व के केन्द्र (ब्रिटिश-मंत्रिमंडल) को अधिकार के बाहरी चिह्नों से भी सुसज्जित कर दिया। महारानी विक्टोरिया का भारतीय शासन अपने हाथों में ले लेना भारतीय जनता की भावनाओं के सर्वथा अनुकूल था, क्योंकि भारतीय जनता युग-युग से शासन की सर्वप्रमुख शक्ति को किसी एक व्यक्ति में प्रतिष्ठित देखने की अभ्यस्त थी; इस परिवर्तन का इसलिए भी भव्य स्वागत हुआ, क्योंकि इससे जनता के मन में आशा जाग उठी कि भविष्य में शासन मानवीय सहानुभूति से पूर्ण होगा और किन्हीं व्यापारियों के आर्थिक लाभ का साधन न बनकर प्रजा की भलाई के लिए होगा। कम्पनी की समाप्ति से किसी को भी दुःख न हुआ।

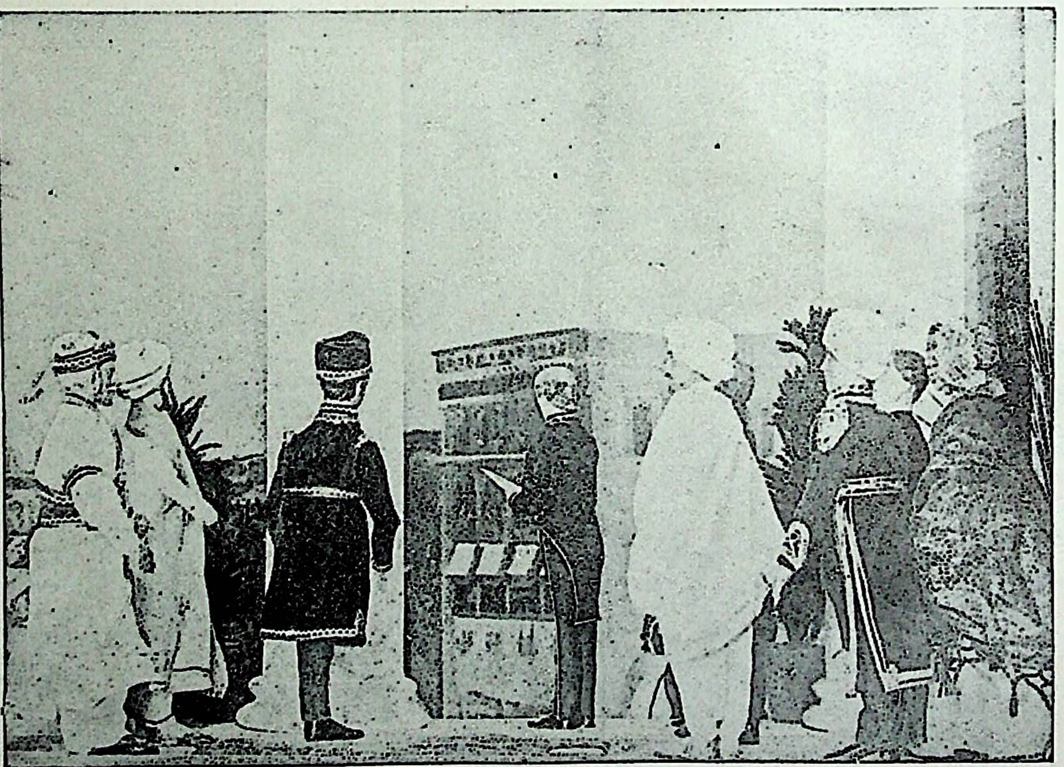
१८५८ के कानून की प्रमुख व्यवस्थाएँ—इस कानून में घोषणा की गई कि अब से "भारत महारानी द्वारा और उसके नाम पर शासित होगा" और इस कानून में कम्पनी के समस्त प्रदेश तथा अधिकार रानी को सौंप दिये गये। इस कानून में ७५ धाराएँ थीं; इसकी प्रमुख व्यवस्थाएँ (Provisions) ये थीं—

(१) इसके अनुसार मंत्रि-परिषद् सहित राज्य-सचिव (Secretary of Sate in Council) ने नियामक-समिति (Board of Control) तथा अध्यक्ष मंडल (Court of Directors) का स्थान ग्रहण किया। भारत के लिए इस नये राज्य-सचिव की सहायता के लिए पन्द्रह सदस्यों की एक 'भारतीय परिषद्' (Council of India) की व्यवस्था की गई, जिसके आठ सदस्य क्राउन द्वारा नियुक्त होने थे और सात का चुनाव कम्पनी के अध्यक्षों को करना था। अधिकांश सदस्य भारत में कम से कम दस वर्ष तक सेवा कर चुके हों या रह चुके हों और परिषद् में नियुक्ति से पहले दस वर्ष से अधिक समय तक भारत से दूर न रहे हों। कोई भी सदस्य संसद (Parliament) में न बैठ सकता था और न वोट दे सकता था। क्राउन द्वारा नियुक्त किसी सदस्य का स्थान रिक्त होने पर उसकी पूर्ति क्राउन के मनोनीत व्यक्ति द्वारा की जानी थी और अध्यक्षों द्वारा चुने सदस्य का स्थान रिक्त होने पर, उसकी पूर्ति के लिए, परिषद् को ही कोई नया सदस्य सम्मिलित करना था। कोई भी सदस्य तभी तक परिषद् में रह सकता था, जब तक उसका व्यवहार अच्छा हो और उसको तभी हटाया जा सकता था जब संसद के दोनों सदन इसके लिए आवेदन करें।

(२) राज्य-सचिव को भारतीय-परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करना था; परिषद् से मतभेद होने पर वह परिषद् के निर्णयों को अमान्य कर सकता था। ऐसी विषम स्थिति के अवसर पर राज्य-सचिव और कोई भी अन्य उपस्थित सदस्य यह माँग कर सकता था कि उसके मत और इस मत के कारणों का बैठक की कार्य-वाही के विवरण में उल्लेख किया जाय।

(३) परिषद् का काम राज्य-सचिव को परामर्श देना था, परन्तु केवल उन्हीं विषयों पर जिन पर परिषद् से परामर्श माँगा जाय। परिषद् स्वयं कोई नया कदम न उठा सकती थी। राज्य-सचिव को अधिकार था कि वह कार्य को अधिक सुविधाजनक रूप से चलाने के लिए नियम बनावे, समितियाँ बनावे और इन समितियों को विभिन्न कार्य सौंपे। सप्ताह में कम से कम एक बार परिषद् की बैठक आवश्यक थी; कम से कम पाँच सदस्यों की उपस्थिति के बिना समिति कोई कार्य न कर सकती थी।

(४) कुछ अपवादों को छोड़कर, गवर्नर-जनरल के लिए राज्य-सचिव की



घोषणा-पत्र पढ़ते हुए लार्ड_कैनिंग

सारी डाक रवाना करने से पहले परिषद् के सामने रखी जाती थी या रवाना करने से पहले सात दिनों तक परिषद् के कार्यालय में रखी जाती थी। यदि परिषद् के अधिकांश सदस्य गवर्नर-जनरल को भेजे जानेवाले किसी पत्र के पक्ष में न हों और राज्य-सचिव तब भी उस पत्र को भेजना उचित समझे तो उसे इसके लिए कारणों को लिखित रूप में रखना आवश्यक था।

(५) भारत के राजस्व का उपयोग केवल भारत-सरकार के कार्यों के लिए ही किया जाना था और व्यय तथा ऋण के सम्बन्ध में राज्य-सचिव भारतीय परिषद् के बहुमत की सहमति से ही कोई आज्ञा दे सकता था।

(६) राज्य-सचिव का वेतन और उसके कार्यालय का व्यय भारत के राजस्व से चुकाया जाना था।

(७) राज्य-सचिव को प्रतिवर्ष संसद के सामने भारत के आय-व्यय का हिसाब और भारत में नैतिक एवं भौतिक प्रगति का विवरण उपस्थित करना था।

(८) युद्ध छेड़ने, संधि करने या किसी रियासत अथवा रजवाड़े के साथ समझौते करने के मामलों पर "गुप्त" (Secret) शब्द अंकित किया जाना था और इनके विषय में राज्य-सचिव परिषद् के परामर्श के बिना कार्य कर सकता था। इन विषयों से सम्बन्धित डाक को परिषद् के सामने रखना आवश्यक न था।

(९) गवर्नर-जनरल तथा प्रेसिडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति क्राउन द्वारा की जानी थी। लैफ्टिनेंट गवनरों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल को हर मैजेस्टी की स्वीकृति से करनी थी। भारत में विभिन्न परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति राज्य-सचिव को अपनी परिषद् की सलाह से करनी थी।

प्रधान रूप से यही थीं १८५८ के कानून की व्यवस्थाएँ। लॉर्ड स्टैनली, जो बाद में लॉर्ड डर्बी हुए। भारत के लिए पहले राज्य-सचिव नियुक्त हुए। नये परिवर्तन को सांकेतिक रूप से व्यक्त करने के लिए लार्ड स्टैनली अपना कार्यालय कम्पनी के ईस्ट इंडिया भवन से हटाकर नये 'इंडिया ऑफिस' में ले गये। १८५९ में अनुदार दल के साथ-साथ लॉर्ड डर्बी भी राज्य-सचिव के पद से मुक्त हुए और तब सर चार्ल्स वुड ने राज्य-सचिव का पद-भार ग्रहण किया; वे १८६६ तक इस पद पर बने रहे। इनके कार्यकाल में अनेक उच्च कोटि के सुधार हुए, जिनका वर्णन उचित स्थान पर किया जायगा।

१८५८ के कानून की और विशेषतः "भारतीय परिषद्" (Council of India) के कार्यों की बहुत-सी निरर्थक आलोचना हुई है। ये आलोचनाएँ इस धारणा पर बढ़ी हैं कि १८५८ के कानून के निर्माताओं का उद्देश्य 'भारतीय परिषद्' को राज्य-सचिव के ऊपर एक रोक बनाना था। परन्तु इस कानून की

व्यवस्थाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ऐसी कोई धारणा व्यक्त नहीं होती। पारषद् निश्चित रूप से एक अधीन संस्था थी, जिसका कार्य मुख्यतः परामर्श देना था। ब्रिटिश-मंत्रिमंडल का सदस्य होने के कारण राज्य-सचिव मंत्रिमंडल के मतों का प्रतिनिधित्व करता था और राज्य-सचिव का मत परिषद् के विरोधी होने पर भी मान्य होना था, इस परिषद् को राज्य-सचिव के मत को अमान्य करने का अधिकार देने का अर्थ होता, राज्य-सचिव के माध्यम से परिषद् को मंत्रिमंडल के मत का निषेध करने का अधिकार (Vote) दे देना जिससे इँगलैंड के समस्त संवैधानिक सिद्धान्त ही उलट गये होते। राज्य-सचिव को आवश्यक विषयों पर बहुमूल्य परामर्श देने के अतिरिक्त, परिषद् केवल एक सजावट की वस्तु-मात्र थी और यह भारत से लौटे हुए क्राउन के विशिष्ट कर्मचारियों के विश्राम का स्थान-मात्र थी। परिषद् को अर्थ-व्यवस्था के नियन्त्रण के जो नगण्य अधिकार दिये भी गये थे वे किन्हीं विषयों को 'गुप्त' अंकित करने की व्यवस्था से प्रभावहीन हो जाते थे और यह तो कोई भी समझ सकता है कि युद्ध और शान्ति जैसे विषयों को, जिन पर हजारों का व्यय हो सकता था, पूर्णतः राज्य-सचिव के निर्णय पर छोड़ दिये जाने की स्थिति में यह परिषद् अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने कानूनी उत्तरदायित्वों को कैसे निभाती होगी। खेद का विषय यह नहीं है कि इस परिषद् को कोई अधिकार नहीं दिये गये थे, वरन् खेद तो इस बात का है कि इस परिषद् के व्यय का भार भारत पर पड़ता था और यह देखकर तो इस खेद की मात्रा और भी बढ़ जाती है कि बहुत लम्बे समय तक इस परिषद् में एक भी सदस्य भारतीय न था।

समय-समय पर 'भारतीय परिषद्' के कर्तव्यों और संगठन में भी परिवर्तन हुए, जिनका आगे वर्णन किया जायगा; अंततः १९३५ में यह परिषद् समाप्त की गई।

रानी विक्टोरिया की घोषणा—भारत का शासन इँगलैंड के क्राउन द्वारा ग्रहण किये जाने की घोषणा सरकारी तौर पर १ नवम्बर १८५८ को इलाहाबाद में एक दरबार का आयोजन करके की गई; लॉर्ड कैनिंग ने दरबार में उपस्थित भारतीय नरेशों और जनता को रानी का घोषणा-पत्र पढ़कर सुनाया। इस घोषणा का प्रारम्भिक मसविदा लॉर्ड डर्बी ने तैयार किया था और तब रानी विक्टोरिया ने उसमें काट-छाँट कर उसको वह रूप दिया, जिसमें वह आज हमें मिलती है। लॉर्ड डर्बी को निदश दिया गया था कि वह इस घोषणा का मसविदा यह समझते हुए तैयार करे कि "एक स्त्री-शासिका अपने करोड़ों पूर्वीय प्रजाजनों के समक्ष उनके ऊपर सीधा शासकत्व ग्रहण करन के अवसर पर, भाषण दे रही है और रक्त-पूर्ण युद्ध के पश्चात् उन्हें वचन दे रही है जो उसके भावी शासन में पूरे किये जायँगे

और अपने शासन के सिद्धान्तों की व्याख्या कर रही है। इस घोषणा से उदारता, कल्याण की भावना और धार्मिक सहिष्णुता व्यक्त होनी चाहिए और उन विशेष अधिकारों तथा उस समृद्धि की ओर संकेत होना चाहिए जो भारतीयों को ब्रिटिश क्राउन की प्रजा के समकक्ष बना दिये जाने से प्राप्त होंगे और जो (समृद्धि) सभ्यता के विकास के साथ-साथ उन्हें उपलब्ध होगी।"

रानी की इन भावनाओं के अनुसार घोषणा-पत्र तैयार किया गया और शब्दावली अवसर के अनुकूल रखी गई। भारतीयों के लिए रानी का भारत-शासन अपने हाथ में लेना एक नये युग का प्रारम्भ था; इस घोषणा का भारतीयों के अधिकार-पत्र के रूप में अभिनन्दन किया गया।

भारत के नरेशों, सरदारों तथा जनता के प्रति परिषद्-सहित रानी की घोषणा—"विक्टोरिया (जो) ईश्वर की कृपा से ग्रेट ब्रिटन और आयरलैंड के संयुक्त राज्य की तथा यूरोप, एशिया, अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया में उस (संयुक्त राज्य) के उपनिवेशों एवं अधीन प्रदेशों की रानी, सम्प्रदाय की रक्षिका (है)।

"क्योंकि विभिन्न गम्भीर कारणों से हमने संसद में एकत्र धार्मिक तथा लौकिक लॉर्डों और सर्वसामान्य जनता के प्रतिनिधियों के परामर्श एवं सहमति से भारतीय प्रदेशों का शासन, जिसे आज तक माननीय ईस्ट इंडिया कम्पनी हमारे लिए चलाती थी, स्वयं अपने हाथों में लेने का निश्चय किया है :

"इसलिए अब हम इन उपहारों द्वारा सूचित और घोषित करते हैं कि ऊपर कही गई सलाह और सहमति से हमने कथित शासन स्वयं अपने हाथों में ले लिया है: और इस घोषणा के द्वारा हम कथित प्रदेशों की समस्त प्रजा का आह्वान करते हैं कि वह हमारे तथा हमारे उत्तराधिकारियों के प्रति स्वामिभक्त बने और सच्ची निष्ठा रखे तथा उन लोगों के अधिकार को शिरोधार्य करे जिनको हम इसके बाद समय-समय पर अपने नाम पर तथा अपनी ओर से कथित प्रदेशों का शासन चलाने के लिए नियुक्ति के योग्य समझेंगे।

"और हम अपने विश्वासभाजन तथा स्नेह के पात्र भ्राता तथा परामर्शदाता चार्ल्स जॉन वाइकाउण्ट कैनिंग की स्वामिभक्ति, योग्यता तथा बुद्धि पर विशेष भरोसा और विश्वास रखते हुए, इस घोषणा द्वारा उसे, ऊपर निर्दिष्ट वाइकाउन्ट कैनिंग को अपने कथित प्रदेशों में तथा उनके ऊपर उन आज्ञाओं तथा नियमों का पालन करते हुए जो उसे समय-समय पर हमारे एक प्रधान राज्य-सचिव द्वारा प्राप्त होंगी, हमारे नाम पर वहाँ का शासन चलाने तथा सामान्यतः हमारे नाम पर एवं हमारी ओर से कार्य करने के लिए अपना पहला वाइसराय और गवर्नर-जनरल बनाते और नियुक्त करते हैं।

"हम इस घोषणा के द्वारा भारत के देशी नरेशों के प्रति घोषित करते हैं कि उनके साथ माननीय ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा या उसके अधिकार की अधीनता में की गई सन्धियाँ और समझौते हम स्वीकार करते हैं और हम उनका सावधानी से पालन करेंगे और उनकी (देशी नरेशों की) ओर से भी हम इसी प्रकार इनके पालन की आशा करते हैं।

"हम अपने वर्तमान अधिकृत प्रदेशों को बढ़ाना नहीं चाहते और जब कि हम अपने प्रदेशों या अपने अधिकारों पर धृष्टतापूर्वक किसी को हस्तक्षेप न करने देंगे, हम दूसरों के प्रदेशों इत्यादि पर हस्तक्षेप करने की स्वीकृति भी न देंगे। हम अपने देशी नरेशों के अधिकारों, उच्च पद और सम्मान को अपना ही समझकर आदर करेंगे; और हमारी इच्छा है कि वे (देशी नरेश) तथा स्वयं हमारी प्रजा भी उस समृद्धि और उस सामाजिक प्रगति का आनन्द लें जो आन्तरिक शान्ति और सुशासन से ही प्राप्त हो सकता है।

"हम अपने आप को भारतीय प्रदेशों के निवासियों के प्रति कर्तव्य के उन्हीं बन्धनों से बँधा समझते हैं, जो हमें अपनी अन्य समस्त प्रजा के साथ बाँधे हुए हैं और सर्वशक्तिमान् प्रभु के आशीर्वाद से हम उन कर्तव्यों को ईमानदारी तथा समझ-दारी के साथ पूरा करेंगे।

"ईसाई धर्म की सच्चाई पर अपना दृढ़ भरोसा रखते हुए और (इस) धर्म से प्राप्त सान्त्वना को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए हम अपने किसी भी प्रजा-जन पर अपने विचारों को लादने के अपने अधिकार और इच्छा का समान रूप से त्याग करते हैं। हम यह अपनी शाही इच्छा और खुशी घोषित करते हैं कि किसी के धार्मिक विश्वासों और नियमों के कारण किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात न किया जाय, न किसी को सताया या परेशान किया जाय; अपितु सबको समान रूप से कानून का पक्षपात-रहित संरक्षण प्राप्त होगा और हम अपने अधीनस्थ सभी (कर्मचारियों) को कड़ाई से यह आदेश देते हैं और यह कर्तव्य सौंपते हैं कि वे हमारे किसी भी प्रजा-जन के धार्मिक विश्वास या उपासना में हस्तक्षेप करने से दूर रहें, नहीं तो उन्हें हमारी सख्त नाराजी का शिकार होना पड़ेगा।

"हमारी यह भी इच्छा है कि हमारे प्रजाजन, चाहे वे जिस भी जाति या धर्म के हों, अपनी शिक्षा, योग्यता और ईमानदारी के कारण हमारी सेवा में जिस पद के कर्तव्यों के निर्वाह के योग्य हों उस पर उन्हें स्वतन्त्रता और बिना किसी पक्षपात के रखा जाय।

"भारत के निवासियों के हृदय में अपने पूर्वजों से प्राप्त भूमि के प्रति ममत्व की जो भावना है, उसे हम जानते हैं और उसका सम्मान करते हैं और हम इस

(भूमि) से सम्बन्धित उनके समस्त अधिकारों को, राज्य की न्यायोचित माँगों का ध्यान रखते हुए, रक्षा करना चाहते हैं। हमारी इच्छा है कि सामान्यतः कानून बनाते और व्यवहार में लाते समय भारत की प्राचीन परम्पराओं, प्रथाओं और रीति-रिवाजों का उचित ध्यान रखा जाय।"

आगे इस घोषणा में पिछले अपराधों के लिए सबको बिना किसी शर्त के क्षमा दी गई और यह घोषणा इन शब्दों के साथ समाप्त हुई कि—

"जब भगवान् के आशीर्वाद से शान्ति पुनः स्थापित हो जायगी, तब शान्तिपूर्ण उद्योगों को सबल करने, सार्वजनिक हित और सुधार के कार्यों को बढ़ाने तथा इस देश के शासन को इसमें रहनेवाली समस्त प्रजा के लिए हितकर बनाने की हमारी हार्दिक इच्छा है। उनकी (प्रजाजनों की) समृद्धि में हमारी शक्ति होगी, उनके संतोष में हमारी सुरक्षा होगी और उनकी कृतज्ञता में हमारा पुरस्कार होगा।"

घोषणा का महत्त्व—भारत के नरेशों एवं जनता के लिए इस घोषणा का महत्त्व इस बात में था कि इसमें शासन की नई नीति का समावेश हुआ। नरेशों को विश्वास दिलाया गया था कि उनकी रियासतों की सीमाओं में छेड़-छाड़ न की जायगी; रियासती प्रदेशों को अँगरेजी राज्य में मिलाने की नीति समाप्त हो चुकी थी। इसके फलस्वरूप "लैप्स (Lapse) का सिद्धान्त" भी समाप्त हो चुका था और लॉर्ड कैनिंग ने कानपुर दरबार में यह भी घोषणा कर दी थी कि रानी भारतीय नरेशों के गोद लेने के अधिकार को स्वीकार करती है। इससे नरेश अपनी पत्नियों के बाँझ होने के कारण अपनी रियासत के छिन जाने के भय से मुक्त हो गये। भारतीय जनता के लिए तो इस घोषणा से मानो पृथ्वी पर एक नया स्वर्ग ही उतर आया। इसमें उन्हें शान्ति और समृद्धि, अपने-अपने धर्म की रक्षा, रानी की दूसरी प्रजाओं के साथ समानता का व्यवहार तथा सबसे बड़ी बात तो यह कि यदि वे योग्य हों तो उन्हें ऊँची से ऊँची सरकारी नौकरी में स्थान देने के वचन दिये गये थे। इन वचनों के कारण इस घोषणा ने भारतीय जनता को संतुष्ट करने तथा देश में शान्ति स्थापित करने में बहुत सफलता प्राप्त की। इस घोषणा से चारों ओर संतोष की जो भावना जागृत हुई उसका लॉर्ड कैनिंग ने जनता के मन में यह बात बैठा देने में पूरा-पूरा लाभ उठाया कि अब भारत में एक नया युग सचमुच प्रारम्भ हो गया है। उत्तर-भारत तथा मध्य-भारत के प्रमुख नगरों में दरबारों का आयोजन कर लॉर्ड कैनिंग ने भारतीय नरेशों तथा जनता को नये शासन के सदाशयों के प्रति पुनः विश्वास दिलाया और साथ ही इन दरबारों की सज-धज और तड़क-भड़क से उनके मन में ब्रिटिश राज्य की शक्ति का सिक्का भी जमा दिया।

गोरों का विद्रोह—कैनिंग अभी दौरा करके लौटा ही था कि अँगरेजी सेना के एक भाग ने, जो अब तक कम्पनी की अधीनता में था, विद्रोहात्मक प्रदर्शन कर कैनिंग के सामने नई चिन्ताएं उपस्थित कर दीं। इन विद्रोही सिपाहियों का दावा था कि स्वयं उनकी सहमति के विना उन्हें कम्पनी की सेवा से क्राउन की सेवा में नहीं बदला जा सकता और या तो उन्हें नौकरी से अलग कर दिया जाय या उन्हें फिर से नये पुरस्कार (bounty money) दिये जायें।

इलाहाबाद, मेरठ तथा अन्य प्रमुख सैनिक छावनियों में इन विद्रोहपूर्ण प्रदर्शनों ने गम्भीर रूप धारण कर लिया और बड़ी कठिनाई से शान्ति रक्खी गई। सरकार उन सबको नौकरी से रिहा करने के लिए बाध्य हुई, जो ऐसा चाहते थे; इससे अँगरेजी सेना में १०,००० सिपाही कम हो गये।

सेना का पुनर्गठन—१८५७ के विप्लव के अनुभवों तथा अँगरेजी सैनिकों की उद्दण्डता को देखते हुए सेना का पुनर्गठन सबसे प्रमुख समस्या बन गया। सैनिक-संघटन में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये; एक तो अँगरेज और भारतीय सैनिकों के अनुपात के सम्बन्ध में और दूसरा सेना के भावी संघटन के विषय में।

पिछले विप्लव ने अधिकारियों के मन में यह बात बैठा दी थी कि अँगरेज और भारतीय सैनिकों में एक निश्चित अनुपात बनाये रखना नितान्त आवश्यक है; इसलिए अब निश्चय किया गया कि भविष्य में भारतीय और यूरोपीय सैनिकों का अनुपात २:१ से अधिक न बढ़ने पावे और तोपखाने इत्यादि को पूर्णतः यूरोपीय सैनिकों के हाथों में रखा जाय। इस निश्चय के अनुसार भारत में लगभग ७२,००० यूरोपीय तथा १,३५,००० भारतीय सैनिक रखे गये।

संघटन के प्रश्न को लेकर भारत-सरकार और गृह-सरकार के बीच कुछ मत-भेद सामने आये। ये मतभेद पिट के समय से चले आते थे और ये स्थानीय यूरोपीय सेना रखने के प्रश्न के चारों ओर केन्द्रित थे। गृह-सरकार के नियन्त्रण से मुक्त सेना रखने के खतरों को पिट भली भाँति समझता था, परन्तु समय की आवश्यकताओं को देखते हुए उसे ऐसी सेना का रखा जाना स्वीकार कर लेना पड़ा था। तब से स्थानीय यूरोपीय सैनिकों की संख्या बढ़ती गई और विप्लव के समय भारत में यूरोपीय सेना में एक-तिहाई सैनिक स्थानीय थे। अब गृह-सरकार तथा भारत-सरकार के सामने प्रश्न यह था कि बढ़ाई हुई यूरोपीय सेना में स्थानीय सैनिकों का क्या अनुपात होना चाहिए। लॉर्ड कैनिंग का विचार यह था कि कम से कम यूरोपीय सेना का आधा भाग तो स्थानीय सैनिकों से ही संघटित होना चाहिए। दूसरी ओर सर डब्ल्यू० मैन्सफील्ड (लॉर्ड सेन्डहर्स्ट) ने १८५९ में लिखा कि "मैं समझता हूँ कि भारत में हमारी भावी सुरक्षा के लिए ही नहीं, अपितु हर मैजेस्टी

की सेना के लिए जो अपने सामने एक भयंकर उदाहरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती, एक उदाहरण के तौर पर भी, स्थानीय यूरोपीय सेना का अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिए।" रानी दोनों प्रकार की (स्थानीय तथा गृह-सरकार द्वारा नियन्त्रित) सेनाओं को मिला देने के पक्ष में थी और मई १८६० में मंत्रिमंडल ने इनको मिला देने का निश्चय कर लिया और अगस्त में लोक-सभा ने यह नियम बनाकर कि भविष्य में भारत में स्थानीय प्रयोजनों के लिए यूरोपीय लोगों की भर्ती न की जाय, इस नये परिवर्तन को स्वीकृति दे दी। दोनों प्रकार की सेनाओं के मिलाने में जो संघटन-सम्बन्धी परिवर्तन आवश्यक थे वे भारतीय रेजीमेंटों के लिए अधिकारी तैयार करने तथा स्टाफ में भर्ती करने के लिए प्रत्येक प्रेसीडेंसी में 'स्टाफ-कोर' (Staff Corps) बना कर पूरे किये गये।

अर्थ-व्यवस्था का पुनःसंघटन—विप्लव का दमन हो चुका था, परन्तु विप्लव ने शासन-तन्त्र को बुरी तरह से झकझोर दिया था और इसकी दुर्बलताओं को स्पष्ट कर दिया था। विप्लव के फलस्वरूप चारों ओर दुःसंघटन, बेचैनी और जातीय घृणा व्याप्त हो गई थी। अर्थ-व्यवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। उसे सुधारने के लिए जो उपाय अपनाये गये थे, उन्होंने वाणिज्य के क्षेत्र में अविश्वास उत्पन्न कर दिया था। अभी लॉर्ड कैनिंग कलकत्ते में अपने देशवासियों का विश्वास न प्राप्त कर सका था। ऐसा था वह वातावरण जिसमें लॉर्ड कैनिंग को शान्ति और व्यवस्था ही स्थापित नहीं करनी थी अपितु सुधार और पुनर्गठन भी करना था।

अर्थ-व्यवस्था में सुधार—विप्लव से अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी और घाटे (deficit) की रकम बहुत बढ़ गई थी। विप्लव के व्यय को भारत-सरकार पर डालने के ब्रिटिश-सरकार के निश्चय के फलस्वरूप भारत का ऋण चालीस लाख स्टर्लिंग से भी अधिक बढ़ गया था। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करना और आय के नये साधन खोजना आवश्यक हो गया था। व्यवसायों तथा पेशों पर कर लगाने के प्रस्ताव से विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ। ऐसी स्थिति में कैनिंग ने विशेषज्ञों के परामर्श की आवश्यकता का अनुभव किया और इसके लिए गृह-सरकार को लिखा। नवम्बर १८५९ में जेम्स विलसन को, जो कुछ समय तक इँगलैंड में अर्थ-सचिव तथा व्यवसाय-समिति (Board of trade) का उपसभापति रह चुका था, भारत की अर्थ-व्यवस्था ठीक करने के लिए गवर्नर जनरल की परिषद् का पहला अर्थ-सदस्य बनाकर भेजा गया।

विलसन नवम्बर १८५९ में भारत पहुँचा। उसने अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन के लिए उत्तर-भारत का दौरा किया और फरवरी १८६० के अपने बजट-भाषण में स्थिति की पर्यालोचना की। इस समय अर्थ-व्यवस्था निराशाजनक ही नहीं थी,

परेशान करनेवाली भी थी। विप्लव के तीन वर्षों में घाटे की रकम ३० लाख स्टर्लिंग से भी अधिक बढ़ गई थी। चालू साल में घाटे की रकम में ६½ लाख बढ़ने की चिन्ताजनक स्थिति की संभावना थी। कम्पनी के युद्धों के फलस्वरूप जो राष्ट्रीय ऋण चला आ रहा था, वह ५९½ लाख से लगभग ९८ लाख तक बढ़ गया था और इस प्रकार वार्षिक ब्याज की रकम लगभग २ लाख बढ़ गई थी। १८५९ में चुंगी की दर बढ़ाने से राजस्व की आय में वृद्धि अवश्य हुई थी, परन्तु साथ ही माल का आयात घट गया था। भारत में ब्रिटिश व्यापारियों को सरकार का यह कार्य बहुत खल रहा था और विलसन को यह निश्चित आदेश दिया गया था कि वह इनको संतुष्ट करने का प्रयत्न करे।

१८६०-६१ में राजस्व की अनुमानित आय कुल ४,३०,००,००० पौंड थी। आय का प्रमुख स्रोत भूमि-कर था, जिससे कुल आय का ४०% से भी अधिक प्राप्त होता था; इसके अतिरिक्त आय के अन्य स्रोत, अफीम, नमक का एकाधिकार, चुंगी तथा डाक टिकटों की बिक्री थे।

विलसन ने इस स्थिति को सुधारने के लिए दो उपायों का प्रस्ताव किया—नये कर लगाना तथा सार्वजनिक एवं सैनिक कर्मचारियों की संख्या कम करना। उसने तीन नये कर प्रस्तावित किये—(१) विभिन्न व्यवसायों तथा पेशों पर एक, चार तथा दस रुपये का कर; (२) २० पौं० वार्षिक से अधिक आय पर 'आयकर (Income tax) तथा (३) भारत में पैदा की गई तम्बाकू पर आयात वस्तुओं के बराबर कर। परन्तु विलसन के प्रस्तावों के कुछ अंश को व्यवहार में लाया गया। फिर भी विलसन का बजट इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसमें उन सिद्धातों को रखा गया था जिन पर भारत की भावी आर्थिक नीति की नींव पड़ी। आय-कर पाँच वर्षों के लिए लगाया गया। विलसन ने बंगाल के जमींदारों के इस निराधार तर्क का खंडन किया कि 'स्थायी बन्दोबस्त' (Permanent Settlement) के फलस्वरूप उन पर कोई नये कर नहीं लगाये जा सकते थे और उसने कॉर्नवालिस के विवरण-पत्रों से यह प्रमाणित कर दिया कि 'स्थायी बन्दोबस्त' में जमींदारों को यह छूट नहीं दी गई थी। अँगरेज व्यापारियों को संतुष्ट करने के लिए चाय, पटसन और जूट जैसे कच्चे माल पर से निर्यात-कर हटा दिया गया और तैयार माल पर आयात-कर कम कर दिया गया; ये परिवर्तन 'स्वतन्त्र व्यापार' के नाम पर किये गये, यद्यपि इनसे भारत के राजस्व को बहुत क्षति पहुँची।

खर्चे की रकम को कम करने के उद्देश्य से विलसन ने सैनिक नियन्त्रण के लिए निपुण विभाग स्थापित कर सैनिक व्यय कम करने पर जोर दिया। शासन के

सार्वजनिक विभागों का व्यय कम करने के लिए निश्चयात्मक उपाय ग्रहण किये गये और इस प्रकार बजट को संतुलित किया गया।

विलसन के पश्चात् सैम्युएल लैंग ने अर्थ-सचिव का पद ग्रहण किया। सार्वजनिक एवं सैनिक-व्यय कम करने के लिए उसने विलसन के उपायों का अनुसरण किया।

लैंग का कार्यकाल भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) की प्रणाली जो बाद में भारतीय अर्थ-व्यवस्था की एक विशेषता बनी, प्रारम्भ करने के कारण बहुत उल्लेखनीय है। इस प्रणाली का जन्म लैंग के इस प्रस्ताव से हुआ कि स्थानीय सरकारों को केन्द्र से एक निश्चित रकम दिये जाने की अपेक्षा कुछ कर सौंप दिये जायँ जिनकी आय का उपयोग वे स्थानीय कार्यों के लिए करें; उस समय स्थानीय सरकारों को तम्बाकू का कर सौंपा गया। इस प्रणाली से स्थानीय सरकारों में अपव्यय की प्रवृत्ति रुक गई और उनमें कम खर्च करने की इच्छा उत्पन्न हो गई।

सुधारों तथा खर्चे कम करते जाने के फलस्वरूप लएंग के बजट में बचत होने लगी, जिसके कारण उसने सार्वजनिक हित के कार्यों तथा शिक्षा के लिए अनुदान देने, कुछ अंश में मान्चेस्टर के माल पर आयात-कर कम करने तथा २० से ५० पौं० वार्षिक आय पर आयकर हटाने का प्रस्ताव किया।

लैंग संभवत: पहला व्यक्ति था, जिसने भारतीय राजस्व की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए यह पता लगाया कि "भारत का राजस्व असाधारण रूप से प्रगतिशील और परिवर्तनशील है।" भारतीय अर्थ-व्यवस्था के प्रति लैंग का यह स्वर्णिम निष्कर्ष ध्यान देने योग्य है, क्योंकि प्रतिदिन अधिकाधिक राजस्व का स्रोत होते हुए भी भारतीय जनता आज भी पीड़ित, दु:खी और रोगों की शिकार है। आखिर क्यों?

सुधार और पुनर्निर्माण कैनिंग के शासन के प्रमुख ध्येय थे। उसने शासन-प्रबन्ध, कृषि, शिक्षा, पुलिस, न्याय-विभाग, रेलवे—सभी पर ध्यान दिया।

कृषि के क्षेत्र में कैनिंग ने भूमि जोतनेवालों को कृषि से होनेवाले लाभ प्राप्त कराने तथा सबसे बड़ी बात तो यह कि कृषि को बार-बार नये-नये बन्दोबस्तों की परेशानियों और राज्य की बढ़ती हुई माँगों से बचाने का प्रयत्न किया। १८५६ के 'बंगाल रेंट एक्ट, (Bengal Rent Act) ने भूमि जोतनेवालों को भूमि जोतने की अवधि तथा जमीन के लगान की निश्चितता देकर स्थायी बन्दोबस्त की बुराइयों को बहुत कुछ कम कर दिया। यह कानून भारत के अन्य प्रांतों में 'लगान सम्बन्धी कानूनों' (Rent Acts) के लिए एक आदर्श बन गया।

शिक्षा—राज्य-सचिव सर चार्ल्स वुड के समान कैनिंग भी शिक्षा के लिए कुछ रकम रखने के लिए उत्सुक था। १८५४ के अपने पत्र में सर चार्ल्स वुड ने भारत में शिक्षा के विकास के लिए जो रूपरेखा प्रस्तुत की थी, उसी का अनुसरण करते हुए भारत में शिक्षा की प्रगति हुई है। प्रथम राज्य-सचिव लॉर्ड स्टैनली ने अपने ७ अप्रैल १८५९ के पत्र में स्थिति की संक्षिप्त पर्यालोचना करते हुए प्रमुख विचारणीय विषयों पर विचार किया था। परन्तु स्टैनली का कार्यकाल वहुत थोड़ा रहा और उसके पश्चात् वुड ने राज्य-सचिव का पद-भार ग्रहण किया। प्रत्येक प्रांत में एक अध्यक्ष (Director) की अधीनता में एक शिक्षा-विभाग खोला गया और इस विभाग के मातहत निरीक्षक तथा अध्यापक नियुक्त किये गये। प्रारम्भिक एवं उच्च शिक्षा में कुछ उन्नति हुई परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण अधिक प्रगति न हो सकी।

कानून और व्यवस्था—इस समय कानून के क्षेत्र में सबसे अधिक गड़बड़ थी। न्यायाधीशों के सामने अपनी न्याय-बुद्धि, समानता की भावना तथा अपने सद्-विचारों के अतिरिक्त प्रायः मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों का अभाव था। कैनिंग ने विधि को निश्चित रूप देने का प्रयत्न किया और उसने १८६० में मैकॉले तथा प्रथम संविधि-आयोग (Law Commission) द्वारा १८३७ में प्रस्तुत 'भारतीय दण्ड विधान, (Indian Penal Code) को स्वीकृति दे दी। दीवानी और फौजदारी के विधान (Codes) पास किये गये और मुसलमान फौजदारी-विधान (Muslim Criminal Code) को हटा दिया गया।

इसी समय १८६१ के 'भारतीय उच्च-न्यायालय कानून' (Indian High Courts Act) द्वारा न्याय-विभाग का पुनर्गठन किया गया; इस कानून के अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में उच्च न्यायालय स्थापित किये गये और उत्तर-पश्चिमी प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के लिए, जहाँ की न्याय-व्यवस्था अब तक कलकत्ते से होती थी, एक नई अदालत स्थापित करने का अधिकार दिया, जिसके अनुसार १८६६ में इलाहाबाद में अदालत की स्थापना हुई। इस कानून में उच्च न्यायालयों का विधान और अधिकार प्रस्तुत किये गये थे जो आज तक मूलरूप से अपरिवर्तित चले आ रहे हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति क्राउन के हाथ में थी और न्यायाधीश तभी तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक हिज़ मैजेस्टी उनसे संतुष्ट रहें। प्रेसिडेंसियों के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Courts) तथा कम्पनी की सदर अदालतें १८६१ ई० में भंग कर दी गईं। अब तक अँगरेज प्रजा-जनों के न्याय-विचार का जो अधिकार सर्वोच्च न्यायालयों तक सीमित था वह रद्द कर दिया गया और उनकी रक्षा के लिए फौजदारी-विधान में विशेष व्यवस्था कर दी गई।

आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए १८६१ के एक कानून के अनुसार पुलिस-विभाग का पुनर्गठन किया गया; १८६१ के इस कानून में बहुत दीर्घ कालीन परिणाम लानेवाले सुधारों की व्यवस्था की गई थी। प्रत्येक स्थानीय सरकार के अधीन एक इन्स्पेक्टर जनरल की अध्यक्षता में पुलिस-विभाग का संघटन किया गया और उसे स्थानीय सरकार के सीधे नियन्त्रण में रखा गया; इन्स्पेक्टर-जनरल की सहायता के लिए डिप्टी-इन्स्पेक्टर-जनरल नियुक्त किये गये। प्रत्येक जिले में एक पुलिस सुपरिटेंडेंट नियुक्त किया गया जो जिले की पुलिस में अनुशासन और व्यवस्था रखने के लिए उत्तरदायी था; उसे जिला-मजिस्ट्रेट के साथ मिलकर कार्य करना था और वह शान्ति बनाये रखने तथा अपराधों का दमन करने के सभी मामलों में जिला-मजिस्ट्रेट के अधीन होता था। पुलिस के उच्च अधिकारी, जिनमें सुपरिटेंडेंट भी थे, इँगलैंड में यूरोपवासियों में से ही भर्ती किये जाते थे। प्रत्येक जिले को कुछ थानों में बाँट दिया गया और प्रत्येक थाने में कुछ कान्स्टेबलों के साथ डिप्टी-इन्स्पेक्टर के पद का एक भारतीय अफसर नियुक्त किया गया।

१८६१ का भारतीय परिषद् अधिनियम (Indian councils Act of 1861)—१८६१ का अधिनियम, जिसने भारत-सरकार की कार्य-कारिणी में बहुत कुछ सुधार किये और व्यवस्थापिका के साधनों एवं कार्यप्रणाली में परिवर्तन किये, ग्लेडस्टन की उदार-नीति के वातावरण में तैयार हुआ। भारतीय विप्लव ने तत्कालीन भारतीय शासन-तन्त्र के दोषों की ओर सबका ध्यान आकर्षित कर दिया था। लॉर्ड कैनिंग इस शासन-तन्त्र से पूर्णतः असंतुष्ट था। उसने इसमें सुधार के लिए पहले लॉर्ड स्टेनली से और तब वुड से बहुत लम्बे समय तक लिखा-पढ़ी की थी। सर चार्ल्स वुड ने ६ जून १८६१ को लोक-सभा में विधेयक प्रस्तुत करते हुए अपने भाषण में भारतीय विप्लव के फलस्वरूप बढ़ती हुई जातीय घृणा की ओर संकेत किया और आगे कहा कि "भारत में अपनी स्थिति की बढ़ती हुई कठिनाइयों की ओर से हमारा आँखें बन्द करना मूर्खता ही होगी, और यह इसका एक अतिरिक्त कारण है जिससे कि हम अपनी सारी संस्थाओं को दृढ़तम आधार पर स्थित करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करें।" विप्लव के कारणों में इस बात पर अनेक लोगों ने बहुत बल दिया कि इसका प्रमुख कारण शासक और प्रजा में सम्पर्क का सर्वथा अभाव था, जिसके कारण वे एक दूसरे की भावनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ रहते थे। जैसा कि प्रो० डॉडवेल ने कहा है "विचारशील एवं शान्ति-प्रिय सर सैयद के साथ-साथ अनेक लोग उस अपरिमार्जनीय दुर्भाग्य (विप्लव) का कारण भारत में जनता की भावनाओं को समझने में सरकार की पूर्ण विफलता को बतला रहे थे और सर सैयद के साथ-साथ इन लोगों का विचार था कि यदि

सरकार भारतीयों के साथ नियमित रूप से परामर्श कर सके तो सरकार का काम बहुत सरल हो जायगा।" सरकार अपनी विधियों और नियमों के औचित्य के विषय में कभी भी जान ही न पाती थी और न जनता को अपने कार्यों का औचित्य समझाने के लिए ही उसके पास कोई साधन था। सर बार्टल फ्रेयर ने १८६० के अपने प्रसिद्ध पत्र में इस बात पर जोर दिया कि परिषदों में भारतीय सदस्य भी रखे जायें और "कोई कानून जनता के लिए उपयोगी है या नहीं, यह जानने का विप्लव के अतिरिक्त अन्य कोई साधन न होने की स्थिति में भी लाखों के लिए कानून बनाने के प्रयोग" की भयंकरता पर विस्तार से प्रकाश डाला। १८५८ में 'भारतीय संवैधानिक सुधारों' के विवरण में भी इसी बात की ओर संकेत करते हुए कहा गया कि "विप्लव की भीषण घटनाओं ने लोगों को देश के विधि निर्माण से भारतीयों को सर्वथा अलग रखने से उत्पन्न होनेवाले संकटों से अच्छी तरह परिचित करा दिया था।" १८६१ के कानून में इस सम्पर्क की व्यवस्था की गई।

इसके अतिरिक्त १८३३ से विधि-निर्माण का जो केन्द्रीकरण (Centralisation) प्रारम्भ हुआ था, वह दोषपूर्ण सिद्ध हुआ। केन्द्रीय सरकार के सदस्यों के पास न तो इतना समय था और न उनमें ऐसी प्रवृत्ति ही थी कि वे ऐसे कानून बनाते जो देश के सभी भागों के लिए उपयोगी सिद्ध होते; इसलिए विधि-निर्माण के अधिकार का बँटवारा आवश्यक समझा गया, जिससे प्रेसिडेंसियाँ और प्रान्त अपनी स्थानीय स्थितियों के अनुकूल कानून बना सकें।

अंततः तत्कालीन व्यवस्थापिका ने, जिसका निर्माण १८५४ के कानून के अनुसार हुआ था, अपने निर्माताओं के उद्देश्यों के बहुत कुछ प्रतिकूल, ऐसे कार्य भी अपने ऊपर ले लिये थे, जो तत्कालीन प्रणाली से कुछ भी मेल न खाते थे। यह संस्था एक प्रकार की ऐंग्लो-इंडियन लोक-सभा बन गई थी, जो स्वतन्त्र रूप से व्यवस्था बनाने और माल के यातायात को रोकने के अधिकार की माँग करती रहती थी।

इन सब कारणों का सामूहिक परिणाम १८६१ के कानून के रूप में सामने आया। सर चार्ल्स वुड ने इस कानून का विधेयक प्रस्तुत किया था। यह कानून भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं का तथा व्यवस्था बनाने के कार्य के बँटवारे का प्रारम्भ करने के कारण भारत के संवैधानिक इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस कानून के अनुसार गवर्नर-जनरल व्यवस्था बनाने के प्रयोजन के लिए कुछ मनोनीत गैरसरकारी सदस्यों को अपनी परिषद् में सम्मिलित करने में समर्थ हो गया और मद्रास तथा बम्बई की सरकारों को उनके व्यवस्था बनाने के अधिकार पुनः प्राप्त हो गये तथा अन्य प्रांतों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थापिका परिषदों की स्थापना की व्यवस्था की गई।

इस कानून में गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी एवं व्यवस्थापिका—दोनों का नया विधान प्रस्तुत किया गया।

(अ) गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में परिवर्तन—गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में एक पाँचवाँ साधारण सदस्य बढ़ाया गया। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि आवश्यकता पड़ने पर वह कानून बनाने के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में अकेले काम कर सकता था और अपनी अनुपस्थिति में परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करने के लिए सभापति नियुक्त कर सकता था। इस कानून में गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार दिया गया कि वह कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम बना सकता है और इन कार्यों के अनुसार जो कार्य किये जायँगे वे परिषद् सहित गवर्नर-जनरल के कार्य समझे जायँगे। इस अधिकार के अनुसार कैनिंग ने ऐसे नियम बनाये जिनसे परिषद् के सदस्यों में अलग-अलग विभागों के कार्य बाँटने की प्रणाली स्थापित हो गई; अब कार्यकारिणी-परिषद् का प्रत्येक सदस्य अपने को सौंपे गये विभागों की सभी साधारण बातों को निपटाने लगा, जिससे सभी विभागों से सम्बन्धित कागज-पत्रों से भरे बक्सों को, एक सदस्य से दूसरे सदस्य के पास, चक्कर लगाने की प्रथा समाप्त हो गई। महत्त्व-पूर्ण विषय, सम्बन्धित सदस्य के विचारों सहित वायसराय के सामने रखे जाते थे और जिन बातों में वायसराय का सम्बन्धित सदस्य से मतभेद होता था उनको परिषद् के सामने रखा जाता था। परिषद् के सभापति का निर्णायक (casting) मत होता था।

(आ) केन्द्रीय व्यवस्थापिका में परिवर्तन—व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों के लि' गवर्नर-जनरल की परिषद् में कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ सदस्य बढ़ाने की व्यवस्था की गई; ये सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत होते थे और दो वर्षों के लिए नियुक्त किये जाते थे तथा इनमें से कम से कम आधे सदस्य गैर-सरकारी होते थे। ये अतिरिक्त सदस्य यूरोपीय या भारतीय हो सकते थे। इस प्रकार इन अतिरिक्त सदस्यों को लेकर गवर्नर-जनरल की परिषद् भारत की व्यवस्थापिका बनी। इसके कार्य बिलकुल सीमित थे और व्यवहार में इसका कार्य कानून बनाना न होकर कार्यकारिणी द्वारा प्रस्तावित कानूनों को स्वीकृति देना भर था। ऐसी कोई नई विधि प्रारम्भ करने के लिए, जिसका सम्बन्ध (अ) भारत के सार्वजनिक ऋण या राजस्व से हो, (आ) किसी वर्ग के धर्म या धार्मिक रीति-रिवाजों से हो, (इ) जल या स्थल सेना के किसी भाग के अनुशासन या व्यवस्था से हो, और (ई) सरकार के विदेशी शक्तियों और राज्यों के साथ सम्बन्धों से हो, गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी। किसी भी कानून पर गवर्नर-

जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी और सभी कानून राज्य-सचिव के पास भेजने आवश्यक थे, जो किसी कानून को अस्वीकार भी कर सकता था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका भारत के किसी भी भाग के लिए कानून बना सकती थी और प्रान्तीय सरकारों-द्वारा बनाये हुए किसी भी कानून में गवर्नर-जनरल परिवर्तन कर सकता था या उसे रद्द कर सकता था। आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर-जनरल को अध्यादेश (Ordinances) जारी करने का अधिकार था और यदि राज्य-सचिव पहले ही किसी अध्यादेश को अस्वीकृत न कर दे तो वह ६ महीने तक कानून के समान चल सकता था।

(इ) प्रान्तीय व्यवस्थापिका—बम्बई और मद्रास सरकारों को फिर से व्यवस्थापिका के अधिकार दे दिये गये थे और व्यवस्था के कार्य के लिए गवर्नर की परिषद् में कम से कम चार और अधिक से अधिक ८ मनोनीत सदस्य बढ़ाये गये थे, जिनमें से कम से कम आधे सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया था कि वह अन्य प्रांतों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थापिकाओं की स्थापना करे और इस अधिकार के अनुसार उत्तर-पश्चिमी-प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में १८८६ में, पंजाब में १८९८ में तथा बंगाल में १८६२ में व्यवस्थापिकाएँ स्थापित की गईं। इन स्थानीय व्यवस्थापिकाओं के अधिकार बहुत सीमित थे। किन्हीं विषयों पर गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई प्रस्ताव प्रस्तुत न किया जा सकता था और किसी भी कानून (Act) को विधि (Law) बनने के लिए यह आवश्यक था कि उसे गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल दोनों की स्वीकृति प्राप्त हो।

१८६१ के कानून द्वारा निर्मित व्यवस्थापिकाओं ने उन उद्देश्यों को पूर्ण किया जिनके लिए उनका निर्माण हुआ था। ये उद्देश्य थे प्रचार, सूचना तथा विचार-विनिमय। इन परिषदों के रूप में सरकार को अपनी व्यवस्थाओं का औचित्य प्रदर्शित करने के लिए और जनता को अपनी शिकायतें सामने रखने तथा अपनी बात सुनाने के लिए साधन मिल गया। इससे आगे परिषदों का कोई कार्य न था, वे केवल प्रस्तुत व्यवस्था पर विचार-विनिमय ही कर सकती थीं। वे न तो अन्य विषयों पर सूचना ही माँग सकती थीं और न सरकार के कार्यों की आलोचना ही कर सकती थीं।

कैनिंग का अवकाश ग्रहण करना—लॉर्ड कैनिंग ने १८६२ ई० में बिगड़े स्वास्थ्य और टूटे हृदय के साथ, क्योंकि कुछ ही महीनों पहले कलकत्ते में लेडी कैनिंग का देहान्त हो गया था, अवकाश ग्रहण किया। विप्लव के अशान्त दिनों में उसके विरुद्ध जो बहुत सी अज्ञानपूर्ण बातें कही गई थीं, वे आज किसी का कुछ भी

ध्यान आकर्षित नहीं करतीं। उसे युद्ध में सफलता तथा उसके बाद शान्ति स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है। उसने प्रतिशोध की भावना से दूर रहते हुए १८५७ के विप्लव का दमन किया, भारत-सरकार का पुनर्गठन किया और भावी प्रगति की रूपरेखा प्रस्तुत की। विशुद्ध बौद्धिक गुणों में भारत के बहुत ही कम शासक उससे आगे बढ़ सके हैं और भारत में अपने अल्पकालीन निवास को जितने अधिक उपयोगी सुधारों से उसने चिरस्मरणीय बनाया, ऐसा तो और भी कम लोग कर पाये हैं और उन दिनों का स्मरण कर जिनमें उसे परिश्रम करना पड़ा, कोई भी उसके महत्त्व में शंका नहीं कर सकता। अपने देशवासियों की दृष्टि में उसका दोष यही था कि वह न्यायपूर्ण था, उसने अपनी बुद्धि को ईर्ष्या और क्रोध के उस बवंडर से धुँधली न होने दिया था, जो विप्लव के कारण उठ खड़ा हुआ था और उसने न्यायोचित दंड को प्रतिशोध में परिणत होने से हमेशा बचाया था। उपहास के रूप में उसके देशवासियों ने उसे 'दयालु कैनिंग' (Clemency Canning) का नाम दे दिया था,परन्तु यह उसका दयाभाव ही था, जिसके कारण वह शान्ति स्थापित करने, भारतीयों को शान्त करने तथा साम्राज्य के प्रति उनके मन में सद्भावनाएँ जगाने में समर्थ हो सका।

कैनिंग की नीति ने प्रगति और विकास के एक नये युग की पीठिका प्रस्तुत कर दी और यदि उसके उत्तराधिकारियों तथा लंदन में उनके स्वामियों ने विदेशी जातियों पर शासन करने में निपुण राजनीतिज्ञों जैसी अन्तर्दृष्टि और सहानुभूति प्रदर्शित की होती तो भारत का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विकास हो गया होता और वह अपने लक्ष्य पर बहुत पहले पहुँच चुका होता। विचारशील व्यक्तियों को तब भी भविष्य की काली छाया स्पष्ट दिखाई दे रही थी और वे अनुभव कर रहे थे कि भारत को भी स्वशासन के अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए १९वीं शताब्दी के इटली के समान रक्तपात और आतंकों में से होकर गुजरना पड़ेगा।

सत्रहवाँ अध्याय

आन्तरिक शासन-व्यवस्था, १८६१-६६

१—लॉर्ड एल्गिन १८६२–६३
२—लॉर्ड जॉन लारेंस १८६३–६६
३—लॉर्ड मेयो १८६६–७२
४—लॉर्ड नॉर्थब्रुक १८७२–७६
५—लॉर्ड लिटन १८७६–८०
६—लॉर्ड रिपन १८८०–८४
७—लॉर्ड डफरिन १८८४–८८
८—लॉर्ड लैन्सडाउन १८८८–६४
६—लॉर्ड एँल्गिन १८६४–६६

१८६१ और १८६६ के बीच के काल की सर्वप्रमुख विशेषता है भारत-सरकार की शासन-नीति का विकास। १८७० ई० में 'लाल सागरीय केवल' (Red sea cable) की स्थापना से शिमला और लंदन के बीच समाचारों का आदान-प्रदान कुछ मिनटों की बात हो गया, जिससे भारतीय कार्यों पर भारत-सचिव का नियन्त्रण बहुत बढ़ गया; भारत-सचिव का यह नियन्त्रण बहुधा भारत के लिए अहितकर ही सिद्ध हुआ। इस काल में लॉर्ड कैनिंग द्वारा निर्धारित मार्ग पर प्रगति की गई और भारत को ब्रिटिश माल की खपत तथा कच्चे माल के निर्यात की मंडी के रूप में विकसित करने के लिए सरकार सदैव सतर्क रही। भारत की आवश्यकताओं एवं आर्थिक परिस्थितियों के विपरीत पड़नेवाली इस व्यापार-नीति का औचित्य सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र व्यापार और योग्यतम के उद्वर्तन (Survival of the fittest) के सिद्धान्तों का ढोल पीटा गया। फ्रांस और इँगलैंड की व्यापारिक एवं औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता तथा जर्मनी के औपनिवेशिक प्रसार के प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रयत्नों को देखते हुए भारत-सरकार को ऐसी व्यापार-नीति का निर्धारण करना पड़ा था, जिससे औद्योगिक इँगलैंड की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें।

इस काल में वैदेशिक मामलों में कोई उल्लेखनीय घटना न हुई; लॉर्ड लिटन

एवं डिजरायली का भाग्य-निर्णायक द्वितीय अफगान युद्ध (१८७८–८०), लॉर्ड लारेंस के दो बड़े-बड़े भूटान-युद्ध (१८६४) तथा लार्ड डफरिन के तृतीय बर्मा युद्ध (१८८५) के अतिरिक्त इस काल में वैसी ही शान्ति छाई रही जैसी तूफान से पहले रहती है, क्योंकि इस समय यूरोप १९१४-१८ के विश्व-युद्ध की तैयारियों में जुटा हुआ था।

जन-मत के विकास की दृष्टि से यह रचनात्मक काल था। १८५७ के विप्लव के बाद से निराशा के जो बादल घिर गये थे वे अब छँटने लगे थे। पाश्चात्य शिक्षा और विचार-धारा, अँगरेजी भाषा, प्रेस का विकास—विशेषतया १८७० के बाद, आयात-निर्यात-कर (Tariff) और सरकारी नौकरियों के विषय में इँगलैंड की नीति—इन सब बातों ने मिलकर जन-मत को संघटित होने के लिए प्रेरित किया; फलत: १८८५ ई० में 'राष्ट्रीय कांग्रेस' का जन्म हुआ।

संवैधानिक विकास—१८६१-६९—इस काल के संवैधानिक विकास के अध्ययन के लिए इसको दो भागों में बाँटना सुविधाजनक होगा—एक तो वे संवैधानिक सुधार जिनका संबंध घरेलू सरकार अर्थात् राज्य-सचिव एवं उसकी भारतीय परिषद् (Council of India) से है; दूसरे वे जिनका सम्बन्ध भारत-सरकार से है।

(अ) घरेलू सरकार (Home Government)—इस काल में घरेलू सरकार में इसके अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न हुआ कि भारत-सचिव की स्थिति उसकी अपनी परिषद् में दृढ़तर कर दी गई, जिससे भारत-सचिव पर उसकी परिषद् का वह दबाव न रह गया, जिसकी शिकायत लॉर्ड सैलिसबरी ने मार्च १८६९ ई० में हाउस ऑफ् लॉर्ड्स् में अपने भाषण में की।

भारतीय सरकार-संविधि (Government of India Act), १८६९ के अनुसार भारतीय परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल १० वर्ष कर दिया गया और निश्चय किया गया कि रिक्त स्थानों पर भारत-सचिव ही सदस्यों की नियुक्ति करेगा। भविष्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति ताज (Crown) द्वारा की जानी थी। भारतीय परिषद्-संविधि (Council of India Act) १८७६ के अनुसार राज्य-सचिव को परिषद् में तीन विशेषज्ञों की नियुक्ति का अधिकार मिला, जिनका कार्य-काल उनके अच्छे आचरण पर निर्भर बताया गया और इनके लिए भारत में नौकरी की शर्त भी हटा दी गई। सर एच० मेन की नियुक्ति को सर्वथा विधि-सम्मत्त बनाने के लिए भी व्यवस्था की गई।

१८७० ई० में "लाल सागरीय केबल" (Red Sea Cable) की स्थापना से 'भारतीय सचिवालय' (India office) का भारत-सरकार के साथ

घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया; अब राज्य-सचिव (Secretary of State) का अपने व्यक्तिगत पत्रों द्वारा वायसराय पर दबाव बढ़ने लगा, जिसका परिणाम भारत के लिए सदैव ही हितकर नहीं सिद्ध होता था, जैसा कि लॉर्ड नार्थब्रुक के त्याग-पत्र से स्पष्ट होता है। अब नीति और अर्थ-सम्बन्धी सभी बातों का नियन्त्रण इँगलैंड से होने लगा; इँगलैंड की राजनीतिक दलबन्दियों की छाया भारत-भूमि पर भी पड़ने लगी और भारत के हित इस दलबन्दी की बलि-वेदी पर चढ़ाये जाने लगे।

डिजरायली के प्रधान मंत्री बनने पर सन् १८७६ ई० में 'रॉयल टाइटिल्स बिल' पास हुआ, जिसके अनुसार इँगलैंड की रानी की उपाधियों में 'कैसर-ए-हिन्द' भी जोड़ दी गई और इस प्रकार इँगलैंड के ताज और भारतीय जनता एवं रजवाड़ों में निकट सम्पर्क का युग प्रारम्भ हुआ। पहली जनवरी १८७७ ई० में दिल्ली में दरबार हुआ जिसमें रानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया।

(आ) भारत-सरकार में संवैधानिक विकास—१८६१ और १८९९ के बीच के काल में भारत-सरकार को प्रभावित करने वाले जो संवैधानिक परिवर्तन हुए वे दो प्रकार के थे—पहले वे जिनका प्रभाव कार्यकारिणी अर्थात् गवर्नर-जनरल, गवर्नरों एवं उनकी परिषदों पर हुआ और दूसरे वे जिन्होंने प्रान्तीय एवं केन्द्रीय व्यवस्थापिकाओं को प्रभावित किया।

१—कार्यकारिणी में परिवर्तन—इस दिशा में जो परिवर्तन हुए वे एक ओर तो गवर्नर-जनरल के अधिकारों और दूसरी ओर उसकी परिषद् के निर्माण से सम्बन्धित थे।

(क) गवर्नर-जनरल के अधिकार, १८७० का कानून—१७८६ और १७९३ के कानूनों से गवर्नर-जनरल को अधिकार मिला हुआ था कि मतभेद होने पर वह अपनी परिषद् के निर्णय को ठुकरा सकता है। १८७० में एक नया कानून पास कर गवर्नर-जनरल के इस अधिकार को पुनः स्वीकार किया गया और साथ ही कुछ बढ़ाया भी गया। १८७० के कानून में गवर्नर-जनरल को अपनी निजी हैसियत से नियम (Regulations) बनाने का अधिकार दिया गया और प्रान्तीय गवर्नरों, लेफ्टिनेंट गवर्नरों एवं चीफ कमिश्नरों को भी गवर्नर-जनरल की स्वीकृति लेकर नियम बनाने का अधिकार दिया गया। इस कानून में गवर्नर-जनरल एवं प्रान्तीय गवर्नरों को अपने प्रस्तावों को व्यवस्थापिका के सामने उपस्थित करने के प्रतिबन्ध से मुक्त किया गया। इस कानून में भारत में ब्रिटिश प्रदेशों की सुरक्षा, शान्ति एवं हितों को प्रभावित करनेवाली बातों के सम्बन्ध में गवर्नर-

जनरल का अपनी परिषद् की सम्मति को अमान्य करने का अधिकार दुहराया गया।

१८६५ के एक कानून द्वारा गवर्नर-जनरल को अधिकार मिला कि वह भारतीय रियासतों में निवास करनेवाले सभी ब्रिटिश प्रजा-जनों के लिए कानून बना सकता है, चाहे वे उस राज्य की सेवा में हों या न हों।

(ख) **इण्डियन कौंसिल्स ऐक्ट, १८७४; कौंसिल का विस्तार**—१८७४ के इस ऐक्ट के अनुसार वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् में एक छठा साधारण सदस्य, सार्वजनिक कार्यों के लिए बढ़ाया गया; साथ ही राज्य-सचिव को अधिकार मिला कि आवश्यक समझने पर वह इस परिषद् के सदस्यों की संख्या कम कर सकता है।

२—व्यवस्थापिका-सम्बन्धी परिवर्तन—१८८५ ई० में बम्बई में कांग्रेस का जन्म हुआ। उस समय ग्लैडस्टन की विचारधारा के अनुयायी लॉर्ड डफरिन वायसराय थे। कांग्रेस के जन्म से परेशान होने की अपेक्षा उन्होंने इसको भारत के भविष्य के लिए एक शुभ लक्षण ही समझा। कांग्रेस ने १८६१ ई० के सुधारों के प्रति असंतोष प्रकट करते हुए और सुधारों की माँग की। इसने व्यवस्थापिका में निर्वाचित सदस्यों को स्थान देकर तथा इनको बजट पर बहस करने तथा प्रश्न पूछने के अधिकार देकर व्यवस्थापिका के विस्तार की माँग की।

स्वयं लॉर्ड डफरिन की भी धारणा बन गई थी कि सुधार नितान्त आवश्यक हैं; अत: उन्होंने अपनी कार्यकारिणी के सदस्यों, सर जार्ज चेस्नी, सर चार्ल्स एचिसन और श्री वैस्टलैंड की एक समिति सुधारों के प्रश्न पर विचार करने के लिए बनाई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में व्यवस्थापिका के विस्तार, सब वर्गों के उचित प्रतिनिधित्व और निर्वाचन के सिद्धान्तों के उपयोग की सिफारिश की।

लॉर्ड डफरिन के अपने विचार इस उद्धरण में स्पष्ट प्रकट होते हैं :—

"अब मेरे सहयोगियों और स्वयं मुझे भी यह विदित हो रहा है कि अब हमारे लिए समय आ गया है कि हम उसी उदार नीति के विकास की दिशा में एक और कदम उठायें और, स्वयं मेरे ही शब्दों में 'सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था में ऐसे भारतीय सज्जनों को जो अपने प्रभाव, योग्यताओं और अपने देशवासियों के हृदय में अपने प्रति विश्वास के कारण देश के उत्तरदायी शासकों को अपनी सम्मति से सहायता पहुँचाने के योग्य हैं अधिक विस्तृत भाग' दें।"

डफरिन ने यह स्पष्ट कर देने का प्रयत्न किया कि उसका उद्देश्य भारत में ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का प्रवर्तन करना नहीं है। उसने यह आवश्यक समझा कि प्रधान सत्ता कार्यकारिणी के हाथ में ही रखी जाय। इस विचार से प्रेरित होकर

उसने सुझाया कि मनोनीत सदस्यों की संख्या निर्वाचित सदस्यों से अधिक होनी चाहिए।

डफरिन ने अपने सुधार के प्रस्तावों को "प्रान्तीय परिषदों के विस्तार, उनके कार्यों के विभाजन, निर्वाचन-सिद्धान्त के आंशिक प्रवर्तन और राजनीतिक संस्थाओं के रूप में इन परिषदों के सामान्य रूप को उदार बनाने की एक योजना" बताया। परन्तु राज्य-सचिव ने निर्वाचन का सिद्धान्त ठुकरा दिया।

अभी सरकार अपने प्रस्तावों को निश्चित रूप भी न दे पाई थी कि इँगलैंड में भारत के एक पुराने मित्र चार्ल्स ब्रैडला ने कांग्रेस की १८८९ की योजना के आधार पर पार्लियामेंट में एक विधेयक उपस्थित किया। इसी वर्ष सरकार ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जो कुछ सुधारों के साथ १८९२ का कानून बन गया।

यह कानून अँगरेजी कानून की सभी स्वाभाविक विशेषताओं से युक्त था; इसमें सुविधाएँ तो दी गईं परन्तु नियन्त्रणों के साथ। केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्यों को आर्थिक विषयों पर वाद-विवाद करने और प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया; परन्तु इस अधिकार का उपयोग केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों द्वारा बनाये नियमों के अनुसार किया जाना था और जब इन सरकारों ने इस अधिकार के उपयोग के लिए नियम बनाये तो ऐसे कि इसमें कोई अच्छाई ही न रह गई; इससे स्पष्ट हो गया कि एक अनुदार नौकरशाही किस प्रकार किसी कानून के उद्देश्यों को विफल कर सकती है।

इस कानून के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों व्यवस्थापिकाओं का, गैर-सरकारी सदस्यों को सम्मिलित कर, विस्तार किया गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में कम से कम १० और अधिक से अधिक १६ सदस्य, बम्बई और मद्रास की व्यवस्थापिका में कम से कम ८ और अधिक से अधिक २०, बंगाल में अधिक से अधिक २० और संयुक्त-प्रान्त में अधिक से अधिक १५ सदस्य बढ़ाने की व्यवस्था की गई।

गवर्नर-जनरल (अपनी परिषद् सहित) को अधिकार मिला कि वह राज्य-सचिव की अनुमति से इन बढ़े हुए सदस्यों के निर्वाचन के विषय में नियम बनाये। इस अधिकार के अनुसार गवर्नर-जनरल ने निर्वाचन के जो नियम बनाये उनके अनुसार विभिन्न समुदायों—जैसे कॉर्पोरेशनों, विश्वविद्यालयों, नगरपालिकाओं इत्यादि—द्वारा छाँटे हुए लोगों में से निर्वाचन करने की व्यवस्था बनाकर थोड़े-बहुत अंश में निर्वाचन-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया; परन्तु गवर्नर-जनरल इन विभिन्न समुदायों की सिफारिशों से बाध्य नहीं था।

१८९२ ई० का कानून भारत में उत्साह का संचार न कर सका। केन्द्रीय

व्यवस्थापिका में सदस्यों की संख्या-वृद्धि नगण्य ही रही; कम से कम २ और अधिक से अधिक ४ सदस्य ही बढ़ पाये। इस महत्त्वहीन नगण्य वृद्धि की सफाई लॉर्ड कर्जन ने इन शब्दों में दी कि अत्यधिक विशाल संस्थाएँ शासन को सुविधा-जनक तो नहीं बना पाती हैं, अपितु अपनी शक्ति अस्पष्ट और व्यर्थ के वाद-विवादों में ही नष्ट करती हैं। स्मरणीय बात यह है कि लॉर्ड कर्जन ने इँगलैंड की लोकसभा की सदस्य-संख्या घटाने का कभी प्रस्ताव नहीं किया, जिसमें ६०० से अधिक सदस्य हैं। आर्थिक विषयों पर विवाद करने और प्रश्न पूछने का विशेषाधिकार भी नियम बना कर सीमित कर दिया गया था। बजट की प्रत्येक मद पर अलग-अलग बहस नहीं की जा सकती थी; सम्पूर्ण बजट को लेकर ही बहस करने का नियम बनाया गया था। सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित विषयों पर पूछे जाने-वाले प्रश्न वाद-विवाद करने, सरकार को लांछित करने या नियम-निर्धारण की नीयत से नहीं किये जा सकते थे। प्रश्न के उत्तर पर विवाद नहीं किया जा सकता था। सभापति को किसी प्रश्न को अस्वीकार करने का अधिकार था।

आर्थिक अधिकार का वितरण (Devolution) और स्थानीय स्वराज—१८३३ ई० से भारत-सरकार की आर्थिक नीति केन्द्रीकरण की रही थी। १८३३ के कानून से स्थानीय सरकारें कर लगाने के समस्त अधिकारों से वंचित हो गई थीं और कार्यालय के विभागों की-सी स्थिति में जा पड़ी थीं। विकेन्द्रीकरण समिति के शब्दों में "कुछ प्रान्तों में लगाये जानेवाले कुछ स्थानीय करों को छोड़कर........प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने कर्मचारियों के निर्वाह के लिए पूर्णतः केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रतिवर्ष दी जानेवाली धन-राशि पर निर्भर थी।"

यह प्रणाली अत्यधिक दोषपूर्ण थी; इससे शासन-तंत्र में न तो कोई सुविधा ही आती थी और न सुधार ही होता था। सर जॉन स्ट्रैंची के शब्दों में "सर्वोच्च सरकार व्यय के प्रत्येक भाग की सूक्ष्मतम बातों का नियन्त्रण करती थी.... ऐसी प्रणाली में प्रान्तीय सरकारों को कुछ भी स्वतन्त्रता न थी और उनके व्ययों में कमखर्ची के ध्येय शायद ही रहते हों। कम खर्च के विचार से प्रारम्भ की गई इस प्रणाली का परिणाम अपव्यय ही हुआ। स्थानीय सरकारें सीमित माँगें करती थीं क्योंकि उनके पास कोई भी यह जानने का साधन नहीं था कि वे सरकार से कितने परिमाण में वार्षिक माँग करें। अनुभव से ये समझ गई थीं कि वे जितना ही कमखर्ची से दूर रहेंगी और उनकी माँगें जितनी ही अधिक होंगी, उतनी ही ये माँगें सरकार की नजर में आवश्यक समझी जायेंगी।" इस प्रणाली के विषय

में मेजर जनरल स्ट्रैची ने अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं; "सार्वजनिक आय का वितरण आपाधापी के रूप में जा गिरा है, जिसमें लाभान्वित वही होता है जो उग्रतम हो; समझ-बूझ के लिए तो यहाँ स्थान ही नहीं है। स्थानीय कमखर्ची से कोई स्थानीय लाभ न होने के कारण अपव्यय से बचने की प्रेरणा न्यूनतम हो गई है। क्योंकि स्थानीय आय की वृद्धि से स्थानीय सुधार के साधनों में बढ़ती न होने के कारण, सार्वजनिक आय को बढ़ाने की रुचि भी निम्नतम स्तर पर पहुँचा दी गई है।"

इस प्रणाली के दोषों के कारण केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में हमेशा जो तनातनी होती रहती थी, उससे इसमें सुधार करने आवश्यक हो गये। अर्थ-व्यवस्था को प्रान्तीय बनाने के लिए सुझाव दिये जाने लगे, परन्तु १८७० ई० तक ऐसा कोई कदम न उठाया गया; अन्ततः लार्ड मेयो की सरकार ने एक योजना प्रारंभ की जो 'प्रान्तीय आर्थिक वक्तव्य' (Provincial Financial Statement) के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य था—आर्थिक अधिकारों का वितरण (Devolution)। इस योजना में प्रमुख बात यह थी कि व्यय के कुछ विभागों, जैसे, जेलें, सड़कें, पुलिस, शिक्षा इत्यादि को इनके साथ सम्बद्ध आय सहित स्थानीय सरकारों के नियन्त्रण में रख दिया गया था; इसके अतिरिक्त प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार से एक निश्चित वार्षिक रकम मिलनी थी। लॉर्ड मेयो ने आशा प्रकट की कि इस योजना से अर्थ-व्यवस्था नियमित हो जायगी और स्थानीय एवं नगरपालिका-सम्बन्धी (Municipal) संस्थाओं को प्रोत्साहन मिलेगा। वस्तुतः लॉर्ड मेयो की आर्थिक अधिकारों के वितरण की यह योजना उसकी स्थानीय स्व-शासन की योजना की पूरक थी। मेयो की अर्थ-नीति में स्थानीय उद्देश्यों के लिए स्थानीय करों में वृद्धि की बात भी सम्मिलित थी। प्रान्तों को अधिकार मिला कि वे बचत की रकम—यदि कोई हो—अपने पास रखें और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसका व्यय करें।

लॉर्ड लिटन के समय के अर्थ-मंत्री सर जॉन स्ट्रैची के अनुसार मेयो की इस योजना में दोष ये थे कि "जब कि इससे स्थानीय सरकारों को ऐसे खर्चे उठाने का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया था, जिनकी असंदिग्ध प्रवृत्ति बढ़ते रहने की थी, वह आय, जिससे स्थानीय सरकारों को ये खर्चे चलाने थे, एक निश्चित रकम न होते हुए भी, बढ़ाई जा सकने की संभावना नहीं के बराबर थी. . .इस और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारणों से मेरा सदैव यही मत रहा है कि १८७१ ई० में स्थापित प्रान्तीय अधिकारों की योजना केवल व्ययों में ही नहीं अपितु आय में भी लागू की जानी चाहिए।"

इस उद्देश्य को सामने रखकर सर जॉन स्ट्रैची ने सन् १८७७ ई० में एक नई योजना चलाई, जिसमें स्थानीय सरकारों को आय की मदों में बहुत बड़ा भाग दिया गया था और साथ ही व्यय के सम्बन्ध में पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता दी गई थी। इस योजना के अनुसार भूमि-कर, आबकारी, डाक-महसूल इत्यादि कुछ करों को उगाहने का उत्तरदायित्व स्थानीय सरकारों को सौंप दिया गया और इस कार्य में उनकी रुचि जागृत करने के लिए इन करों की आय में उनको हिस्सा दिया गया। परन्तु अब तक भी स्थानीय सरकारों को कर लगाने, नई योजनाएँ चलाने या किन्हीं विभागों के वेतन कम करने अथवा समाप्त करने के अधिकार न दिये गये।

प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में सरकार जो स्थिति अपनाना चाहती थी, वह निम्न शब्दों में व्यक्त होती है:—

"गवर्नर-जनरल, अपनी परिषद् सहित, किसी भी विभाग में निरीक्षण और नियन्त्रण के अपने अधिकार को न छोड़ेगा, परन्तु हिज एक्सिलैंसी; यथासंभव, हस्तान्तरित राजस्व (Revenue) और सेवा-आयोगों की व्यवस्था के ब्योरों में हस्तक्षेप और प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था की उलझनों से दूर रहेंगे।"

१८७७ ई० के इन सुधारों के परिणाम-स्वरूप अब प्रान्तीय सरकारों के पास लगभग १, करोड़ ६० लाख रु० का निर्बाध बजट आ गया। इस नई योजना के हितकर प्रभावों की आलोचना करते हुए बंगाल-सरकार ने लिखा कि "स्थानीय सरकारों को व्यय के लिए उत्तरदायी बनाने और इनको राजस्व के विभिन्न विभागों के विकास के लिए प्रत्यक्ष प्रोत्साहन देने में इस योजना नेसब विभागों के व्यय की सतर्क जाँच को तथा विकास के योग्य राजस्व के विभागों में सभी स्तरों के कर्मचारियों की रुचि को निश्चित कर दिया है।"

१८७७-७८ ई० की आर्थिक योजना में अधिकार-वितरण (Devolution) को और आगे बढ़ाने का पर्याप्त स्थान रह गया था। १८८२ ई० में लॉर्ड रिपन ने अर्थ-मंत्री मेजर बेअरिंग, जो बाद में लॉर्ड क्रॉमर हुआ, की सहायता से एक नई पंचवर्षीय योजना चलाई। इसके अनुसार स्थानीय सरकारों को निश्चित अनुदान (Grant) देने की प्रथा समाप्त कर, राजस्व के स्रोतों को 'शाही', 'प्रान्तीय' और 'विभक्त'—इन श्रेणियों में विभाजित किया गया। 'शाही' श्रेणी में अफीम, नमक, चुंगी इत्यादि राजस्व के स्रोत रखे गये जिनकी आय पूर्णतः केन्द्रीय सरकार को मिले; 'प्रान्तीय' श्रेणी में नागरिक विभागों (Civil departments) तथा सार्वजनिक कार्यों की आय रखी गई, जो पूर्णतः प्रान्तीय सरकारों को मिले। राजस्व के अधिकांश स्रोतों को 'विभक्त' श्रेणी में रखा गया और इनकी आय

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में बाँटी गई। निश्चित अनुदान की समाप्ति की क्षति-पूर्ति प्रान्तों को भूमि-कर की आय में एक निश्चित प्रतिशत भाग देकर की गई।

युद्ध और अकाल के सम्बन्ध में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के उत्तरदायित्वों का निर्धारण भी १८८२ ई० में हुआ। निश्चय किया गया कि किसी ऐसे युद्ध को छोड़कर जिसमें शाही (केन्द्रीय) सरकार के समस्त साधन समाप्त हो जायँ, अन्य किसी युद्ध में प्रान्तीय सरकारों से कोई माँग न की जायगी। अकाल के सम्बन्ध में तय हुआ कि यह विदित होने पर कि अकाल बहुत भयंकर है, शाही सरकार तत्काल सहायता पहुँचायेगी। प्रान्तीय सरकारों को अकाल से सावधान रहने के लिए धन-राशि सुरक्षित रखने के भार से मुक्त कर दिया गया और शाही सरकार प्रतिवर्ष दुर्भिक्ष-सहायता एवं बीमा कोष में १५ लाख पौंड जमा करने लगी।

१८८२ ई० की इन व्यवस्थाओं ने प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था को पहले से बहुत अधिक दृढ़ता प्रदान कर दी और लॉर्ड क्रॉमर के शब्दों में "उन चार संकटों में से, जिनका भारत की अर्थ-व्यवस्था को सदैव भय रहता था, अर्थात्—युद्ध, अफीम के राजस्व में घटती, विनिमय (Exchange) में गिरावट और दुर्भिक्ष—तीन का सामना तो भारत-सरकार को करना था और केवल चौथे का ही भार स्थानीय सरकारों पर पड़ना था।"

लॉर्ड रिपन की यह अर्थ-व्यवस्था १९०४ ई० की अंशत: स्थायी व्यवस्था के समय तक चलती रही; प्रत्येक पाँचवें वर्ष अनुमानित रकमें दुहराई जाती थीं, परन्तु इस योजना के आधार-भूत सिद्धान्तों में तब तक कोई परिवर्तन न हुआ। १८८४ ई० में एक महत्त्वपूर्ण कदम यह उठाया गया कि एक ऐसी न्यूनतम धन-राशि निश्चित कर दी गई, जिससे कम किसी भी स्थानीय सरकार की रोकड़ न होने पाये। यह कार्रवाई स्थानीय अर्थ-व्यवस्था के अत्यधिक उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए की गई। १८६१-९९ ई० के बीच के अर्थ-व्यवस्था-सम्बन्धी सुधारों का ठोस परिणाम यह हुआ कि अर्थ-व्यवस्था पहले की अपेक्षा बहुत दृढ़ हो गई और सर्वोच्च सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों में आपसी रियायत की भावना का विकास हुआ।

स्थानीय स्वायत्त-शासन का प्रारम्भ—वैधानिक अर्थ में स्थानीय स्वायत्त शासन का प्रारम्भ १८७० ई० में लॉर्ड मेयो की सरकार के प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था के प्रस्ताव में हुआ। आज स्वायत्त-शासन की जो संस्थाएँ कार्य कर रही हैं, उनके इतिहास के विवेचन के लिए उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है; एक तो नगर-पालिकाएँ (Municipalities) और दूसरी ग्राम-समितियाँ (Rural Boards)।

१८७० ई० से पहले भी स्वायत्त-शासन की दिशा में कदम उठाये गये थे, परन्तु इसमें अधिक सफलता न मिली थी।

भारतवर्ष में स्मरणातीत अतीत काल से गाँवों में तथा व्यवसायियों की स्वायत्त-शासन की संस्थाएँ विद्यमान थीं, जो कि भीषण राजनीतिक उथल-पुथलों के बीच भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन को सुरक्षित रखती थीं। सर चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है कि "ग्रामीण समुदाय Vallage Communities छोटे-छोटे गणतन्त्र हैं, जिनके पास अपनी आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुएँ हैं और जो विदेशी सम्बन्धों से प्रायः मुक्त हैं। जहाँ कुछ भी शाश्वत् नहीं रहता, वहाँ भी वे शाश्वत् रहते प्रतीत होते हैं। राजवंश पर राजवंश ढहते जाते हैं, क्रान्ति के बाद क्रान्ति होती है, हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख, अँगरेज—सब बारी-बारी से स्वामी बनते हैं, परन्तु ग्रामीण समुदाय (इन सभी स्थितियों में) जैसा का तैसा टिका है।"

बात सच्ची है। परन्तु यह सोचना बिल्कुल गलत होगा कि आज की नगर-पालिकाएँ और जिला-बोर्ड इन ग्रामीण समुदायों के क्रमिक विकास का परिणाम हैं। ये पूर्णतः ब्रिटिश-शासन की उपज हैं।

शासन-सम्बन्धी अधिकारों के वितरण के साधन के रूप में स्थानीय स्वायत्त-शासन का प्रारम्भ करने का श्रेय लॉर्ड मेयो को है। इस प्रणाली का मूल लॉर्ड मेयो की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने को, स्थानीय हितों को स्थानीय शासकीय संस्थाओं को सौंपने की और स्थानीय व्यय को स्थानीय राजस्व के पल्ले सौंप कर केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था का भार कम करने की इच्छा में था। वास्तव में मेयो की स्थानीय स्वायत्त-शासन की योजना उसके आर्थिक सुधारों का ही एक अंग थी। इससे पहले भी विभिन्न प्रान्तों में नगरपालिका-कानून (Municipal Acts) पास हो चुके थे—बंगाल में सन् १८६४ ई० में, मद्रास में १८६५ ई० में और १८६३ ई० के 'रॉयल आर्मी सेनोटरी कमीशन' की सिफारिशों के फलस्वरूप, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में १८६८ ई० में।

लॉर्ड मेयो के प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था के प्रस्ताव (१८७० ई०) में इस बात पर जोर दिया गया था कि स्थानीय शिक्षा, स्वास्थ्य-व्यवस्था, चिकित्सा की सुविधा तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए निश्चित कोषों की व्यवस्था को स्थानीय रुचि, देखरेख और चिन्ता का विषय बनाया जाय। मेयो ने आशा प्रकट की थी कि "इस प्रस्ताव के अर्थ और मंतव्य को पूर्णतः कार्यान्वित करने से स्वायत्त-शासन का विकास करने, नगरपालिका संस्थाओं को दृढ़ बनाने और शासन-व्यवस्था में देशी तथा यूरोपीय लोगों के सहयोग को पहले से अधिक बढ़ाने के सुयोग उपलब्ध हो जायँगे।"

इस प्रस्ताव के अनुसार, १८७१-७४ ई० के बीच विभिन्न प्रान्तों में नगरपालिका कानून पास हुए, जिनसे स्वायत्त-शासन की संस्थाओं के अधिकार विस्तृत हुए और इनके सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था हुई; परन्तु चुनाव का सिद्धान्त केन्द्रीय प्रान्तों में ही कार्यान्वित हुआ।

१८७०-८२ ई० के बीच नगरपालिकाओं की संख्या और उनकी आय में वृद्धि हुई, परन्तु लॉर्ड मेयो की आशाएँ पूरी न हो पाईं। इसका प्रमुख कारण तो यही था कि उसने ऐसी फसल पाने की आशा की थी, जो उसने वोई ही नहीं थी। मेयो की स्थानीय स्वायत्त-शासन की योजना केवल एक अर्थ-व्यवस्था थी, जिसके द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिए धन उगाहने को एक ऐसी मशीन खड़ी कर दी गई थी जो वैसे प्रभाव से हीन थी जैसा कि शाही-करों का होता है। इसके साथ ही इस योजना से सरकार स्थानीय हितों की सुरक्षा और विकास के उत्तरदायित्व से मुक्त हो गई थी।

लॉर्ड रिपन के साथ स्थानीय स्वायत्त-शासन के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ होता है। स्थानीय संस्थाओं को राजनीतिक शिक्षा का साधन वनाने की कल्पना का श्रेय उसी को है। स्थानीय स्वायत्त-शासन की ओर लॉर्ड रिपन का ध्यान वहुत पहले से आकर्षित हो गया था; १८८२ ई० में राज्य-सचिव को भेजे गये स्थानीय स्वायत्त-शासन-सम्वन्धी अपने स्मृति-पत्र में उसने समय की प्रवृत्तियों पर जोर दिया था और प्रगति की इस नव-जात भावना को ऐसा मोड़ देने का आग्रह किया था जिससे यह उचित मार्ग पर अग्रसर हो और अंधी उदासीनता अथवा मूर्खतापूर्ण दमन के फलस्वरूप राजनीतिक भय का स्रोत न बनने पाये। लॉर्ड रिपन ने अपनी स्थानीय स्वायत्त-शासन की योजना को सामने लाने के लिए प्रान्तीय करारनामों के कालिक पुर्नविचार के अवसर से लाभ उठाया और सितम्वर १८८१ ई० के एक प्रस्ताव में घोषणा की कि अब समय आ गया है जव कि इन करारनामों में "स्थानीय स्वायत्त-शासन के प्रश्न को और अधिक समय तक न भुलाया जाना चाहिए; इन करारनामों में (शासकीय) कार्यों के अधिकारों को प्रान्तीय से स्थानीय नियन्त्रण में लाने पर ध्यान दिया जाना चाहिए. . .इसके साथ ही ऐसी (स्वायत्त-शासन की) संस्थाओं में निर्वाचन-पद्धति के विस्तार पर भी विचार किया जाना चाहिए।"

प्रान्तीय सरकारों ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया और मई, १८८२ ई० में स्थानीय स्वायत्त-शासन का प्रसिद्ध प्रस्ताव प्रकाशित हुआ, जिसमें विकास की प्रस्तावित प्रक्रियाएँ दर्शाई गई थीं। इस प्रस्ताव में कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त रखे गये थे; व्योरेवार प्रत्येक बात का निर्णय स्थानीय आवश्यकताओं और स्थितियों

के अनुसार प्रान्तीय सरकारों पर छोड़ दिया गया। निर्वाचन-सिद्धान्त के प्रयोग की वांछनीयता पर वल तो दिया गया, परन्तु सभी स्थानों के लिए कोई निश्चित विधियाँ इसमें न वनाई गईं। लॉर्ड रिपन ने लिखा कि "जो मैं चाहता हूँ वह यह है कि जन-समुदाय के सवसे अच्छे, सवसे बुद्धिमान् और सवसे प्रभावशाली लोगों को धीरे-धीरे अपने स्थानीय कार्यों के प्रवन्ध-संचालन में रुचि और सक्रिय भाग लेने की शिक्षा मिले।" अधिकारी वर्ग के नियन्त्रण के सम्वन्ध में रिपन ने टॉम ह्यू को लिखा था कि "यदि (स्वायत्त-शासन की) संस्थाओं को, देशी लोगों को अपने कार्यों का स्वयं प्रवन्ध करने की शिक्षा देने के प्रयोजन के लिए, कुछ भी लाभदायक वनना है तो उन्हें जिले के 'वड़े साहव' की निरन्तर उपस्थिति से दवाया न जाना चाहिए। उन्हें अधिकाधिक अकेले चलने देने के लिए छोड़ देना चाहिए, यद्यपि वाहर से सरकारी अधिकारियों की उन पर दृष्टि रहे और यदि ये पथभ्रष्ट हों तो ये अधिकारी इन्हें रोकें।" ये थे लॉर्ड रिपन के कल्याणकारी ध्येय, यद्यपि उसके इस प्रस्ताव में निरीक्षण का पूर्ण अधिकार सरकार के हाथ में रखा गया था, परन्तु सरकारी सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक एक-तिहाई तक सीमित कर दी गई थी। गैर-सरकारी सदस्यों को दो वर्ष तक पदारूढ़ रहना था, और यथासंभव इनका निर्वाचन किया जाना था। इन सदस्यों के नामों के साथ राय और राय वहादुर जैसी सम्मान की उपाधियाँ जोड़ी जानी थीं, जिससे उत्तरदायी लोग इन सदस्यताओं की ओर आकर्षित हों। इस प्रस्ताव में इस वात पर भी जोर दिया गया था कि जहाँ तक संभव हो, गैर-सरकारी सदस्य को ही स्वायत्त-शासन की संस्था का सभापति वनाया जाय।

इस प्रस्ताव की नीति उन विभिन्न स्थानीय स्वायत्त-शासन-कानूनों (Local self—Government Acts) में ग्रंथित हुई जो अधिकांश प्रान्तों में पास हुए।

ग्रामीण स्वायत्त-शासन—ग्रामीण क्षेत्रों में स्वायत्त-शासन का विस्तार करने का श्रेय भी लॉर्ड रिपन को ही है। १८८२ ई० के प्रस्ताव में स्थानीय शासन की संस्थाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में भी स्थानीय संस्थाओं को चलाने का निर्देश दिया गया था। इस समय तक जिले के अधिकारी स्थानीय परामर्शदाता संस्थाओं के सहयोग से स्थानीय सड़कों, डिस्पेंसरियों इत्यादि के निमित्त रखे गये सरकारी कोषों की व्यवस्था करते थे। रिपन ने इन परामर्शदाता संस्थाओं को तोड़कर ग्रामीण संस्थाओं के निर्माण का आदेश दिया। वह इस वात का समर्थक था कि प्रत्येक ग्रामीण समिति का कार्य-क्षेत्र छोटा हो और सार्वजनिक हित की वातों का निर्णय सामयिक जिला-परिषदों (Periodic District Councils) में किया जाय, जिनमें प्रत्येक स्थानीय संस्था के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। इसके विकल्प के

रूप में यह सुझाव रखा गया कि छोटी-छोटी स्थानीय समितियों पर नियन्त्रण करने के लिए जिला-बोर्डों की स्थापना की जाय; अधिकांश प्रान्तों ने जिला-बोर्डों की प्रणाली अपनाई।

स्थानीय स्वायत्त-शासन के इतिहास में अगला कदम सन् १९०७ में 'विकेन्द्रीकरण आयोग' (Decentralisation Commisson) की रिपोर्ट के साथ उठाया गया, जिसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

दुर्भिक्ष, कृषि और उद्योग-धन्धे, १८६१-९९—दुर्भिक्ष, कृषि और उद्योग-धन्धों का इतना गहरा सम्बन्ध है कि इन पर एक साथ विचार करना ही सुविधाजनक होगा। भारत में कृषि मौनसून हवाओं (वृष्टि) पर इतनी निर्भर करती है कि किसी वर्ष वर्षा पर्याप्त न होने से दुर्भिक्ष की आशंका उठ खड़ी होती है। परन्तु १८६१-९९ ई० के बीच अकाल अन्न के इतने नहीं पड़े जितने धन के। एक राजनीतिक सत्ता के अधीन होने पर भारत में यातायात के साधनों का जो विस्तार हुआ, उससे एक प्रदेश के बचत के अन्न को दूसरे प्रदेश तक पहुँचाना सरल हो गया था; परन्तु इतने भर से ही समस्या का समाधान नहीं हो जाता। दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता के पास बाहर से आये अन्न को खरीदने के लिए धन भी तो होना चाहिए। भारत में जन-साधारण की आय अत्यल्प होने के कारण एक सामान्य व्यक्ति के पास इतना धन नहीं बच पाता कि जिससे वह दुर्भिक्ष के समय भूख से त्राण पा सके; परिणाम होता है भुखमरी। कृषि और उद्योग-धन्धे आय के प्रमुख साधन हैं; परन्तु इन पर अभी तक उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना इनके महत्त्व के अनुरूप इन पर दिया जाना चाहिए। भारत में कृषि और उद्योग-धन्धों के बीच अपेक्षित संतुलन नहीं है; कृषि पर अत्यधिक भार लदा है; उद्योग-धन्धों का वैसा विकास नहीं हो पाया है, जैसा संसार के अन्य उन्नतिशील राष्ट्रों में; परिणाम होता है दुर्भिक्ष और भुखमरी।

दुर्भिक्ष-नीति का विकास (१८६१-९९)—१८६१-९९ ई० के बीच भारत को ६ बार दुर्भिक्षों का और कई छोटी-मोटी अनावृष्टियों का सामना करना पड़ा। कालक्रम से ये दुर्भिक्ष इस प्रकार हुए—

(१) १८६० ई०—उत्तर-पश्चिमी सीमांत, अलवर तथा अन्य रियासतों में।
(२) १८६६-६७ ई०—उड़ीसा का अकाल, कलकत्ते से मद्रास तक के समस्त पूर्वी तट पर।
(३) १८६८-६९ ई०—उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश, पंजाब और राजपूताना में।
(४) १८७३ ई०—बिहार।

(५) १८७६-७८ ई०—मद्रास, मैसूर और हैदराबाद के कुछ भागों, बम्बई उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों और अवध में।

(६) १८८०-९६ ई०—विभिन्न प्रान्तों में छोटी-मोटी अनावृष्टियाँ।

(७) १८९६-९७ ई०—उत्तर-पश्चिमी प्रान्त अवध, विहार, मध्य-प्रान्त, मद्रास, वम्बई, पंजाब और बरार।

इन दुर्भिक्षों के अनुभवों के आधार पर भारत-सरकार को दुर्भिक्ष-नीति निर्धारित करनी पड़ी। प्रत्येक भयंकर दुर्भिक्ष के पश्चात् भविष्य में ऐसी घटना को रोकने के तथा दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के उपाय सुझाने के लिए जो विभिन्न जाँच-कमीशन नियुक्त किये गये उनकी सिफारिशों के फलस्वरूप सरकार की दुर्भिक्ष-नीति स्थिर हुई। अकाल पड़ने पर सरकार के सामने दो समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं—दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्रों में अनाज पहुँचाने की और दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सुरक्षा की व्यवस्था करने की। पहली समस्या का सम्बन्ध है यातायात से और दूसरी का सम्बन्ध है उन सिद्धान्तों से जो कार्य-क्षम, बूढ़े और अपाहिज लोगों, बच्चों और स्त्रियों की सहायता के लिए काम में लाये जायँ।

दुर्भिक्ष-जाँच-समितियों का इतिहास सन् १८६० ई० से प्रारम्भ होता है, जब कि कर्नल बेअर्ड स्मिथ की अध्यक्षता में एक दुर्भिक्ष-जाँच-समिति नियुक्त हुई थी; परन्तु इस समिति की रिपोर्ट से सिद्धान्तों का निर्धारण न हो सका।

१८६६-६७ ई० के उड़ीसा-अकाल के पश्चात् सर जॉर्ज कैम्पबैल की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त हुई, जिसकी रिपोर्ट से एक निश्चित दुर्भिक्ष-नीति का आरम्भ हुआ। इस समिति की रिपोर्ट सन् १९४४ ई० के बंगाल के अकाल का स्मरण करा देती है, क्योंकि इन दोनों दुर्भिक्षों के समय स्थानीय सरकार स्थिति की गम्भीरता को हृदयंगम न कर पाई थी। कैम्पबेल ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि दुर्भिक्ष का सामना करने के लिए समुचित उपाय नहीं अपनाये गये थे और बंगाल-सरकार ने दुर्भाग्यपूर्ण अदूरदर्शिता प्रकट की थी तथा केन्द्रीय सरकार को अँधेरे में रखा था। उड़ीसा का अकाल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इस समय से सरकार को यह पुराना सिद्धान्त त्याग देना पड़ा कि बूढ़ों और अपाहिजों को सहायता पहुँचाना केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य नहीं है। तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉरेंस ने घोषणा की "प्रत्येक प्राणी को बचाना" सरकार का उद्देश्य होना चाहिए और प्रत्येक "बचाये जा सकनेवाले" व्यक्ति की मृत्यु के लिए उस जिले का अधिकारी उत्तरदायी होगा। बाद में इस सिद्धान्त में सुधार हुआ।

कैम्पबेल की सिफारिशें १८८० ई० के शाही कमीशन की सिफारिशों का

पूर्वरूप थीं; इनमें यातायात के साधनों में सुधार, भूमि का तथा उपज का लेखा-जोखा रखने पर जोर दिया गया था।

लॉर्ड लिटन के शासन-काल में १८७६-७८ ई० के अकाल के बाद जनरल रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त हुई, जिसने १८८० ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। स्ट्रैची की रिपोर्ट में कैम्पबेल के सुझावों को और आगे बढ़ाया गया था, सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे और दुर्भिक्ष-निवारक एवं दुर्भिक्ष से त्राण पाने के उपाय सुझाये गये थे। इस रिपोर्ट में यह तो स्वीकार किया ही गया था कि जिन प्राणियों को मौत के मुँह में जाने से बचाया जा सकता है, उनकी रक्षा के लिए पूर्णतः प्रयत्नशील होना राज्य का कर्तव्य है, परन्तु साथ ही यह भी कहा गया था कि सरकार को सहायता का यह कार्य ऐसे ढंग से करना चाहिए जिससे "कमखर्ची और स्वावलम्वन के विकास में रुकावट न आने पाये; अत्यधिक दानपूर्ण सहायता से उत्पन्न होनेवाली अनैतिकता को रोकना चाहिए।" इसको दुर्भिक्ष काल का 'नैतिक संकट' कहा गया था। स्ट्रैची के कमीशन की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :—

(१) कृषि की दशा से सम्वन्ध रखनेवाले आँकड़े समुचित एवं पूर्णरूप से सुरक्षित रखे जायँ।

(२) भुखमरी के परिणामस्वरूप शारीरिक शक्ति का ह्रास होने से पहले ही क्षुधा-ग्रस्त लोगों को किसी काम में लगाकर जीविकोपार्जन के साधन देने की व्यवस्था होनी चाहिए। जरूरतमन्द और मामूली तौर से वेकार लोगों में भेद करने के लिए मजदूरी और श्रम के स्वतः कार्यशील परीक्षण काम में लाये जाने चाहिएँ। मजदूरी पर्याप्त मात्रा में दी जानी चाहिए; स्त्री-पुरुष एवं आयु का ध्यान रखते हुए मजदूरी की दर तय होनी चाहिए तथा बच्चों को विशेष रियायत मिलनी चाहिए। दुर्भिक्ष-काल में इस प्रकार के प्रारम्भ किये गये काम सार्वजनिक उपयोग के और ऐसे हों जिनसे अधिकाधिक लोगों को लम्बे समय तक काम मिल सके।

(३) मुफ्त सहायता देना भी सरकार का कर्तव्य है। इस प्रकार की सहायता की व्यवस्था बड़े सावधान निरीक्षण के साथ धन, अनाज एवं भोजन के रूप में दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्र के विभिन्न केन्द्रों में दी जानी चाहिए।

(४) निर्यात और माँग के नियमों में हस्तक्षेप न होना चाहिए, भोजन-सामग्री का वितरण करनेवाले व्यक्तिगत व्यापारियों पर विश्वास करना चाहिए और केवल अत्यधिक संकटपूर्ण स्थिति में ही अनाज का निर्यात रोका जाना चाहिए।

(५) किसानों को बीज और बैल खरीदने के लिए ऋण दिये जाने चाहिएँ और लगान वसूली स्थगित या माफ की जानी चाहिए।

(६) खर्चों का भार स्थानीय सरकार को शाही कोष की सहायता से उठाना चाहिए; इससे उत्तरदायित्व की भावना बढ़ेगी।

(७) मवेशियों को दुर्भिक्ष-ग्रस्त क्षेत्रों से हरे-भरे जंगलों में पहुँचाया जाना चाहिए।

(८) कष्ट-निवारण की व्यवस्था के आधार के रूप में एक कामचलाऊ 'दुर्भिक्ष-संहिता' (Famine code) बनाई जानी चाहिए।

स्ट्रैची-जाँच-समिति की सिफारिशों के अनुसार बजट में "दुर्भिक्ष-कष्ट-निवारण एवं बीमा" शीर्षक में १ करोड़ ५० लाख रु० रखे गये और १८८३ ई० में एक दुर्भिक्ष-संहिता (Famine Code) बनाई गई, जिसके आधार पर प्रान्तीय संहिताएँ बनीं जिनमें दुर्भिक्ष का सामना करने के लिए अपनाये जानेवाले निवारक एवं रक्षात्मक कार्यों का विस्तृत विवरण दिया गया।

१८८० से १८९६ ई० के बीच की अनावृष्टियों ने दुर्भिक्ष-संहिताओं के परीक्षण एवं सुधार का अवसर उपस्थित कर दिया।

१८९६-९७ ई० के अकाल के पश्चात् सर जेम्स लायल की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त हुई; परन्तु इसकी रिपोर्ट से कोई नया संशोधन न हुआ।

१८९८-९९ के दुर्भिक्ष का लॉर्ड कर्जन के प्रसंग में वर्णन किया जायगा।

कृषि और उद्योग-धन्धे—हमने पीछे उल्लेख किया था कि भारत में प्रति-व्यक्ति की आय इतनी कम है कि वह संकट-काल के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रख पाता। भारतीयों की आय के दो मुख्य साधन हैं—कृषि और उद्योग-धन्धे और ये दोनों ही व्यवसाय बहुत ही पिछड़ी दशा में हैं।

इस पिछड़ेपन को प्रायः भारतीय अध्यात्मवाद का परिणाम बताया जाता है; परन्तु वास्तव में सत्य इसके विपरीत है। भारत कभी भी औद्योगिक देश नहीं रहा, यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। भारत के भूतकाल का इतिहास इस कथन को सर्वथा असत्य सिद्ध कर देता है। १९१८ ई० के औद्योगिक कमीशन ने ठीक ही कहा था कि "उस समय जब कि आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के जन्मदाता यूरोप में असभ्य जातियाँ बसी हुई थीं, भारत अपने शासकों की सम्पत्ति और अपने शिल्पियों के शिल्प-कौशल के लिए विख्यात था।" वास्तव में यह फारस की खाड़ी और मध्य-पूर्व के व्यापारिक मार्गों से चलनेवाला भारतीय व्यापार ही था, जिसने यूरोपीय व्यापारियों को आकर्षित किया था।

भारत की आर्थिक दशा के बिगड़ने का वास्तविक कारण यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और भारत में विदेशी पूँजीवाद का प्रवेश है। कच्चा माल पाने और तैयार माल को खपाने के लिए मंडियों पर अधिकार करना इँगलैण्ड की आर्थिक नीति के

दो प्रमुख उद्देश्य बन गये थे। भारत तो इँगलैण्ड के अधीन हो ही चुका था; इसलिए वह इँगलैण्ड की इन आवश्यकताओं को पूरा करने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के उद्योग-धन्धे समाप्त हो गये, क्योंकि वे मशीन से बने इँगलैण्ड के माल के साथ बराबरी कर न सकते थे। इस प्रकार उद्योग-धन्धों में लगे लोग बेकार हो गये और उनका बोझा भी खेती पर आ पड़ा। ऐसी स्थिति हो गई कि एक एकड़ भूमि की जितनी उपज होती थी, उस पर निर्भर रहनेवाले व्यक्तियों की संख्या उससे कहीं अधिक हो गई, जिससे लोगों को या तो आधा पेट ही भोजन मिल पाता या भूखे ही रह जाना पड़ता। १८८० ई० की दुर्भिक्ष-जाँच-समिति को ज्ञात हुआ कि कृषि पर निर्भर रहनेवाले व्यक्तियों की संख्या उससे कहीं अधिक है, जितनी कि खूब अच्छी तरह से खेती करने के लिए आवश्यक है; १८९१ ई० की जनगणना से प्रकट हुआ कि भारत में किसानों की संख्या ६१% है। तब से यह संख्या निरन्तर बढ़ती गई है। परिणाम यह होता है कि बहुसंख्यक लोगों को दुर्भिक्ष की सी स्थिति में दिन बिताने पड़ते हैं। दुर्भिक्ष-निवारण के लिए बढ़ाई हुई धन-राशि से लाभ को वह राशि कहीं अधिक होती है जो इँगलैण्ड को भारत में खपनेवाले अपने माल से होती है; इससे कर देनेवाली जनता का भार और बढ़ जाता है।

हमारे विरासत के नियमों के कारण होनेवाला भूमि का बँटवारा, हमारे खेती के औजार और ढंग, बीजों का अच्छा न होना, सिचाई तथा मंडियों की सुविधा का अभाव—ये सब बातें भारतीय कृषि की पिछड़ी दशा के लिए बहुत कुछ उत्तर-दायी हैं। १८६१-९९ ई० के बीच के काल में कृषि की दशा सुधारने के लिए जो प्रयत्न हुए वे न होने के बराबर ही थे। इसके विपरीत इस काल में जो व्यापार-नीति अपनाई गई, उसने खेती पर और भी बोझ लाद दिया और इस प्रकार भारतीय कृषि की अवनति में ही योग दिया।

सरकारी पदों पर भारतीयों की नियुक्ति—राज्य के उच्चतम सरकारी पदों को पाने की पढ़े-लिखे भारतीयों की इच्छा पूर्णतः न्यायोचित थी। सरकारी पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की माँग इसी इच्छा का फल थी और इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि भारतीय राजस्व से वेतन पानेवाले कर्मचारी भारतीय ही होने चाहिएँ। रानी विक्टोरिया की घोषणा में दिये गये सरकारी-पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में समानता के व्यवहार के आश्वासन ने नई आशाएँ जगा दी थीं, परन्तु वे अधूरी ही रहीं। उच्च पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकार की नीति कार्नवालिस के उन सिद्धान्तों का अनुसरण कर रही थी, जिनका मूलमंत्र था भारतीयों पर अविश्वास; १८५७ के विप्लव से यह अविश्वास और भी गहरा हो गया था।

इसका फल यह हुआ कि भारतीयों के उच्च पदों पर पहुँचने के मार्ग में और भी बाधाएँ खड़ी कर दी गईं।

१७९३ ई० के कानून में मंत्रियों (Councillor) के पद के नीचे के समस्त सिविल पद प्रेसिडेंसी के सिविल कर्मचारियों के लिए सुरक्षित कर दिये गये थे और पद-वृद्धि को कठोरतापूर्वक ज्येष्ठता (Seniority) के अनुसार नियन्त्रित किया गया था। परन्तु सामयिक स्थितियों के कारण इन नियमों का पालन न किया जा सका और १७९३ ई० के कानून के विपरीत नियुक्तियाँ और तरक्कियाँ की गईं।

१८६१ ई० के कानून में इन नियुक्तियों को विधि-सम्मत बनाया गया और मंत्री से लेकर सहायक कलक्टर तक के उच्च पदों को प्रतिश्रुत राज्यसेवा (Covenanted Civil Service) के सदस्यों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। असाधारण स्थितियों में गवर्नर-जनरल राज्य-सचिव की अनुमति से इन पदों पर किसी ऐसे व्यक्ति को भी नियुक्त कर सकता था जो प्रतिश्रुत राज्य-सेवा का सदस्य न हो, परन्तु ऐसी नियुक्ति के लिए विशेष कारण आवश्यक थे।

'प्रतिश्रुत राज्य-सेवा' के सदस्यों की भर्ती के लिए इँगलैण्ड में प्रतिवर्ष एक प्रतियोगीय परीक्षा होती थी, जो सब के लिए खुली थी; इस परीक्षा के नियम राज्य-सचिव ने अपनी मंत्रि-परिषद् की सहायता से बनाये थे। इन नियमों में भारतीयों को इस परीक्षा से वहिष्कृत तो न किया गया था; परन्तु लंदन की भारत से दूरी, भारत की शिक्षा-व्यवस्था, सामाजिक स्थितियाँ और इस परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए अधिकतम आयु सन् १८६० ई० में २२ वर्ष और १८६१ ई० में २१ वर्ष निर्धारित होने के कारण भारतीय इससे वंचित ही रहते थे। इस प्रकार भारतीयों को इस परीक्षा से वंचित कर भारतीयों को दिये गये वचन भंग किये गये थे और ये नियम १८६० ई० में नियुक्त की गई भारतीय परिषद् (India Council) के पाँच सदस्यों की जाँच-समिति की सिफारिशों के भी विपरीत थे; इस समिति ने इँगलैण्ड के साथ ही भारत में भी इस परीक्षा का केन्द्र खोलने का सुझाव दिया था। भारतीयों के लिए केवल उन्हीं सरकारी नौकरियों का द्वार खुला था जो १८६१ ई० के कानून की सूची (Schedule) में गिनाई गई नौकरियों के अतिरिक्त बच रहती थीं और ये नौकरियाँ बहुत ही निम्न स्तर की थीं। शिक्षित भारतीय, इन रोकों से क्षुब्ध थे; अविश्वास की नीति अविश्वास उत्पन्न कर रही थी। इसका परिणाम हुआ गहरा असंतोष।

लॉर्ड लॉरेंस ने भारतीयों को प्रतिश्रुत राज्य-सेवा (Covenanted Service) में प्रवेश करने के लिए इँगलैण्ड जाने की सुविधा देने के विचार से तीन वर्ष के लिए दो-दो सौ पौंड की नौ वृत्तियाँ (Scholar ships) स्थापित कर

इस असंतोष को दूर करने की चेष्टा की। परन्तु तत्कालीन राज्य-सचिव, आर्गिल के डयूक ने इस प्रस्ताव को अमान्य कर दिया।

१८६८ ई० में लार्ड ग्लैडस्टन के प्रधान मंत्री बनने पर सरकार ने निपुण और योग्य भारतीयों को मुल्की नौकरियों (Civil Service) में स्थान देने के लिए अधिक सुविधाएँ देने की आवश्यकता का अनुभव किया। इसके फलस्वरूप १८७० ई० के कानून में गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह मुल्की नौकरियों पर भारतीयों की नियुक्ति उन नियमों के अनुसार कर सकता है जो भारत-सरकार द्वारा बनाये जायँगे; ऐसी नियुक्तियों के लिए इँगलैण्ड जाकर प्रतियोगीय परीक्षा उत्तीर्ण होना आवश्यक न था।

१८७० ई० के कानून में दी गई यह थोड़ी-सी सुविधा भी भारत-सरकार को अच्छी न लगी। उसने इस सुविधा को समाप्त करने की ठान ली; परिणाम यह हुआ कि राज्य-सचिव के बार-बार लिखने पर भी भारत-सरकार १८७३ ई० तक इन नियुक्तियों के लिए नियम बनाने का कार्य टालती रही। अंत में जब उसने ये नियम बनाये भी तो ऐसे कि जो १८७० ई० के कानून के उद्देश्य के सर्वथा विपरीत पड़ते थे। १८७५ ई० में लार्ड नार्थब्रुक की सरकार ने नये नियम बनाये, परन्तु इनके अनुसार केवल एक या दो ही नियुक्तियाँ न्याय-विभाग में की गईं; अन्यथा ये नियम निष्क्रिय ही रहे।

१८७८ ई० में लॉर्ड लिटन की सरकार ने राज्य-सचिव के सामने यह प्रस्ताव रखा कि प्रतिश्रुत राज्य-सेवा में भारतीयों का प्रवेश बिल्कुल बन्द कर, अलग से एक 'देशी राज-सेवा' की स्थापना की जाय, जिससे १८७० ई० के कानून की व्यवस्थाएँ संतोषजनक रूप से पूरी हो सकें। लिटन का यह प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ और भारत-सरकार से कहा गया कि वह १८७० ई० के कानून के मंतव्य के अनुकूल नये नियम बनावे।

१८७९ ई० में नये नियम भी बन गये। इनके अनुसार गवर्नर-जनरल को प्रतिवर्ष प्रान्तीय सरकारों की सिफारिश से कुछ अच्छे प्रतिष्ठित परिवार के भारतीयों को नियुक्त करना था। ऐसी नियुक्तियों की संख्या उन नियुक्तियों के $\frac{1}{6}$ से अधिक न होती थी, जो उस वर्ष राज्य-सचिव ने की हों। खुली प्रतियोगीय परीक्षा में सम्मिलित होने की अधिकतम आयु को १९ वर्ष निर्धारित कर, इसका मार्ग और भी संकुचित कर दिया गया।

१८७९ ई० के नियमों के प्रयोग और प्रतियोगीय परीक्षा के लिए आयु कम किये जाने से जन-मत उठ खड़ा हुआ। कुछ अल्प-शिक्षित भारतीयों की नियुक्ति प्रतिष्ठित परिवार के होने के आधार पर की गई; भारतीय चाहते थे कि नियुक्तियों

के सम्बन्ध में परिवार को न देखकर योग्यता को ही देखा जाय। भारतीय राष्ट्रीयता के सर्व-प्रथम नेताओं में अग्रगण्य सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने देश का दौरा करते हुए भारत में भी प्रतियोगी परीक्षा का केन्द्र खोले जाने की माँग की। सारे देश में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। लार्ड डफरिन समय की बदलती चाल को भाँप गया और उसने नौकरियों के प्रश्न पर विचार करने के लिए सर चार्ल्स एचिन्सन की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त कर दी।

इस जाँच-समिति ने १८८७ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें कहा गया था कि भारत में प्रतियोगीय परीक्षा का केन्द्र खोलने की आवश्यकता नहीं है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए इस समिति ने विचित्र तर्क उपस्थित किये थे। परन्तु इस मत का वास्तविक कारण क्या था, यह सर जॉन स्ट्रैची के इन शब्दों में स्पष्ट हो जाता है कि "हमें अपने इस उद्देश्य को छिपाना न चाहिए कि हम अपनी सेना, राजनीतिक अधिकारों तथा उन पदों को अपने ही लोगों के हाथों में रखना चाहते हैं, जिनके वल पर हमारा इस देश पर अधिकार टिका हुआ है।" लॉर्ड लिटन ने भी १८७८ ई० के विवरण-पत्र (Despatch) पर लिखी हुई अपनी टिप्पणी में ऐसा ही विचार प्रकट किया। उसने लिखा कि "इँगलैण्ड और भारत—दोनों की ही सरकारें इस आक्षेप का संतोषजनक उत्तर देने में असमर्थ जान पड़ती हैं कि उन्होंने कानों में दिये हुए वचनों को हृदय में तोड़ने के लिए प्रत्येक संभव उपाय अपनाया है। हमें भारतीयों को सरकारी पदों से अलग रखना या उन्हें ठगना—इन दो में से एक मार्ग को चुनना था और हमने सबसे कम सीधा मार्ग ही चुना है।"

एचिसन-जाँच-समिति ने राज्य-सेवाओं को तीन श्रेणियों में विभाजित करने की सिफारिश की—शाही (Imperial), प्रान्तीय और अधीन (Subordinate)। सब महत्त्वपूर्ण पदों को इसमें 'शाही' श्रेणी में रखा; इन पर नियुक्ति राज्य-सचिव द्वारा की जानी थी। इनमें से अधिकांश पदों से भारतीय लोग या तो नियमों की कठोरता के कारण या जातीय प्रतिवन्धों के कारण वहिष्कृत ही थे; उदाहरण के लिए, पुलिस-विभाग की परीक्षा में केवल वे ही ब्रिटिश प्रजाजन भाग ले सकते थे जो यूरोपीय वंश के हों और सार्वजनिक निर्माण-विभाग (P. W. D.) तथा जंगल-विभाग के उच्च-पदों पर केवल 'कूपर्स हिल कॉलेज' या 'रॉयल इंजीनियर्स कॉलेज' के स्नातक (ग्रेजुएट) ही नियुक्त हो सकते थे। आई० सी० एस० के लिए अधिकतम आयु २३ वर्ष कर दी गई और १८७९ के नियमों के अनुसार वनाई गई 'अनुविहित राज्य-सेवा' (Statuary civil service) को समाप्त कर दिया गया। ६१ पदों की एक सूची बनाई गई, जिनको प्रान्तीय राज्य-सेवा के कर्मचारी पदवृद्धि द्वारा प्राप्त कर सकते थे; परन्तु इनका वेतन यूरोपीयों की

तुलना में कम रखा गया। 'प्रान्तीय' तथा 'अधीन' राज्य-सेवाओं पर प्रान्तीय सरकारों को नियुक्तियाँ करनी थीं।

इस जाँच-समिति की सिफारिशें शिक्षित भारतीयों को प्रसन्न न कर सकीं। १८८५ ई० में स्थापित कांग्रेस प्रतिवर्ष राज्य-सेवाओं के भारतीकरण और इँगलैण्ड के साथ-साथ भारत में भी प्रतियोगीय परीक्षा का केन्द्र खोलने का प्रस्ताव स्वीकार करने लगी। १८९३ ई० में ग्लैडस्टन के चतुर्थ मंत्रिमंडल के समय में इँगलैण्ड की लोक-सभा ने भारत में भी परीक्षा-केन्द्र खोलने के पक्ष में एक प्रस्ताव स्वीकार किया। यह प्रस्ताव मि० हर्बर्ट ने प्रस्तुत किया था और इसका अनुमोदन दादा भाई नौरोजी ने किया था, जो ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रथम भारतीय सदस्य थे। परन्तु इस प्रस्ताव को कार्य रूप में न लाया गया और कांग्रेस का आन्दोलन चलता रहा। इस दिशा में अगला कदम लॉर्ड हार्डिंज के समय में उठाया गया, जिसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

प्रेस की स्थिति—१८६१-९९ ई०—मुनरो ने लिखा है कि स्वतन्त्र प्रेस और अपरिचितों का उपनिवेश—ये ऐसी असंगत वस्तुएँ हैं जो अधिक समय तक टिक नहीं सकतीं। भारत में प्रेस का इतिहास मुनरो के इस कथन का पूर्णतया समर्थन करता है। प्रारम्भिक स्थिति में भारतीय प्रेस ने सरकार का ध्यान आकर्षित न किया, क्योंकि तब यह अँगरेजों के हाथ में था और केवल स्थानीय समाचार ही प्रकाशित करता था; तब समाचार-वहन के आज जैसे साधनों का अभाव था। सरकार के लिए हानिकर न होने के कारण १८७० ई० तक प्रेस स्वतन्त्रता का उपभोग करता रहा। परन्तु भारतीयों के हाथ में आने पर प्रेस ने नया रूप धारण किया; अब यह राजनीतिक शिक्षा और राष्ट्रीयता को जागृत करने के अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने लगा। कुछ समय से देशी भाषाओं में और विशेषतया बँगला में समाचार-पत्र छपने लगे थे; इनका जन-साधारण में खूब प्रचार हो रहा था। इन पत्रों के व्यापक प्रचार और इनमें सरकार की घोर आलोचनाओं से सरकार सतर्क हो उठी और १८७० ई० में 'दण्ड-विधान' (Penal code) के संशोधन के अवसर से लाभ उठा कर सरकार ने इसमें धारा १२४ ए० को एक कानून के रूप में जोड़ दिया; इसमें राज-द्रोह की विस्तृत व्याख्या की गई थी और इसके लिए दंड निर्धारित किये गये थे। इसी वर्ष 'दण्ड-विधान' में धारा १२१ ए० भी बढ़ा दी गई। जिसमें 'ताज' के विरुद्ध युद्ध की मंत्रणा को दंडनीय ठहराया गया भले ही इस मंत्रणा को सक्रिय रूप न दिया गया हो।

परन्तु इन धाराओं से समाचार-पत्रों के द्रुत-विकास पर कोई प्रभाव न पड़ा। १८७० ई० में ब्रिटिश भारत में लगभग ६४४ समाचार-पत्र प्रकाशित होते थे;

इनमें से ४०० से भी अधिक पत्र देशी भाषाओं में थे। मजूमदार महाशय ने बताया है कि "स्टेशनरी की या कुँजड़े की दुकान पर किसी वाचक के मुख से इन समाचार-पत्रों को सुनने के लिए अशिक्षित लोगों की भीड़ का जुट जाना एक साधारण सा दृश्य हो गया था।"

इस स्थिति से भारत-सरकार एवं स्थानीय सरकारें चौंक उठीं। लॉर्ड नार्थब्रुक ने १८७२ ई० में 'सोम प्रकाश' नामक एक बँगला समाचार-पत्र को कड़ी चेतावनी दी और १८७३ ई० में बंगाल के लैफ्टिनेंट गवर्नर सर जार्ज कैम्पबेल ने कठोर कानून बनाने पर जोर दिया। १८७५ ई० में तत्कालीन राज्य-सचिव, लॉर्ड सैलिसबरी ने भारत-सरकार का ध्यान देशी समाचार-पत्रों में प्रकाशित कुछ लेखों की ओर आर्कषित करते हुए लिखा था कि ऐसे लेखों का जनता में प्रचार सरकार के हितों के लिए घातक है।

लॉर्ड लिटन ने देशी प्रेस के दमन के लिए कदम उठाने में देर न की। उसने अनुभव किया कि क़ानून द्वारा दिये गये अधिकार 'राज-द्रोह' को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। वह इन कानूनों को इसलिए भी अपर्याप्त समझ रहा था, क्योंकि इनसे राज-द्रोह रुकता नहीं था, अपितु जब द्रोह के प्रयत्न अपना कार्य कर चुकते थे, तब ये कानून द्रोहियों को दंड देने की व्यवस्था करते थे। इसलिए १८७८ ई० में, व्यवस्थापिका की एक ही बैठक में 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' पास हो गया। जैसे ही यह ऐक्ट प्रकाशित हुआ, यह 'बलात्कारी-संविधि' (Gagging Act) के नाम से कुख्यात हो गया। इस नये कानून से घोर असंतोष उठ खड़ा हुआ; असंतोष का विशेष कारण यह था कि यह कानून केवल देशी भाषाओं के समाचार-पत्रों पर लागू होता था और इसकी अपील न हो सकती थी। इस कानून से बचने के लिए 'अमृत बाजार पत्रिका' अब अँगरेजी में प्रकाशित होने लगी।

१८७८ ई० के 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' के अनुसार स्थानीय सरकार की अनुमति से मजिस्ट्रेट को अधिकार मिला कि वह मुद्रकों और प्रकाशकों से जमानतें जमा कराये या राज-द्रोहपूर्ण लेखों अथवा समाचारों को प्रकाशित न करने या इसके विकल्प के रूप में अपनी प्रकाशन-सामग्री को सरकारी-अधिकारी के पास जाँच के लिए भेजने तथा उसके द्वारा अस्वीकृत सामग्री को प्रकाशित न करने के लिए वचनबद्ध बनावे। विरुद्ध आचरण करने अथवा आवश्यकता पड़ने पर प्रेस की जमानत जब्त की जा सकती थी।

लिटन ने इस व्यवस्था को भारत की सुरक्षा के लिए अनिवार्य बताकर इसका समर्थन किया।

यह कानून अधिक समय तक चल न सका। उदार-दल के पदारूढ़ होने और

रिपन के वायसराय बनने पर १८८२ ई० में यह कानून रद्द कर दिया गया। दंड-विधान की धाराओं, 'कस्टम्स ऐक्ट' तथा 'पोस्ट ऑफिस ऐक्ट', जिसके अनुसार आपत्तिजनक विदेशी प्रकाशनों का भारत में आना रोका जा सकता था, प्रेस के नियन्त्रण के लिए पर्याप्त समझे गये।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, प्रेस भी सरकार के कार्यों की आलोचना करने में उग्र होता गया। जब देश में कांग्रेस की वैधानिक प्रगति की नीति का विरोध होने लगा और देश को स्वतन्त्र करने के लिए क्रान्ति का प्रचार होने लगा, तब समाचार-पत्रों ने भी इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। १८९७ ई० में रैंड और आयर्स्ट की हत्या को समाचार-पत्रों के उग्र लेखों का परिणाम बताया गया। १८९२ ई० में 'वंग-वासी' नामक बँगला समाचार-पत्र को दंडित करने में असफल होने पर सरकार का ध्यान प्रेस-सम्बन्धी कानून की कमियों की ओर आकर्षित हुआ और उसने धारा १२४ ए० में संशोधन कर इसको अधिक कठोर बना दिया और इसके अनुसार जातीय घृणा उत्पन्न करने के प्रयत्नों को दंडनीय बनाकर तथा राज-द्रोह के मामलों को 'सेशन' के सिपुर्द न कर, इनके फैसले का अधिकार 'उच्च मजिस्ट्रेटों' को देकर इन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया। कानून द्वारा लगाई हुई रोकों के अतिरिक्त प्रेस १९०८ ई० तक स्वतन्त्र रहा; १९०८ ई० में 'न्यूजपेपर्स इनसाइटमेंट टू आफन्सेज ऐक्ट' पास हुआ, जिसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

इल्बर्ट बिल, १८८३ ई०—१८६१-९९ ई० के बीच के काल की एक बहुत ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि इस बीच जातीय घृणा के भाव ने बहुत जोर पकड़ लिया। ब्रिटिश पदाधिकारियों के कठोर व्यवहार, राजनीतिक चेतना के विकास, प्रेस-कानून के सम्बन्ध में लॉर्ड लिटन द्वारा प्रदर्शित भेदभाव की भावना, भारतीयों को आई० सी० एस० में भाग लेने में असमर्थ बनाने के लिए अधिकतम आयुमान को निरंतर कम करते जाना, लंदन के साथ-साथ भारत में भी आई० सी० एस० परीक्षा का केन्द्र बनाने की अस्वीकृति—इन सब बातों से जातीय घृणा का भाव दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था। इल्बर्ट बिल के विरुद्ध यूरोपीयों ने और विशेषतया मील एवं चाय के व्यवसायी यूरोपीयों ने जो उग्र आन्दोलन चलाया, उससे भारतीयों में यूरोपीयों के प्रति घृणा और भी प्रबल हो उठी।

कम्पनी के शासन-काल से ब्रिटिश राज्य के यूरोपीय प्रजा-जनों को यह विशेषाधिकार मिला हुआ था कि प्रेसीडेंसी-नगर के बाहर जिलों में उनके मुकदमों की सुनाई कोई यूरोपीय सेशन या न्यायाधीश ही कर सकता था। यह विशेषाधिकार भेदभावपूर्ण तो था ही, इससे न्याय-कार्य में भी बड़ी बाधा पड़ती थी, क्योंकि भार-

तीय मजिस्ट्रेटों को ऐसे मुकदमों का फैसला करने का अधिकार न था जिनमें किसी यूरोपीय व्यक्ति का सम्बन्ध हो।

१८८३ ई० में लॉर्ड रिपन के शासन-काल में तत्कालीन कानूनी सदस्य श्री (बाद में सर) कोर्टनी इल्बर्ट ने इस विशेषाधिकार को पूर्णतया समाप्त करने और भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपीयों के मुकदमों का विचार करने का अधिकार देने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया। गैर-सरकारी यूरोपीयों ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध प्रवल आन्दोलन खड़ा कर दिया और वे लॉर्ड रिपन पर कटु आक्षेप करने लगे। उधर भारतीयों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में और जातीय विशेषाधिकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। यह वाद-विवाद इतना तीव्र हो उठा कि जातीय शत्रुता का भाव चरम सीमा पर पहुँच गया और कलकत्ते की सड़कों पर इसके दृश्य प्रकट होने लगे।

एंग्लो-इंडियनों ने इस विधेयक की बड़े उग्र शब्दों में घोर निन्दा की और 'आवनूस के से रंग के बावुओं' के समक्ष न्याय-प्रार्थना के लिए उपस्थित होने की कल्पना को भी भयंकर बताया। स्वर्गीय लाल मोहन घोष जैसे भारतीय नेताओं ने भी इस विधेयक के गोरे विरोधियों की घोर निन्दा की। कलकत्ते के टाऊन हाल में श्री घोष ने इन विरोधियों को खूब खरी-खोटी सुनाई और उनके आक्षेपों का उत्तर देने में अपनी समस्त वक्तृत्व-शक्ति लगा दी।

बंगाल की तत्कालीन सिविल सर्विस के एक सदस्य सर हैनरी कॉटन ने विचार प्रकट किया था कि इल्बर्ट विल के इस वाद-विवाद ने ब्रिटिश-शासन के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीयता को दृढ़ होने का अच्छा सुयोग प्रदान कर दिया था।

लॉर्ड रिपन ने सोचा भी न था कि इस विधेयक से ऐसा तूफान उठ खड़ा होगा। अन्त में, उसने यूरोपीयों की भावनाओं का ध्यान रखते हुए भारतीय सेशन-जजों और मजिस्ट्रेटों को यूरोपीयों के मुकदमों का विचार करने का अधिकार इस नियन्त्रण के साथ सौंपा कि विचाराधीन यूरोपीय एक ऐसे ज्यूरी की माँग कर सकता है जिसके कम से कम आधे सदस्य यूरोपीय हों और कठोर दंड का फैसला दिया जाने पर मुकदमे का उच्च न्यायालय को सौंप देना आवश्यक कर दिया गया।

राष्ट्रीयता का विकास—राष्ट्रीयता एक भावना है, एक तात्त्विक शक्ति है, जो मनुष्य की स्वतन्त्र होने की इच्छा से प्रेरणा ग्रहण करती है और राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक कार्यों में स्वयं को प्रकट करती है। एक भावना होने के कारण, इसकी जड़ें देश में ही जमती हैं, यद्यपि इसके विकास में विदेशी प्रभाव भी खाद का काम दे सकता है। स्वतन्त्र होने की इच्छा मनुष्य में जन्म-जात होती है और जब जनता अनुभव करने लगती है कि उसके दुखों का कारण वह राजनीतिक

प्रणाली है जिसकी अधीनता में उसे रहना पड़ रहा है, तो उसकी स्वतन्त्र होने की इच्छा वैधानिक अथवा क्रान्तिकारी राजनीतिक आन्दोलनों के रूप में फूट पड़ती है। फ्रांसीसियों की इस चेतना ने कि उनके दुःखों का कारण बोर्बां वंशियों का शासन है फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति को जन्म दिया; अँगरेजों की इस धारणा ने कि उनके दुःख शासक के विशेषाधिकारों के परिणाम हैं, इँगलैण्ड में गृह-युद्ध कराया; और भारतीयों के इस अनुभव ने कि उनके दुःखों की जड़ ब्रिटिश-शासन है, १८८५ ई० में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' (Indian National Congress) को जन्म दिया, जिसका उद्देश्य भारत को स्वतन्त्र करना हुआ।

सारी राजनीतिक हलचलें या तो किन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिए की जाती हैं या किन्हीं राजनीतिक सुविधाओं को पाने के लिए अपनाई जाती हैं। जनता का अधिकांश जब देश में व्याप्त राजनीतिक बुराइयों का अनुभव करने लगता है, तब क्रान्तिकारी विचार या वैधानिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं। उन्नीसवीं शती में यूरोप में राष्ट्रीयता का बोलबाला था और राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याएँ सामने आ गई थीं। भारत में भी, अँगरेजी इतिहास और साहित्य से प्रोत्साहित शिक्षित भारतीय तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन की इच्छा करने लगे थे।

भारत जिन बुराइयों का शिकार बना हुआ था, वे विदेशी साम्राज्यवाद के अपरिहार्य परिणामरूप थीं, क्योंकि विदेशी शासन से अधीन जनता के कल्याण के लिए प्रयत्नशील होने की आशा करना व्यर्थ होता है। इँगलैण्ड के हित-साधन के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति, आयात-निर्यात करों की व्यवस्था तथा उच्च पदों पर भारतीयों को नियुक्त न करने की चेष्टाएँ और भारतीय उद्योग-धन्धों के समाप्त हो जाने से उत्पन्न हुई दरिद्रता—इन सब ने मिलकर भारत में आर्थिक असंतोष की गम्भीर भावना उत्पन्न कर दी थी। इसके साथ ही शासक-वर्ग के लोग भारतीयों के प्रति घृणा का जैसा भाव प्रकट करते थे, उससे प्रति दिन कटुता की भावना तीव्रतर होती जा रही थी। यूरोपीयों ने इल्बर्ट बिल का जैसा घोर विरोध किया, उसे देखकर भारतीयों को विश्वास हो गया कि समानता के व्यवहार की आशा करना व्यर्थ है। लॉर्ड लिटन के शासन की गलतियों ने, वर्नाक्यूलर-प्रेस के दमन की चेष्टाओं ने, समय-समय पर पड़नेवाले दुर्भिक्षों ने तथा भूमि पर अधिकाधिक बढ़ते हुए भार ने सरकार के विरुद्ध कटु भावनाओं को गम्भीर रूप दे दिया था।

समाचार-पत्रों ने उन बुराइयों की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित कर दिया था, जिनसे जनता पीड़ित हो रही थी; शिक्षित भारतीय संघटित होकर आन्दोलन करने पर जोर दे रहे थे और बुराइयों के कारणों का विश्लेषण कर रहे थे तथा सारी बुराइयों के लिए सरकार को दोषी बता रहे थे। अँगरेजी भाषा भारत के

विभिन्न प्रान्तों के शिक्षित व्यक्तियों में विचारों के आदान-प्रदान का एक अच्छा माध्यम बन गई थी। रेलों ने शीघ्र यातायात की सुविधा जुटा कर लोगों को देश के भिन्न-भिन्न भागों की यात्रा कर अपने विचारों का देश भर में प्रचार करने का अवसर दे दिया था। रेलवे तथा अँगरेजी भाषा के सहारे ही सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उत्तर एवं पश्चिमी भारत में भ्रमण कर आई० सी० एस० परीक्षा के लिए अधिकतम आयु कम किये जाने के विरुद्ध छेड़े हुए अपने आन्दोलन को देश-व्यापी बनाने में समर्थ हुए थे।

फिर भारतीय अपने आपको असहाय और असमर्थ क्यों समझ बैठें, जब कि उनका भूतकाल का इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि वे भी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने के अधिकारी हैं? मैक्समुलर, मॉनियर विलियम्स, सर विलियम जोन्स इत्यादि यूरोपीय विद्वानों की गवेषणाओं तथा राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द जैसे भारतीय धर्म-सुधारकों ने प्रचार-कार्य में भारतीयों में नई आशा और विश्वास का संचार कर दिया था। 'वेदों की ओर लौटने' की पुकार होने लगी। स्वामी विवेकानन्द ने दयानन्द सरस्वती के कार्य को आगे बढ़ाया; उन्होंने भारत के आध्यात्मिक गौरव को पुनर्जीवित किया और जनता को आशा का एक नया संदेश दिया। हर कोडन लिखता है कि स्वामी दयानन्द के समान विवेकानन्द ने भी तरुण भारत को आत्म-विश्वास एवं अपनी शक्ति पर निर्भर रहने का पाठ पढ़ाया।

संक्षेप में, आर्थिक दुर्दशा, सरकार की राष्ट्र विरोधी नीति एवं जातीय द्वेष आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के प्रमुख कारण बने। प्रेस, अँगरेजी भाषा तथा रेलों ने इसके विकास में सहायता दी। अपनी प्राचीन संस्कृति एवं गौरव में विश्वास की भावना के जागरण ने राष्ट्रीयता के आन्दोलन में उत्साह का संचार किया और भविष्य में इस आन्दोलन का स्वरूप निर्धारित किया। पाश्चात्य-राजनीतिक सिद्धान्तों ने, विशेषतया लॉक और स्पेन्सर के तथा मिल, मैकॉले एवं बर्क के ग्रन्थों ने इस आन्दोलन के आदर्शों और कार्य-प्रणाली को बहुत प्रभावित किया।

तीनों प्रेसिडेन्सियों में कुछ समय पहले से कुछ सामाजिक, राजनीतिक संस्थाएँ बन चुकी थीं, परन्तु इनमें न तो कोई एकरूपता थी और न इनके कार्यों में निरन्तरता ही थी। इल्बर्ट बिल को मूल रूप में स्वीकृत कराने में असफल होने पर भारतीय विचारक एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था के संघटन की बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे, जो पूर्णतः राजनीति से सम्बन्ध रखे। १८७६ ई० में स्थापित कलकत्ते के राष्ट्रीय संघ (National Association) ने १८८३ ई० में एक 'राष्ट्रीय

अधिवेशन' किया, जिसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने श्रोताओं को देश के कल्याण के लिए संघटित होने के लिए ललकारा। १८८४ ई० में श्री बनर्जी ने राष्ट्रीय एकता एवं नियमित रूप से राजनीतिक प्रचार-कार्य चलाने के लिए एक 'राष्ट्रीय कोष की स्थापना' का प्रचार करने के उद्देश्य से देश का दौरा किया। देश-हित के लिए जनता को संघटित होने का आह्वान देने में मद्रास की महाजन सभा (१८८४ ई०) तथा 'बम्बई प्रेसिडेंसी एसोसियेशन' ने कलकत्ता की राष्ट्रीय संस्था से नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया।

जब ये प्रान्तीय संस्थाएँ जनता को संघटित और सजग करने में लगी थीं, सारा देश एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता का अनुभव कर रहा था; समाचार-पत्र इस आवश्यकता को जतला रहे थे। मार्च, १८८३ ई० में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्मदाता' ऐलेन ऑक्टेवियन ह्यू म ने एक खुले पत्र में कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों (Graduates) का राष्ट्रीय हित में जुट जाने के लिए आह्वान किया और उनको यह सत्य समझाने की चेष्टा की कि आत्म-त्याग और निःस्वार्थता ही स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त करने के अचूक साधन हैं। ह्यूम के इस पत्र का तत्काल प्रभाव हुआ और दिसम्बर १८८४ ई० में अडयार में थियोसोफिकल सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन के लिए एकत्र हुए सत्रह 'भले और सच्चे' व्यक्तियों ने अपने आपको एक कामचलाऊ समिति के रूप में संघटित कर अपने-अपने नगर में अन्य लोगों को अपने संघटन में लाने तथा भविष्य में विचार-विमर्श के लिए एकत्र होने का निश्चय किया। इसी समय 'इंडियन नैशनल यूनियन' का संघटन हुआ; इस संस्था ने भारत के सभी भागों के प्रतिनिधियों की एक बैठक बुलाने का निश्चय किया। ह्यूम को इस आन्दोलन का कार्य-भार सौंपा गया। ह्यूम ने इस सम्बन्ध में लॉर्ड डफरिन से परामर्श लिया और कहा जाता है कि लॉर्ड डफरिन के कहने पर ही श्री ह्यूम ने इस संघटन को राजनीतिक रूप दिया। बताया जाता है कि लॉर्ड डफरिन ने ह्यूम साहब से कहा था कि "इस देश में ऐसी कोई संस्था नहीं है जो इँगलैण्ड में विरोधी दल का सा कार्य निभाये ...शासकों तथा शासितों के हित के लिए यह बहुत आवश्यक है कि भारतीय राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष सम्मिलित हों और सरकार को बतायें कि शासन-प्रबन्ध में क्या दोष हैं और वे कैसे सुधारे जा सकते हैं।" ह्यूम साहब ने डफरिन का परामर्श स्वीकार किया; दिसम्बर १८८५ ई० में बम्बई में अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ, जिसका नाम 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' (Indian National Congress) रखा गया।

जन्म के समय कांग्रेस इस अर्थ में एक प्रतिनिधि संस्था नहीं थी कि इसके सदस्य जनता के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि थे, परन्तु यह जन-मत की प्रतिनिधि-

संस्था अवश्य थी। इसमें उस समय के सभी प्रमुख भारतीय तथा ह्यूम, सर हैनरी कॉटन, जार्ज यूल, सर विलियम वैडरवर्न जैसे उदार हृदय ऐंग्लो-इंडियन सम्मिलित थे। यह भी सत्य है कि जन्म के समय यह संस्था डफरिन के शब्दों में जनता के 'अति सूक्ष्म अल्पसंख्यक वर्ग' (Microscopic Minority) का ही प्रतिनिधित्व करती थी। परन्तु कौन सी ऐसी राष्ट्रीय संस्था है जो जन्म के समय एक अल्पसंख्यक वर्ग मात्र न रही हो? कांग्रेस ने जिस द्रुत गति से प्रगति की और जनता के जितने बड़े भाग को अपनी ओर खींच लिया, वह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि प्रारम्भ से ही कांग्रेस का आधार उससे कहीं अधिक विस्तृत था, जितना कि पक्षपाती आलोचकों ने बताया है।

कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही शासन में प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना और सरकारी नौकरियों पर भारतीयों की नियुक्ति की माँग की। यह प्रारम्भ से ही नरम दलीय और वैधानिक सुधारवादी संस्था रही। इसने ब्रिटिश ताज के प्रति भक्ति प्रकट की और इसकी दृष्टि में भारत और इँगलैण्ड का सम्बन्ध ऐसा ही था जैसा सभापति और सभ्यों का। परन्तु कांग्रेस के प्रति सरकार का व्यवहार सहानुभूति से उपेक्षा और तब सक्रिय शत्रुता में बदल गया। १८८८ ई० में कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन के मार्ग में सरकार ने यथासंभव बाधाएँ खड़ी कीं और १८९० ई० में सरकारी कर्मचारियों को कांग्रेस की बैठकों में भाग लेने से रोक दिया। सरकार के इस शत्रु-भाव से कांग्रेस की लोक-प्रियता बढ़ती ही गई।

कांग्रेस के राजनीतिक आन्दोलन के फलस्वरूप १८९२ ई० का कानून पास हुआ, जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यह कानून जनता को संतुष्ट न कर सका और कांग्रेस ने इसकी तीव्र आलोचना की; इसकी निर्वाचन-पद्धति, कौंसिलों का अल्प-विस्तार तथा कौंसिल के सदस्यों का न्यायोचित आलोचना द्वारा शासन-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने का अधिकार—ये बातें विशेष रूप से कांग्रेस की आलोचना का विषय बनीं। इस कानून में प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने के अधिकार के साथ पूरक-प्रश्न करने और बजट पर मत देने के अधिकार नहीं दिये गये थे। सरकार में जनता को अधिक प्रतिनिधित्व देने की इस कानून की योजना को कार्यान्वित करने के लिए जो नियम बनाये गये वे इसके उद्देश्य को समाप्त करनेवाले ही थे।

कांग्रेस प्रतिवर्ष प्रस्तावों द्वारा और कभी-कभी इँगलैण्ड में अपना शिष्ट-मंडल भेज कर जनता का ध्यान उन कष्टों की ओर आकर्षित करती थी, जो उसे सहन करने पड़ रहे थे, जनता को संघटित आन्दोलन का महत्त्व समझाती थी, तथा देश-हित के लिए जनता को अपने व्यक्तिगत एवं वर्ग-गत स्वार्थों को त्यागने के लिए

प्रोत्साहित करती थी। इसके प्रस्ताव तथा इन पर दिये गये भाषण प्रेस में प्रकाशित होकर जनता में प्रचारित होते थे; इससे जन-मत का निर्माण होता था और अधिकाधिक लोग कांग्रेस में सम्मिलित होते थे। यह बहुत कुछ सच है कि धीरे-धीरे कांग्रेस की शान्तिमय और वैधानिक सुधारों की नीति युवक-समाज के उपहास का विषय बनती गई, परन्तु कोई भी व्यक्ति कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं की प्रशंसा किये बिना न रहेगा, जो उच्च बौद्धिक योग्यता, चरित्र और देश-प्रेम से पूर्ण थे, जो भारत के जागरण के अग्रदूत थे तथा जो एक प्रबल विदेशी नौकरशाही के विरुद्ध जनता के लिए भिड़े थे।

अठारहवाँ अध्याय

लॉर्ड कर्ज़न (१८९९-१९०५)

कैडलस्टन के बैरन जार्ज नैथानियल कर्जन का जन्म १८५९ ई० में हुआ था। १८८६ ई० में उसने पार्लियामेण्ट में प्रवेश किया। उसके परिश्रम और योग्यता ने तथा जिस सफलता के साथ उसने विभिन्न पदों का कार्य निभाया था, इन सब बातों ने उसको लौंर्ड ऐंल्गिन के बाद भारत के वायसराय के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। अगस्त १८९८ ई० में उसकी वायसराय के पद पर नियुक्ति की घोषणा हुई और ३ जनवरी १८९९ को उसने कलकत्ते में प्रवेश किया। तीस तोपों की सलामी के बीच जब उसने पहले-पहल वायसराय के प्रासाद की सीढ़ियों पर कदम रखा तब उसे चारों ओर नवीनता, आशाएँ और उच्चाभिलाषाएँ दिखाई दे रही थीं। कुछ ही वर्षों बाद उसे इन्हीं सीढ़ियों से निराश और संभवतः अधिक समझदार हो कर उतरना पड़ा था। अपने आकर्षक व्यक्तित्व, अपनी वाक्पटुता, अपने चेहरे पर खेलनेवाली यौवन की चमक (क्योंकि अभी वह केवल चालीस वर्ष का था), और भारत के साथ पहले से ही परिचित होने के कारण—क्योंकि वह पहले भी भारत आ चुका था—जहाँ भी वह गया, उसका हार्दिक स्वागत हुआ। उसकी नियुक्ति के समय उसके मित्रों ने उसके सम्मान में एक सहभोज किया था; इस अवसर पर उसने कहा था, "मैं भारत को, इसकी जनता को, इसके इतिहास को, इसकी सरकार को और इसकी सभ्यता एवं जीवन के तल्लीन कर देनेवाले रहस्यों से प्रेम करता हूँ।" यदि भारत उसके इस प्रेम के बदले उसे प्यार न दे सका तो इसमें दोष उसी का था, क्योंकि उसका यह प्रेम कुछ इस प्रकार का था कि वह घृणा और असंतोष ही उत्पन्न कर सकता था। वह स्वभाव से ही साम्राज्यवादी था और राजनीति में भी उसका सम्बन्ध साम्राज्यवादी दल के ही साथ था; इसलिए वह न तो अपना विरोध सह सकता था और न दूसरे पक्ष के विचारों को ही समझ पाता था। परिणाम यह हुआ कि उसे इँगलैण्ड में अपने अधिकारियों की नजरों से गिर-कर पद-त्याग तो करना ही पड़ा, साथ ही उस जनता के स्नेह और सम्मान से भी उसे हाथ धोना पड़ा, जिस पर शासन करने के लिए उसे भेजा गया था। भारत से उसने एक बहुत ही अप्रिय गवर्नर-जनरल के रूप में बिदा ली। भारतीयों के प्रति

अविश्वास उसकी अप्रियता का प्रधान कारण था; भारतीयों के प्रति अपने अविश्वास और उनके चरित्र के प्रति अपने मन के घृणा भाव को प्रकट करने में वह कभी मौका न चूकता था। जनवरी, १९०५ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर कुलपति के रूप में उसने जो भाषण दिया था उसमें उसने कहा था—

"मैं आशा करता हूँ कि यह कहने में कि सत्य का सर्वोच्च आदर्श बहुत कुछ एक पाश्चात्य कल्पना है, मैं कोई झूठा या घमंडी दावा नहीं कर रहा हूँ.....परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व में, जहाँ चालाकी और कूटनीतिक चालबाजियों का हमेशा ही बहुत सम्मान होता रहा है; उच्च सम्मान प्राप्त करने से पहले, सत्य पाश्चात्य देशों के नैतिक नियमों में बहुत ऊँचा स्थान पा चुका था। इस बात को हम "पूर्वीय कूटनीति" शब्द के पीछे छिपी अत्याचार और गहरी जालसाजी की सामान्य व्यंजना से सिद्ध कर सकते हैं।"

ऐसा तो शायद ही कोई गवर्नर-जनरल हुआ हो, जिसने सारे राष्ट्र को ही इस प्रकार लांछित करने की चेष्टा की हो। इस भाषण से कर्जन का सम्मान तो क्या बढ़ता, इसके विरुद्ध प्रदर्शनों की संख्या अवश्य बढ़ गई। मार्च, १९०५ ई० में श्रद्धेय डा० रासविहारी घोष के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें डा० घोष ने लॉर्ड कर्जन के इस भाषण के सम्बन्ध में कहा कि "इस भाषण की शैली निश्चय ही एशियावालों की सी नहीं थी। लेकिन क्या इसमें पाश्चात्य संस्कृति की सी शालीनता थी? सचमुच ही यह भी नहीं थी; यह सारा भाषण उस शैली में था, जिसे मैथ्यू आॅर्नल्डि ने 'कोरिन्थियन शैली' (Corinthian Style) कहा है—यह एक ऐसी शैली है, जिससे दूर रहने का लॉर्ड महोदय ने हमारे युवकों को बड़े जोर के साथ उपदेश दिया है।"*

भारत में पहुँचते ही लॉर्ड कर्जन प्लेग, अकाल, सीमान्त प्रदेश और शासन की उन समस्याओं में जुट गया, जिनका अभी तक समाधान न हो पाया था। अथक परिश्रम करना लॉर्ड कर्जन का सबसे बड़ा गुण था; राज्य-सचिव को लिखे गये उसके पत्रों से मालूम होता है कि उपाहार (Breakfast) और दोपहर के विश्राम के लिए एक घंटे को छोड़कर शेष समय में वह उन भारी-भरकम फाइलों में डूबा रहता था, जिनमें महत्त्व की बातें दबी रहती थीं। जनवरी १८९९ में उसने राज्य-सचिव को एक पत्र में लिखा था "यहाँ काम करने का ढंग मूल से ही इतना दोषपूर्ण है कि स्थिति ऐसी बन जाती है, जिसमें विचारणीय प्रश्न दस्तावेजों और

---

* डाक्टर रासबिहारी घोष के भाषण।

छपे कागज-पत्रों के जंजाल में ऐसा फँस जाता है कि उसमें वास्तविक समस्याएँ अँधेरे में पड़ जाती हैं और यहाँ से उन्हें कोई निकालकर प्रकाश में नहीं ला सकता।" इतना सब होने पर भी, भारत आने के तीन महीने के अंदर ही लॉर्ड कर्जन ने बारह सुधारों की रूप-रेखा तैयार कर ली; उसे आशा थी कि भारत छोड़ने से पहले वह इन सुधारों को कार्य में परिणत कर सकेगा। इन सुधारों के अन्तर्गत सीमान्त प्रदेश की समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, सेना, शासन-तन्त्र की दैनिक कार्य-प्रणाली, प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्मारकों की सुरक्षा, मुद्रा तथा और भी बहुत सी बातें थीं, जिनका यथास्थान वर्णन किया जायगा।

प्लेग और दुर्भिक्ष—लॉर्ड कर्जन ने अपने पूर्ववर्ती शासकों से विरासत में प्लेग और दुर्भिक्ष-ग्रस्त भारत पाया था; ब्रिटिश नौकरशाही इन दोनों संकटों का सफलतापूर्वक उपचार करने में असमर्थ थी। जुलाई १८९६ ई० में बम्बई में एक रोगी के प्लेग से पीड़ित होने का संदेह किया गया और अगस्त तक तो यह निश्चित ही हो गया कि इस महानगरी में प्लेग का प्रकोप हो चुका है। तब इस रोग के विषय में लोगों का ज्ञान इतना कम था कि अधिकारी वर्ग की समझ में न आ सका कि इसको शान्त करने के लिए क्या उपाय अपनाये जायँ; वे अँधेरे में हाथ-पैर मारने लगे। यह संक्रामक रोग शीघ्र ही भारत के दूसरे भागों में भी फैल गया और १९११ ई० तक इस रोग के कारण लगभग आठ लाख जानें चली गईं। प्लेग का चूहों से सम्बन्ध तो मध्य-युग से ही ज्ञात था, परन्तु निश्चित रूप से यह १९०५ ई० में 'भारतीय प्लेग कमीशन' की खोजों से ही विदित हो सका कि चूहों में पलनेवाले संक्रामक पिस्सू ही प्लेग को फैलाते हैं। इस कमीशन की खोजों से यह भी पता चला कि १८९६ ई० के प्लेग के कीटाणु हांगकांग से आये हुए जहाजों के चूहों ने फैलाये थे।

सरकार के समान जनता को भी इस रोग के विषय में बहुत ही कम ज्ञान था। लोग गाँव छोड़-छोड़कर भागने लगे। तब लॉर्ड सैन्डहर्स्ट बम्बई के गवर्नर थे। उनकी सरकार ने 'क्वारन्टाइन' (Quarantine), रोग को फैलने से रोकने, रोगग्रस्त क्षेत्रों को खाली कराने और अनिवार्य रूप से टीका लगाने की व्यवस्था कर दी; फिर भी मृत्यु-संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई। जनता भयभीत हो उठी; सरकार और सरकारी चिकित्सा-विभाग की निपुणता से जनता का विश्वास उठ गया। सरकारी कर्मचारियों ने महामारी-निरोधक व्यवस्थाओं, रोगग्रस्त क्षेत्रों की जाँचों और खाली कराने के काम को इतनी कठोरता और हृदयहीनता से किया कि उससे जनता में गहरा असंतोष फैल गया। जाँच के लिए अपने घरों में सिपाहियों का घुसना किसी भी भारतीय को सह्य नहीं था। उनको जान पड़ने लगा कि

सरकार उनकी 'इज्जत' पर डाका डाल रही है, उनकी स्त्रियों के सतीत्व का खंडन करना चाहती है। इस प्रकार की जाँच से अँगरेजों की छूट से जातीय घृणा का भाव उग्र होने लगा।

बहुत से लोगों का यह दृढ़ विश्वास बन गया था कि स्वयं सरकार ही रोग फैला रही है। उग्र राष्ट्रीयता के प्रतीक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अपने नगर पूना में अपने जीवन को संकट में डालकर महामारी रोकने में जुट गये। उन्होंने एक अस्पताल की स्थापना की और वे अपने समाचार-पत्र 'केसरी' द्वारा जनता को अपने पैरों पर खड़ा होकर महामारी और विदेशी शासन दोनों से जूझने का पाठ पढ़ाने लगे। तिलक के लेखों ने अपना प्रभाव प्रकट किया और मि० रैंड तथा लैफ्टिनेंट आयर्स्ट नामक दो अँगरेज पदाधिकारी, जो प्लेग के कार्य में नियुक्त हुए थे, मार डाले गये। सिपाहियों का घर-घर घुसकर जाँच करना मुसलमानों को भी अखर रहा था। मार्च १८९८ ई० में बम्बई के मुसलमान जुलाहों ने विद्रोह कर दिया, जिसके फलस्वरूप अनेक जुलाहे पुलिस की गोलियों के निशाने बने। साफ दिखाई देने लगा कि प्लेग से जनता में इतना असंतोष नहीं हुआ था, जितना कि सरकार के प्लेग-निरोधक उपायों से। जनता मृत्यु को सहन कर सकती थी; उस पर किसी का वश ही क्या था। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतीकों के जूतों के नीचे अपने घर की प्रतिष्ठा का कुचला जाना वह सह न सकती थी। सरकार ने धीरे-धीरे अपनी प्लेग-निरोधक व्यवस्था को ढीला कर दिया; परन्तु जैसा कि नौकरशाही में होता ही है, जनता तक इसका फल पहुँचने में बहुत देर हो चुकी थी। तब तक प्लेग-निरोधक-व्यवस्था की कठोरताएँ अपनी काली करतूतें कर चुकी थीं।

प्लेग ने जो विभीषिका फैला दी थी, दुर्भिक्ष ने उसे और भी बढ़ा दिया। १८९६ ई० से १९०० ई० तक भारत में प्लेग के बाद अकाल, अकाल के बाद प्लेग, मलेरिया, इन्फ्लूएंजा—यही क्रम चलता रहा। १८९६-९७ में बंगाल को छोड़कर सारे भारत में घोर अनावृष्टि रही। दुर्भिक्ष की जाँच के लिए सर जेम्स लॉयल की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त हुई, परन्तु इस समिति के प्रस्तावों पर अभी विचार भी न हो पाया था कि भारत में फिर ऐसी घोर अनावृष्टि हुई कि पिछले २०० वर्षों में इतनी विस्तृत और घोर अनावृष्टि भारत में पहले न हुई थी। १८९९-१९०० ई० के दुर्भिक्ष ने ४,००,००० वर्गमील से अधिक भूभाग पर अपनी विनाशकारिणी छाया फैला दी; इससे ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के विशाल भू-भाग उजाड़ हो गये। जनता की थोड़ी-बहुत संचित पूँजी तो १८९६-९७ के अकाल में ही समाप्त हो चुकी थी, अब इस दूसरे महादुर्भिक्ष का सामना करने के लिए उसके पास कुछ बल न रहा था। मृत्यु-संख्या की कोई गिनती न रह गई।

सिंचाई के जो थोड़े-बहुत कृत्रिम साधन थे, वे भी शीघ्र ही समाप्त हो गये। लोग अन्न के अभाव में और पशु चारा न पाकर भूखों मरने लगे। गुजरात और बड़ौदा के घने बसे हुए देशों में मृत्यु-संख्या सबसे अधिक थी। गुजरात की गायों की सुंदर नस्ल लुप्त ही हो गई। तब रेलवे लाइनें बहुत विस्तृत तो थीं नहीं; उनसे संकट दूर करने में अधिक सहायता न मिल सकी, क्योंकि यह दुर्भिक्ष अन्न का दुर्भिक्ष था और भारत भर में व्याप्त था। इन दुर्भिक्षों के कारण हुई प्राण हानि का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सरकारी अनुमान के अनुसार ब्रिटिश भारत में ही मृत्यु-संख्या डेढ़ और दो लाख के बीच थी। बहुत-सी देशी रियासतों में भी अकाल ने खूब विनाश-लीला रची थी। इसलिए इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कुल मृत्यु-संख्या सरकारी आँकड़ों से कहीं अधिक रही होगी।

दुर्भिक्ष रोकने की व्यवस्था करना मुख्यतः प्रान्तीय सरकारों का काम है; कुछ प्रान्तीय सरकारें इसमें तत्काल जुट गईं, कुछ ने बहुत ढिलाई दिखाई; कुछ ने बहुत कंजूसी से काम लिया तो कुछ ने बहुत अपव्यय किया और व्यवस्था ठीक न होने के कारण बहुत सा अन्न बरबाद हो गया। मद्रास ने सबसे पहले दुर्भिक्ष-निवारक उपायों का संघटन किया, परन्तु बम्बई में अर्थ-व्यवस्था ठीक हाथों में न होने के कारण दुर्भिक्ष-निवारक-व्यवस्था को बहुत हानि पहुँची। भूख से लोगों की शक्ति क्षीण हो ही चुकी थी, तभी अकाल के बाद उसके अनुचरों के रूप में हैजा, पेचिश और बुखारों ने भूख की सताई हुई जनता को धर दबाया। दुर्भिक्ष-निवारक व्यवस्था बहुत कुछ १८८३ ई० के दुर्भिक्ष-नियमों पर आधारित थी। इन नियमों की तह में ये सिद्धान्त थे—

(१) सार्वजनिक-हित के कार्यों की स्थापना।
(२) मजदूरों को चार वर्गों में बाँटना।
(३) मजदूरी जीवन-निर्वाह के स्तर पर देना।
(४) जहाँ आवश्यक हो, वहाँ मुफ्त भोजन इत्यादि की सहायता देना।

१८८३ ई० के इन नियमों को जब सचमुच काम में लाया गया तो जान पड़ा कि इनमें अभी बहुत कमियाँ हैं।

लॉर्ड कर्जन ने अकाल-पीड़ित क्षेत्रों का दौरा किया और ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर-बाहर सर्वत्र सहायता के लिए अपील की। इससे सारे संसार का ध्यान भारत पर केन्द्रित हो गया और भारत-सरकार की तीव्र आलोचनाएँ होने लगीं। दुर्भिक्ष-निवारण के लिए बहुत ही थोड़े कोष की व्यवस्था, दुर्भिक्ष-निवारण-व्यवस्थाओं का रुक-रुक कर काम में लाया जाना, राजस्व और भूमि-कर की सरकारी व्यवस्था, जिसके कारण किसानों के पास संकट-काल के लिए कुछ भी

न बच रहता था—ये सब बातें तीव्र आलोचना का विषय बनीं। दस अवकाश-प्राप्त (Retired) ब्रिटिश अफसरों और भारतीय आर्थिक दशा के प्रसिद्ध मर्मज्ञ श्री आर० सी० दत्त ने लॉर्ड जॉर्ज हैमिल्टन को एक स्मृति-पत्र भेंट किया, जिसमें इस सार्वजनिक मत की पुष्टि की गई थी कि भारतीय कृषक की दुर्दशा भूमि-कर व्यवस्था के कारण है। लॉर्ड कर्जन ने जनवरी १९०२ के सरकारी प्रस्ताव द्वारा इन स्मृति पत्र-दाताओं की बातों का उत्तर दिया। यहाँ हम स्थान-संकोच के कारण भूमि-कर प्रणाली का विस्तृत विश्लेषण करने में असमर्थ हैं। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि भूमि-कर के रूप में सरकार किसानों से जितनी रकम वसूल करती रही है, या है, उसी के कारण किसानों के पास संकट-काल के लिए बहुत ही कम बच पाता है।

अनुभव ने बता दिया था कि १८८३ ई० के दुर्भिक्ष-निवारक नियमों में बहुत सी कमियाँ हैं। इसलिए सर (बाद में लॉर्ड) एण्टनी मैकडॉनल की अध्यक्षता में दुर्भिक्ष-निवारण-व्यवस्था की जाँच करने और नये उपाय सुझाने के लिए एक जाँच-समिति नियुक्त की गई। इस जाँच-समिति ने सन् १९०१ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। जाँच-समिति ने अपने विवरण-पत्र में इस बात पर बहुत जोर दिया कि सरकार दुर्भिक्ष जैसे संकट का सामना करने के लिए पहले से ही सचमुच की तैयारियाँ नहीं करती है; इसने दुर्भिक्ष-पीड़ितों के कष्ट-निवारण और भविष्य में दुर्भिक्ष को रोकना—इन दोनों बातों के उपाय सुझाये। इन सुझावों में दुर्भिक्ष के समय जनता के नैतिक बल को टूटने से बचाने के उपायों पर बहुत जोर दिया गया था और 'नैतिक रक्षा-पंक्ति' (Moral Strategy) का सुझाव दिया गया था, जिसका सारांश यह था कि दुर्भिक्ष के समय कष्ट-निवारक उपायों को शीघ्रातिशीघ्र काम में लाया जाय, भूमि-कर की वसूली तत्काल रोक दी जाय, बीज और पशु मोल लेने के लिए किसानों को तत्काल आर्थिक सहायता दी जाय इत्यादि। इस जाँच-समिति ने गैर-सरकारी सहयोग की आवश्यकता पर भी जोर दिया और विशाल सार्वजनिक कार्यों के स्थान पर ग्रामीण हित के कार्यों को चलाने का सुझाव दिया। इसने रेलवे लाइनों को बढ़ाने, एग्रिकल्चर बैंक स्थापित करने तथा सिंचाई के साधन बढ़ाने का भी सुझाव दिया। यह पहली जाँच-समिति थी, जिसने पशुओं के लिए चारे की व्यवस्था करने और उन्हें दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्रों से हरे-भरे मैदानों में भेजने की व्यवस्था करने का भी सुझाव रखा।

इस जाँच-समिति के सुझावों के अनुसार दुर्भिक्ष-नियमों में संशोधन किया गया, कृषि और सहकारी बैंकों की स्थापना की गई और सिंचाई के साधनों को बढ़ाने की ओर ध्यान दिया गया।

लॉर्ड कर्जन ने दुर्भिक्ष के अनुभवों को कार्यान्वित करने में देर न लगाई। वह अपनी सीमाओं को भली भाँति जानता था; वह जानता था कि प्रकृति के कोप को काबू में लाने के लिए अभी काफी समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। तब तक के लिए उसने यह नीति ग्रहण करना उचित समझा कि "दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्र के जितने भाग में कार्य करना संभव हो, उसमें ऐसे उपाय अपनाये जायँ, जिनसे अगले दुर्भिक्ष का सफलतापूर्वक सामना करने की तैयारी हो सके।" मार्च १९०५ के बजट-भाषण में लॉर्ड कर्जन ने अपनी यह नीति प्रकट की थी। इस उद्देश्य को सामने रखकर उसने कृषि, रेल-मार्गों और सिंचाई के साधनों के सुधार में अपना ध्यान केन्द्रित किया।

कृषि—पिछले दुर्भिक्ष ने कृषि-सुधार की समस्या को प्रमुखता प्रदान कर दी थी। अब तक कृषि की ओर से सरकार उदासीन रही थी; उसका ध्यान केवल भूमि-कर की वसूली तक ही रहता था। अब तक भूमि की उपज बढ़ाने, कृषकों का भार कम करने या खेती के वैज्ञानिक साधनों का प्रचार करने का कुछ भी उद्योग न किया गया था। कृषि-सम्बन्धी सुधारों की योजना बनाने और इनको कार्यान्वित करने का श्रेय लॉर्ड कर्जन को ही है; यह दूसरी बात है कि सरकार की उपेक्षा के कारण बाद में ये सुधार अधिक लाभकारी सिद्ध न हो सके। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि लॉर्ड कर्जन की भूमि-सुधार की योजनाएँ पुष्ट सिद्धान्तों पर आधारित थीं। पद-भार ग्रहण करने के पश्चात् लॉर्ड कर्जन ने सबसे पहले जो व्यवस्थाएँ बनाई,उनमें से 'पंजाब लैण्ड एलाइनेशन ऐक्ट' (Panjab Land Alienation Act) एक है; इस ऐक्ट के अनुसार पंजाब में किसान की भूमि की न तो कुर्की की जा सकती थी और न सरकारी स्वीकृति के बिना वह मोल ही ली जा सकती थी। यह व्यवस्था पंजाब के किसानों को सूदखोर साहूकारों के चंगुल से बचाने के लिए की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से साहूकार किसानों को ऋण देने में हिचकिचाने लगे। इस बाधा को भी दूर करने के लिए लॉर्ड कर्जन ने 'कृषि-बैंकों' (Agricultural Banks) और 'सहकारी-समितियों' (Co-operative Societies) की स्थापना की और इस प्रकार जनता में पारस्परिक सहयोग एवं आत्म-निर्भरता की भावनाएँ जागृत कीं। कृषि-बैंक और सहकारी-समितियाँ कोई नई वस्तुएँ तो नहीं थीं, परन्तु अब तक इनके बारे में केवल कोरी बातें ही होती रही थीं। लॉर्ड कर्जन ने इनका बीजारोपण किया और उसको पाल-पोसकर बढ़ाया। मार्च १९०४ ई० में 'सहकारी ऋण-समिति कानून' (Co-operative Credit Societies Act) पास किया गया; इसके अनुसार गाँवों एवं नगरों में, सहकारी समितियों की स्थापना और जहाँ कहीं आवश्यक हो, इन समितियों को

सरकारी सहायता देने की व्यवस्था की गई। इस कानून का प्रमुख उद्देश्य था किसानों को ऋण के भार से मुक्त करना। इस योजना को बनाने में मद्रास सरकार के अधिकारी सर फ्रैडरिक निकल्सन और एक सिविल पदाधिकारी एम० ड्यूपरनेक्स ने, जो फ्रांस और इटली में 'सहकारी सार्वजनिक बैंकों' की कार्यप्रणाली का अध्ययन कर आया था, लॉर्ड कर्जन की सहायता की थी। सहकारी समितियों के इस नये प्रयोग ने जनता के हृदय में घर कर लिया और सारे भारत में ऐसी समितियाँ बनने लगीं। किसानों को ऋण-मुक्त करने में ये समितियाँ अधिक सफल न हो सकीं; इसका एक कारण तो यह है कि किसानों के ऋण की समस्या बहुत भारी समस्या है और दूसरे सहकारी समितियों का आन्दोलन भारत में अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही था।

कर्जन के कृषि-सुधार-सम्बन्धी कार्यों में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, कृषि में वैज्ञानिक प्रणालियों के प्रयोग और नियमित रूप से कृषि-शिक्षा के प्रसार के उद्योग। जब लॉर्ड कर्जन भारत आया था, तब यहाँ केवल चार कृषि विद्यालय थे—पूना, सईदपेठ, कानपुर और नागपुर। ये सब विद्यालय भी बहुत निकम्मे ढंग के थे। प्रान्तीय सरकारों ने कृषि-सम्बन्धी प्रयोगों के लिए जो 'फॉर्म' चला रखे थे, वे दिखाने भर को ही थे। लॉर्ड कर्जन से बीस वर्ष पहले डा० वोयल्कर ने यह विचार प्रकट किया था कि भारत में कृषि-सुधार, प्रधानतः, कृषि से इतना सम्बन्ध नहीं रखता, जितना इसका सम्बन्ध आवश्यक धन से है; कृषि-सुधार के लिए कोष की कमी से कृषि की सारी उन्नति रुक गई है। लॉर्ड कर्जन ने अपने कृषि-सम्बन्धी सुधारों के विषय में कहा था कि "हमारा वास्तविक सुधार तो भारतीय कृषि के अध्ययन और कार्य में पहली बार विशाल पैमाने पर विज्ञान का प्रयोग करना है।" लॉर्ड कर्जन ने सबसे पहला कदम यह उठाया कि कृषि-सुधार की नई योजना के नियन्त्रण और निरीक्षण के लिए सन् १९०१ में एक कृषि-अधिकारी (Inspector General of Agriculture) की नियुक्ति कर दी। भारतीय कृषि की मूलभूत समस्याओं के समाधान में सहयोग देने के लिए बिहार के पूसा नामक स्थान में एक 'कृषि-अन्वेषण संस्था' (Agricultural Research Institute) की स्थापना की गई। इस कार्य में अमेरिका के एक दानी श्री हैनरी फिप्स ने लगभग २०,००० पौंड का दान देकर लॉर्ड कर्जन की बहुत सहायता की। भारत-सरकार ने कृषि-सम्बन्धी गवेषणाओं, प्रयोगों, प्रदर्शनों तथा शिक्षा के लिए १,३०,००० पौं० वार्षिक अनुदान स्वीकार कर, प्रान्तीय सरकारों को कृषि-सुधार के कार्य में समर्थ बनाया।

लॉर्ड कर्जन की सिंचाई की योजना का भी यही उद्देश्य था। भारत में वैज्ञानिक सिंचाई के अग्रदूत सर आर्थर कॉटन के अतिरिक्त और भी अनेक महानुभावों ने

इस बात पर जोर दिया था कि भारत में दुर्भिक्ष रोकने के लिए और पैदावार बढ़ाने के लिए सिंचाई के साधनों को खूब बढ़ाना चाहिए। लॉर्ड कर्जन ने अनुमान लगाया कि लगभग ४०,००,००० एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधाएँ पहुँचाई जा सकती हैं। सन् १९०१ में सर कॉल्विन स्कॉट-मॉन्क्रीफ की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति सिंचाई के प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई। इस जाँच-समिति ने सन् १९०३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसने बीस वर्ष के समय में सिंचाई पर ४४ करोड़ रुपये व्यय करने की सिफारिश की और आशा प्रकट की कि इससे ६५ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधाएँ मिल सकेंगी। लॉर्ड कर्जन ने जाँच-समिति की सिफारिशों को कुछ काट-छाँट के साथ स्वीकार कर लिया। पंजाब की नहरों में सुधार किया गया; अपर-चिनाब, अपर झेलम और लोअर बारी दोआब नामक नहर-प्रणालियों का निर्माण प्रारम्भ किया गया और अगले वर्षों के लिए एक योजना बनाई गई।

रेल-मार्ग—१९०१ ई० की दुर्भिक्ष-जाँच-समिति के सुझावों से लॉर्ड कर्जन के सामने रेल-मार्गों को बढ़ाने का प्रश्न आया। लॉर्ड कर्जन से पहले रेल-मार्गों का कार्य-संचालन दो प्रकार से होता था—कम्पनी द्वारा और सरकार द्वारा। सरकार ने अपने हिस्से का कार्य सार्वजनिक निर्माण विभाग (P.W.D.) को सौंप दिया था। लॉर्ड कर्जन ने, रेल-मार्गों के सुधार में लगने से पहले सर टॉमस रॉबर्टसन नामक एक अनुभवी रेल-मार्ग-विशेषज्ञ को भारतीय रेल-मार्गों की व्यवस्था की जाँच करने के लिए नियुक्त किया। सर टॉमस ने सन् १९०३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसने बतलाया कि भारतीय रेल-मार्गों की व्यवस्था में जड़ से लेकर चोटी तक सुधार की आवश्यकता है। उसने सुझाव दिया कि इनका संचालन जितना अब तक होता रहा है, उससे भी अधिक व्यावसायिक आधार पर होना चाहिए। सर टॉमस की सिफारिशों के अनुसार सन् १९०५ में सार्वजनिक निर्माण-विभाग की रेल-मार्ग सम्बन्धी शाखा तोड़ दी गई और रेल-मार्गों के कार्य-संचालन के लिए तीन सदस्यों की एक समिति बनाई गई; इनमें एक चेयरमैन और दो सदस्य थे और यह समिति सीधे 'भारत-सरकार के वाणिज्य और उद्योग' (Commerce and Industry) विभाग के अधीन रखी गई। नये रेल-मार्ग बनाये गये। लॉर्ड कर्जन के भारत से बिदा होने के समय तक भारत में २८,१५० मील रेल-मार्ग बन चुका था और ३१६७ मील बन रहा था।

लार्ड कर्जन के शासन-सम्बन्धी सुधार—लार्ड कर्जन के शासन-सम्बन्धी सुधार भारत के इतिहास में युगान्तरकारी सिद्ध हुए। इन्होंने जनता में एक नई भावना जागृत कर दी और भारतीय स्वातन्त्र्य संघर्ष के इतिहास में एक नया अध्याय

प्रारम्भ कर दिया। इन सुधारों का मूल तत्त्व था—कार्य-दक्षता। शिमला में अपने बिदाई लेते समय के अपने भाषण में (सितम्बर १९०५) लॉर्ड कर्जन ने कहा था "यदि मुझे अपने सारे कार्य को एक शब्द में प्रकट करने के लिए कहा जाये तो मैं कहूँगा (कि यह शब्द है) कार्य-दक्षता। यही हमारा धर्मादेश रहा है, यही हमारे शासन का मूल-तत्त्व रहा है।" कार्य-दक्षता के साथ केन्द्रीकरण और कार्यालयों के सुधार की बात स्वयं ही आ जाती है। इन सुधारों में भारतीयों के प्रति अविश्वास और उनकी योग्यता और ईमानदारी के अपमान की गंध भी सनी हुई थी और इस प्रकार जैसा कि मानवीय सम्बन्धों में बहुधा होता है, इन सुधारों में भी अच्छाई बुराई से लिपटी हुई थी। फल यह हुआ कि कार्य-दक्षता लाने के लिए कर्जन को जो थोड़ा-बहुत श्रेय मिलता, वह भी न मिल सका।

हम पहले कह चुके हैं कि भारत पहुँचने के थोड़े समय में ही लॉर्ड कर्जन ने सुधारों की बारह योजनाओं की रूपरेखा तैयार की थी। सुधारों की इस सूची में शासन-सम्बन्धी सुधारों की योजना को पहला स्थान मिला था। शासन-यंत्र के थोड़े से अनुभव ने ही लॉर्ड कर्जन को दिखा दिया था कि समस्या केवल इस यंत्र के 'पेंच पुर्जों को कसने और इसके पहियों को तेल देने' भर की नहीं है, अपितु इसका कायाकल्प करने की है। शासन-तंत्र की उस समय जैसी स्थिति थी, उसमें वह लॉर्ड कर्जन के केन्द्रीकरण के उद्देश्य को पूर्ण करने के योग्य न था। तब केन्द्रीय सरकार अव्यवस्थित सी दशा में थी और शासन के कुछ अंग दूसरों से स्वतन्त्र होकर कार्य कर रहे थे। बम्बई और मद्रास की सरकारों की स्वतन्त्रता और अलगाव लॉर्ड कर्जन को क्रुद्ध कर रहे थे और इनके प्रति उसका क्रोध इस सीमा तक बढ़ गया था कि उसने इनके अधिकारों को कम करने का सुझाव दे डाला। राज्य-सचिव को अपने एक पत्र में (मई १८९९) उसने लिखा कि "विकेन्द्रीकरण बहुत ही अच्छी चीज है, परन्तु मुझे जान पड़ता है कि बम्बई और मद्रास के सम्बन्ध में यह उस सीमा तक बढ़ा दिया गया है, जहाँ सर्वोच्च सरकार का कोई स्थान ही नहीं रह जाता, और जिसमें उन प्रदेशों के छोटे-छोटे शासक इस बात से भी बेखबर हो गये हैं कि उत्तरदायित्व उनके अतिरिक्त किसी और पर भी है।" प्रेसिडेन्सी गवर्नरों को प्रान्तीय गवर्नर के पद पर ले आने के लॉर्ड कर्जन के सुझावों को इँगलैण्ड की सरकार ने स्वीकार नहीं किया; फिर भी इन सुझावों का इतना महत्त्व तो है ही कि उनसे हमें कर्जन के व्यक्तित्व का, दूसरों की स्वतन्त्रता को न सह सकने के उसके स्वभाव का और सारी शक्ति को अपने हाथ में रखने की उसकी आकांक्षा का परिचय मिल जाता है। सरकारी कार्यालयों की कार्य-प्रणाली का पूर्ण कायाकल्प कर, विभागीय कार्यों के अनुपात को ठीक कर और सचिवालय (Secreteriate) की कार्य-

पद्धति के लिए, सुनिश्चित नियम बना कर लॉर्ड कर्जन ने अपनी इस इच्छा को पूरा किया। इस दिशा में उसके प्रयत्न सफल हुए और इनके प्रभाव से "शासन का सारा यन्त्र तीव्र गति और अधिक सबल स्पंदन के साथ चलने लगा।")

पुलिस में सुधार—पुलिस का जनता में निरादर और उसकी कार्यदक्षता एवं ईमानदारी में सबका अविश्वास देखकर लॉर्ड कर्जन ने सन् १९०२ ई० में सर एँन्ड्रयू फ्रेजर की अध्यक्षता में प्रत्येक प्रान्त के पुलिस-विभाग की कार्य-प्रणाली की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की। इस जाँच-समिति ने भारतीय पुलिस विभाग के दोषों की कड़ी आलोचना की; "पुलिस-दल कार्य-दक्षता से कोसों दूर है, यह सामान्यतः भ्रष्ट और अत्याचारी समझा जाता है और जनता का विश्वास एवं हार्दिक सहयोग प्राप्त करने में यह सर्वथा विफल रहा है।" इस जाँच-समिति ने पुलिस के सुधार के लिए विस्तृत सुझाव दिये, जो इस प्रकार थे :—

(१) पद-वृद्धि के स्थान पर नई और सीधी भर्ती की जाय; इँगलैण्ड से भर्ती किये गये यूरोपीय कर्मचारी, भारत में भर्ती किये गये प्रान्तीय कर्मचारी, इन्स्पेक्टरों एवं सब-इन्स्पेक्टरों के साथ उच्च अधीन कर्मचारी (Upper-Subordinate Service) और हैड कांस्टेबलों तथा कांस्टेबलों सहित निम्न-अधीन कर्मचारी (Lower Subordinate) पुलिस में हों।

(२) वेतन-दरों में सुधार।

(३) प्रान्तीय पुलिस की संख्या-वृद्धि और पुलिस के काम के लिए गाँवों में जो प्रणाली विद्यमान है उसका उपयोग।

(४) सिपाहियों (कान्स्टेबलों) और पुलिस-अधिकारियों की शिक्षा के लिए विद्यालयों की स्थापना।

(५) प्रत्येक प्रान्त में अपराधी-शोध-विभाग (C. I. D.) की स्थापना; इन सब के ऊपर एक अपराधी-शोध के डाइरेक्टर की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय विभाग की स्थापना।

इस जाँच-समिति की सिफारिशों के आधार पर लॉर्ड कर्जन ने सन् १९०५ में पुलिस-विभाग का नये सिरे से संघटन किया परन्तु इतने सुधार होने पर भी पुलिस में जनता का विश्वास अभी तक नहीं जम सका है और उसकी कार्यदक्षता एवं ईमानदारी में आज भी संदेह बना हुआ है। इज्जतदार आदमी आज भी पुलिस से डरता है और अपराधी आज भी उनकी नजर बचा जाते हैं तथा कभी-कभी तो उनसे साठ-गाँठ भी लगाये रहते हैं।

शिक्षा—लॉर्ड कर्जन के पद-त्याग के कुछ वर्षों बाद लॉर्ड कर्जन की सफलताओं का वर्णन करते हुए लोवट फ्रेजर ने उसकी शिक्षा-सम्बन्धी नीति की सफलता को

उसके शासन की चार प्रमुख सफलताओं में स्थान दिया था। इतना होने पर भी लॉर्ड कर्जन की शिक्षा-सम्बन्धी नीति ने ही भारतीय नेताओं में सबसे अधिक असंतोष उत्पन्न किया था और यही नीति जनता में उसकी अप्रियता का कारण बनी। इस बात पर तो सभी सहमत थे कि शिक्षा-प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। कर्जन के आने के समय भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी, वह लॉर्ड मैकॉले के १८३५ ई० के विवरण-पत्र और वुड के १८५४ ई० के प्रपत्र पर आधारित थी। सभी यह मानते थे कि शिक्षा-प्रणाली का संघटन नये सिरे से आवश्यक है और तत्कालीन प्रणाली जनता के अधिकांश के लिए शिक्षा को सुलभ नहीं बनाती। इसके अतिरिक्त यह "अँगरेजी ढाँचे की दासतापूर्ण नकल थी और सार्वजनिक इच्छाओं तथा विचारों के नेता उत्पन्न करने की अपेक्षा क्लर्कों की सेना का निर्माण करने में ही समर्थ थी।" लॉर्ड कर्जन ने सारी स्थिति पर विचार किया और तब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि केन्द्रीय नियन्त्रण न होने के कारण ही शिक्षा-प्रणाली इतनी दोषपूर्ण है। उसने कहा कि "जान पड़ता है, प्रधान स्थानों में केन्द्रीकरण की प्रशंसनीय इच्छा में, हमने अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर दिये हैं, देश में एक प्रकार की 'बहुराजकता' (Heptarchy) बना दी है, जिनका शासन अपनी स्वतन्त्रता में और एकरूपता के अभाव में मुझे यहूदी न्यायाधीशों के उन दिनों की याद दिलाता है, जब इजराइल में कोई राजा न था और प्रत्येक व्यक्ति वही करता था, जो उसे ठीक लगता था। हमारी प्रणाली में लचीलापन, परिवर्तनसह्यता, विविधता होनी ही चाहिए। परन्तु यदि ये गुण एक सर्वसामान्य सिद्धान्त से या एक सर्वसामान्य उद्देश्य की ओर परिचालित न होंगे तो यह प्रणाली अपनी आधी शक्ति गँवा बैठेगी।" इस उद्देश्य से लॉर्ड कर्जन ने समस्त ब्रिटिश भारत की शिक्षा-प्रणाली के नियन्त्रण के लिए शिक्षा-विभाग के एक डायरेक्टर-जनरल (Director-General of Education) की नियुक्ति पर जोर दिया जिससे शिक्षा-प्रणाली एक सर्वसामान्य सिद्धान्त से, एक सर्वसामान्य लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके। साथ ही, यह स्पष्ट करते हुए कि वह देश के कालेजों और स्कूलों को बेड़ियों में जकड़ने के लिए निरीक्षकों से भरे हुए और दफ्तरी-कार्यवाही से दबे हुए एक शाही शिक्षा-विभाग की स्थापना नहीं करना चाहता, उसने इस बात पर जोर दिया कि ब्रिटिश भारत की जनता की भलाई का उत्तरदायित्व सरकार पर है। उसने कहा कि "मैं राज्य की ओर से उस उत्तरदायित्व को पुनः ग्रहण करना चाहता हूँ, जिसको त्यागने की प्रवृत्ति पिछले समय में दिखाई देती रही है और मैं संसार को दिखा देना चाहता हूँ कि भारत में हमारी शिक्षा-प्रणाली, उदार ओर लचीली होते हुए भी, जैसा कि मैं इसे रहने देना चाहता हूँ, उस अनिच्छित

रूप को धारण करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है, जो आकस्मिक घटनाएँ और उद्देश्य इसे ग्रहण करने के लिए वाध्य कर सकती हैं, अपितु इसे एक नियमित और वैज्ञानिक प्रणाली के अनुरूप वनना पड़ता है, जिसके लिए अंततोगत्वा सर्वोच्च सरकार उत्तरदायी मानी गई है, चाहे इसमें उसकी प्रशंसा हो या निन्दा।")

लॉर्ड कर्जन की यह आलोचना अधिकांश में ठीक थी और सार्वजनिक मत के अनुरूप थी। परन्तु जैसे-जैसे लॉर्ड कर्जन की योजना की रूपरेखा प्रकट होने लगी, विरोध बढ़ने लगा। यह विरोध निरन्तर बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि कर्जन की सारी योजना भारतीय जनता की आँखों में बुरी तरह चुभने लगी। भारतीय जनता को उसकी योजना में उच्च-शिक्षा को घटाने, विश्वविद्यालयों को सरकारी निरीक्षकों से भरा हुआ और दफ्तरी कार्यवाही के भार से दवा हुआ एक सरकारी विभाग वना देने तथा सारी शिक्षा-प्रणाली को नौकरशाही की वेड़ियों में जकड़ने के वही प्रयत्न दिखाई दिये, जिनके प्रति इस योजना के निर्माता ने वड़े जोरदार शब्दों में प्रतिवाद किया था।

अधिकारी-वर्ग का रुख जानने के उद्देश्य से लॉर्ड कर्जन ने शिमला में सितम्वर, १९०१ में शिक्षा-विभाग के उच्चतम सरकारी अधिकारियों और प्रमुख विश्वविद्यालयों के सरकारी प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन वुलाया। इस सम्मेलन में एक भी भारतीय नहीं वुलाया गया था और गैर-सरकारी प्रतिनिधि भी एक ही था—मद्रास-क्रिश्चियन कॉलेज का प्रिंसिपल डा० मिलर। इस सम्मेलन की निर्माण-विधि तथा इसकी कार्यवाही को गुप्त रखे जाने से जनता को साम्राज्यवादी कर्जन के मंतव्यों में संदेह होने लगा। लॉर्ड कर्जन के समर्थक लॉर्ड फ्रेजर तक को स्वीकार करना पड़ा है कि इस सम्मेलन में लॉर्ड कर्जन ने जो विचार सुने थे वे सरकारी अधिकारियों के ही रुख को प्रकट करते थे न कि शिक्षा के सम्वन्ध में अधिकारी विद्वानों के मत को। इस सम्मेलन के पश्चात् सन् १९०२ में तत्कालीन कानून सदस्य सर टामस रेले की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय जाँच-समिति नियुक्त हुई। इस समिति में पहले तो केवल एक भारतीय निजाम-राज्य के 'डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक-इन्स्ट्रक्शन्स' सैयद हुसैन विलग्रामी को ही रखा गया परन्तु वाद में हिन्दुओं के यह शिकायत करने पर कि उनका कोई प्रतिनिधि इसमें नहीं है, कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश गुरुदास वनर्जी को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया। इस समिति ने पाँच महीने वाद जून सन् १९०२ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की; जस्टिस गुरुदास वनर्जी ने इस रिपोर्ट को अस्वीकार करते हुए इस पर एक टिप्पणी लिख दी थी। यह रिपोर्ट अक्टूवर, १९०२ में प्रकाशित हुई। इसके आधार पर एक 'विश्वविद्यालय-विधेयक' (Universities Bill) वनाया गया जो मार्च १९०४ में कानून बना।

इस जाँच-समिति ने जिन सुधारों का सुझाव दिया था वे विश्वविद्यालयों की शिक्षा के प्रसार या सुधार की अपेक्षा, उनकी प्रवन्ध प्रणाली से अधिक सम्बन्ध रखते थे। कॉलेजों के विश्वविद्यालयों के साथ सम्वद्ध या असम्वद्ध किये जाने के सम्बन्ध में इसने जो सिफारिशें की थीं, वे उच्च शिक्षा के क्षेत्र को घटाने वाली ही थीं। इस जाँच-समिति ने सुझाव दिये कि विश्वविद्यालयों की सीनेटों (Senate) और सिंडिकेटों (Syndicate) का आकार और उनकी सदस्य-संख्या घटा दी जाय, विश्वविद्यालयों के अधिकार-क्षेत्र की सीमाएँ निश्चित कर दी जायँ, विश्व-विद्यालयों से सम्वद्ध कॉलेजों के पास अधिक अच्छी सामग्री हो, विश्वविद्यालयों के साथ सम्वद्ध होने (Affiliation) के लिए कॉलेजों के लिए कड़ी शर्तें रखी जायँ और केवल उन्हीं स्कूलों को सरकारी मान्यता (recognition) दी जाय जो शिक्षा-विभाग या विश्वविद्यालय द्वारा वनाये नियमों पर ठीक उतरें। जिन प्रस्तावित सुधारों का सवसे अधिक विरोध हुआ, वे ये थे कि कॉलेज की फीस की न्यूनतम दर निश्चित कर दी जाय, केवल इंटरमीडियेट कक्षा तक पढ़ानेवाले कॉलेज समाप्त कर दिये जायँ, आर्ट्स कॉलेजों के साथ सम्वद्ध कानून की कक्षाओं (law classes) द्वारा कानून की शिक्षा में संशोधन किया जाय।

भारतीय जन-नेताओं ने इस जाँच-समिति के सुझावों की तीव्र आलोचना की। कलकत्ते के टाउन हाल में श्री सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने इन सुझावों के विरोध में एक सभा का आयोजन किया; इसमें वायसराय के उद्देश्यों के प्रति खुल्लमखुल्ला संदेह प्रकट किया गया। श्री गोखले ने इन सुझावों की तीव्र निंदा करते हुए कहा कि ये उच्च शिक्षा के रास्ते में रोड़े अटकाने के विचार से ही रखे गये हैं। भारत भर में वायसराय की नीति के प्रति विरोध प्रकट किया गया। विश्वविद्यालयों की सीनेटों की सदस्य-संख्या घटाई जाने और उनमें सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाई जाने से जनता को संदेह होने लगा कि वायसराय विश्वविद्यालयों को सर-कारी विभाग वनाना चाहता है। विश्वविद्यालयों के साथ कॉलेजों के सम्बद्ध होने की कड़ी शर्तें, कॉलेज की फीसों में वृद्धि, केवल इंटरमीडियेट कक्षाओं तक के कॉलेजों की समाप्ति—ये कॉलेज अधिकांश में देशी होते थे—ये सब बातें जनता के मन में इस धारणा को पुष्ट कर रही थीं कि लॉर्ड कर्जन उच्च शिक्षा का क्षेत्र घटाना चाहता है, वह "ऊँचाई के लिए सतह को बलि चढ़ा देना" चाहता है। लॉर्ड कर्जन के वास्तविक मंतव्य क्या थे—यह हम कभी भी न जान पायेंगे। वह बहुत वाक्पटु था और वाक्पटुता ऐसा गुण है जो हृदय के वास्तविक मंतव्यों को छिपाने में भी सफलता दिला सकता है और उनको स्पष्ट तथा सुन्दर ढंग से समझाने में भी। फिर भी, इससे तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि जाँच-समिति की सिफा-

रिशों और उनके आधार पर बनाये गये 'विश्वविद्यालय-विधेयक' से यह सार्वजनिक धारणा ही पुष्ट होती थी कि लॉर्ड कर्जन का उद्देश्य शिक्षा-सम्बन्धी न होकर राजनीतिक था; वह विश्वविद्यालयों को सरकारी नियन्त्रण में कस देना चाहता था, जिससे वे राष्ट्रीयता के पोषण के केन्द्र न बन पावें, जैसा कि वे पिछले कुछ समय से बनते जा रहे थे; वह उच्च शिक्षा के क्षेत्र को सीमित कर भारत के युवक वर्ग को उच्च शिक्षा से वंचित करना चाहता था, जो उनके हृदयों में नई आशाएँ और आकांक्षाएँ जगा रही थीं, उनके मन में विदेशी शासन के प्रति गहरा असंतोष उत्पन्न कर रही थीं; वह जनता की शिक्षा को रोकना चाहता था, जिससे वह अँधेरे में ही पड़ी रहे और इँगलैण्ड उस पर शासन करता रहे। लोवट फ्रेजर का यह कहना कि कर्जन के शिक्षा-सुधारों के विरुद्ध अखिल भारतीय आन्दोलन कुछ मुट्ठी भर राजनीतिक नेताओं द्वारा चलाया गया था जो समझते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा का नियन्त्रण अपने हाथों में ले लेने से वे अपने अन्य उद्देश्य भी पूरे कर सकेंगे, फ्रेजर महोदय की सूझ-बूझ का अच्छा परिचय नहीं देता और न इस कथन की आलोचना की ही कोई आवश्यकता है।

'विश्वविद्यालय-विधेयक' का सारे भारत में विरोध हुआ, परन्तु लॉर्ड कर्जन को जन-मत की चिन्ता ही कब थी। उसका पक्का विश्वास था कि अँगरेज नौकरशाही जनता की भलाई-बुराई को भली भाँति समझती है। इसलिए उसने जनता के नेताओं की एक न सुनी। गोखले ने कौंसिल में 'विश्वविद्यालय-विधेयक' का घोर विरोध किया, परन्तु यह पास हो गया और मार्च १९०४ ई० में कानून बन गया। गोखले ने इस विधेयक को "विशेषज्ञों का संकुचित, पक्षपातपूर्ण और अविकसित शासन" प्रचलित करनेवाला एक घातक प्रस्ताव बताया था।

लार्ड कर्जन के विख्यात जीवनी-लेखक लॉर्ड रोनाल्ड शे ने लिखा है कि "कोई भी यह सोचना चाहेगा कि वायसराय ने जितना महान् परिश्रम किया था, उसका आशातीत फल हुआ होगा—लेकिन ...... सत्य यह स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है कि (विश्वविद्यालय-ऐक्ट से) यथार्थ में जो परिवर्तन हुए वे समय और विचार के उस परिमाण के अनुपात में, जो वायसराय ने (शिक्षा-सुधार के प्रश्न पर) व्यय किया था या विरोध की उस उग्रता के अनुपात में, जिसके साथ इस (विश्वविद्यालय-विधेयक) पर आघात किये गये थे, कुछ भी नहीं थे। इसमें संदेह नहीं कि बीच-बीच में कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण सुधार अवश्य किये गये थे, परन्तु उच्च शिक्षा-प्रणाली की विस्तृत रूपरेखा बहुत कुछ जैसी की तैसी बनी रही।" सन् १९१७ में सैडलर-जांच-समिति को स्वीकार करना पड़ा था कि यथार्थ में जिन सुधारों की आवश्यकता थी उनके लिए कभी भी प्रयत्न नहीं किये गये।

१९०४ ई० के सुधारों के पूर्ण रूप से कार्यान्वित किये जाने पर भी कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका। अभी तक विश्वविद्यालयों की शिक्षा की पक्की नींव न पड़ सकी और हाईस्कूलों के अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा हाई स्कूलों के संघटन की प्रणाली का भी कोई निश्चय न हो सका।

परन्तु यह कहना लार्ड कर्जन के प्रति सरासर अन्याय करना होगा कि उसके हाथों शिक्षा को कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिला और उसके शासन-काल में शिक्षा में प्रगति हुई ही नहीं। लॉर्ड कर्जन के शासन-काल में प्रारंभिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया गया। सन् १९०२ में प्रारंभिक शिक्षा के लिए एक विशेष अनुदान स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक शिक्षा की सहायता के लिए २,३०,००० पौंड का स्थायी अनुदान रखा गया। लॉर्ड कर्जन ने शिक्षा-विभाग में सुधार किये, अध्यापकों के वेतन बढ़ा दिये, कृषि-शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया और स्त्री-शिक्षा तथा काम-धंधों की (टैक्निकल) शिक्षा में रुचि दिखाई। यह बहुत कुछ लॉर्ड कर्जन की सहायता का ही फल था कि जमशेदजी टाटा के दान से बंगलौर में 'विज्ञान-संस्था' (Institute of Science) की स्थापना हो सकी।

लॉर्ड कर्जन ने 'विश्वविद्यालय-विधेयक' के प्रमुख उद्देश्यों की व्याख्या इन शब्दों में की थी :—

"इसका प्रमुख उद्देश्य है शिक्षा के स्तर को सब ओर से ऊँचा उठाना और विशेषतया उच्च शिक्षा के स्तर को ऊँचा करना। हम जो करना चाहते हैं वह यह है आज (परीक्षा का जो ढंग है उससे) अच्छे ढंग की और कम संदिग्ध परीक्षा-प्रणाली का प्रयोग करना, कॉलेजों में, जो हमारी विश्वविद्यालय-प्रणाली के अंग हैं, रटने की पद्धति पर अन्य सब बातों के बलि चढ़ा दिये जाने से रोकना, कुशल अध्यापकों को नियुक्त कर शिक्षा-पद्धति को अधिक अच्छी बनाना, कॉलेजों और अन्य शिक्षण-संस्थाओं के सतर्क निरीक्षण की व्यवस्था करना जो कि आजकल व्यवहार में निरीक्षण से बचे रहते हैं, विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध योग्य, विशेषज्ञ और उत्साही व्यक्तियों के हाथ में रखना, विश्वविद्यालयों की सीनेट (Senate) का फिर से संघटन करना, सिंडीकेट (Syndicate) के अधिकारों को निश्चित और नियमित करना, निर्वाचित सदस्यों को वैधानिक मान्यता प्रदान करना, जो कि अब तक केवल सरकार की कृपा से (Sufferance) नियुक्त किये जाते हैं, वह मार्ग दिखा देना जिस पर चलकर हमारे विश्वविद्यालय, जो अब तक केवल परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ भर हैं, अन्ततः शिक्षा-संस्थाएँ बन सकें; वास्तव में भारत में उच्च शिक्षा को एक दिखावे के स्थान पर एक वास्तविकता बनाना।"

बंगाल में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बम्बई में सर पी० मेहता और श्री गोपाल

कृष्ण गोखले ने 'विश्वविद्यालय-विधेयक' का विरोध किया, परन्तु इनके विरोध का कोई फल न हुआ। सार्वजनिक विरोध की उपेक्षा कर वायसराय ने इस विधेयक को कानून बना दिया।

स्थानीय स्वायत्त-शासन—लॉर्ड कर्जन के जिस काम ने जनता में सबसे पहले उसके प्रति संदेह जगा दिया था, वह था कलकत्ता का 'नगरपालिका विधेयक' (Municipal Bill) जो अप्रैल १९०० में कानून बना। जनता को स्वायत्त-शासन की शिक्षा देने में लॉर्ड कर्जन की रुचि बहुत ही कम थी; कलकत्ते के 'नगरपालिका विधेयक' में कर्जन का हाथ होने के कारण जनता के मन में यह धारणा घर कर गई कि लॉर्ड कर्जन का स्थानीय शासन को जनता के हाथों सौंपने में कुछ भी विश्वास नहीं है। इस विधेयक में कार्य-कुशलता का बहाना लेकर ऐसी व्यवस्था बनाई गई थी जिससे कलकत्ते की नगरपालिका में यूरोपीय सदस्यों का स्थायी बहुमत हो जाय और निर्वाचित सदस्यों को नगरपालिका के कार्यों को प्रभावित करने का कोई अवसर न मिल सके। कालक्रम की दृष्टि से तो यह विधेयक तभी व्यवस्थापिका सभा के सामने आ चुका था, जब लॉर्ड कर्जन भारत में आया था। यह विधेयक सर ऐलेक्जेन्डर मैकेन्जी तथा लॉर्ड रिपन के विरुद्ध आन्दोलन करनेवालों की कृति था। लॉर्ड कर्जन ने पहले तो इस विधेयक को पसंद न किया; उसे जान पड़ा कि यह विधेयक 'कुछ तो भय में और कुछ क्रोध में' बनाया गया है। निर्वाचित सदस्यों को बनाये रखने के साथ-साथ वास्तविक नियन्त्रण एक ऐसी कार्यकारिणी-समिति को सौंप देना, जिसमें अधिकांश सदस्य अँगरेज हों, लॉर्ड कर्जन को 'एक भद्दा और शरारत भरा दुहरा शासन' जान पड़ा। लॉर्ड कर्जन ने इस विधेयक में परिवर्तन कर, इसको अन्तिम रूप दिया, जिसका परिणाम सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में यह हुआ कि कलकत्ता नगर में स्वायत्त-शासन ही समाप्त हो गया। इस विधेयक में अँगरेज सदस्यों का निश्चित बहुमत रखा गया था, २५ निर्वाचित सदस्यों को हटाकर और इनको मनोनीत सदस्य बनाकर, कॉर्पोरेशन का आकार घटा दिया गया, सभापति के पद पर भी एक सरकारी पदाधिकारी रखा गया; इस प्रकार 'नगरपालिका' एक 'ऐंग्लो-इंडियन-सभा' बन गई। भारतीय राजनीतिज्ञों ने इस विधेयक का प्रारम्भ से अन्त तक विरोध किया था। इसके विरोध में कलकत्ते में ऐसा उग्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, जैसा पहले कभी न हुआ था। जनता का वायसराय पर से विश्वास उठने लगा और १८९९ में कांग्रेस के प्रस्ताव में जनता की यह अविश्वास की भावना प्रकट हुई। इस प्रस्ताव में लॉर्ड कर्जन की नीति को स्थानीय स्वायत्त-शासन पर कुठाराघात करनेवाली बताकर निंदित किया गया था। इस विधेयक के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए २८ कमिश्नरों ने, जिनमें उस

समय के बड़े समझदार और प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित थे, अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये।

इस आन्दोलन के पृष्ठ-पोषक सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तब तक फिर कलकत्ता की नगरपालिका में प्रवेश नहीं किया, जब तक सन् १९२३ में लॉर्ड कर्जन की घातक व्यवस्थाएँ समाप्त न कर दी गईं। यह एक विचित्र ही घटना है कि मार्च १९२३ में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ही कलकत्ते के नगरपालिका-विधेयक में सुधार के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया। यह विधेयक कानून बन गया। इसके अनुसार कलकत्ता-नगर के प्रबन्ध में 'नगरपालिका' को फिर से सर्वोच्च अधिकार मिल गया और व्यवस्था की गई कि नगरपालिका के $\frac{4}{5}$ सदस्य निर्वाचित हों। नगर-पिता (Mayor) तथा कार्यकारिणी के प्रधान अधिकारी का भी कॉर्पोरेशन द्वारा चुनाव किया जाना था और तब सरकार की अनुमति से इनकी नियुक्ति होनी थी। इस विधेयक को प्रस्तुत करते हुए सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था, "सज्जनो, यह विधेयक मुझे व्यक्तिगत संतोष और गौरव प्रदान करता है। मुझे तो इसमें अपने जीवन के एक स्वप्न की पूर्ति दिखाई देती है।"

बंगाल का विभाजन (बंग-भंग)—३ दिसम्बर, १९०३ को वह प्रसिद्ध प्रस्ताव सामने आया, जिसके साथ बंग-भंग का इतिहास प्रारम्भ होता है। बंग-भंग के प्रस्ताव ने जनमत और विशेषतया बंगाल के जनमत एवं वायसराय के बीच एक कटु संघर्ष उत्पन्न कर दिया। सरकार की ओर से कहा गया कि इस प्रस्ताव में केवल शासन की सुविधा की दृष्टि से ही बंगाल के पुनर्विभाजन की व्यवस्था रखी गई है, परन्तु जनता को यह प्रस्ताव बंगाल की राजनीतिक एकता को भंग कर तथा हिंदुओं और मुसलमानों को परस्पर पृथक् कर नव-जागृत राष्ट्रीय चेतना पर, जिसका लॉर्ड कर्जन को पर्याप्त कटु अनुभव हो चुका था, कुठाराघात करने का एक प्रयत्न प्रतीत हुआ।

बंगाल के पुनर्विभाजन की योजना सरकारी मन्त्रालय में लॉर्ड कर्जन के आने के बहुत पहले से ही चल रही थी। पूर्वी बंगाल का कुशासन और बंगाल प्रान्त का अत्यधिक विस्तार, जो शासन-प्रवन्ध की दृष्टि से बहुत असुविधाजनक था, ये दो बातें बंगाल के विभाजन के पक्ष में सबसे अधिक तर्क-सम्मत थीं। आसाम के चीफ कमिश्नर सर विलियम वार्ड ने सन् १८९६ ई० में सुझाव दिया था कि चटगाँव, ढाका और मैमनसिंह को आसाम में मिला दिया जाय। परन्तु यह सुझाव सर विलियम वार्ड के उदारचेता उत्तराधिकारी सर हेनरी कॉटन के हाथों शीघ्र ही समाप्त होकर, सरकारी मन्त्रालय के किसी उपेक्षित भाग में किसी फाइल में बन्द हो गया। सर विलियम वार्ड के सुझाव के प्रति लॉर्ड कर्जन का ध्यान सन्

१९०१ में मध्य-प्रान्त के चीफ कमिश्नर सर एंड्रयू फ्रेजर की एक टिप्पणी ने आकर्षित किया। इस टिप्पणी में सुझाव दिया गया था कि हिन्दी के स्थान पर उड़िया को सम्भलपुर की अदालती भाषा बनाया जाय और सम्भलपुर को उड़ीसा में सम्मिलित कर लिया जाय तथा यह कार्य या तो सम्भलपुर को बंगाल की सरकार के अधीन रखकर या उड़ीसा को केन्द्रीय प्रान्तों में हस्तान्तरित कर किया जा सकता है। सर एंड्रयू की यह टिप्पणी सरकारी मन्त्रालय में चौदह महीनों तक भ्रमण करती हुई मई सन् १९०२ में लॉर्ड कर्जन के पास पहुँची। लॉर्ड कर्जन ने इस पर एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी लिख डाली, जो लाल फीतेशाही के अभिशापों को स्पष्ट करनेवाली अति श्रेष्ठ रचना है। उसने इस टिप्पणी में लिखा था, "लोग कभी-कभी पूछ बैठते हैं कि लाल फीतेशाही क्या है। ऐसा प्रश्न करनेवाले के सामने मैं उदाहरणस्वरूप इस घटना को रख देता हूँ। लालफीतेशाही कोई नैतिक दिवालियापन नहीं है। यह एक बौद्धिक विराम है; यह विचारणीय विषय के विशुद्ध विभागीय पक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर विचार अथवा ध्यान का पूर्ण अभाव है। पृथ्वी के दैनिक परिभ्रमण के समान यह फाइल भी शान से, गंभीरतापूर्वक, निश्चित ढंग से, मंद-मंद चक्कर काटती रही; और अब, उपयुक्त ऋतु में, इसने अपनी परिक्रमा पूर्ण कर ली है और अब मुझे इसके अन्तिम पड़ाव को अंकित करने के लिए आमन्त्रित किया गया है।"

वायसराय ने इस मिसिल को इस टिप्पणी के साथ लौटा दिया कि बरार के मध्य-प्रान्त में सम्मिलित किये जाने के प्रश्न के समय इस बात पर विचार किया जायगा।

इस बीच लॉर्ड कर्जन, शासन में कार्यक्षमता लाने के बहाने से किये गये अपने जन-तंत्र विरोधी कार्यों द्वारा जनमत के कोप का भाजन बन चुका था। उसने अपने शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों से और प्रान्तीय सेवाओं के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं (Competitive Examination) को बन्द कर, जिससे प्रान्तीय सेवाएँ ही समाप्त हो गईं, अपने उद्देश्यों के प्रति जनता में यथार्थ सन्देह उत्पन्न कर दिया था। इसी सन्देह का फल था कि जब बंगाल के विभाजन का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ तो यह एक ऐसे व्यापक और उग्र आन्दोलन का संकेत सिद्ध हुआ, जैसा आज तक न हुआ था। लॉर्ड कर्जन जन-आन्दोलन की उपेक्षा कर विभाजन की योजना को आगे बढ़ाता गया। इस योजना के सम्बन्ध में जनता के मत को उसने वस्तु-स्थिति के ठीक ज्ञान के अभाव और कुछ स्वार्थपरायण कुचक्रियों के प्रचार का परिणाम बताया। फरवरी १९०४ ई० में उसने विभाजन की योजना का अन्तिम प्रारूप (मसविदा) राज्य-सचिव के पास भेज दिया और राज्य-सचिव को लिख भेजा कि

इस योजना के पक्ष में जनमत में अभूतपूर्व एकता है। परन्तु 'जनमत' से या तो लॉर्ड कर्जन का अर्थ 'सरकारी मत' से था अथवा वह इँगलैण्ड के पदाधिकारियों को सर्वथा असत्य सूचना दे रहा था।

कर्जन की दृष्टि में विभाजन-विरोधी आन्दोलन का कुछ भी अर्थ न था। उसके विचार में तो यह आन्दोलन वस्तुस्थिति के अज्ञान का परिणाम था और कलकत्ता के वकीलों तथा समाचारपत्रों द्वारा उठाया गया था, क्योंकि एक नये प्रान्त के निर्माण से इन दोनों की आय पर आघात होता था। परन्तु इस बात पर विश्वास कर लेना बहुत कठिन है कि एक ऐसा आन्दोलन, जिसमें समस्त बंगाल एक होकर उठ खड़ा हुआ था, केवल कुछ स्वार्थपरायण व्यक्तियों ने अपने आर्थिक स्वार्थों के लिए ही चलाया था, जब कि स्थिति यह थी कि नये प्रान्त के न्याय-विभाग को कलकत्ता के उच्च न्यायालय के ही अधीन रखा गया था, जिससे कलकत्ता के वकीलों की आर्थिक हानि की कोई बात ही न उठती थी। परन्तु ब्रिटिश नौकरशाही का यही मत था। लोवट फ्रेजर के शब्दों में :—

"आन्दोलन ने लॉर्ड कर्जन को कटु बना दिया, उसकी घृणापूर्ण उपेक्षा ने जनता के क्षोभ को बहुत बढ़ा दिया; अनेक जन-सभाएँ की गईं और अनेक प्रार्थना-पत्र वायसराय के पास भेजे गये, परन्तु सब व्यर्थ हुए। नौकरशाही के लिए विनाशकारी हठ ने, उसकी स्पष्ट बुद्धि को दबा दिया। उसका पूर्वी बंगाल में ठहरना, इस विभाजन की योजना पर साम्प्रदायिक समर्थन प्राप्त करने के लिए उसका मुसलमानों की सभाओं में इस योजना के लाभों पर भाषण करना, ये सब बातें एक राजनीतिक आन्दोलनकर्ता की पद्धति थीं और भारत के वायसराय के गौरव एवं सम्मान के प्रतिकूल थीं। पूर्वी बंगाल में उसके भाषणों ने यह सन्देह उत्पन्न कर दिया, जो शीघ्र ही दृढ़ धारणा के रूप में परिणत हो गया कि यह विभाजन की योजना राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए प्रवाह को दबाने और हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध करने के लिए बनाई गई है; इस धारणा को नव-निर्मित प्रान्त के गवर्नर सर बम्फील्ड फुलर के मूर्खतापूर्ण उद्गारों से और भी समर्थन प्राप्त हुआ, जिसने घोषणा की कि "मेरी हिन्दू और मुसलमान दो पत्नियाँ हैं, परन्तु मुसलमान पत्नी मेरी चहेती पत्नी है।" संभव है, इन शब्दों में बम्फील्ड महोदय ने उपहास ही किया हो, परन्तु जनता की दृष्टि में तो ये शब्द सरकारी नीति व्यक्त करते थे।

१९ जुलाई, १९०५ को विभाजन का विस्तृत विवरण प्रकाशित हुआ। इस योजना के अनुसार "पूर्वी बंगाल तथा आसाम" नामक एक नया प्रान्त बनाया गया। इस नये प्रान्त में आसाम के अतिरिक्त बंगाल के चटगाँव, ढाका तथा राजशाही प्रदेश सम्मिलित किये गये। इसका क्षेत्रफल १०६,५४० वर्ग मील था

और इसकी जनसंख्या ३१ लाख थी, जिसमें १८ लाख मुसलमान और १२ लाख हिन्दू थे।

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं "नये प्रान्त के निर्माण की घोषणा बम के समान गिरी। हमने अनुभव किया कि हमारा अपमान किया गया है, हमें नीचा दिखाया गया है, हमारे साथ चाल चली गई है . . .हमने अनुभव किया कि बँगला भाषी जनता की बढ़ती हुई दृढ़ता एवं आत्मचेतना पर आघात किया गया है। हमने अनुभव किया कि मूलतः शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होने पर भी, इस योजना ने राजनीतिक रंग-ढंग अपना लिया था और यदि इसे स्वीकृत होने दिया गया तो यह हमारी राजनीतिक प्रगति एवं हिन्दू-मुसलमानों के उस निकट सम्पर्क के लिए, जिस पर भारतीय उन्नति का भविष्य इतना अधिक निर्भर करता है, घातक होगी।" ये थे उस देशभक्तों में अग्रणी, राजनीतिज्ञ एवं वक्ता के विचार, जिसने राष्ट्रीयता के शैशव-काल में इसके विकास में सहायता की थी और जनता को अपने अधिकारों के लिए लड़ना सिखाया था। अनुभव किया गया कि कोरे भाषणों और विरोध के प्रदर्शनों से सरकार को हिलाया न जा सकेगा; जनता की भावनाओं का कुछ अधिक व्यावहारिक प्रदर्शन आवश्यक समझा गया। इसी आवश्यकता ने स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के आन्दोलन को जन्म दिया। ये दोनों आन्दोलन प्रारम्भ में तो अस्थायी कार्य-साधक के रूप में अपनाये गये, परन्तु बाद में ये ही कांग्रेस के स्थायी शस्त्र बन गये, जिनसे उसने भविष्य में सरकार से युद्ध किया। स्वदेशी आन्दोलन का १७ अगस्त, १९०५ को कलकत्ता के टाउन-हाल में एक सार्वजनिक सभा में श्रीगणेश किया गया। १६ अक्टूबर को, जिस दिन सरकारी तौर पर बंगाल के विभाजन का उद्घाटन हुआ, उस दिन सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक-दिवस मनाया गया। लोगों ने सारा दिन उपवास किया, गंगा में स्नान किया, एक दूसरे के हाथ में एकता और भ्रातृत्व की प्रतीक रेशमी राखी बाँधी और 'वंदे मातरम्' के तुमुल नाद के साथ शपथ ली कि जब तक वंग-भंग की योजना समाप्त नहीं कर दी जाती, तब तक वे यथासंभव विदेशी वस्तुओं का परित्याग करेंगे। इस दिन से यह आन्दोलन सात वर्षों तक चलता रहा, जब कि सन् १९१२ में विभाजन में संशोधन कर दिया गया।

इस आन्दोलन की उग्रता से सरकार घबरा उठी और चिढ़ गई। सरकार का यह सरल विश्वास कि यह आन्दोलन कुछ स्वार्थ-परायण व्यक्तियों का खेल है, मिथ्या सिद्ध हुआ और जैसा कि नौकरशाही सरकार में सामान्यतः होता ही है, सरकार ने अपना क्रोध दमन के रूप में प्रकट किया। जिन स्कूलों और कॉलेजों ने अपने विद्यार्थियों को आन्दोलन में भाग लेने से न रोका, उन्हें धमकी दी गई कि

उनको सरकारी सहायता रोक दी जायगी। पूर्वी बंगाल की सरकार ने सार्वजनिक रूप से 'वंदे मातरम्' का उच्चारण अवैध घोषित कर दिया। इन सरकारी परिपत्रों (Circulars) की बुद्धिमानी के विषय में 'दि स्टेट्समैन' अँगरेजी समाचार-पत्र ने, जो प्रायः सरकार का पृष्ठपोषक था, लिखा कि "ब्रिटिश भारत के इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं आया जब सर्वोच्च सरकार ने सार्वजनिक-भावनाओं और मत की ऐसी उपेक्षा की हो, जैसी कि वर्तमान सरकार कर रही है। बंगाल के विभाजन की इस बात के सम्बन्ध में सार्वजनिक मत की शक्ति ध्यान देने योग्य रही है। यह वास्तव में अन्यथा हो भी नहीं सकती थी क्योंकि प्रस्तावित विभाजन में सम्बन्धित जिलों के न्यायोचित हितों का ध्यान रखने का दिखावा करते हुए भी, सरकार इसे भली भाँति समझती है कि इसकी योजना बंगाली जाति की दृढ़ता और बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति पर प्रत्यक्ष आघात है।" 'दि स्टेट्समैन' ने अपने इस लेख को इन शब्दों में समाप्त किया था "जैसे धर्म यातनाएँ पाकर और भी विकसित होते हैं ठीक वैसे ही राजनीतिक असंतोष का पोषण करने के लिए, सार्वजनिक मत की नियमित उपेक्षा से बढ़कर प्रभावकारी उपाय और कोई नहीं है।" लंदन के 'डेली न्यूज' समाचारपत्र ने तत्कालीन राज्य-सचिव श्री ब्रॉडरिक से बंग-भंग को रोकने की प्रार्थना की। श्री गोखले ने व्यवस्थापिका में अनुनय के स्वर में कहा "माई लॉर्ड, बंगाल को मना लीजिए।" कांग्रेस ने बंग-भंग को एक अखिल भारतीय समस्या बना दिया और बंगाल के विभाजन की नीति में उसे भारतीय राष्ट्रीयता को छिन्न-भिन्न करनेवाली "आपस में लड़ाओ और शासन करो" की उस नीति की प्रतिध्वनि सुनाई दी, जो भविष्य में सरकार की निश्चित नीति बननेवाली थी।

परन्तु प्रतिष्ठा की झूठी भावना बंग-भंग के दोष को सर्वथा समाप्त कर देने के मार्ग में बाधक बन गई और मॉर्ले ने, जो ब्रॉडरिक के पश्चात् राज्य-सचिव बना, यह समझते हुए भी कि विभाजन "जनता की इच्छाओं के विपरीत था" बंग-भंग को "व्यवस्थित तथ्य" (Settled fact) कहकर टाल दिया। परन्तु यही व्यवस्थित तथ्य बाद में लॉर्ड मैक्डॉनेल को "प्लासी के युद्ध के समय से की गई सबसे बड़ी भूल" जान पड़ा और दिसम्बर १९११ में राज्याभिषेक-दरबार के समय यह व्यवस्थित तथ्य, बंगाल-विभाजन में संशोधन कर विघटित कर दिया गया। इसी समय कलकत्ता के स्थान पर दिल्ली को राजधानी बनाया गया। लॉर्ड कर्जन की चार महान् उपलब्धियों में से एक का यह भाग्य रहा।

प्रान्तों को आर्थिक अधिकार सौंपना—लार्ड कर्जन की केन्द्रीकरण की नीति का एक अपवाद था प्रान्तों को आर्थिक अधिकार सौंपना। आर्थिक विषयों में

लार्ड कर्जन ने अपने पूर्ववर्ती वायसरायों की नीति का अनुकरण किया। परन्तु उसने १८८२ ई० की पञ्चवर्षीय-व्यवस्था के स्थान पर १९०४ ई० में 'अंशतः स्थायी व्यवस्था' प्रचलित कर, पञ्चवर्षीय व्यवस्था के दोषों को दूर करने की चेष्टा की। १९०४ ई० की व्यवस्था के अनुसार राजस्व में प्रत्येक प्रान्त का हिस्सा निश्चित हो गया और निश्चय किया गया कि प्रान्तों के हिस्से में न्यूनाधिकता या तो गम्भीर संकट काल में अथवा यह अनुभव हो जाने पर कि यह हिस्सा अपर्याप्त है, की जायगी। विशेष उद्देश्यों के लिए वार्षिक अनुदानों की व्यवस्था की गई। प्रान्तों की बचत को प्रान्तों के पास ही रहने देने का निश्चय किया गया। लॅार्ड कर्जन ने १८८२ ई० से चली आती हुई 'विभाजित विषयों' की पद्धति को जारी रखा। उसने प्रान्तीय बजटों अथवा नियुक्तियों पर भी केन्द्र का नियन्त्रण ज्यों का त्यों बना रहने दिया। तब भी उसकी आर्थिक योजना ने प्रान्तों की आर्थिक स्थिति को निश्चित कर दिया और मितव्ययिता को प्रोत्साहन दिया।

वैधानिक परिवर्तन—लॅार्ड कर्जन के समय में कोई महत्त्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन नहीं हुए। उसके शासन-काल की वैधानिक दृष्टि से ध्यान देने योग्य घटनाएँ हैं—कर्जन-किचनर मतभेद, रानी विक्टोरिया का देहान्त, दिल्ली-दरबार और १९०४ ई० का ऐक्ट, जिसके अनुसार वायसराय अपनी परिषद् में वाणिज्य-उद्योग-मन्त्री नियुक्त कर एक सदस्य बढ़ा सका; वाणिज्य-उद्योग के लिए १९०५ ई० में एक नया विभाग खोला गया।

२३ जनवरी सन् १९०१ के दिन भारत में रानी विक्टोरिया के देहान्त का समाचार पहुँचा। सारे देश में दिवंगत रानी के प्रति आदर और अनुराग तथा उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए सभाएँ हुईं। १८५८ ई० की घोषणा में समाई हुई हार्दिक सहानुभूति का स्मरण कर भारतीय जनता रानी विक्टोरिया के निधन पर शोकाकुल हो उठी। इस समय भारतीय जनता यही सोच रही थी कि यदि १८५८ ई० की घोषणा में दिये हुए वचन पूरे नहीं किये गये तो इसमें रानी विक्टोरिया का क्या दोष? दिवंगत रानी को अपनी अन्तिम श्रद्धांजलियाँ भेंट करने में सभी ने भाग लिया। लॅार्ड कर्जन की दृष्टि में दिवंगत रानी के प्रति जनता की भावनाओं का यह प्रकाशन साम्राज्य की दृढ़ता को पक्का करने का एक सुअवसर प्रदान करता था। उसने रानी विक्टोरिया के नाम को चिरस्मरणीय बनाने के लिए एक ऐसे स्मारक का निर्माण करने का और रानी विक्टोरिया के उत्तराधिकारी के राज्यारोहण की घोषणा को ऐसे रूप में उपस्थित करने का निश्चय किया कि जिसका भारतीय इतिहास पर अमिट चिन्ह अंकित हो जाय। उसने नये राजा को लिखा—"मैं नहीं जानता कि हिज मैजेस्टी के मन में थोड़े से समय के लिए भारत आने और

अपने आपको भारत के सम्राट् के रूप में अभिषिक्त कराने का विचार कभी आया है या नहीं। भारत में राज-भक्ति ऐसी फूट पड़ेगी, जैसी कि भारत ने इससे पहले कभी न देखी होगी और यह कार्य (हिज मैजेस्टी का भारत आना) राजनीतिक दृष्टि से अमूल्य सिद्ध होगा।" परन्तु हिज मैजेस्टी भारत न आ सका। इसलिए दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन कर उसके राज्याभिषेक का उत्सव मनाया गया। दिवंगत रानी के स्मारक के रूप में कलकत्ता में 'विक्टोरिया मैमोरियल हॉल' का निर्माण किया गया। और उसके उत्तराधिकारी के राज्यारोहण की घोषणा करने के लिए १९०३ ई० में दिल्ली में दरबार किया गया।

दरबार के समारोह ने तड़क-भड़क और शान-शौकत का प्रदर्शन करने का जो सुअवसर उपस्थित कर दिया था, वह लॉर्ड कर्जन के "जीवन के बाह्याडम्बर के प्रति हार्दिक प्रेम" की भावना को बहुत ही भाया और वह देश में महामारी तथा दुर्भिक्ष के होते हुए भी तथा विरोध और कटु आलोचनाएँ सहन करते हुए भी दरबार की तैयारियों में व्यस्त हो गया। भारतीय और अंग्रेज, दोनों के ही समाचारपत्रों में लॉर्ड कर्जन पर जो 'बाह्य प्रदर्शनों' में अपव्यय करने का दोष लगाया गया, उससे वह बहुत रुष्ट हो उठा। वह नहीं समझ पा रहा था कि लोगों की दृष्टि वैसी ही क्यों नहीं है जैसी उसकी है। समझदार व्यक्तियों को यह समझते देर न लगी कि इन बाह्य प्रदर्शनों के मूल में एक महान् साम्राज्यवादी उद्देश्य निहित था। लॉर्ड कर्जन ने घोषणा की कि "भारत में सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में एक महान् राजनीतिक प्रणाली के सर्वसामान्य साझेदार होने और ब्रिटिश साम्राज्य के सह-नागरिक होने की भावना जागृत हो।" सैनिक प्रदर्शनों के व्यय के अतिरिक्त दरबार में ८४,००० पौण्ड व्यय हुए। प्रान्तीय सरकारों का व्यय जो १,००,००० पौण्ड था, इससे बिल्कुल अलग था। बहुत मितव्ययिता करने पर भी इतनी विशाल धन-राशि खर्च हो गई। लॉर्ड कर्जन ने इन आलोचनाओं की तीव्र निन्दा की कि दिल्ली-दरबार एक प्रदर्शन-मात्र था और वायसराय के दम्भ तथा बाह्याडम्बर के प्रेम का परिणाम था। अपनी सफाई देते हुए लॉर्ड कर्जन ने कहा "आशा करता हूँ कि मैं न तो बाह्याडम्बर-प्रेमी हूँ और न स्वप्न-द्रष्टा ही। परन्तु मेरे लिए और मैं आशा करता हूँ कि हममें से अधिकांश के लिए, दरबार न तो कोई प्रदर्शन था और न जलूस। यह तो भारतीय जनता के इतिहास में एक विशिष्ट घटना और राज्य के कर्मकाण्ड में एक नया अध्याय था।"

लॉर्ड कर्जन की दृष्टि में दिल्ली-दरबार एक महान् सफलता थी। बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलंकारों से सजे हाथी पर सवार होकर वायसराय अपने आप को राजधानी में विजय-दुन्दुभि बजाकर प्रवेश करते हुए किसी मुगल सम्राट् से कम न

समझ रहा था। इससे उसकी अहंकार-तृप्ति की सीमा न रही। भयभीत देशी नरेशों को, जिसके प्रति लॉर्ड लिटन के समय के सामान्य शिष्टाचार भी प्रदर्शित न किये गये थे, यह दरबार अपना अपमान प्रतीत हुआ; उन्होंने दरबार में ब्रिटिश राज के प्रति अपना जो भक्ति-भाव प्रकट किया वह शुद्ध भावनाओं से प्रेरित न था, अपितु समझ-बूझ का फल था; वह हृदय की प्रेरणा न होकर बुद्धि का आदेश था। दर्शकों की दृष्टि में दिल्ली-दरबार लॉर्ड कर्जन के दम्भ का थोथा प्रदर्शन था, पश्चिम द्वारा की गई पूरब की एक भद्दी नकल थी। जनता सोच रही थी कि इस प्रदर्शन में जो धन पानी की तरह बहाया जा रहा है, वह किसी अधिक स्थायी कार्य में लगता तो कितना अच्छा होता। दिल्ली-दरबार का राजनीतिक महत्त्व, जिसका लॉर्ड कर्जन इतना ढोल पीट रहा था, कुछ भी न था। इससे ब्रिटिश शक्ति का प्रदर्शन अवश्य हुआ, परन्तु सन् १९०३ ई० में ऐसे प्रदर्शन की कुछ भी आवश्यकता न रह गई थी। जनता नित्य-प्रति ब्रिटिश शक्ति का अनुभव कर रही थी और वह भी ऐसे ढंग से जिससे वह इसे कभी भूल भी न सकती थी। १९०३ ई० के पश्चात् तो जनता को इसका और भी अनुभव होना था; परन्तु तब भी बहुत समय तक दरबारों की परम्परा चलती रही।

कर्जन-किचनर-मतभेद——लॉर्ड किचनर सन् १९०२ में प्रधान सेनापति बनकर भारत आया। इस पद के लिए वह दीर्घ काल से लालायित था। परन्तु शीघ्र ही प्रधान सेनापति की अस्पष्ट स्थिति तथा सेना के नियन्त्रण की द्विविधता के कारण उसे लॉर्ड कर्जन को स्पष्ट शब्दों में लिख देना पड़ा कि "मैंने प्रधान सेनापति बनकर भारत आने में शायद गलती की है; मुझे (वायसराय की परिषद् का) सैनिक-सदस्द बनकर आना चाहिए था।" तब सैनिक विषय दो व्यक्तियों के अधिकार में थे और ये दोनों ही वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्य थे। प्रधान सेनापति इस परिषद् का एक अतिरिक्त सदस्य था और सेना का प्रधान कार्यवाहक था। सैनिक सदस्य जिसके कर्तव्य प्रधानतः असैनिक होते थे इस परिषद् का एक सामान्य सदस्य था और यद्यपि वह पद में तथा विभागीय कार्यवाही में प्रधान सेनापति से निम्न श्रेणी का था तथापि सैनिक-प्रबन्ध में उसके आदेश सर्वोच्च माने जाते थे। किचनर के से स्वभाव के व्यक्ति के लिए यह बात असह्य थी; उसने इस व्यवस्था को "दोषपूर्ण, कार्य-क्षमता रहित और किसी महायुद्ध के लिए आवश्यक विस्तार के अयोग्य" बताया। किचनर के विचार से महायुद्ध छिड़ने वाला था, क्योंकि इस समय रूस की ओर से भय बढ़ने लगा था। किचनर ने वायसराय को लिखा :—

"इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमें सीमा पर किसी बड़े युद्ध का सामना करना

पड़ा तो हमें भयंकर क्षति सहन करनी पड़ेगी। जिस प्रणाली में यातायात, रसद, घोड़ों का विभाग तथा युद्ध-सामग्री सेना के कार्य-संचालक-विभाग के नियन्त्रण से पूर्णतः अलग रखे गये हों, वह ऐसी है जो युद्ध के छिड़ते ही (सैनिक-व्यवस्था का) पूर्णतया पुनः संघटन प्रारम्भ करने में देर लगा देगी।"[1] किचनर ने शीघ्र ही सैनिक-प्रवन्ध के सुधार के लिए अपने प्रस्ताव प्रस्तुत किये। इनमें माँग की गई कि सेना का दुहरा नियन्त्रण समाप्त किया जाय और समस्त सैनिक-प्रवन्ध एक ही व्यक्ति के हाथ में रखा जाय जो 'प्रधान सेनापति और (वायसराय की कार्य-कारिणी) परिषद् का युद्ध-सदस्य' हो।

१९०५ ई० में जब राज्य-सचिव ने सैनिक-नियन्त्रण का प्रश्न भारत-सरकार के विचार के लिए भेजा, तब इस मतभेद ने जोर पकड़ा। सारे मामले पर परिषद् में विचार किया गया और लॉर्ड कर्जन ने परिषद् के विचारों को लेख-बद्ध कर एक विवरण-पत्र राज्य-सचिव को भेज दिया; किचनर ने इस विवरण-पत्र के साथ अपनी अस्वीकृति की एक संक्षिप्त टिप्पणी जोड़ दी। किचनर ने सैनिक-प्रबन्ध के लिए तीन सिद्धान्तों को आधारभूत मान लिये जाने पर जोर दिया :—

(१) सैनिक विषयों का दुहरा नियन्त्रण और सेना के कार्यालयों में कार्य का द्विगुणित किया जाना बन्द किया जाय।

(२) सैनिक सलाहकार की वायसराय और भारत-सरकार तक सीधी पहुँच हो; इनके बीच में कोई अन्य स्वतन्त्र सैनिक अधिकारी न हो, जिसके कारण सैनिक सलाहकार के सुझाव सदैव गलत रूप में उपस्थित किये जाते रहे हैं।

(३) सैनिक-नियन्त्रण का अधिकार भारत-सरकार और वायसराय की अधीनता में ऐसे व्यक्ति को सौंपा जाय जिस पर सैनिक विषयों का उत्तर-दायित्व हो।

लॉर्ड रावर्ट्स ने भी दुहरे शासन को सेना की कार्य-क्षमता के लिए हानिकर समझा। उसने कहा कि सैनिक प्रवन्ध की वर्तमान प्रणाली केवल वोझिल, ढीली-ढाली और उलझी हुई ही नहीं है, अपितु इसके दोष बहुत बढ़ भी गये हैं। लॉर्ड कर्जन ने सैनिक-प्रवन्ध प्रणाली में कुछ संशोधनों को स्वीकार करने में अपनी सहमति प्रकट करते हुए भी तत्कालीन प्रणाली का समर्थन किया। वायसराय ने किचनर के प्रस्तावों का दो कारणों से घोर विरोध किया; एक तो उसका मत था कि एक ही व्यक्ति के लिए प्रधान सेनापति और सैनिक-सदस्य के कर्तव्यों का निर्वाह करना

---

१ सर जार्ज आर्थर "लाइफ आफ किचनर" भा० २, पृष्ठ २००। कर्जन-किचनर-मतभेद का पूर्ण विवरण इस पुस्तक में है।

असम्भव है और दूसरे इन दोनों पदों (प्रधान सेनापति एवं सैनिक-सदस्य) को एक व्यक्ति में निहित कर देने से भारत-सरकार के समस्त सैनिक अधिकार एक ही व्यक्ति में केन्द्रित हो जायेंगे और इस प्रकार प्रधान सेनापति निरंकुश बन जायगा।

तत्कालीन सैनिक-सदस्य सर एडमण्ड ऐलिस ने एक विवरण-पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया था :—

(१) अनुभव द्वारा वे दोष प्रमाणित नहीं होते जो सैनिक-प्रबन्ध की प्रचलित प्रणाली पर लगाये गये हैं।

(२) उसके विभाग और प्रधान सैनिक-कार्यालय में निकट सम्पर्क स्थापित हो सकता है, यदि प्रधान सेनापति स्वच्छ और स्पष्ट हृदय से परिषद् सहित गवर्नर-जनरल की अधीनता स्वीकार कर ले।

(३) कानून के अनुसार सैनिक-सदस्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य परिषद् सहित गवर्नर-जनरल का ही कार्य है।

ये तर्क राज्य-सचिव को न जँचे। लॉर्ड कर्जन का यह तर्क कि किचनर द्वारा सुझाई गई प्रणाली में प्रधान सेनापति को इतने अधिक कर्तव्य सौंप दिये जायँगे जितने एक व्यक्ति नहीं निभा सकता, इँगलैण्ड में भारत-सरकार के अधिकारियों को पसन्द न आया। फिर भी लॉर्ड कर्जन अपनी इस धारणा पर दृढ़ रहा कि पर्याप्त सूझ-बूझ और सद्भावना से काम लेने पर प्रचलित प्रणाली बड़े प्रभावकारी और सुचारु ढंग से चलाई जा सकती है।

इँगलैण्ड में अधिकारी वर्ग के सामने सारी समस्या यह थी कि कर्जन एवं किचनर में से किसको उसके पद पर बनाये रखा जाय, क्योंकि यह निश्चित था कि इन दोनों में से जिसके भी सुझावों को अमान्य किया जायगा, वह अवश्य पद-त्याग कर देगा। अधिकारी वर्ग के साथ कर्जन के सम्बन्धों में पहले से ही तनाव आ गया था। उधर किचनर बहुत लोक-प्रिय था। भारत की रक्षा के लिए उसकी सेवाओं की आवश्यकता थी। इसलिए लॉर्ड कर्जन को ही विदा लेनी पड़ी। यह थी उस समय इँगलैण्ड के अधिकारी वर्ग की मनःस्थिति जिसके सामने उन्होंने समस्या के शासन-सम्बन्धी तथा वैधानिक पक्षों को भुला दिया।

राज्य-सचिव श्री ब्रॉडरिक ने कर्जन-किचनर में समझौता कराने का प्रयत्न किया। उसने यह सुझाव दिया कि विशुद्ध सैनिक विषयों का अधिकार प्रधान सेनापति को सौंपा जाय और सैनिक-सामग्री के प्रबन्ध का कार्य सैनिक-सदस्य के हाथ में रखा जाय तथा उसे सैनिक-सप्लाई का अधिकारी सदस्य समझा जाय। इँगलैण्ड की मन्त्रि-परिषद् (Cabinet) ने भी यह सुझाव मान लिया था।

इस समझौते की सर्वप्रथम प्रतिक्रिया लॉर्ड कर्जन पर यह हुई कि वह पद-त्याग

की इच्छा करने लगा। परन्तु सर डैन्जिल इवटसन के समझाने-बुझाने से उसने कुछ संशोधन प्रस्तुत किये, जिनका किचनर ने भी समर्थन किया। कर्जन के प्रस्तावित संशोधनों के अनुसार नवीन सैनिक-सप्लाई सदस्य वायसराय को बिना किसी भेदभाव के सभी सैनिक-विषयों पर परामर्श दे सकता था। इँगलैण्ड की मन्त्रि-परिषद् ने कर्जन के संशोधनों को स्वीकार कर लिया, परन्तु शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि मन्त्रि-परिषद् ने कर्जन के संशोधनों को उस रूप में ग्रहण नहीं किया था, जिस रूप में कर्जन चाहता था। कर्जन जनरल बारो को नवीन सैनिक-सप्लाई सदस्य के रूप में चाहता था, परन्तु राज्य-सचिव ने कर्जन का यह प्रस्ताव अमान्य कर दिया। वह एक ऐसे व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करना चाहता था जिसको सप्लाई के कार्य का व्यावहारिक अनुभव हो। इस समय तक लॉर्ड कर्जन भली भाँति समझ चुका था कि अधिकारी वर्ग की दृष्टि में अब उसकी आवश्यकता नहीं रह गई है; इसलिए उसने अगस्त १९०५ में पद-त्याग कर दिया। लॉर्ड मिण्टो ने कर्जन का पद-भार ग्रहण किया, परन्तु अभी वह सैनिक-व्यवस्था के संशोधनों को कार्यान्वित भी न कर पाया था कि इँगलैण्ड में उदार-दल पदारूढ़ हो गया और लॉर्ड मॉर्ले राज्य-सचिव बना। लॉर्ड मॉर्ले ने नई सैनिक-व्यवस्था को अमान्य कर दिया, क्योंकि इससे असैनिक (Civil) शक्ति की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आघात होता था। उसने प्रस्तावित सैनिक-व्यवस्था में नये संशोधन किये, जो मार्च १९०६ में कार्यान्वित हुए।

मॉर्ले की सैनिक-व्यवस्था के अनुसार सैनिक-विभाग को समाप्त कर इसके स्थान पर दो नये विभाग बनाये गये; एक विभाग का नाम सेना-विभाग (Army Department) रखा गया और यह प्रधान सेनापति की अधीनता में रहा; प्रधान सेनापति भारतीय सेना के शासन के लिए परिषद् सहित गवर्नर-जनरल के समक्ष उत्तरदायी बनाया गया; दूसरे विभाग का नाम सैनिक-सप्लाई विभाग (Military-Supply Department) रखा गया और यह सप्लाई-सदस्य के अधीन रहा।

कर्जन ने किचनर के प्रस्तावों की कितनी सही आलोचना की थी, यह बात महायुद्ध के समय मैसोपोटामिया की सैनिक-कार्यवाहियों में हुए भ्रष्टाचार ने सिद्ध कर दी। मैसोपोटामिया-सम्बन्धी जाँच-समिति ने लिखा था कि "यह स्पष्ट है कि युद्ध के समय भारत में प्रधान सेनापति तथा सैनिक-सदस्य के कर्तव्यों का निर्वाह एक ही व्यक्ति द्वारा ठीक-ठीक नहीं हो सकता और वर्तमान (सैनिक-) व्यवस्था ऊपर से जो अत्यधिक केन्द्रीभूत है तथा नीचे दुहरे प्रबन्ध के कारण बोझिल है।"

वायसराय के रूप में लॉर्ड कर्जन की समीक्षा—लॉर्ड कर्जन ने दिसम्बर १८९८ ई० में भारतीय तट पर पदार्पण किया था और नवम्बर १९०५ में उसने भारतीय तट से विदा ली। जिस जनता पर वह शासन करने के लिए भेजा गया था, उसने उसके आगमन और प्रत्यावर्तन दोनों का ही स्वागत किया। उसके आगमन से जनता में नई आशाएँ तथा आकांक्षाएँ जागृत हुई थीं। उसके प्रत्यावर्तन से सबको, यहाँ तक कि उसके सहयोगियों तथा अधीन कर्मचारियों को भी, विश्राम मिला। लॉर्ड कर्जन के प्रभावशाली व्यक्तित्व, अपूर्व कार्य-शक्ति तथा अपने आदर्शों के अनुसार वस्तु-स्थिति में सुधार करने की प्रबल इच्छा में किसी को सन्देह का अवकाश नहीं है। नैपोलियन के प्रति लॉर्ड रोजबेरी के ये शब्द उसके लिए भी न्यायपूर्वक कहे जा सकते हैं कि "राज्य के सभी कार्यालयों की वह सभी बातें जानता था, सभी बातों में पथ-प्रदर्शन करता था, सभी को प्रेरणा प्रदान करता था।" शासन के प्रत्येक विभाग ने कर्जन की अद्भुत कार्य-क्षमता का अनुभव किया था; उसकी जागरूक दृष्टि से कुछ भी छिपा न रहता था, यहाँ तक कि परिषद् के सदस्यों की वेश-भूषा पर भी उसकी दृष्टि पहुँची थी। इस सम्बन्ध में उसने एक बार लिखा था कि "परिषद् के सदस्यों की वेश-भूषा इँगलैण्ड में लार्ड चैम्बरलेन द्वारा प्रचारित नियमों से अनुशासित है और मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता कि जो प्रधान कर्मचारी वर्षों तक घुटनों तक की ब्रिजिशों (Breaches) तथा मोजों (Stockings) से बचते रहे हैं, वे अब कम हानिकर परन्तु नियम-रहित पतलूनों (trousers) की शरण क्यों लें।" कर्जन का अविश्रान्त परिश्रम, उसका समस्त शासन-सूत्रों को अपने ही हाथों में ग्रहण करने का प्रयत्न, उसके कार्यों से जनता में उत्पन्न असंतोष तथा अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में उसे विफलता का जो कटु अनुभव हुआ, ये सब बातें औरंगजेब का स्मरण कराती हैं; अन्तर इतना ही था कि मुगल-समाट् औरंगजेब कर्जन के समान प्रभुत्व के बाह्याडम्बर का प्रेमी न था। कर्जन स्वभाव से ही हठी था; वह निरंकुश बनना पसन्द करता था और उसे अपने विशेषाधिकारों तथा पदोचित गौरव का अत्यधिक ध्यान रहता था। वह न तो अपनी बात का विरोध सहन कर सकता था और न दूसरे के मनोभावों को समझ पाता था। उसका अहंकार सदैव उसके सिर पर सवार रहता था; उसने उसको नव-जागृत राष्ट्रीय चेतना के प्रति अन्धा बना दिया था, उसमें एक युग-निर्माता का दम्भ भर दिया था, उसको उद्दण्ड और हठी बना दिया था और ऐसी जनता पर शासन करने के अयोग्य बना दिया था, जिसमें नव-जीवन एवं नवीन आशाओं का स्पन्दन हो रहा था। 'मैं गलती नहीं कर सकता, मैं सबसे अधिक जानता हूँ'—यह धारणा उसके लिए बहुत घातक सिद्ध हुई और यही उसकी विफलताओं का कारण

बनी। वह समझता था कि विधाता ने भारतीयों को ब्रिटेन के संरक्षण में सौंप दिया है और ब्रिटेन ने १८९९-१९०५ ई० तक के लिए भारत का संरक्षण उसको सौंप दिया था। फरवरी १९०३ में 'चेम्बर आफ कॉमर्स' (Chamber of Commerce) में भाषण देते हुए उसने कहा था कि "यदि मुझे यह प्रतीत होता कि हम एक उच्चतर विधान और महान् उद्देश्य का अनुवर्तन करते हुए यहाँ भारत की भलाई के लिए कार्य नहीं कर रहे हैं,तो मैं इंगलैण्ड और भारत को जोड़नेवाली कड़ी को खेद रहित होकर टूटते हुए देखना चाहता। परन्तु क्योंकि मैं इस देश के भविष्य में और अपनी जाति की इस देश को ऐसे लक्ष्य तक ले चलने की क्षमता में विश्वास करता हूँ, जहाँ तक यह देश पहले कभी न पहुँच पाया था, इसलिए मैं धैर्य बनाये हुए हूँ और आगे बढ़ता जा रहा हूँ।" यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी धारणाओं के सम्मुख भारतीय जनमत को कोई स्थान न मिल सका। अपने दम्भ के कारण लॉर्ड कर्जन भारतीय जनमत को कुचत्रियों की करतूत समझता रहा, जिसके कारण गोखले ने उस पर भारतीय जनमत को नियमित रूप से कुचलने का दोषारोपण किया। शिक्षित भारतीय उसकी दृष्टि में घृणा के पात्र थे; वह समझता था कि कांग्रेस लड़खड़ाकर गिरनेवाली है। उसने एक बार कहा था कि "भारत में रहते हुए मेरी एक महान् आकांक्षा यह है कि मैं कांग्रेस के शान्तिपूर्वक समाप्त हो जाने में सहायता करूँ।" लॉर्ड कर्जन की ऐसी मनःस्थिति का यह एक स्वाभाविक परिणाम था कि उसके कार्यकाल में भारतीयों को न तो कोई राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं और न सरकारी सेवाओं में ही भारतीयों ने कोई उन्नति की। नवम्बर १९०५ में भारत से विदा होते समय लॉर्ड कर्जन ने बम्बई में अपने भाषण में कहा। "मैंने भारतीयों को राजनीतिक सुविधाएँ इसलिए नहीं दी हैं, क्योंकि मैं ऐसा करना भारत के हित में न तो बुद्धिमानी समझता था और न राजनीति-कुशलता ही। इस या उस परिषद् में कुछ थोड़े से सक्रिय अथवा वाक्पटु व्यक्तियों के लिए अधिक स्थान जुटा देने से रैयत का कोई लाभ न होगा।" आगे उसने कहा कि जब-जब उन लोगों ने मेरी आलोचना की जो अपने आपको भारतीय जनता के विचारों का प्रतिनिधि बताते थे, तो मुझे उनकी आलोचनाओं से कोई क्षोभ और दुःख नहीं हुआ, "क्योंकि मैं अपने अन्तःकरण को टटोलता था और अपने आपसे पूछता था कि वास्तविक भारतीय जनता कौन है।" कर्जन अपने आपको भारत का संरक्षक-देवदूत समझ बैठा था और वह अपने आपको ही भारतीय जनता का यथार्थ प्रतिनिधि समझता था। अपनी इन भावनाओं के कारण ही उसने भारत में निरंकुश शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया और इन्हीं के कारण वह विफल भी हुआ। लॉर्ड कर्जन यह न समझ पाया कि १८९९ ई० में निरंकुश शासन के लिए कोई स्थान न रह गया था।

कर्जन के भाषणों, पत्रों तथा कार्यों के अध्येता को उसके कथनों और कार्यों में जो स्पष्ट विरोध दिखाई देता है उसका रहस्य भी उसकी इन्हीं भावनाओं में छिपा है।

सन् १९०० में बम्बई की कार्पोरेशन (Corporation) में भाषण देते हुए उसने कहा था कि "मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता कि अन्य देशों के समान भारत में भी नौकरशाही सरकार जन-मत से क्यों लाभ न उठाये। सरकारी कार्यालयों की समझ इतनी ऊँची उठी हुई नहीं है कि वह इस प्रकार की प्रेरणा और मार्ग-प्रदर्शन की भी अपेक्षा न रखती हो। सचमुच ही, जहाँ सरकार की आलोचना की जाती है, वहाँ मैं यह धारणा नहीं बना लेता कि आलोचक अवश्य ही गलती कर रहा है, अपितु मैं सोचता हूँ कि आलोचक का सही होना सर्वथा सम्भव है।" कहने को तो कर्जन ने यह कह दिया, परन्तु व्यवहार में उसने कभी किसी आलोचक की बात पर ध्यान न दिया था; वह सदैव यही समझता रहा कि आलोचक निश्चय ही भूल कर रहा है। नगरपालिकाओं के सम्बन्ध में उसकी नीति, उसकी शिक्षा-सम्बन्धी नीति, उसकी बंगाल के विभाजन की योजना, उसका 'आफिशियल सीक्रेट ऐक्ट' (सरकारी कार्यालयों की बातों को गुप्त रखने का विधान), उसका प्रान्तीय सेवाओं के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं को बन्द करना—इन सब बातों की जनमत ने तीव्र आलोचना की थी, परन्तु वह सदैव इस आलोचना की पूर्णतया उपेक्षा करता रहा। कर्जन की सबसे बड़ी दुर्बलता थी दूसरों के विचारों को समझने की क्षमता का अभाव और उसका सबसे बड़ा दोष था उसका हठ, जिसके कारण वह भारत और इँगलैण्ड दोनों में ही अपनी लोकप्रियता से हाथ धो बैठा। प्रारम्भ में अपने अधिकारी वर्ग के साथ उसके सम्बन्ध बड़े स्नेहपूर्ण थे, परन्तु शीघ्र ही इनमें तनाव उत्पन्न हो गया और यह इतना बढ़ा कि उसे पद-त्याग करना पड़ा। अपने सहयोगियों तथा अधीन कर्मचारियों के साथ उसका सम्बन्ध कभी स्नेहपूर्ण नहीं रहा; वे उसकी प्रशंसा अथवा सम्मान करने की अपेक्षा उससे भयभीत ही रहते थे। भारतीय नेताओं के साथ प्रारम्भ में उसके सम्बन्ध बड़े स्नेहपूर्ण थे, परन्तु शीघ्र ही इनमें परस्पर घृणा उत्पन्न हो गई और डा० रासविहारी घोष को कहना पड़ा कि "उसे जो काम बनाने चाहिए थे, उन्हें उसने बिगाड़ कर छोड़ा और उसने वे सब बातें कीं जो उसे न करनी चाहिए थीं।" उसने जो कुछ किया, वह हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। उसका लक्ष्य था कार्य-क्षमता-हीन नौकरशाही को यथासम्भव लाभकारी निरंकुश-शासन में ढालना, भारत पर स्थायी रूप से इँगलैण्ड का सिक्का बैठा देना, भारत की जनता के लिए नहीं अपितु भारत की सरकार के लिए स्वायत्त-शासन प्राप्त करना, जनता की दशा में सुधार करना और शिक्षित भारतीयों में विकसित होती हुई नवीन राष्ट्रीय चेतना को कुचलना। इसीलिए उसने शासन के केन्द्रीकरण का

प्रयत्न किया, इँगलैण्ड में अधिकारी वर्ग के समक्ष भारत-सरकार का पक्ष-समर्थन किया, कृषि में सुधार किये, कार्यक्षमता की आड़ में उच्च शिक्षा पर कुठाराघात किया और सार्वजनिक विरोध की उपेक्षा कर बंगाल का विभाजन किया।

इतिहास में कर्जन से बढ़कर और कोई ऐसा उदाहरण मिलना कठिन है, जहाँ कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने ही तेज के कारण नष्ट हुआ हो। उसकी बौद्धिक शक्तियों के प्रशंसक श्री गोपाल कृष्ण गोखले ठीक ही कहते थे कि देवताओं ने उसे सहानुभूतिपूर्ण हृदय से वञ्चित रखा था, जिसके अभाव में उसका भारतीय कार्य-काल इतना विफलतापूर्ण बना।

उन्नीसवाँ अध्याय

दमन और सुधार; १९०५-१९१९

लॉर्ड मिण्टो १९०५—१९१०
लॉर्ड हार्डिंज १९१०—१९१६
लॉर्ड चेम्सफोर्ड १९१६—१९२१

१९०५ से १९१९ तक के काल का इतिहास राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन और नरम दल के नेताओं को शान्त कर ब्रिटिश-राज के प्रति उनकी राजभक्ति जीतने के लिए किये गये सुधारों की कहानी है। सन् १९०५ से भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के इतिहास में एक नये युग का श्रीगणेश हुआ। इस युग में उग्र राष्ट्रीयता की भावना बलवती हो उठी और उग्र राष्ट्रीयतावादियों को एक ओर स्वदेशी नरमदलीय लोगों से लड़ना पड़ा तो दूसरी ओर विदेशी साम्राज्यवाद से टक्कर लेनी पड़ी। इस युग में बमों और पिस्तौलों से लड़नेवाले क्रान्तिकारी दल का जन्म हुआ। इसी युग में मुसलमानों में साम्प्रदायिकता की विषैली भावना जागृत हुई।

लार्ड कर्जन की देन—लॉर्ड कर्जन शासन-तन्त्र को बुरी तरह कस गया था। उसके कार्यों से जनता क्षुब्ध अवश्य थी, परन्तु निराश न हुई थी; वह क्रुद्ध अवश्य थी, परन्तु हताश न हुई थी। जन-नायक अपने-अपने विचारों और धारणाओं के अनुसार कार्य कर रहे थे और देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील थे। जिस वर्ष लॉर्ड कर्जन ने भारत से विदा ली उसी वर्ष एक नये आदर्श और नई कार्य-पद्धति के साथ उग्र दल का उदय हुआ। यह कोई आकस्मिक घटना न थी। सन् १९०५ में रूस पर जापान की विजय ने यूरोपीय राष्ट्रों की अजेयता के आतंक को दूर कर दिया था। जापान के अभ्युदय को देखकर भारत के जन-नायक भी अपने देश के पिछड़ेपन के कारणों की खोज करने लगे थे। उन्हें प्रतीत हुआ कि इसका मूल कारण दरिद्रता है और दरिद्रता विदेशी शासन का परिणाम है। अब भारत के लोक-नायकों के सामने एकमात्र समस्या यह थी कि देश को विदेशी शासन से कैसे मुक्त किया जाय। उग्र दल का तर्क था कि अँगरेजों ने शक्ति से भारत को विजय किया है, इसलिए शक्ति से ही भारत को उनके शासन से मुक्त किया जा सकता है। इस दल का विचार था कि प्रतिवर्ष सामयिक समस्याओं पर प्रस्ताव पास कर देने भर से

कोई लाभ न होगा। प्रस्ताव पास करने को यह दल 'राजनीतिक भिखमंगापन' कहकर निंदित करने लगा।

यह थी लॉर्ड मिण्टो को लॉर्ड कर्जन की देन। नवम्बर, १९०५ में लॉर्ड कर्जन ने भारत से विदा ली। उस समय उसकी दशा एक हताश व्यक्ति की सी थी; अपने ही देश के मंत्रिमंडल ने उसको हतोत्साह किया था; जिस जनता की प्रसन्नता के लिए उसे भेजा गया था, उसी की घृणा लेकर वह लौट रहा था; उसके सहयोगी और अधीन कर्मचारी उस पर श्रद्धा या प्रेम रखने की अपेक्षा उससे भयभीत ही रहे थे। भारत से विदा होते समय उसका मानसिक सन्तुलन इतना बिगड़ गया था कि वह राजकीय जीवन के सामान्य शिष्टाचारों का भी पालन न कर सका। राजभवन में नवागंतुक लॉर्ड मिन्टो का स्वागत लेडी कर्जन तथा अन्य व्यक्तियों ने किया। लॉर्ड कर्जन बाद में वहाँ "एक शिकार खेलने के समय के कोट और स्लीपर (चट्टियाँ) पहनकर" उपस्थित हुआ। लॉर्ड मिन्टो का स्वागत अत्यन्त अपमानपूर्ण ढंग से किया गया; आनेवाले वायसराय के स्वागत में जो-जो समारोह मनाये जाने की प्रथा थी, लॉर्ड कर्जन ने उन सबको रोक दिया था; नये वायसराय के पहुँचने पर राजभवन की सीढ़ियों पर जो पारस्परिक शिष्टाचार होते हैं, वे भी लॉर्ड मिण्टो के आगमन पर न किये गये, यहाँ तक कि उसके स्वागत के लिए सेनाएँ भी आगे न आईं। इन सब बातों से पता चलता है कि भारत को हमेशा के लिए छोड़ते समय कर्जन के मन की क्या दशा थी।

मिण्टो मूलतः एक सैनिक था; किसी भी दल के प्रति उसका कोई विशेष झुकाव न था। उसको अनुदार दल ने मनोनीत किया था; परन्तु जब सन् १९०५ में कैम्बल-बैनरमैन के प्रधान मंत्रित्व में उदार दल पदारूढ़ हुआ तो मिंटो की उदार दल के साथ भी खूब बन गई। अब लॉर्ड मॉर्ले ने राज्य-सचिव का पद ग्रहण कर लिया था। मिण्टो को शासन का अनुभव मुख्यतया कनाडा के गवर्नर-जनरल के पद पर कार्य करने में हुआ था। कनाडा एक स्व-शासित उपनिवेश है और वहाँ गवर्नर-जनरल के अधिकार वैधानिक रूप से निश्चित सीमा में बाँध दिये गये हैं। मिण्टो ने वहाँ कभी अपने वैधानिक अधिकारों की सीमा का उल्लंघन न किया था; यह संभवतः उसका सबसे बड़ा गुण था। कनाडा में मिण्टो ने लड़ाकू दलों को शान्त करने में बहुत निपुणता दिखाई थी; इसलिए अनुदार-दल ने उसको भारत के वायसराय के पद के लिए इस आशा से मनोनीत किया था कि वह कर्जन के बनाये हुए शासन-तन्त्र को ज्यों का त्यों रखते हुए उन लोगों को मना लेगा जिन्हें कर्जन ने रुष्ट कर दिया था। इँगलैण्ड से रवाना होते समय मिण्टो का भी शासन-तन्त्र में हेर-फेर करने का कोई विचार न था। अक्तूबर, १९०५ में अपनी बिदाई में दिये

गये एक भोज में भाषण देते हुए उसने अपनी नीति एक बड़ी सुन्दर उपमा द्वारा स्पष्ट की थी। उसने कहा था "अपने घुड़दौड़ के दिनों में मैंने सीखा है कि बहुत-सी दौड़ें घोड़े को सरपट दौड़ के बीच-बीच में थोड़ा विश्राम देने से जीती गई हैं।" परन्तु भारत में पहुँचने के बाद एक वर्ष में ही उसे पता लग गया कि जीतने की दिशा वह नहीं है जिस ओर कर्जन ने अपना घोड़ा दौड़ाया था और यदि दौड़ जीतनी है तो घोड़े को कर्जन की विपरीत दिशा में दौड़ाना होगा; सहानुभूति और समझौते का, सुधारों एवं विकेन्द्रीकरण का मार्ग अपनाना होगा; भारत के रजवाड़ों और जनता की क्षुब्ध भावनाओं को शान्त करने के लिए सहानुभूति और समझौते से काम लेना होगा, जो लोग अभी भी अपने पक्ष में किये जा सकते हैं उन्हें मनाने के लिए सुधार करने होंगे और केन्द्रीय सरकार के अत्यधिक बोझ को हल्का करने के लिए विकेन्द्रीकरण करना होगा।

मिण्टो और मॉर्ले—राज्य-सचिव मॉर्ले के रूप में मिण्टो को एक योग्य सहकारी मिल गया था, यद्यपि कभी-कभी मॉर्ले का आचरण तानाशाहों जैसा भी हो जाता था। मॉर्ले को भी यह समझते देर न लगी थी कि भारतीय जनता के असंतोष को दूर करना आवश्यक है। प्रारम्भ के कुछ वर्षों में मिण्टो-मॉर्ले का सम्बन्ध बड़ा स्नेहपूर्ण रहा और मिण्टो मॉर्ले से बहुत स्नेह करने लगा। मिण्टो ने अपने भाई आर्थर को एक पत्र में लिखा था कि "जहाँ तक मॉर्ले का सम्बन्ध है, मैं उसे बहुत चाहता हूँ। उसके पत्र मुझे बहुत आनन्द प्रदान करते हैं और उसे खो देना मेरे लिए बहुत बड़ी हानि होगी। मैं उसे अपना बहुत बड़ा मित्र समझता हूँ।" परन्तु जैसे-जैसे वर्ष बीतते गये, मॉर्ले की निरंकुश-प्रियता और शासन की छोटी से छोटी बातों में हस्तक्षेप करने की आदत मिण्टो को बहुत परेशान करने लगी और उसे लिखना पड़ा "मैं समझता था कि राज्य-सचिव का कार्य भारतीय नीति के प्रमुख सिद्धान्तों का निर्देश करना है और देश का शासन करने का काम भारत-सरकार का है; परन्तु (मैं देखता हूँ कि) प्रत्येक बात में हस्तक्षेप किया जा रहा है और इसका परिणाम हो रहा है वायसराय के लिए अत्यधिक परेशानी, क्योंकि राज्य-सचिव चाहे जो भी करे, वह भारत का शासन नहीं कर सकता।" इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अपने ऐसे स्वभाव के कारण मॉर्ले के विषय में कहा जाता था कि "व्हाइट हॉल में आज तक इतना अधिक निरंकुश और इतना कम वैधानिक राज्य-सचिव देखने में न आया था।" तब भी मिण्टो न तो कभी आपे से बाहर हुआ और न उसने कभी अपनी बात को ही टल जाने दिया। वह सदैव बहुत ही नम्रतापूर्ण शब्दों द्वारा राज्य-सचिव को मना-बुझाकर अपनी बात मनवाता रहा। लॉर्ड मॉर्ले ने अपने 'संस्मरणों' में मिण्टो की जो प्रशंसा की है, वह मिण्टो की योग्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

लॉर्ड मॉर्ले ने लिखा है "प्रकृति ने लॉर्ड मिण्टो को दृढ़ लगन और स्वस्थ विनोद का विपुल भंडार दिया था . . किसी वायसराय में मनुष्यों को पहचानने की योग्यता होनी चाहिए, चाहे वे गोरे हों या काले और लॉर्ड मिण्टो ने उन लोगों को पहचानने में, जिनके साथ उसे व्यवहार करना पड़ा, व्यवहार-पटुता, सूझ-बूझ और मानवीय सहानुभूति का ठीक-ठीक मात्रा में संयोग किया था। वह लोगों को चाहता था, यद्यपि वह सदैव उनका विश्वास नहीं करता था और वह यथासंभव लोगों को साथ बनाये रखने की चेष्टा करता था। उसकी दृष्टि यद्यपि सूक्ष्म न थी, परन्तु इससे भी अच्छी बात यह थी कि उसकी दृष्टि बहुत सतर्क थी।"

भारत को और विशेषतया नरम दल को लॉर्ड मॉर्ले से बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उसके उदार विचारों से वे उसके पदभार सँभालने के बहुत पहले से ही परिचित हो गये थे। इँगलैण्ड की संसद में विरोधी दल के रूप में उदार दलवालों ने अपने भाषणों में जो प्रगतिशील विचार प्रकट किये थे उनसे भारतीयों को आशा बँधी थी कि उदार दल के सत्तारूढ़ होने पर भारत के साथ अधिक न्यायपूर्ण व्यवहार होगा और भारत में सुधार किये जायँगे। १९०५ में कांग्रेस ने लाला लाजपतराय और श्री गोखले को इँगलैण्ड के मंत्रिमंडल और विशेषतया लॉर्ड मॉर्ले को भारत में सुधारों की अनिवार्य आवश्यकता का भान कराने के लिए विलायत भेजा। वहाँ से लाला लाजपतराय बहुत निराश होकर लौटे और यद्यपि श्री गोखले ने थोड़े से सुधारों के वचन से ही अपने मन को समझा लिया, परन्तु वे भी उनसे पूर्णतया प्रसन्न न थे। अब भारत को पता लगा कि संसद में विरोधी पक्ष के रूप में कोई राजनीतिक दल जो भाषण देता है, वे सिद्धान्तों से इतने प्रेरित नहीं होते, जितने सामयिक आवश्यकताओं से और जैसे ही विरोधी पक्ष के लोग सत्तारूढ़ होते हैं, उनकी नीति में स्पष्ट अन्तर लक्षित होने लगता है। भारतीय अब समझने लगे कि जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, उदार और अनुदार दल की नीति में कोई अन्तर नहीं है। अब स्पष्ट हो गया कि मॉर्ले के जिन उदार विचारों ने भारतीयों के हृदय में बड़ी-बड़ी आशाएँ जगा दी थीं, वे अब लुप्त हो चुके थे और लार्ड मॉर्ले में यदि उदारता थी भी तो वह इँगलैण्ड तक ही सीमित थी। ऐसी स्थिति में इसमें आश्चर्य ही क्या है कि लाला लाजपतराय ने इँगलैण्ड से लौटने पर भारतीय जनता को परामर्श दिया कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए उसे इँगलैण्ड के न्याय पर भरोसा न रखकर वहाँ चाहे जो भी दल प्रतिष्ठित हो स्वयं आन्दोलन करना चाहिए।

राष्ट्रीयता का विकास—विप्लव के पश्चात् भारतीय जनता के मन पर जो निराशा के बादल घिर गये थे, वे सन् १९०५ तक पूर्णतः लुप्त हो चुके थे। जनता के हृदय में फिर से नये उत्साह का संचार हो रहा था, उसकी दृष्टि व्यापक हो रही

थी और अब देश को स्वतन्त्र करने की इच्छा कुछ इने-गिने उच्च शिक्षित लोगों तक ही सीमित न रह गई थी। अब जनता में आत्म-निर्भरता की भावना और अपने भाग्य-निर्माण में भारत की योग्यता के प्रति विश्वास स्पष्ट झलकने लगा था। एक शासन-तन्त्र की अधीनता में रहने और अँगरेजी की शिक्षा ने भारत की युगों से चली आती हुई सांस्कृतिक तथा आर्थिक एकता के साथ मिलकर भारतीयों के हृदय में यह भावना जागृत कर दी थी कि अपने सब के शत्रु से टक्कर लेने के लिए सब का एक होकर कार्य करना बहुत आवश्यक है। अँगरेजों ने विरोधी स्वार्थों की टक्कर करा कर, हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे का विरोधी बनाकर तथा एक राज्य को दूसरे से लड़ाकर भारत में अपने पाँव जमाये थे और अन्ततः अपने साम्राज्य की स्थापना की थी। परन्तु साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने की प्रक्रिया में ये सभी विरोधी स्वार्थ और देशी राज्य समाप्त हो गये थे; जिन प्रतिद्वंद्वी पक्षों और दलों की फूट का लाभ उठाकर अँगरेजों ने भारत में प्रगति की थी वे कोई भी साम्राज्य स्थापित हो चुकने पर शेष न रहने दिये गये थे। अब वे सभी ब्रिटिश ताज की छत्र-छाया में एक सी स्थिति में आ गये थे। विप्लव के बाद का शांति-काल न्याय की दृष्टि में सब का एक बना दिया जाना और सबका शासन-तंत्र के अत्याचारों का समान रूप से भुक्तभोगी होना—इन सब बातों ने भारतीयों में राजनीतिक चेतना के विकास के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत कर दिया था। जैसे-जैसे भारतीय जनता के मन में यह विश्वास दृढ़ होता गया कि वे अपने देश के भाग्य-विधाता बनने के लिए पूर्णतः योग्य हैं, वैसे-वैसे यह राजनीतिक चेतना भी विकसित होती रही।

इस राजनीतिक जागृति का स्वरूप कुछ अंश में तो समाचार-पत्रों और नेताओं के भाषणों ने, कुछ अंश में नौकरशाही की प्रतिक्रियाओं ने, कुछ सीमा तक भारत के सामाजिक संघटन ने और बहुत कुछ ब्रिटिश सरकार की जनता की उचित माँगों को पूरी करने तथा उसकी उन आकांक्षाओं को पूरी करने की अनिच्छा ने निर्धारित किया, जिनको स्वयं ब्रिटिश-सरकार ने समय-समय पर आश्वासन और वचन दे-देकर जगा दिया था।

१८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना से लेकर सन् १९०५ ई० में मिण्टो के भारत में आने के समय तक नरम दल ही भारत की राजनीतिक चेतना को प्रकट करता रहा था। नरम दल का झुकाव पाश्चात्य जगत् की ओर अधिक था और ग्लैडस्टन की उदार नीति उसकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत थी। नरम दल ही अब तक कांग्रेस का नेतृत्व करता आ रहा था। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोज शाह मेहता, महादेव गोविन्द रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले और पं० मदनमोहन मालवीय जैसे नेता ही अब तक जनता की बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना को व्यक्त करते रहे

थे। १९०६ ई० तक इन नेताओं का उद्देश्य केवल यही वना रहा था कि देश की शासन-व्यवस्था में भारतीयों के लिए १८९२ ई० के ऐक्ट में दिये गये अधिकारों से अधिक अधिकार लिये जायँ, सरकारी नौकरियों को पूर्णतया भारतीयों के लिए सुरक्षित करवाया जाय और व्यवस्थापिका सभाओं का विस्तार कराया जाय। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इन नेताओं ने जो उपाय सुझाये थे वे पूर्णतः वैधानिक थे। इनका परामर्श था कि प्रार्थनापत्रों, प्रस्तावों और शिष्ट मंडलों द्वारा ये उद्देश्य प्राप्त किये जायँ। अधिकांश नेता अब भी ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्ध में विश्वास प्रकट कर रहे थे।

इस आन्दोलन के प्रति नौकरशाही की १८८५ से १९०६ तक के काल में पहली प्रतिक्रिया हँसी उड़ाने और तुच्छ समझने की हुई, तब इस आन्दोलन को गालियाँ दी जाने लगीं और इसके प्रति गलत धारणाएँ वनाई गई और अन्त में नौकरशाही इससे भय खाने लगी जिसने दमन की नीति को प्रोत्साहन दिया। रैम्जे मैक्डानल्ड ने ब्रिटेन के रुख को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"दो पीढ़ियाँ पहले हमने इस जाग्रति का स्वागत किया होता। परन्तु अब जब यह उपस्थित हुई है तो हम भयभीत हैं। हम इसकी जासूसी करते हैं, इसके समर्थकों को निर्वासित करते हैं और इसको दवाने की योजनाएँ वनाते हैं। भारत में जागृति ने जो स्वरूप धारण किया है उसको ठीक-ठीक समझने के लिए हमारे रुख में परिवर्तन अत्यंत महत्त्व का है। सत्य यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा के निर्धारण में हमारा सरकारी रुख प्रधान कारण रहा है। पहले तो आन्दोलन का रुख मित्रता की दिशा में रहा, परन्तु वाद में तीव्र विरोध की दिशा में पलट गया।" यह वड़े महत्त्व की बात है कि प्रारम्भ में तो कांग्रेस में अनेक प्रसिद्ध यूरोपियन सम्मिलित हुए और कुछ तो इसके सभापति भी रहे जैसे १८८८ में सर जॉर्ज यूल, १८८९ और १९१७ में सर विलियम वैडरवर्न, १९०४ में सर हैनरी कॉटन; परन्तु जैसे जैसे समय वीता गया, वे इससे अलग होते गये। यह वात इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इससे यूरोपियन समुदाय का राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति रुख स्पष्ट हो जाता है।

१९०६ ई० तक, जब कि भारत के वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी ने कलकत्ता-कांग्रेस के सभापति के पद से 'स्वराज्य' को कांग्रेस का आदर्श घोषित किया, भारत का राजनीतिक क्षेत्र निश्चित रूप से दो दलों में बँट गया था—नरम दल और गरम दल। इन दलों के आदर्शों में इतनी भिन्नता नहीं थी जितनी आन्दोलन को चलाने के ढंग में। इस दलबन्दी से कांग्रेस में फूट पड़ने का भय उत्पन्न हो गया; १९०६ में 'स्वराज्य' को आदर्श मान लेने से और दादाभाई नौरोजी की उपस्थिति के कारण यह संकट टल गया, परन्तु १९०७ में सूरत-

कांग्रेस के अवसर पर कांग्रेस का दो दलों में विभाजन हो ही गया और सूरत-कांग्रेस का अधिवेशन शोर-गुल और मारपीट के दृश्यों के वीच समाप्त हुआ। नरम दल की फिर भी प्रमुखता रही; गरम दलवाले कांग्रेस से वाहर चले आये और १९१६ तक किंकर्तव्य-विमूढ़ ही वने रहे।

गरम दल का उदय--विचारों के उस आन्दोलन में, भावनाओं के उस उफान में और घटनाओं के उस कोहराम में जिसे सुविधा के लिए 'राष्ट्रीय आन्दोलन' कहा जाता है, भिन्न-भिन्न प्रकार के विरोधी तत्त्व सिमट आये थे। फिर भी १९०६ तक कांग्रेस और 'राष्ट्रीय आन्दोलन' पर्यायवाची वने रहे। परन्तु १९०६ में वह दरार पड़ ही गई, जिसे कभी न कभी पड़ना ही था; विभिन्न विचारवालों ने अपना-अपना रास्ता पकड़ा। कांग्रेस अव देश के सभी राष्ट्रीय तत्त्वों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था न रह गई। यह एक दलगत संस्था, नरम दल की संस्था मात्र रह गई।

१९०७ में कांग्रेस के इस विभाजन को साधारण तथा गरम दल के उदय की तिथि समझा जाता है, परन्तु यह धारणा गलत है। यह विभाजन कोई आकस्मिक घटना नहीं था। इसकी जड़ें विगत वर्षों के इतिहास में धँसी हुई थीं। यह विभाजन एक ओर कांग्रेस की नीति और आन्दोलन के ढंग के प्रति जनता के असंतोष को व्यक्त करता है तो दूसरी ओर शक्ति के सहारे उस लक्ष्य को प्राप्त करने के निश्चय को प्रकट करता है जो समझाने-बुझाने से प्राप्त न हो सका था। अव वैधानिक उपायों, प्रार्थना-पत्रों और प्रस्तावों की खिल्ली उड़ाई जाने लगी और वल-प्रयोग का समर्थन होने लगा।

भारत में गरम दल ने कुछ अंशों में धर्म से और कुछ अंशों में पाश्चात्य क्रांतिकारी विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त की। ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं तथा मांगलिक साध्य के लिए भले-बुरे सभी प्रकार के साधनों से काम लेने के सिद्धान्त के कारण गरम दल नरम दल से सर्वथा विपरीत प्रतीत होता था। गरम दल की आवाज प्रारम्भ में यद्यपि कमजोर थी, परन्तु बाद में 'केसरी' (मराठी साप्ताहिक) और 'न्यू इंडिया' के कालमों के द्वारा जनता तक पहुँचने लगी। 'केसरी' का सम्पादन पूना से वाल गंगाधर तिलक करते थे और 'न्यू इंडिया' का बंगाल से वाबू विपिन--चन्द्र पाल। पंजाब के लाला लाजपतराय भी इनके साथ आ मिले और इन तीन नेताओं के नेतृत्व में यह नया आन्दोलन सारे भारत में व्याप्त हो गया। ब्रिटिश अन्याय और नरम दल के ढंगों की निष्फलता से उकताये हुए युवक इस नये आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुए।

भारत में गरम दल को जन्म देनेवाले लोगों में सर्वप्रथम स्थान बाल गंगाधर

तिलक का है। तिलक महाराष्ट्र के कोंकणी ब्राह्मण थे। १८८९ में तिलक कांग्रेस की विषय-समिति में निर्वाचित होकर गये थे। अपने शक्तिशाली विचारों, उग्र स्वातन्त्र्य-प्रेम, विद्वत्ता और भाषण-शक्ति के कारण उन्होंने उन लोगों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया जो उस समय जनता के कर्णधार थे। अपने समाचार-पत्र 'केसरी' के पृष्ठों द्वारा वे अपने विचारों का दूर-दूर प्रचार करने लगे और जनता को साहस से काम लेने, अपने आप में विश्वास रखने और स्वतन्त्रता के द्वारों को, यदि वे अन्दर से बन्द थे तो, तोड़कर खोल देने का परामर्श देने लगे। १५ जून १८९७ के 'केसरी' में तिलक ने लिखा था कि "यदि हमारे घर में चोर घुस आयें और हममें उन्हें भगाने की सामर्थ्य न हो तो हमें चाहिए कि हम विना किसी हिचक के उन्हें चादरों में लपेटकर जीवित ही भस्म कर दें। भगवान् ने भारत के राज्य का पट्टा ताम्र-पत्र पर खोदकर म्लेच्छों के नाम नहीं कर दिया है।...कुएँ के मेंढक के समान अपनी दृष्टि को संकुचित मत करो। दण्ड-विधान (Penal Code) के घेरे से बाहर आ जाओ, 'भगवद् गीता' की उच्चतम भूमि में प्रवेश करो और तब महा-पुरुषों के कार्यों पर विचार करो।" इस उद्धरण में गरम दल के सिद्धान्त और विधियों का सारांश संक्षेप में आ गया है। १५ जून के इस लेख के लिए लोकमान्य तिलक को, उपद्रव फैलाने का अपराध लगाकर, पन्द्रह महीने के कारावास का दण्ड दिया गया। जैसा कि सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने १८९७ की कांग्रेस में कहा था, तिलक के कारावास से सारे देश ने आँसू वहाये। 'केसरी' चलता रहा और जनता को अपनी ओर आकर्षित करता रहा, क्योंकि इसने आशा के नये द्वार उन्मुक्त कर दिये थे, राष्ट्र की अवरुद्ध शक्तियों के प्रकट होने का एक नया मार्ग उपस्थित कर दिया था और एक नये राष्ट्र का आश्वासन दिया था।

तिलक की शिक्षाओं, उनके संघटन और कार्य-प्रणाली, विदेशियों के विरुद्ध उनके प्रचार और उनकी स्थापित की हुई व्यायाम-शालाओं ने क्रान्ति के बीज वो दिये, जनता ने उनकी विचार-धारा का अभिनन्दन किया। लॉर्ड कर्जन के शासन-काल से क्षुब्ध बंगाल ने, जिसकी सामूहिक इच्छा के विपरीत भी वंग-विच्छेद कर दिया गया था, तिलक की शिक्षाओं को सबसे पहले स्वीकार किया।

वंग-विच्छेद से भी पहले से ही, वंगाल के राजनीतिज्ञ कांग्रेस की कार्य-प्रणाली के प्रति असन्तोष प्रकट करने लगे थे; १९०१ में कलकत्ता-कांग्रेस की स्वागत-समिति के अध्यक्ष ने इसको 'राजनीतिक भिखमंगापन' वताकर यह असन्तोष व्यक्त किया था। विपिनचन्द्रपाल, जिन्होंने १८८७ में मद्रास में कांग्रेस में प्रवेश किया था, अब अपने पत्र 'न्यू इण्डिया' में कांग्रेस की नीति के प्रति तीव्र असन्तोष प्रकट कर रहे थे। सर आशुतोष चौधरी ने १९०४ में वर्दवान में बंगाल प्रान्तीय

सम्मेलन के अवसर पर एक छोटे से वाक्य में सूत्र रूप में एक बहुत बड़ी बात प्रकट करते हुए कहा था "पराधीन जाति की अपनी कोई राजनीतिक प्रणाली नहीं होती।"

सन् १८९७ में पूना में प्लेग के दिनों में चाफेकर बन्धुओं द्वारा डब्ल्यू० सी० रैण्ड और लेफ्टिनेण्ट आयर्स्ट नामक दो यूरोपीय अफसरों की हत्या ने पहले-पहल यह संकेत दे दिया था कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन केवल राजनीतिक सम्मेलनों तक ही सीमित नहीं है। इन हत्याओं को सिद्धान्तहीन राजनीतिक षड्यन्त्रकारियों के असम्बद्ध कार्य समझना या विद्रोह का प्रचार करनेवाले कुछ असन्तुष्ट राजद्रोही प्रतिक्रियावादियों की शिक्षाओं का परिणाम घोषित कर देना भारत की आन्तरिक एवं बाह्य घटना-चक्र की ओर से आँखें मूँदना ही होगा और इन हत्याओं को इनके वास्तविक राजनीतिक महत्त्व से वञ्चित करना होगा। ये घटनाएँ असम्बद्ध नहीं थीं यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इनके बाद इस प्रकार की और बहुत सी घटनाएँ हुईं, जिनमें से कुछ अपने उद्देश्य में सफल रहीं और कुछ विफल। रैण्ड और आयर्स्ट की हत्याओं का वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नई प्रवृत्ति—उग्र क्रान्ति के श्रीगणेश की सूचना देती हैं। उग्र क्रान्तिवाद (Extremism) को थोड़े से लोगों का सिद्धान्त बताना या उस विकास-क्रम से असम्बद्ध बताना, जिसमें से होकर भारत की राजनीतिक चेतना आगे बढ़ रही थी, घटनाओं के क्रम से गलत परिणाम निकालना होगा। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने यही गलत परिणाम निकालने का प्रयत्न किया, जिसका फल जनता और सरकार दोनों के लिए दुःखदायी हुआ। आगे भी हमें यह देखने के अनेक अवसर मिलेंगे कि भारत में नौकरशाही की प्रवृत्ति हमेशा यथार्थ वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने और इससे गलत परिणाम निकालने की रही है। उग्र क्रान्तिवाद न तो भारत के लिए कोई अस्वाभाविक बात थी और न कुछ इने-गिने क्रान्तिवादियों का सिद्धान्त ही था। इसकी जड़ें तत्कालीन इतिहास की भूमि में बहुत गहरी समाई हुई थीं; यह विकास-क्रम की एक स्वाभाविक स्थिति थी। प्रत्येक घटना के तात्कालिक और भूतकालिक कारण होते हैं और प्रत्येक घटना अकेले ही या अन्य घटनाओं के साथ मिलकर नई घटनाओं का कारण बनती है; इस प्रकार विकास का चक्र मानवीय प्रवृत्तियों को निर्धारित करते हुए और स्वयं भी उनसे अनुशासित होते हुए आगे बढ़ता है।

शक्ति पर आधारित विदेशी शासन शीघ्र ही उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दे देता है। भारत में उग्र राष्ट्रीयता यदि लॉर्ड कर्जन के समय में प्रकट हुई तो इसका कारण स्वयं कर्जन ही था। कार्य-क्षमता के विषय में उसकी भ्रान्त धारणाओं,

उसके अनियन्त्रित अहंकार और उद्दण्ड व्यवहार तथा अन्ततः शासन-सम्बन्धी सुविधा का बहाना लेकर एक राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करने के उसके प्रयत्नों ने जिन कटु भावनाओं को जगा दिया था उनका गम्भीर परिणाम हुआ। इसके अतिरिक्त १८९२ के सुधारों को पाँच वर्षों तक कार्यरूप में चलते हुए देख लेने से जनता यथार्थ स्थिति भाँपने लगी थी। भारत की सीमा के बाहर भारतीयों के लिए दुर्व्यवहार और अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी न था। नैटाल और दक्षिणी अफ्रीका में उन्हें साधारण मानवीय अधिकारों तक से वंचित कर दिया गया था; और इँगलैंड में भी, जहाँ १८५८ की ऐतिहासिक घोषणा के अनुसार भारतीयों को जाति और वर्ण का विचार न करते हुए समानता के अधिकार देने का वचन दिया गया था, भारतीयों को हेय दृष्टि से देखा जाता था, क्योंकि वे स्वयं अपने देश में पराधीन थे। स्वयं भारत में भारतीयों के भाग्य में प्लेग, अकाल और कंगाली ही बदी थी। भूमि पर आश्रित लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी, परन्तु पैदावार घट रही थी। देश में थोड़े-बहुत उद्योग-धन्धे थे भी, उन्हें विदेशी प्रतियोगिता से कड़ा लोहा लेना पड़ रहा था और बहुत-से उद्योग तो इसके कारण समाप्त भी हो चले थे। मजदूरी की दर बहुत कम थी। सरकार इस स्थिति के प्रति उदासीन थी और अपनी अकर्मण्यता के लिए 'स्वतन्त्र व्यापार' या आर्थिक साधनहीनता का बहाना बना देती थी। शिक्षित भारतीयों के लिए प्रगति के सब मार्ग अवरुद्ध थे। उन्हें नौकरी के सिवाय और किसी व्यवसाय के योग्य न रखा गया था और नौकरी में भी उनके लिए बहुत सीमित क्षेत्र था। यद्यपि १९३३ से सरकार बार-बार यह वचन देती आ रही थी कि राजकीय सेवाओं में जाति या वर्ण की कोई रुकावट न रहने दी जायेगी, तब भी भारतीयों को उच्च पदों से वंचित रखने के लिए कोई न कोई उपाय निकाल ही लिया जाता था। राजकीय सेवाओं का भारतीयकरण अब भी उसी स्थिति में था, जैसा बीस वर्ष पहले था और जैसा कि लार्ड लिटन ने १८७८ में राज्य-सचिव को लिखा था सरकार "कानों में कहे गये आश्वासन के शब्दों को हृदय में तोड़ने के लिए यथाशक्ति" प्रयत्न करती आ रही थी। धीरे-धीरे जनता की यह धारणा दृढ़ होती गई कि देश की निर्धनता और दुर्दशा का एकमात्र कारण विदेशी शासन है तथा भारत को जापान के समान समृद्ध बनने या इटली अथवा जर्मनी के समान संघटित होने में इसके अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। विचारशील भारतीयों को अब यही चिन्ता आन्दोलित कर रही थी कि इस देश को पराधीनता से कैसे मुक्ति मिल सकती है। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो हिंसा से भी काम लेना होगा, देश के उद्योग-धन्धों का गला घोंटनेवाले विदेशी माल का बहिष्कार करना होगा, सामाजिक सुधार करने होंगे और देश की

स्वाधीनता के लिए सभी सम्भव उपायों से काम लेना होगा। कांग्रेस की वैधानिक आन्दोलन-प्रणाली, शिष्ट मण्डलों और प्रार्थनापत्रों से अब तक हाथ ही क्या लगा था? कुछ भी तो नहीं। भारत जैसे पराधीन देश में, जहाँ शासन-विधान में जनता का कोई भी हाथ न था, न इसको बनाने में और न कार्यान्वित करने में, वहाँ वैधानिक आन्दोलन का अर्थ ही क्या था। वैधानिक आन्दोलन द्वारा स्वतन्त्रता या पर्याप्त सुधारों तक की आशा करना इतिहास की शिक्षाओं के प्रति आँखें मूँदना ही हो सकता था। फ्रांस, अमेरिका, इटली, जर्मनी इन सभी देशों ने वैधानिक आन्दोलनों द्वारा स्वतन्त्रता नहीं पाई थी, अपितु ये युद्ध करके स्वतन्त्र हुए थे और स्वयं इँगलैण्ड को भी अपने राजा को सूली पर चढ़ाकर ही स्वतन्त्रता मिली थी। इँगलैण्ड जब अपने पड़ोसी और सजातीय आयरलैण्ड के साथ ही न्याय न कर सका, जो केवल धर्म में ही इँगलैण्ड से भिन्न था, तो फिर भारतीयों को उससे आशा हो ही क्या सकती है, जो धर्म में ही उससे भिन्न नहीं है, अपितु उससे सर्वथा भिन्न जाति के भी हैं? आयरलैण्ड के लोग ऐसे मूर्ख नहीं थे कि प्रस्तावों और शिष्टमण्डलों से प्राप्त हो सकनेवाली वस्तु के लिए खून बहाते। फिर भारतीय घोर संघर्ष किये विना कैसे स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं? . . . .

यह थी वह विचार-धारा, वह अदृष्ट कारण जिसने भारतीय राजनीति में उग्र क्रान्तिवाद को जन्म दिया। कर्जन के ही समय में इस नये आन्दोलन के सिर उठाने का स्पष्ट कारण यही है कि उसने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी नीति, अपने धृष्टतापूर्ण भाषणों और वंग-भंग के दुर्भाग्यपूर्ण कृत्य से अत्यधिक कटुता को उभाड़ दिया था। मेरी मिण्टो ने, जो लॉर्ड कर्जन को भारत से विदा देने के लिए बम्बई में अपोलो बन्दर तक आई थी, अपनी पुस्तक "इण्डिया, मिण्टो एण्ड मार्ले" मे लिखा है कि "मैं केवल यही कह सकती हूँ कि सड़कों पर और समुद्र-तट पर जनता ने जिस रूखेपन से उसे विदा दी, उसका हम सभी पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा।" लॉर्ड मिण्टो ने अपने एक पत्र में मार्ले के लिए लिखा था "मैं कर्जन की योग्यताओं और शक्तियों की प्रशंसा करने के लिए सर्वथा तैयार हूँ, परन्तु मैं समझता हूँ कि तुम्हारे लिए यह जान लेना ठीक ही होगा कि उसने वंग-विच्छेद और इसके सम्बन्ध में अपने भाषणों द्वारा भारतीयों में अपने प्रति कटु भावनाएँ जगा दी हैं।" (२० दिसम्बर, १९०५ का पत्र)

उग्र क्रान्तिवाद का सामना सरकार ने दमन और सुधारों से किया। दमन का इस आन्दोलन को गुप्त बना देने और जनता की भावनाओं को कटुतम बना देने के अतिरिक्त और कोई फल न हुआ। "सुधार" जनता को मनाने और जन-मत में फूट डालकर उग्र क्रान्तिवाद की ओर बढ़ने में जनता के उत्साह को मन्द करने के उद्देश्य से किये गये।

सुधारों की पृष्ठभूमि—१९०९ ई० का भारत-सरकार-कानून (Government of India Act of 1909) साधारणतया इसके निर्माताओं के नाम पर 'मिण्टो-मार्ले-सुधार' के नाम से कहा जाता है। ये सुधार वस्तुतः १८९२ के सुधारों का विकसित रूप प्रस्तुत करते थे; इनमें अन्तर केवल मात्रा का, अर्थात् गैर-सरकारी भारतीय सदस्यों की संख्या और अधिकारों के परिमाण का था। १९०९ के सुधारों के विषय में यदि कोई बात सबसे अधिक उपयुक्त है तो यही कि ये बहुत ही विलम्ब से लाये गये; १८९२ से आगे ब्रिटिश-सरकार ने भारतीयों को समय-समय पर जो सुविधाएँ दीं, उनमें से अधिकांश के विषय में यही बात सत्य है, जिसके कारण, उनमें जो थोड़ी-बहुत अच्छाई रहती भी थी, वह भी मारी जाती थी। यदि १९०९ के सुधार १९०५ में लाये गये होते तो निश्चय ही उनका सर्वत्र स्वागत हुआ होता, परन्तु १९०९ में वे न्यायोचित माँगों की पूर्ति की अपेक्षा शक्ति के सामने सरकार का आत्मसमर्पण ही अधिक प्रकट करते थे। यदि शक्ति के सामने झुक कर इँगलैण्ड को १९०४ के सुधार देने के लिए बाध्य होना पड़ा, तो निश्चित है कि थोड़ी-सी और शक्ति का प्रदर्शन करने पर सरकार सुधारों की दिशा में और आगे बढ़ेगी; ऐसी थी वह विचार-धारा जो लॉर्ड मिण्टो के बाद सन् १९१० में वायसराय का पद ग्रहण करनेवाले लॉर्ड हार्डिंज पर फेंके गये बम की तह में काम कर रही थी।

बम एवं पिस्तौलों की प्रणाली तथा वैधानिक आन्दोलन को लेकर जनमत दो दलों में बँटता जा रहा था। क्रान्तिकारी प्रणाली के समर्थकों की संख्या विशेषतः बंगाल, बम्बई और पञ्जाब के नवयुवकों में दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर वैधानिक आन्दोलन के पक्षपातियों की संख्या घटती जा रही थी। जनता में यह धारणा प्रबल होती जा रही थी कि वैधानिक आन्दोलन के समर्थकों का समय अब बीत चुका है। कांग्रेस के अन्दर इस भावी विचार-संघर्ष की पहली गूँज तब सुनाई पड़ी जब १९०५ में बनारस अधिवेशन के समय उग्र क्रान्तिवादियों ने विषय समिति में प्रिंस तथा प्रिंसेस आफ वेल्स के स्वागत के प्रस्ताव का विरोध किया, जो उस समय भारत का दौरा कर रहे थे। बंगाल ने इँगलैण्ड के लोगों को अपनी शिकायतों से परिचित कराने के लिए जो विदेशी माल के बहिष्कार का एक प्रभावशाली शस्त्र के रूप में उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था, वह भी नरम और गरम दलों के बीच झगड़े का एक अन्य विषय बन गया। कांग्रेस के अन्दर गरम दल का नेतृत्व तिलक तथा लाजपतराय कर रहे थे और गोखले, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा मदनमोहन मालवीय सरीखे नरम दल के नेता उनके विरुद्ध डटे थे। दिन प्रति दिन इन दोनों वर्गों के बीच की खाई चौड़ी होती गई। पूर्वी बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर बैम्फील्ड फुलर के कृत्यों से, उसकी वर्ग विशेष के

प्रति पक्षपात की नीति से और अन्ततः पुलिस द्वारा वारीसाल में वंगाल-प्रान्तीय-सम्मेलन के भंग कर दिये जाने से, जनमत क्षुब्ध होता जा रहा था। पुराने नेता उपहास के विषय बन रहे थे और यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा था कि नरम और गरम दल साथ-साथ नहीं चल सकते। १९०६ में कलकत्ता-अधिवेशन के समय तो सभापति के रूप में दादाभाई नौरोजी के प्रभाव से कांग्रेस का अनिवार्य विघटन किसी प्रकार टल गया, परन्तु १९०७ में यह होकर ही रहा।

पञ्जाब और बंगाल में सरकार की दमन-नीति के सामने पुराने खेवे के नेताओं को जो नरम दलीय कहे जाते हैं, अपने पैरों तले धरती खिसकती जान पड़ने लगी। पञ्जाब में अन्यायपूर्ण 'औपनिवेशिक विधेयक' (Colonial Bill) तथा सर डैञ्जिल इब्बटसन की प्रतिक्रियावादी नीति से तूफान उठ खड़ा हुआ। वहाँ लाला लाजपतराय और अजीतसिंह के नेतृत्व में एक शक्तिशाली आन्दोलन छिड़ गया। सरकार ने दमन की नीति से काम लिया। लाजपतराय और अजीतसिंह को बिना किसी जाँच के १८१८ के वंगाल रेग्यूलेशन ३ के अनुसार निर्वासन का दण्ड दिया गया। एक 'राजद्रोहात्मक सभा अध्यादेश' (Seditious Meetings Ordinance) जारी किया गया जो आगे चलकर कानून बन गया; इसके अनुसार अनेक सम्मानित व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। मिण्टो ने स्थानीय सरकार के विरुद्ध, अपने निषेधाधिकार (Veto) से 'औपनिवेशिक विधेयक' को रद्द कर दिया, परन्तु अभी शान्ति स्थापित होने में बहुत देर थी। देश उत्तेजना से उबल रहा था। कांग्रेस की स्वागत-समिति को, सभापति के चुनाव के समय, जिन उपद्रवों का सामना करना पड़ा, उन्हें देखते हुए कांग्रेस के अधिवेशन का स्थान नागपुर से सूरत बदल दिया गया। सूरत में बड़े उपद्रवपूर्ण वातावरण के बीच नरम और गरम दल में अन्ततः विच्छेद हो गया। नरम दल ने २८ दिसम्बर १९०७ को कांग्रेस पण्डाल में डा० रासबिहारी घोष के सभापतित्व में अपनी अलग से सभा की और कांग्रेस के काम को जारी रखने का निश्चय किया। इन्होंने विधान बनाने के लिए एक समिति नियुक्त की; फिरोजशाह मेहता, गोखले और वाछा इस समिति के मन्त्री बनाये गये। चार महीने बाद इस समिति की इलाहाबाद में बैठक हुई। इसने कांग्रेस के सिद्धान्त को विधान की धारा १ में व्यक्त किया। इस धारा (Article) के शब्द ये थे :—

"भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य भारतीय जनता द्वारा ऐसी शासन-प्रणाली को प्राप्त करना है जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित देशों में है और इन देशों के साथ समानता के स्तर पर ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकारों और उत्तरदायित्वों में भाग लेना है। इन उद्देश्यों को वैधानिक उपायों से वर्तमान शासन-

प्रणाली में निरन्तर सुधार करवा कर तथा राष्ट्रीय एकता बढ़ा कर, सार्वजनिक भावना को जगाकर और देश के बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक एवं औद्योगिक साधनों को बढ़ाकर तथा संघटित कर, प्राप्त करना है।"

इस नये विधान के अनुसार कांग्रेस का पहला अधिवेशन मद्रास में हुआ। अगले वर्षों में कांग्रेस इसी गति से चलती रही, परन्तु १९१५ में लॉर्ड सिन्हा ने कांग्रेस का आदर्श 'जनता की, जनता के लिए, जनता द्वारा सरकार' स्थापित करना घोषित किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सरकार की प्रतिक्रिया—इस समय राष्ट्रीय भावना ने जो रूप ग्रहण कर लिया था, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में सरकार ने सुधार, दमन और फूट की नीति अपनाई। इतिहास बतलाता है कि सुधार और दमन साथ-साथ नहीं चल सकते। दमन से जनता में ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके सामने सुधारों द्वारा उसको सन्तुष्ट करने के प्रयत्न विफल हो जाते हैं। जनता अपने देश-बन्धुओं का दमन करनेवाली सरकार की सद्भावनाओं की सच्चाई में भी सन्देह करने लगती है। यही कारण था कि १९०९ के सुधार जनता का वैसा अभिनन्दन प्राप्त न कर सके जैसा इनका इससे कुछ समय पहले हुआ होता या तब हुआ होता यदि सरकार सुधारों के साथ-साथ आतंकवादी प्रणाली न अपनाती। भारतीय राजनीति में यह एक विलक्षणता रही है कि इँगलैण्ड ने जब कभी भारतीयों को थोड़ी-बहुत सुविधाएँ दीं, वे हमेशा बहुत विलम्ब से दी गईं और उनके पहले भारतीयों को तीव्र आन्दोलन करना पड़ा तथा उनके बाद सरकार ने कठोर दमन की नीति अपनाई। आन्दोलन करने के बाद मिलने से सुधार ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे वे सरकार की न्याय की भावना का परिणाम न हों, अपितु सरकार के हाथों से बलपूर्वक छीन कर लिये गये हों और सुधारों के बाद दमन तो सुधारों की सारी अच्छाइयों को ही सुखा देता है। सन् १९०९, १९१९, १९३५ तथा १९४५ के सुधारों से पहले और बाद का यही इतिहास रहा है। परिणाम यह हुआ कि सुधार सर्वथा विफल रहे, सरकार और जनता के बीच की खाई चौड़ी होती गई और दोनों पक्षों में कटुता एवं सन्देह बढ़ता गया।

फूट डालकर शासन करने की नीति ब्रिटिश सरकार के लिए कोई नई बात न थी। १८५६ से १९०५ ई० तक के काल में सरकार की यह नीति इतने स्पष्ट रूप से सामने नहीं आई, जितनी इसके बाद के काल में; कारण यह था कि इस बीच सरकार का विरोध बहुत दब चुका था और सरकार के विरुद्ध किसी संघटित आन्दोलन का भय न था। परन्तु जैसे ही यह भय प्रकट होने लगा, सरकार ने फूट डालकर शासन करने की नीति ग्रहण कर ली और भारत तथा भारतीयों का इससे जितना अहित

हो सकता था, उसको कर डालने में कोई कसर न छोड़ी गई। लॉर्ड कर्जन ने बंगाल के विभाजन द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डलवाकर उठते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन को दवाने का प्रयत्न किया था। लॉर्ड मिण्टो का ढंग इससे भी अधिक धूर्ततापूर्ण था। उसने प्रदेश का विभाजन न कर निर्वाचकों का ही विभाजन कर दिया; उसने मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया और इस प्रकार साम्प्रदायिक आधार पर दलवन्दी का प्रारम्भ कर प्रतिनिधि (Representative) सरकार को बचपन में ही लँगड़ा वना दिया तथा राजनीतिक दलों का विकास असम्भव कर दिया। साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन की यह नीति १९३२ ई० के 'साम्प्रदायिक निर्णय' के रूप में, जिसके अनुसार सारे भारत को विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गों में बाँट दिया गया था, अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। केवल हिन्दुओं और मुसलमानों को ही एक दूसरे से अलग न किया गया था अपितु हिन्दुओं को भी अनेक जातियों और उपजातियों में विभाजित कर दिया गया और प्रत्येक वर्ग को अलग-अलग प्रतिनिधित्व दिया गया। अगले वर्षों में मिण्टो की नीति का विनाशकारी प्रभाव साम्प्रदायिक वैमनस्य और झगड़ों के रूप में प्रकट होने लगा। जो अभी कुछ समय पहले तक भारत के राजनीतिक जीवन को विषाक्त करता रहा है।

मिण्टो-मार्ले-सुधार—इँगलैण्ड में उदार दल का मन्त्रिमण्डल बन जाना, यूरोप में राष्ट्रीयता की प्रगति, यूरोप की राजनीतिक स्थिति की उलझनें, भारतीय जनता में ब्रिटिश-सरकार के प्रति कटुता की भावना और एक नई विचारधारा का उदय—इन सब बातों ने मिलकर सरकार को भारतीयों की प्रारम्भिक आकांक्षाएँ सन्तुष्ट करने के लिए प्रेरित कर दिया।

भारत का दौरा करने के पश्चात् प्रिंस आव् वेल्स ने लॉर्ड मार्ले के समक्ष अपना यह विचार प्रकट किया था कि "यदि हमारे राजकर्मचारी अधिक सहानुभूति प्रकट करें तो हम अधिक अच्छे ढंग से चल सकते हैं।" मार्ले ने शीघ्र ही मिण्टो से भावी सुधारों की सम्भावनाओं और विस्तार के विषय में पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया। इस पत्र-व्यवहार के कुछ उद्धरण इन सुधारों के वास्तविक रूप को समझने में सहायक होंगे।

मिण्टो का मार्ले को पत्र, २५ मई, १९०६—"जहाँ तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, हमें उसको मान्यता देनी चाहिए और उसके सबसे अच्छे (लोगों) के साथ मित्रता कर लेनी चाहिए; फिर भी मुझे भय है कि कांग्रेस-आन्दोलन में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो सर्वथा राजद्रोहात्मक हैं और भविष्य में इससे संकट की आशंका है।"

"कांग्रेस के उद्देश्यों को रोकने के लिए किसी सम्भव बाधा के विषय में मैं

बहुत दिनों से विचार करता रहा हूँ।" (मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व देकर अन्ततः यह बाधा भी खड़ी कर दी गई।)

मार्ले का मिण्टो को पत्र, ६ जून—"सचमुच मुझे विश्वास है कि हमारे बीच कोई मौलिक भेद नहीं है। भारत में बसी हुई जातियों में अँगरेजी संस्थाओं के प्रचलन को अवांछनीय या यहाँ तक कि अविचारणीय समझने में मैं तुमसे पीछे नहीं हूँ...परन्तु अँगरेजी संस्थाओं की भावना एक भिन्न वस्तु है, और यह एक ऐसी वस्तु है जिससे हम यदि चाहे तो भी बच नहीं सकते और मैं आशा करता हूँ कि हम ऐसा नहीं चाहते...हमें यह बात निश्चित जान लेनी चाहिए कि लोहे के साँचों में ढली हुई नौकरशाही हमेशा टिक नहीं सकती...सभी हमें चेतावनी दे रहे हैं कि भारत में एक नई भावना का विकास और प्रसार हो रहा है; लारेंस, शिरल, सिडनी—सभी एक ही गीत अलाप रहे हैं...तुम हमेशा एक-सी भावना से शासन नहीं कर सकते; तुम्हें कांग्रेस पार्टी और कांग्रेस के सिद्धान्तों से निपटना है, चाहे तुम इनके विषय में कुछ भी सोचो। यह निश्चित समझ लो कि मुसलमानों को तुम्हारे विरुद्ध कांग्रेस के साथ मिल जाने में देर न लगेगी...अपने उत्तरदायित्व-काल में, चाहे यह काल लम्बा हो या छोटा, मैं किसी महान् क्रान्ति में भाग लेने की आकांक्षा नहीं रखता...दूसरी ओर मैं अन्धा होकर निरंकुशता के मार्ग में बढ़ना भी नहीं चाहता।"

मार्ले का मिण्टो को पत्र, १५ जून, १९०६—"मुझे आश्चर्य है कि क्या अब हम लोक-प्रियता की दिशा में सुधारों की ओर नहीं बढ़ सकते। यदि हम (सुधारों की ओर) नहीं बढ़ सकते, तो क्या यह निश्चित नहीं है कि (भारतीय जनता की) माँगें विस्तृत हो जायँगी और 'राष्ट्रीय' स्वरूप धारण कर लेंगी जिसे कम से कम मैं तो बहुत सन्देह और आशंका की दृष्टि से देखता हूँ? तुम अपनी व्यवस्थापिका-परिषद् में तथा स्थानीय परिषदों में देशी सदस्यों की संख्या बढ़ाना, अपनी व्यवस्थापिका परिषद् में बजट पर बहस के लिए चार या पाँच घण्टों के स्थान पर पूरा समय देना, संशोधन प्रस्तुत करने का अधिकार देना—जैसे विषयों को अब व्यावहारिक और तात्कालिक क्यों नहीं समझते? क्या यह (भारतीयों की माँगों का बढ़ जाना इत्यादि) निश्चित है? मैं कह सकता हूँ कि यह (निश्चित) है और यह आशंकित ऐंग्लो-इण्डियनों को भयभीत कर देगा।"

इस पत्र के उत्तर में मिण्टो ने मार्ले के सुझावों को स्वीकार किया, परन्तु साथ ही यह इच्छा प्रकट की कि सुधारों की दिशा में इस प्रकार बढ़ा जाय जिससे ऐसा जान पड़े कि यह कदम भारत-सरकार ने उठाया है।

इस प्रकार सुधारों का चक्र गतिशील हुआ और अन्ततः सुधारों की जो योजना

बनी वह मार्ले के सुझावों से बहुत ही कम भिन्न थी। मार्ले के सुझावों और इस योजना में जो भिन्नता थी वह साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रारम्भ करने के विषय में जिस पर कि मार्ले की मिण्टो के साथ पूर्ण सहमति न थी, राज्य-सचिव की परिषद् में दो भारतीय सदस्यों—के० जी० गुप्त और एस० एच० बिलग्रामी—की नियुक्ति तथा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में सर एस० पी० सिन्हा को कानून-सदस्य के रूप में नियुक्त करने के विषय में थी।

वायसराय की परिषद् में एक भारतीय की नियुक्ति का भारत और इँगलैण्ड दोनों ही जगह बहुत विरोध हुआ। मिण्टो ने मार्ले को लिखा कि "परिषद् के सदस्यों ने इस नियुक्ति के विरुद्ध जो कारण दिये हैं वे साधारणतया संकुचित हैं और प्रायः पूर्णतः इस धारणा पर आधारित हैं कि किसी बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर एक देशी व्यक्ति का विश्वास करना असम्भव है और किसी देशी सदस्य की नियुक्ति कांग्रेस के आन्दोलन के फलस्वरूप दी गई सुविधा मात्र है।"

इँगलैण्ड में लोग इस विषय में क्या सोच रहे थे, यह लेडी मिण्टो के अपने पति को लिखे गये पत्र के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :—

"मैंने रविवार को लैन्सडाउन के साथ भोजन किया और देशी सदस्य के विषय में उसकी राय पूछी। उसने कहा "मैं मानता हूँ कि हमें भारतीयों को सुविधाएँ देनी चाहिए, परन्तु एक देशी व्यक्ति को पवित्रों के पवित्रतम व्यक्तियों के बीच में रख देना मैं एक गम्भीर भूल समझता हूँ। और भी अनेक ढंग हैं, जिनसे सुविधाएँ दी जा सकती हैं।"

१९०६ के प्रारम्भिक दिनों में मिण्टो ने सुधारों की अगली योजना पर विचार करने और विवरण प्रस्तुत करने के लिए सर ए० टी० एरुन्डेल की अध्यक्षता में एक 'सुधार समिति' (Reforms Committee) नियुक्त की। इस समिति को विशेष रूप से इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए कहा गया था—(१) रजवाड़ों की एक परिषद्, और यदि यह असंभव हो तो क्या उन्हें वायसराय की व्यवस्थापिका-परिषद् में प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है या नहीं; (२) वायसराय की कार्य-कारिणी-परिषद् में एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति; (३) वायसराय की व्यवस्थापिका-परिषद् में तथा स्थानीय सरकारों में प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि और (४) बजट पर बहस की अवधि को बढ़ाना तथा संशोधन प्रस्तुत करने के अधिकारों में वृद्धि। इस समिति ने एक महीने में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी, जो मिण्टो की इस टिप्पणी के साथ कि उसकी परिषद् में एक भारतीय की नियुक्ति वांछनीय है, वायसराय की परिषद् के सदस्यों में घुमाई गई।

मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का उदय—१ अक्टूबर, १९०६ को मुसलमानों

के एक शिष्ट मंडल ने, खोजा मुसलमानों के धार्मिक नेता हिज होलीनेस आगा खाँ के नेतृत्व में, शिमला में लॉर्ड मिण्टो से भेंट की और उसे एक अभिनन्दन-पत्र भेंट किया। मिण्टो ने शिष्ट-मंडल का हार्दिक स्वागत किया और उसके अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में पहले से ही तैयार किया हुआ भाषण पढ़ा; सायंकाल को इस शिष्ट-मंडल को वायसराय के निवास-स्थान पर चाय के लिए आमंत्रित किया गया। उसी शाम को मिण्टो को एक उच्च राजकर्मचारी का यह पत्र मिला—

"श्रीमान् से मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि आज एक बड़ी, बहुत बड़ी घटना हुई है। यह राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य है, जो भारत और भारतीय इतिहास को बहुत वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। यह कार्य ६ करोड़ २० लाख लोगों को राजद्रोहात्मक विरोध में सम्मिलित होने से रोक देनेवाला है।[1]"

इस पत्र में ६ करोड़ २० लाख लोगों से मुसलमानों की ओर संकेत किया गया है और 'राजद्रोहात्मक विद्रोह' का अर्थ राष्ट्रीय आन्दोलन है। यह शिष्ट-मंडल, जैसा कि अब स्पष्ट हो चुका है, सरकार के उच्च अधिकारियों द्वारा प्रेरित हुआ था और इसकी तह में मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रखने का उद्देश्य छिपा था। अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में मिण्टो ने जो भाषण पढ़ा था, उसके कुछ उद्धरण स्थिति को स्पष्ट करने में सहायक होंगे—

"मुझे यह बतलाने के लिए आपको मेरी अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है कि यूरोपीय ढंग की प्रतिनिधि संस्थाएँ भारत के लोगों के लिए बिलकुल नई बातें हैं या कि यहाँ इन संस्थाओं के प्रचलन के लिए गहरे सोच-विचार और सतर्कता की आवश्यकता है। पूरब की जातियों के वंशानुगत परम्पराओं तथा संस्कारों के बीच पाश्चात्य जगत् के समस्त शासन-तन्त्र को ले आने से मैं बहुत दूर रहना चाहता हूँ।

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, आपके अभिनन्दन-पत्र में यह अधिकार जताया गया है कि किसी भी प्रतिनिधि-प्रणाली में, चाहे वह नगर-पालिका से सम्बन्धित हो या जिला-परिषद् से अथवा व्यवस्थापिका-परिषद् से, जिसमें निर्वाचक-दल के संघटन को प्रचलित करने या बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया हो, मुसलमानों को एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिनिधित्व मिलना चहिए। आपने (अभिनन्दन-पत्र में) बतलाया है कि इस समय निर्वाचक-दल का जिस ढंग से संघटन किया गया है उसमें अनेक प्रसंगों पर यह आशा नहीं की जाती कि कोई मुसलमान उम्मीदवार चुना जा सकेगा, और यदि किसी प्रकार वह चुना भी जाता है तो उस बहुसंख्यक दल के

---

१. काउन्टेस आफ मिण्टो लिखित 'इण्डिया, मिण्टो ऐन्ड मॉर्ले' पृ० ४८

पक्ष में, अपने विचारों की वलि चढ़ा कर ही, जो उसके अपने सम्प्रदाय का विरोधी है और जिसका वह किसी भी रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करता और आप लोगों का यह अधिकार न्यायोचित है कि आपकी स्थिति का निर्धारण केवल आपकी जनसंख्या के आधार पर ही न किया जाना चाहिए, अपितु आपके सम्प्रदाय के राजनीतिक महत्त्व और साम्राज्य की उसने जो सेवाएँ की हैं, उसके आधार पर होना चाहिए।

"मैं आप लोगों से पूर्णतः सहमत हूँ . . .मेरी भी इस विषय में वैसी ही दृढ़ धारणा है, जैसी मेरा विश्वास है कि आपकी है कि भारत में निर्वाचकों के प्रतिनिधित्व की ऐसी कोई भी प्रणाली जिसमें इस देश की जनसंख्या के तत्त्व रूप विभिन्न सम्प्रदायों के अपने विश्वासों और परम्पराओं को भुलाकर व्यक्तिगत मताधिकार प्रदान किया गया हो, निश्चित रूप से हानिकारक विफलता की भागी बनेगी। भारत की जनता के अधिकांश को प्रतिनिधि संस्थाओं का कुछ भी ज्ञान नहीं है।

"इसके साथ-साथ मुसलमान-सम्प्रदाय विश्वास रखे कि उसके राजनीतिक अधिकार और एक सम्प्रदाय के रूप में उसके हित सुरक्षित किये जायेंगे।"

इस सुरक्षा के लिए जो साधन अपनाया गया, वह था पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व, जिसने भारत की बढ़ती हुई संघटन-शक्ति में एक दरार वनाने के साथ-साथ भारत में ब्रिटेन के स्वार्थों को भी सुरक्षित कर दिया।

मॉर्ले पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध था। उसने मिण्टो से कहा "मैं मुसलमानों के इस झगड़े में फिर तुम्हारा साथ नहीं दूँगा। मैं तुम्हें सम्मानपूर्वक केवल यही एक बार फिर स्मरण दिला दूँ कि उनके अतिरिक्त अधिकारों के विषय में तुमने पहले जो भाषण दिया था, उसी ने मुसलमानों को इस ओर प्रेरित किया है।" पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन के विकल्प के रूप में मॉर्ले ने १९०८ के अपने पत्र में यह सुझाव दिया कि मुसलमानों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखते हुए संयुक्त निर्वाचन रखा जाय। परन्तु यह सुझाव न मिण्टो के ही अनुकूल पड़ता था और न गृह-विभाग के, क्योंकि निर्वाचक दल को साम्प्रदायिक आधार पर बाँटे बिना, जिससे कि हिन्दुओं और मुसलमानों का धार्मिक मतभेद हमेशा प्रमुख बना रहे, मुसलमानों के शिष्ट मंडल को प्रेरित करने का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता था। परिणाम यह हुआ कि भारत और इँगलैण्ड दोनों ही जगह संयुक्त निर्वाचन का विरोध खड़ा किया गया। मॉर्ले के सुझाव को विफल वनाने के लिए गृह-विभाग के सर हरबर्ट रिस्ले ने आगा खाँ और अमीर अली से गठवन्धन कर लिया। पार्लियामेंट में अर्ल ऑफ रोनाल्डशे ने, जो वाद में मार्क्विस ऑफ ज़ेटलैण्ड बना और भारत के लिए राज्य-सचिव के पद पर नियुक्त हुआ तथा सर विलियम जायसन हिक्स ने,

जो बाद में वाइकाउन्ट ब्रैन्टफोर्ड बना, मॉर्ले का घोर विरोध किया। इस विरोध से घबराकर और अपनी सारी योजना को संकट-ग्रस्त देखकर मॉर्ले ने पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन स्वीकार कर लिया और इस प्रकार भारत में मुसलमान-साम्प्रदायिकता का इतिहास प्रारम्भ हुआ। यह सिद्धान्त साथ-साथ स्थानीय संस्थाओं में भी प्रचलित किया गया। पृथक् निर्वाचन-प्रणाली से केवल कटु अनुभव ही हुआ है और अब तो संविधान-सभा ने उसको सर्वथा त्याग दिया है तथा स्थान सुरक्षित रखने की विधि तक को केवल परिगणित जातियों के लिए कुछ वर्षों के लिए स्थान सुरक्षित रखते हुए समाप्त कर दिया है।

उग्र क्रान्तिवाद और दमन—हम भारत में उग्र क्रान्तिवाद के मूल कारणों का वर्णन कर चुके हैं और बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण में क्रान्तिकारियों की हलचलों के विषय में भी कुछ बता चुके हैं। यहाँ हम संक्षेप में सरकार की प्रतिक्रिया का वर्णन करेंगे।

निरंकुश शासन को हमेशा यह भय सताता रहता है कि कहीं वह निर्बल न जान पड़ने लगे। इससे एक ऐसी मनःस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें समझ-बूझ के लिए कोई स्थान नहीं होता। यह भय कि कहीं सार्वजनिक माँगों को पूरा करना जनता की शक्ति के सामने झुकना न समझ लिया जाय, निरंकुश शासक को बुद्धि-शून्य बना देता है। इसके परिणामस्वरूप भ्रान्त धारणाएँ बढ़ती जाती हैं और कानून एवं व्यवस्था का बहाना लेकर जो नित्य नई-नई गिरफ्तारियाँ की जाती हैं, उनसे जनता में असंतोष बढ़ता जाता है। संक्षेप में १९०७ से १९१४ तक के काल का यही इतिहास रहा है। जब कि महायुद्ध छिड़ जाने पर, ब्रिटिश सरकार के स्वतन्त्रता, समानता और आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के उच्च स्वर से किये गये समर्थनों से, जिनके कारण भारतीय जनता में नई आशाएँ जाग उठीं, नई भावनाएँ फूट पड़ीं और जैसे उनके सामने एक नये संसार के द्वार खुल गये, भारत के राजनीतिक इतिहास में मानो निद्रा की-सी शान्ति छा गई।

असंतोष के सामान्य कारणों के अतिरिक्त बंगाल और पंजाब के असंतुष्ट रहने के अन्य भी कुछ विशेष कारण थे। लॉर्ड कर्जन की कृपा से सभी क्षेत्रों में विभाजन की जो नीति काम कर रही थी, वह भारतीय राजनीति के शरीर को एक बढ़ते हुए फोड़े के समान कष्ट दे रही थी। मॉर्ले की इस घोषणा ने कि यह विभाजन एक 'निर्धारित सत्य' था जनता की भावनाओं को भड़काने का ही काम किया था। सर बम्फील्ड फुलर तथा उसके उत्तराधिकारी के शासन में पूर्वी बंगाल की सरकार के पक्षपातपूर्ण आचरणों ने, जिनके फलस्वरूप अपमानजनक साम्प्रदायिक दंगे तक हुए, स्थिति को और बिगाड़ दिया। यह तो उस समय के

प्रमाणों से बहुत ही स्पष्ट हो जाता है कि ये दंगे मुसलमानों की हिन्दुओं के विरुद्ध इस विश्वास के साथ की गई "जेहाद" की स्पष्ट घोषणा के परिणाम थे कि सरकार मुसलमानों के पक्ष में है। इन दंगों को ब्रिटिश माल के बहिष्कार और 'स्वदेशी' के आग्रह का परिणाम बताना सच्चाई पर पर्दा डालना है। फुलर साहब की नीति का इस सीमा तक प्रयोग किया जा रहा था कि सचमुच ही "एक सेशन जज ने तो गवाहों को हिन्दू और मुसलमान, इन दो वर्गों में बाँट डाला और हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की गवाही को अधिक पसन्द किया, क्योंकि वे मुसलमान थे।" एक स्थान पर 'कुछ मुसलमानों ने डंके की चोट के साथ घोषणा की कि सरकार ने उन्हें हिन्दुओं को लूटने की आज्ञा दी है' और एक मजिस्ट्रेट के शब्दों में, एक अन्य स्थान पर सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की गई कि "सरकार ने मुसलमानों को हिन्दू विधवाओं के साथ 'निकाह' की विधि से विवाह करने की आज्ञा दी है।" दंगों में जो नृशंस कृत्य किये गये उन्होंने पहले से विद्यमान कटुता और साम्प्रदायिक वैमनस्य को और भी बढ़ा दिया। अब शक्ति से काम लेने का खुले-आम प्रचार किया जाने लगा। शस्त्रों और बमों का निर्माण और संग्रह होने लगा, क्रान्ति का प्रचार करने के लिए गुप्त समितियाँ बनने लगीं। भगवद्गीता, गैरिबाल्डी और मेजिनी की जीवनियाँ, रूस के क्रान्ति के ढंग, सैनिक-शिक्षण की पुस्तकें तथा विस्फोटक शस्त्रों की निर्माण-विधि की पुस्तकें बड़ी उत्सुकता से पढ़ी जाने लगीं और इनका छिपे-छिपे प्रचार होने लगा। ६ दिसम्बर १९०७ को बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर ऐण्ड्रयू फ्रेजर को ले जानेवाली रेलगाड़ी को मिदनापुर के पास उलट दिया गया। २३ दिसम्बर १९०७ को ढाका के भूतपूर्व जिला मजिस्ट्रेट श्री ऐलेन की पीठ में गोली मारी गई। यद्यपि उसको कोई सांघातिक चोट नहीं लगी। अप्रैल, १९०८ में प्रतिक्रियावादी किंग्सफोर्ड के उद्देश्य से रखे गये बम से मुजफ्फरपुर में भूल से श्री और श्रीमती कैनेडी मारे गये। गुप्त समितियों तथा बम के कारखानों का अनेक स्थानों पर पता लगा। नवम्बर १९०८ में मुजफ्फरपुर के दो व्यक्तियों ने एक मुखबिर को गोली से उड़ा दिया। नवम्बर १९०८ में सर ऐण्ड्रयू फ्रेजर को मारने का एक और प्रयत्न हुआ और कलकत्ता की सड़क पर एक पुलिस इन्स्पेक्टर गोली का निशाना बना। पंजाब में सर डैन्जिल इबटसन की प्रतिक्रियात्मक नीति और घृणित 'औपनिवेशिक विधेयक' (Colomisation Bill) ने असंतोष की चिनगारी को भड़का दिया था। वहाँ क्रान्तिकारी पुलिस और सेना से सम्बन्ध जोड़ रहे थे। लाहौर और रावलपिंडी में उपद्रव उठ खड़े हुए। लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को सन् १८१८ के नियम ३ के अनुसार निर्वासित किया गया। मद्रास में बी० सी० पाल और चिदम्बर पिल्ले के भाषणों के पश्चात् उपद्रव मचने लगे।

उग्र क्रान्तिवाद भारत की सीमा से बाहर भी ले जाया गया। लंदन में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'इंडिया हाउस' की स्थापना की, जहाँ से 'इंडियन सोशियालॉजिस्ट' नामक पत्र प्रकाशित होने लगा। 'इंडिया हाउस' क्रान्तिकारी हलचलों का केन्द्र बन गया। जुलाई १९०९ में सर विलियम कर्जन विली तथा डा० लालकाका की इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट, लंदन में हत्या कर दी गई।

इस समस्त काल में तिलक भारतीय राजनीति के केन्द्र बने रहे। तिलक ने जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी; यही कारण था कि उनके अनुगामियों की संख्या इतनी बढ़ गई थी। तिलक ने सरकारी सहायता और निरीक्षण से स्वतन्त्र राष्ट्रीय पाठशालाओं की स्थापना का आन्दोलन चलाया, जिनमें चरित्र-निर्माण और राष्ट्रीयता पर बल दिया जाता था। उन्होंने शिवाजी की स्मृति को पुनः जीवित किया, 'गणपति उत्सव' मनाने की प्रथा चलाई, शारीरिक व्यायाम के लिए अखाड़े और व्यायामशालाएँ खोलीं और अपने लेखों से सारे देश में इस मत का प्रचार किया कि विदेशी निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह करना नैतिक तथा कानूनी दोनों ही दृष्टियों से उचित है। १९०८ में तिलक को, 'केसरी' में छपे अपने दो लेखों के लिए राजद्रोह का अपराध लगाकर, गिरफ्तार किया गया। इन लेखों में उन्होंने मुजफ्फरपुर की हत्याओं को उत्पीड़न का परिणाम बताया था। उन्होंने लिखा था कि बम तब फटते हैं जब सरकार के दमन के कृत्य असह्य हो जाते हैं। तिलक को सामान्य कैद के साथ ६ वर्षों के लिए मांडले में निर्वासित किया गया। तिलक को इस प्रकार दंडित करने के फलस्वरूप बम्बई, नागपुर और पंढरपुर में दंगे हुए। इसमें संदेह नहीं कि सरकार ने, अधिक बलशाली होने के कारण इन दंगों को दबा दिया; परन्तु ये उपद्रव जनता की मनोदशा को स्पष्टतः व्यक्त कर रहे थे। इसके बाद भी उपद्रवों, हत्याओं तथा अदालती जाँचों और दण्डों का चक्र चलता रहा। सरकार को विद्यमान कानून के अतिरिक्त अन्य विधियों से काम लेना पड़ा। जल्दी-जल्दी दंड-विधान में बहुत से दमनकारी कानून जोड़ दिये गये। ये कानून क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के प्रचार को रोकने के उद्देश्य से बनाये गये थे। इनके लक्ष्य या तो प्रेस थे या भाषण के मंच। इनमें से सबसे पहला कानून था 'सभा-नियमन-अध्यादेश, १९०७ ई०' (The Regulation of Meetings Ordinance, 1907); इसके अनुसार पंजाब और पूर्वी बंगाल में राजद्रोहात्मक सभाओं का निषेध किया गया था। नवम्बर, १९०७ में इस अध्यादेश का स्थान 'राजद्रोहात्मक सभा विधेयक' (Seditions Meetings Bill) ने ग्रहण किया, जिसके अनुसार सार्वजनिक सभा करने का अधिकार छीन लिया गया। इस विधेयक का सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) के अन्दर और बाहर सर्वत्र घोर विरोध

हुआ। सर रासविहारी घोष ने सर्वोच्च व्यवस्थापिका-परिषद् में कहा कि यह "विधेयक एक और केवल एक उद्देश्य के लिए ही समर्थ है और वह उद्देश्य है गुप्त षड्यन्त्रों के कोटाणुओं का प्रसार करना" और साथ ही यह भी कह दिया कि इस विधेयक के नाम में "और गुप्त षड्यन्त्र-प्रसारक" ये शब्द भी जोड़ देने चाहिए। गोखले ने कहा कि "यह विधेयक एक भयंकर वस्तु है और इसको सुधारने का एकमात्र उपाय यही है कि इसे रद्द कर दिया जाय।" परन्तु सरकार ने एक न सुनी और यह विधेयक कानून बन गया। इस प्रकार का दूसरा कानून था १९०८ का 'प्रेस ऐक्ट', जिसके अनुसार हत्याओं और हिंसा को उभाड़ने के प्रयत्नों के लिए कठोर दंड तथा जब्ती तक की व्यवस्था की गई थी। इस कानून के अनुसार मजिस्ट्रेट के फैसले की उच्च न्यायालय (High Court) के सिवाय और कहीं अपील नहीं हो सकती थी। परन्तु सामान्य कानूनों से प्राप्त अधिकारों के साथ इन नये कानूनों से प्राप्त अधिकारों को मिला देने पर भी, मिण्टो ने भारतीय प्रेस के दमन के लिए और अधिक अधिकारों की आवश्यकता का अनुभव किया। मॉर्ले को यह बात पसन्द न थी, परन्तु उसे झुकना पड़ा और १९१० में एक नया 'प्रेस ऐक्ट' पास किया गया, जो पिछले किसी भी प्रेस ऐक्ट से अधिक व्यापक था। इससे कार्यकारिणी को न्यायोचित विचारों तक के लिए लोगों को दंडित करने का अधिकार मिल गया, क्योंकि कोई बात राजद्रोहात्मक है या नहीं, इसका निर्णय उसी पर छोड़ दिया गया था। इस ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रेस को ५०० रु० से लेकर २००० रु० तक की जमानत सरकारी खजाने में जमा करना आवश्यक बना दिया गया। यह ऐक्ट १९०८ के ऐक्ट सहित पुन: १९१९ के सुधारों के बाद दुहराया गया। इस विधेयक का विरोध करते हुए गोखले ने परिषद् में घोषित किया कि यह भाग्य का एक विचित्र परिहास है कि इस 'संशोधित परिषद्' के सामने विचार के लिए सबसे पहला जो प्रस्ताव उपस्थित हुआ है वह एक दमनकारी प्रस्ताव है। उन्होंने आगे कहा कि बहुत से कारणों ने मिलकर वर्तमान स्थिति को जन्म दिया है और इनमें से एक कारण है ऐंग्लो इंडियन प्रेस के एक वर्ग के लेखों में प्रकट किये जानेवाले विचार; "इनमें से कुछ पत्र भारतीयों और विशेष रूप से शिक्षित भारतीयों के विषय में निरन्तर जैसे जातीय अभिमान और घृणा के स्वर में लिखते हैं, वे दिमाग पर उससे कहीं तीव्र आघात करते हैं जितना कि कोड़े शरीर पर कर सकते हैं।" भाषण समाप्त करते हुए गोखले ने कहा कि "बल-प्रयोग अस्थायी शान्ति भले ही ला दे परन्तु यह उस वस्तुस्थिति का स्थायी उपचार सिद्ध नहीं हो सकता, जो आज इस देश में विद्यमान है।"

१९०८ के 'विस्फोटक द्रव्य कानून' (Explosive Substance Act) के

द्वारा विस्फोटक पदार्थों या इस उद्देश्य के लिए काम में लाई जा सकनेवाली वस्तुओं को रखना दंडनीय बताया गया।

१९०८ के 'दण्ड-विधान संशोधक कानून' (Criminal Law Amendment Act) के अनुसार राजद्रोह के लिए एक विशेष प्रकार की जाँच की व्यवस्था की गई और कार्यकारिणी को अधिकार दिया गया कि वह किसी भी संस्था को गैर-कानूनी घोषित कर सकती है। इसके अनुसार बहुत से स्वयंसेवक संघटनों को भी बन्द कर दिया गया।

इनके अतिरिक्त भारत में पहले से विद्यमान दंड-विधान और १८१८ का अधिनियम ३ (Regulation III) तो चला ही आ रहा था, जिसके अनुसार सरकार जाँच के बिना ही जिसे चाहती उसे निर्वासित कर देती थी।

१९०९ के सुधार और उनका प्रयोग—१९०९ ई० के भारतीय परिषद्-कानून (Indian Councils Act) में निबद्ध मिण्टो-मॉर्ले सुधारों की पहली झाँकी १ नवम्बर १९०८ को प्रकाशित इँगलैण्ड के राजा के भाषण में मिल गई थी जिसमें प्रतिनिधि संस्थाओं के विस्तार की घोषणा की गई थी। नरम दल ने इन सुधारों का हार्दिक स्वागत किया और गोखले ने तो इन्हें भारत को अराजकता की स्थिति में जा पड़ने से बचा लेने का श्रेय दे डाला। इन सुधारों की प्रमुख बातों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) इस कानून ने केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों व्यवस्थापिका-सभाओं का विस्तार किया। इसके अनुसार गवर्नर-जनरल की परिषद् में कुछ मनोनीत गैर-सरकारी और कुछ निर्वाचित सदस्यों को सम्मिलित कर ६० सदस्यों की व्यवस्था की गई; परन्तु सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया। पंजाब और बर्मा की प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं की सदस्य-संख्या बढ़ाकर ३० कर दी गई और अन्य पाँच प्रान्तों में ५० रखी गई। सदस्य सरकारी, मनोनीत गैर-सरकारी और निर्वाचित—इन श्रेणियों के रखे गये। प्रान्तों में सरकारी सदस्यों के बहुमत को आवश्यक न रखा गया।

(२) वायसराय की परिषद् में एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति की जाती थी और बम्बई तथा मद्रास की परिषदों में भारतीयों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था।

(३) बहस करने, प्रश्न और पूरक (Supplementary) प्रश्न पूछने का अधिकार सरकार द्वारा बनाये गये विस्तृत नियमों के अधीन अधिक विस्तीर्ण कर दिया गया। सरकार ने जो नियम बनाये उनके अनुसार परिषदों को आर्थिक वक्तव्यों पर बहस करने और प्रस्ताव उपस्थित करने का तो अधिकार था, परन्तु

वोट देने का नहीं; इसके अतिरिक्त आय-व्यय के कुछ शीर्षकों पर बहस न हो सकती थी। सार्वजनिक हित की अन्य बातों पर परिषद् प्रस्ताव रख सकती थी, बहस कर सकती थी और वोट दे सकती थी, परन्तु सभापति को अधिकार था कि वह किसी भी प्रस्ताव को, या प्रस्ताव के किसी भी अंश को कोई भी कारण दिये बिना ही अस्वीकार कर सकता था और सरकार सार्वजनिक हित तक के प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए बाध्य न थी। इन रोकों से ये दिये गये अधिकार केवल बातचीत करने के अधिकार मात्र रह गये और इनसे सरकार को प्रभावित करने की कोई आशा न रह गई।

(४) निर्वाचन-प्रणाली—१९०९ के सुधारों में परिषदों में गैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन के आधार पर करने का प्रस्ताव किया गया। भारत सरकार को अधिकार दिया गया कि वह इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए राज्य-सचिव की सहमति से नियम बनाये। इस अधिकार के अनुसार भारत-सरकार ने निर्वाचन के जो नियम बनाये वे सैद्धान्तिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण और सामाजिक दृष्टि से विषपूर्ण थे, क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चुनाव तथा निर्वाचक-दल को वर्ग, अपने-अपने हितों और सम्प्रदाय के अनुसार बाँटने की व्यवस्था की गई थी। केन्द्रीय-व्यवस्थापिका के लिए निर्वाचक-दल को इन वर्गों में बाँटा गया था—(१) सामान्य निर्वाचक-दल, जिसमें प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं, नगरपालिकाओं तथा जिला-बोर्डों के गैर-सरकारी सदस्य सम्मिलित थे; (२) वर्गीय निर्वाचक (Class Electorate) जिसमें जमींदारों के निर्वाचन-क्षेत्र आ जाते थे; (३) मुसलमान निर्वाचक, इस वर्ग में केवल मुसलमान रखे गये; और (४) विशेष निर्वाचक, इस वर्ग में प्रेसिडेंसी कार्पोरेशन (Presidency Corporations), वाणिज्य-मंडल (Chambers of Commerce) तथा औद्योगिक संस्थाएँ रखी गईं। इसी प्रकार प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों का चुनाव तीन निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँटा गया, (१) सामान्य, (२) विशेष और (३) वर्गीय निर्वाचक-दल। सब स्थानों के लिए एक-सी योग्यताएँ नहीं रखी गईं; ये विभिन्न निर्वाचक-दलों में, केन्द्र और प्रान्त के लिए चुनावों के सम्बन्ध में तथा यहाँ तक कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न रखी गईं और सरकार को अधिकार था कि वह किसी भी व्यक्ति को चुनाव के अयोग्य बता दे। कहीं प्रत्यक्ष चुनाव रखा गया और कहीं अप्रत्यक्ष। इन भिन्नताओं का आधार कोई सिद्धान्त नहीं जान पड़ता। सदस्यता की अवधि तीन वर्ष रखी गई।

ये नियम, जैसा कि लॉर्ड मिण्टो ने भी स्वीकार किया "बहुत ही परेशान करने-वाले और प्रायः अस्पष्ट थे।" इसका कारण यह था कि सरकार प्रतिनिधि सरकार

के विस्तार के साथ-साथ भारतीयों में धीरे-धीरे बढ़ती हुई एकता को भारतीयों को भारतीयों के, एक वर्ग को दूसरे वर्ग के और एक संस्था को दूसरी संस्था के विरुद्ध रखकर तोड़ने का भी प्रयत्न कर रही थी। यह सारी योजना वर्ग-स्वार्थों को उभाड़ने के प्रयत्नों से कलंकित थी। परिषदों को जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली व्यवस्थापिकाओं का रूप देने की अपेक्षा अजायबघर बना दिया गया था। निर्वाचित, मनोनीत गैर-सरकारी और सरकारी सदस्य परस्पर उलझते रहते थे; कुछ जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते थे तो दूसरे अपने सिवाय और किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करते थे और संकेत तथा सहायता के लिए उस हाथ की ओर ताकते रहते थे जिसने उन्हें परिषद् में ला बैठाया था। यदि यह सारी योजना विफल हुई और आन्दोलन चलता रहा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

(५) कार्यकारिणी-परिषदें—१९०९ के कानून में राज्य-सचिव को अधिकार दिया गया था कि वह प्रेसिडेन्सी गवर्नरों की कार्यकारिणी परिषदों का अधिक से अधिक चार सदस्यों की नियुक्ति द्वारा विस्तार कर सकता है; और परिषद् सहित गवर्नर-जनरल (Governor-General in Council) को अधिकार दिया गया था कि वह राज्य-सचिव की स्वीकृति से बंगाल के लिए कार्यकारिणी परिषदों का निर्माण कर सकता है और लेफ्टिनेंट गवर्नरों के लिए, पार्लियामेंट के निषेधाधिकार के अधीन कार्यकारिणी-समितियाँ बना सकता है।

संक्षेप में ये थे १९०९ के सुधार। १९१० ई० तक इन नये सुधारों के अनुसार परिषदें बन गईं और तब जनता ने इस योजना का व्यावहारिक स्वरूप देखा। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गये, नरम दल तक का उत्साह ठंडा पड़ने लगा। इस बात से सभी सहमत थे कि १९०९ के सुधार १८९२ के सुधारों से आगे बढ़े हुए थे। परन्तु इतना ही तो पर्याप्त न था। लोग अनुभव करने लगे थे कि जहाँ तक विधि-निर्माण में भाग लेने तथा सरकार को प्रभावित करने के उनके अधिकारों का सम्बन्ध है, उनकी प्रतिनिधि-संख्या यद्यपि बढ़ गई थी, परन्तु उनकी स्थिति पहले से कोई अच्छी न थी। और वह अच्छी हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि उन सिद्धान्तों ने जिन पर ये सुधार आधारित थे, उन मंतव्यों ने जो इनकी तह में छिपे थे तथा जनता को मनाने के साथ-साथ दमन की उस नीति में जो इन सुधारों के पहले और बाद में अपनाई गई थी, इन सुधारों को उद्देश्य की उस निश्छलता तथा नीयत की उस ईमानदारी से रहित कर दिया था, जिसके बिना कोई भी संवैधानिक प्रयोग कभी भी सफल नहीं हो सकता।

मिण्टो-मॉर्ले-सुधारों की तह में भावना यह थी, जैसी कि लॉर्ड मिण्टो ने व्यवस्थापिका-परिषद् में अपने मार्च १९०७ के भाषण में व्यक्त की थी, कि भारतीयों

को यह बात प्रकट करने के लिए अधिकाधिक अवसर दिये जायँ कि वे कैसी शासन-प्रणाली चाहते हैं। इस बात में ये सुधार १८९२ के सुधारों के सिद्धान्त से कुछ भी भिन्न न थे; वास्तव में इनमें जो भेद था वह मात्रा का था, प्रकार का नहीं। इस कानून में कानून के निर्माताओं तथा जिन लोगों के लिए यह कानून बनाया गया—इन दोनों के बीच का भेद स्पष्ट दिखाई देता है। जनता यह नहीं चाहती थी कि उसे अपनी इच्छित शासन-प्रणाली के विषय में अपने विचार प्रकट करने का और अधिक अवसर दिया जाय, अपितु उसकी इच्छा यह थी कि उसे उस शासन-तन्त्र के निर्माण में सक्रिय भाग दिया जाय, जिसके अधीन उसे रहना है। विधि-निर्माण में भाग लेने का अधिकार प्राप्त करने के लिए भारत को अभी अगले दस संघर्ष और उत्पीड़न से पूर्ण वर्षों तक प्रतीक्षा करनी थी और तब भी उसे यह अधिकार थोड़ी सी मात्रा में मिल सका।

इन सुधारों की तह में जो मंतव्य था, वह था जनता को मनाना और जनता में फूट डालना। पहले मंतव्य को व्यवस्थापिकाओं की सदस्य-संख्या बढ़ाकर, वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् में भारतीयों को नियुक्त कर तथा बहस के अधिकार बढ़ाकर पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया। दूसरा मंतव्य प्रतिनिधित्व-प्रणाली के विषपूर्ण ढंग को अपनाकर पूरा करने की ठानी गई। सरकार की ओर से इस पृथक् निर्वाचन-प्रणाली की पुष्टि यह कहकर की गई कि संसदीय प्रतिनिधित्व प्रणाली (Parliamentary representation) भारत की प्रकृति के विरुद्ध है और उससे भारत के विभिन्न सम्प्रदायों तथा महत्त्वपूर्ण वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकता। लॉर्ड मॉर्ले ने दिसम्बर १९०८ में हाउस ऑफ् लार्ड्स में सुधारों के विधेयक को प्रस्तुत करते हुए कहा था "यदि मैं भारत में संसदीय प्रणाली के प्रचलन का प्रयत्न कर रहा होता या यदि यह कहा जा सकता कि सुधारों का यह दौर भारत में सीधे संसदीय प्रणाली की स्थापना की ओर ले जाता है, तो मैं, इससे कदापि कुछ भी सम्बन्ध न रखता।" परन्तु इस विधेयक के द्वितीय वाचन के समय मॉर्ले के हृदय में पैठी हुई राजनीतिक धारणाएँ उभर आईं और उसने अपने विरोधियों के इस कथन का कि इन सुधारों से पूरब का पश्चिम के साथ घुल-मिल जाने का भय है, यह कहकर उत्तर दिया कि "हमें इसका विचार पाश्चात्य शिक्षा प्रचलित करने के पूर्व ही कर लेना चाहिए था; हमने (पाश्चात्य शिक्षा का) प्रयोग किया और पाश्चात्य शासन-तन्त्र अवश्य ही उसका अनुगमन करेगा।" और स्थिति इससे भिन्न हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि इँगलैण्ड को अन्य किसी प्रकार के शासन-तन्त्र का अनुभव तो था नहीं। मॉर्ले भारत में अपने उन सहयोगियों से कहीं अधिक ईमानदार था, जो सुधारों की वास्तविक प्रकृति को पहचानते हुए

भी कि ये भारत को अनिवार्य रूप से प्रतिनिधि सरकार की ओर ले चलेंगे, निर्वाचक-दल में फूट के बीज वोने के उद्देश्य से संसदीय शासन-प्रणाली के लिए भारत की अनुपयुक्तता के वहाने का उपयोग करने पर तुले हुए थे।

तो ये सुधार, भारतीय जनता को मनाने के साधन के रूप में विफल रहे; सफलता इन्हें केवल इतनी ही मिली कि ये कुछ समय के लिए नरम दल को सरकार के पक्ष में कर सके। परन्तु फूट डालने के साधन के रूप में इनको तात्कालिक एवं सुदूर भविष्य के लिए भी खूब सफलता मिली। आगे चलकर, इन सुधारों ने उस नीति की ओर संकेत किया जो ब्रिटिश राज को वनाये रखने के लिए साधन-स्वरूप 'साम्प्रदायिक निर्णय' के रूप में अपने परिपक्व रूप में प्रकट हुई। इन सुधारों की विफलता को संवैधानिक सुधारों का विवरण प्रस्तुत करनेवाले सज्जनों ने इन शब्दों में प्रकट किया था :—

"लॉर्ड मिण्टो की सरकार जिस समस्या के समाधान में जुटी थी वह यह थी कि एक ही शासन-तन्त्र में उन दो तत्त्वों का समावेश कैसे किया जाय, जो उन्हें भारत में ब्रिटिश सत्ता के जन्म में स्पष्ट दिखाई दिये। वे निरंकुश शासन को.... संवैधानिक प्रणाली के साथ खपाने की, एक संवैधानिक निरंकुश शासन-तन्त्र का निर्माण करने की आशा कर रहे थे। वे यह आशा लगाये वैठे थे कि समाज का उच्च वर्ग और नरम दल के लोग, जिनके लिए भारत की राजनीति में कोई स्थान न था, सरकार के पक्ष में हो जायँगे और शक्ति-सन्तुलन में अन्य किसी परिवर्तन का तथा भारतीय संस्थाओं को जनतन्त्रात्मक वनाने का विरोध करेंगे। ये घातक आशाएँ थोड़े ही समय तक टिक सकीं। ये (सुधार) अव भारतीय जनमत को स्वीकार्य नहीं हैं और अनुभवों के प्रकाश में अव सरकार भी इन्हें आलोचना की दृष्टि से देख रही है। हम समझते हैं, कि यह विभिन्न अंशों में उस राजनीतिक विकास का जो स्वयं इन सुधारों का परिणाम है, जनतान्त्रिक भावनाओं के उस विस्फोट का जो महायुद्ध के कारण हुआ है तथा स्वयं इन सुधारों की योजना के कुछ अन्तर्निहित दोषों का फल है।" इन्हीं सज्जनों ने आगे लिखा है कि "परन्तु १९०९ के सुधारों ने भारत की राजनीतिक समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया, न ये कर ही सकते थे। संकुचित मताधिकार और अप्रत्यक्ष निर्वाचन सदस्यों में सामान्यतः जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना को उत्साहित न कर सके और इन्होंने विशेष निर्वाचन क्षेत्रों को छोड़कर अन्य स्थानों पर उन लोगों के लिए, जिन्हें मताधिकार प्राप्त था, इसका विचारपूर्वक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग करना असम्भव वना दिया। इसके अतिरिक्त शासन-प्रवन्ध का उत्तरदायित्व अविभाजित वना रहा; निर्वाचित परिषदों से पूर्ण या आंशिक रूप में नियन्त्रित उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यकारिणी की

कल्पना को (इन सुधारों में) स्थान न दिया गया था। शासनाधिकार सरकार के हाथ में बने रहे और परिषदों को आलोचना के अतिरिक्त और कोई काम न सौंपा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी अधिकार के बन्धनों को खो देने का कोई कारण ही न था, जिन्होंने स्थानीय सरकारों को भारत-सरकार के और भारत-सरकार को राज्य-सचिव तथा संसद (Parliament) के अधीन बनाये रखा। इस योजना में इसी दिशा में आगे विस्तार का कोई क्षेत्र न था। हमारी दृष्टि में मॉर्ले-मिण्टो-सुधार उस पुरानी धारणा की अन्तिम उपज थे, जिसने भारत-सरकार को एक उदार स्वेच्छाचारिता का रूप दे दिया था।"

श्री गोखले तथा नरम दल ने इन सुधारों से आरम्भ में जो आशाएँ प्रकट की थीं, वे क्यों विफल हुईं, इस पर टिप्पणी करते हुए इन सज्जनों ने लिखा है :—

"नई संस्थाएँ शुभ लक्षणों के साथ आरम्भ हुईं और दोनों पक्षों में उनको मिल-जुलकर चलाने की इच्छा थी। परन्तु सफलता के लिए जो स्थितियाँ पहले से आवश्यक होती हैं, उनमें से कुछ का यहाँ अभाव था। स्थानीय संस्थाओं में कोई सामान्य प्रगति न हुई थी, प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था को वस्तुतः स्वतन्त्र न किया गया था; और कुछ प्रगति के होने पर भी सरकारी नौकरियों में भारतीयों का व्यापक रूप से प्रवेश न हुआ था। क्योंकि पार्लियामेण्ट के नियन्त्रण को ढीला करने की बात अभी सोची न गई थी, इसलिए भारत-सरकार भी स्थानीय सरकार पर अपना नियन्त्रण हल्का न कर सकती थी। इसलिए अर्थ-व्यवस्था और शासन-प्रबन्ध इन दोनों विषयों में परिषदें सरकार के कार्यों को जिस सीमा तक प्रभावित कर सकती थीं, वह सीमा बहुत ही संकुचित रखी गई थी।"

इन सज्जनों ने मॉर्ले-मिण्टो-सुधारों से उत्पन्न स्थिति की दुर्बलता की ओर संकेत करनेवाली निम्नलिखित टिप्पणी को अपनी सहमति प्रकट करते हुए उद्धृत किया था :—

"हमें निश्चय कर लेना चाहिए कि या तो हम स्वयं शासन करें या जनता को शासन करने दें; सोच-समझकर किये गये सत्ता-हस्तान्तरण के उच्च मार्ग के अतिरिक्त और कोई मध्य मार्ग नहीं है। इस समय तो हम दोनों में से कोई भी बात नहीं कर रहे हैं। हम जनता को सुविधाएँ देकर शासन करने का प्रयत्न कर रहे हैं और प्रत्येक आनुपूर्विक सुविधा हमसे बलपूर्वक छीनी गई जान पड़ती है।...लॉर्ड कर्जन के कार्यकाल तक यह दृढ़ निश्चय बना रहा कि भारत के लिए जो कुछ ठीक है वह किया जाय, चाहे भारत उसे पसन्द करे या बिलकुल पसन्द न करे। उसके कार्य-काल के पश्चात् जो सुधार हुए, वे चुनौती और बाधाएँ उपस्थित करनेवाली शक्ति को भी साथ ले आये; हम कल्याणकारी स्वेच्छाचारिता की अपनी भूमिका को

छोड़ते जा रहे हैं और लोग नहीं समझ पा रहे हैं कि इसके स्थान पर अब हम कौन सी भूमिका अपनानेवाले हैं। तदनुसार हम जनता का विश्वास खोते जा रहे हैं और उसके साथ-साथ भलाई करने की अपनी कुछ शक्ति को भी। यदि हम मात्र स्वेच्छाचारिता की ओर लौट चलें तो हम बहुत-से लोगों को अपने पक्ष में कर लेंगे और व्यवस्थित शान्ति प्राप्त कर लेंगे। परन्तु ऐसा करना असम्भव होने के कारण, हमें अब निश्चित रूप से यह दिखा देना चाहिए कि हम शासन के पूर्वीय आदर्शों से पश्चिमी आदर्शों की ओर बढ़ रहे हैं।"

मिण्टो का वायसराय के रूप में कार्य-काल समाप्त हो जाने के पश्चात् जो काल प्रारम्भ होता है वह भारतीय इतिहास में निर्माण का काल है, जिसमें कि ब्रिटिश सरकार किन्हीं निश्चयों पर पहुँच रही थी और जिसमें वे शक्तियाँ गतिशील हुईं, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा, कार्य-प्रणाली और आदर्शों का निर्धारण किया। भारतीय राजनीति में मोहनदास करमचन्द गांधी, जो महात्मा गांधी के नाम से विख्यात हुआ, के प्रवेश से राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक नया दृश्य उपस्थित हो गया और मॉण्टेग्यू-सुधारों से भारतीय संविधान के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ। इन दोनों घटनाओं के बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए और इन्होंने भावी इतिहास पर बहुत प्रभाव डाला; इन दोनों घटनाओं की जड़ें भूतकाल में समाई हुई थीं; इनको आकस्मिक समझना भूल होगी।

मिण्टो ने १९०९ के सुधारों के ढाँचे को खड़ा करने के बाद नवम्बर १९१० में भारत से विदा ली। इनको पूर्णतः व्यवहार में लाने और इनकी उपयोगिताओं, दोषों तथा इनके प्रति राजनीतिक भारत की प्रतिक्रियाओं को अनुभव करने का भार लॉर्ड हार्डिंज (१९१०-१६) पर पड़ा। हार्डिंज ने अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के कारण, शीघ्र ही जनता का आदर-भाव प्राप्त कर लिया और उसके प्रति श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के साथ-साथ अनेक व्यक्तियों की यह धारणा बन गई कि "वह भारतीय वायसरायों की अग्र-पंक्ति में बैंटिंक, कैनिंग और रिपन के साथ स्थान ग्रहण करता है।"

हार्डिंज तथा राजनीतिक आन्दोलन का वर्णन करने से पहले हम यहाँ संक्षेप में १९०६-१९१९ के बीच के शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी सुधारों का वर्णन करेंगे और देखेंगे कि इनका राष्ट्रीयता के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा।

शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी सुधार, १९०६-१९१९—(१) विकेन्द्रीकरण की नीति—भारत के इतिहास में संवैधानिक परिवर्तन तथा विकेन्द्रीकरण के प्रयत्न बहुत कुछ समानान्तर चले हैं। शासन में जनता के नियंत्रण के विस्तार के साथ-साथ, यदि इस नियन्त्रण को ढोल की पोल न बनाकर वास्तविक बनाना हो तो

केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को कम करना आवश्यक हो जाता है और जहाँ कहीं भी शासन में जनता के अधिकारों की वृद्धि के साथ-साथ सर्वोच्च सरकारी नियन्त्रण को ढीला नहीं किया गया, वहाँ यह प्रयोग विफल रहा है; इसका सबसे अच्छा उदाहरण स्थानीय स्वशासन का इतिहास है।

शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र में लॉर्ड कर्जन के अन्धाधुन्ध कार्यों से शासन के समस्त सूत्र केन्द्रीय सत्ता के हाथों में आ गये थे। कर्जन ने जो प्रणाली चलाई थी, उससे शासन-प्रबन्ध में नई विधियों का प्रयोग करने का उत्साह ठण्डा पड़ गया, अधीन सरकारें तथा राजकर्मचारी एक ऐसे यन्त्र के अंग बन गये थे जो अपने उच्च अधिकारियों से लिखा-पढ़ी करने में तथा उनके आदेशों को कार्यान्वित करने में इतना व्यस्त रहता था और नियमों तथा नियन्त्रणों से ऐसा जकड़ा हुआ था कि इनके (अधीन सरकारों तथा राज-कर्मचारियों के) पास भलाई या बुराई करने की शक्ति न रह गई।

भारत में बढ़ते हुए असन्तोष ने लॉर्ड मॉर्ले को आशंकाओं से भर दिया और उसका यह अनुभव करना कोई अस्वाभाविक न था कि यह असन्तोष बहुत कुछ जनता और सरकारी अधिकारियों के बीच बढ़ती हुई खाई तथा अधिकारों के केन्द्रीकरण का फल है। मॉर्ले को एक निष्पक्ष जाँच की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उसने इसके लिए लॉर्ड मिण्टो की इच्छाओं के विपरीत भी १९०७ में सर चार्ल्स हॉबहाउस के सभापतित्व में एक 'शाही कमीशन' नियुक्त किया। इस कमीशन ने १९०९ में अपना विवरण प्रस्तुत किया, जिसमें विकेन्द्रीकरण के लिए बहुत से सुझाव दिये गये थे; ये सुझाव अगले वर्षों में कुछ सीमा तक कार्यान्वित किये गये। संक्षेप में कमीशन की सिफारिशें इन विषयों के सम्बन्ध में थीं: (अ) आर्थिक अधिकारों का वितरण, (आ) प्रान्तीय सरकारों का संविधान और डिविजन तथा जिले के अधिकारियों को अधिकार सौंपा जाना तथा (इ) स्थानीय स्वायत्त शासन।

(अ) **आर्थिक अधिकारों का वितरण**—अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में कमीशन को जो प्रणाली प्रचलित दिखाई दी वह थी लॉर्ड कर्जन की अंशतः स्थायी (quasi-permanent) प्रणाली। कमीशन ने किसी योजना का प्रस्ताव न रखकर, प्रचलित प्रणाली के दोषों पर प्रकाश डाला और इनको सुधारने के लिए कुछ उपाय सुझाये जो मई १९१२ के प्रस्ताव में सम्मिलित किये गये। संक्षेप में ये नये परिवर्तन लाये गये:—

(अ) प्रान्तों के लिए एक निश्चित धन-राशि स्वीकृत करने की प्रथा के दोषों को दूर करने के लिए प्रान्तों को बढ़ते हुए राजस्व (Revenue) में से हिस्सा दिया गया। यह सुधार पिछली व्यवस्थाओं को सुधार कर तथा राजस्व के कुछ

शीर्षकों को पूर्णतः या अंशतः प्रान्तीय सरकारों के उपयोग के लिए रखकर किया गया और इस वृद्धि के अनुपात में पूर्व-स्वीकृत निश्चित धन-राशि घटा दी गई।

(आ) अनुदान स्वीकार करने की नीति (The policy of doles), जिसकी तीव्र आलोचना की गई थी, जारी रखी गई, परन्तु इसके दोषों के निवारण करने के लिए तीन सिद्धान्त अपनाये गये, जिनके अनुसार भविष्य में अनुदान की नीति का निर्धारण होना था। ये सिद्धान्त थे :—

(१) अनुदान की नीति में केन्द्र का अधिक हस्तक्षेप न हो।

(२) प्रान्तीय सरकारों की इच्छाओं पर विचार किया जाय।

(३) यह आवश्यक न हो कि प्रत्येक प्रान्त में अनुदान एक ही उद्देश्य के लिए स्वीकृत किये जायँ।

इनसे स्पष्ट है कि १९१२ के प्रस्ताव से कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त, विद्यमान आर्थिक व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। इन परिवर्तनों का उद्देश्य यह था कि प्रान्तीय सरकारें अपनी अर्थ-व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें और साथ ही उन्हें अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जाय। परन्तु ये उद्देश्य केवल आंशिक रूप में ही पूर्ण हो सके। आय के शीर्षकों को केन्द्र और प्रान्त में बाँटने तथा प्रान्तों के लिए 'अनुदान' स्वीकार करने की प्रथा चलती रही और प्रान्तों को ऋण लेने या कर लगाने के अधिकार न दिये गये। अर्थ-व्यवस्था के मूलभूत दोष बने रहे; उनका निवारण आगे १९१९ के सुधारों से हो सका। इन सुधारों की अर्थ-व्यवस्था का वर्णन आगे यथास्थान किया जायगा।

(आ) **प्रान्तीय सरकारों का विधान**—प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध में कमीशन का मत यह था कि बड़े-बड़े प्रान्तों के लिए केवल लैफ्टिनेण्ट-गवर्नर नियुक्त करने की प्रणाली ठीक नहीं है; कमीशन ने सुझाव दिया कि ऐसे प्रान्तों में किसी ऐसे अँगरेज को गवर्नर नियुक्त करना चाहिए, जिसने सार्वजनिक जीवन में भाग लिया हो और उसकी सहायता के लिए एक परिषद् होनी चाहिए, जिसमें भारतीयों को भी स्थान दिया जाय। कमीशन ने जिले के प्रधान अधिकारी के रूप में कलक्टर के अधिकारों को बढ़ाने का सुझाव दिया; यह कमीशन गोखले द्वारा प्रस्तावित 'जिला-सलाहकार-समितियाँ' (District Advisory Councils) के निर्माण के पक्ष में न था। कमीशन ने डिविजनल कमिश्नरों को यथावत् बनाये रखने की सिफारिश की। कमीशन के सुझाव स्वीकृत हुए और धीरे-धीरे कार्यान्वित हुए।

(इ) **स्थानीय स्वायत्त-शासन**—कमीशन ने नगरपालिकाओं से लेकर ग्राम-समितियों तक स्थानीय स्वायत्त-शासन की सारी संस्थाओं का निरीक्षण किया और यद्यपि उसने इस सामान्यतः प्रचलित धारणा को स्वीकार नहीं किया कि स्थानीय

स्वायत्त-शासन का प्रयोग विफल रहा है, परन्तु उसने यह अवश्य स्वीकार किया कि लॉर्ड रिपन के सन् १८८२ के प्रस्ताव के समय से लेकर भारत के अधिकांश भाग में वास्तविक स्थानीय स्वायत्त-शासन का विकास पर्याप्त रूप से नहीं हुआ है।

जब इस कमीशन ने स्थानीय स्वायत्त-शासन का निरीक्षण किया था, तब यह प्रणाली लॉर्ड रिपन के सन् १८८२ के प्रस्ताव पर आधारित थी। परन्तु वस्तु-स्थिति यह थी कि यद्यपि इस प्रणाली का बाहरी ढाँचा रिपन के प्रस्ताव के अनुकूल था, परन्तु रिपन इस प्रणाली में जिस भावना का समावेश करना चाहता था और इसके लिए उसने जिन वाह्य नियन्त्रणों का समर्थन किया था, उनका इसमें सर्वथा अभाव था। इसका कारण वहुत कुछ तो इस पर सरकारी अधिकारियों का अत्यधिक नियन्त्रण, मत-दान के अधिकार का वहुत सीमित होना और आर्थिक साधनों का अभाव था और वहुत कुछ इस प्रणाली के लिए उपयुक्त भावनाओं से प्रेरित व्यक्तियों का अभाव था। ऐसे व्यक्तियों का अभाव भी वहुत कुछ तो सरकारी अधिकारियों के अत्यधिक नियन्त्रण का फल था, क्योंकि उनके कारण स्वतन्त्र विचारों के तथा योग्य व्यक्ति स्थानीय स्वायत्त-शासन में भाग लेने से वञ्चित रह जाते थे और वहुत कुछ शिक्षा तथा नागरिकता की भावना के अभाव के कारण था, जो निर्वाचित तथा निर्वाचक व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक वना देती है।

अधिकांश नगरपालिकाओं में सभापति कोई सरकारी अधिकारी होता था; सरकारी तथा मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या निर्वाचित सदस्यों से अधिक होती थी, वम्बई, मद्रास, मध्य-प्रान्त तथा संयुक्त-प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) जैसे कुछ नगर और प्रान्त ही इसके अपवाद थे। मताधिकार केवल ६% लोगों को प्राप्त था और नगरपालिका की आय के स्रोत मकान-कर (House-Tax), चुंगी, जल-कर (Water-Tax), कुछ अन्य कर, पथ-शुल्क (Toll) तथा सरकारी अनुदान थे।

अर्थ-व्यवस्था पर पूर्णतः सरकारी नियन्त्रण था। वजट तथा कर-व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिए और ऋण लेने के लिए सरकार की स्वीकृति आवश्यक होती थी; सरकार नगरपालिका के सभापति को कभी भी हटा सकती थी और नगरपालिका को अनिश्चित काल के लिए वन्द कर सकती थी।

नगरपालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, सड़कों इत्यादि के काम सौंपे गये थे। नगरपालिकाएँ आर्थिक साधनों की अल्पता और सरकारी नियन्त्रण की अधिकता के कारण यदि अपने कार्यों में विकास न कर सकीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ग्राम-सभाओं की भी यही स्थिति थी और उनके सामने भी वही बाधाएँ थीं जो नगरपालिकाओं के सामने थीं।

कमीशन ने स्थानीय स्वशासन के विषय में कुछ सिफारिशें कीं, जिनके आधार पर भारत-सरकार का सन् १९१५ का स्थानीय स्वायत्त-शासन-सम्बन्धी प्रस्ताव बना। १९१५ के प्रस्ताव में प्रगति के सामान्य मार्ग का निदर्शन किया गया था; प्रगति की गति और प्रणाली का निर्धारण प्रान्तीय सरकारों पर अपनी-अपनी स्थिति और सुविधा के अनुसार करने के लिए छोड़ दिया गया था। नगरपालिकाओं के सम्बन्ध में इस प्रस्ताव में गैर-सरकारी सभापति, निर्वाचित सदस्यों का बहुमत तथा कर लगाने, बजट बनाने और अपनी संस्थाओं पर नियन्त्रण में अधिक स्वतन्त्रता, इन बातों पर जोर दिया गया था। ग्राम-सभाओं पर सरकारी नियन्त्रण अब भी आवश्यक समझा गया। इस प्रस्ताव में यह भी सुझाव दिया गया, जैसी कि कमीशन ने सिफारिश की है, यदि सम्भव हो तो कुछ शासन और न्याय-सम्बन्धी अधिकारों सहित पंचायतों की स्थापना की जाय।

१९१५ के प्रस्ताव के सुझाव अभी कार्यान्वित हो भी न पाये थे कि अगस्त १९१७ की घोषणा से स्थिति इतनी बदल गई कि स्थानीय स्वायत्त शासन की सारी नीति को दुहराना आवश्यक हो गया। मई १९१८ में एक नया प्रस्ताव निकाला गया जो सम्भावित नवीन परिवर्तनों के अधिक अनुरूप था; इस प्रस्ताव में 'अनावश्यक सरकारी नियन्त्रण को धीरे-धीरे हटाने तथा सरकार और स्थानीय स्वायत्त-शासन के उपयुक्त कार्य-क्षेत्रों को पृथक् करने' की नीति की घोषणा की गई। इस प्रस्ताव में स्थानीय स्वायत्त-शासन के इस पक्ष पर बल दिया गया कि स्थानीय स्वायत्त-शासन प्रतिनिधि शासन-प्रणाली की नींव है; अतः स्थानीय स्वायत्त-शासन की संस्थाएँ जहाँ तक सम्भव हो, जनता की प्रतिनिधि संस्थाएँ बनाई जायँ। इन संस्थाओं के विधान के सम्बन्ध में इस प्रस्ताव में निम्नलिखित सुझाव दिये गये :—

(अ) नगरपालिकाओं तथा ग्राम-सभाओं में अधिकांश सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हों। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने तथा स्थानीय संस्थाओं में कुछ सरकारी विशेषज्ञों को मतदान का अधिकार न देते हुए स्थान देने के लिए इनमें से मनोनीत सदस्य रखे जायँ। सामान्यतः मनोनीत सदस्य एक-चौथाई से अधिक न हों। निर्वाचित सदस्यों की संख्या-वृद्धि के साथ-साथ मतदान के अधिकार का भी विस्तार किया जाय और सभापति का भी निर्वाचन हो। बड़ी नगरपालिकाओं के सम्बन्ध में इस प्रस्ताव में सुझाव दिया गया कि उनमें एक कार्यवाहक अधिकारी (Executive Officer) नियुक्त किया जाय; इस अधिकारी को केवल सरकार की स्वीकृति से या नगरपालिका के ठोस बहुमत से ही हटाया जा सकेगा।

(आ) नगरपालिकाओं को कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर कर लगाने या करों में परिवर्तन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो; परन्तु जहाँ कानून में कर की कोई अधिकतम दर निर्धारित न हो, वहाँ कर की दर बढ़ाने के लिए किसी बाह्य अधिकारी की स्वीकृति आवश्यक रखी जाय। परन्तु जिन नगरपालिकाओं पर ऋण हों, उनको करों में परिवर्तन करने के लिए उच्च अधिकारियों की स्वीकृति लेनी आवश्यक थी।

(इ) नगरपालिकाएँ उन सभी कर्मचारियों पर नियन्त्रण रख सकेंगी, जिनको वे वेतन देती हैं। जिन कर्मचारियों पर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक समझा जाय, वे प्रान्तीय सेवा-आयोग के हों।

(ई) बजटों के सम्बन्ध में नगरपालिकाओं को एक निश्चित न्यूनतम धन-राशि बचा कर (Balance) रखने के अतिरिक्त अन्य बातों में स्वतन्त्रता दी जाय।

(उ) नगरपालिकाओं के कार्यों में बाह्य हस्तक्षेप अपवाद के रूप में ही किये जायें। सामान्य नीति यह रखी जाय कि "नगरपालिकाओं को अपनी भूलों से सीखने दिया जाय और गम्भीर अव्यवस्था की स्थिति में ही हस्तक्षेप किया जाय।"

(ऊ) जैसी कि कमीशन ने सिफारिश की है, ग्राम-पंचायतों की स्थापना की जाय।

इस प्रस्ताव में दिये गये सुझावों के आधार पर विभिन्न प्रान्तीय कानून (Provincial Acts) बने। १९१९ के कानून ने, जिसका हम आगे वर्णन करेंगे, प्रान्तों को स्थानीय स्वायत्त-शासन सौंप दिया, परन्तु इसका आधार भारत-सरकार का उपर्युक्त प्रस्ताव बना और अब भी यही स्थानीय स्वायत्त-शासन-प्रणाली का आधार बना हुआ है।

सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण—इँगलैण्ड के साथ-साथ भारत में भी सिविल सर्विस की परीक्षाओं की व्यवस्था करने और भारतीयों को अधिक संख्या में सरकारी नौकरियों में लेने से भारत-सरकार का इनकार करना भारतीयों के असन्तोष का कारण बना हुआ था। कांग्रेस जनता की माँग का समर्थन करती रही, परन्तु सरकार कार्नवालिस की इस भावना से शासित होती रही थी कि उच्च पदों पर भारतीयों का विश्वास नहीं किया जा सकता और निपुणता पर यूरोपीय लोगों का ही एकाधिकार है। कार्नवालिस के यह विचार भारतीयों के आत्म-सम्मान के लिए अपमानजनक थे और जब तक सरकार इन विचारों से प्रभावित रही, भारतीय जनता का आन्दोलन जोर पकड़ता रहा।

सिविल सर्विस की परीक्षाओं को इँगलैण्ड के साथ-साथ भारत में भी प्रारम्भ

करने के आन्दोलन को दादाभाई नौरोजी ने इँगलैण्ड में भी आरम्भ किया। दादाभाई नौरोजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप इँगलैण्ड की लोक-सभा ने १८९३ ई० में एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें इँगलैण्ड के साथ-साथ भारत में भी सविल सर्विस की परीक्षाएँ आरम्भ करने और सभी परीक्षार्थियों को समान दृष्टि से देखने का समर्थन किया गया था। तत्कालीन राज्य-सचिव लॉर्ड किम्बरले ने इस प्रस्ताव को भारत-सरकार के पास भेजते हुए साथ में यह भी जोड़ दिया कि सिविल सर्विस में यूरोपीय लोगों को पर्याप्त संख्या में बनाये रखना आवश्यक है; राज्य-सचिव के इस विशेष निर्देश ने प्रस्ताव को सारी अच्छाइयों को प्रभावहीन बना दिया और व्यावहारिक रूप में इसका कोई महत्त्व न रह गया। परिणाम यह हुआ कि लॉर्ड लैन्सडाउन की सरकार ने इस प्रस्ताव के विपक्ष में सम्मति प्रकट की, क्योंकि मद्रास के अतिरिक्त और कोई भी प्रान्तीय सरकार इस प्रस्ताव के सिद्धान्तों से सहमत न थी। भारत-सरकार ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध जो कारण दिये थे वे न्याय-सम्मत होने की अपेक्षा शब्दाडम्बरपूर्ण हो अधिक थे। भारत-सरकार ने यह आशंका प्रकट की कि यदि प्रतियोगीय परीक्षाओं (Competitive Exam.) पर नियन्त्रण न रखा गया तो सिविल सर्विस में यूरोपीय व्यक्तियों की संख्या तो कम हो ही जायगी, परन्तु इसके साथ-साथ मुसलमान, सिक्ख इत्यादि जातियाँ भी, जो परम्परागत प्रणाली से शासन करने की अभ्यस्त हैं और जिनमें अद्भुत चारित्रिक बल है, परन्तु जो साहित्यिक शिक्षा में पिछड़ी हुई हैं, सरकारी नौकरियों से वञ्चित हो जायँगी। इसके अतिरिक्त भारत-सरकार ने यह भी विचार प्रकट किया कि भारत के एक भाग के लोग अपने स्वभाव तथा परम्पराओं के कारण, देश के दूसरे भाग में सरकारी अधिकारी के कर्तव्यों का ठीक-ठीक निर्वाह न कर सकेंगे। इन कारणों की आलोचना करना व्यर्थ है। यह प्रस्ताव विभिन्न विभागों में घूमता हुआ, अन्ततः भारत-सचिवालय (India Office) की फाइलों में विलीन हो गया।

लॉर्ड किम्बरले के पश्चात् श्री एच० एच० फाउलर ने भारत-सचिव का पद-भार ग्रहण किया। फाउलर महोदय भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीयों की आकांक्षाओं को पूर्ण करने की सबसे अच्छी विधि यही है कि जहाँ कहीं सम्भव हो, उनकी निम्न पदों से उच्च पदों पर तरक्की की जाय। इससे अँगरेजों की न्याय-बुद्धि तो सन्तुष्ट हो गई; परन्तु भारतीय जनमत उबल पड़ा। अँगरेज सरकार के वचनों तथा न्याय पर से भारतीयों का विश्वास उठने लगा। आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। फल यह हुआ कि लॉर्ड कर्जन ने अपने प्रति जो कटुता की भावना जाग्रत् कर दी थी वह और भी बढ़ गई।

लॉर्ड कर्जन ने सरकारी नौकरियों में बहुत से परिवर्तन किये, परन्तु इनके

भारतीयकरण के प्रति उसके विचार भिन्न न थे। भारतीयों को सरकारी नौकरियों से वञ्चित रखने की सरकारी नीति के विरोध में गोखले ने १९०३ ई० में परिषद् में आवाज उठाई, परन्तु फल कुछ भी न हुआ। आन्दोलन दिन पर दिन जोर पकड़ता गया; शिक्षित वेकारों की प्रतिदिन बढ़ती हुई संख्या ने इस आन्दोलन को और भी बल दिया। विश्वविद्यालय की शिक्षा पूर्ण कर लेने के बाद जब युवक जीवन-क्षेत्र में उतरते थे तो उन्हें सरकारी नौकरियों के सारे दरवाजे अपने लिए बन्द दिखाई देते थे। आन्दोलन को बढ़ते देख सरकार ने पुराने हथकण्डे से काम लिया; सितम्बर १९१२ में एक 'जन-सेवा जाँच-समिति' (Public Service Commission) की नियुक्ति की। लॉर्ड इस्लिंगटन इसके अध्यक्ष नियुक्त हुए और उनके साथ दो भारतीय सदस्य स्व० न्यायाधीश अब्दुर्रहीम तथा श्री चौबल रखे गये। बताया गया कि लॉर्ड हार्डिंज की सरकार भारतीयों को सरकारी नौकरियों में देश के हितों को क्षति न पहुँचाते हुए अधिक से अधिक भाग देने के लिए 'उत्सुक' है। "इस जाँच-समिति को काम यह सौंपा गया कि वह सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिए जाने के प्रश्न पर अपना विवरण प्रस्तुत करे और उन रुकावटों की भी जाँच करे जो गैर-यूरोपीय लोगों को सरकारी नौकरियों में लेने के मार्ग में अभी तक विद्यमान हैं तथा सरकारी नौकरियों के शाही (Imperial) एवं प्रान्तीय इन दो विद्यमान विभाजनों के व्यावहारिक पक्ष की जाँच करे।"

इस जाँच-समिति को अपने विचार के लिए प्रमाण जुटाने में दो वर्ष लग गये और इस कार्य में २० लाख का व्यय हुआ। इसने अपना विवरण १९१५ में पूर्ण कर लिया, परन्तु महायुद्ध के कारण सरकार ने इस विवरण के प्रकाशन को जनवरी १९१७ तक के लिए स्थगित कर देना उचित समझा। इस समिति की सिफारिशें घटना-चक्र की प्रगति से मेल न खाती थीं; अतः इनकी सर्वत्र तीव्र आलोचना हुई। जाँच-समिति के दोनों भारतीय सदस्यों ने इसके विवरण से असहमति प्रकट करते हुए बहुमूल्य टिप्पणियाँ लिखीं। ये टिप्पणियाँ सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती हैं और इस प्रकार सरकारी नौकरियों के विषय में इनसे बहुमूल्य सूचनाएँ मिलती हैं।

जाँच-समिति के सुझाव—इस जाँच-समिति ने २४ नौकरियों के विषय में प्रमाणों का संग्रह किया। जिन नौकरियों के लिए भर्ती साधारणतया भारत में की जाती थी, उनकी संख्या में जाँच-समिति ने वृद्धि कर दी। जिन नौकरियों के लिए भर्ती पूर्णतः या अंशतः यूरोप में की जाती थी, उनको इस जाँच-समिति ने तीन प्रधान वर्गों में बाँटा।

जाँच-समिति का कथन था कि "पहले वर्ग में हम भारतीय सिविल सर्विस और

पुलिस-विभाग को रखते हैं, जिन दोनों में भारत के सुशासन के लिए अँगरेज सरकार का उत्तरदायित्व ऐसा है कि उसके निर्वाह के लिए इन विभागों के उच्चतर पदों पर अँगरेज अधिकारी अत्यधिक संख्या में रखने आवश्यक हैं। दूसरे वर्ग में वे नौकरियाँ आती हैं, जिनमें शासन-नीति, एवं निपुणता की दृष्टि से पूर्वीय तथा पश्चिमी तत्त्वों का मिश्रण वांछनीय है। ऐसी नौकरियाँ शिक्षा, सेना, अर्थ-व्यवस्था इत्यादि से सम्बन्धित हैं। तीसरे वर्ग में कुछ वैज्ञानिक तथा शिल्प-सम्बन्धी (Technical) नौकरियाँ आती हैं, जैसे कृषि, कारखाने, जंगल इत्यादि विभागों की। इन नौकरियों में शासन-नीति की दृष्टि से यूरोपीय व्यक्तियों को रखने की कोई आवश्यकता नहीं है; इनमें भारत में भर्ती करने में बाधा यह है कि इस देश में वैज्ञानिक तथा शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा के लिए सुविधाओं का अभाव है, जिसके कारण यहाँ योग्य अध्यापकों की कमी है।"

यह जाँच-समिति भारत में आई० सी० एस० की परीक्षा प्रारम्भ करने के पक्ष में न थी, जिसके लिए भारतीय जनता एकमत से माँग कर रही थी। इस असहमति के लिए जाँच-समिति ने अनेक कारण बताये, परन्तु यह वास्तविक कारण प्रकट न किया कि आई० सी० एस० परीक्षा केवल अँगरेजों के लिए ही बनाई गई थी। भारतीयों की आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए जाँच-समिति ने प्रत्येक विभाग में हिन्दुस्तानियों के लिए कोई संख्या या अनुपात निश्चित कर देने की सिफारिश की। यह जाँच-समिति सिद्धान्ततः किसी विभाग में भारतीय कर्मचारियों की प्रतिशत संख्या निश्चित करने के पक्ष में न थी; परन्तु व्यवहार में इसने एक 'अस्थायी व्यवस्था' के रूप में यह स्वीकार कर लिया था। आई० सी० एस० परीक्षा के सम्बन्ध में जाँच-समिति का सुझाव यह था कि ७५% भर्ती इँगलैण्ड में खुली प्रतियोगीय परीक्षा द्वारा की जाय; सिद्धान्ततः भारतीय भी इस परीक्षा में भाग ले सकते थे, परन्तु उनको ऐसा करने से रोकने के लिए अधिकतम आयु २४ वर्ष से घटा कर १९ कर दी गई और न्यूनतम आयु १७ रखी गई तथा परीक्षण-काल (Probationary period) २ से बढ़ाकर ३ वर्ष कर दिया गया। २५% भर्ती भारत में करने का सुझाव रखा गया; यह भर्ती मनोनयन (Nomination) द्वारा होती थी, जिसके लिए एक चुनाव-समिति (Selection Committee) नियुक्त की जाती थी; इस समिति में सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा जाता था। पुलिस-विभाग में भारतीयों की प्रतिशत संख्या और भी कम रखी गई थी; यह संख्या १०% से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे २०% तक ले जाई जाती थी।

सरकारी नौकरियों का अखिल, प्रान्तीय और अधीन—इन वर्गों में विभाजित

करने के सम्बन्ध में जाँच-समिति ने यह सम्मति प्रकट की कि इनमें से 'प्रान्तीय' वर्ग को समाप्त कर देना चाहिए और यदि किसी प्रान्त में इसको रखा भी जाय तो इस वर्ग के नाम में उस प्रान्त का नाम आ जाना चाहिए, जैसे 'संयुक्त-प्रान्त जन-सेवा' (U. P. Civil Service) और यदि प्रान्तीय जन-सेवा के कुछ विभागों में भर्ती भारत-सरकार द्वारा होती हो तो इन दोनों में भेद करने के लिए 'श्रेणी १' और 'श्रेणी २' नामों का व्यवहार किया जाय।

जाँच-समिति की सिफारिशों से जन-मत बहुत असन्तुष्ट रहा। भारतीय जनता ने इनसे अपमान का अनुभव किया और स्वतन्त्र होने का उसका निश्चय और भी दृढ़ हो गया। श्री हृदयनाथ कुंजरू ने ठीक ही कहा था कि इस जाँच-समिति के "विवरण से हमारा भारत के लिए शीघ्रातिशीघ्र स्वशासन प्राप्त करने का निश्चय दृढ़ हो जाना चाहिए, क्योंकि उसी में हमारी मुक्ति है।" न्यायाधीश श्री अब्दुर्रहमान ने भारतीय भावनाओं को व्यक्त करते हुए कहा था कि अब प्रश्न यह नहीं रह गया है कि भारतीयों को अधिकाधिक सरकारी नौकरियाँ दी जायँ, अपितु अब तो आवश्यकता इस बात की है कि यूरोपीय व्यक्तियों की नियुक्ति उन्हीं पदों पर की जाय जहाँ उनकी नियुक्ति के बिना काम न चलता हो और "इसलिए प्रश्न यह रह जाता है कि किन नौकरियों पर किस सीमा तक इँगलैण्ड से नियुक्तियाँ की जायँ।" श्री अब्दुर्रहमान ने आगे कहा कि "बहुमत के दृष्टिकोण में जो सुझाव छिपा है वह यह है कि शासन में भारतीयों के लिए नौकरियाँ प्राप्त करने के विशेष उपायों की आवश्यकता है और इसलिए व्यावहारिक प्रश्न यह है कि उन्हें कितनी अधिक या कम नौकरियाँ दी जायँ। दूसरी ओर मेरे मन में जो धारणा जम गई है वह यह है कि यदि भारतीय उच्च पदों पर पैर नहीं जमा सके हैं तो इसमें उनका अपना दोष नहीं है, इसका कारण वे तरह-तरह की बाधाएँ हैं, जो उनके मार्ग में खड़ी की गई हैं। उनके लिए इतना ही पर्याप्त होगा कि उन पर लगाई गई रोकें हटा दी जायँ और समान सुयोग तथा निष्पक्ष व्यवहार के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप में अपनाया जाय। सरकारी नौकरियों में भारतीयों के हिस्से के बारे में श्री हृदयनाथ कुंजरू लिखते हैं कि "कमीशन ने जिन चौबीस नौकरियों पर विचार किया है, उनके अन्तर्गत ९९४९ अफसर आते हैं, जिनमें से ४,१४० अर्थात् ४२% की भर्ती यूरोप से की गई है। इसके अतिरिक्त उन विभागों में जहाँ २००) से कम के वेतन नहीं हैं, ११,०६४ पद हैं। इनमें से ४२% अर्थात् आधे से भी कम पदों पर ही भारतीय नियुक्त हैं। यदि हम केवल कम से कम ५००) तथा ८००) प्रति मास वेतनवाले पदों पर विचार करें, तो हम देखते हैं कि इन पदों की संख्या क्रमशः ४,९८४ तथा २,५०१ है और इनमें भारतीयों का हिस्सा पहली श्रेणी के पदों में १९% तथा दूसरी

श्रेणी के पदों में १०% है।" भारतीयों को सरकारी नौकरियों में उनका न्यायोचित हिस्सा देने में आज तक सरकार ने जो कदम उठाये वे कितने अपर्याप्त थे इसका उपर्युक्त विवरण से अधिक स्पष्ट और क्या प्रमाण हो सकता है ? अब तक सरकार की नीति यही रही कि भारतीयों को ऊँचे वेतनवाले पदों से अलग रखा जाय और इस जाँच-समिति की सिफारिशों में भी इस नीति में कोई वास्तविक परिवर्तन दिखाई नहीं देता।

२० अगस्त १९१७ की घोषणा में शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों के अधिकाधिक प्रवेश की नीति की स्पष्ट घोषणा की गई थी। इस घोषणा को देखते हुए इस्लिंग्टन-जाँच समिति की सिफारिशें सरकारी तौर पर भी अपर्याप्त समझी गईं और मॉण्टफोर्ड-विवरण (Montford Report) के निर्माताओं ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए यही कहा कि यद्यपि "इस्लिंग्टन-विवरण को इस समय की कार्यवाही का आधार बनाना चाहिए...परन्तु हमारा विचार है कि कुछ महत्त्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में इसके निष्कर्षों में वृद्धि करना आवश्यक होगा।" मॉण्टफोर्ड-विवरण में आगे कहा गया है कि "(इस्लिंग्टन जाँच-समिति के) विवरण पर हस्ताक्षर होने के समय से अब तक भारतीय शासन के लिए पूर्णतः नवीन नीति अपना ली गई है, जो सफलता के लिए उस सीमा पर बहुत अधिक निर्भर करती है, जिस तक शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का प्रवेश कराया जायगा। इसलिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि भारतीयों की बहुत अधिक बढ़ाये हुए अनुपात में भर्ती तत्काल प्रारम्भ हो जानी चाहिए।" सरकारी नौकरियों में भारतीयों की भर्ती बढ़ाने के लिए मॉण्टफोर्ड-विवरण में यह विधि सुझाई गई कि "प्रतिवर्ष इतने भारतीयों को भर्ती किया जाय, जितनों को उस विभाग में पहले से नियुक्त कर्मचारी सिखा-सधा सकें और सारे विभाग के स्तर पर ला सकें।" इसके लिए इस विवरण में यूरोपीयों तथा भारतीयों के बीच यथासम्भव समान बँटवारे का सुझाव दिया गया, परन्तु उपयुक्त उम्मीदवारों की कमी तथा विभिन्न प्रान्तों में स्थिति की भिन्नता की ओर ध्यान दिलाते हुए सावधानी से काम लेने का भी परामर्श दिया गया और इसके लिए यह सुझाया गया कि कुछ प्रान्तों में नौसिखियों का अनुपात अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक रखा जाय।

इन प्रारम्भिक वक्तव्यों के साथ मॉण्टफोर्ड-रिपोर्ट में भविष्य की कार्यवाही के आधारस्वरूप निम्नलिखित सिद्धान्त रखे गये। इसमें जातीय भेदभाव दूर करने तथा इस भेदभाव के बिना नियुक्तियाँ करने का सुझाव दिया गया। दूसरे, इस विवरण में यह प्रस्ताव रखा गया कि जिन नौकरियों के लिए इँगलैण्ड में भर्ती की जाती है और यह भर्ती यूरोपीयों तथा भारतीयों के लिए समान रूप से खुली

है, उनके लिए भारत में भर्ती करने की भी कोई प्रणाली अवश्य होनी चाहिए और इस विवरण में जो प्रणाली प्रस्तावित की गई, वह यह थी कि ऐसी नौकरियों के लिए भारत में भर्ती की कोई प्रतिशत संख्या निश्चित कर दी जाय; उदाहरण के रूप में इस विवरण में सुझाव दिया गया कि आई० सी० एस० के उच्च पदों के लिए ३३% भर्ती भारत में की जाय और प्रतिवर्ष इस प्रतिशत में १$\frac{१}{२}$% की वृद्धि अगली जाँच-समिति के नियुक्त होने तक की जाती रहे; दूसरी नौकरियों में भी यही प्रणाली अपनाई जाय और इस प्रकार सरकारी नौकरियों में भारतीयों की संख्या बढ़ाई जाय।

सन् १९१९ के भारत-सरकार कानून (Government of India Act, 1919) में, जिसका हम आगे वर्णन करेंगे, राज्य-सचिव को आई० सी० एस० में भारतीयों की नियुक्ति के लिए नियम बनाने तथा भारत में सरकारी नौकरियों के वर्गीकरण, उनकी भर्ती, नौकरी की शर्तें, वेतन, भत्ते इत्यादि को नियमित करने का भी अधिकार दिया गया। राज्य-सचिव नियम बनाने के अपने इस अधिकार को परिषद्-सहित गवर्नर-जनरल (Governor-General-in-Council) को या स्थानीय सरकारों को सौंप सकता था। १९१९ के कानून में राज्य-सचिव को 'जन-सेवा-आयोग' (Public Services Commission) नियुक्त करने का भी अधिकार दिया गया, जिसमें सभापति सहित पाँच से अधिक सदस्य न हों, सदस्यों का कार्य-काल पाँच वर्ष हो और उनकी दुबारा नियुक्ति हो सके, यह 'आयोग' राज्य-सचिव द्वारा बनाये गये नियमों में उल्लिखित भर्ती-सम्बन्धी कार्य करे।

राज्य-सचिव ने जो नये नियम बनाये, उनके अनुसार भर्ती के लिए इंगलैण्ड तथा भारत में एक साथ प्रतियोगीय परीक्षाओं की प्रणाली अपनाई जाती थी और विभिन्न सम्प्रदायों तथा प्रान्तों को उचित हिस्सा देने के लिए मनोनयन (Nomination) किया जाता था।

सरकारी नौकरियों का सारा प्रश्न फिर से सन् १९२२ में एक शाही कमीशन के सामने रखा गया; लार्ड ली इसके सभापति थे, इसके प्रस्तावों का विवरण हम अगले परिच्छेद में देंगे।

मॉण्टफोर्ड-विवरण में सरकारी नौकरियों में यूरोपीयों की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए कुछ उपाय निश्चित करना आवश्यक समझा गया था, इसलिए १९१९ के कानून में इस उद्देश्य से तीन महत्त्वपूर्ण बातें रखी गई थीं :—

(१) यूरोपीय कर्मचारी का चाहे जैसा भी आचरण हो, मन्त्री उसको पद-च्युत नहीं कर सकता।

(२) उच्च कर्मचारियों को अपने विभागीय सचिवालय के प्रधान अधिकारियों के विरुद्ध सीधे गवर्नर से शिकायत करने का अधिकार होगा।

(३) कर्मचारियों के वेतन, भत्ते, पेंशनें इत्यादि मंत्रियों की अधिकार-सीमा से बाहर होंगे।

इन निर्देशों के कारण सरकारी पदाधिकारी जनता के नियन्त्रण से मुक्त हो गये; परिणाम यह हुआ कि वे उद्दण्ड बन गये, क्योंकि उन्हें पद-च्युत होने का कोई भय न था। वे सीधे राज्य-सचिव से सम्बन्ध रखने लगे और राज्य-सचिव भी उनके माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से उन सभी बातों को नियन्त्रित करने लगा, जिनको प्रान्तीय या स्थानीय सरकारों को सौंपा गया था। सरकारी पदाधिकारियों का आचरण सुधारों की मॉन्टफोर्ड-योजना को विफल बनाने में कम सहायक न हुआ।

दमन, महायुद्ध और १९१९ के सुधार—सरकारी दमन, कांग्रेस में फूट, नरम दल का सुधारों को स्वीकार कर लेना, इन सब बातों ने मिलकर, राजनीतिक आंदोलन की धारा को अवरुद्ध कर दिया था और इसको जन-आन्दोलन बन जाने से रोक दिया था। भारतीय राजनीति में महात्मा गान्धी के प्रवेश से भारत के राजनीतिक आन्दोलन ने जन-आन्दोलन का रूप धारण किया।

लॉर्ड हार्डिंज ने कांग्रेस की फूट से लाभ उठाकर कठोर दमन और साथ ही सहानुभूति की नीति द्वारा भारतीय जनता को अँगरेजी राज के पक्ष में करने का सफल प्रयत्न किया। हार्डिंज के सामने सबसे पहली समस्या थी प्रेस और सभाओं द्वारा उग्र क्रान्तिवाद के बढ़ते हुए प्रचार को रोकना। उसने सबसे पहले प्रहार इसी दिशा में किये। सन् १९११ में, गोखले के उग्र विरोध की उपेक्षा कर 'राजद्रोहात्मक सभा-निषेध कानून' (Prevention of Seditious Meetings Act) पास किया गया; इसके साथ-साथ सन् १९१० के प्रेस-विधान (Press law), १९१३ के 'दण्ड-विधान-संशोधक कानून' (Criminal Law Amendment Act) जिसमें षड्यन्त्र को एक स्वतन्त्र अपराध मानकर इसकी व्याख्या की गई थी, इन कानूनों ने मिलकर कार्यकारिणी के हाथों में सरकार की निष्पक्ष आलोचनाओं तक का मुँह बन्द कर देने की शक्ति दे दी।

परन्तु हार्डिंज की दमन-नीति के साथ-साथ उसकी सहानुभूति की नीति ने जनता को बहुत कुछ सरकार की ओर खींच लिया, और कर्जन के शासन-काल के घावों को भरने में बहुत सहायता की। बंगाल में विभाजन-विरोधी आन्दोलन उग्र प्रवृत्तियों सहित अब भी उत्साह के साथ चल रहा था। जनवरी, १९११ में इस सम्बन्ध में एक सार्वजनिक सभा की घोषणा की गई थी; इस घोषणा ने लॉर्ड हार्डिंज का ध्यान इस आन्दोलन की ओर आकर्षित किया। उसने स्थिति से पूर्णतः परिचित

करानें के लिए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को आमन्त्रित किया। इस भेंट का परिणाम यह हुआ कि सभा का विचार त्याग दिया गया और बंगाल के प्रभावशाली तथा प्रतिनिधि व्यक्तियों ने सरकार के सामने एक स्मृति-पत्र जून, १९११ के अंतिम दिनों में प्रस्तुत किया। अंततः १९ दिसम्बर, १९१२ को शाही दौरे के अवसर पर बंगाल के विभाजन में संशोधन किया गया।

लार्ड हार्डिंज के समय में जनता की भावनाओं तथा आकांक्षाओं के प्रति सरकार की दृष्टि में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। सरकार ने, चाहे उसके आन्तरिक उद्देश्य जो भी रहे हों; कम से कम इतना तो अवश्य किया कि अब वह जनता के कष्टों को समझने लगी और उनको दूर करने का प्रयत्न करने लगी। इस दृष्टि से लॉर्ड हार्डिज का शासन-काल कर्जन के शासन-काल से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है और सरकार की यह सहानुभूति महायुद्ध के बुरे दिनों में भारत में आन्तरिक शान्ति बनाये रखने में बहुत कुछ सफल हुई और इन दिनों देश की आन्तरिक शान्ति सरकार के लिए बहुत ही आवश्यक भी थी।

हार्डिज तथा उससे कुछ कम मात्रा में मिन्टो ने भारत के प्रति जो सहानुभूति प्रकट की उसके कारण भारतीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय थे। यूरोप के राष्ट्र शस्त्रों तथा युद्ध-सामग्रियों से सिर से पाँव तक लैस होकर दो दलों मे बँट गये थे और विश्व-युद्ध अनिवार्य प्रतीत हो रहा था। कैसर (द्वितीय विलियम) की अधीनता में युद्ध-निपुण जर्मनी पृथ्वी के अधिक भाग पर अधिकार करने, उपनिवेशों तथा कच्चे माल की दौड़ में अपने देश की सीमाओं से बाहर झपटने तथा उस शक्ति-संतुलन को जो उस समय साम्राज्यवादी इँगलैण्ड और फ्रांस की ओर झुका हुआ था, समाप्त करने पर तुला हुआ था।

प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के इस संघर्ष में टर्की के ओटोमान साम्राज्य ने जर्मनी का पक्ष लिया, जिससे इँगलैण्ड का उसके विरोध में होना आवश्यक हो गया। इस स्थिति ने १९११-१३ के बाल्कान युद्धों के साथ मिलकर तथा यूरोप के मुसलमान देशों के प्रति इँगलैण्ड के व्यवहार ने भारतीय मुसलमानों की राजभक्ति को हिला दिया और बाद में यही खिलाफत आन्दोलन का कारण बना।

संक्षेप में, यूरोप की उलझनों तथा भारत में मुसलमानों की राजभक्ति में शिथिलता को देखते हुए इँगलैण्ड दमन-नीति से ही काम न चला सकता था; यही कारण है कि हार्डिज के समय से सरकार की नीति सहानुभूतिपूर्ण बन गई, जो १९१९ तक चलती रही और यही स्थिति इस बीच १९१७ की घोषणा, १९१९ के सुधार तथा भारत को उन सब प्रशंसाओं का कारण बनी जो उस समय के अँगरेज राजनीतिज्ञों के संसदीय तथा सार्वजनिक भाषणों मे भरी हुई हैं। परन्तु युद्ध के

समाप्त होते ही यह सहानुभूति भी लुप्त हो गई और बात-बात में बल-प्रयोग होने लगा। वास्तव में, भारतीय इतिहास तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में बहुत घनिष्ठ संबंध है। यह विषय इतना विस्तृत है कि इस पर एक अच्छा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इँगलैण्ड की यूरोप में स्थिति जब कभी संकटपूर्ण हुई, उसने भारतीय शासन में सहानुभूति की नीति अपनाई और यूरोप में जब कभी उसका प्रभाव बढ़ा, भारतीय शासन में उसने दमन-नीति से काम लिया।

लॉर्ड हार्डिंज ने बंगाल की जनता में बंग-विच्छेद से उत्पन्न क्षोभ को शान्त करने के विषय में राज्य-सचिव के साथ अगस्त, १९११ से ही पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया था। बंगाली जनता के क्षोभ को दूर करने की लॉर्ड हार्डिंज की योजना एक विस्तृत योजना का अंग थी जो उसने अगस्त, १९११ के अपने पत्र में राज्य-सचिव के सामने रखी थी। उसकी योजना यह थी कि भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली में ले आई जाय, बँगला-भाषी पाँच डिविजनों-प्रेसिडेन्सी, बर्दवान, ढाका, राजशाही और चिटगाँव को एक प्रेसिडेन्सी के रूप में पुनः संयुक्त कर दिया जाय, जिसके शासन के लिए परिषद्-सहित गवर्नर (Governor-in-Council) नियुक्त हो, बिहार, छोटा नागपुर और उड़ीसा को सम्मिलित कर परिषद्-सहित लेफ्टिनेंट-गवर्नर के अधीन रखा जाय और इस नये प्रदेश के लिए एक व्यवस्थापिका परिषद् बनाई जाय तथा इसकी राजधानी पटना में हो, और आसाम को पुनः चीफ कमिश्नरी बना दिया जाय। इस योजना के अन्त में यह भी प्रस्ताव किया गया था कि शासन-सम्बन्धी इन परिवर्तनों की घोषणा आगामी शाही दरबार के अवसर पर सम्राट् द्वारा की जाय। हार्डिंज की यह योजना कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ स्वीकृत हुई। इसके अनुसार आवश्यक घोषणाएँ कर दी गईं और इसमें प्रस्तावित शासन-सम्बन्धी परिवर्तन सन् १९१२ के भारत-सरकार-कानून में रखे गये।

हार्डिंज की दृष्टि में राजधानी का कलकत्ता से दिल्ली आ जाना इस सारी योजना की सर्व-प्रमुख बात थी और यह परिवर्तन भारत के भावी नियमित विकास के लिए आवश्यक था। उसने १९११ के अपने पत्र में लिखा था कि "भारत में अँगरेजी राज्य का बना रहना परिषद्-सहित गवर्नर-जनरल के चरम सर्वोच्चाधिकार पर निर्भर करता है। अंततः यह भी निश्चित है कि कालान्तर में भारतीयों की शासन में अधिकाधिक हिस्सा बँटाने की न्यायोचित माँग को पूरा करना ही पड़ेगा और तब प्रश्न यह उठेगा कि शासकीय अधिकारों का यह बँटवारा परिषद्-सहित गवर्नर-जनरल के सर्वोच्च अधिकार को अक्षत रखते हुए कैसे किया जाय। इस प्रश्न का एकमात्र संभव समाधान यही हो सकता था कि प्रान्तों को धीरे-धीरे स्वशासन के अधिकाधिक अधिकार दिये जायँ, जिससे अंततः भारत में प्रान्तीय सरकारें अपने

शासन में स्वतन्त्र हो जायँ और उन सबके ऊपर भारत-सरकार हो, जिसको प्रान्तीय सरकारों के कुशासन को रोकने का अधिकार हो, परन्तु साधारणतया जिसका कार्य-क्षेत्र शाही मामलों तक सीमित हो, इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वोच्च सरकार को किसी प्रान्तीय सरकार से सम्वद्ध न रखा जाय। इसलिए भारत-सरकार को कलकत्ता से हटाना एक ऐसा कार्य होगा जो हमारे विचार से स्थानीय स्वायत्त शासन के नियमित और दोष रहित विकास में महत्त्व-पूर्ण योग प्रदान करेगा।"

शाही दरबार, १२ दिसम्बर, १९१२—दिसम्बर, १९१२ में सम्राट् पंचम जॉर्ज का भारत-आगमन कोई महत्त्वहीन घटना न थी। यह पहला अवसर था जब किसी इँगलैण्ड के राजा ने भारत-भूमि पर पाँव रखा था। इस अवसर को चिर-स्मरणीय बनाने के लिए दिल्ली में एक शानदार राजतिलक का दरबार किया गया, भारतीय जनता को प्रभावित करने के लिए देशी रियासतों से लेकर सैनिक तथा जन-सेवा के पदाधिकारियों के लिए विभिन्न 'वरदानों' की घोषणा की गई, रियासतों को 'नजराने' की छूट दी गई तथा सैनिक एवं जन-सेवा के कर्मचारियों को उनके वेतन के हिसाब से अतिरिक्त रकमें दी गईं और सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार के लिए ५० लाख का अनुदान स्वीकार किया गया। इन 'वरदानों' में सबसे महत्त्वपूर्ण था बंगाल के विच्छेद का संशोधन, जिसने स्पष्ट कर दिया कि 'बमों और वरदानों' में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है और जिसने इस विश्वास को दृढ़ कर दिया कि अँगरेजों को ठीक मार्ग पर लाने का एकमात्र उपाय उग्र आन्दोलन ही है।

१९१२ का भारत सरकार कानून—शाही दरबार में राजा द्वारा घोषित शासन-सम्बन्धी परिवर्तनों को संसदीय स्वीकृति देने के लिए १९१२ का भारत-सरकार कानून पास किया गया, जिसके अनुसार—

(१) बंगाल के गवर्नर, उसकी व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी परिषदों को वही अधिकार दिये गये जो मद्रास और बम्बई को प्राप्त थे।

(२) बिहार और उड़ीसा में कार्यकारिणी परिषद् की व्यवस्था की गई।

(३) चीफ कमिश्नरों के प्रदेशों में व्यवस्थापिका परिषदों के निर्माण की व्यवस्था की गई और आसाम तथा मध्य-प्रान्त के लिए परिषदें बनाई गईं। दिल्ली प्रान्त को एक चीफ कमिश्नर के अधीन परिषद्-सहित गवर्नर-जनरल के सीधे अधिकार में रखा गया।

वंग-विच्छेद में संशोधन कर बंगालियों की भावनाओं को संतुष्ट किया गया और सरकारी नौकरियों के विषय में जाँच करने के लिए १९१२ में एक 'जन-सेवा जाँच-समिति' नियुक्त कर शिक्षित बेकारों को आश्वासन दिया गया। इस जाँच-

समिति के कार्यों और सुझावों का वर्णन पीछे किया जा चुका है। इस जाँच-समिति ने यह दिखाकर कि वह कुछ करने में संलग्न है आन्दोलन को शान्त करने में सफलता प्राप्त कर ली।

१९११ से १९१९ तक के वर्षों में भारत में साधारणत: जो शांति वनी रही वहां हार्डिज का लक्ष्य और उपलब्धि थी। यद्यपि इस काल में भी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं और सार्वजनिक सुधारों का आन्दोलन भी चल रहा था, परन्तु इनमें से कोई भी इतना प्रभावशाली या व्यापक न था कि उससे देश की साधारण शान्ति भंग हो सकती। काल-क्रम की दृष्टि से १९१५ का वर्ष भारत के राजनीतिक इतिहास में एक नये मोड़ का द्योतक है, क्योंकि इस वर्ष तिलक के नेतृत्व में उग्र दल ने पुन: कांग्रेस में प्रवेश कर उसको झकझोर दिया। इसी वर्ष भारत-रक्षा कानून (Defence of India Act) पास हुआ, जिसने कार्यकारिणी को जाँच के विना ही लोगों को गिरफ्तार करने का अधिकार देकर क्रान्तिकारी कार्यों को आघात पहुँचाया। १९१५ के वाद एक ओर क्रान्तिकारी आन्दोलन या तो समाप्त हो गया या छिपे-छिपे चलने लगा तो दूसरी ओर तिलक और ऐनी बीसेन्ट के नेतृत्व में राजनीतिक आन्दोलन, स्वराज का लक्ष्य लेकर जोर पकड़ने लगा।

ऊपर हमने १९११ से १९१९ तक के काल में भारत में साधारणतया शान्ति का उल्लेख किया है। शान्ति की यह स्थिति १९११ से १९१६ तक के काल में सर्वाधिक स्पष्ट थी। इसके कारण थे उस समय की राजनीतिक, आर्थिक तथा मानसिक स्थिति और किन्हीं दृष्टियों से यह शान्ति तूफान के पहले के सन्नाटे या पुन: गोलियों की बौछार आरम्भ होने से पहले की अस्थायी सन्धि-जैसी थी।

भारत तथा १९१४-१८ का महायुद्ध—यूरोप वहुत समय से युद्ध की तैयारियों में व्यस्त था; इस युद्ध का कारण आस्ट्रिया के सिंहासन के उत्तराधिकारी आर्क ड्यूक फर्डिनैन्ड की जून १९१४ में सेराजेवो में बोसेनिया के एक युवक द्वारा हत्या से कहीं अधिक गहरा था। इस हत्या के साथ ही युद्ध के नगाड़े वज उठे और सारा संसार युद्ध के भयंकर भँवर में जा फँसा। ब्रिटेन के अधीन होने के कारण भारत को भी युद्ध में उतरना पड़ा। इस युद्ध को जीतने में भारत ने जो सहायता की वह उसके साधनों से कहीं अधिक थी; इतनी अधिक सहायता की उससे आशा न की गई थी। यह सहायता वहुत कुछ उन प्रशंसाओं और वचनों का परिणाम थी जो प्रमुख अँगरेज राजनीतिज्ञ भारत पर बरसा रहे थे। भारत का यद्यपि इस युद्ध में अपना कोई स्वार्थ न था, परन्तु वार-वार की ये घोषणाएँ कि यह युद्ध स्वतन्त्रता का, जनतंत्र का और मानवीय अधिकारों का युद्ध है, भारतीयों के मन में समा गया और वे एक नये प्रभात की आशा में विजय के लिए बड़े उत्साह से कार्य-संलग्न हो गये।

कांग्रेस ने सरकार के साथ फिलहाल समझौता कर लिया; महात्मा गांधी ने सरकार के समर्थन में अपनी शक्तिशाली आवाज उठाई और सरकार को भारतीयों से सहायताएँ इतनी तीव्र गति से और इतनी प्रचुर मात्रा में मिलने लगीं कि वह चकित रह गई और समझ न सकी कि इस सार्वजनिक उत्साह का अच्छा से अच्छा लाभ किस रूप में उठाया जाय। देशी रियासतों ने भी सरकार की सहायता करने में ऐसा ही महान् उत्साह दिखाया। उन्होंने अपने सारे साधन सरकार के सामने रख दिये और बीकानेर, जोधपुर, किशनगढ़ तथा पटियाला जैसी कुछ रियासतों के राजा तो अपनी सेनाएँ लेकर युद्ध-भूमि में भी गये। अनेक युद्ध-क्षेत्रों में भारतीय सैनिकों ने ब्रिटिश साम्राज्य की सेनाओं के साथ-साथ कन्धे से कन्धा मिला कर युद्ध करते हुए अद्भुत वीरता दिखाई। युद्ध समाप्त होने तक भारतीय सैनिक मिस्र, सूडान, फिलिस्तीन, सैलोनिका, मैसोपोटामिया, अदन, सुमालीलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, गैलीपोली, कैमेरून, पूर्वी अफ्रीका, उत्तर-पश्चिमी तथा दक्षिणी फारस, ट्रांस कास्पियन और उत्तरी चीन में युद्ध कर चुके थे।

भारत ने महायुद्ध में कितनी सहायता की, इसका अनुमान सेना की भर्ती और अर्थ-सम्बन्धी कुछ आँकड़ों से लग जायगा। युद्ध प्रारम्भ होने के समय भारतीय सेना में २,८०,००० युद्धमान (Combatant) तथा अयुद्धमान (non-combatant) भारतीय थे और ८०,००० अँगरेज अफसर तथा अन्य कर्मचारी थे। युद्ध के दौरान में सरकार ने ८,००,००० युद्धमान तथा ४,००,००० अयुद्धमान, अर्थात् कुल १२,००,००० भारतीय भर्ती किये। भर्ती की सामान्य दर १५,००० प्रतिवर्ष से बढ़कर मई १९१७ के अंत तक १,२०,००० हो गई और मई, १९१८ तक ३,००,००० पर पहुँच गई। अर्थ-सम्बन्धी आँकड़े तो इससे भी अधिक भीषण हैं। सामान्यतः तथा संविधान के अनुसार समुद्र पार के युद्धों का व्यय-भार इँगलैण्ड के कोष पर पड़ना चाहिए, परन्तु इस महायुद्ध में यह भार भी भारत-सरकार ने, जिसकी केन्द्रीय आय १०,००,००,००० पौंड से कम थी, अपने ऊपर ले लिया। युद्ध का यह व्यय २,००,००,००० तथा ३,००,००,००० पौंड के बीच आता था। सितम्बर, १९१८ में शाही व्यवस्थापिका-परिषद् में, जो तब भारतीय हितों की अपेक्षा ब्रिटेन के स्वार्थों का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती थी, मत लिया गया। जिसके अनुसार भारत ने कुछ लाख अतिरिक्त सैनिकों को रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया, जिससे भारत का व्यय १,२०,००,००० पौंड और बढ़ गया। इसके अतिरिक्त भारत से लगभग १०,००,००,००० पौंड की 'निःशुल्क भेंट' (free gift) भी ली गई, जिससे भारत का राष्ट्रीय ऋण ३०% बढ़ गया। इसके अतिरिक्त 'उपहारों', केन्द्रीय तथा प्रान्तीय युद्ध-कोषों का भी यहाँ उल्लेख किया

जा सकता है, जिनसे लाखों की निधि एकत्र हुई। भारत जैसे निर्धन देश के लिए इस आर्थिक भार का, जो उसके साधनों की सीमा से कहीं बढ़-चढ़ कर था, परिणाम यह हुआ कि अनियन्त्रित मुद्रा-स्फीति (Inflation) के फलस्वरूप भारत का मुद्रा-चलन (Currency) पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गया। युद्ध के बाद भारत की जो दशा हुई वह उस दशा से भिन्न नहीं है जिसका हम आज अनुभव कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारत को इँगलैण्ड का साहूकार (Banker) बना दिया गया। इँगलैण्ड के लिए जितनी भी युद्ध-सामग्री, खाद्य-सामग्री, अस्त्र-शस्त्र तथा कच्चा माल खरीदा जाता था, उसके लिए भारत को धन देना पड़ता था। यह व्यवस्था जहाँ इँगलैण्ड के लिए बहुत हितकर थी, भारत के लिए उतनी ही विनाशकारी थी; परन्तु तब भारत के स्वामी इँगलैण्ड के सेवक थे, इसलिए यह सारी व्यवस्था खुशी-खुशी चलती रही। समय-समय इँगलैण्ड में भारत की कोरी प्रशंसाओं से और भारत में व्यवस्थापिका के, जो तब जनता की प्रतिनिधि-संस्था न थी, मतों और प्रस्तावों से इस सारी व्यवस्था को उत्साह और बल मिलता रहा। और अन्त में भारत को क्या मिला ? उसकी राज्य-सीमा में एक इंच की भी वृद्धि नहीं हुई। उसको तो इस युद्ध के फलस्वरूप आर्थिक दिवालियापन, लकड़ी की टाँगें, विधवाएँ और अनाथ, कोरी प्रशंसाएँ, कुछ उपाधियाँ और थोड़े से विक्टोरिया क्रॉस ही प्राप्त हुए। यदि युद्ध के बाद भारत की आँखें खुल गईं और इँगलैण्ड के प्रति अविश्वास की भावना, जो कांग्रेस तथा खिलाफत के आन्दोलनों के रूप में फूट पड़ी, जाग उठी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है !

मुस्लिम लीग और खिलाफत आन्दोलन—एक राजनीतिक संस्था के रूप में मुस्लिम लीग का संघटन १९०६ ई० में हुआ। नवम्बर १९०६ में नवाब सलीमुल्ला ने एक गश्ती चिट्ठी जारी की जिसमें मुसलमानों के एक अखिल भारतीय राजनीतिक संघटन का सुझाव दिया गया था। दिसम्बर १९०७ में ढाका में भारत के प्रत्येक भाग के प्रमुख मुसलमानों का एक सम्मेलन नवाब बकर-उल-मुल्क की अध्यक्षता में हुआ और इस प्रकार 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' का जन्म हुआ। अँगरेज नौकरशाही के साथ इस संस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध उस स्वागत से ही स्पष्ट हो जाता है जो लंदन के 'टाइम्स' समाचारपत्र ने 'लीग' का किया। राम्जे मैक्डोनाल्ड ने लिखा था कि "मुसलमानों को कुछ ऐंग्लो-इंडियन अधिकारियों से प्रेरणा मिली है और इन अधिकारियों ने शिमला और लंदन में छिपे-छिपे (मुसलमानों का सरकार के साथ संबंध जोड़ने का) कार्य किया है और पहले से नियोजित कुयोजनाओं के अनुसार मुसलमानों के प्रति विशेष पक्षपात दिखाकर हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट के बीज बोये हैं।" लीग के जन्म के आरम्भिक वर्षों में ही स्पष्ट हो गया कि इस

संस्था का संघटन कांग्रेस को प्रभावहीन करने के लिए हुआ था। उस समय जब कि सारा देश वंग-भंग से क्षुब्ध था और इसको उलटने के लिए विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की नीति अपना रहा था, लीग ने वंग-भंग के समर्थन में और बहिष्कार की निन्दा में प्रस्ताव पास किये। पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र, सरकारी नौकरियों, स्थानीय संस्थाओं और यहाँ तक कि 'प्रिवी-कौंसिल' (Privy Council) में भी विशेष प्रतिनिधित्व की माँग करना तथा बंगाल के विभाजन का समर्थन करना लीग की नीति बन गई और इन विषयों पर वह अपने वार्षिक अधिवेशनों में प्रस्ताव पास करने लगी। लीग ने १९०९ के सुधारों का स्वागत किया। १९१० में दिल्ली अधिवेशन में, जो आगा खाँ के सभापतित्व में हुआ, लीग ने इन सुधारों के प्रति पूर्ण संतोष प्रकट किया। इसी वर्ष लीग का प्रधान कार्यालय अलीगढ़ से लखनऊ हटा लिया गया।

सन् १९११ में वंग-विभाजन में संशोधन, बालकन-युद्धों के प्रति इँगलैण्ड का रुख तथा १९१४ के युद्ध में टर्की का अँगरेजों के विरोधी पक्ष में चला जाना, ये ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं, जिन्होंने लीग पर अगरेजों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया और लीग को अपनी स्वदेशीय संस्था कांग्रेस के निकट सम्पर्क में आने के लिए प्रेरित किया। इसके साथ-साथ मौलवी शिब्ली नुमानी जैसे कुछ विचारशील विद्वान् अपने सहधर्मियों को विनाशकारी राजनीति की व्यर्थता समझाने का प्रयत्न कर रहे थे। इन लोगों ने मुसलमानों का ध्यान भारत की स्वतन्त्रता के मूलभूत प्रश्न की ओर आकर्षित किया। नुमानी ने लखनऊ से निकलनेवाले 'मुस्लिम गजट' में लीग की नीति का विश्लेषण करते हुए अक्टूबर १९१७ में लिखा कि "किसी वृक्ष की अच्छाई-बुराई उसके फलों से प्रकट होती है। यदि हमारी राजनीति गम्भीर होती तो उससे हममें संघर्ष की उत्साहशीलता और अपने आदर्शों के लिए कष्ट सहने-तथा त्याग करने की तत्परता आ गई होती।" अब मुसलमानों के हृदयों में अँगरेजों की मित्रता के प्रति अविश्वास की भावना बढ़ने लगी। टर्की के प्रति कांग्रेस की सहानुभूति से वे बहुत प्रभावित हुए। मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा मौलाना मुहम्मद अली जैसे नेताओं की प्रेरणा से मुस्लिम लीग की नीति राष्ट्रीयता की धारा में उतर आई। आजाद ने अपने पत्र 'अल-हिलाल' तथा मुहम्मद अली ने 'कामरेड' और 'हमदर्द' नामक अपने पत्रों द्वारा मुसलमानों को हिन्दुओं तथा कांग्रेस के प्रति अविश्वास की भावना को दूर कर स्वतन्त्रता के संघर्ष में इनके साथ जुट जाने के लिए उत्साहित किया। इन सब बाह्य और आन्तरिक प्रभावों के फलस्वरूप लीग के मार्च १९१३ के लखनऊ अधिवेशन में, जिसका सभापतित्व सर इब्राहीम रहीमतुल्ला कर रहे थे, लीग के संविधान में संशोधन किया गया और लीग का उद्देश्य

भारत के अन्य वर्गों के साथ मिलकर वैधानिक उपायों द्वारा ब्रिटिश छत्रछाया में स्वशासन प्राप्त करना रखा गया। इस प्रकार सन् १९१३ तक लीग और कांग्रेस के उद्देश्य समान हो गये।

१९१४ के युद्ध में सामान्य मुसलमान की सहानुभूतियाँ खलीफा के देश टर्की और इँगलैण्ड के बीच बँट गईं। सरकार ने प्रमुख मुसलमानों को उनके राष्ट्रीयता के उद्‌गारों तथा टर्की के प्रति उनकी सहानुभूति के लिए गिरफ्तार कर बन्दी बना दिया; इनमें से मुहम्मद अली और शौकत अली, जो 'अली बन्धु' के नाम से प्रसिद्ध हैं, मौलाना आजाद और हसरत मोहानी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन गिरफ्तारियों से लीग और कांग्रेस के बीच और भी निकट सम्पर्क स्थापित हो गया और दिसम्बर १९१५ में दोनों संस्थाओं ने बम्बई में साथ-साथ अपने वार्षिक अधिवेशन किये।

स्वराज (Home Rule) और लखनऊ-समझौता—१९०७ में सूरत-अधिवेशन के अवसर पर नरम और गरम दल में विच्छेद हो जाने के बाद से गरम दल कांग्रेस से अलग हो गया था। सन् १९१५ में श्रीमती ऐनी बीसेन्ट के प्रयत्नों से इन दोनों दलों में 'स्वराज' (Home Rule) के आन्दोलन को लेकर मेल-मिलाप हो गया और इस प्रकार इनमें नौ वर्षों तक जो पार्थक्य बना रहा वह अब दूर हो गया। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट के नेतृत्व में 'स्वराज' का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। इन दिनों लीग तथा कांग्रेस और कांग्रेस के अंदर नरम तथा गरम दल में राष्ट्रीय एकता जिस रूप में दृढ़ हो गई थी, उसे देखकर भविष्य बहुत आशापूर्ण प्रतीत होने लगा। १९१५ में लीग के बम्बई अधिवेशन में महात्मा गांधी, सरोजिनी नायडू, और पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने लीग के विचार-विमर्शों में भाग लिया। आगा खाँ ने, समय की गति को भाँप कर, लीग का स्थायी सभापतित्व त्याग दिया और वह अपने धार्मिक पद के सुखमय वातावरण में लौट आया। लीग ने भारत के लिए एक योजना बनाने के लिए कांग्रेस से परामर्श लेते हुए एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपना विवरण अगले वर्ष १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में उपस्थित किया। इस वर्ष भी कांग्रेस और लीग के अधिवेशन एक ही स्थान पर साथ-साथ हुए। यह विवरण १९१६ के लखनऊ समझौते का आधार बना। यह समझौता कांग्रेस की लीग के साथ किसी समझौते पर पहुँचने की हार्दिक इच्छा का प्रमाण है और इस समझौते के साथ ही लीग के प्रति कांग्रेस की उस नीति का आरम्भ होता है जिसे 'अनुतोषण-नीति' (Appeasment policy) का नाम दिया गया है। इस समझौते के अनुसार कांग्रेस ने निश्चित रूप से मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन तथा अल्पसंख्यक प्रान्तों में उनके लिए विशेष महत्त्व का स्थान स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार किया गया कि किसी भी परिषद्

में, चाहे वह केन्द्रीय हो या प्रान्तीय, किसी वर्ग-विशेष से सम्बन्धित किसी ऐसे विधेयक या उसके किसी अंश पर विचार न किया जायेगा, जिसका उस वर्ग-विशेष के ¾ सदस्य विरोध करते हों। कांग्रेस और लीग दोनों ने सुधारों की एक संयुक्त योजना स्वीकार की। इस योजना की प्रमुख बातें ये थीं कि केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों परिषदों की सदस्य-संख्या प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने गये सदस्यों द्वारा, जिन्हें और अधिकार दिये गये हों, बढ़ाई जाय, कार्यकारिणी-परिषदों में भारतीय सदस्य सम्मिलित किये जायँ और परिषदों द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव तब तक मान्य हों जब तक कि परिषद्-सहित गवर्नर-जनरल अपने निषेधाधिकार से उन्हें रद्द न कर दे, परन्तु ऐसा हो जाने पर भी यदि ये प्रस्ताव पुनः कम से कम एक साल बाद फिर परिषद् द्वारा स्वीकृत हो जायँ तो ये 'कानून' बन जायँ।

कांग्रेस और लीग दोनों संस्थाओं ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया। केवल लोकमान्य तिलक ही इसका विरोध करते रहे, परन्तु वे इस विरोध में बिलकुल अकेले थे। औपनिवेशिक स्वराज्य की दिशा में ठोस सुधारों की माँग करने के लिए कांग्रेस और लीग दोनों संस्थाएँ मिल गईं।

अगस्त, १९१७ की घोषणा—भारत में राजनीतिक आन्दोलन को जोर पकड़ते और टर्की के प्रश्न पर मुसलमानों में बढ़ते असंतोष को देखकर अँगरेज सरकार के लिए कोई राजनीतिक घोषणा करना आवश्यक हो गया। इस समय अँगरेज राजनीतिज्ञों के सामने समस्या यह थी कि किसी प्रकार का वचन न देते हुए भारतीय जनमत को कैसे संतुष्ट किया जाय। आखिर श्री ई० एस० मांटेग्यू ने, जो ऑस्टिन चैम्बरलेन के बाद राज्य-सचिव बने थे, इस समस्या का समाधान खोज निकाला। उन्होंने एक मसविदा तैयार किया, जिसमें भारत के राजनीतिक विकास के प्रति इँगलैण्ड के उद्देश्यों को प्रकट किया गया था। लॉर्ड कर्जन ने इस मसविदे को सजा-सँवार कर अन्तिम रूप दिया और यह 'अगस्त, १९१७ की घोषणा' (August Declaration of 1917) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह घोषणा अस्पष्टता और संदिग्धता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस घोषणा के शब्द ये थे—

"हिज मैजेस्टी की सरकार की नीति, जिससे भारत-सरकार पूर्णतः सहमत है, ब्रिटिश साम्राज्य के एक अवयव के रूप में भारत में उत्तरदायी सरकार के प्रगतिशील साक्षात्कार को दृष्टि में रखते हुए शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों को अधिकाधिक स्थान देने तथा स्वायत्त-शासित संस्थाओं का क्रमिक विकास करने की है।"

इस घोषणा की भारत में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। कांग्रेस का नरम दल इससे संतुष्ट हो गया; गरम दल ने यह समझकर कि यह घोषणा आन्दोलन का

फल है, इस घोषणा के "क्रमिक विकास" और "प्रगतिशील साक्षात्कार" इन शब्दों की अस्पष्टता से आन्दोलन को और भी तीव्र गति से चलाने की प्रेरणा पाई और उधर मुस्लिम लीग इस घोषणा के "उत्तरदायी सरकार" इन शब्दों से शंकित हो उठी। मुसलमानों की दृष्टि में 'उत्तरदायी सरकार' का अर्थ था ब्रिटेन की संसदीय (Parliamentary) प्रणाली के ढंग की सरकार जिसमें उनको भय था कि हिन्दू बहुमत का बोलवाला हो जायगा। ऐसे शरारती लोगों की भी कमी न थी जो इस घोषणा को मुसलमानों पर हिन्दुओं की विजय वता रहे थे और प्रचार कर रहे थे कि हिन्दुओं ने अँगरेजों के साथ गुप्त रूप से मिलकर भारत के लिए एक ऐसी शासन-प्रणाली स्वीकार करा ली है, जिसके द्वारा मुसलमान जाति का समूल विनाश कुछ ही दिनों की बात रह जायगी। स्वयं ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भी 'उत्तरदायी सरकार' का अर्थ लगाने में परस्पर सहमत न हो पा रहे थे। परन्तु उनके भिन्न-भिन्न मतों को तथा अपने-अपने मत की पुष्टि में उनके दिये भाषणों को कांग्रेस और लीग दोनों ही संस्थाएँ एक पूर्व नियोजित गम्भीरता-शून्य उपहास समझ रही थीं। हमारे पास यह बात जानने के कोई अधिकृत प्रमाण नहीं हैं कि इस घोषणा का उद्देश्य कांग्रेस और मुस्लिम लीग में फूट डलवाना था या नहीं; परन्तु इस घोषणा के शब्द अवश्य यह प्रकट करते हैं कि इसका उद्देश्य यही रहा होगा और यदि बात यही थी तो इसमें यह घोषणा खूब सफल हुई। लीग और कांग्रेस के बीच अब जो मेल-मिलाप बना हुआ था उसमें इस घोषणा से दरारें पड़ गईं और आगे ये दरारें अधिकाधिक चौड़ी होती गईं। टर्की और मुसलमानों के धार्मिक स्थानों के मामले ने कुछ समय तक लीग और कांग्रेस में एकता बनाये रखी। परन्तु जब कमाल अतातुर्क द्वारा खिलाफत समाप्त कर दिये जाने पर खिलाफत आन्दोलन समाप्त हो गया, तब लीग और कांग्रेस की यह कृत्रिम एकता भी समाप्त हो गई और ये दोनों संस्थाएँ एक दूसरे से दूर हटने लगीं।

खिलाफत आन्दोलन—रोम के पोप के समान खलीफा भी मुसलमानों का धर्म-गुरु था और बहुत समय तक तो वह सांसारिक बातों में भी इनका प्रधान रहा। मंगोलों ने बगदाद के अब्बसिद-वंश को पदच्युत कर (सन् १२५८) खलीफा के प्रभाव पर भीषण आघात किया था और जब १५१७ ई० में टर्की के प्रथम सलीम ने खलीफा की उपाधि धारण की तो यह घटना इस्लाम के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना न बनकर केवल टर्की के इतिहास की ही एक महत्त्वपूर्ण घटना रह गई। भारत के मुसलमान खलीफा का जो इतना अधिक सम्मान करते थे, वह अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण ही और मुगल-साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर, जिसमें सम्राट् ही मुसलमानों का धार्मिक प्रधान भी था, खलीफा के प्रति सम्मान

की भावना और भी बढ़ गई थी। अँगरेजों ने भारत के शासक के रूप में तो मुगल सम्राटों का स्थान ग्रहण कर लिया, परन्तु भिन्न धर्मावलम्वी होने के कारण वे मुगल सम्राटों के समान भारतीय मुसलमानों के धार्मिक प्रधान न वन सके। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह हुई कि भारतीय मुसलमान धार्मिक वातों में खलीफा को अपना प्रधान मानने लगे। आटोमन-साम्राज्य, जिसका प्रधान टर्की का सुल्तान होता था, मुसलमानों के गौरव का विषय था। पश्चिमी देशों द्वारा, जो टर्की के सुल्तान को 'यूरोप का वीमार आदमी' कहते थे, इस साम्राज्य का क्रमिक विनाश, संसार के विभिन्न भागों के मुसलमानों के संघटित होने का कारण वना और इस प्रकार 'सर्व-इस्लामवाद' (Pan-Islamism) का पुनर्जन्म हुआ। भारत के मुसलमानों की यह एक विशेषता रही है कि वे भारत में पलते-बढ़ते और मरते हैं; परन्तु उनकी आँखें हमेशा अरव पर ही लगी रहती हैं। मुसलमान यह समझ ही नहीं पाते थे कि राजनीति में धार्मिक-वन्धुत्व का काल अव नहीं रह गया था, यहाँ तक कि उनके नेता सर सैयद अहमद खाँ का वार-वार अपना यह विश्वास प्रकट करना कि खिलाफत प्रथा सन् १२५८ में ही समाप्त हो चुकी थी, टर्की के प्रति उनकी सहानुभूति को कम न कर सका। भारतीय मुसलमानों की इस भावना की प्रवलता को देखकर लॉर्ड लिटन को इँगलैण्ड के विदेशमन्त्री लॉर्ड सेलिसवरी को चेतावनी देनी पड़ी थी कि टर्की के प्रश्न का कोई भी समाधान प्रस्तुत करते समय भारतीय मुसलमानों की भावना को ध्यान में रखा जाय। सन् १९१२ के वालकन-युद्धों के समय में डा० एम० ए० अन्सारी के नेतृत्व में भारतीय मुसलमानों का एक चिकित्सक दल टर्की गया था और 'जमींदार' के सम्पादक मौलाना जफर अली, तुर्की मुसलमानों के प्रति भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति के प्रतीक के रूप में टर्की के वजीर को एक थैली भेंट करने के लिए स्वयं कुस्तुन्तुनिया गये थे। १९१४-१८ के युद्ध के समय भारतीय मुसलमान टर्की के प्रति सहानुभूति प्रकट करते रहे। इस बीच अँगरेजों के प्रति उनकी भक्ति-भावना बहुत कुछ शिथिल हो गई और जब १९१८ में यह महायुद्ध टर्की की पराजय तथा मित्र-राष्ट्रों की विजय के साथ समाप्त हुआ तो भारतीय मुसलमानों के हृदयों में शंकाएँ घर करने लगीं। गैर-तुर्की तत्त्वों को भड़का कर तुर्की साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने के अँगरेजों के खुले-आम प्रयत्नों से भारतीय मुसलमान अँगरेजों के, युद्ध के समय में दिये हुए इन वचनों पर सन्देह करने लगे कि शान्ति-सम्मेलन में टर्की के साथ सद्-व्यवहार किया जायगा और अरव तथा मेसोपोटामिया में मुसलमानों के धार्मिक स्थानों के साथ किसी प्रकार की छेड़-छाड़ न की जायगी। मुस्लिम लीग के दिल्ली अधिवेशन की स्वागत-समिति के प्रधान डा० एम० ए० अन्सारी के भाषण की जब्ती तथा कानपुर के दंगों के निर्दयतापूर्वक

दमन ने मुसलमानों के इँगलैण्ड के प्रति सन्देह को पुष्ट कर दिया। शान्ति के प्रस्तावों के प्रकाशन से उनको आशंकाएँ दृढ़ हो गईं। उनको इस्लाम के धार्मिक स्थान गैर-मुसलमानों के हाथों में जाते हुए तथा खलीफा की शक्ति का बहुत कुछ ह्रास होते हुए प्रतीत होने लगे। भारतीय मुसलमानों की आशाएँ भग्न हो गईं और इसी मनोवृत्ति ने खिलाफत आन्दोलन को जन्म दिया। खलीफा की शक्ति और सम्मान का समर्थन करने तथा अँगरेजों के प्रति विशेष रूप से और सामान्यतः सभी मित्र-राष्ट्रों के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए एक केन्द्रीय खिलाफत-समिति स्थापित की गई; देश भर में इस समिति की शाखाएँ खोली गईं। घोर आन्दोलन छिड़ गया; महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने इसको सहायता दी। खिलाफत आन्दोलन में कांग्रेस का सहायता देना एक राजनीतिक कार्य मात्र था, जिसका उद्देश्य था कांग्रेस और मुसलमानों के मेल-मिलाप को दृढ़ करना। इसी समय मौलाना महमूदुल हसन शेख-उल-हिन्द के नेतृत्व में 'जमायत-उल-उलमा-ए-हिन्द' की स्थापना हुई। भारतवर्ष में एक ऐसी वस्तु के लिए उग्र आन्दोलन का दृश्य उपस्थित हो गया, जो अभारतीय थी। आन्दोलन ने ऐसा जोर पकड़ा कि राज्य-सचिव श्री माण्टेग्यू तथा वायसराय लॉर्ड रीडिंग भी चौंक उठे। लॉर्ड रीडिंग ने श्री माण्टेग्यू की सहमति से, परन्तु ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति न लेते हुए एक तार में धार्मिक स्थानों पर तुर्की के सुल्तान के प्रभुत्व को स्वीकार कर लेने, स्मिर्ना तथा तुर्की के सिंहासन को पुनः स्थापित करने और कुस्तुन्तुनिया पर से अधिकार हटा लेने पर जोर दिया। इस तार का प्रकाशित होना श्री माण्टेग्यू के त्यागपत्र का कारण बना। इँगलैण्ड में अधिकारियों को मुसलमानों की भावनाओं की शक्ति जताने के लिए शिष्टमण्डल भेजे गये। परन्तु ये सब कार्य उन शान्ति-वार्ताओं की प्रगति को रोकने में विफल रहे, जिनका प्रमुख शिकार तुर्की बना हुआ था। परिणाम यह हुआ कि भारत में खिलाफत-समिति तथा जमायत के नेतृत्व में आन्दोलन बड़ी तीव्र गति से चलने लगा। ये दोनों संस्थाएँ कुछ वर्षों तक भारत में मुसलमानों की प्रमुख संस्थाएँ बनी रहीं।

जब भारतीय मुसलमान तुर्की के प्रश्न को लेकर आन्दोलन चला रहे थे, शिमला और ह्वाइट हॉल के बीच सुधारों की उस योजना पर, जो १९१९ के माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के नाम से प्रसिद्ध है, व्यग्रतापूर्वक लिखा-पढ़ी चल रही थी। अँगरेज-सरकार ने आज तक भारतीयों को जितनी भी सुविधाएँ दी थीं, उनके समान ये सुधार भी बहुत ही विलम्ब से दिये गये। ये जनता की आशाओं से बहुत ही कम थे। इसलिए भारत में फिर से राजनीतिक आन्दोलन का छिड़ना अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा और इस भावी आन्दोलन का दमन करने के लिए 'रौलट बिल्स' (Row-

latt Bills) बना डाले। इन विधेयकों का नामकरण सर सिडनी रॉलेट के नाम पर पड़ा है, क्योंकि रॉलेट महाशय ने राजद्रोह-दमन-समिति (Sedition Committee) के प्रधान के रूप में सरकार के सामने कुछ प्रस्ताव रखे थे, जिनके आधार पर ये विधेयक बनाये गये थे। इन विधेयकों तथा १९१९ के सुधारों का वर्णन हम आगे करेंगे। खिलाफत आन्दोलन के साथ इनका सम्बन्ध यह है कि इन्होंने देश भर में तीव्र राजनीतिक असन्तोष को भड़का दिया। सरकार ने भी अपने दमन के दूतों को मुक्त कर दिया। जनता की घृणा चरम सीमा पर पहुँच गई। कांग्रेस तथा मुसलमान संस्थाओं ने आन्दोलन को समान मार्ग पर चलने की योजना बनाई और अहिंसात्मक असहयोग का निश्चय किया। सरकार पर दबाव बढ़ने लगा। जब तक हिन्दू-मुसलमान एकता बनी रही तब तक आन्दोलन खूब प्रगति करता रहा। परन्तु जैसे ही यह एकता किन्हीं कारणों से, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे, भंग हुई समस्त घटना-चक्र ही पलट गया। कांग्रेस को आन्दोलन बन्द करना पड़ा; खिलाफत आन्दोलन समाप्त हो गया; मुस्लिम लीग और कांग्रेस के साथ-साथ अधिवेशन करने बन्द कर दिये और राष्ट्रीयता के स्थान पर साम्प्रदायिकता जोर पकड़ने लगी।

१९१९ के सुधारों की योजना—१९१७ की घोषणा के अनुसार राज्य-सचिव श्री माण्टेग्यू इस घोषणा में दिये गये वचनों को व्यावहारिक रूप देने की दिशा में सबसे पहले क्या कदम उठाये जायँ, इस पर वायसराय से विचार-विमर्श करने के लिए नवम्बर में भारत आये। सुधारों की बहुत-सी योजनाएँ और भारत के संवैधानिक प्रश्न को हल करने के लिए बहुत-से सुझाव पहले से ही उपस्थित थे। सन् १९१६ के लखनऊ समझौते के अनुसार कांग्रेस और लीग ने मिलकर सुधारों की जो सम्मिलित योजना प्रस्तुत की थी उसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं। कांग्रेस-लीग की इस सम्मिलित योजना से भी पहले भारतीय व्यवस्थापिका-सभा के १९ निर्वाचित सदस्य सुधारों की अपनी योजना प्रस्तुत कर चुके थे, जो "उन्नीस सदस्यों का स्मृति-पत्र" (Memorandum of the Nineteen) के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्मृति-पत्र में राज्य-सचिव की परिषद् को समाप्त करने, निर्वाचन-प्रणाली द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों का भारतीयकरण करने, व्यवस्थापिका परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाने, जिससे उनका बहुमत हो सके, आर्थिक मामलों में प्रान्तों को स्वतन्त्र करने तथा भारतीय व्यवस्थापिका को भारतीय शासन से सम्बन्धित सभी बातों पर व्यवस्था देने का अधिकार देने के सुझाव दिये गये थे। परन्तु १९१९ के सुधारों के बनने में जिस योजना का प्रभाव प्रतीत होता है वह लॉयनल कुर्टिस नामक एक व्यक्ति की योजना थी। कुर्टिस राजनीति-शास्त्र के छात्रों की 'राउण्ड टेबल' नामक एक संस्था का सदस्य था। उसने सुझाव दिया

था कि विद्यमान प्रान्तों को, जो शासन की सुविधा के विचार से विजातीय तत्त्वों को मिला कर बनाये गये हैं, छोटी-छोटी एकजातीय (homogeneous) इकाइयों में बाँट दिया जाय और ऐसे प्रत्येक भाग में उत्तरदायी सरकार स्थापित की जाय। उत्तरदायी सरकार से उसका अर्थ निर्वाचित सभाओं की स्थापना तथा उनके साथ-साथ एक ऐसी कार्यकारिणी की स्थापना से था जो सभा (Assembly) में बहुमत की विश्वासभाजन हो; इन उत्तरदायी सरकारों को सार्वजनिक कार्य, शिक्षा, स्थानीय स्वायत्त शासन इत्यादि कुछ विभाग सौंपे जायँ और शेष विभाग प्रान्तीय सरकार के अधीन रहें। धीरे-धीरे, यदि अनुभव से ऐसा करना उचित जान पड़े तो, इन उत्तरदायी सरकारों को अन्य विभाग भी सौंप दिये जायँ और इस प्रकार क्रमशः उत्तरदायी सरकार की पूर्ण स्थापना की जाय। कुर्टिस की इस योजना में हमें वह द्वैध शासन-प्रणाली (dyarchical system) दिखाई देती है, विषयों का 'रक्षित' (Reserved) तथा 'हस्तान्तरित' (Transferred) इन दो वर्गों में विभाजन मिलता है जो १९१९ के सुधारों की एक प्रमुख विशेषता बना।

ऐसे थे वे सुझाव जो माण्टेग्यू के भारत आने के समय चर्चा के विषय बने हुए थे। भारत पहुँचने के ६ महीने के अन्दर माण्टेग्यू ने वायसराय तथा अर्ल आफ डोनोमोर, सर विलियम ड्यूक, भूपेन्द्रनाथ वसु तथा चार्ल्स रॉबर्ट को मिलाकर बनाई हुई एक समिति के साथ परामर्श कर अपने प्रस्ताव तैयार कर लिये। उसने जो विवरण प्रकाशित किया, उसमें कांग्रेस के प्रस्तावित सुधारों को अनुपयुक्त तथा समय से बहुत आगे के बता कर अस्वीकृत करते हुए यह सुझाव दिया गया कि अगस्त १९१७ की घोषणा में रखे गये उद्देश्य की दिशा में पहले कदम के रूप में प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व सौंपा जाय। कार्यकारिणी को निर्वाचित सभा के प्रति उत्तरदायी बनाने के सुझाव को इस विवरण में स्वप्न की कल्पना और समय से बहुत आगे का बताकर अस्वीकृत किया गया। भावी विकास के लिए इस विवरण में सुझाव दिया गया कि दस वर्ष बाद प्रस्तावित सुधारों के व्यावहारिक रूप की समीक्षा करने तथा आगे के लिए सुझाव देने के लिए एक जाँच-समिति नियुक्त की जाय।

यह विवरण जुलाई १९१८ में इंगलैण्ड और भारत में साथ-साथ प्रकाशित हुआ। भारतीय जनमत ने प्रान्तीय शासन की द्वैध-प्रणाली की तीव्र आलोचना करते हुए विवरण के सुझावों को अमान्य ठहराया। इन सुझावों को यदि कहीं कुछ समर्थन प्राप्त हुआ तो नरम दल तथा बड़े-बड़े जमींदारों में ही। यहाँ तक कि सरकारी अधिकारी वर्ग ने भी द्वैध शासन-प्रणाली को सन्देह की दृष्टि से देखा। इस विवरण के स्थान पर एक दूसरी योजना प्रस्तुत करने के लिए जनवरी १९१९ में प्रान्तों के

प्रधान अधिकारी दिल्ली में सम्मिलित हुए; इनमें से पाँच ने मिलकर एक योजना प्रस्तुत भी की, परन्तु वह अस्वीकृत हुई।

माण्टेग्यू के इस विवरण के आधार पर सुधारों की प्रस्तावित योजना का एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया; यह विधेयक विचार-विमर्श के लिए एक संयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) को सौंपा गया जिसके प्रधान लार्ड सेल्वोर्न थे। इस समिति ने जुलाई से अक्टूबर १९१९ तक इस पर विचार किया और तव उनके विवरण उपस्थित करने पर १९१९ का भारत-सरकार कानून पास हुआ जो दिसम्बर १९१९ में विधान वन गया।

१९१९ के सुधार—१९१९ के सुधारों ने प्रतिनिधि-संस्थाओं द्वारा स्वशासन के सिद्धान्त को कुछ सीमा तक आगे बढ़ाया, साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रणाली को बहुत उन्नत किया और भारत-सरकार तथा उसके द्वारा संसद के नियन्त्रण को जैसे का तैसा रखते हुए शासन के विकेन्द्रीकरण में प्रगति प्रदर्शित की। इन सुधारों के उद्देश्य कानून की प्रस्तावना (Preamble) में विस्तार से परन्तु साथ ही वड़े सन्दिग्ध शब्दों में बताये गये। ये उद्देश्य वही थे जो १९१७ की घोषणा में बताये गये थे; अन्तर यही था कि इस प्रस्तावना में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि इन उद्देश्यों की दिशा में आगे क्या कदम उठाये जायँ, यह निश्चय करना केवल संसद के ही अधिकार में था। प्रस्तावना के शब्द ये थे—

"क्योंकि संसद की यह घोषित नीति है कि (ब्रिटिश) साम्राज्य के एक अवयव के रूप में ब्रिटिश-भारत में उत्तरदायी सरकार के प्रगतिशील साक्षात्कार को दृष्टि में रखते हुए भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों के अधिकाधिक सहयोग तथा स्वशासन की संस्थाओं के सामान्य विकास की व्यवस्था की जाय;

"और क्योंकि इस नीति को कार्यान्वित करने में प्रगति क्रमिक अवस्थाओं द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, इसलिए यह समयानुकूल है कि इस दिशा में अब वास्तविक कदम उठाये जायँ;

"और क्योंकि प्रत्येक प्रगति का मार्ग और विधि संसद द्वारा ही निर्धारित की जा सकती है, जिस पर भारतीय जनता के हितों और प्रगति का उत्तरदायित्व है;

"और क्योंकि ऐसे विषयों में संसद के कार्य उस प्रेरणा द्वारा जो उन लोगों से प्राप्त होगी जिनको सेवा के नये सुयोग प्रदान किये जायँगे तथा उस सीमा द्वारा जहाँ तक यह प्रतीत होगा कि (भारतीयों की) उत्तरदायित्व की भावना में विश्वास रखा जा सकता है, निर्दिष्ट होने चाहिए;

"और क्योंकि भारत के प्रान्तों में स्वशासन की संस्थाओं के क्रमिक विकास के साथ-साथ उन प्रान्तों को, प्रान्तीय मामलों में भारत-सरकार की ओर से अधिकतम

स्वतन्त्रता दी जानी उपयुक्त है, जो भारत-सरकार के अपने ही उत्तरदायित्वों के ठीक-ठीक निर्वाह के लिए अनुकूल भी है;

"इसलिए यह व्यवस्था बनाई जाय.........."

ऊपर हमने पूरी 'प्रस्तावना' उद्धृत कर दी है; इसमें १९१९ के सुधारों के उद्देश्य और सीमाएँ बताई गई हैं।

विषयों का विभाजन—१९१९ के भारत-सरकार कानून में शासन-सम्बन्धी विषयों को 'केन्द्रीय' तथा 'प्रान्तीय' इन दो शीर्षकों में विभाजित किया गया। 'केन्द्रीय' शीर्षक में वे विषय रखे गये जिनका सम्बन्ध समस्त भारत के साथ था और जिनकी व्यवस्था में एकरूपता का होना नीति की दृष्टि से आवश्यक था, जैसे रेलवे, डाक एवं तार विभाग, वैदेशिक मामले, चुंगी इत्यादि। 'प्रान्तीय' शीर्षक में प्रान्तीय हितों से सम्बन्धित विषय रखे गये, जैसे शिक्षा, स्थानीय स्वशासन, जंगल, आबकारी, स्वास्थ्य इत्यादि। प्रान्तीय विषयों के 'रक्षित' तथा 'हस्तान्तरित' ये दो वर्ग और बनाये गये। 'रक्षित' विषयों का प्रबन्ध गवर्नर को अपने मनोनीत सदस्यों की समिति की सहायता से करना था और 'हस्तान्तरित' विषयों का प्रबन्ध गवर्नर को व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से मनोनीत मन्त्रियों की सहायता से करना था। इस कानून के निर्माताओं ने 'हस्तान्तरित' विषयों का प्रबन्ध मन्त्रियों के हाथ में देकर ही उत्तरदायी सरकार की दिशा में पहला कदम उठाने की आवश्यकता को पूर्ण कर दिया था।

केन्द्रीय सरकार

गवर्नर-जनरल—इस कानून में गवर्नर-जनरल के अनियन्त्रित, असीम, उत्तरदायित्व शून्य स्वेच्छाचार को अछूता रहने दिया गया। भारत के सुशासन के लिए वह राज्य-सचिव के समक्ष उत्तरदायी था और राज्य-सचिव संसद के प्रति—ऐसी संसद के प्रति जिसके सदस्य इँग्लैण्ड का प्रतिनिधित्व करते थे भारत का नहीं। केन्द्रीय कार्यकारिणी में गवर्नर-जनरल, उसकी परिषद्, जिसके सामान्य सदस्यों की संख्या गवर्नर-जनरल की इच्छा के अनुसार निर्धारित होती थी तथा प्रधान सेनापति सम्मिलित थे। गवर्नर-जनरल की परिषद् के ६ सामान्य सदस्यों में से तीन का भारतीय होना आवश्यक रखा गया। अपनी परिषद् के चुनाव में गवर्नर-जनरल किसी प्रकार की भी रुकावट के बिना अपनी सूझ-बूझ से काम ले सकता था, विशेषता केवल यही थी कि सदस्यों में किन्हीं योग्यताओं का होना आवश्यक था। गवर्नर-जनरल से आशा की जाती थी कि वह अपनी परिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा, परन्तु वह उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य न था।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका—इस नये कानून में व्यवस्था की गई थी कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दो सदन हों—'राज्य-परिषद्' (Council of state) तथा 'व्यवस्थापिका सभा' (Legislative Assembly)। राज्य-परिषद् में ५९ सदस्य हों, जिनमें से ३३ निर्वाचित तथा २६ मनोनीत हों। मनोनीत सदस्यों में से १९ सरकारी हों। व्यवस्थापिका सभा में १४३ सदस्य हों जिनमें से १०३ निर्वाचित तथा ४० मनोनीत हों और मनोनीत सदस्यों में से २५ सरकारी हों। इस प्रकार दोनों सदनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में विभिन्न प्रान्तों को उनकी जनसंख्या के अनुसार स्थान दिये गये। किसी नये विधेयक को प्रस्तुत करने, प्रस्ताव रखने तथा प्रश्न करने के सम्बन्ध में सदस्यों के अधिकार १९०९ की व्यवस्था की अपेक्षा अधिक रखे गये। परन्तु इस नये कानून में अधिकारों की जो सीमाएँ निर्धारित की गई थीं उनसे व्यवहार में इन अधिकारों की शक्ति बहुत कम हो जाती थी। भारतीय व्यवस्थापिका को संविधान बनाने या इँगलैण्ड की संसद की किसी व्यवस्था के प्रतिकूल कानून बनाने का अधिकार न था। चुंगी, विदेशी ऋण, वैदेशिक सम्बन्ध इत्यादि कुछ ऐसे विषय गिना दिये गये, जिन पर गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई विधेयक व्यवस्थापिका में प्रस्तुत न किया जा सकता था। विधेयकों को कानून बनने से पहले दोनों सदनों और उसके बाद गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। गवर्नर-जनरल अपनी स्वीकृति को रोक सकता था या किसी विधेयक पर अपने सुझाव देकर उसे पुनर्विचार के लिए वापिस कर सकता था। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल किसी भी विधेयक को देश के हितों पर आघात करनेवाला बताकर रोक सकता था और किसी भी विधि को देश के लिए हितकारी बताकर व्यवस्थापिका की इच्छाओं के विपरीत भी पास करा सकता था। कोई व्यवस्था देश के लिए हितकर है या घातक, इसका निर्णय करने का एकमात्र अधिकार गवर्नर-जनरल को था, जो राज्य-सचिव के प्रति उत्तरदायी था।

आर्थिक विषयों में व्यवस्थापिका के अधिकार भी इसी प्रकार गवर्नर-जनरल के अधिकारों तथा अन्य रुकावटों द्वारा सीमित कर दिये गये थे। बजट बनाना 'कार्यकारिणी' का काम रखा गया था और बजट को दो भागों में बाँटने की व्यवस्था की गई थी—'मतापेक्षी' (Votable) तथा 'अमतापेक्षी' (Non-Votable)। इनमें अन्तर यह था कि 'मतापेक्षी' रकमों पर मत देने का व्यवस्थापिका के सदस्यों को संवैधानिक अधिकार था परन्तु 'अमतापेक्षी' रकमों पर वे मत न दे सकते थे। मोटे तौर पर बजट का ५५ या ६०% 'अमतापेक्षी' रखा गया था, जिसके सम्बन्ध में व्यवस्थापिका के सदस्यों को केवल बहस करने का अधिकार था। 'अमतापेक्षी'

रकमों में सार्वजनिक ऋण, गवर्नर-जनरल, गवर्नरों तथा शाही पदाधिकारियों के वेतन, सैनिक तथा सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय और धार्मिक संस्थाओं पर व्यय इत्यादि ऐसी रकमें रखी गई थीं, जिनके सम्बन्ध में जनमत बहुत आलोचना पूर्ण था। बजट तैयार हो जाने पर, इसकी बहस के लिए, दोनों सदनों के सामने रखने की व्यवस्था की गई, परन्तु इस पर मत देने का अधिकार निम्न सदन 'व्यवस्थापिका-सभा' को ही दिया गया। 'मतापेक्षी' रकमों के सम्बन्ध में भी गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत किसी भी रकम को अत्यावश्यक बताकर स्वीकार कर दे और आकस्मिक आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्थापिका के परामर्श के बिना ही किसी भी रकम को स्वीकार कर दे।

इस प्रकार इन सुधारों ने, जहाँ तक केन्द्रीय सरकार का सम्बन्ध था, गवर्नर-जनरल की परिषद् में कुछ थोड़े से जी हजूरी करनेवाले सदस्यों की, ऐसे सदस्यों की जिनकी आकांक्षाएँ गवर्नर-जनरल की अनुकम्पा का पात्र बनते हुए बैंक में अपने खातों को भरने और अपने सम्बन्धियों को सरकारी नौकरियाँ दिलाने के अतिरिक्त और कुछ भी न थीं, संख्या बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ भी न किया। ये सदस्य अपने सिवाय और किसी का प्रतिनिधित्व तो करते न थे, इसलिए वे किसी की चिन्ता भी न करते थे और गवर्नर-जनरल के संकेत के अनुसार मत देते थे। व्यवस्थापिका के क्षेत्र में इन सुधारों ने एक सदन और बढ़ा दिया, निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी और सदस्यों को व्यवस्था-सम्बन्धी विषयों पर बातचीत करने के अधिक अवसर प्रदान कर दिये; परन्तु कार्यकारिणी को नियन्त्रित करने, व्यवस्था बनाने तथा आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण करने जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर व्यवस्थापिका को जो अधिकार दिये गये वे न होने के बराबर ही थे।

प्रान्तीय सरकारें; द्वैध-शासन—द्वैध-शासन का अर्थ है शासन-प्रबन्ध में दुहरा नियन्त्रण। १९१९ के कानून ने प्रान्तों में द्वैध-शासन प्रारम्भ किया। यह द्वैध-शासन-प्रणाली स्वशासन की सार्वजनिक माँग को कुछ सीमा तक पूरा करने के विचार से रखी गई थी। इस कानून के निर्माता लॉयनेल कुर्टिस तथा विलियम ड्यूक की योजनाओं से कहाँ तक प्रभावित हुए थे, यह जानने के तो हमारे पास कोई साधन नहीं हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि द्वैध-शासन-प्रणाली का सुझाव सबसे पहले इन्हीं की योजनाओं में रखा गया था और १९१९ का कानून विलियम ड्यूक के सुझावों के बहुत अनुरूप है।

ड्यूक ने अपनी योजना तैयार करने में तीन धारणाएँ बना ली थीं; पहली तो यह कि शासन के कुछ विभागों को सार्वजनिक नियन्त्रण में न आने दिया जाय; दूसरी यह कि पिछड़ी तथा आदिवासी जातियों पर निरकुश शासन चलने दिया जाय

और तीसरी यह कि कुछ ऐसे विषय, जिनसे सरकार को हानि की सम्भावना न हो सार्वजनिक नियन्त्रण में रख दिये जायँ।

इन धारणाओं के होते हुए द्वैध-शासन-प्रणाली ही एक मात्र विकल्प रह जाता था और १९१९ के कानून के अनुसार उन विषयों को, जिनसे सरकार को हानि की कोई सम्भावना न थी, 'हस्तान्तरित' (Transferred) वना दिया गया और जो विषय सार्वजनिक नियन्त्रण में न रखे जा सकते थे उन्हें 'रक्षित' (Reserved) की श्रेणी में रखा गया।

प्रान्तीय कार्यकारिणी—सभी प्रान्तों में कार्यकारिणी दो भागों में बाँटी गई थी और गवर्नर को विशेष अधिकार और उत्तरदायित्व सौंपकर दोनों भागों का प्रधान रखा गया था। पहला भाग था गवर्नर और उसकी परिषद्; इसको 'रक्षित' विषयों का प्रवन्ध सौंपा गया था। दूसरा भाग था गवर्नर और मन्त्री; इसको 'हस्तान्तरित' विषय दिये गये थे। परिषद् के सदस्यों तथा मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर को करनी थी; अन्तर यही था कि मन्त्री व्यवस्थापिका के गैर-सरकारी सदस्यों में से मनोनीत किये जाते थे। इस कानून में ऐसी कोई व्यवस्था न दी गई थी कि मन्त्री केवल उन्हीं में से नियुक्त किये जायँ जिनका व्यवस्थापिका में वहुमत हो। ऐसी व्यवस्था न वनाने का कारण यह था कि अँगरेज सरकार का उद्देश्य भारत में इँगलैण्ड के मन्त्रिमण्डल के समान उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल वनाना नहीं था। इस नये कानून में प्रत्येक मन्त्री को अपने विभाग के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी वनाया गया था; एक मन्त्री का अन्य मन्त्रियों से कोई सम्वन्ध न रखा गया था और 'रक्षित' विभागों से तो मन्त्रियों का कुछ भी सम्वन्ध न था। आशा प्रकट की गई थी कि मन्त्रियों की संयुक्त बैठकें तथा विचार-विमर्श हो सकेंगे; परन्तु कानून में संयुक्त बैठकों की कोई व्यवस्था न होने के कारण, परिषद् के सदस्य और मन्त्री यदि किसी अवसर पर एकत्र होते थे तो चाय पार्टियों या सहभोजों में ही।

गवर्नर न तो परिषद् के सदस्यों के परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य था, न मन्त्रियों के। प्रान्तीय मामलों में गवर्नर की सर्वोच्चता को पूर्ववत् ज्यों का त्यों असीम और अनियन्त्रित रहने दिया गया था। मन्त्रियों के भलाई कर सकने के सीमित अधिकारों को, उन्हें प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था में कोई अधिकार न देकर, और भी अधिक सीमित कर दिया गया था। अन्य विषयों के समान आर्थिक वातों को भी 'रक्षित' तथा 'हस्तान्तरित' इन वर्गों में बाँट देने और 'हस्तान्तरित' विषयों के लिए पृथक् कोष की व्यवस्था करने के सुझाव को अस्वीकार कर दिया गया था। इस सबका परिणाम यह हुआ कि मन्त्री और उनकी योजनाएँ गवर्नर की कृपा के अधीन वन गईं।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका—१९१९ के कानून में प्रान्तीय व्यवस्थापिका में एक सदन की व्यवस्था की गई, जिसको 'व्यवस्थापिका परिषद्' (Legislative Council) नाम दिया गया। इस परिषद् में चुने हुए सदस्यों का बहुमत होना था और विशेष हितों तथा वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए गवर्नर को सदस्य मनोनीत करने थे। परिषद् की सदस्य-संख्या विभिन्न प्रान्तों में उस प्रान्त की जन-संख्या तथा नौकरशाही के मिजाज के अनुसार भिन्न-भिन्न रखी गई। सबसे कम सदस्य-संख्या आसाम की परिषद् की थी, जिसमें ५३ सदस्य रखे गये थे और सबसे अधिक बंगाल की, जिसमें १३९ सदस्य रखे गये थे। इन परिषदों को सभी प्रान्तीय विषयों पर व्यवस्था बनाने का अधिकार था; पाबन्दी केवल यही थी कि गवर्नर की स्वीकृति के बिना परिषद् द्वारा स्वीकृत कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता था और गवर्नर अपनी स्वीकृति देने से इनकार भी कर सकता था। इसके अतिरिक्त गवर्नर जिस विधेयक को आवश्यक समझे उसे परिषद् की अस्वीकृति होने पर भी पास कर सकता था।

आर्थिक मामलों में भी परिषदों के अधिकारों पर ऐसी ही पाबन्दियाँ लगाई गई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि बजट को परिषद् के सामने उपस्थित करने की व्यवस्था की गई थी और परिषद् को अधिकार दिया गया था कि वह चाहे तो बजट को अस्वीकार कर सकती है या उसकी किसी मद को घटा सकती है। परन्तु गवर्नर को अधिकार था कि वह परिषद् द्वारा अस्वीकृत या घटाई हुई किसी भी रकम को स्वीकार कर दे। इसके अतिरिक्त सरकारी पदाधिकारियों के वेतन, केन्द्रीय सरकार को दी गई रकमें इत्यादि व्यय की कुछ मदों को परिषद् के सामने रखा ही न जाना था। ये मदें केन्द्रीय बजट की 'अमतापेक्षी' मदों के समान थीं। राजस्व की दर तय करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव बनाने का अधिकार केवल गवर्नर को ही दिया गया। गवर्नरों के इतने विस्तृत अधिकारों तथा परिषदों पर लगाई गई पाबन्दियों से १९१९ के कानून की दी हुई सुविधाएँ वास्तविक न होकर एक छलना-मात्र रह गईं।

प्रतिनिधित्व-प्रणाली—प्रान्तीय तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिकाओं के लिए सदस्यों के निर्वाचन या मनोनयन की प्रणाली इस कानून में भी आधारभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से बिलकुल वैसी ही थी जैसी १९०९ के कानून की; अन्तर यही था कि इस कानून में मताधिकार कुछ विस्तृत किया गया था और मुसलमानों के साथ-साथ कुछ अन्य वर्गों को भी विशेष प्रतिनिधित्व का विशेषाधिकार दिया गया था। जनता के प्रतिनिधित्व के लिए निर्वाचन-प्रणाली रखी गई थी और विशेष हितों, वर्गों तथा समितियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित बना कर, उन पर उन-उन हितों

इत्यादि के लोगों में से सदस्य मनोनीत करने की व्यवस्था की गई थी। इस कानून में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की निन्दा तो खूब की गई थी, परन्तु साथ ही पञ्जाब के सिखों, मद्रास के अब्राह्मणों और वम्बई के मराठों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया था। जमींदारों और मजदूरों, विश्वविद्यालयों तथा निगमों (Corporations) के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये थे, जिनके लिए सदस्यों का चुनाव इन वर्गों तथा संस्थाओं की प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा किया जाना था। जो स्थान किसी विशेष वर्ग या हित के लिए सुरक्षित न थे उनके लिए सामान्य निर्वाचकों में चुनाव किया जाना था और इस चुनाव में वे सम्प्रदाय या वर्ग, जिनके निर्वाचन-क्षेत्र पृथक् थे, वोट न दे सकते थे। सदस्यों तथा वोटरों के लिए अपेक्षित योग्यताओं का बड़ी वारीकी से निर्धारण किया गया था और ये योग्यताएँ विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न रखी गई थीं। मनोनीत सदस्यों में से कुछ सरकारी होने थे और कुछ गैर-सरकारी तथा इन दोनों का अनुपात भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग रखा गया। सामान्यतः प्रत्यक्ष-चुनाव की विधि रखी गई; परन्तु राज्य-परिषद् के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय परिषदों के सदस्यों में से होना था।

गृह-सरकार (The Home Government)—पूर्णतः भारतीय मामलों में राज्य-सचिव का निरंकुशतापूर्वक हस्तक्षेप और उसकी भारतीय परिषद् की व्यर्थता को लेकर भारतीय जनमत वहुत क्षुब्ध था। भारत-सरकार में आरम्भ किये हुए नये सुधारों को देखते हुए इस दिशा में भी कुछ परिवर्तन करने आवश्यक समझे गये। राज्य-सचिव और उसकी भारतीय परिषद् के भारत-सरकार के साथ भविष्य में किस प्रकार के सम्बन्ध रहने चाहिए, इस पर विचार करने और विवरण प्रस्तुत करने के लिए लॉर्ड क्रयू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने सिफारिश की कि राज्य-सचिव की भारतीय परिषद् को पूर्णतः एक परामर्शदात्री समिति वना दिया जाय और इसके एक-तिहाई सदस्यों की नियुक्ति राज्य-सचिव केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के गैर-सरकारी सदस्यों के मत से प्रस्तुत की गई नामों की सूची में से करे; यह समिति राज्य-सचिव को उन मामलों में परामर्श दे जो इसके सामने लाये जायँ, परन्तु राज्य-सचिव प्रत्येक मामले को इस समिति के सामने रखने के लिए बाध्य न हो; जिन मामलों में भारत-सरकार व्यवस्थापिका के वहुमत से सहमत हो, उनमें राज्य-सचिव तब तक हस्तक्षेप न करे, जब तक उसे यह अनुभव न हो जाय कि "भारत में शान्ति, सुव्यवस्था और सुशासन के लिए संसद के प्रति राज्य-सचिव का उत्तरदायित्व या शाही नीति की अत्यावश्यक बातें उसके लिए यह आवश्यक बना देती हैं कि वह प्रस्तुत विषय पर व्यवस्थापिका सभा में पुनर्विचार कराये।"

परन्तु क्र्यू-समिति की इन सिफारिशों पर कोई ध्यान न दिया गया और इस क़ानून में भी राज्य-सचिव तथा उसकी परिषद् के शासन, निरीक्षण तथा नियन्त्रण के समस्त अधिकारों को अछूता छोड़ दिया गया। राज्य-सचिव की परिषद् में कुल सदस्य-संख्या घटाने तथा भारतीय मामलों के अनुभवी सदस्यों की संख्या अधिक करने के लिए कुछ परिवर्तन किये गये। इसमें व्यवस्था की गई कि भविष्य में राज्य-सचिव की परिषद् की सदस्य-संख्या बारह से अधिक न हो और आठ से कम न हो और इनमें से आधे सदस्य भारत में कम-से-कम दस वर्ष तक नौकरी कर चुके हों या रह चुके हों। इनके कार्य-काल की अवधि पाँच वर्ष रखी गई, परन्तु ये दुबारा भी नियुक्त किये जा सकते थे।

इस कानून में क्र्यू-समिति की एक बात अवश्य स्वीकार की गई। इसमें राज्य-सचिव के प्रतिनिधित्व के कार्य (Agency functions) उसके शासन और राजनीति-सम्बन्धी कार्यों से अलग कर दिये गये तथा प्रतिनिधित्व सम्बन्धी कार्यों के लिए एक हाई कमिश्नर (High commissioner) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। अक्टूबर १९२० में प्रथम हाई कमिश्नर की नियुक्त हुई।

सुधारों का स्वागत—माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड विवरण की, जिसमें भावी सुधारों की झाँकी दी गई थी, भारत में तीव्र आलोचना हुई थी और नरम दल को छोड़ और किसी ने इसे पसन्द न किया था। १९१९ के कानून ने तो नरम दल के उत्साह को भी ठण्डा कर दिया और १९१९ में जो चुनाव हुए कांग्रेस ने, कांग्रेस-लीग योजना पर दृढ़ रहते हुए उनका बहिष्कार कर दिया। युद्ध-काल में अँगरेज राजनीतिज्ञों के दिये हुए वचनों पर आधारित ऊँची-ऊँची आशाओं को भग्न होते देख जनता क्षुब्ध हो उठी। जनता की आशाएँ जितनी ही अधिक टूटती थीं, अँगरेजों के प्रति उसकी घृणा भी उतनी ही बढ़ती जाती थी; जनता समझने लगी कि अँगरेज अकृतज्ञ, बेईमान और झूठे हैं। रॉलेट बिल के बाद की घटनाओं ने जनता के इस घृणा भाव को और भी बढ़ा दिया।

रॉलेट बिल और उसके बाद—१९१४-१९१९ के बीच के काल में क्रान्तिकारी आन्दोलन दब-सा गया था; इसके कारणों का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। प्रेस-कानून तथा भारत-रक्षा-कानून ने क्रान्तिकारी आन्दोलन का गला दबोच दिया; इसके अनुयायियों की संख्या दिन पर दिन घटती गई। देश में राजनीतिक आन्दोलन तो चल रहा था, परन्तु यह आन्दोलन बम और पिस्तौलों से काम न लेता था। इतना होने पर भी सरकार ने क्रान्तिकारी आन्दोलन के विषय में विवरण प्रस्तुत करने और इस आन्दोलन को रोकने के लिए सुझाव देने को सन् १९१८ में एक राजद्रोह जाँच-समिति (Sedition committee) को नियुक्त करना आवश्यक

समझा; न्यायाधीश श्री रॉलेट इस समिति के अध्यक्ष थे। इस जाँच-समिति का विवरण मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड विवरण के प्रकाशन के कुछ ही समय वाद प्रकाशित हुआ और इसके प्रकाशित होने पर मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड विवरण के प्रति जनता का उत्साह वैसे ही ठण्डा पड़ गया जैसे 'राजद्रोहात्मक सभा-कानून' के वनने से मिण्टो-मार्ले-सुधारों के प्रति उसका उत्साह समाप्त हो गया था। जनमत इस जाँच-समिति की नियुक्ति और इसके विवरण को नौकरशाही के अधिकारों को वढ़ाने के लिए और भारत-रक्षा-कानून को, जिसकी अवधि युद्ध की समाप्ति के साथ समाप्त होनेवाली थी, फिर से प्रचलित करने के लिए सरकार का एक वहाना समझ रहा था।

इस विवरण में क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए इसका आरम्भ सन् १८९३ में हुआ बताया गया था और इसमें कुछ सुझाव दिये गये थे जिनके आधार पर 'रॉलेट विधेयक' (Rowlatt Bills) तैयार हुए; ये विधेयक जनवरी १९१९ में पास हुए। इन विधेयकों के प्रस्ताव 'भारत-रक्षा-कानून' (Defence of India Act) जैसे कुछ दमनकारी कानूनों को 'विधि-संहिता' (Statute Book) में चढ़ाने के लिए वेतुके वहाने मात्र थे। 'भारत-रक्षा-कानून' के अनुसार, गवर्नर-जनरल को यह विश्वास हो जाने पर कि संकटकालीन स्थिति उपस्थित हो गई है, सार्वजनिक जीवन को समाप्त करने के लिए उसके पुलिस तथा कार्यकारिणी के अधिकारों की कोई सीमा न रह जाती थी। इस कानून की सीमाएँ इतनी व्यापक थीं और इसके द्वारा कार्यकारिणी को सौंपे गये अधिकार इतने अनियन्त्रित थे कि इनके सामने प्रजा की नागरिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही न रह जाता था। दमन के इस नये शस्त्र को ढालने की इस समय क्या आवश्यकता थी, इस प्रश्न का भारतीयों को कोई उत्तर नहीं मिल पा रहा था, क्योंकि अभी-अभी तो वे महायुद्ध में अपने रक्त से अपनी राजभक्ति का परिचय दे चुके थे। भारतीयों ने इस युद्ध में स्वतन्त्रता, आत्म-निर्णय के अधिकार और स्वराज के लिए अपना रक्तदान किया था, परन्तु अव वे देख रहे थे कि 'रॉलेट-विधेयकों' में इन्हीं सिद्धान्तों का हनन किया जा रहा था। इससे जनता का यह परिणाम निकालना स्वाभाविक ही था कि आत्म-निर्णय और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त, जिनके लिए वे युद्ध में लड़े थे, ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन देशों के लिए नहीं थे।

परिणाम यह हुआ कि रॉलेट-विवरण तथा विधेयकों के विरोध में उग्र आन्दोलन छिड़ गया। सरकार से सैकड़ों अपीलें की गईं कि वह जनता को आन्दोलन छेड़ने के लिए वाध्य न करे, परन्तु इनका कोई फल न हुआ। सरकार 'रॉलेट-विधेयकों' को पास करने के लिए इतनी उतावली जान पड़ती थी कि उसने व्यवस्थापिका

के गैर-सरकारी सदस्यों का यह प्रस्ताव तक अस्वीकार कर दिया कि इन प्रस्तावों को संशोधित परिषदों की बैठक तक के लिए स्थगित कर दिया जाय ।

महात्मा गांधी और सत्याग्रह आन्दोलन—'रॉलेट-विधेयकों' के विरोध में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था उसकी लहरें देश के प्रत्येक भाग और प्रत्येक वर्ग में फैल गईं। अनेक स्थानों पर उपद्रव और हत्याएँ तक हो गईं। निर्भय परन्तु निःशस्त्र प्रदर्शनकारी सशस्त्र एवं अमानुषिक नौकरशाही की चोटों का कब तक सामना कर सकते थे। शान्तिपूर्ण जलूसों को तितर-बितर करने के लिए जो लाठियों और गोलियों की बौछार की गई उसमें अनेकों को प्राणों से हाथ धोने पड़े और अनेकों घायल हुए। इसी अवसर पर भारत के महान् नेता मोहनदास करमचन्द गांधी ने, जो महात्मा गांधी के नाम से विख्यात हैं, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित साम्राज्यवाद से टक्कर लेने के लिए राष्ट्र को 'सत्याग्रह' का शस्त्र भेंट किया।

सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी; इस प्रतिज्ञा की शब्दावली महात्मा गांधी ने स्वयं तैयार की और इससे सत्याग्रह आन्दोलन का विस्तार-क्षेत्र तथा इस आन्दोलन के साधन स्पष्ट हो जाते हैं। प्रतिज्ञा यह थी—

"विचारपूर्वक यह समझते हुए कि १९१९ के 'भारतीय अपराध-विषयक विधि' (संशोधन-विधेयक) सं० १ (Indian Criminal Law [Amendment Bill] No. 1) तथा 'अपराध-विषयक-विधि (संकटकालीन अधिकार) विधेयक सं० २ (Criminal Law [Emergency Powers] Bill No. 2) के नाम से प्रसिद्ध विधेयक अन्यायपूर्ण, स्वतन्त्रता एवं न्याय के सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को, उन अधिकारों को जिन पर सारी जाति की और राज्य तक की सुरक्षा आधारित है, नष्ट करनेवाले हैं, हम गंभीरतापूर्वक स्वीकार करते हैं कि इन विधेयकों के कानून बन जाने की स्थिति में और जब तक ये वापिस न ले लिये जायें, हम इन कानूनों का तथा ऐसे और भी अन्य कानूनों का, जिनको इसके बाद नियुक्त की जानेवाली समिति (पालन करने के अयोग्य) समझेगी, पालन करने से शिष्टतापूर्वक इनकार कर देंगे और हम यह भी स्वीकार करते हैं कि इस संघर्ष में हम ईमानदारी से सत्य का पालन करेंगे तथा जीवन, व्यक्ति या सम्पत्ति के प्रति हिंसा से अलग रहेंगे।"

जनता ने महात्मा गांधी के आह्वान का आश्चर्यजनक उत्साह से स्वागत किया और देश भर में सत्याग्रह के प्रदर्शन के लिए ६ अप्रैल का दिन निश्चित किया गया। यह सत्याग्रह आन्दोलन भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के प्रवेश का सूचक है और यहीं से भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में एक नये अध्याय का श्री-

गणेश होता है। यहाँ से एक नया युग आरम्भ होता है जो जनवरी १९४८ में स्वयं महात्माजी की दुःखपूर्ण हत्या के साथ समाप्त हुआ।

सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ करने से पहले महात्मा गांधी ने वायसराय से इन विधेयकों को हटा लेने की अन्तिम बार प्रार्थना की, परन्तु इसका कोई प्रभाव न हुआ। सर्वथा शान्तिपूर्ण और अनुशासित ढंग से आन्दोलन आरम्भ हुआ। संसार के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व और अद्वितीय घटना थी। सारा देश एक होकर उठ खड़ा हुआ। जनता के उत्साह का ठिकाना न था। इस आन्दोलन के बाद जो उपद्रव और हिंसात्मक कार्य हुए, उनका इससे कोई सम्बन्ध न था; ये सरकार की उस कठोर दमन नीति के तथा "शान्तिपूर्ण विधियों का अनुसरण करते हुए प्रदर्शनकारियों को निरन्तर तंग करने" का परिणाम थे। कुछ स्थानों पर प्रदर्शनकारियों ने सरकार की घोर हिंसात्मक विधियों का जो थोड़ी बहुत हिंसा से उत्तर दिया, वह केवल इसी बात का प्रमाण है कि प्रदर्शनकारी भी मनुष्य थे और वे उस ऊँचाई तक न उठ पाये थे जहाँ तक स्वयं महात्माजी ने अपने आपको उठा लिया था। ऐसे जन-आन्दोलन का अवांछनीय घटनाओं से सर्वथा रहित होना असंभव ही था। दिल्ली, पंजाब, अहमदाबाद तथा कुछ अन्य स्थानों पर दंगे हुए, जिनको सरकार ने बढ़ा-चढ़ाकर 'खुले आम विद्रोह' की संज्ञा दे डाली।

अमृतसर-हत्याकाण्ड—अमृतसर की जनता का स्थानीय नेताओं—डा० सत्यपाल और डा० किचलू—की गिरफ्तारी और निर्वासन के विरोध में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन अमृतसर हत्याकांड का कारण बना। इन नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार सुनकर, जनता का एक जलूस डिप्टी कमिश्नर के बँगले की ओर इन नेताओं की रिहाई की प्रार्थना करने के लिए बढ़ा। रास्ते में हाल गेट ब्रिज नामक स्थान पर एक सैनिक टुकड़ी ने जलूस को रोक लिया। देखते ही देखते घुड़सवार पुलिस भी घटना-स्थल पर पहुँच गई। संभव है, इस सरगर्मी में कुछ गड़बड़ मच गई हो; परन्तु इतने से ही उस अन्धाधुन्ध गोलियों की बौछार का औचित्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता जो निहत्थी, निरीह जनता पर की गई। अपने भाई-बन्धुओं को घायल और मरा हुआ देख अधिक भावुक व्यक्ति अपने आपको नियन्त्रित न रख सके; वे हिंसा और आग लगाने में तत्पर हो गये। अनेकों यूरोपीयों को प्राणों तथा सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि नगर का नियन्त्रण सेना के अध्यक्ष जनरल डायर को सौंप दिया गया और उसे आदेश दिया गया कि "नागरिक नियन्त्रण को पुनः स्थापित करने के लिए वह जो भी उचित समझे, करे।" सहायता के लिए और भी सेना आ पहुँची और रात तक नगर में शान्ति स्थापित हो गई।

न जाने कैसे जनरल डायर के मन में यह बात समा गई कि उपद्रवों को शान्त

करने के लिए अधिकारी वर्ग उससे हत्याकांड मचा देने की आशा रखता है। शायद तब वह भूल गया था कि धार्मिक आन्दोलन के समान राष्ट्रीय आन्दोलन भी यातनाओं से अधिकाधिक बढ़ता है। गोली-वर्षा के विरोध में शान्तिपूर्वक प्रदर्शन करने के लिए निःशस्त्र प्रदर्शनकारी जलियाँवालाबाग में एकत्र हुए थे। जनरल डायर ने सेना साथ में लेकर बाग को घेर लिया और चेतावनी दिये बिना ही गोलियों की बौछार शुरू कर दी। इस बाग में केवल एक द्वार था और उसको भी सैनिक घेरे हुए थे; भागने का कोई भी रास्ता न था। गोलियाँ तब तक चलती रहीं जब तक सैनिकों के पास गोलियाँ समाप्त न हो गईं और इस समय तक दो हजार निरीह प्राणी हताहत हो चुके थे। इनको यहीं छोड़कर डायर अपने इस कसाईखाने से चल दिया। इस अमानुषिक घटना की आलोचना क्या हो सकती है। लाहौर, गुजराँवाला और कसूर में उपद्रव हुए। सारा पंजाब रोष और क्षोभ से उबल उठा। सरकार ने 'मार्शल लॉ' (Martial Law) की घोषणा कर दी; इसकी आड़ में जनता पर जैसे-जैसे अमानुषिक अत्याचार ढाए गये, उनका उल्लेख न करना ही उचित होगा।

अमृतसर-हत्याकांड और 'मार्शल लॉ' के अत्याचारों ने भारत की जनता के मन में जो भाव जगा दिये, उनकी आशा सरकार को न थी। सरकार समझती थी कि इन अत्याचारों से भयभीत होकर जनता दब जायेगी, परन्तु बात उलटी ही हुई। विदेशी शासन को समाप्त करने का जनता का निश्चय और भी दृढ़ हो गया। सरकार की नैतिक प्रतिष्ठा को भीषण आघात लगा और इसी अनुपात में स्वातन्त्र्य आन्दोलन का नैतिक बल बढ़ गया। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'नाईट' की उपाधि त्याग दी। उनका यह कार्य उस समय की सार्वजनिक भावना का प्रतीक है। विदेशी शासन के विरुद्ध उठने की भावना राजनीतिज्ञों से कवियों और दार्शनिकों तक में फैल गई थी। इस घटना ने ब्रिटिश कूटनीति की चालों को बेकार कर दिया; ब्रिटिश सरकार में सहानुभूति और भविष्य की कल्पना के अभाव ने स्थिति को और भी बिगाड़ दिया और भारत का स्वातन्त्र्य आन्दोलन समय के साथ-साथ जोर पकड़ता गया।

सरकार ने अपनी नैतिकता का परिचय देने के लिए पंजाब की इन घटनाओं की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की जो 'हंटर समिति' (Hunter Committee) कही जाती है। इसके साथ-साथ कांग्रेस ने भी अपनी एक जाँच-समिति नियुक्त की। इन दोनों समितियों के विवरण अलग-अलग प्रकाशित हुए। इन दोनों विवरणों को मिलाकर पढ़ने से घटनाओं का वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है।

कांग्रेस की जाँच-समिति का विवरण, जिसमें पंजाब में सरकार के निहत्थी जनता पर किये गये अमानुषिक अत्याचारों तथा फूट डालकर शासन करने की

नीति का भंडाफोड़ किया गया था, ज्यों ही प्रकाशित हुआ कि आन्दोलन ने देश भर में उग्र रूप धारण कर लिया। खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों के असंतोष के कारण कांग्रेस और मुसलमान संस्थाओं में एकता स्थापित हो गई। दोनों ने मिलकर अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। 'उलमा' ने अहिंसात्मक असहयोग के पक्ष में एक 'फतवा' निकाला, जिस पर ९२५ मुसलमान धर्माचार्यों के हस्ताक्षर थे। सितम्बर १९२० में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें अहिंसात्मक असहयोग का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ; दिसम्बर में नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में यह कार्यक्रम पुनः स्वीकृत हुआ। अब कांग्रेस महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक नई दिशा में प्रयाण कर रही थी। सब सम्प्रदायों में अभूतपूर्व एकता और देश भर में आन्दोलन के लिए अत्यधिक उत्साह इस आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ थीं। अभी टैक्स न देने और सविनय अवज्ञा का आन्दोलन का आरम्भ भी न हुआ था कि सरकार ने नर-नारियों के झुंड के झुंड गिरफ्तार कर इस आन्दोलन का पहले ही दमन करना प्रारम्भ कर दिया। सविनय अवज्ञा की योजना महात्मा गांधी ने पूर्णतः स्वयं ही प्रस्तुत की थी; इस योजना में ये बातें रखी गई थीं—उपाधियों का त्याग, सरकारी अधिकारियों के कार्यों का बहिष्कार, ब्रिटिश अदालतों, परिषदों, स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार, ब्रिटिश माल का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना। आर्थिक पराधीनता को, जिसको लाला लाजपतराय ने बहुत जोर देते हुए राजनीतिक पराधीनता का मूल कारण बताया था, समूल नष्ट करने के लिए हाथ की कताई और बुनाई को प्रोत्साहित करने का निश्चय हुआ। घर-घर में 'तकली' और 'चर्खा' दिखाई देने लगे। ये इस आन्दोलन के राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही पक्षों के प्रतीक बन गये। राष्ट्रीय-ध्वज पर चर्खा अंकित हुआ और १९२० से १९४७ के लम्बे समय में, जिसे 'गांधी युग' कहना सर्वथा उपयुक्त होगा, चर्खा भारत के राजनीतिक इतिहास का संचालक बना रहा।

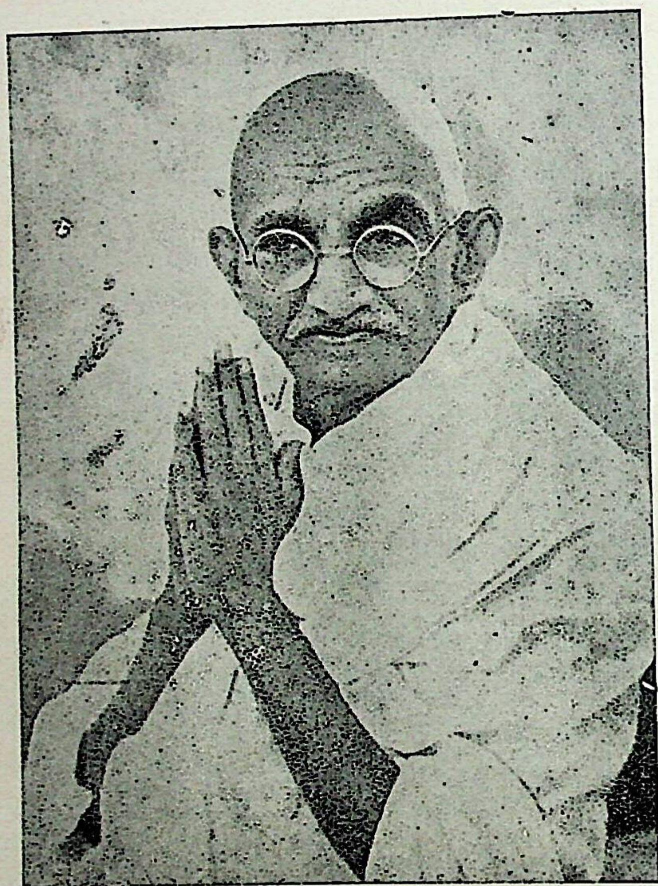
परन्तु इस आन्दोलन का उत्साह अधिक समय तक टिक न सका। १९२१ के अन्त तक आन्दोलन बन्द कर दिया गया। महात्मा गांधी, अली-बन्धु, हुसैन अहमद, अबुल कलाम 'आजाद', पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय तथा सहस्रों आन्दोलनकारी जेल के सीखचों में बन्द कर दिये गये।

दिसम्बर में कांग्रेस और लीग दोनों के वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में एक ही समय और स्थान पर हुए। लीग ने सविनय अवज्ञा के पक्ष में कोई प्रस्ताव न अपनाया। दोनों संस्थाओं के रास्ते यहाँ से पृथक् होने लगे और समय के साथ-साथ यह पार्थक्य अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा।

सुधारों को कार्यान्वित करना—उग्र राजनीतिक आन्दोलन के इस वातावरण

में जिस पर अमृतसर हत्याकांड की छाया मँडरा रही थी, १९१९ के सुधारों को कार्यान्वित किया गया। प्रारम्भ में कांग्रेस के असहयोग ने इन पर तुषारपात कर दिया और फिर भारतीयों के साथ अधिकारों में हिस्सा बँटाने में नौकरशाही की अनिच्छा ने तो इन्हें कभी पनपने ही नहीं दिया। भारतीय व्यवस्थापिका का उद्घाटन ९ फरवरी १९२१ को हुआ; इस समय कनाट के ड्यूक भारत आये हुए थे। ड्यूक ने भारतीयों तथा अँगरेजों दोनों से ही व्यक्तिगत रूप से अपील की कि वे अब पिछली बातें भूलकर "हाथ मिला लें और आज से जो आशाएँ जागृत हुई हैं, उनका साक्षात्कार करने के लिए मिलकर काम करें।"

अप्रैल १९२१ में लार्ड चेम्सफोर्ड ने अपना पद-भार त्याग दिया और तब लॉर्ड रीडिंग ने उसका स्थान ग्रहण किया। लार्ड रीडिंग के साथ भारत के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ होता है। लॉर्ड रीडिंग बहुत गम्भीर कूटनीतिज्ञ था; उसने आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया, परन्तु विफल रहा। यातनाएँ आन्दोलन के भवन को और भी दृढ़ बनाने लगीं, सहस्रों नर-नारी ब्रिटिश साम्राज्यवाद और शोषण से लड़ने के लिए महात्मा गांधी के झंडे के नीचे एकत्र होने लगे। भारत के इतिहास में ऐसा दृश्य पहले कभी उपस्थित न हुआ था; यद्यपि ऐसे लोग भी कम न थे जो इस आन्दोलन के प्रति संदेह और भय व्यक्त कर रहे थे, परन्तु हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम के सेनानी महात्मा गांधी आशा और विश्वास के साथ बढ़ते जा रहे थे; उनको देखकर सहस्रों नर-नारियों को उनका अनुगमन करने की प्रेरणा मिल रही थी। लगभग ३० वर्षों तक भारत की राजनीति इस संत के नेतृत्व में संचालित होती रही, जिसको न यश की लिप्सा थी और न प्रशंसा की और अपने लिए जिसकी कुछ भी कामना न थी। इस महात्मा के रूप में हमारे प्राचीन ऋषियों एवं तत्त्वदर्शियों की आत्मा अवतरित हुई थी।



महात्मा गांधी

बीसवाँ अध्याय

गांधी-युग—१९२०-४७ ई०

भारतीय राजनीति में जिस समय गांधीजी ने प्रवेश किया, वह राष्ट्रीय गौरव का, भग्न-मनोरथों का, ऊँची-ऊँची आशाओं का, आशंकाओं और उद्विग्नताओं का समय था। यूरोप की रण-भूमियों में भारतीय सेनाओं की शानदार विजयों, विश्व-युद्ध की सफल समाप्ति, युद्धकाल में बार-बार दुहराये गये आत्म-निर्णय और समानता के नारे—इन सबने मिलकर राष्ट्रीय स्वाभिमान को और वैधानिक सुधारों की आशाओं को जन्म दे दिया था। इसके साथ ही माण्टफोर्ड-सुधारों की अपर्याप्तता, जनता का सफल नेतृत्व करने में और जनता की अवरुद्ध भावनाओं को सक्रिय रूप देने में कांग्रेस की विफलता ने भारतीय जनता के मनोरथों को भग्न कर दिया था। युद्ध के बाद के वर्षों में पंजाब में हुए अत्याचारों और खिलाफ़त के प्रश्न ने जनता में आतंक और उद्विग्नता का संचार कर दिया था। उदार अथवा सुधार-वादी दल कांग्रेस से निश्चित रूप से अलग हो गया था; पंजाब का 'घायल हृदय' भी उन्हें उत्तेजित न कर सका। कांग्रेस के अन्दर "पुराने प्रहरी" कहे जानेवाले नेता अब जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे। नये राष्ट्रवादी अभी तक बहुत थोड़े और नेतृत्वविहीन थे। इस अवसर पर सरकारी प्रवक्ता तक को लिखना पड़ा था:—

"१९१६ ई० में जब लार्ड चेम्सफोर्ड ने अपने उच्च पद का भार ग्रहण किया, तब शिक्षित वर्ग कुछ बातों की, जिनके प्रति (जनता में) बहुत क्षोभ था; शिकायतों के विरुद्ध बेचैनी से आन्दोलन कर रहा था। कॉमनवेल्थ में भारत की स्थिति संदिग्ध थी; क्योंकि, जब कि एक तरफ कुछ उपनिवेशों का भारत के नागरिकों के प्रति रुख उसको हीनता के कलंक से लांछित करता दीखता था और ब्रिटिश शासन का अन्तिम लक्ष्य अस्पष्ट बना हुआ था, दूसरी ओर शाही कार्य, शिक्षित वर्गों की दृष्टि में, मुश्किल से ही अधिक संतोषजनक थे। जातीय आधार पर, भारत की संतानों को हथियार रखने के अधिकार से वंचित किया गया था; वे किंग्स कमीशनों की ओर नजर न उठा सकते थे; भारत की शाही नौकरियों में भी उनकी स्थिति नगण्य थी। १९०९ ई० के मार्ले-मिण्टो-सुधार उनको कार्य-

कारिणी पर प्रभाव डालनेवाले किसी अधिकार से युक्त करने में विफल रहे थे।"*

गोखले संसार से विदा हो चुके थे। लाला लाजपतराय, वामपक्षीय नेता होते हुए भी, वस्तुतः नरम दल के और वैधानिक सुधारवादी नेता थे। तिलक जनता का नेतृत्व कर सकते थे, परन्तु जुलाई, १९२० ई० में उनका भी देहान्त हो चुका था। इस समय भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को एक प्रभावशाली नेता की आवश्यकता थी और महात्मा गांधी के राजनीति में प्रवेश करने पर यह आवश्यकता पूर्ण हुई। गांधीजी के अजेय साहस, उनकी अडिग ध्येयनिष्ठा, राष्ट्र के स्वर्णमय भविष्य में उनके अटूट विश्वास और राजनीतिक शस्त्र के रूप में सत्याग्रह की अमोघ शक्ति ने और सबसे अधिक तो उस वातावरण ने जिसमें गांधीजी ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और योजनाओं का प्रकाश किया, उनको राष्ट्र का कर्णधार बना दिया और उनको एक चौथाई शताब्दी तक भारतीय राष्ट्र के इतिहास पर छा जाने में समर्थ बना दिया।

महात्मा गांधी का प्रारम्भिक जीवन—मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म २ अक्टूबर, १८६९ ई० में काठियावाड़ में समुद्र-तटवर्ती पोरबन्दर नगर में हुआ था। उनके पिता राज्य-दीवान थे। इनके माता-पिता बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के थे और वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। मोहनदास के जन्म के कुछ वर्षों बाद उनके पिता को पोरबन्दर छोड़कर राजकोट चला जाना पड़ा, जहाँ वे दीवान के पद पर नियुक्त हुए थे। इस राज्य की सेवा में ही गांधीजी के पिता का देहान्त हुआ और इसी राज्य के राजा को ठीक रास्ते पर लाने के लिए गांधीजी को १९३९ ई० में कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन के नाटकीय वातावरण में, जहाँ अधिवेशन के सभापति सुभाषचन्द्र बोस बीमारी की हालत में विषय-समिति की एक बैठक से दूसरी बैठक में स्ट्रेचर पर ले जाये जा रहे थे, उपवास करना पड़ा था। इसी राजकोट राज्य का एक नागरिक ही महात्मा गांधी के प्रबल राजनीतिक प्रतिपक्षी, पाकिस्तान के जन्मदाता, भारत के विभाजन के शिल्पी, भारत में साम्प्रदायिकता की आग भड़कानेवाले मुहम्मद अली जिन्ना का पिता था।

गांधीजी का बारह वर्ष की अवस्था में विवाह हो गया था। सन् १८८८ ई० में उन्नीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने वकालत पास करने के लिए यूरोप की यात्रा की। उनकी माता तथा अन्य सम्बन्धियों ने भी उनकी समुद्र-यात्रा का बहुत विरोध किया था। गांधीजी ने अपनी माता के सामने मांस, मदिरा और स्त्रियों से दूर रहने की

---

* रशबुक-विलियम्स कृत 'इण्डिया' पृष्ठ ५५ (सन् १९२१–२२)।

प्रतिज्ञा की थी। उन्होंने स्वयं लिखा है कि इस प्रतिज्ञा ने "मुझे लन्दन में अनेक गड्ढों में गिरने से बचाया था।" वकालत पास कर गांधी जी भारत लौट आये और राजकोट में वकालत करने लगे। कुछ समय बाद वे बम्बई चले गये। परन्तु सत्य और ज्ञान की खोज में भटकनेवाला उनका मन इस व्यवसाय में न लग सका। बम्बई में उनका सम्पर्क राजचन्द्र रावजीभाई से हुआ। नवयुवक गांधी ने आदर्शवादी कवि राजचन्द्र रावजीभाई से सत्य और अहिंसा के पहले पाठ पढ़े; और जब अफ्रीका में कभी-कभी गांधीजी का मन संशयों में डूबने-उतराने लगता था, तब यही सज्जन थे जिन्होंने उन्हें ईसाई-धर्म ग्रहण करने से विमुख किया था।

गांधीजी को एक मुसलमान फर्म की ओर से वकालत करने के लिए दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने राजचन्द्र से सीखे हुए मन, वचन और कर्म से 'अहिंसा' और दूसरों को दुख न देने के सिद्धान्त को कार्य-क्षेत्र में उतारा। दक्षिण अफ्रीका में उनका निवास-काल उनके नैतिक तथा राजनीतिक जीवन का रचना-काल था। यहीं उनको टाल्सटाय से, ईसा के उपदेशों के अमर सत्य से और क्राईस्ट के "पर्वत पर प्रवचन" ('सर्मन आन दि माउंट') के नैतिक महत्त्व से साक्षात् परिचय मिला। यहीं उन्होंने सबसे पहले "सत्याग्रह" के उस अमोघ शस्त्र को कार्य-क्षेत्र में उतारा, जिसको आगे चलकर उन्होंने भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम का प्रमुख शस्त्र बनाया; और यहीं उनमें संघर्ष का नेतृत्व करने का आत्म-विश्वास विकसित हुआ। दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने अपने देशवासियों को निर्भय होकर, बुराइयों का सत्य से सामना करने और अपनी मनुष्यता को पूर्णतया जागृत करने की शिक्षा दी। दक्षिण-अफ्रीका की सरकार की जाति-भेद की नीति ने वहाँ बहुत विपत्तियाँ खड़ी कर दी थीं और जब १९०६ ई० में दक्षिण-अफ्रीकी सरकार ने 'एशियाटिक रजिस्ट्रेशन ऐक्ट' पास कर दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए एशियाई लोगों के लिए अपना नाम रजिस्टर करवाने और अँगूठे का निशान देने का नियम बना दिया, तब तो स्थिति असह्य हो उठी। हिन्दुस्तानी प्रवासियों के लिए तो यह नियम बहुत ही कष्टप्रद था। गांधीजी ने इसका विरोध किया और उनके नेतृत्व में एक शिष्ट मंडल इँगलैण्ड गया; परन्तु फल कुछ भी न हुआ। यह कानून ट्रांसवाल की पार्लियामेंण्ट में एक ही बैठक में पास हो गया और इसको इँगलैण्ड के क्राउन की स्वीकृति भी मिल गई। अब संघर्ष आरम्भ करने का समय आ गया था। दक्षिण-अफ्रीका के हिन्दुस्तानी प्रवासियों ने अपने नाम रजिस्टर कराने और अँगूठे के निशान देने से, गांधीजी के नेतृत्व में, शान्तिपूर्वक इनकार कर दिया। हजारों हिन्दुस्तानियों को जेलों में ठूँस दिया गया। गांधीजी को दो महीने का कारावास दंड मिला। परन्तु आन्दोलन के इस नये ढंग ने बहुत प्रभाव उत्पन्न किया। दक्षिण अफ्रीकी सर-

कार परेशान हो उठी। समझौते की बातें चलने लगीं। हिन्दुस्तानियों ने स्वेच्छापूर्वक अपने नाम रजिस्टर कराना स्वीकार कर लिया; इस कार्य में जबर्दस्ती हटा दी गई। सबसे पहले गांधीजी ने अपना नाम रजिस्टर कराया। परन्तु ट्रांसवाल की सरकार ने जब इस समझौते के अपने कर्तव्यों को पूरा करना अस्वीकार कर दिया तो संघर्ष फिर से छेड़ देना पड़ा। भारत में जनता बहुत उत्तेजित हो उठी। गोखले ने व्यवस्थापिका की बैठक में ही दक्षिण अफ्रीका में इकरारनामे पर मजदूर (इन्डेन्चर्ड लेबर) भेजने की नीति की घोर निन्दा की और आखिर १९१२ ई० में लार्ड हार्डिज की सरकार ने यह प्रथा तोड़ दी। ट्रान्सवाल सरकार ने हिन्दुस्तानियों पर जो अनेक प्रतिबन्ध लगाये हुए थे, उनका विस्तृत वर्णन यहाँ पर संभव नहीं है। यहाँ पर इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि गांधीजी के नेतृत्व में दक्षिण-अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों ने अपने पर लादे गये प्रत्येक अन्यायपूर्ण प्रतिबन्ध का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया और यह संघर्ष हिन्दुस्तानियों द्वारा "ट्रांसवाल पर आक्रमण" के साथ चरम बिन्दु पर पहुँच गया। गांधीजी के नेतृत्व में २००० हिन्दुस्तानियों ने ट्रांसवाल में प्रवेश कर दिया। यह क्षेत्र हिन्दुस्तानियों के लिए निषिद्ध किया गया था। इस प्रयाण ने राजनीतिक आन्दोलनों के इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। यह प्रयाण सत्य का असत्य के विरुद्ध, न्याय का अन्याय के विरुद्ध तथा अहिंसा का हिंसा के विरुद्ध प्रयाण था। इसका बहुत गम्भीर प्रभाव हुआ और यद्यपि हिन्दुस्तानियों को अभी अनेक कष्ट झेलने को शेष थे, परन्तु अन्ततः वे लक्ष्य तक पहुँच ही गये। भारत में जनता इतनी उत्तेजित हो उठी थी कि आखिर लार्ड हार्डिंज को बीच-बचाव करने के लिए बाध्य होना पड़ा। एक जाँच-समिति नियुक्त की गई और अन्ततः 'एशियाटिक ऐक्ट' समाप्त कर दिया गया, प्रति व्यक्ति कर (पोल-टैक्स) रद्द कर दिया गया, हिन्दुस्तानी विवाह कानूनी मान लिये गये और इनके बदले में हिन्दुस्तानियों ने भी सीमित देशान्तर वास (एमिग्रेशन) स्वीकार कर लिया। महात्मा गांधी विजय-मुकुट धारण कर, सत्य के संरक्षक और जनता के नेता के रूप में सन् १९१४ ई० में भारत लौट आये। परन्तु अभी इँगलैण्ड की न्याय-परायणता में उनके विश्वास को कोई आँच न आई थी। इसलिए उन्होंने सन् १९१६-१८ ई० के विश्व-युद्ध में अपने देशवासियों को मित्रराष्ट्रों की ओर से बिना किसी प्रकार की शर्त रखे युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। ब्रिटिश न्याय के प्रति उनके अडिग विश्वास को तो वास्तव में तब ठेस लगी जब युद्ध समाप्त हो गया, या अधिक ठीक कहा जाय तो १९१५-१९ के बीच के काल में उनके मन में ब्रिटिश आदर्शवाद के प्रति संशय उठने लगे थे और रौलेट बिल पास हो जाने पर तो, जिसका उन्होंने अपनी रुग्ण शय्या से विरोध किया था, ब्रिटिश न्याय में उनके विश्वास की नींव ही हिल गई।

अब उनका दृढ़ विश्वास हो गया कि भारत में अँगरेजों का शासन "शैतानी से भरा" है। अप्रैल, १९१५ ई० में मद्रास में एक सहभोज के अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि "एक सविनय-अवज्ञा करनेवाले के रूप में...मुझे जान पड़ा कि ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ ऐसे आदर्श हैं, जिनसे मैं प्रेम करने लगा हूँ और इनमें से एक आदर्श यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रत्येक प्रजा-जन को अपनी सामर्थ्यों और सम्मान के लिए सर्वाधिक स्वतन्त्र क्षेत्र प्राप्त है और वह (प्रजा-जन) जो कुछ भी सोचता है वह उसके अपने विवेक का फल होता है...और मैंने जान लिया है कि मेरे लिए यह संभव है कि ब्रिटिश साम्राज्य में मुझ पर कम से कम शासन किया जायगा। अतः ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति मेरी भक्ति है।" सन् १९१९ ई० में गांधीजी ने वायसराय को लिखा था "यदि मैं अपने देशवासियों को पीछे मोड़ सकता, तो मैं उनसे कांग्रेस के सारे प्रस्तावों को वापिस लिवा लेता और युद्ध-काल तक "स्वराज" (होम-रूल) या उत्तरदायी शासन की बात जबान तक न लाने देता। मैं भारत को प्रेरित करता कि वह इस संकटकाल में अपने समस्त कार्य-क्षम पुत्र साम्राज्य को अर्पित कर दे; और मैं जानता हूँ कि केवल इस कार्य से ही भारत (ब्रिटिश साम्राज्य में) सर्वाधिक प्रिय सहभागी बन सकता है और तब जातीय भेद भूतकाल की वस्तु बन जाते।" इसी भावावेश में गांधीजी ने अपने देशवासियों को बड़े जोर के साथ यह परामर्श दिया था कि वे (विश्व-युद्ध में) विजय के लिए अँगरेजों के साथ मिलकर बिना किसी शर्त के, मृत्युपर्यंत युद्ध करें और साथ ही, हम जो सुधार चाहते हैं उनके लिए यदि प्राणों का होम भी करना पड़े, तब भी आन्दोलन करते चलें। परन्तु रॉलेट ऐक्ट ने, पंजाब के उपद्रवों ने और खिलाफत आन्दोलन ने इँगलैण्ड के न्याय और विश्वसनीयता के प्रति उनके विश्वास को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर दिया। अगस्त, १९२० ई० के अपने एक पत्र में उन्होंने वायसराय को लिखा—

"पिछले महीने जो घटनाएँ हो गई हैं उनसे मेरा यह विचार पक्का बन गया है कि साम्राज्य की सरकार ने खिलाफत के सम्बन्ध में विवेकहीन, अनैतिक और अन्यायपूर्ण ढंग से कार्य किया है और अपनी अनैतिकता को ढकने के लिए वह गलती पर गलती करती जा रही है। ऐसी सरकार के प्रति मैं न तो सम्मान ही रख सकता हूँ और न स्नेह ही। अधिकारियों के अपराधों के प्रति श्रीमान् के उपेक्षापूर्ण व्यवहार ने, श्रीमान् द्वारा सर 'माइकेल ओ'डायर के दोष-मुक्त किये जाने ने, मि० मांटेग्यू के सरकारी विवरण-पत्र ने और सबसे अधिक तो पंजाब की घटनाओं के प्रति लज्जाजनक उपेक्षा ने और भारतीयों की भावनाओं के प्रति राज-सभा (हाउस आफ लार्ड्स) द्वारा प्रदर्शित उपेक्षा के भाव ने मेरे मन में साम्राज्य के भविष्य के

प्रति गंभीर आशंकाएँ भर दी हैं, मुझे वर्तमान सरकार से सर्वथा विमुख कर दिया है और मुझे अपना भक्तिपूर्ण सहयोग देने में, जैसा कि मैं आज तक सर्वतोभाव से देता आया हूँ, असमर्थ कर दिया है।" इसी पत्र में दूसरी जगंह पर उन्होंने लिखा था "यूरोपीय देशों में खिलाफत और पञ्जाब जैसे गम्भीर अत्याचारों को क्षमा करने का परिणाम जनता द्वारा रक्तपात पूर्ण क्रान्ति होता। उन्होंने (यूरोपीय देशों ने) राष्ट्र को नपुंसक वनाने के इन कुचक्रों का किसी भी कीमत पर अवश्य ही विरोध किया होता। भारत का आधा भाग तो उग्र विरोध करने में सर्वथा असमर्थ है और दूसरा आधा भाग ऐसा करने के लिए इच्छुक नहीं है। इसलिए मैंने असहयोग आन्दोलन को उपचार के रूप में प्रस्तुत करने का साहस किया है, जो सरकार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने के इच्छुक लोगों को इस कार्य में समर्थ वना देगा और यदि इसमें हिंसा का भाव न आने पाया और इसको नियमित ढंग से चलाया गया तो यह सरकार को पीछे कदम मोड़ने के लिए और अपने किये हुए अत्याचारों का उपचार करने के लिए वाध्य कर देगा; परन्तु जव कि मैं, जहाँ तक मैं जनता को अपने साथ, ले चल सकूँ, असहयोग का अनुसरण करूँगा, तव भी मैं यह आशा नहीं छोड़ूँगा कि आप अव भी न्याय के मार्ग को अपनायेंगे।"

जनवरी सन् १९२१ ई० के 'यंग इण्डिया' में गांधीजी ने लिखा :—

"वास्तव में अँगरेजों के साथ कठिनाई यह है कि वे विश्वास करने लगे हैं कि उनका शासन भारत के लिए पूर्णतया एक बुराई है, अर्थात् इसने (उनके शासन ने) भारत की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वात में दुर्दशा कर दी है। भारत धन में, पौरुष में, अच्छाइयों में और अपनी सन्तान में आत्म-रक्षा की शक्ति में पहले से बहुत हीन हो गया है। वुराई के साथ ठिठोली करना पाप है। अच्छाई और वुराई, भगवान् और शैतान कहीं भी समान स्तर पर आपस में मिल नहीं सकते। मैंने तीस वर्षों तक विचार किया है और मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वाध्य होना पड़ा है कि ब्रिटिश शासन अपने वर्तमान रूप में भारत के लिए अभिशाप है।"

"मैं समझता हूँ कि यदि मैं ऐसी सरकार को जो जालसाजी, हत्या और जान-बूझ कर की गई निर्दयता की अपराधी है जो अव भी अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त नहीं करती है और अपने अपराध को छिपाने के लिए झूठ का पल्ला पकड़ती है, शैतान सरकार न कहूँ तो मैं सत्य से च्युत हो जाऊँगा।"

यहाँ ये विस्तृत उद्धरण इसलिये दिये गये हैं क्योंकि इनमें महात्मा गांधी के राजनीतिक जीवन के बीज स्पष्ट देखे जा सकते हैं। अत्याचारी सरकार के साथ सहयोग करना बुरा था। बुराई का विरोध करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार था, परन्तु बुराई को बुराई से तो मिटाया नहीं जा सकता, इसलिए इसका उपचार गांधी-

जी ने असहयोग बताया, परन्तु इस शर्त के साथ की बुराइयों का समाधान हो जाने पर सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार रहा जाय।

तत्कालीन परिस्थितियों में असहयोग आन्दोलन की शक्ति में दृढ़ विश्वास लेकर, गांधीजी कांग्रेस और जनता को आन्दोलन की इस नई प्रणाली के पक्ष में करने के लिए जी तोड़ परिश्रम करने लगे। भाषणों तथा 'यंग इण्डिया' में लेखों द्वारा उन्होंने अपने सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया; इस समय सारा देश सितम्बर १९२० में कलकत्ता में होनेवाले कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन की तैयारियों में व्यस्त था। इस अधिवेशन में गांधीजी की सफलता जितनी अप्रत्याशित थी, उतनी ही वह पूर्ण भी रही। इस कांग्रेस अधिवेशन से गांधी-युग प्रारम्भ होता है, जिसने कांग्रेस को अँगरेजी बोलनेवाले, अँगरेजी वेश-भूषा में सुसज्जित अभिजात वर्ग के धनी-मानी वकीलों के एक समुदाय से बदलकर खद्दर और गांधी टोपी पहननेवाले, अपनी मातृभाषा में बोलनेवाले मध्य और निम्न-मध्य वर्ग के लोगों की एक संस्था बना दिया। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस सच्चे अर्थ में जनता की प्रतिनिधि-संस्था बन गई; इसका अपना आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक कार्य-क्रम बन गया और इन सब नवीन प्रगतियों का स्रोत था अकेले गांधीजी की प्रतिभा। जब तक कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन ने अन्तिम रूप से गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार न कर लिया तब तक गांधीजी की अकेली आवाज मानो विरोधी विचारों के जंगल में सुनाई पड़ रही थी। तिलक, चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू इत्यादि कांग्रेस के चोटी के नेताओं को गांधीजी की नई नीति के प्रति भारी आशंका थी और उस समय का युवक-समाज सक्रिय आन्दोलन के लिए छटपटा रहा था। परन्तु आकुलता, आशा और आशंका के इस विचित्र वातावरण में महात्मा गांधी का असहयोग का प्रस्ताव १८६६ वोटों के बहुमत से स्वीकृत हो गया; प्रस्ताव के विरुद्ध ८८४ मत थे। इस प्रस्ताव में खिलाफत के प्रश्न और पञ्जाब में हुए अत्याचारों को असहयोग की नीति अपनाने के प्रमुख कारण बताया गया और घोषणा की गई कि "इस कांग्रेस का मत है कि उपर्युक्त खिलाफत और पंजाब के अत्याचारों के समाधान के बिना भारत को सन्तोष नहीं हो सकता और राष्ट्रीय सम्मान की सुरक्षा तथा भविष्य में इस प्रकार के अत्याचारों को रोकने का एकमात्र प्रभावशाली उपाय है स्वराज्य की स्थापना।

"इसके साथ-साथ इस कांग्रेस का यह भी मत है कि भारत की जनता के लिए महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित प्रगतिशील अहिंसामय असहयोग की नीति स्वीकार करने और अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग खुला नहीं है, जब तक कि अत्याचारों का समाधान और स्वराज की स्थापना नहीं हो जाती।"

प्रगतिशील असहयोग की नीति कांग्रेस के नागपुर-अधिवेशन में फिर से स्वीकार की गई। इस बीच के समय में इस आन्दोलन के समर्थकों की संख्या खूब बढ़ गई थी। सरकार यद्यपि आन्दोलन की इस नई प्रणाली से बहुत परेशान हुई, परन्तु उसने जन-आन्दोलन को कुचलने के अपने पुराने उपाय काम में लाने शुरू कर दिये; जनता पर इसका प्रभाव उल्टा ही पड़ा। आन्दोलन से दूर हटने की अपेक्षा दिन-प्रति-दिन अनेक उत्साही युवक अदालतों तथा स्कूल-कालेजों को छोड़-छोड़ कर आन्दोलन में भाग लेने लगे और हँसते-हँसते कारागार के द्वारों की ओर बढ़ने लगे। गांधीजी को छोड़ अन्य सभी चोटी के नेता जेलों में ठूँस दिये गये। जेल के एकाकी निष्क्रिय वातावरण में इन लोगों को गांधीजी के दर्शन और विशेषतया असहयोग की नीति की प्रभावशालिता पर विचार करने का पर्याप्त अवसर मिला और अनेक नेताओं के पहले के विचार बदल गये।

कांग्रेस का गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार करने तथा अहिंसापूर्ण असहयोग की नीति अपनाने का सबसे पहला प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि मुहम्मद अली जिन्ना कांग्रेस से अलग हो गया। अब तक वह कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम का तत्परतापूर्वक अनुसरण करता रहा था। अब तक राजनीति में जिन्ना गोखले का शिष्य था और हिन्दू-मुसलमान एकता का प्रचारक था। बम्बई हाईकोर्ट में उसकी वकालत दिन-प्रति-दिन चमक रही थी। उसने अनुभव किया कि असहयोग की नीति देश के हितों के लिए घातक है। उसका विचार था कि सरकार के साथ सहयोग करना और माण्टफोर्ड सुधारों को कार्यान्वित कर अधिक अधिकारों के लिए आन्दोलन करना ही देश के लिए हितकर सिद्ध होगा। नागपुर-कांग्रेस में असहयोग की नीति के विरोध में अकेले उसने ही अपनी आवाज उठाई थी। इसी समय के लगभग अपने एक पत्र में जिन्ना ने गांधीजी को लिखा था :—

"आज देश में जो नया जीवन प्रारम्भ हो गया है, उसमें अपना हिस्सा बँटाने के लिए आपने मुझे जो सुझाव दिया है, उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। यदि 'नये जीवन' से आपका अर्थ अपनी असहयोग की नीति और कार्यक्रम से है, तो मुझे डर है कि मैं इसको स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मेरी दृढ़ धारणा है कि यह देश को बरबादी की ओर ले जायगा।...आपकी (आन्दोलन की) विधि ने देश में केवल हिन्दू-मुसलमानों में ही नहीं, अपितु हिन्दू-हिन्दू और मुसलमान-मुसलमान के बीच और यहाँ तक कि पिता-पुत्र तक में फूट डाल दी है; सारे देश में जनता सामान्यतः निराश हो रही है और आपके उग्र कार्यक्रम ने केवल अनुभवहीन युवकों, अनभिज्ञों और अशिक्षितों की ही कल्पना को उत्तेजित किया है।" कांग्रेस से अलग होकर जिन्ना अपनी असीम शक्ति और राजनीतिक चेतना के प्रदर्शन के लिए कोई अन्य

मार्ग खोजते हुए बड़ी तेजी से साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ने लगा और अपने दृढ़ निश्चय, कूटनीतिक क्षमता तथा विभिन्न दलों की तत्कालीन स्थिति के कारण, उसने 'मुस्लिम लीग' में अपने लिए वैसा ही प्रमुख स्थान बना लिया जैसा महात्मा गांधी का कांग्रेस में था।

हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसे लोग कम न थे जो खिलाफत और स्वराज के आन्दोलन की एकरूपता को केवल कृत्रिम समानता समझ रहे थे। अनेक लोगों को असहयोग आन्दोलन का यह पक्ष व्यर्थ जान पड़ रहा था। परन्तु गांधीजी के लिए इन दोनों आन्दोलनों को एक समझना अत्यधिक आवश्यक बात थी, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू-मुसलमानों की एकता के बिना स्वराज की प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तव में उस समय कांग्रेस और खिलाफत कमेटी में जो एकता स्थापित हो गई थी वह केवल राजनीतिक एकता थी, जो क्रमिक और स्वाभाविक विकास का परिणाम न थी, अपितु बिलकुल ऊपर से थोपी हुई चीज थी। यह एकता हृदय की एकता न होकर केवल राजनीतिक उद्देश्य की एकता मात्र थी। गांधीजी खिलाफत के प्रश्न को हिन्दू-मुसलमान एकता के लिए भगवान् का वरदान समझ रहे थे। उनका विश्वास था कि हिन्दुओं का मुसलमान-आन्दोलन में आत्म-बलिदान करना, मुसलमानों की शंकाओं को दूर कर देगा और तभी हिन्दू-मुसलमान एक हो सकेंगे। मुसलमानों के लिए कांग्रेस का पल्ला पकड़ना इसलिए आवश्यक हो रहा था, क्योंकि उनके आन्दोलन का आकार तभी इतना विस्तृत हो सकता था, जिससे शिमला की ऊँचाई पर बैठे महाप्रभुओं का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो सके। इस एकता का एक दूसरा कारण सरकार की सरासर कठोरता और उपेक्षा भी था। परन्तु किसी दृढ़ आधार पर टिकी न होने के कारण यह एकता अधिक समय तक बनी न रह सकी।

अली भाइयों के उग्र भाषणों ने हिन्दुओं में अविश्वास उत्पन्न कर दिया। मद्रास में एक भाषण में उन्होंने कहा था कि अँगरेज शीघ्र ही भारत से भगा दिये जायँगे और तब यदि अफगानिस्तान का अमीर इस देश को विधर्मियों से मुक्त करने के लिए आये तो मुसलमानों का यह पवित्र कर्तव्य होना चाहिए कि वे एक होकर इस कार्य में सम्पूर्ण हृदय से अमीर की सहायता करें। उधर महात्मा गांधी का गो-हत्या, उर्दू और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समिति में मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व देने के प्रश्न पर दब जाना हिन्दुओं को बहुत अखर रहा था। दूसरी बात, जो हिन्दुओं को शंकित कर रही थी, यह थी कि धर्मान्ध मुसलमान नेता 'सार्वभौम इस्लाम' का प्रचार कर रहे थे और घोषणा कर रहे थे कि वे सबसे पहले मुसलमान हैं, तब कुछ और। सरकार ने अली भाइयों को दण्डित करने का निश्चय कर लिया। परन्तु

इसी बीच श्री मालवीयजी के प्रयत्नों से महात्मा गांधी तथा वायसराय लॉर्ड रीडिंग में अनेक मुलाकातें हुईं, इन मुलाकातों के विवरण यद्यपि अज्ञात हैं, परन्तु इनका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। अली भाइयों ने एक वक्तव्य इन शब्दों में प्रकाशित किया :—

"मित्रों ने हमारा ध्यान हमारे कुछ भाषणों की ओर आकर्षित किया है, जो उनके विचार में हिंसा को उभाड़नेवाले हैं। हम बता देना चाहते हैं कि हिंसा को उकसाने की हमारी कभी इच्छा न थी और हमने तो यह कल्पना भी न की थी कि हमारे भाषणों के किन्हीं अंशों का यह अर्थ लगाया जायगा। परन्तु हम अपने मित्रों के तर्कों और उनके द्वारा लगाये गये अर्थों को स्वीकार करते हैं।

"इसलिए हम इन भाषणों के किन्हीं अंशों की अनावश्यक उग्रता के लिए हृदय से दुःख का अनुभव करते हैं और खेद प्रकट करते हैं और जिनको हमारे इस आश्वासन की आवश्यकता हो, उन्हें हम आश्वासन देते हैं और वचन देते हैं कि जब तक हम असहयोग आन्दोलन के साथ सम्बद्ध हैं, हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में इस समय और भविष्य में भी हिंसा का पक्ष न लेंगे और न हिंसा के लिए तत्परता का वातावरण ही उत्पन्न करेंगे। सचमुच ही हम इन बातों को अहिंसामय असहयोग की भावना के विरुद्ध समझते हैं, जिसका पालन करने का हमने वचन दिया है।"

लॉर्ड रीडिंग ने अली भाइयों के साथ कठोरता से काम लिया। उनके वक्तव्य को सरकारी क्षेत्रों में क्षमा-प्रार्थना बताया जा रहा था और इससे उनके अधिक उग्र सहधर्मियों का उत्साह ठण्डा पड़ गया था। परन्तु वायसराय की ओर से दी गई धमकियों का महात्मा गांधी पर कोई प्रभाव न पड़ा और वे अपना आन्दोलन चलाते रहे। असहयोग का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया। विदेशी-कपड़े के बहिष्कार, चर्खे के प्रचार, सरकारी अदालतों तथा स्कूलों एवं शराब की दूकानों के बायकाट पर जोर दिया गया। अनेक स्थानों पर विदेशी कपड़े जलाये गये और स्वयं महात्मा गांधी ने नर-नारियों के विशाल समूहों के सामने विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। 'तिलक-स्वराज-कोष' की स्थापना की गई और प्रधानतः महात्मा गांधी के उद्योग से जुलाई के अन्त तक एक करोड़ रुपया इस कोष में जमा हो गया। परन्तु महात्मा गांधी के विचारों के विपरीत अनेक स्थानों पर भयंकर झगड़े भी हुए। खिलाफत-वादियों ने 'जेहाद' (धर्म-युद्ध) की घोषणा कर दी। अली भाइयों को कराची में दो वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। अदालत में जाँच के दौरान में अली भाइयों ने अपनी सफाई में तीन तर्क उपस्थित किये—पहले तो यह कि उनका धर्म उन्हें कुछ कार्यों का आदेश देता है; दूसरे, अपने धर्म द्वारा आदेश दिये गये कार्यों को करने में जो कानून उन्हें रोकता है, वह उनकी दृष्टि में कानून ही नहीं है; और

तीसरे, इस दोषारोपण के उत्तर में कि उन्होंने देश के कानून को तोड़ा है, उन्होंने यह तर्क ही पर्याप्त समझा कि हम पर जिस कार्य को करने का अपराध लगाया गया है, वह हमारे धर्म द्वारा विहित है।

इस आन्दोलन की घटनाओं की संक्षिप्त आलोचना यहाँ पर असंगत न होगी। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू-मुसलमान एकता कमजोर पड़ गई थी, परन्तु महात्मा गांधी के नेतृत्व में यह आन्दोलन सन् १९२१ में पूरे वर्ष भर बड़े जोर-शोर से चलता रहा। मुसलमानों के धार्मिक जोश ने गांधीजी के रहस्यवादी विचारों और जन-साधारण के देश-भक्ति के उत्साह के साथ मिलकर सन् १९२१ को भारतीय इतिहास में चिर-स्मरणीय बना दिया। परन्तु यह आन्दोलन, जिसके उद्देश्य विभिन्न दिशाओं में छितरे थे और जिनमें केवल ऊपर-ऊपर की ही एकता थी, अधिक समय तक न चल सकता था। महात्मा गांधी को छोड़ जन-साधारण के लिए अहिंसा एक नीति-मात्र थी; यह उनका हार्दिक विश्वास न बन पाई थी और बार-बार बड़े जोश के साथ 'हिन्दू-मुस्लिम की जय' के जो नारे लगाये जा रहे थे उनकी तह में सदियों के हिन्दू-मुसलमान विरोध ज्यों के त्यों बने हुए थे। हृदय की एकता का इस आन्दोलन में सर्वथा अभाव था।

अहिंसक नीति के प्रवर्तक के रूप में महात्मा गांधी को पहला आघात बम्बई में प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के अवसर पर हुए दंगों से लगा। कांग्रेस ने उसके आगमन से सम्बन्धित सभी उत्सवों का बायकाट करने, आम हड़ताल करने और उसके आगमन को ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी विरोधी भावनाओं को प्रकट करने का अवसर बनाने का निश्चय किया था। परन्तु बहुत-से लोगों की सामान्यतः कांग्रेस के आन्दोलन में और विशेषतया उत्सवों के इस बायकाट में कोई रुचि न थी। १७ नवम्बर सन् १९२१ को प्रिंस ऑफ वेल्स का बम्बई में आगमन हुआ और उसी दिन बायकाट तथा हड़ताल के संघटनकर्ताओं तथा इस आन्दोलन को व्यर्थ समझने-वाले लोगों में मारपीट मच गई। इस उत्पात में गुण्डों की बन आई; नगर में लूट-पाट और अग्निकाण्डों का बाजार गरम हो गया। तीन दिन तक अराजकता छाई रही। जनता पर महात्मा गांधी के भाषणों का भी कोई प्रभाव न हुआ। लगभग ५३ व्यक्ति मारे गये और ४०० घायल हुए। इन घटनाओं ने महात्मा गांधी तक को हिला दिया और उनको सार्वजनिक अवज्ञा की व्यावहारिकता पर फिर से विचार करने के लिए बाध्य कर दिया। उन्होंने लिखा "अहिंसा का नारा लगाते हुए, हमने उन लोगों को भयभीत कर दिया है, जिनका मत हमसे भिन्न है। पिछले दो दिनों में मैंने जिस स्वराज के दर्शन किये हैं, वह तो मेरी आँखों में चुभ रहा है।" इस उत्पात के लिए अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा "विद्रोह की

भावना उत्पन्न करने में मेरा अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक हाथ है। उस भावना को नियन्त्रित और अनुशासित करने में मैं अपने आपको पूर्णतया समर्थ नहीं पा रहा हूँ।" पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा अन्य शान्तिप्रिय सुलह करानेवालों ने वायसराय और महात्मा गांधी के बीच बैठक का आयोजन करने के बहुत प्रयत्न किये; परन्तु गांधीजी ने समझौते की ऐसी किसी भी बातचीत में भाग लेना अस्वीकार कर दिया, जिसमें खिलाफत का नेता मुहम्मद अली उपस्थित न हो। फल यह हुआ कि इन लोगों के उद्योग विफल हुए। बहुत से लोगों को गांधीजी का यह आग्रह बहुत बुरा लगा; परन्तु गांधीजी की दृष्टि में यह परम आवश्यक बात थी और हिन्दू-मुसलमान एकता के उनके विचारों की दृष्टि से यह तर्कसम्मत भी थी।

मलाबार में मोपलाओं का विद्रोह गांधीजी की आँखें खोलनेवाली इस समय की एक अन्य घटना थी। इस विद्रोह के आघात से हिन्दुओं के हृदय भग्न हो गये; हिन्दू-मुसलमानों के बीच दरार पड़ गई। मोपला लोग मलाबार में आकर बसनेवाले अरबों की मुसलमान सन्तान हैं। खिलाफत आन्दोलन ने उनमें बहुत उत्तेजना उत्पन्न कर दी थी और इस आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ हिन्दुओं और हिन्दू-मुस्लिम एकता के विरुद्ध मोपलाओं की धर्मान्धता जाग उठी। एक वर्ष में स्वराज दिलाने के गांधीजी के वचन और अली बन्धुओं के उत्तेजनापूर्ण भाषणों के साथ-साथ सन् १९२१ ई०के प्रारम्भिक महीनों में एक मस्जिद से दूसरी मस्जिद में उत्तेजना फैलने लगी थी। सारे देश में यह विश्वास व्याप्त होने लगा कि ब्रिटिश सरकार शैतान सरकार है, जिसका विरोध करना उचित ही नहीं, अपितु धार्मिक कर्तव्य भी है। इस्लामी राज्य स्थापित करने के लिए होनेवाले भावी संघर्ष के लिए हथियार बनाये जाने लगे और मस्जिदों में युद्ध-सामग्री जुटाई जाने लगी। अगस्त सन् १९२१ में इन आयोजनों के नेताओं को पकड़ने के प्रयत्नों के फलस्वरूप उत्पात मच गया। इन नेताओं को पकड़ने के लिए जो पुलिस आई थी, उसे मोपलाओं ने मार भगाया और जहाँ कहीं कोई यूरोपियन दिखाई दिया, उसे मार डाला। वे हिन्दुओं के घर और सम्पत्ति लूटने लगे, हिन्दुओं का वध करने लगे और उन्हें जबर्दस्ती मुसलमान बनाने लगे। आखिर मलाबार में मार्शल लॉ घोषित कर देना पड़ा और शान्ति स्थापित करने के लिए नई सेना भेजनी पड़ी।

मलाबार के इस विप्लव ने हिन्दुओं का मुसलमानों के आन्दोलन में भाग लेने का उत्साह ठण्डा कर दिया, हिन्दू-मुसलमान सम्बन्धों को कटु बना दिया, गांधीजी और कांग्रेस को भी हिला दिया और इसकी प्रतिक्रिया के रूप में आर्य-समाज के नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि-आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसका मुसलमानों पर उल्टा असर हुआ।

इतने पर भी गांधीजी ने हिम्मत न हारी और अपने सहयोगियों के समझाने-बुझाने और चेतावनियों के विपरीत भी उन्होंने संघर्ष जारी रखा। अब उन्होंने सरकार के विरुद्ध एक सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने का निश्चय किया। उन्होंने सूरत जिले की एक छोटी-सी तहसील बार्डोली को इस आन्दोलन की पहली इकाई के रूप में चुना और वायसराय को १ फरवरी १९२२ ई० के अपने पत्र में इसकी सूचना देते हुए अपनी वे शर्तें लिख भेजीं जिनके पूरा किये जाने पर यह आन्दोलन बन्द किया जायगा। इस पत्र के उत्तर में लॉर्ड रीडिंग की सरकार ने गांधीजी द्वारा "गैर-कानूनी अत्याचार" बताये गये अपने कार्यों का समर्थन करते हुए धमकी दी कि यदि सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन छेड़ा गया तो इससे भी अधिक कठोरता से काम लिया जायगा। वास्तव में स्थिति ऐसी बन गई कि गांधीजी अथवा सरकार के लिए अपनी-अपनी धमकियों को कार्यान्वित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रह गया। गांधीजी अवज्ञा आन्दोलन का श्रीगणेश करने के लिए स्वयं बार्डोली की ओर चल पड़े। तभी ५ फरवरी १९२२ को उत्तर प्रदेश में गोरखपुर के समीप चौरी-चौरा नामक स्थान पर एक भयंकर विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिससे सारे आन्दोलन को बिना किसी शर्त के बन्द कर देना पड़ा। चौरी-चौरा में कांग्रेस के एक जलूस के सिलसिले में क्रुद्ध जन-समूह ने पुलिस के २१ सिपाहियों और एक सब-इन्सपेक्टर को थाने में बन्द कर, थाने में आग लगा दी, जिससे ये सब जल कर राख हो गये। मानवता को दहला देनेवाली इस नृशंस घटना ने गांधीजी की आँखें खोल दीं। जनवरी १९२२ के प्रारम्भ में जब प्रिंस ऑफ वेल्स का मद्रास में आगमन हुआ, वहाँ भी गम्भीर विद्रोह हो गया। इन सब हिंसा-काण्डों के परिणामस्वरूप फरवरी १९२२ में बार्डोली में एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसके अनुसार सारा आन्दोलन बिना किसी शर्त के बन्द कर दिया गया और कांग्रेस-जनों को परामर्श दिया गया कि वे चर्खे और खादी के प्रचार में, जनता को साक्षर बनाने में, अस्पृश्यता दूर करने में, नशेबन्दी में और आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए निर्णायक-समितियों के संघटन में अपनी शक्ति लगावें। मि० मॉण्टेग्यू के त्याग-पत्र ने जनता के हृदय में बहुत बैचेनी उत्पन्न कर दी। मुसलमान सन्तुष्ट हो गये; महात्माजी के वचनों में जनता का विश्वास बहुत कुछ मन्द हो गया, क्योंकि वे अपनी घोषित तिथि तक स्वराज न दिला सके थे। आन्दोलन को स्थगित कर देने से तूफान उठ खड़ा हुआ। गांधीजी पर चारों ओर से बौछार होने लगी। उनकी लोक-प्रियता इस समय बहुत गिर चुकी थी। सरकार ने इस स्थिति का लाभ उठाकर १० मार्च १९२२ को गांधीजी को बन्दी बना लिया और पारसी न्यायाधीश मि० डावर ने उनको ६ साल के साधारण कारावास का दण्ड सुना दिया।

न्यायालय में जाँच के समय गांधीजी ने अपने व्यवहार में अपनी स्वाभाविक शान्ति प्रदर्शित की। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और अपने भाषण में कहा, "...अहिंसा मेरे धर्म का प्रथम वाक्य है। यही मेरे धर्म का अन्तिम वाक्य है। परन्तु मुझे (इन दो में से) अपना चुनाव करना था; मुझे था तो एक ऐसी (शासन) प्रणाली की अधीनता मान लेनी थी, जिसने मेरे देश को अपरिमित हानि पहुँचाई थी, या मुझे अपने देशवासियों की उस पागलपन भरी उग्रता के विस्फोट का संकट उठाना था, जो मेरे मुँह से सत्य को समझने पर उनमें प्रकट होती। मैं जानता हूँ कि मेरे देशवासी कभी-कभी पागल हो उठते हैं; इसके लिए मुझे अत्यधिक खेद है; और इसलिए मैं यहाँ हल्का दण्ड नहीं अपितु कठोरतम दण्ड स्वीकार करने के लिए उपस्थित हूँ। मैं दया की याचना नहीं करता। मैं अपना दण्ड घटाये जाने की सिफारिश नहीं करता। इसलिए कानून की दृष्टि में जान-बूझकर किया गया अपराध समझे जानेवाले कृत्य के लिए मुझे जो बड़ा से बड़ा दण्ड दिया जा सकता है, उसको माँगने और स्वीकार करने के लिए मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूँ, जो कि मेरी दृष्टि में एक नागरिक का श्रेष्ठतम कर्तव्य है।"

यह थी महात्मा गांधी की सत्य-निष्ठा। उनके शब्द सारे देश में बार-बार गूँजने लगे और लाखों मानव-आत्माएँ सरकार को शाप देने लगीं।

गांधीजी के पकड़े जाने और कारावास से पहले भी कांग्रेस में दो दल बन गये थे—एक तो उन लोगों का था जो असहयोग तथा कौंसिलों का बायकाट करने में विश्वास न करते थे और दूसरा उन लोगों का था जो गांधीजी के अन्ध-भक्त थे। गांधीजी के कारावास के साथ पहले दल के लिए मैदान साफ हो गया। कांग्रेस के गया-अधिवेशन में यह दलबन्दी स्पष्ट हो गई। श्री चितरञ्जनदास अधिवेशन के सभापति थे। इस फूट के परिणामस्वरूप चितरञ्जनदास और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में 'स्वराज-पार्टी' नाम से एक अलग दल बन गया जो कौंसिलों में प्रवेश कर अन्दर से सरकार का विरोध करने का समर्थक था। 'स्वराज-पार्टी' और गांधीवादी दल में दिन-प्रति-दिन अलगाव बढ़ता गया और १९२४ ई० में कांग्रेस के बेलगाँव अधिवेशन के समय तक यह पार्थक्य पूर्ण हो गया। मोतीलाल नेहरू और चितरञ्जनदास के नेतृत्व में 'स्वराज-पार्टी' ने चुनाव लड़े, कौंसिलों में स्थान प्राप्त किये और तब उसने सरकार में घुसकर सरकार से असहयोग की नीति प्रारम्भ की जो धीरे-धीरे केन्द्रीय व्यवस्थापिका से लेकर नगरपालिका-समितियों तक विस्तृत हो गई। जेल में महात्मा गांधी सख्त बीमार हो गये, जिससे उनको कारावास की अवधि से पहले ही मुक्त कर दिया गया। जेल से आने पर महात्मा गांधी और मोतीलाल नेहरू में इन दोनों दलों में समझौता कराने के लिए बहुत-सी मुलाकातें हुई,

परन्तु इनके प्रयत्न सफल न हो सके। कौंसिलों में प्रवेश करने के पेचीदे प्रश्न पर दोनों दलों में मौलिक विरोध था। गांधीजी ने लिखा कि "मैं इस मत को नहीं छोड़ सकता कि, कौंसिलों में प्रवेश का सामञ्जस्य मेरी असहयोग की धारणा से नहीं है। यह मतभेद केवल असहयोग शब्द के अर्थ से ही सम्बद्ध नहीं है, अपितु उस मानसिक स्थिति से सम्बद्ध है, जिसके कारण मूलभूत समस्याओं के उपचार ही भिन्न हो जाते हैं।" गांधीजी ने अपरिवर्तनवादियों को परामर्श दिया कि वे स्वराज-पार्टी के मार्ग में बाधक न बनते हुए कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में अपना ध्यान केन्द्रित करें। दूसरी ओर चितरञ्जनदास और मोतीलाल नेहरू ने अपने एक वक्तव्य में यह मन्तव्य प्रकट किया कि "हम यह समझने में असमर्थ हैं कि नागपुर-कांग्रेस का असहयोग का प्रस्ताव कौंसिलों में प्रवेश से कैसे मेल नहीं खाता। परन्तु यदि असहयोग हमारे वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में और विशेषतया इस जीवन पर शासन करनेवाली इस नौकरशाही सरकार के बदलते हुए रुख में एक सजीव सिद्धान्त का प्रयोग करने की अपेक्षा केवल एक मानसिक स्थिति मात्र है, तो हम देश के वास्तविक हितों की सेवा के लिए असहयोग तक का बलिदान कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं।" अगले कुछ वर्षों तक 'स्वराज-पार्टी' व्यवस्थापिकाओं में और देश में भी प्रधान बनी रही। अपरिवर्तनवादी निष्क्रिय से हो गये और गांधी जी ने भी सक्रिय राजनीति से मानो अवकाश ले लिया। जून १९२५ ई० में चितरञ्जनदास का देहान्त हो गया। अब मोतीलाल नेहरू 'स्वराज-पार्टी' के निर्विरोध नेता बन गये।

भाग्य का कैसा विचित्र खेल है कि हिन्दू-मुसलमान एकता के लिए जीवन भर जी-तोड़ परिश्रम करने और इसी के लिए अपने जीवन का होम करनेवाले गांधीजी के राजनीति में प्रवेश करने के साथ-साथ ही मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावनाएँ जोर पकड़ने लगीं और हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन बिगड़ते गये। खिलाफत आन्दोलन के समय की कृत्रिम हिन्दू-मुसलमान एकता खिलाफत के प्रश्न के समाप्त होते ही न जाने कहाँ विलीन हो गई और मुसलमान कांग्रेस छोड़-छोड़कर अपने साम्प्रदायिक संघटन में जाने लगे, क्योंकि कांग्रेस के राजनीतिक और रचनात्मक कार्यक्रम में उनकी कोई रुचि न थी। मुहम्मद अली जिन्ना 'मुस्लिम लीग' को पुनः संघटित और शक्तिशाली संस्था बनाने में जुट गया। जिन्ना में गतिशील शक्ति तो थी ही, उसकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का भी कोई अन्त न था।

माण्टफोर्ड-सुधारों के बाद के दिनों में मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना की इस प्रबलता के अनेक कारण थे और सबसे बड़ी दुःख की बात तो यह है कि स्वयं महात्मा गांधी भी इसका एक कारण थे। महात्मा गांधी की भावुकता राजनीति

को धर्म से बिलकुल अलग न कर पाती थी, जिसके कारण साम्प्रदायिक भावनाओं को अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय मिलता था। जहाँ विशुद्ध राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले राजनीतिक आन्दोलनों का पथ-प्रदर्शक धर्म बन जाता था, वहाँ प्रत्येक सम्प्रदाय अपने धर्म की ओर मुड़ चलता था, जिसके परिणामस्वरूप धार्मिक पुनरुत्थान की चेष्टाएँ होने लगती थीं और ये चेष्टाएँ ऐसा परस्पर-विरोधी साम्प्रदायिक वातावरण पैदा कर देती थीं, जिसमें छोटी सी भी चिनगारी पाकर साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क उठती थी। इन दंगों का ऊपरी कारण तो धार्मिक या अंशतः धार्मिक ही होता था, परन्तु यदि इनका विश्लेषण किया जाय तो जान पड़ता है कि इनका मूलभूत कारण राजनीतिक ही होता था। जीवन के प्रत्येक दृष्टिकोण में—धर्म, संस्कृति, सामाजिक आचार-व्यवहार, परम्पराओं एवं आदर्शों में—हिन्दू-मुसलमानों में बहुत भिन्नता थी और यह भिन्नता ऊपरी न होकर मौलिक भिन्नता थी, जिसके कारण हिन्दू-धर्म अपनी समस्त सहिष्णुता और विशाल-हृदयता से भी इस्लाम को उसी प्रकार आत्मसात् न कर सका था, जैसे उसने बौद्ध और जैन मतों को अपने में मिला लिया था।

फूट डालकर शासन करने की ब्रिटिश नीति ने हिन्दू-मुस्लिम विरोधों को उभाड़ दिया था और माटेग्यू सुधारों में मुसलमानों को राजनीतिक शक्ति में हिस्सा बँटाने का जो आश्वासन मिला उससे तो यह विरोध और भी तीव्र हो गया। पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रणाली ने साम्प्रदायिकता को राजनीतिक आधार दे दिया। अब वोट उसी उम्मीदवार को मिलने लगे जो अपने सम्प्रदायवालों को स्वर्गीय सुख दिलाने का वचन देता था और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा करता था। यही कारण है कि मांटफोर्ड सुधारों के बाद के वर्षों में हमें साम्प्रदायिक दंगों की गूँजें सुनाई देने लगती हैं, जिनमें से कुछ तो छोटी-मोटी झड़पें ही होते थे, परन्तु कुछ शाही युद्धों से किसी प्रकार कम न थे, जैसे कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और पंजाब के दंगे। इन साम्प्रदायिक दंगों का सुधार आन्दोलनों अथवा स्वराज के संघर्ष के साथ-साथ घटित होना भी कम महत्त्व की बात नहीं है। इससे यह समझने में देर नहीं लगती कि इन दंगों के पीछे कोई गुप्त शक्ति कार्य कर रही थी; यह निष्कर्ष तब और भी पुष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि इन दंगों में न्याय एवं शांति की संरक्षक पुलिस बड़े हृदयहीन ढंग से तब तक दूर से तमाशा ही देखती रहती थी, जब तक कि दंगे उग्रता की चरम सीमा पर न पहुँच जाते थे। बम्बई के दंगे की, जिसमें १४५ व्यक्ति मारे गये थे और ६४३ के लगभग घायल हुए थे, जाँच-समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि "हमारे विचार से इस आपत्ति में पर्याप्त सत्य है कि पुलिस-कमिश्नर को सैनिक टुकड़ी बुलाने का प्रस्ताव उस समय से पहले ही रखना चाहिए था, जब कि उसने

ऐसा किया। जो भी हो, इस दंगे का अनुभव बताता है कि दंगे की प्रारम्भिक अवस्था में शक्तिशाली सैनिक दल बुला लेना चाहिए और सुरक्षा के अन्य उपाय लागू कर देने चाहिए।" * सन् १९३१ ई० में सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन के समय कानपुर में भयंकर साम्प्रदायिक दंगा हुआ। इस दंगे के कारणों की खोज करने के लिए नियुक्त जाँच-समिति ने लिखा "दंगे के दौरान में पुलिस का रुख निंदनीय और अक्षम्य था। प्रत्येक श्रेणी के गवाह इस बात में एकमत थे कि दंगों में विभिन्न दुर्घट-नाओं से निपटने में पुलिस ने उपेक्षा और निष्क्रियता प्रकट की थी।...हमारे मन में इस बात के प्रति कोई संदेह नहीं रह गया है कि दंगे के पहले तीन दिनों में पुलिस ने अपने कर्तव्य-पालन में वह तत्परता नहीं दिखाई, जिसकी उससे आशा की जाती थी।" †

मसजिदों के सामने बाजे बजाना, गो-हत्या, होली के समय रंग फेंकना इत्यादि बात इन शोचनीय घटनाओं के सामान्य कारण हुआ करते थे। ये कारण वैसे देखने में तो बहुत साधारण लगते हैं, जिनका पारस्परिक समझौतों से सरलतापूर्वक समा-धान संभव है; परन्तु पारस्परिक घृणा, अविश्वास और झगड़ों के लिए तत्परतापूर्ण वातावरण में ये ही सामान्य घटनाएँ भयंकर दंगों का कारण बन जाती थीं। प्रत्येक हिन्दू या मुसलमान त्योहार के अवसर पर झगड़े की आशंका उत्पन्न हो जाती थी और सावधानी के तौर पर सरकार जो उपाय अपनाती थीं, उनसे जनता की सुरक्षा तो निश्चित न होती थी, परन्तु गुंडों को इधर-उधर झगड़े की संभावनाओं की ऊटपटाँग खबरें फैलाने का अवसर अवश्य मिल जाता था। इस प्रकार आशंका और अविश्वास और भी बढ़ जाता था और इनके फलस्वरूप दंगा हो ही जाता था, जिससे जनता में साम्प्रदायिक कटुता और घृणा की भावना जड़ पकड़ लेती थी तथा बहुत से अदालती मामले तैयार हो जाते थे, जिनको बड़े आराम और फुरसत के साथ इस ढंग से निपटाया जाता था जिससे जनता में साम्प्रदायिक विरोध की स्मृति बनी रहे और प्रतिशोध की भावना जोर पकड़ती रहे। सन् १९२२ में मुल्तान में मुहर्रम के अवसर पर एक भीषण दंगा हुआ और १९२३-२४ ई० में समस्त उत्तर-भारत में छोटे-मोटे दंगे होते रहे, जिनमें कोहाट का दंगा सबसे भीषण था। कोहाट के दंगे के बाद एक गैर-सरकारी जाँच-समिति नियुक्त हुई, जिसमें महात्मा गांधी और शौकत अली—दोनों ही थे। इन दोनों में इस प्रश्न पर विरोध हो गया कि दंगे का दोष किस पर अधिक था। इन दंगों के भीषण रक्तपात से महात्मा गांधी का

---

*राजेन्द्रप्रसाद लिखित "डिवाइडेड इंडिया" पृ० ११९।

†के० बी० कृष्णन् लिखित "दि प्रॉब्लम ऑफ माइनोरिटीज" पृ० २७२-३।

मन बहुत क्षुब्ध हो उठा। उन्होंने सन् १९२४ ई० में जेल से छूटते ही प्रायश्चित्त के रूप में २१ दिन का उपवास ग्रहण किया और दोनों सम्प्रदायों की उदात्त भावनाओं को सम्बोधित करते हुए एक अपील निकाली। इसके पश्चात् कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष मुहम्मद अली ने सितम्बर-अक्टूबर १९२४ में दिल्ली में दोनों सम्प्रदायों के मेल-मिलाप के लिए एक अधिवेशन का आयोजन किया, जिसमें हिन्दू-मुसलमान एकता पर बड़े ऊँचे-ऊँचे भाषण दिये गये; परन्तु हिन्दू-मुसलमानों के मूलभूत धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक विरोधों को दूर करने के लिए कोई सक्रिय कार्य-क्रम न अपनाया गया। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गये और शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में अधिकाधिक आने लगी, वैसे-वैसे हिन्दू-मुसलमान विरोध के नये-नये कारण, जैसे राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-पताका, राष्ट्र-गान इत्यादि प्रश्न उठने लगे जिनसे पारस्परिक कटुता दिन पर दिन बढ़ती ही गई; दोनों जातियों के साम्प्रदायिक प्रचारकों ने इस कटुता को और भी बढ़ा दिया।

मरे हुओं और घायलों के रूप में अपना कर वसूल कर तथा कटुता एवं प्रतिशोध की भावनाएँ छोड़कर सन् १९२४ के दंगे शान्त हो गये। साम्प्रदायिक कटुता और प्रतिशोध की भावना ने १९२७ ई० में पुनः दंगों के रूप में ताण्डव-नृत्य आरम्भ किया। इन दंगों के बाद भी साम्प्रदायिक मेल-मिलाप के लिए एक अधिवेशन हुआ, परन्तु फल इसका कुछ भी न हुआ। प्रत्येक दंगा हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई को गहरा करता जा रहा था, जो भाईचारे और विवेक से काम लेने के बार-बार के परामर्शों से किसी प्रकार भी भरी न जा रही थी। सन् १९२६ में एक मुसलमान धर्मान्ध ने दिल्ली में शुद्धि-आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर दी, इस घटना ने हिन्दुओं को दहला दिया और हिन्दू-मुसलमानों की पारस्परिक शत्रुता को और भी दृढ़ कर दिया।

उधर कांग्रेस में अपरिवर्तनवादी और स्वराज-पार्टी का पारस्परिक विरोध दिन पर दिन क्षीण होने लगा और पहले जैसा उग्र न रह गया। व्यवस्थापिकाओं में स्वराज-पार्टी के सदस्य धीरे-धीरे असहयोग से स्वस्थ सहयोग की ओर बढ़ने लगे थे और इस दिशा-परिवर्तन का चरम बिन्दु तब दिखाई दिया जब सन् १९२७ ई० में गौहाटी कांग्रेस में अधिकृत प्रस्ताव में सार्वजनिक अवज्ञा-आन्दोलन का उल्लेख तक न किया गया यद्यपि अपरिवर्तनवादियों का ध्यान रखते हुए सहयोग की नीति का भी निश्चित रूप से उल्लेख न किया गया। कांग्रेस अपनी पहले की सी गतिशीलता खो चुकी थी। नेता लोग चुनाव लड़ने और प्रान्तों में मन्त्रिमंडल बनाने में व्यस्त हो रहे थे। केवल गांधीजी अलग खड़े थे, ऐसे नेता के रूप में जिसके अब कोई अनुयायी न थे। जब साइमन कमीशन की नियुक्ति के रूप में भारत के आत्म-सम्मान को

चुनौती दी गई, तब बायकाट प्रारम्भ किया गया और गांधी जी फिर से राजनीतिक क्षेत्र में मोर्चे पर आये।

मांटफोर्ड सुधारों में आयोजन किया गया था कि दस वर्ष पश्चात् इन सुधारों की जाँच एक कमीशन द्वारा की जायगी, परन्तु घटना-क्रम की द्रुत-गति देखते हुए ८ नवम्बर १९२७ को लार्ड साइमन की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन की घोषणा की गई। इस घोषणा से पहले ही वायसराय ने नेताओं के साथ एक मुलाकात में, जिसमें सभी नेता बुलाये गये थे, कमीशन के आगमन की सूचना दे दी थी। इस कमीशन का ऐसे समय में नियुक्त होना जब कोई भी दल इसकी नियुक्ति का इच्छुक न जान पड़ता था और इसके सभी सदस्यों का गौरांग होना, भारत के सभी राजनीतिक दलों के विरोध का कारण बन गया। ये सभी दल, भिन्न-भिन्न कारणों से, इस कमीशन का बायकाट करने के लिए एकमत हो गये। इस कमीशन को यह कार्य सौंपा गया था कि "शासन-प्रणाली की कार्य-क्षमता की, ब्रिटिश-भारत में शिक्षा की प्रगति और प्रतिनिधित्वमय संस्थाओं के विकास तथा इनसे सम्बन्धित बातों की जाँच करे और रिपोर्ट करे कि ब्रिटिश-भारत में उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त की स्थापना होनी चाहिए या नहीं और यदि होनी चाहिए तो किस सीमा तक या उस समय तक प्रचलित उत्तरदायी शासन को कहाँ तक बढ़ाया-घटाया या सीमित किया जावे।" भारत और इंगलैण्ड की सरकार द्वारा इस कमीशन की रिपोर्ट की जाँच हो जाने पर, पार्लियामेंट में भारत के भावी शासन के विषय में प्रस्ताव रखे जाने को थे; परन्तु इन प्रस्तावों की अन्तिम स्वीकृति से पहले भारत के विभिन्न दलों और पक्षों को इनके विषय में अपना मत प्रकट करने का पूर्ण अवसर दिया जाना था। संक्षेप में यही कमीशन के कार्य और भारत के भावी संविधान की योजना थी।

साइमन कमीशन में किसी भी भारतीय को सदस्य न बनाने का सीधा-सादा अर्थ यही था कि भारत का भावी संविधान बनाने में भारतीयों के मतामत की सर्वथा उपेक्षा की जा रही है। भारत के आत्म-सम्मान के इस घोर अपमान से सारा देश क्रुद्ध हो उठा। ब्रिटिश सरकार की इस धृष्टता से भारतीयों में इस विदेशी सरकार के प्रति जो रोष जागृत हुआ, उससे समस्त भारतीय दल इस कमीशन को भारत के सम्मान के लिए एक चुनौती समझते हुए, उसकी रक्षा के लिए एक हो गये। संघर्ष की इस भावना ने 'सर्वदलीय सम्मेलन' को तथा 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध संवैधानिक योजना को जन्म दिया तथा सब दलों को कमीशन के बायकाट के लिए सन्नद्ध कर दिया।

नवम्बर, सन् १९२७ ई० में साइमन कमीशन के कार्य-क्षेत्र और विधान की घोषणा की गई और दिसम्बर १९२७ ई० में मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन प्रसिद्ध

कांग्रेस नेता और हिन्दू-मुसलमान एकता के कट्टर समर्थक डाक्टर अन्सारी के सभापतित्व में हुआ। कमीशन में किसी भारतीय सदस्य के अभाव से भारत का जो अपमान ध्वनित होता था, उससे विभिन्न मत रखने वाले दल इसके विरोध में एक हो गये और फिर से हिन्दू-मुस्लिम एकता की बातें होने लगीं। कांग्रेस ने भारत का लक्ष्य पूर्ण-स्वराज्य घोषित किया और कमीशन का वायकाट करने के लिए जनता का आव्हान किया। भारत का भावी संविधान प्रस्तुत करने के लिए एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया।

३ फरवरी सन् १९२८ ई० को साइमन कमीशन वम्बई में आ पहुँचा। सारे देश ने वायकाट और पूर्ण हड़तालों से कमीशन का स्वागत किया। जहाँ-जहाँ साइमन कमीशन पहुँचा, जनता ने शान्तिपूर्ण ढंग से "साइमन, वापिस जाओ !" के नारों और काले झंडों से उसका स्वागत किया। सरकार ने जनता द्वारा साइमन के इस स्वागत का वदला पकड़-धकड़, अनावश्यक कठोरता तथा जनता पर पुलिस द्वारा लाठियों की मार करा कर लिया। इसी अवसर पर लाहौर में पुलिस के लाठी-प्रहार से लाला लाजपतराय को गहरी चोट आई जिससे उनका देहान्त हो गया। इस महान् नेता की मृत्यु ने जनता के हृदय में सरकार के प्रति अत्यधिक रोष उत्पन्न कर दिया।

सर्व दल सम्मेलन और नेहरू-रिपोर्ट—इधर जब देश में सर्वत्र साइमन की तिरस्कारपूर्ण अगवानी हो रही थी, दिल्ली में फरवरी-मार्च १९२८ ई० में एक सर्व-दल सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि भारत का भावी संविधान पूर्ण उत्तरदायी शासन के आधार पर वनना चाहिए। इस सम्मेलन ने मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में एक समिति भारत के भावी संविधान का मसविदा जुलाई १९२८ ई० तक तैयार करने के लिए वनाई। नेहरू-समिति के सामने सवसे वड़ी समस्या थी हिन्दू-मुसलमान प्रश्न का कोई संतोषजनक समाधान उपस्थित करने की। यह समस्या विशुद्ध राजनीतिक थी और इसका गो-हत्या अथवा मसजिदों के सामने वाजा वजाने जैसे प्रश्नों से कोई सम्वन्ध न था। इस समस्या का पूर्ण विश्लेषण करने के पश्चात् समाधान के लिए ये प्रश्न सामने आये कि राजनीतिक सत्ता में हिन्दू-मुसलमानों का कितना-कितना हिस्सा होना चाहिए, चुनाव की क्या विधि होनी चाहिए, प्रत्येक जाति के कितने सदस्य हों, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों का परस्पर क्या सम्वन्ध हो और प्रान्तीय सरकार को क्या-क्या अधिकार मिलने चाहिए।

मार्च १९२७ ई० में कुछ मुसलमान नेताओं की दिल्ली में एक बैठक हुई, जिसमें उन्होंने अपनी ये माँगें निश्चित कीं, जिनके आधार पर हिन्दू-मुसलमान एकता

संभव थी। ये माँगें नेहरू-कमेटी के सामने रखी गईं; ये माँगें 'मुस्लिम प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इस प्रस्ताव में संयुक्त निर्वाचन इन शर्तों पर स्वीकार किया गया था कि सिन्ध को एक अलग प्रान्त बना दिया जाय, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और बिलोचिस्तान को अन्य प्रान्तों के स्तर पर रखा जाय, पंजाब और बंगाल में जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो और केन्द्र में मुसलमान सदस्यों की संख्या एक तिहाई से कम न हो। इस 'मुस्लिम प्रस्ताव' की विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। हिन्दू और सिक्खों में इसके प्रति विरोध की तीव्र भावना जाग उठी और इसके विषय में कांग्रेस बड़े असमंजस में पड़ गई। वाद-विवाद तथा साथ ही आशा के इस वातावरण में नेहरु-समिति ने अपनी रिपोर्ट तथा औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर बनाई गई संविधान की रूप-रेखा प्रकाशित कर दी जो दिसम्बर सन् १९२८ ई० में कलकत्ता में सर्वदल-सम्मेलन के सामने प्रस्तुत की गई। इसी अवसर पर कलकत्ता में कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा अन्य संघटन भारत के भावी भाग्य-निर्माण में हिस्सा बँटाने के लिए एकत्र हुए। विभिन्न राजनीतिक दलों और वर्गों में साम्प्रदायिक प्रश्न तथा इस पर नेहरू-समिति के सुझावों को लेकर खूब वाद-विवाद छिड़ गया। नेहरू-समिति द्वारा प्रस्तावित संविधान में भारत को धर्म-निरपेक्ष (सेक्यूलर) राज्य घोषित किया गया था और साम्प्रदायिक प्रश्न के संबंध में नेहरू-रिपोर्ट में अल्पसंख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित रखने के साथ-साथ संयुक्त निर्वाचन-पद्धति स्वीकार की गई थी। लोक-प्रतिनिधि-सभा में, केन्द्रीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन में, मुसलमानों के लिए उन प्रान्तों में सीटें सुरक्षित करने की व्यवस्था की गई थीं, जहाँ वे अल्पसंख्या में हों और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में गैर-मुसलमानों के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये थे। इस प्रकार सुरक्षित रखे गये स्थानों की संख्या जन-संख्या के आधार पर निश्चित की जाती थी और साथ ही अल्पसंख्यक सम्प्रदाय को अपने सुरक्षित स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों के लिए भी चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता दी गई थी। नेहरू-रिपोर्ट का सुझाव था कि बंगाल और पंजाब प्रान्त में किसी भी जाति के लिए स्थान सुरक्षित न रखे जायँ और अन्य प्रान्तों में जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हों, उनके लिए स्थान सुरक्षित रख दिये जाय और साथ ही उन्हें अन्य स्थानों के लिए चुनाव लड़ने का भी अधिकार दिया जाय तथा इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में भी गैर-मुसलमानों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जायँ और उन्हें अन्य स्थानों के लिए भी चुनाव लड़न का अधिकार दिया जाय। अन्त में यह सुझाव दिया गया था कि स्थान सुरक्षित रखने की यह प्रथा केवल दस वर्ष तक रखी जाय।

यहाँ नेहरू-रिपोर्ट के प्रस्तावों का कुछ विस्तार से उल्लेख इसलिए किया गया

है क्योंकि ये प्रस्ताव साम्प्रदायिक प्रश्न के समाधान के बहुत निकट पहुँचे हुए थे और क्योंकि इनकी विफलता से साम्प्रदायिक भावनाओं ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया था।

अक्टूबर १९२८ ई० में मुहम्मद अली जिन्ना इंगलैण्ड से लौट आया। उसने भारत में पहुँचते ही मुस्लिम राजनीति को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। यहाँ पर जिन्ना के आरम्भिक जीवन का संक्षिप्त वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि अगले वर्षों में यह मुस्लिम नेता हमारे देश के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण और साथ ही विघटनकारी भाग लेने वाला था। जिन्ना ने अपना राजनीतिक जीवन गोखले के शिष्य के रूप में आरम्भ किया था। सन् १९२०-२१ में गांधी जी द्वारा प्रवर्तित असहयोग आन्दोलन के दिनों तक वह पक्का कांग्रेसी रहा। परन्तु इस आन्दोलन के समय से उसके विचार धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगे और वह राष्ट्रीय नेता से बदल कर साम्प्रदायिक नेता बन गया। वकालत में तथा संसदीय कार्यों में अपनी असंदिग्ध निपुणताओं के बल पर उसने मुसलमानों में अपने लिए बहुत उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। अपनी संघटन-कुशलता से उसने मुसलमानों को मुस्लिम लीग के झंडे के नीचे संघटित कर लिया और स्वयं लीग का स्थायी प्रधान बन गया। सन् १९२८ के राष्ट्रीय सम्मेलन के निराशापूर्ण भविष्य तथा १९२९ ई० में कांग्रेस द्वारा लाहौर अधिवेशन में नेहरू-रिपोर्ट पर विचार-विमर्श के बाद के वर्षों में भारत में ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस तथा लीग में एक त्रिमुखी संघर्ष छिड़ गया, जो गांधी जिन्ना द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता रहा। भारत लौट आने के तत्काल पश्चात् ही जिन्ना ने अपना ध्यान नेहरू-रिपोर्ट तथा कलकत्ता के राष्ट्रीय सम्मेलन की ओर केन्द्रित किया और कलकत्ता में लीग का आव्हान किया। मुसलमानों में मत-भेद के कारण जिन्ना को राष्ट्रीय सम्मेलन में मुसलमानों के संयुक्त मोर्चे का प्रतिनिधित्व करने में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। परन्तु अन्य राजनीतिक-दलों के अन्दर भी ऐसे ही मत-भेद फैले हुए थे, जिससे जिन्ना की कठिनाइयाँ काफी कम हो गईं। सर मुहम्मद शफी ने कुछ मुसलमानों को अपने नेतृत्व में एकत्र कर लिया और वह संयुक्त-निर्वाचन का विरोध कर रहा था। सर शफी ब्रिटिश नीति के हाथ का खिलौना मात्र था। केन्द्रीय खिलाफत-समिति तो इस राष्ट्रीय सम्मेलन का बायकाट करने का पहले ही निश्चय कर चुकी थी। आगा खाँ ने एक अलग ही मुस्लिम सम्मेलन का संघटन कर रखा था। मुसलमानों के इन सब मतभेदों का सामना करते हुए जिन्ना ने राष्ट्रीय सम्मेलन में मुसलमानों की मांगें उपस्थित करने के लिए अपने नेतृत्व में एक शक्तिशाली समिति बना ली।

कांग्रेस के लिए नेहरू-रिपोर्ट इस वर्ष की प्रधान विचारणीय बात बन गई थी,

क्योंकि इस रिपोर्ट के निर्माता मोतीलाल नेहरू ही इस वर्ष कांग्रेस के प्रधान चुने गये थे। उधर युवक जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्तावित संविधान में औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग को, मद्रास-कांग्रेस में स्वीकृत पूर्ण-स्वराज्य के प्रस्ताव का खंडन मानते हुए 'इन्डिपेंडेंस लीग' नाम से अलग ही एक दल संघटित कर लिया था जिसमें देश के युवक, जो कि साईमन कमीशन की रचना और कार्यवाही से क्षुब्ध हो रहे थे, बड़ी तत्परता से सम्मिलित होने लगे। कांग्रेस में औपनिवेशिक स्वराज्य तथा पूर्ण-स्वातन्त्र्य को लेकर उठा हुआ यह मतभेद, वास्तविक न होकर सैद्धान्तिक मात्र था; इसलिए इसके समाधान के लिए शीघ्र ही एक ऐसी योजना बना ली गई जिससे दोनों पक्ष संतुष्ट हो गये और साथ ही यह योजना सरकार के लिए एक अल्टीमेटम भी बन गई। अपने प्रस्ताव में कलकत्ता कांग्रेस ने घोषणा की कि "कांग्रेस अपने मद्रास अधिवेशन में स्वीकृत पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव पर दृढ़ रहते हुए, (नेहरू) समिति द्वारा प्रस्तावित संविधान को राजनीतिक प्रगति में एक लम्बे डग के रूप में स्वीकार करती है और यह विशेषतया इसलिए, क्योंकि यह (प्रस्तावित संविधान) देश के विभिन्न दलों में अधिकतम सामंजस्य का प्रतिनिधित्व करता है।

"राजनीतिक स्थिति की सामयिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए यह कांग्रेस इस संविधान को अपनायेगी, यदि यह ब्रिटिश पार्लियामेंट में ३१ दिसम्बर १९२९ ई० तक पूर्ण रूप में स्वीकार कर लिया गया; परन्तु इस निर्धारित तिथि के अन्दर इसके स्वीकार न किये जाने की स्थिति में कांग्रेस अहिंसामय असहयोग का संघटन करेगी।" और देश को सलाह देगी कि सरकार को कर तथा अन्य प्रकार की कोई सहायता न दे।* इस प्रस्ताव के बनाने और अन्तिम स्वीकृति में गांधी जी का बहुत बड़ा हाथ था। साइमन कमीशन के कारण देश में जो हलचल मच गई थी, उससे गांधी जी फिर मोर्चे पर आ गये थे। सारे देश में भावी संघर्ष की चर्चा फैल गई और ऐसे वातावरण में किसी को भी गांधी जी के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति न दिखाई देता था, जो देश को विजय की ओर ले चल सके।

उपर्युक्त प्रस्ताव में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक संशोधन उपस्थित किया। इस संशोधन में नेहरू-रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए कहा गया था कि "यह कांग्रेस मद्रास कांग्रेस में स्वीकृत प्रस्ताव पर दृढ़ है, जिसमें घोषणा की गई थी कि भारतीयों का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है और इस कांग्रेस की सम्मति में जब तक ब्रिटेन

---

* सीतारमैया लिखित "कांग्रेस का इतिहास" पृ० ५६० ।

के साथ सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो जाता, तब तक सच्ची स्वतंत्रता नहीं मिल सकती।"†

यह संशोधन इस दृष्टि से स्मरणीय है कि हाल में भारत ने कामनवेल्थ में बने रहने का निश्चय कर लिया है।

मुस्लिम लीग और नेहरू-रिपोर्ट—दिल्ली में निश्चय किये गये मुस्लिम प्रस्ताव, नेहरू-समिति के पास तभी भेजे जा चुके थे जब यह अपनी रिपोर्ट तैयार कर रही थी। अब, राष्ट्रीय सम्मेलन के सामने जिन्ना ने अपने तीन सुझाव, नेहरू-रिपोर्ट में संशोधन के रूप में प्रस्तुत किये। जिन्ना का पहला सुझाव यह था कि मुसलमानों को केन्द्रीय व्यवस्थापिका में एक-तिहाई प्रतिनिधित्व दिया जाय; दूसरा यह था कि, बंगाल और पंजाब में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व वहाँ उनकी जन-संख्या के आधार पर दस वर्ष तक के लिए निर्धारित हो और तीसरा यह था कि शेषाधिकार (रेसीडयुअरी पावर्स) केन्द्र में न होकर, प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं को मिलें।‡

जिन्ना के ये संशोधन राष्ट्रीय-सम्मेलन की उप-समिति में अस्वीकृत हो गये और दिसम्बर १९२८ ई० में इनको जब खुले अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया तो इन पर गरमागरम बहस हुई जिससे स्पष्ट हो गया कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई कितनी गहरी है। यहाँ भी ये संशोधन अस्वीकृत हो गये और जैसा कि बाद की घटनाओं से प्रकट होता है, इनकी अस्वीकृति के साथ-साथ हिन्दू-मुसलमान समझौते का मार्ग भी बन्द हो गया, क्योंकि समय के साथ-साथ लीग की माँगें भी बढ़ती गईं और आखिर ये माँगें भारत-विभाजन तक पहुँच गईं।

अपने संशोधनों की अस्वीकृति से क्षुब्ध होकर जिन्ना सम्मेलन से अलग हो गया। उसने लीग के अधिवेशन को मार्च १९२९ ई० में दिल्ली में किये जाने के लिए स्थगित कर दिया। अब राष्ट्रीय सम्मेलन को सम्पन्न करने की विचित्र समस्या सामने आई, क्योंकि सम्मेलन अपने किसी कार्य में सफल न हो रहा था। आखिर गांधी जी के परामर्श से इसको अनिश्चित काल के लिए बन्द कर दिया गया।

नेहरू-समिति की हलचलों और उसके प्रस्तावित संविधान की ओर लार्ड अर्विन की सरकार ने कोई रुचि न दिखाई। साइमन कमीशन विभिन्न मतों की संख्या बढ़ाने के उद्योग में, इधर-उधर लोगों से मुलाकातें करता रहा। इसी समय सर हार्कोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक दूसरी समिति भारतीय रियासतों के

---

† सीतारमैया—"हिस्ट्री ऑफ् नेशनल कांग्रेस" पृ० ५६।

‡ एच० एच० सैयद—"मुहम्मद अली जिन्ना" पृ० ४१८।

सम्बन्ध में जाँच करने में व्यस्त थीं। साइमन कमीशन तथा बटलर-समिति ने १९२९ ई० के मध्य तक छानवीन पूरी कर अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली, परन्तु भारत तथा इंगलैण्ड की आन्तरिक एवं वाह्य घटनाओं के कारण ये रिपोर्टें व्यर्थ हो गईं और केवल वाद-विवाद के काम की ही रह गईं।

सन् १९३० से आगे के वर्षों के आर्थिक संकट में सरकार की दमन नीति तथा भारत के प्रति अपनी नीति की स्पष्ट व्याख्या करने में इसको स्थगित करते जाने से भारतीयों के राजनीतिक असंतोष को और भी बढ़ा दिया। गांधी जी का व्यक्तिगत प्रभाव हमेशा की तरह अब भी अत्यधिक बना हुआ था, परन्तु बहुत से लोग कांग्रेस की नीति को व्यर्थ समझने लगे थे। पिस्तौल और बम की मार में विश्वास रखने-वाले क्रान्तिकारी दल फिर से सक्रिय होने लगे। सरकार ने भी लोगों की पकड़-धकड़ आरम्भ कर दी और षड्यंत्र के मुकदमे चलाने शुरू कर दिये जिनमें मेरठ षड्यंत्र-केस और लाहौर षड्यंत्र-केस सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। भगतसिंह और दत्त ने, जनता के विरोध के प्रदर्शन के रूप में, असेम्बली भवन में बम फेंककर देश-भक्तों में अपना नाम अमर कर लिया; इनको आजीवन निर्वासन का दंड मिला। ऐसे वातावरण में १९२९ ई० में लाहौर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ।

इंगलैण्ड में घटना-चक्र इस प्रकार परिवर्तित हुआ कि अनुदार दल (कन्जर्वेटिव पार्टी) पदच्युत हो गया। उसके स्थान पर मई सन् १९२९ ई० में मजदूर दल (लेवर पार्टी) ने मंत्रिमंडल बनाया; इस मंत्रिमंडल में रैमजे मक्डोनाल्ड प्रधान मंत्री बना और राज्य-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) का पद वेजवुड बेन को प्राप्त हुआ। जून १९२९ ई० में लॉर्ड अर्विन, इंगलैण्ड के पदाधिकारियों को भारतीय स्थिति से परिचित कराने के लिए इंगलैण्ड गया। वहाँ से लौटने पर उसने अक्टूबर १९२९ में अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें उसने घोषित किया कि "मुझे हिज मजेस्टी की सरकार की ओर से यह स्पष्ट कर देने का अधिकार प्राप्त हुआ है कि हिज मैजेस्टी की सरकार की समझ में १९१७ ई० की घोषणा से स्पष्ट व्यक्त होता है कि उस (घोषणा) में भारत की संवैधानिक प्रगति का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है, वह है औपनिवेशिक स्वराज्य।" वायसराय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि हिज मैजेस्टी की सरकार "उन अन्तिम प्रस्तावों पर जिनको पार्लियामेंट के समक्ष प्रस्तुत करना हिज मैजेस्टी की सरकार का कर्तव्य है, अधिक-तम संभव मतैक्य प्राप्त करने के लिए" ब्रिटिश भारत और भारतीय राज्यों के प्रतिनिधियों से मिलना चाहती है। इसी घोषणा के फलस्वरूप गोलमेज सम्मेलन हुए।

जिन्ना की चौदह माँगें—कलकत्ता के राष्ट्रीय सम्मेलन में नेहरू रिपोर्ट पर

अपने प्रस्तुत किये हुए संशोधनों के अस्वीकृत हो जाने से तो जिन्ना क्षुब्ध हुआ ही था, साथ ही कलकत्ता कांग्रेस के इस प्रस्ताव से कि सरकार नेहरू-रिपोर्ट को एक निश्चित अवधि के अन्दर पूर्ण रूप से स्वीकार करे, उसकी विरोधी भावनाएँ और भी प्रवल हो उठीं। जिन्ना की दृष्टि में कांग्रेस का यह प्रस्ताव मुसलमानों का अपमान था और इस बात का सूचक था कि गाँधी से प्रभावित कांग्रेस के हाथों मुसलमानों को न्याय की आशा नहीं रखनी चाहिए। उसने मार्च १९२९ ई० में दिल्ली में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की बैठक बुलाई; इसमें उसने अपनी 'चौदह माँगें' रखीं, जिनको मुसलमानों की न्यूनतम माँगें बताया गया और इनका पूरा किया जाना किसी प्रकार के भी राजनीतिक समझौते के लिए प्रथम आवश्यक शर्त बताया गया। लीग के प्रस्ताव में नेहरू-रिपोर्ट को अमान्य ठहराते हुए कहा गया कि:——

"भारत की भावी सरकार के निर्णय के लिए कोई भी योजना भारत के मुसलमानों को तब तक मान्य न होगी जब तक निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत न किया जाये और उस योजना में उनके अधिकारों तथा हितों को सुरक्षित करने के आयोजन न रखे जायँ—

(१) "भावी संविधान का स्वरूप संघात्मक हो; शेषाधिकार (रेसीड्यूअरी पावर्स) प्रान्तों को दिये जायँ।

(२) "सब प्रान्तों को स्वायत्त शासन समान अंश में सौंपा जाय।

(३) "देश में सभी व्यवस्थापिकाओं तथा निर्वाचित संस्थाओं की रचना, प्रत्येक प्रान्त में बहुसंख्यक जाति को अल्पसंख्यक या समान संख्यक न बनाते हुए अल्पसंख्यकों के पर्याप्त तथा प्रभावकारी प्रतिनिधित्व के निश्चित सिद्धान्त पर हो।

(४) "केन्द्रीय व्यवस्थापिका में मुसलमानों की प्रतिनिधि संख्या एक-तिहाई हो।

(५) "साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व, जैसा कि आजकल है, पृथक् निर्वाचन पद्धति के अनुसार होता रहे; किसी भी सम्प्रदाय के लिए यह छूट हो कि वह किसी भी समय अपने पृथक् निर्वाचन को त्याग कर संयुक्त निर्वाचन पद्धति अपना ले।

(६) "जब कभी प्रदेशों का किसी प्रकार का पुनः संघटन आवश्यक हो, इसका पंजाब, बंगाल तथा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की मुसलमान बहुसंख्या पर कोई प्रभाव न पड़ने पावे।

(७) "पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता, अर्थात् प्रत्येक सम्प्रदाय को धार्मिक विश्वास, उपासना तथा धार्मिक नियमों के पालन, प्रचार, संघटन और शिक्षा की स्वतन्त्रता का विश्वास दिलाया जाए।

(८) "किसी भी व्यवस्थापिका या निर्वाचित समिति में कोई भी ऐसा विधेयक या प्रस्ताव पास न हो सकेगा, जिसका विरोध किसी सम्प्रदाय के ¾ प्रतिनिधि इस आधार पर करें कि यह विधेयक या प्रस्ताव अथवा इसका कोई अंश उनके सम्प्रदाय के हितों के विरुद्ध पड़ता है अथवा इसके स्थान पर कोई अन्य उपाय अधिक संभव और व्यावहारिक है।

(९) "सिन्ध को बम्बई प्रेसिडेंसी से अलग कर दिया जाये।

(१०) "उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त और बिलोचिस्तान में अन्य प्रान्तों के समान स्तर पर सुधार किये जायँ।

(११) "मुसलमानों को अन्य भारतीयों के साथ-साथ राज्य की तथा स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं की नौकरियों में निपुणता-संबंधी आवश्यकताओं का उचित ध्यान रखते हुए, पर्याप्त भाग देने की संविधान में व्यवस्था की जाय।

(१२) "मुसलमान-संस्कृति की रक्षा तथा मुसलमानी शिक्षा, भाषा, धर्म, व्यक्तिगत कानून तथा मुसलमानी दातव्य संस्थाओं की रक्षा एवं उन्नति के लिए तथा राज्य एवं स्वायत्त-शासन की संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली सहायता में उन्हें उचित भाग दिये जाने के लिए संविधान में पर्याप्त व्यवस्था की जानी चाहिए।

(१३) "कोई भी केन्द्रीय या प्रान्तीय मंत्रिमंडल मुसलमान सदस्यों के कम से कम एक तिहाई अनुपात के बिना न बने।

(१४) "भारतीय संघ के अंगभूत राज्यों की सहमति के बिना केन्द्रीय व्यवस्थापिका के विधान में कोई परिवर्तन न किया जाये।"[1]

यहाँ जिन्ना की "चौदह माँगों" को विस्तार से इसलिए लिखा गया है क्योंकि ये माँगें किसी भी हिन्दू-मुस्लिम समझौते के लिए न्यूनतम शर्तों के रूप में उपस्थित की गई थीं। इन चौदह माँगों की दिल्ली के 'मुस्लिम प्रस्ताव' एवं जिन्ना के तीन संशोधनों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों की माँगें किस प्रकार बदलती और बढ़ती गईं और यही कारण था कि कभी भी हिन्दू-मुसलमान समझौता न हो सका। अर्विन की अक्टूबर की घोषणा की जिन्ना पर कांग्रेस से भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। भारत के लक्ष्य के रूप में औपनिवेशिक स्वराज्य और इसकी रूप-रेखा तैयार करने के लिए गोल मेज-सम्मेलन की घोषणा में उसने सन्तोष का अनुभव किया।

कांग्रेस तथा उसके साथ-साथ नरम दल के एक वर्ग की स्थिति इससे भिन्न थी।

---

१. एम० एच० सैयद—"मुहम्मद अली जिन्ना" पृ० ४४०-४२।

वायसराय की घोषणा के तत्काल वाद ही दिल्ली में नेताओं का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, सर तेजवहादुर सप्रू तथा विट्ठल भाई पटेल उपस्थित थे। इस सम्मेलन ने निम्नलिखित शर्तों पर आगामी वातचीत में सहयोग देने की घोषणा की:—

(१) प्रस्तावित सम्मेलन में सारी वातचीत पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर हो।

(२) इस सम्मेलन में कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या सर्वाधिक हो।

(३) राजनीतिक वन्दियों की आम रिहाई हो।

(४) वर्तमान स्थितियों में जहाँ तक सम्भव हो, अव से भारत-सरकार औपनिवेशिक सरकार के तौर पर काम करे।

ये शर्तें "दिल्ली घोषणापत्र" के नाम से प्रसिद्ध हुईं। जिन्ना तथा कुछ नरम-दलीय नेताओं को यह घोषणा-पत्र इसलिए अविचारपूर्ण और हानिकर लगा, क्योंकि इससे सहयोग की अस्वीकृति व्यक्त होती थी। पण्डित नेहरू ने लिखा है "कांग्रेसी लोगो ने इन शर्तों को परम आवश्यक समझ लिया, जिनके विना किसी प्रकार का सहयोग न हो सकता था। यह वात कांग्रेस कार्यकारिणी की एक सामयिक वैठक में स्पष्ट हो गई, जिनमें इन शर्तों के साथ यह भी जोड़ दिया गया कि यह प्रस्ताव केवल अगले कांग्रेस अधिवेशन की तिथि तक ही सीमित है। नरम दलवालों के लिए ये शर्तें अधिकतम अभीष्ट थीं, जिनको रखना तो ठीक था; परन्तु जिनके लिए इतना आग्रह न किया जा सकता था कि (इनके पूर्ण न किये जाने पर) सहयोग ही न किया जायगा।"[1] ये शर्तें कभी भी पूरी न की गईं। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की तिथि समीप आ रही थी, जिसमें भारत का राजनीतिक लक्ष्य पूर्ण स्वातन्त्र्य घोषित किया जाना था। वातावरण भावी संघर्ष के समाचारों से उद्वेलित हो रहा था।

२३ दिसम्वर को महात्मा गांधी, पं० मोतीलाल नेहरू एवं जिन्ना ने, समझौते का सर्व-स्वीकार्य मार्ग खोज निकालने के लिए वायसराय से भेंट की, परन्तु यह प्रयत्न भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। इसी दिन सवेरे लॉर्ड अर्विन को दिल्ली की ओर लानेवाले रेल के डिव्वे के नीचे एक वम फटा था, जो भावी घटनाओं का संकेत था।

लाहौर-कांग्रेस और सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन—लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन देश-प्रेम के उत्कट उत्साह के वातावरण में सम्पन्न हुआ। आये दिन पकड़-धकड़ इस उत्साह को और भी वल दे रही थी। जनता के हृदय में यह विचार

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"आत्मकथा" (अँगरेजी) पृष्ठ १९६।

उत्साह का सञ्चार कर रहा था कि अब राजनीतिक आन्दोलन का लक्ष्य पूर्ण-स्वातन्त्र्य घोषित किया जायगा और अब देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने का समय आ पहुँचा है। इस वर्ष के लिए कांग्रेस के प्रधान के रूप में जवाहरलाल नेहरू इस वातावरण के सर्वथा उपयुक्त थे। उनकी युवावस्था, उनके उत्तेजनापूर्ण भाषण और उनके बलिदानों की कहानियों ने उनके नाम के साथ एक प्रबल आकर्षण का संयोग कर दिया था। जवाहरलाल नेहरू उस समय के अग्रणी, और जनता की भावनाओं के सम्राट् बन गये; उनका अनुसरण करने में लोग अपना सौभाग्य समझने लगे। लाहौर-कांग्रेस का प्रमुख प्रस्ताव देश की स्वतन्त्रता के विषय में था; इसमें घोषणा की गई कि :—

"कांग्रेस का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों में, गोल मेज सम्मेलन में कांग्रेस के प्रतिनिधित्व से कोई लाभ न होगा, इसलिए यह कांग्रेस, पिछले वर्ष कलकत्ता अधिवेशन में पास किये गये प्रस्ताव का अनुसरण करते हुए, घोषित करती है कि कांग्रेस की विधान की धारा १ में निबद्ध 'स्वराज' शब्द का अर्थ पूर्ण स्वातन्त्र्य होगा और यह भी घोषित करती है कि नेहरू-समिति की रिपोर्ट में निबद्ध सारी योजना समाप्त हो गई है।" इस प्रस्ताव में कांग्रेसवालों को चुनावों में भाग न लेने और व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों को अपने पदों को त्याग देने का आह्वान किया गया। इसके अतिरिक्त इस प्रस्ताव में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को अधिकार दिया गया कि वह जब और जहाँ आवश्यक समझे, सरकारी कर न देने के साथ-साथ सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दे और इस आन्दोलन की सुरक्षा के लिए वह जो भी बातें आवश्यक समझे उन्हें लागू करे।

परन्तु उलझनवाले प्रश्न ये थे कि स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त की जाय, सविनय-अवज्ञा आन्दोलन कब और कैसे प्रारम्भ किया जाये? पहला प्रश्न तर्क से सम्बद्ध था तो दूसरा भावनाओं से, और यही इनमें भिन्नता का कारण था। जनता की प्रतिक्रिया जानने के लिए २६ जनवरी, १९३० ई० को स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का निश्चय किया गया, जिसमें इस नये आन्दोलन के समर्थकों को प्रतिज्ञा लेनी थी।

२६ जनवरी १९३० ई० को जनता ने जिस उत्साह से स्वतन्त्रता-दिवस मनाया और जिस गम्भीरता से प्रतिज्ञा की, वह उसके हृदय और इससे कुछ कम मात्रा में उसकी बुद्धि का परिचायक था। प्रतिज्ञा लेनेवाले विशाल जन-समूह में से शायद ही कोई स्पष्ट रूप से स्वतन्त्रता का अर्थ समझता था और यह जानता था कि यह कैसे प्राप्त हो सकती है; और आज इतने समय के पश्चात् इस विषय की चर्चा करते हुए हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि कांग्रेस के नेताओं तक ने पूर्ण स्वातन्त्र्य के प्रस्ताव को बड़े उत्साह के साथ स्वीकार करते समय इसके सभी पक्षों पर गम्भीरता-

पूर्वक विचार न किया था। उन्हें उन संकटों और विनाशों की उस समय कुछ भी कल्पना न थी जो स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के मार्ग में भारतीय राष्ट्रीयता पर छानेवाले थे। १९२९ ई० में कौन कह सकता था कि स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् हमें परिस्थितियों से बाध्य होकर 'ब्रिटिश' कॉमनवेल्थ में ही आना पड़ेगा और स्वयं पण्डित जवाहरलाल नेहरू ही इस नीति के प्रबलतम समर्थक बन जायेंगे। यह सब देखकर कोई भी ब्रिटिश पक्षपाती कह सकता है कि "इतिहास के प्रतिशोध कितने मधुर होते हैं!"

डाँडी कूच; सविनय-अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ—लाहौर-कांग्रेस तथा स्वतन्त्रता-दिवस मनाये जाने के साथ-साथ घटनाचक्र बड़ी तीव्र गति से परिवर्तित होने लगा। सबकी आँखें साबरमती आश्रम की ओर लगी हुई थीं, जहाँ महात्मा गांधी अगले कदम पर विचार कर रहे थे; यहीं से अगले संघर्ष का युद्ध-घोष किया जाना था, क्योंकि महात्मा गांधी के अतिरिक्त और कोई भी व्यक्ति यह न जानता था कि सविनय-अवज्ञा आन्दोलन का स्वरूप क्या होगा। आखिर इस आन्दोलन का आरम्भ नमक-कानून तोड़ कर किया गया; नमक जैसी जीवन के लिए आवश्यक वस्तु पर सरकार का एकाधिकार था। परन्तु नमक-कानून तोड़ने के लिए नमक बनाने के उद्देश्य से समुद्र-तट पर अवस्थित डाँडी नामक स्थान की ओर कूच करने से पहले गांधी जी ने अपनी "ग्यारह शर्तें" प्रकाशित कीं और अपने एक पत्र में वायसराय को अपनी वह शर्तें लिख भेजीं जिन पर सविनय-अवज्ञा आन्दोलन स्थगित किया जा सकता था। एक साधारण व्यक्ति की दृष्टि में जो गांधी जी के समान संत न हो, ये 'ग्यारह शर्तें' स्पष्टतः लाहौर-प्रस्ताव के विपरीत पड़ती थीं; इस बात का अनेक पक्के कांग्रेसी लोगों ने भी अनुभव किया और उस वर्ष के कांग्रेस-प्रधान पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "दूसरी आश्चर्यजनक बात थी गांधीजी की अपनी 'ग्यारह शर्तों' की घोषणा। जब हम स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य बनाकर बात कर रहे थ, तब हमारे राजनीतिक और सामाजिक सुधारों की, जो निस्संदेह अपने आप में बहुत अच्छे थे, सूची बनाने में क्या तुक हो सकता था। इस स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग करते हुए गांधी जी का इससे क्या वही अर्थ होता था जो हम समझते थे या क्या उनसे भिन्न भाषा बोलते थे?" वास्तव में गांधी जी की दृष्टि में औपनिवेशिक स्वराज और पूर्ण स्वराज्य में कोई भी अंतर न था, क्योंकि २ मार्च १९३० को वायसराय को लिखे गये अपने पत्र में उन्होंने लिखा था कि "यदि आपकी घोषणा में कहा गया औपनिवेशिक स्वराज्य अपने स्वीकृत रूप में प्रयुक्त किया गया होता, तो स्वतन्त्रता के प्रस्ताव से चौंकने की कोई बात न होती। क्योंकि क्या उत्तरदायित्वपूर्ण ब्रिटिश राजनीतिक ने यह

बात स्वीकार नहीं की है कि औपनिवेशिक स्वराज्य व्यवहारतः स्वतन्त्रता ही है?" इसी पत्र में गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों का वर्णन करते हुए, वायसराय को इन्हें दूर करने और एक ऐसा वातावरण तैयार करने के लिए जिसमें पारस्परिक समझौते की बातचीत चलाई जा सके, आमन्त्रित करते हुए लिखा कि 'यदि मेरा पत्र आपके हृदय पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका तो उस स्थिति में मैं इस महीने की ११ ता० को अपने साथ आश्रम के जितने भी सह-कार्यकर्त्ताओं को ले चल सकूँगा, उनको साथ लेकर नमक-कानून तोड़ने के लिए चल पड़ूँगा।' इसी पत्र में आगे उन्होंने लिखा था कि, "यदि आप समझें कि मेरे पत्र में कुछ सारपूर्ण बात है और यदि आप मेरे साथ इन बातों पर विचार-विमर्श करना चाहें और यदि इस प्रयोजन के लिए आपकी यह इच्छा हो कि मैं इस पत्र को तब तक प्रकाशित न करूँ तो इस पत्र के आपके पास पहुँचने के तुरन्त पश्चात् आपका इस सम्बन्ध का तार पाकर मैं इसका प्रकाशन रोक दूँगा।"

लाहौर कांग्रेस के प्रस्ताव के साथ इस पत्र को मिलाने पर इन दोनों में जो स्पष्ट विरोध दिखाई देता है, उससे लॉर्ड अर्विन को कड़ा रुख अपनाने का उत्साह मिल गया और उसने प्रस्तावित आन्दोलन को "स्पष्टतः कानून का भंग करनेवाला और सार्वजनिक शांति के लिए भयंकर" बताकर इसकी निन्दा की।

गांधी जी के इस पत्र ने और लॉर्ड अर्विन के उत्तर ने समस्या को सुलझाने की अपेक्षा और भी उलझा दिया और अब नमक-कानून तोड़ने के लिए गांधी जी का प्रयाण अनिवार्य हो गया। इस कूच के साथ सन् १९३० ई० का सविनय-अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ होता है।

१२ मार्च सन् १९३० ई० को गांधी जी ने अपने चुने हुए ७९ सहयोगियों के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तटवर्ती डांडी नामक स्थान की ओर कूच किया। आन्दोलन की इस नई और विचित्र प्रणाली से सरकार किंकर्तव्य विमूढ़ हो उठी। सारे वातावरण में नमक की गूँज होने लगी और देश भर में नमक-कानून तोड़ने के प्रयत्न होने लगे, जिनके फलस्वरूप सत्याग्रहियों के जत्थे बन्दी बनाये जाने लगे।

देश भर में बड़े जोर-शोर से जलूस, लाठी-प्रहार, पकड़-धकड़, हड़तालें होने लगीं। कांग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया और इसके नेता जेलों में बन्द कर दिये गये। प्रत्येक नेता के पकड़े जाने के साथ-साथ आन्दोलन जोर पकड़ता गया। नमक-कानून तोड़ने के साथ-साथ विदेशी कपड़े तथा शराब की दूकानों पर भी धरना दिया जाने लगा। सम्भ्रान्त परिवारों की सैकड़ों महिलाएँ आन्दोलन में कूद पड़ीं; उन्हें भी जेल-यात्रा करनी पड़ी। सरकार दमन-नीति से काम लेने लगी; उसने अनेक अत्याचार पूर्ण कानून पास कर दिये जिन्हें 'आर्डिनेन्स' कहा गया।

इस दमन-नीति ने आन्दोलन को और भी प्रोत्साहन दिया। १४ अप्रैल को जवाहर-लाल नेहरू को वन्दी वनाया गया और ५ मई को महात्मा गाधी ने जेल-यात्रा की। जान पड़ता था जैसे सारा देश जेल में वन्द हो गया हो।

परन्तु काँग्रेसी-नेताओं के वन्दी वनाये जाने और काँग्रेस-कार्यालयों पर पुलिस के अधिकार कर लेने के साथ आन्दोलन में शिथिलता आने लगी। सारा आन्दोलन नेतृत्वहीन हो गया। अहिंसा का दवाव अव स्पष्ट होने लगा। उत्साह का स्थान थकावट ने ले लिया। जनता के मन में अहिंसा की नीति की प्रभावकारिता में सन्देह सिर उठाने लगा; ऐसे लोग भी कम न थे जो इसको कायरों और निर्वलों की नीति समझते थे। वास्तव में मनुष्य को अहिंसा के आदेश और सताये जाने पर भी धैर्य और क्षमा के उपदेश अपने स्वभाव के अनुरूप न होने के कारण अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर पाते।

सप्रू-जयकर-मध्यस्थता और प्रथम गोल मेज-सम्मेलन—सविनय-अवज्ञा आन्दोलन के प्रति लॉर्ड अर्विन का दो प्रकार का रुख था। वह अपनी शक्ति भर इसको कुचलना भी चाहता था और साथ ही किसी सम्मानपूर्ण समझौते के लिए भी तैयार था। समझौते के लिए उसकी इस उत्सुकता के फलस्वरूप सप्रू-जयकर-मध्यस्थता आरम्भ हुई। १२ मई के अपने एक वक्तव्य में लॉर्ड अर्विन ने घोषणा की कि प्रस्तावित गोल मेज-सम्मेलन के लिए तैयारियाँ की जा रही हैं, जिसमें अक्टूबर १९३० ई० या इससे पहले संविधान-सम्वन्धी प्रश्नों पर विचार विमर्श होगा। इस घोषणा के पश्चात् वायसराय, श्री एम० आर० जयकर तथा सर तेज वहादुर सप्रू में सरकार और कांग्रेस के वीच समझौता कराने के उद्देश्य से चिट्ठी-पत्री होने लगी, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही था कि यदि प्रस्तावित लन्दन-सम्मेलन में कांग्रेस भाग न लेगी तो यह सम्मेलन एक दिखावा मात्र रह जायगा। सप्रू और जयकर ने गान्धी जी से यरवदा जेल में और नेहरू पिता-पुत्र से नैनी (इलाहावाद) जेल में भेंट की। यरवदा जेल में गांधी जी, मोतीलाल एवं जवाहरलाल नेहरू की भी मुलाकात हुई परन्तु इससे फल कुछ भी न निकला। गत्यवरोध ज्यों का त्यों वना रहा और कांग्रेस के प्रतिनिधियों के विना ही प्रथम गोल मेज-सम्मेलन १२ नवम्वर, १९३० ई० को लन्दन में सेण्ट जेम्स पैलेस में आरम्भ हो गया। इसी दिन भारत में इस सम्मेलन के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए जलूस निकाले गये और आम हड़ताल की गई, जिसके फलस्वरूप प्रदर्शनकारियों पर लाठी-प्रहार हुए और नेता पकड़ लिये गये। नौ महीने की अस्पष्ट और व्यर्थ की वातचीत के वाद प्रथम गोल मेज-सम्मेलन समाप्त हुआ, जिसमें भारत के साम्प्रदायिक विरोधों के जान-बूझ कर किये गये विज्ञापन के अतिरिक्त काम की एक भी वात हाथ न आई थी। अन्त में सर तेज वहादुर सप्रू

ने मजदूर-दलीय प्रधान मन्त्री से एक ऐसा वातावरण तैयार करने की अपील की जिसमें कांग्रेस को ऐसे सम्मेलन में भाग लेने का अवसर मिल सके। इस अपील के उत्तर में प्रधान मंत्री सर रैमजे मैकडानल्ड ने घोषणा की कि यदि सार्वजनिक शान्ति बनाये रखी जाय तो वह काँग्रेस को ऐसा अवसर देने के लिए प्रस्तुत है।

गांधी-इर्विन समझौता और द्वितीय गोल मेज-सम्मेलन—२६ जनवरी १९३१ ई० को कांग्रेस के प्रमुख नेता विना किसी शर्त के रिहा कर दिये गये, जिससे वे आपस में मिल सकें और स्थिति का अध्ययन कर सकें। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, आर्थिक संकट, जापान की युद्ध-लोलुपता, चीन में रूस की प्रगति और इटली में मुसोलिनी की गति-विधियों को देखते हुए सरकार को वाध्य होकर कांग्रेस के प्रति यह सद्भाव प्रकट करना पड़ा। कांग्रेस के नेताओं को, इस रिहाई से, आपस में मिल कर घटनाओं की प्रत्यालोचना करने का सुयोग मिल गया और वे शीघ्रतापूर्वक इलाहावाद में एकत्र होने लगे, जहाँ पण्डित मोतीलाल नेहरू इस समय सख्त बीमार पड़े थे। नेहरू जी की शारीरिक शक्ति जवाव दे चुकी थी, परन्तु इस युद्ध-क्लान्त सधे हुए नेता ने अपने स्वाभाविक अदम्य हृदय से अपने पुराने मित्रों का स्वागत किया। गांधी जी से उन्होंने कहा "महात्मा जी, मैं शीघ्र ही कूच करनेवाला हूँ और मैं अपनी आँखों से स्वराज न देख सकूँगा। परन्तु मैं जानता हूँ कि तुमने इसे जीत लिया है और तुम इसे शीघ्र ही प्राप्त कर लोगे।"[1] ६ फरवरी को पण्डित मोतीलाल नेहरू ने लखनऊ में इस संसार से कूच कर दिया। समस्त राष्ट्र शोक-मग्न हो उठा। इलाहावाद नगर के लिए तो यह एक अपरिहार्य क्षति थी।

मोतीलाल नेहरू का जिस दिन देहान्त हुआ, उसी दिन गोल मेज-सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत आ पहुँचे। सप्रू, जयकर और शास्त्री तत्काल इलाहावाद के लिए रवाना हो गये। उन्होंने यहाँ पहुँच कर गांधी जी के सामने लन्दन-सम्मेलन की कार्यवाही उपस्थित की। गांधी जी और वायसराय के बीच भेंट होनी आवश्यक समझी गई। गांधी जी ने लॉर्ड अर्विन से मुलाकात का आग्रह करते हुए पत्र लिख भेजा। अर्विन ने इस पत्र का तत्काल स्वीकारात्मक उत्तर दिया, और १७ फरवरी को गांधी-अर्विन मुलाकात हुई जिसके फलस्वरूप दिल्ली-समझौता हुआ; सविनय-अवज्ञा आन्दोलन व्यवहारतः स्थगित हो गया और कांग्रेस ने द्वितीय गोल मेज-सम्मेलन में भाग लिया। भारत-सरकार ने इस समझौते को ५ मार्च १९३१ ई० को प्रकाशित कर दिया। इस समझौते का सवसे महत्त्वपूर्ण अंश संविधान के प्रश्न से सम्वन्धित था, जिसका उल्लेख इन शव्दों में किया था :—

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"आत्मकथा" (अँगरेजी) पृष्ठ २४६।

"संवैधानिक प्रश्न के सम्बन्ध में, भविष्य में होने वाली वार्ता का क्षेत्र हिज मेजेस्टी की सरकार की सहमति से, गोल मेज-सम्मेलन में विचारित भारत में संवैधानिक सरकार की स्थापना के प्रश्न पर और आगे विचार करना रखा गया है। इसमें जिस योजना की रूपरेखा बनाई गई है, उसमें संघ-सरकार का निर्माण परमावश्यक बताया गया है। इसी प्रकार, ऐसी बातों के लिए जैसे रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, अल्पसंख्यकों की स्थिति, भारत की आर्थिक दृढ़ता और अपने कर्तव्यों का निर्वाह इत्यादि, भारत के हित में भारत के उत्तरदायित्व और संरक्षण अथवा सुरक्षण भी आवश्यक हैं।" सरकार ने विदेशी कपड़े और शराव की दूकानों पर धरना देने में वाधा न डालने का भी वचन दिया।

इस समझौते से वहुत-से लोगों को वड़ा आश्चर्य हुआ। आखिर दिल्ली का घोषणा-पत्र और लाहौर-कांग्रेस का प्रस्ताव क्या हो गये? इन सव कष्टों और वलिदानों का फल क्या निकला? परन्तु कोई अन्य उपाय भी तो न था। गांधी जी को यदि अलग कर दिया तो आन्दोलन का नेतृत्व कौन करता, क्योंकि इस आन्दोलन की प्रणाली तो उनके अतिरिक्त और कोई व्यक्ति जानता न था। इस संकट में कराँची-कांग्रेस ने गांधी-अर्विन-समझौता मान लिया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इस समझौते के सम्वन्ध में अपनी आत्मकथा में लिखा है "मैंने (समझौते का) मसविदा देखा। मैं इसके अधिकांश अनुच्छेदों को जानता था, क्योंकि उन पर वहुत वार वाद-विवाद हो चुका था, परन्तु इसके आरम्भ में ही अनुच्छेद सं० २ से, जिसमें संरक्षण, सुरक्षण इत्यादि वातें लिखी हुई थीं, मुझे गहरा आघात लगा। मैं इसके लिए विलकुल तैयार न था। उस समय मैंने इसके विषय में कुछ भी न कहा और हम सव वहाँ से उठ कर चले आये।"[1] इस समझौते से देश को विश्राम मिला, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि अहिंसात्मक संघर्ष अधिक समय तक चलाया नहीं जा सकता। गांधी जी जनता की थकावट को भाँप गये थे, और इसीलिए वे सरकार के साथ समझौता करने के लिए तैयार हुए थे, जिससे कि कहने भर को ही सही, अस्थायी सुलह हो गई क्योंकि इसके विना आन्दोलन यदि वन्द हो गया होता तो कांग्रेस की प्रतिष्ठा की वहुत क्षति होती। परन्तु इस समझौते से देश में जो सन्तोष व्याप्त हुआ, वह लाहौर-षड्यन्त्र केस के अभियोगी भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को प्राणदण्ड दिये जाने की सूचना से रोष की वेगवती धारा में परिवर्तित हो गया। ये लोग भारत में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा लोकमान्य तिलक द्वारा प्रवर्तित क्रान्तिकारी दल के अन्तिम अग्रणी थे। इससे कुछ

---

१. सीतारमैया—"हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस" पृष्ठ ७३८–३९।

समय पहले इनका एक साथी चन्द्रशेखर आजाद इलाहाबाद के एल्फ्रेड पार्क में गोलियों का निशान बनाया जा चुका था।

अप्रैल में लॉर्ड अर्विन भारत से विदा हुआ और लॉर्ड विलिंगटन ने उसका स्थान ग्रहण किया। जान पड़ता है, लॉर्ड विलिंगटन आन्दोलन को कुचलने का दृढ़ निश्चय लेकर ही भारत आया था। गांधी-अर्विन समझौते से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि यह आन्दोलन लड़खड़ाने लगा है और इसको समाप्त करने के लिए केवल एक आघात की आवश्यकता है। कांग्रेस समझौते की शर्तों का पालन करती रही, परन्तु सरकार की दमन-नीति में कोई परिवर्तन न हुआ और कभी-कभी तो यह और भी बढ़ गई। गांधी जी ने सरकार के इस व्यवहार का प्रतिवाद किया, परन्तु कोई फल न हुआ। अन्त में उन्होंने ऐसी परिस्थितियों में लन्दन-सम्मेलन में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। लॉर्ड विलिंगडन पर इसका भी कोई प्रभाव न पड़ा। भारत-सरकार और कांग्रेस में सुलह कराने के लिए फिर से दौड़-धूप होने लगी। समझौते के इन प्रयत्नों का विस्तृत वर्णन यहाँ अनावश्यक ही होगा। अन्त में झगड़े की बातें दूर हो गईं और गांधी जी द्वितीय गोल मेज-सम्मेलन में भाग लेने वाले विविध व्यक्तित्वों की बहुरंगी भीड़ में शामिल हो गये; इन विविध व्यक्तित्वों में कुछ राजनीतिक संस्थाओं के प्रतिनिधि थे, कुछ साम्प्रदायिक संस्थाओं के और कुछ केवल अपना ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

द्वितीय गोल मेज-सम्मेलन और साम्प्रदायिक निर्णय—लन्दन के लिए रवाना होते समय जिन्ना ने बम्बई में 'टाइम्स ऑफ् इण्डिया' समाचार-पत्र के एक प्रतिनिधि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि "गोल मेज-सम्मेलन की सफलता या विफलता पूर्णतः हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के समाधान पर निर्भर है।" जिन्ना का यह कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ। यह सम्मेलन विफल रहा, क्योंकि इसमें विभिन्न दल पारस्परिक समझौते से साम्प्रदायिक प्रश्न को हल न कर सके। इस प्रश्न की प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि इस पर पारस्परिक समझौता सम्भव न था और फिर राज-सत्ता छीनी जानी थी अँगरेजों के हाथ से, जो अपनी कूटनीतिक चालों से इस प्रश्न को सदैव उलझाये रखने के लिए प्रयत्नशील थे।

भारत में फिर से हिन्दू-मुसलमान दंगों का बाजार गरम हो गया था। इनमें से कानपुर का दंगा सबसे भयंकर हुआ, जिसमें संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के एक माननीय सदस्य और एक हिन्दी पत्र के प्रख्यात सम्पादक श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी की निर्मम हत्या हुई। इस नृशंसतापूर्ण हत्या से जनता के क्रोध की सीमा न रही और वातावरण वैसा ही क्षुब्ध हो उठा जैसा स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या के

३३

पश्चात् हुआ था। समस्त उत्तर प्रदेश और थोड़े-बहुत अंश में सारा ही देश विद्यार्थी जी की हत्या के प्रतिशोध के लिए तड़प उठा। देश में साम्प्रदायिक वैमनस्य उग्र हो उठा। गांधी जी ने लॉर्ड विलिंगटन से राष्ट्रीय मुसलमानों के नेता डा० अन्सारी को मुस्लिम-प्रतिनिधि नियुक्त करने की प्रार्थना की। मुस्लिम लीग ने इसका घोर विरोध किया, क्योंकि वह अपने आप को ही मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था मानती थी।

गोल मेज-सम्मेलन की अल्पसंख्यक निर्णायक समिति में साम्प्रदायिक प्रश्न पर विभिन्न दलों के मतभेद स्पष्ट हो गये। भारत के राजनीतिक दल किसी ऐसे समझौते पर न पहुँच सके जो ब्रिटिश सरकार को मान्य होता। लॉर्ड मैकडानल्ड ने अल्पसंख्यकों के विषय में इस शर्त पर अपना निर्णय देना स्वीकार किया कि सभी दल इसको स्वीकार कर लें। मैकडानल्ड महाशय की इस कृपा का परिणाम हुआ 'साम्प्रदायिक निर्णय' (कम्यूनल-एवार्ड)। इसके साथ यह शर्त रखी गई कि यदि भारत के राजनीतिक दल एकमत होकर साम्प्रदायिक निर्णय के स्थान पर कोई अन्य सुझाव उपस्थित करेंगे तो उसको संविधान में सम्मिलित कर लिया जायगा। इस प्रकार द्वितीय गोल मेज-सम्मेलन भी विफल रहा। इसकी विफलता में आश्चर्य की कोई बात न थी। साम्प्रदायिक प्रश्न लन्दन या शिमला में हल नहीं हो सकता था, क्योंकि यहाँ अँगरेज पदाधिकारी पर्दे के पीछे से सूत्र-सञ्चालन कर, इस समस्या का समाधान असम्भव बना देते थे। सर एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि "गोल मेज-सम्मेलन के दौरान में, अधिक दुराग्रही मुसलमानों और कुछ विशेष जनतन्त्र-विरोधी ब्रिटिश राजनीतिक क्षेत्रों में स्पष्ट सुलह दिखाई देती थी। (इन दलों की) यह मित्रता भारत में सदा से प्रगति की बाधक बताई जाती रही है। मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि यह धारणा अधिकांश में सत्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पूर्व काल में हमने भारत में स्पष्टतः, 'फूट डाल कर शासन करने' की नीति से काम लिया था। वारेन हेस्टिंग्स के समय से; अँगरेज लोगों ने कभी उस प्रसन्नता को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया, जो उन्हें हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से प्राप्त होती थी, यहाँ तक कि मैलकॉम और मैटकाफ और ऐॅल्फिंस्टन जैसे लोगों ने भी अँगरेजों के लिए इस (संघर्ष) का मूल्य स्वीकार किया था।" मैकडानल्ड ने सम्मेलन को समाप्त करते हुए बड़े विलक्षण कूटनीतिक ढंग से फर्माया कि साम्प्रदायिक विरोध को देखत हुए "हिज मैजेस्टी की सरकार को यथासम्भव बुद्धिमत्ता एवं न्यायपूर्ण ढंग से यह निश्चय करना होगा कि अल्पसंख्यक वर्गों की उन प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के अबाध एवं अत्याचारपूर्ण प्रयोग से रक्षा करने के लिए जो पूर्णतः बहुसंख्यक वर्ग के माध्यम से ही कार्यान्वित होते हैं, संविधान में रोक-थाम की

क्या विधियाँ रखी जायँ।"[1] मैकडानल्ड के इन शब्दों में अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी जन-तन्त्र विरोधी माँगें उपस्थित करने का पर्याप्त संकेत मिल गया; ये वर्ग कांग्रेस की संयुक्त निर्वाचन और जनतान्त्रिक विधि की माँग का यह कह कर विरोध करने लगे कि ये माँगें तो हिन्दू-राज और हिन्दुओं के 'बर्बर बहुमत' की स्थापना के लिए हैं।

अगस्त, १९३२ ई० में भारत को साम्प्रदायिक निर्णय मिला, जो मिण्टो एवं आगाखाँ प्रतिनिधि-मण्डल से जन्म लेनेवाली विघटन की नीति के विकास का चरम बिन्दु था। इसका उद्देश्य था भारत में फूट डालना; इसमें पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र अर्थात् हिन्दू, मुसलमान सिक्ख, यूरोपीय इत्यादि जितने भी वर्गों की कल्पना सम्भव थी, उनके लिए सीटें सुरक्षित करने का पक्ष लिया गया था। इसमें स्त्रियों, मजदूरों, व्यापारी वर्ग, जमींदारों तथा अन्य निर्वाचनिकाओं के लिए सीटें सुरक्षित की गई थीं। इस निर्णय में हिन्दू-मुसलमानों में भेद उत्पन्न करने से ही सन्तुष्ट न होकर, हिन्दुओं में भी हरिजनों को पृथक् प्रतिनिधित्व देकर भेद किया गया था। गांधी जी भेद-नीति की इस पराकाष्ठा को सहन न कर सके; उन्होंने आमरण अनशन आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप 'पूना-समझौता' हुआ। इस समझौते के अनुसार परिगणित जातियों के लिए सीटें सुरक्षित तो की गईं, परन्तु निश्चय यह हुआ कि इनका चुनाव आम-चुनावों द्वारा नामों की उस सूची में से होगा, जो वे पहले एक उप-चुनाव में चुन लेंगे। सीटों का बँटवारा बहुत ही अप्रजातान्त्रिक था। इससे हिन्दुओं के हितों को बहुत आघात पहुँचाया गया था। इस निर्णय को जान-बूझ कर ऐसा बनाया गया था, जिससे हिन्दू-मुसलमान समझौता असम्भव हो जाय। इतने पर भी पण्डित मदनमोहन मालवीय और मौलाना शौकतअली ने हिन्दू-मुस्लिम समझौते के प्रयत्न किये; भारत-सरकार ने गांधी जी को मुक्त करने या उनके साथ मुलाकात करने की अनुमति देने से इनकार कर इन प्रयत्नों को विफल कर दिया। १९३३ ई० में इलाहाबाद में 'ऐक्य-सम्मेलन' में पुनः समझौते का प्रयत्न किया गया; यह भी विफल हुआ।

संघर्ष का पुनः आरम्भ—इँगलैण्ड से लौटते ही गांधी जी के सामने ऐसी विकट स्थिति उपस्थित हो गई कि हृदय से सम्मानपूर्ण समझौते के लिए उत्सुक होने पर भी उन्हें फिर से संघर्ष आरम्भ करने के लिए बाध्य होना पड़ा; क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई चारा न था। परन्तु भारत-सरकार, साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा

---

१. एडवर्ड टॉमसन "राइज़ ऐण्ड फुलफिलमेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इण्डिया" पृष्ठ ५०।

मुसलमानों का सहयोग प्राप्त कर लेने और कांग्रेस की दिन पर दिन बढ़ती हुई भीतरी फूट से अवगत होने के कारण, इस संघर्ष को सहन करने के लिए तैयार न थी। सरकार ने बहुत-से अध्यादेश (ऑर्डिनेन्स) जारी किये, जो जीवन की लगभग प्रत्येक क्रिया पर नियन्त्रण कर लेते थे। मार्च २४, १९३२ ई० को भारत-सचिव, सर सैमुएल होर ने लोक-सभा (हाउस ऑफ कामन्स) में कहा "मैं स्वीकार करता हूँ कि हमने जिन अध्यादेशों की स्वीकृति दी है, वे बहुत कठोर और नृशंसतापूर्ण हैं। वे भारतीय जीवन की लगभग प्रत्येक क्रिया को ढँक लेते हैं।" सरकार ने ४ जनवरी, १९३२ ई० को कांग्रेस को अवैध संस्था घोषित कर तथा गांधी जी और पटेल को बन्दी बना कर संघर्ष पर पहला आघात किया। पकड़-धकड़, जलूसों-हड़तालों और लाठी-प्रहारों का दौर शुरू हो गया। दमन की नृशंसता आन्दोलन के उत्साह से कहीं अधिक बढ़ गई। गांधी जी के २१ दिन के उपवास के फलस्वरूप सरकार ने उन्हें मई १९३३ ई० में मुक्त कर दिया। जेल से बाहर आते ही गांधी जी ने सविनय-अवज्ञा आन्दोलन को ६ सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया और सरकार को आमन्त्रण दिया कि वह राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर, देश में शान्ति स्थापित करने के लिए इस सुअवसर का लाभ उठाये। परन्तु सरकार टस से मस न हुई। गांधी जी के इस कार्य की बहुत से लोगों ने निन्दा की। विट्ठल भाई पटेल और सुभाषचन्द्र बोस ने वियाना से लिख भेजा कि 'गांधी जी ने सविनय-अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर, इसकी असफलता स्वीकार की है।'[1] ये नेता कांग्रेस का नये सिद्धान्तों पर संघटन करने का विचार करने लगे।

जेल से छूटने पर कांग्रेस-नेताओं की जुलाई १९३३ ई० में पूना में एक अनौपचारिक सभा हुई; इसमें सविनय-अवज्ञा आन्दोलन को चलाये रखने या समाप्त करने के प्रश्न पर बहुत मतभेद प्रकट हुआ। पूना-सम्मेलन ने महात्मा गांधी को अधिकार दिया कि वे वायसराय से भेंट कर समझौते का कोई मार्ग ढूँढ़ें। परन्तु वायसराय ने तब तक गांधी जी से भेंट करना भी अस्वीकार कर दिया, जब तक सविनय-अवज्ञा आन्दोलन बन्द न कर दिया जाय। वायसराय का यह रुख भारत का राष्ट्रीय अपमान था, संघर्ष जारी रखने के लिए साफ-साफ चुनौती थी; परन्तु स्थिति यह थी कि जन-आन्दोलन अब और अधिक समय तक जारी नहीं रखा जा सकता था। इस द्विविधा में गांधी जी ने सार्वजनिक सत्याग्रह को बन्द कर, व्यक्तिगत सत्याग्रह का उपाय ग्रहण किया।

इस समय तक कांग्रेस में भीतरी मतभेदों की खाई पर्याप्त गहरी हो गई थी।

---

१. सीतारमैया—"कांग्रेस का इतिहास" (अंगरेजी) पृष्ठ ९४२।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका के लिए चुनावों का समय समीप आ रहा था। अधिकांश जनता समझने लगी थी कि गांधी जी एक राजनीतिक नेता के रूप में विफल रहे हैं। इन लोगों को सत्याग्रह आन्दोलन जारी रखने में कोई तुक न दिखाई देता था। असंतोष की यह भावना मार्च १९३३ में दिल्ली में डा० अन्सारी के सभापतित्व में हुए कांग्रेस अधिवेशन में अखिल भारतीय स्वराज-पार्टी के पुनर्जीवन के रूप में व्यक्त हुई। कांग्रेस-पार्टी ने आगामी चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया। स्वयं गांधी जी भी अनुभव करने लगे कि व्यक्तिगत सत्याग्रह से भी काम चलनेवाला नहीं है; पटना से जारी किये गये अपने एक वक्तव्य में उन्होंने अपनी यह धारणा व्यक्त की। इस समय गांधी जी हरिजन-सुधार के लिए दौरा कर रहे थे; साम्प्रदायिक निर्णय के बाद से गांधी जी हरिजन सुधार की ओर प्रवृत्त हुए।

यहाँ पर गांधी जी के इस वक्तव्य के कुछ उद्धरण देने ठीक होंगे; इनसे पाठक समझ सकेंगे कि राजनीतिक ध्येय प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह आन्दोलन, एक राजनीतिक शस्त्र के रूप में कितना अनुपयुक्त था और १९३०-३४ ई० का सत्याग्रह आन्दोलन कितना सफल या विफल रहा। महात्मा गांधी ने इस वक्तव्य में कहा था—

"अब गंभीर चिन्तन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि इसको (सविनय-अवज्ञा आन्दोलन को) पूर्ण स्वराज की प्राप्ति के साधन के रूप में सफल होना है, तो वर्तमान परिस्थितियों में, फिलहाल, केवल एक व्यक्ति और वह भी केवल मैं ही, सविनय-अवज्ञा का उत्तरदायित्व ग्रहण करूँ।

"मैं अनुभव करता हूँ कि संवहन-प्रणाली की गड़बड़ी के कारण जनता को सत्याग्रह का पूर्ण सन्देश नहीं मिल पाया है। मुझे स्पष्ट ज्ञात हो गया है कि आध्यात्मिक साधनों की शिक्षा जब अनाध्यात्मिक माध्यमों द्वारा दी जाती है, तो इनकी शक्ति की क्षति होती है।" अन्त में, इस वक्तव्य में, गांधी जी ने कांग्रेसवालों को सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर देने का परामर्श दिया। गांधी जी का यह कदम बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण था, इससे कांग्रेस में सविनय-अवज्ञा आन्दोलन को जारी रखने के समर्थकों और इस आन्दोलन को पूर्णतः बन्द कर देने के समर्थकों में विरोध बढ़ने की नौबत न आने पाई। गांधी जी का यह परामर्श अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी ने मई १९३४ ई० में पटना में स्वीकार किया और इसी कमेटी ने आगामी चुनाव लड़ने के लिए पं० मदनमोहन मालवीय और डा० अन्सारी की अध्यक्षता में एक संसदीय-समिति (पार्लियामेंटरी बोर्ड) नियुक्त की।

भारत-सरकार कानून, १९३५ (गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट, १९३५)— संयुक्त-संसदीय-समिति (ज्वाइंट-पार्लियामेंटरी-कमेटी) का विवरण सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हो गया और तत्काल जनता का ध्यान इसकी व्यवस्थाओं की ओर

आकर्षित हुआ। कांग्रेस इसको पूर्णतः अस्वीकार कर देने के पक्ष में थी, क्योंकि यह कानून आत्म-निर्णय न हो कर अन्य व्यक्ति के निर्णय का फल था; परन्तु श्री जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का इस कानून के प्रति दूसरा ही भाव था। मुस्लिम लीग ने साम्प्रदायिक निर्णय को तव तक के लिए स्वीकार कर लिया जब तक इससे सम्वन्धित सम्प्रदायों की सहमति से कोई अन्य व्यवस्था प्रस्तुत न की जा सके। श्री जिन्ना ने प्रान्तीय योजना को कार्यान्वित करना स्वीकार कर लिया, परन्तु केन्द्रीय सरकार के निर्माण की योजना से वे अलग ही रहे। संयुक्त संसदीय-समिति के विवरण में रखे गये प्रस्ताव, थोड़े-वहुत हेर-फेर के साथ, पार्लियामेंट में भारत-सरकार कानून, १९३५ के नाम से पास हो गये और २० जुलाई को इस कानून को राजकीय स्वीकृति भी मिल गई।

१९३५ के कानून की व्यवस्थाएँ—१९३५ के कानून में जो संविधान प्रस्तुत किया गया था उसका स्वरूप संघात्मक था, जिसके अन्तर्गत भारतीय रियासतें और व्रिटिश-प्रान्त—सभी रखे गये थे; संघ की प्रत्येक इकाई अपने-अपने क्षेत्र में स्वायत्त रखी गई थी और संघ सरकार एवं संघ में सम्मिलित राज्यों के पारस्परिक झगड़ों के निपटारे के लिए संघ न्यायालय की व्यवस्था की गई थी।

भारतीय-संघ में गवर्नरों द्वारा शासित प्रान्त, भारतीय रियासतें और चीफ-कमिश्नरों द्वारा शासित प्रान्त सम्मिलित होने थे; इनमें से भारतीय रियासतों को संघ में सम्मिलित होने या न होने का विकल्प दिया गया था; गवर्नरों तथा चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों को यह अधिकार नहीं दिया गया था। संघ में सम्मिलित होने-वाली प्रत्येक रियासत को एक समायोजन अधिकार-पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने थे, जिसमें उन अधिकारों का उल्लेख किया जाना था, जिनको यह रियासत केन्द्रीय-सरकार को हस्तान्तरित करेगी और जिन अधिकारों से आगे केन्द्रीय सरकार का उस रियासत में कोई अधिकार न होगा; प्रान्तों के साथ यह वात नहीं रखी गई थी; उनके संवंध में संघ सरकार के अधिकार और कर्तव्य इस कानून में सूक्ष्मतया वतला दिये गये।

संघ की स्थापना तव की जानी थी जव रियासतों के शासक, जो रियासत की कुल जन-संख्या के कम से कम आधे का प्रतिनिधित्व करते हुए और संघीय उच्च भवन (फैडरल-अपर-चैम्वर) में रियासतों के लिए निर्धारित स्थानों में से कम से कम आधे स्थानों का अधिकार पाकर, संघ में समायुक्त (ऐक्सीड) हो जायँ और पार्लियामेंट के दोनों सदन (इँगलैण्ड के) राजा के सामने एक वक्तव्य प्रस्तुत कर दें, जिसमें राजा से भारतीय-संघ-राज्य की स्थापना की घोषणा करने का निवेदन किया गया हो।

संघ सरकार में संघीय-कार्यकारिणी और संघीय व्यवस्थापिका होनी थी।

संघीय कार्यकारिणी—१९३५ के कानून के अनुसार संघ सरकार का कार्यकारी-प्रधान (Executive head) हिज मैजेस्टी को माना गया था; हिज मैजेस्टी के अधिकारों का प्रयोग, उनकी ओर से गवर्नर-जनरल द्वारा किया जाना था और हिज मैजेस्टी के अधिकार उन सब बातों तक विस्तृत माने गये थे जिनके विषय में संघीय व्यवस्थापिका को कानून बनाने का अधिकार दिया गया था तथा सेना एकत्र करने और ऐसे अधिकारों का प्रयोग करने, जैसे कि संधियों, अनुदानों एवं परम्परागत प्रथाओं द्वारा हिज मैजेस्टी प्रयोग कर सकते थे तथा आदिवासी क्षेत्रों (Tribal Areas) के सम्बन्ध में सभी अधिकारों के प्रयोग करने तक भी हिज मैजेस्टी के अधिकार विस्तृत थे।

संघीय व्यवस्थापिका में दो सदनों की व्यवस्था की गई थी, जिनके नाम राज्य-परिषद् (Council of State) तथा संघ-सभा (Federal Assembly) रखे गये थे। राज्य-परिषद् में ब्रिटिश भारत के १५६ सदस्य और समायुक्त—रियासतों के १०४ सदस्य होने थे; संघ-सभा की सदस्य-संख्या ३७५ होनी थी, जिसमें १२५ सदस्य रियासतों के प्रतिनिधि होने थे। राज्य-परिषद् एक स्थायी संस्था मानी गई थी; इसके एक तिहाई सदस्यों को हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करना था। संघ-सभा का चुनाव साधारणतया पाँच वर्ष के लिए होना था; विशेष परिस्थिति में यह इस अवधि से पहले भी भंग हो सकती थी। विभिन्न वर्गों के सदस्यों की संख्या 'साम्प्रदायिक निर्णय' के अनुसार होनी थी। प्रान्तों में सदस्यों के चुनाव में भेद यह रखा गया था कि राज्य-परिषद् के लिए तो सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष विधि से होना था, परन्तु संघ-सभा के लिए अप्रत्यक्ष विधि से, रियासतों के सदस्य रियासत के शासक द्वारा मनोनीत किये जाने थे।

संघीय व्यवस्थापिका को गवर्नर-जनरल के अधिकारों एवं विशेष उत्तरदायित्वों के नियन्त्रण में रहते हुए उन सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार मिलना था, जो व्यवस्थापिका-सूची में उल्लिखित थे।

गवर्नर-जनरल के अधिकार दो प्रकार के रखे गये थे; पहले तो वे जिनका प्रयोग उसे अपने विवेक के अनुसार करना था और दूसरे वे जिनका प्रयोग उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करना था। पहले प्रकार के अधिकारों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल के मंत्रियों को उसे परामर्श देने का अधिकार नहीं था और गवर्नर-जनरल अपने मंत्रियों का परामर्श लेने के लिए बाध्य नहीं था। दूसरे प्रकार के अधिकारों के विषय में गवर्नर-जनरल के मंत्री उसे परामर्श दे सकते थे परन्तु वह उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था। दोनों प्रकार के अधिकारों

के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल सर्वोपरि, उत्तरदायित्व-रहित और अनुल्लंघ्य था।

गवर्नर-जनरल और रक्षित विषय—१९३५ के कानून में प्रान्तों में तो द्वैध-शासन (dyarchy) समाप्त किया गया था, परन्तु केन्द्र में इसकी व्यवस्था की गई थी। रक्षा, धर्मसंबंधी विषय तथा आदिवासी-क्षेत्र जैसे कुछ विषय 'रक्षित विषय' बताये गये थे; इन विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल पूरे-पूरे अधिकारों का उपयोग 'अपने विवेक के अनुसार' करने के लिए सर्वोपरि माना गया था। 'रक्षित विषयों' के सम्बन्ध में अपनी सहायता के लिए गवर्नर-जनरल अधिक से अधिक तीन मंत्री नियुक्त कर सकता था, जो केवल उसी के प्रति उत्तरदायी हों।

गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व—इस कानून में कुछ विषयों की सूची दी गई थी जिनको गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व बताया गया था; इन विषयों के संबंध में गवर्नर-जनरल को 'अपने विवेक के अनुसार' कार्य करना था। इस सूची में निम्नलिखित प्रकार के विषय रखे गये थे:—

(१) भारत या भारत के किसी भाग की शान्ति के लिए गम्भीर संकट को रोकना।

(२) संघ सरकार की आर्थिक दृढ़ता और साख को सुरक्षित करना।

(३) संघ सरकार के न्यायोचित हितों को सुरक्षित करना।

(४) अल्पसंख्यक वर्गों के न्यायोचित हितों की रक्षा करना।

(५) ऐसे कार्यों को रोकना जिनसे संयुक्तराज्य (Limited Kingdom) अथवा वर्मा की भारत में आयात वस्तुओं के प्रति भेदपूर्ण अथवा दण्डपूर्ण व्यवहार होने की आशंका हो।

इनके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को कुछ व्यवस्थापिका एवं संकटकालीन अधिकार मिलने थे।

व्यवस्थापिकाधिकार (Legislative-powers)—गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया था कि "वह इस बात का संतोष हो जाने पर कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, जिनमें उसके लिए तत्काल कदम उठाना आवश्यक हो गया है, तत्काल अध्यादेश (Ordinances) जारी कर सकता है। ये अध्यादेश भी दो श्रेणियों में विभक्त थे; पहले तो वे, जिनको गवर्नर-जनरल तब बनाये, जब व्यवस्थापिका का सत्र (Session) न चल रहा हो और जिनकी कार्यावधि व्यवस्थापिका का सत्र प्रारम्भ होते ही समाप्त हो जाये, यदि व्यवस्थापिका उनकी अवधि न बढ़ा दे; दूसरे वे जिनको वह व्यवस्थापिका के सत्र या इसकी इच्छा का ध्यान न रखते हुए बनाये। इसके अतिरिक्त, गवर्नर-जनरल को ऐसे विधेयकों (Bills) की व्यवस्था करने का भी अधिकार दिया गया था जिन्हें वह गवर्नर-जनरल के कानून के रूप में

आवश्यक समझे। व्यवस्थापिका द्वारा पास किया हुआ कोई भी विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकता था, जब तक गवर्नर-जनरल इस पर अपनी स्वीकृति न दे दे; गवर्नर-जनरल अपने विवेक के अनुसार अपनी स्वीकृति दे सकता था या देने से इनकार कर सकता था अथवा विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापिस कर सकता था या हिज मैजेस्टी के अनुग्रह के लिए इसे रोक सकता था। वह किसी भी विधेयक या विधेयक के अंश पर विचार-विमर्श इस आधार पर रोक सकता था कि यह उसके विशेष उत्तरदायित्वों के निर्वाह में बाधक है। संकटकालीन स्थिति में गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह एक घोषणा द्वारा संविधान को स्थगित कर दे और स्वयं संघ सरकार के अधिकार ग्रहण कर ले।

मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers)—गवर्नर-जनरल की सहायता और परामर्श के लिए, उसके द्वारा चुने हुए अधिक से अधिक दस सदस्यों की एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई थी। गवर्नर-जनरल उनका परामर्श मानने के लिए बाध्य नहीं था। ये लोग तभी तक अपने पद पर रह सकते थे, जब तक गवर्नर-जनरल उनको रखना चाहे। यह व्यवस्था कार्यकारिणी में लोकप्रिय तत्त्वों के सन्निवेश के लिए की गई थी।

प्रान्तीय-सरकारें—१९३५ के कानून में प्रान्तों को केन्द्र से सर्वथा स्वतन्त्र रखा गया था; प्रान्त किसी प्रकार केन्द्र के अधीन न थे, प्रत्येक के अधिकार कानून में उल्लिखित थे। प्रान्तीय सरकारों का स्वरूप बहुत कुछ केन्द्रीय सरकार के समान था; अन्तर यही था कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका में रियासतों के सदस्य न थे और कुछ प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में केवल एक सदन था; यहाँ गवर्नर के 'रक्षित-विषय' नहीं रखे गये थे और उसके विशेष उत्तरदायित्वों की सूची में भी कुछ परिवर्तन किया गया था।

प्रान्तीय कार्यकारणी—प्रान्त की कार्यकारिणी-सत्ता का प्रयोग हिज मैजेस्टी की ओर से गवर्नर द्वारा किया जाना था और यह सत्ता उन विषयों तक सीमित थी, जिनके विषय में व्यवस्थापिका को कानून बनाने का अधिकार था।

प्रान्तीय मन्त्रि-परिषद्—अपनी सहायता और परामर्श के लिए गवर्नर को एक मंत्रि-परिषद् नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था, जिसके सदस्यों का चुनाव उसे स्वयं करना था और ये लोग तभी तक अपने पद पर रह सकते थे, जब तक गवर्नर उन्हें रहने देना चाहे। यद्यपि मंत्रियों को मनोनीत करना पूर्णतया गवर्नर के विवेक पर छोड़ दिया गया था, परन्तु साथ ही उसको निर्देश ये दिये गये थे कि वह व्यवस्थापिका में सुदृढ़ बहुमत का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति के परामर्श से मंत्री मनोनीत करे, और "उन लोगों को नियुक्त करे (इनमें जहां तक संभव हो प्रमुख

अल्पसंख्यक वर्गों के सदस्य भी शामिल किये जायें) जो व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त करने की स्थिति में हों। परन्तु ऐसा करने में वह मंत्रियों में संयुक्त उत्तर-दायित्व की भावना विकसित करने की आवश्यकता का हमेशा ध्यान रखे।" गवर्नर अपने मंत्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए वाध्य न था और उसके किसी कार्य पर कभी भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता था।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व और अधिकार—इस कानून में गवर्नर के कुछ विशेष उत्तरदायित्व गिनाये गये थे, जिनको निभाने में उसे अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का अधिकार था, अर्थात् इनके सम्बन्ध में वह मंत्रियों से परामर्श करने के लिए वाध्य नहीं था। कुछ विशेष उत्तरदायित्व ये थे :—

(१) प्रान्त या प्रान्त के किसी भाग की सुख-शांति के लिए घातक वातों को रोकना।

(२) अल्पसंख्यकों के न्यायोचित हितों की रक्षा करना।

(३) सरकारी कर्मचारियों के हितों की रक्षा करना।

(४) अंशतः वहिर्गत क्षेत्रों में शांति और सुशासन वनाये रखना।

(५) देशी रियासतों तथा उनके शासकों के अधिकार और सम्मान की रक्षा करना।

(६) गवर्नर-जनरल द्वारा अपने विवेक के अनुसार दिये गये आदेशों एवं निर्देशों का पालन कराना।

(७) गवर्नर को अधिकार था कि वह अपने विवेक के अनुसार ऐसे नियम वना सकेगा जिनसे आतंकवादियों के सम्बन्ध में खुफिया-विभाग की सूचनाएँ उन व्यक्तियों के अतिरिक्त और किसी के पास न पहुँचने पायें, जिनका गवर्नर ने निर्देश किया हो।

गवर्नर के अधिकार—इस कानून में गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार अध्यादेश जारी करने और यह निश्चय हो जाने पर कि नया संविधान प्रान्त में और अधिक समय तक नहीं चलाया जा सकता, एक घोषणा द्वारा प्रान्त का समस्त शासन अपने हाथ में ले लेने का अधिकार दिया गया था। ऐसी घोषणा में गवर्नर-जनरल की सहमति अनिवार्यतः आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त गवर्नर को अपने कर्तव्यों का संतोषजनक रूप से निर्वाह करने के लिए आवश्यक प्रतीत होनेवाले कानून वनाने का भी अधिकार दिया गया था; ये कानून भी उतने हीं मान्य होते थे जैसे अन्य कानून। प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा पास किया हुआ कोई भी विधेयक तव तक कानून नहीं वन सकता था, जव तक गवर्नर उस पर अपनी अनुमति न दे दे। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार किसी विधेयक पर अपनी अनुमति देना अस्वी-

कार कर सकता था या पुनर्विचार के लिए अथवा समुचित संशोधनों के साथ इसको वापिस कर सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका—प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सभी सदस्य, उच्च सदन (Upper House) में कुछ स्थानों को छोड़कर, निर्वाचित होने थे। मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त-प्रान्त (वर्तमान उत्तर-प्रदेश), बिहार और आसाम की व्यवस्थापिकाओं में दो सदनों की व्यवस्था की गई थी; अन्य प्रान्तों में व्यवस्थापिका में केवल एक ही सदन होना था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं को उन सभी विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार था जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सूची में गिनाये गये थे। व्यवस्थापिका-सभा का चुनाव पाँच वर्ष के लिए होना था; विशेष परिस्थिति में यह इससे पहले भी भंग की जा सकती थी। व्यवस्थापिका-परिषद् (Legislative Council) को एक स्थायी संस्था के रूप में कार्य करना था; इसके एक तिहाई सदस्यों को हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करना था। दोनों सदनों के सदस्य साम्प्रदायिक-निर्णय के अनुसार चुने जाने थे। अर्थ-संबंधी विधेयकों (Money bills) के अतिरिक्त अन्य सभी मामलों में दोनों सदनों के अधिकार समान थे; अर्थ-संबंधी विधेयक निम्न सदन (Lower House) में प्रस्तुत किये जाने वाले थे।

१९३५ के कानून में अर्थ-व्यवस्था—राजस्व के विभिन्न स्रोतों को आय-कर इत्यादि कुछ करों को छोड़ कर, केन्द्र एवं प्रान्तों में बाँटा गया था। केन्द्र एवं प्रान्त, दोनों में बजट को दो भागों में बांटा गया था, मतापेक्षी (votable) और अमतापेक्षी (Non-votable)। व्यवस्थापिका के सदस्यों को बजट पर मत देने, इसकी किसी भी मद को अस्वीकार करने या कम करने का अधिकार था; परन्तु गवर्नर-जनरल एवं गवर्नरों को इन अस्वीकृत या कम की हुई राशियों को फिर से मूल रूप में स्वीकार करने का अधिकार था ;और इस अंतिम रूप में बजट मत लिये बिना पास किया जाना था।

विषयों का विभाजन—प्रत्येक संघ-राज्य में शासन-सम्बन्धी विषयों का संघ-सरकार एवं इसमें सम्मिलित राज्यों में विभाजन किया जाता है। १९३५ के कानून में यह विभाजन तीन सूचियों में किया गया था, संघीय सूची, प्रान्तीय सूची और सहायक सूची (Concurrent list)

संघीय सूची—इस सूची में वे सब विषय गिनाये गये थे, जिनके संबंध में संघीय व्यवस्थापिका कानून बना सकती थी। इनमें वे सब विषय आ जाते थे जो अखिल भारतीय हित के थे और जिन पर एक शासकीय सत्ता का होना लाभकर था। सेना, मुद्रा-विभाग, डाक और तार-विभाग, केन्द्रीय सेवा-आयोग,

रेलवे इत्यादि विषय संघीय सूची में रखे गये थे। इस सूची में कुल मिला कर ५९ विषय थे।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सूची--प्रान्तीय सूची में प्रान्तीय और स्थानीय हितों से संबंधित विषय रखे गये थे, जैसे— शिक्षा, भूमि-कर, शान्ति और व्यवस्था, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय शासन, प्रान्तीय सेवा-आयोग, आवकारी-कर इत्यादि। इस सूची में सव मिला कर ५४ विषय थे।

सहायक सूची--इस सूची में ऐसे विषय रखे गये थे, जिन पर संघीय और प्रान्तीय दोनों व्यवस्थापिकाओं को कानून वनाने का अधिकार था। दोनों में टक्कर होने पर संघीय व्यवस्थापिका का कानून मान्य होना था। इस सूची में फौजदारी कानून और दंड-विधान, दीवानी प्रक्रिया (Civil Procodure), उत्तराधिकार, तलाक इत्यादि संवंधी विधेयक जैसे विषय रखे गये थे। कुल मिला कर इसमें ३६ विषय थे।

अवशिष्टाधिकार (Residuary Powers)—इस कानून में व्यवस्था की गई थी कि जो विषय इन तीनों सूचियों में न आ पाये हों उनके संबंध में संघीय सरकार कानून वना सकती है और किसी विषय के संबंध में यह विवाद उठने पर कि वह किस सूची के अन्तर्गत माना जाये, संघीय न्यायालय का निर्णय मान्य होगा।

संघीय न्यायालय—इस कानून में एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गई थी; यह न्यायालय दिल्ली में अवस्थित होना था; इसमें एक प्रधान न्यायाधीश और ६ अन्य न्यायाधीश होने थे। इसका प्रधान न्यायाधीश ही भारत का प्रधान न्यायाधीश माना जाना था। इस न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में मौलिक, अपील-संबंधी तथा परामर्श-संवंधी मामले आते थे। मौलिक मामलों में इसके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत वे मामले थे, जिनका सम्वन्ध संविधान की व्याख्या से हो यथा यह विवाद कि कोई विषय केन्द्रीय सूची में समझा जाना चाहिए या प्रान्तीय सूची में। अपील के मामलों में इसके अधिकार-क्षेत्र में वे मामले आते थे जो भारतीय उच्च न्यायालयों के ऐसे मामलों के निर्णयों की अपील हों जिनके विषय में उच्च न्यायालय ने यह मान्यता प्रकट की हो कि इस मामले का संबंध १९३५ के कानून की व्याख्या से है। संघीय न्यायालय का परामर्श का अधिकार-क्षेत्र उन कानूनी विषयों तक विस्तृत था जिनके विषय में गवर्नर-जनरल ने संघीय न्यायालय का परामर्श माँगा हो।

राज्य-सचिव की मन्त्रि-परिषद्—राज्य-परिषद् (Council of state) के विषय में वहुत लम्वे अर्से से वड़ी तीव्र आलोचना हो रही थी। १९३५ के कानून में राज्य-परिषद् को समाप्त कर राज्य-सचिव को अधिकार दिया गया कि वह अधिक

से अधिक ६ और कम-से-कम तीन मंत्री नियुक्त कर सकता है जो उसको उन विषयों में परामर्श दें, जिन पर वह उनसे परामर्श लेना चाहे। राज्य-सचिव न तो इन मंत्रियों के सामने किसी समस्या को उपस्थित करने के लिए वाध्य था और न इनके परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए ही। इस परिवर्तन से राज्य-सचिव पहले से भी अधिक शक्तिशाली बन गया।

१९३५ के कानून की समीक्षा—संक्षेप में १९३५ के कानून की यह रूपरेखा थी। इसकी व्यवस्थाओं की और विशेषतया इसमें जो रियासतों की निरंकुशता को प्रान्तों के जनतन्त्रात्मक शासन के साथ संयुक्त कर दिया गया था और गवर्नर-जनरल एवं गवर्नर को जो विस्तृत अधिकार दिये गये थे, उनकी तीव्र आलोचना हुई। यद्यपि इसका ढाँचा संघीय आधार पर खड़ा किया गया था, परन्तु वस्तुतः इसका आधार पिछले संवैधानिक कानूनों के आधार से भिन्न न था। तव भी यह कानून १९१९ के कानून से पर्याप्त मात्रा में आगे वढ़ा हुआ था। इस नये संविधान का संघीय-भाग कभी भी कार्यान्वित न किया गया और अन्ततः १९३९ ई० में विश्व-युद्ध के छिड़ने पर वंद कर दिया गया। प्रान्तीय शासन-संवंधी इसकी व्यवस्थाएँ १९३७ में सक्रिय हुईं।

चुनाव तथा मन्त्रि-मण्डलों का निर्माण—नये कानून के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के चुनाव १९३६-३७ ई० में हुए। कांग्रेस और लीग दोनों ने चुनाव लड़े; लीग का चुनाव लड़ने का उद्देश्य था प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं से यथासंभव लाभ उठाना। परन्तु कांग्रेस के सामने व्यवस्थापिकाओं में पद-स्वीकार करने का कोई स्पष्ट विचार न था। इन चुनावों में कांग्रेस की अत्यधिक लोक-प्रियता और साथ ही साम्प्रदायिक भावनाओं की कटुता व्यक्त हुई। आम-निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस की सर्वत्र भारी वहुमत से विजय हुई, परन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचनिकाओं में लीग की सफलता भी कम शानदार न थी। मुसलमान सीटों पर कांग्रेसी मुसलमानों को खड़े करने का कांग्रेस का प्रयत्न स्पष्टतः विफल हुआ; मुस्लिम लीग के उम्मीदवार विजयी हुए। कांग्रेस के इस प्रयत्न से कांग्रेस और लीग की पारस्परिक भावनाओं में कटुता और भी वढ़ गई।

मन्त्रिमण्डलों का निर्माण—मद्रास, विहार, उड़ीसा, मध्य-प्रान्त तथा संयुक्त प्रान्त में कांग्रेस का पूर्ण वहुमत रहा; बम्वई, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, बंगाल और आसाम में कांग्रेस ही एकमात्र ऐसा दल था जिसके निर्वाचित सदस्यों की संख्या सब से अधिक थी और जिसके सहयोग अथवा तटस्थता के बिना वहाँ कोई मंत्रिमंडल न बन सकता था। मुस्लिम लीग किसी भी प्रान्त में, यहाँ तक कि मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रान्तों में भी अपने मंत्रिमंडल बनाने की स्थिति में न थी।

व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विताओं और ईर्ष्याओं से मुसलमान राजनीति छिन्न-भिन्न हो रही थी। अब पद-स्वीकृति का प्रश्न बहुत जोर पकड़ गया। कांग्रेस ही मंत्रिमंडल बना सकती थी और प्रान्तीय योजना को कार्यान्वित कर सकती थी। परन्तु उसने तब तक पद-भार ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया जब तक यह आश्वासन न दिया जाय कि गवर्नरों के असाधारण एवं विशेष अधिकारों का उपयोग न किया जायेगा। यह आश्वासन देने के लिए न तो वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो तैयार था और न राज्य-सचिव लॉर्ड जेटलैण्ड ही; परिणाम यह हुआ कि काँग्रेस ने पद-भार ग्रहण न किया। लॉर्ड जेटलैण्ड ने, कांग्रेस और लीग के वैमनस्य को और भी बढ़ाने की चेष्टा के रूप में, गवर्नर के विशेषाधिकारों के उपयोग न किये जाने की कांग्रेस की माँग को अस्वीकार करते हुए उस स्थिति की ओर संकेत किया जो कांग्रेस के अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के विरुद्ध कार्य करने से उत्पन्न हो सकती है। लार्ड जेटलैण्ड के शब्द ये थे "मंत्रिमंडल द्वारा अल्पसंख्यक-वर्ग की पाठशालाओं की संख्या का कम कर दिया जाना, कांग्रेस की योजना में स्पष्टत: सम्मिलित हो सकेगा, क्योंकि यह कार्य विधि-सम्मत होगा और इसको सदैव वैधानिक कार्य के अतिरिक्त और कुछ भी न बताया जा सकेगा। इस प्रकार गवर्नर अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा करने के लिए स्वतन्त्र न रह जायेगा। क्योंकि यह अनुभव किया गया कि नये संविधान में इस प्रकार का (अल्पसंख्यक वर्ग के लिए अहितकर) कार्य संभव हो जायगा, ठीक इसीलिए इसमें (१९३५ के कानून में) पार्लियामेंट ने (गवर्नर के विशेषाधिकार जैसे) बचाव रखे।" राज्य-सचिव के इस वक्तव्य का मनचाहा प्रभाव हुआ। मुसलमानों को संदेह हो गया कि कांग्रेस जो आश्वासनों की माँग कर रही है, वह उनके हितों को कुचलने के लिए ही। उधर कांग्रेस ने इस आश्वासन के बिना मंत्रिमंडल बनाना स्वीकार न किया। कांग्रेस के बिना मंत्रिमंडल बनाने के जो प्रयत्न हुए वे विफल रहे। आखिर कांग्रेस और सरकार में समझौता हो गया। वायसराय ने जून १९३७ के अपने वक्तव्य में कांग्रेस को आश्वासन दिया कि गवर्नर प्रान्त के दिन-प्रति दिन के शासन में हस्तक्षेप न करेंगे। अब कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाना स्वीकार कर लिया और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मद्रास और बम्बई इन सात प्रान्तों में अपने मंत्रिमंडल बनाये। कुछ समय बाद इसने सिन्ध और आसाम में संयुक्त मंत्रिमंडल बना लिया। काँग्रेस ने उन प्रान्तों में, जहाँ उसका स्पष्ट बहुमत था, लीग के साथ मिलकर मंत्रिमंडल बनाना अस्वीकार कर दिया, जिसका लीग की राजनीति पर बहुत प्रभाव हुआ। इससे मुसलमान झुंझला उठे और वे विरोधी बेंचों से बहुत से कल्पित अत्याचारों की बात कर कांग्रेसी मंत्रियों को अल्पसंख्यक वर्गों के विरुद्ध की इच्छा रखनेवाले निरंकुश-

शासकों के रूप में चित्रित करने लगे। इन झूठे आरोपों से साम्प्रदायिक आग भड़क उठी, जिसके परिणामस्वरूप जगह-जगह दंगे होने लगे, जिनसे लीग के प्रचारकों ने अपना उल्लू सीधा करने का खूब प्रयत्न किया। मुहम्मदअली जिन्ना साहिब समझने लगे थे कि लीग ही मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है और वही लीग के एकमात्र प्रतिनिधि हैं। कांग्रेस मंत्रिमंडल में राष्ट्रीय मुसलमानों का सम्मिलित किया जाना उन्हें सह्य न हुआ। इन मुसलमानों को वे जाति-द्रोही और कांग्रेस के हाथ की कठपुतली कहकर वदनाम करने लगे। कांग्रेस में उनकी स्थिति जिन्ना साहब को इसलिए अखर रही थी, क्योंकि इससे लीग का मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था होने का दावा टिक न पाता था और इससे लीग के प्रति मुसलमानों की निष्ठा भंग होने का भय था। इसी कारण वे कांग्रेस का मुसलमान जनता से सम्पर्क वढ़ाना भी सहन न कर पाते थे। लीग और स्वयं अपने प्रति मुसलमानों में निष्ठा उत्पन्न करने के लिए जिन्नासाहब मुसलमानों में हिन्दुओं एवं कांग्रेस के प्रति घृणा का भाव भरने की चेष्टा में लगे थे; कांग्रेस को वे हिन्दुओं की संस्था वताते थे, मुसलमानों में यह झूठा भय उत्पन्न कर रहे थे कि उनका धर्म और उनकी संस्कृति खतरे में है और उन्हें उपदेश दे रहे थे कि वे इस्लाम की रक्षा के लिए लीग के झंडे के नीचे एकत्र हो जायें। श्री जिन्ना ने बड़े परिश्रम से कांग्रेस के अत्याचारों की एक मनगढ़न्त सूची तैयार कर ली थी और वे इसका देश भर में प्रचार कर रहे थे। उसके इन सब प्रयत्नों से मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना भड़क उठी और जिन्ना का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। मुस्लिम लीग के २० मार्च १९३८ के एक प्रस्ताव के अनुसार, कांग्रेस के मुसलमानों के प्रति साधारण रूप से और विशेषकर लीगियों के प्रति किये गये अन्यायों और अत्याचारों की जाँच करने के लिए संयुक्त-प्रान्त की मीरपुर रियासत के राजा की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त की गई। बतलाया जा रहा था कि लीग के केन्द्रीय कार्यालय में कांग्रेस के अत्याचारों की सूचनाएँ नित्यप्रति आ रही हैं। मीरपुर के राजा ने आठ महीने वाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में लीग का मंतव्य पूर्ण किया गया था। लीग के कांग्रेस-विरोधी प्रचार को वास्तविकता का वाना पहनाने और पुष्ट करने की एक गहरी चाल थी। इस रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही साम्प्रदायिक विद्वेष का पारा एक बार फिर गरम हो उठा। कांग्रेस इन तथाकथित अत्याचारों को झूठा सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करती रही, परन्तु, जनता पर जो प्रभाव पड़ गया था, वह धुल न सका। कांग्रेस के तत्कालीन प्रधान डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इन आरोपों की जाँच के लिए एक निष्पक्ष जाँच-समिति स्थापित करने का सुझाव रखा और सर मौरिस ग्वायर को इसका अध्यक्ष बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु जिन्ना तो निष्पक्ष जाँच चाहता ही

न था। वह तो कांग्रेस पर झूठे-सच्चे आरोप लगा कर साम्प्रदायिक आग को भड़-काना चाहता था और इसमें वह पूर्णतः सफल भी हुआ।

वास्तव में कांग्रेस अपने आप को एक राष्ट्रीय और असाम्प्रदायिक संस्था जतलाने के लिए प्रायः बहुसंख्यक वर्ग के हितों को कुचल देती थी और इस प्रकार हिन्दू-महासभा की उग्र आलोचना का शिकार बन जाती थी। लीग का प्रभाव बढ़ने और इसको शान्त करने के कांग्रेस के प्रयत्नों के साथ-साथ हिन्दू-महासभा एवं अन्य हिन्दू संघटन भी जोर पकड़ने लगे थे। महात्मा गांधी और कांग्रेस पर मुस-लमानों के पक्षपाती होने का दोष लगाया जाने लगा और हिन्दुओं में कांग्रेस की लोक-प्रियता बहुत कुछ कम हो गई।

हिन्दू-मुसलमान समझौते के प्रयत्न बार-बार किये गये, परन्तु हमेशा ही ये विफल होते रहे; क्योंकि हर बार जिन्ना साहिब की माँगें पहले से बढ़ती ही जाती थीं, अन्ततः उन्होंने वह रुख अपनाया जिससे किसी भी प्रकार का समझौता असंभव हो गया। उन्होंने मार्च, १९३८ के अपने एक पत्र में महात्मा गांधी को लिखा, "हम एक ऐसी स्थिति पर पहुँच गये हैं, जहाँ कोई संदेह बाकी न रह जाना चाहिए। तुम मान लो कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग भारतीय मुसलमानों की एकमात्र अधिकृत और प्रतिनिधि संस्था है और दूसरी ओर तुम कांग्रेस तथा देश के समस्त हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करते हो। इसी आधार पर हम आगे बढ़ सकते हैं और समाधान का उपाय खोज सकते हैं।"* कांग्रेस के लिए ऐसी स्थिति स्वीकार करना अपने अस्तित्व को ही बलि चढ़ाना था और अपने उस स्वरूप को त्यागना था जिसको वह पिछले पचास वर्षों से ग्रहण किये हुए थी। कांग्रेस लीग को मुसलमानों की सब-से बड़ी प्रतिनिधि संस्था मानने को तैयार थी, परन्तु उसे एकमात्र संस्था नहीं मान सकती थी। वह राष्ट्रीय मुसलमानों अथवा सीमा-प्रान्त के खुदाई खिदमतगारों को भुला नहीं सकती थी। परन्तु जिन्ना इस स्थिति से एक इंच भी खिसकने को तैयार न था और इस तात्विक भेद के कारण कभी भी कांग्रेस-लीग समझौता न हो सका। समझौते के प्रयत्नों की प्रत्येक विफलता साम्प्रदायिक कटुता को बढ़ाने लगी, क्योंकि प्रत्येक अवसर पर दोनों पक्षों के पत्र प्रकाशित होते थे, जिनमें कांग्रेस जिन्ना पर दुराग्रही होने का दोष लगाती थी तो जिन्ना कांग्रेस पर लीग को मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था न मान कर मुसलमानों में फूट डालने का दोष लगाता था। विश्व-युद्ध छिड़ जाने पर कांग्रेस ने लीग के साथ समझौता करने का हार्दिक प्रयत्न किया, परन्तु यह भी विफल हुआ और जवाहरलाल नेहरू को दिसम्बर, १९३९ में

---

*राजेन्द्र प्रसाद—"इण्डिया डिवाइडेड" पृ० १४२।

बड़ी करुणापूर्ण निराशा के साथ लिखना पड़ा; "अभाग्यवश, हम समस्याओं पर उचित विचार-विमर्श की स्थिति तक पहुँचते हुए भी प्रतीत नहीं होते, क्योंकि हमारे मार्ग में पूर्वाग्रहों के रूप में अनेक बाधाएँ बीच में घुस आती हैं। क्योंकि ये बाधाएँ बनी हुई हैं और इनके साथ-साथ अन्य बाधाएँ भी सम्मिलित की जा रही हैं, इसलिए मुझे यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि वास्तविक कठिनाई हमारी राजनीतिक दृष्टि और उद्देश्यों की भिन्नता में है।" जैसा कि हम अभी देखेंगे, वस्तुस्थिति यही थी।

महायुद्ध और भारतीय राजनीति—बहुत समय से एक यूरोपीय युद्ध की चर्चा हो रही थी, और आशंका थी कि यह युद्ध कहीं विश्व-युद्ध न बन जाये। आखिर नाजी जर्मनी के पोलैण्ड पर आक्रमण के साथ यह युद्ध छिड़ गया। इँगलैण्ड ने ३ सितम्बर, १९३९ को युद्ध की घोषणा की और इसी समय भारत ने भी जर्मनी और उसके सहायक राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। भारत के निर्वाचित प्रतिनिधियों का परामर्श लिये बिना ही भारत की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देना भारत का घोर अपमान था और इस बात का स्मरण दिलाता था कि भारत अभी भी गुलाम है। युद्ध की संभावना के समय में युद्ध के वस्तुतः छिड़ जाने के पहले ही कांग्रेस ने "भारत पर किसी युद्ध को लादने तथा उसके साधनों को भारतीय जनता की स्वीकृति के बिना किसी युद्ध में लगाने के प्रयत्नों का विरोध करने" का प्रस्ताव पास कर लिया था। इसी उद्देश्य को आगे बढ़ाते हुए कांग्रेस कार्य-समिति ने १५ सितम्बर, १९३९ को घोषणा की "भारत के लिए युद्ध और शान्ति की समस्याओं का निर्णय भारतीय जनता द्वारा होना चाहिए।" इस प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार से कहा गया था कि वह असंदिग्ध शब्दों में घोषणा कर दे कि जनतन्त्र और साम्राज्य-वाद तथा प्रत्याशित नये संविधान के विषय में उसके लक्ष्य क्या हैं।

इस स्थिति में गवर्नर-जनरल के सामने जो समस्या उत्पन्न हुई वह कोमल अवश्य थी, परन्तु कठिन न थी। कांग्रेस-लीग के विरोधों को बढ़ाने की अपनी योग्यता में उसे कोई सन्देह न था। वह किसी भी भावी आन्दोलन को कुचलने के लिए पूर्णतः तैयार था और भली भाँति जानता था कि धन का लोभ सहस्रों भारतीयों को ब्रिटिश सरकार की ओर खींच लायेगा और सरकार को युद्ध-सामग्री का अभाव न रहेगा।

लॉर्ड लिनलिथगो ने सबसे पहले यह किया कि ११ सितम्बर को एक घोषणा द्वारा केन्द्र में संघ-सरकार की योजना भंग कर दी। वायसराय की इस घोषणा का उद्देश्य लीग को प्रसन्न करना था, जो कि संघ-व्यवस्था की घोर विरोधी थी और साथ ही केन्द्र में १९१९ के कानून के अनुसार शासन-व्यवस्था बनाये रखना भी

था। इस घोषणा से लीग ने बहुत संतोष प्रकट किया और यह माँग रखी कि भारत की संवैधानिक समस्या पर नये सिरे से विचार किया जाये तथा लीग को आश्वासन दिया जाये कि उसकी स्वीकृति और अनुमति के बिना भारत में कोई नई संवैधानिक प्रगति न की जायगी और उसकी स्वीकृति एवं अनुमति के बिना हिज मैजेस्टी की सरकार या ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत के लिए कोई नया संविधान न बनायेगी और न अन्तिम रूप से स्वीकार करेगी। वास्तव में इस प्रस्ताव में लीग के लिए संवैधानिक विषयों पर विशेषाधिकार की माँग की गई थी।

परन्तु कांग्रेस को अपने पक्ष में करना लिनलिथगो को काफी कठिन कार्य जान पड़ा। पहले तो उसने एक कूटनीतिक चाल चली। उसने गांधी जी को आमन्त्रित किया; परन्तु गांधी जी इस चाल की पकड़ में आनेवाले व्यक्ति न थे; उन्होंने वायसराय को सहायता का वचन न दिया, इस समय जवाहरलाल नेहरू जो कांग्रेस-क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के ज्ञान के लिए विख्यात थे, चीन गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति में गांधी जी किसी बात के लिए वचन बद्ध न हुए। गांधी जी ने अपनी व्यक्तिगत नैतिक सहायता का अवश्य वचन दिया और बहुत समय तक गांधी जी की यह सम्मति रही कि भारत-सरकार के सामरिक प्रयासों में रोड़े न अटकाये जायें तथा मंत्रिमंडल पूर्ववत् कार्य करते रहें। गांधी जी की यह सम्मति देश की आन्तरिक स्थिति और कांग्रेस की सीमाओं का फल थी। हाल में ही सुभाष-चन्द्र बोस ने कांग्रेस से अलग होकर 'फारवर्ड ब्लाक' के नाम से अपना अलग दल बना लिया था, जिससे कांग्रेस काफी कमजोर हो गई थी। गांधी जीजानते थे कि मुस्लिम लीग सरकार के साथ अवश्य ही सहयोग करेगी। वे यह भी जानते थे कि हजारों भारतीय युवक सेना में भर्ती होंगे और इनसे भी अधिक भारतीय बहती गंगा में हाथ धोने के लिए सरकार के साथ सहयोग करेंगे। ऐसी स्थिति में यदि कांग्रेस ने अपनी माँगें पूरी न किये जाने पर असहयोग की घोषणा की तो जनता कहाँ तक उसका साथ देगी। क्या यह अधिक हितकर न होगा कि सरकार को नैतिक सहायता पहुँचाई जाये, मंत्रिमंडल अपने पदों पर बने रहें और सरकार से औपनिवेशिक स्वराज्य का वचन ले लिया जाये; यदि कांग्रेस नेसरकार की सहायता की तो उसे अपना यह वचन पूरा करने के लिए नैतिक रूप से तो बाध्य होना ही पड़ेगा। इस प्रकार के तर्क-वितर्क से गांधी जी इस परिणाम पर पहुँचे कि सरकार की नैतिक सहायता की जानी चाहिए; काँग्रेस को उन्होंने यही परामर्श दिया। परन्तु तब काँग्रेस में गांधी जी का यह परामर्श सुनने को कोई तैयार न था। कांग्रेस के अधिकांश सदस्य जवाहरलाल नेहरू का अनुसरण करते हुए इस मत के थे कि यदि भारत को युद्ध में सहयोग करना है तो उसे मुक्त

हृदय से सहयोग करना चाहिए और भारत तभी मुक्त हृदय से सहयोग कर सकेगा, जब उसे यह ज्ञात करा दिया जाय कि इस युद्ध का उद्देश्य क्या है, भविष्य का चित्र क्या होगा और इस चित्र में भारत की स्थिति क्या होगी? कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक युद्ध-उप-समिति नियुक्त की, जिसको कांग्रेस का नेतृत्व करने का कार्य सौंपा गया। कांग्रेस की माँगों का वायसराय ने जो उत्तर दिया उसमें समस्याओं के साथ टाल-मटोल करने की ही चेष्टा की गई थी और जनता का ध्यान उन मुलाकातों की ओर आकर्षित कर दिया गया था जो वायसराय हिन्दुस्तान के मान्य व्यक्तियों को दे रहा था। वायसराय ने कुल मिलाकर ५२ लोगों से मुलाकात की, उनके साथ "खुलकर निश्छल हृदय से विचार-विमर्श" किया। बात यहीं समाप्त हो गई।

कांग्रेस ने वायसराय की कूटनीतिक चालों में न फँसते हुए अक्टूबर, १९३९ को माँग उपस्थित की कि "भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित किया जाये और वर्तमान समय में इस पद का यथासंभव अधिकतम अंश तक विस्तार किया जाये।"* इस माँग का वायसराय ने एक लम्बे वक्तव्य में उत्तर दिया, जिसका सारांश यह था कि युद्ध के पश्चात् सारी संवैधानिक योजना पुनः प्रचलित की जायेगी और इसकी फिर से जाँच की जायेगी तथा लड़ाई के दौरान में, वायसराय को युद्ध के संबंध में परामर्श देने के लिए एक सलाहकार समिति नियुक्त की जायेगी, जिसमें भारत के सभी विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जायेगा।

जैसी आशा थी, कांग्रेस ने वायसराय के वक्तव्य को समस्याओं के साथ टाल-मटोल करने वाला और असंतोषजनक घोषित किया। महात्मा गांधी का उत्तर उतना ही संक्षिप्त था जितना यह वक्तव्य शब्दाडम्बरपूर्ण था। गांधी जी ने घोषणा की कि "फूट डाल कर शासन करने की पुरानी नीति अभी भी सक्रिय है। कांग्रेस ने रोटी माँगी थी और मिले उसे पत्थर। कांग्रेस को फिर झंझटों में फँसना पड़ेगा।" २२ अक्टूबर, १९३९ को कांग्रेस-कार्य-समिति ने वायसराय के वक्तव्य को अत्यधिक असंतोषजनक बताते हुए घोषणा की कि "इन परिस्थितियों में यह समिति ग्रेट ब्रिटेन को संभवतः कोई सहायता नहीं दे सकती, क्योंकि ऐसा करना साम्राज्यवादी नीति को स्वीकृति देना ही होगा जिसको समाप्त करने के लिए कांग्रेस सदैव तत्पर रही है।" इस प्रस्ताव में कांग्रेस मंत्रिमंडलों से पद-त्याग के लिए कहा गया था; मंत्रिमंडलों ने तत्काल पद-त्याग कर दिया। गवर्नरों ने तुरन्त संकटकालीन स्थिति घोषित कर दी जिसमें संविधान कार्य नहीं कर सकता था और १९३५ के कानून की

---

*सीतारमैया—"हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस", जिल्द २, पृ० १८९।

धारा ९३ के अनुसार शासन के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये। गवर्नरों की निरंकुश योजनाओं में सहायता देने वाले व्यक्तियों की भी कमी न थी। ऐसे लोग सलाहकार नियुक्त किये गये। कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के पद-त्याग से भारत-सरकार के युद्ध-प्रयासों में तो कोई बाधा न पहुँची, परन्तु संसार के सामने यह अवश्य प्रकट हो गया कि भारत की सब से बड़ी जन-प्रतिनिधि संस्था सरकार का इस युद्ध में सहयोग नहीं कर रही है। जन-प्रतिनिधि संस्था के रूप में कांग्रेस का महत्व घटाने और इस बात को संसार में प्रचारित करने के लिए वायसराय अब यही रट लगाने लगा कि समस्त भारत सम्पूर्ण हृदय से सरकार की युद्ध-नीति में सहयोग कर रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वायसराय लीग, जिन्ना तथा भारत के अन्य राजनीतिक नेताओं को प्रसन्न करने का उद्योग करने लगा।

कांग्रेस-मंत्रिमंडल के पद-त्याग से सब से अधिक प्रसन्नता हुई मुहम्मद अली जिन्ना को और उसकी मुस्लिम लीग को। जिन्ना के प्रस्ताव से २२ दिसम्बर १९३९ को लीग ने मुक्ति-दिवस मनाया, जिसमें इस बात पर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की गई कि आखिर कांग्रेस-शासन से छुटकारा मिल ही गया। २३ दिसम्बर को वायसराय ने लीग की आश्वासनों की माँग (जिसका पीछे उल्लेख हो चुका है) का, जो ११ सितम्बर को संघ सरकार की योजना के स्थगित किये जाने के बाद रखी गई थी और जिसका जिन्ना ने ५ नवम्बर को वायसराय को लिखे गये अपने पत्र में विस्तृत विवेचन किया था, उत्तर दिया। घटनाओं के इस क्रम पर, २३ दिसम्बर के वायसराय के उत्तर और आगे आने वाले लाहौर-प्रस्ताव को सामने रख कर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है, कि इनका परस्पर संबंध आकस्मिक नहीं था। २३ दिसम्बर, १९३९ के अपने वक्तव्य में वायसराय ने लिखा था कि "हिज मैजेस्टी की सरकार किसी प्रकार से भी इस बात का गलत अनुमान नहीं लगाती कि भारत में किसी प्रकार के संवैधानिक विकास की दृढ़ता और सफलता में मुस्लिम जाति का कितना महत्त्वपूर्ण योग है। इसलिए तुम्हें इस बात का कोई भय न होना चाहिए कि भारत में तुम्हारी जाति की स्थिति के कारण उसके मतामत का जितना प्रभाव है, उसको उससे कम कूता जायेगा।" वायसराय का यह पत्र लीग के नेता के लिए इस बात का स्पष्ट आमन्त्रण था कि वह अपनी माँग अधिक से अधिक बढ़ाये और साथ ही इसमें उसको एक प्रकार से आश्वासन भी दे दिया गया था कि उसकी माँगों पर विचार किया जायेगा।

कांग्रेस ने, वायसराय के शब्दाडम्बर और लीग के नेता के भाव-परिवर्तन से तंग आकर आखिर भारत की संवधानिक और साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान के लिए संविधान सभा की माँग उपस्थित की। जिन्ना को कांग्रेस का यह सुझाव

पसन्द न आया और ब्रिटिश पृष्ठ-पोषण से आश्वस्त होकर वह कांग्रेस की इस माँग को असंभव कल्पना वताते हुए कांग्रेस के प्रति विष-वमन करने लगा। घटनाचक्र तीव्र गति से वढ़ रहा था। जर्मनों की अप्रत्याशित विजयों का सरकार, लीग और कांग्रेस पर अपना ही प्रभाव पड़ रहा था। जिन्ना साम्प्रदायिक क्रोध से उवल रहा था और बार-वार यह मांग दुहरा रहा था कि उसकी अनुमति के विना एक भी कदम न उठाया जाये। २३ फरवरी, १९४० को वायसराय को लिखे गये अपने पत्र में जिन्ना ने इस आश्वासन की माँग की कि "हमारी अनुमति अथवा सहमति के विना किसी अन्य दल को भारत के भावी संविधान अथवा अन्तःकालीन समझौते के विषय में कोई वचन न दिया जायेगा।" लीग के प्रति वायसराय के पक्षपात में कांग्रेस को 'फूट डाल कर शासन करने' की नीति की गन्ध मिली और इससे वह चिंतित हो उठी। वायसराय ने अपनी सलाहकार-समिति को वढ़ाने और भारत की संवैधानिक समस्या को शीघ्र सुलझाने का प्रस्ताव किया; परन्तु इससे कोई भी उत्साहित न हुआ। लीग और कांग्रेस के राजनीतिक उद्देश्य वहुत भिन्न थे। वायसराय ने भावी संविधान का निर्णय उस ढंग से करने का वचन दिया, जिससे सब दल अधिकाधिक संतुष्ट हो सकें। कांग्रेस आत्म निर्णय चाहती थी, जो कि जन-तंत्र का वास्तविक लक्षण है। इसी गत्यवरोध में १९३९ का वर्ष समाप्त हो गया।

मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग—सन् १९४० का वर्ष समस्याओं के समाधान की कोई आशा लेकर नहीं आया और मुलाकातों, वक्तव्यों तथा प्रेस रिपोर्टों में ही तव तक घिसटता रहा जव कि मार्च, १९४० ई० में मुस्लिम लीग के लाहौर-प्रस्ताव के प्रकाशन ने जिससे पाकिस्तान की माँग की गई थी, इस शिथिलता को झटका देकर दूर कर दिया। इस मांग की तह में छिपी हुई मनोवृत्ति न भूलते हुए भी, किसी ने इस पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया और लोग यही समझते रहे कि यह भी मुसलमानों की माँगों को हर बार कुछ बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने की जिन्ना की आदत की उपज है। २६ मार्च, १९४० को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने प्रस्ताव पास किया कि "इस देश में तव तक कोई भी संवैधानिक योजना व्यवहार्य न होगी या मुसलमानों को स्वीकार्य न होगी जब तक वह इस मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित न हो कि भौगोलिक दृष्टि से मिले हुए प्रदेश जो आवश्यक परिवर्तनों से इस प्रकार के बना दिये जायँ कि मुस्लिम बहुसंख्या वाले क्षेत्र, जैसे भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी इलाके, ऐसे 'स्वतन्त्र राज्यों' के रूप में बन सकें, जिनमें अंगभूत इकाइयाँ स्वायत्त और प्रभुत्व सम्पन्न हों।" इस प्रस्ताव में जिन प्रदेशों को पृथक् राज्य बनाने की माँग की गई थी, उनको 'पाकिस्तान' संज्ञा दी गई। पाकिस्तान की यह माँग जिन्ना द्वारा प्रचारित पृथकत्व के सिद्धान्त का स्वाभा-

विक विकास थी, जिसकी जड़ें पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों में थीं और जो घृणा द्वारा पोषित हुआ था। इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए जिन्ना ने घोषणा की थी "भारत में समस्या दो सम्प्रदायों के बीच की नहीं, अपितु स्पष्टतः दो जातियों के बीच की है, और इस पर इसी प्रकार से विचार किया जाना चाहिए।" इस से दो सम्प्रदाय दो जातियाँ बन गईं, जिनके पारस्परिक सद्भाव का एकमात्र हल केवल भारत को दो स्वतन्त्र राष्ट्रों में विभक्त करना ही हो सकता था।

पाकिस्तान का मूल-स्रोत—मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य के रूप में पाकिस्तान की कल्पना का जन्म तब हुआ जब १९२९ ई० में मुस्लिम लीग के तत्कालीन प्रधान मुहम्मद इकबाल ने अपने सहधर्मियों को अपना पृथक् देश बनाने के लिए उत्तेजित किया। यह सत्य है कि इकबाल ने भारत-विभाजन की स्पष्ट कल्पना नहीं की थी, फिर भी वह पहला व्यक्ति था जिसने मुसलमानों के पृथक् अस्तित्व का सुझाव प्रस्तुत किया। परन्तु तब यह विचार जड़ न पकड़ सका और इस पर किसी ने गम्भीरतापूर्वक ध्यान न दिया।

लन्दन-सम्मेलन के दौरान में कैम्ब्रिज के एक विद्यार्थी चौधरी रहमत अली ने मुसलमानों के लिए एक पृथक् देश की योजना बनाई, जिसमें पंजाब, अफगान सीमान्त-राज्य (उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश, कश्मीर, सिन्ध और बलोचिस्तान) शामिल हों और इन राज्यों के नामों के पहले अक्षरों तथा बलोचिस्तान के 'स्तान' को मिला कर इस कल्पित देश का नाम 'पाकिस्तान' रखा गया। उसने अपनी इस योजना का प्रचार किया और लन्दन-सम्मेलन के सदस्यों को इससे परिचित कराया। उसने भारत में संघात्मक-शासन प्रणाली की स्थापना के विरोध में एवं मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य 'पाकिस्तान'—पवित्र लोगों का स्थान—स्थापित करने के पक्ष में मुसलमानों को संघटित करने के उद्देश्य से 'पाकिस्तान राष्ट्रीय आन्दोलन' (Pakistan Movement Nations) की नींव डाली। यह आन्दोलन इस आधार पर खड़ा किया गया था कि हिन्दू-मुसलमान दो सर्वथा भिन्न जातियाँ (Nations) हैं और हिन्दू-सलमान मुसमस्या का एकमात्र समाधान है दोनों का पृथक् हो जाना, क्योंकि हिन्दुओं के सम्पर्क से इस्लाम अपवित्र हो जायेगा।

इस आन्दोलन का जन्म लन्दन में हुआ। यह बात अपना ही महत्त्व रखती है। इससे इसके पीछे काम करनेवाली उस नीति का पता चल जाता है, जिससे भारत में अँगरेजी राज्य के इतिहास के अध्येता भली भाँति परिचित हैं। इस प्रसंग में मनोरंजक बात यह है कि इस योजना के प्रति कोई भारतीय प्रतिनिधि आकर्षित न हुआ, परन्तु ब्रिटिश मित्रों ने इसके प्रति बड़ी रुचि प्रदर्शित की। प्रवर-समिति

के सदस्य प्रत्येक मुसलमान प्रतिनिधि से पाकिस्तान की योजना के बारे में उसकी राय पूछना न भूले।

अब्दुल्ला यूसुफ अली, सी० बी० ई० ने, सर रेजिनाल्ड क्रेडॉक के इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या आप पाकिस्तान के नाम से किन्हीं प्रान्तों का संघ बनाने की योजना से परिचित हैं, कहा कि "जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह तो एक विद्यार्थी की योजना है, इसे किसी उत्तरदायी व्यक्ति ने सामने नहीं रखा है।" आइजेक फुट के एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में सर जफरुल्ला खाँ ने कहा "जहाँ तक हमने विचार किया है, यह तो एक असंभव कल्पना और अव्यवहार्य (योजना) मात्र है। इसका अर्थ है कुछ प्रान्तों का संघ बनाना।" और श्री खलीफा शुजाउद्दीन ने कहा "शायद यह कह देना ही पर्याप्त होगा कि अब तक तो किसी प्रतिनिधि सज्जन या संस्था ने ऐसी योजना पर विचार नहीं किया है।"

इधर भारत में तो पाकिस्तान की योजना और इसके जन्मदाता किसी को कुछ भी ज्ञान न था, परन्तु इँगलैण्ड में इसका प्रचार खूब हो रहा था। इसके साथ बंगाल और आसाम को मिलाकर 'बंगिस्तान' और निजाम के प्रदेशों को मिलाकर 'उस्मानिस्तान' के निर्माण की योजनाएँ भी मिला दी गई थीं। सन् १९४० में रहमत अली की यह "असंभव कल्पना" मुस्लिम लीग का लक्ष्य बन गई और अब से पाकिस्तान जिन्ना की सर्वप्रमुख माँग और कांग्रेस एवं लीग के मतभेद की प्रमुख बात बन गया।

जिन्ना ने पहली जुलाई, १९४० को वायसराय के पास 'प्रयोगात्मक प्रस्ताव' (Tentative-Proposals) नाम से एक विवरण-पत्र भेजा, जिसमें लीग की माँगें और अन्तरिम काल (Interim period) के लिए सुझाव रखे गये थे। इन प्रस्तावों में जोर दिया गया था कि ऐसी कोई घोषणा न की जाये जो भारत के विभाजन एवं मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में लाहौर प्रस्ताव में रखे गये मूलभूत सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ती हो। इन प्रस्तावों में यह माँग की गई थी कि युद्ध-काल के दौरान में कोई भी अन्तरिम योजना मुस्लिम लीग की पूर्व स्वीकृति के बिना स्वीकार न की जाय। इनमें कहा गया था कि युद्ध-प्रयासों में मुसलमानों का अधिकाधिक सहयोग तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उन्हें केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में बराबर का हिस्सा दे दिया जाये, जिसके लिए इन प्रस्तावों में निम्नलिखित सुझाव दिये गये:—

(१) वायसराय की सलाहकार-समिति को इस प्रकार बढ़ाया जाय कि उसमें हिन्दू-मुसलमानों का बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व हो और यदि कांग्रेस इसमें भाग लेना अस्वीकार कर दे तो मुसलमानों को बहुमत दिया जाये।

(२) १५ सदस्यों की एक युद्ध-समिति बनाई जाये, जिसमें हिन्दू-मुसलमानों के प्रतिनिधि बराबर संख्या में हों और यदि कांग्रेस इसमें भाग लेना अस्वीकार करे तो यहाँ भी बहुमत मुसलमानों का रखा जाये।

(३) कार्यकारिणी-परिषद् के लिए मुसलमान प्रतिनिधियों का चुनाव मुस्लिम लीग करे।

इन 'प्रयोगात्मक प्रस्तावों' पर एक सरसरी निगाह डालने से ही स्पष्ट विदित हो जाता है कि जिन्ना की माँगें कितनी बढ़ गई थीं। केन्द्र में एक-तिहाई सीटों के स्थान पर वह अब केन्द्र और प्रान्त दोनों जगह बराबर सीटो की माँग कर रहा था।

वायसराय का उत्तर बड़ा निराशाजनक था। गांधी जी के जून १९४० के इस वक्तव्य से कि "हम अपनी स्वतन्त्रता ब्रिटेन के विनाश में नहीं खोजते", उसका हौसला बढ़ गया था। वायसराय के मन में आशा की किरण जगमगा उठी थी और कांग्रेस के सामने प्रश्न था कि अब आगे क्या किया जाये। अपने मंत्रिमंडलों को भंग कर देने पर अब कांग्रेस कौन-सा कदम उठाये? क्या वह चुपचाप, निष्क्रिय भाव से संसार और भारत के घटना-चक्र की गति देखती जाये, जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप निश्चय ही भविष्य की रूपरेखा बननेवाली थी, या अपने आदर्शों के लिए पुनः संघर्ष छेड़ दे? अँगरेजों की व्यस्तता और हिटलर की आये दिन की विजयों से संघर्ष छेड़ने का सुयोग भी उपस्थित था ही, परन्तु भारत में संघर्ष छेड़कर कांग्रेस हिटलर की जो अप्रत्यक्ष सहायता करेगी, क्या वह कांग्रेस के आदर्शों के अनुकूल होगी? क्या यह अच्छा न होगा कि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के साथ इस आधार पर एक सामयिक समझौता कर ले कि भारत के भविष्य का निर्णय एक संविधान सभा द्वारा किया जाये? ऐसे-ऐसे प्रश्न कांग्रेस नेताओं को परेशान कर रहे थे और जिन्ना की नई गढ़ी हुई पाकिस्तान की योजना इस परेशानी को और भी बढ़ा रही थी। इस असमंजस में किसी को कोई मार्ग न दिखाई देता था; अतः वे मार्ग-प्रदर्शन के लिए गांधी जी के शरणापन्न हुए। गाँधी जी के विचार से इस समय भारत की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध छेड़ने का तो प्रश्न ही न उठता था। वे ब्रिटिश सरकार को बिना किसी शर्त के नैतिक सहायता देने के पक्ष में थे। बाह्य और आन्तरिक स्थितियाँ जैसे-जैसे बलवती होती जा रही थीं, कांग्रेस के अन्दर मतभेद बढ़ता जा रहा था। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य शर्त रख कर सरकार के साथ सहयोग करने के पक्ष में थे और उनके इस विचार से प्रभावित होकर कांग्रेस कार्य समिति ने ७ जुलाई, १९४० को सरकार के साथ युद्ध में सहयोग करना इस शर्त पर स्वीकार, किया कि भारत का लक्ष्य स्वतन्त्रता घोषित किया जाये और केन्द्र में तब तक के लिए एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बना दी जाये। कांग्रेस ने यह प्रस्ताव वायसराय

के जिन्ना के 'प्रयोगात्मक प्रस्तावों' का उत्तर देने के एक दिन बाद प्रस्तुत किया। हिन्दुओं को जिस बात का सब से अधिक भय था, वह यह थी कि कहीं केन्द्र और प्रान्त दोनों ही जगह अँगरेज-मुस्लिम गठबन्धन न हो जाये जिसका अर्थ यह होगा कि कांग्रेस के अपने विचारों की उलझनों में अलग ही पड़े रहने के कारण, लीग सारे भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली हो उठेगी और शासन में इसका प्रमुख हाथ हो जायगा। इस प्रकार की स्थिति की कल्पना भी बहुत भयंकर थी; अतः हिन्दू-महासभा ने हिन्दुओं को सेना में भर्ती होने और सरकार को सहयोग देने का परामर्श दिया।

कांग्रेस कार्य-समिति के जुलाई के प्रस्ताव का अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति के पूना अधिवेशन में अनुमोदन हुआ। कांग्रेस के भीतरी मतभेद अब सार्वजनिक रूप से प्रकट हो गये। सीमांत के गांधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ कांग्रेस-कार्य-समिति से तभी अलग हो गये थे जब इसने दिल्ली-प्रस्ताव द्वारा शर्त रख कर सहयोग देने का निश्चय किया था। कांग्रेस में इन मतभेदों से बल पाकर सरकार ने अपना रुख कड़ा कर दिया। मई, १९४० में सर विन्स्टन चर्चिल प्रधान मंत्री पद पर और एल० एस० एमरी राज्य-सचिव के पद पर आ गये थे। इनके कांग्रेस-विरोधी और अनुदार विचार सर्वविदित थे। कांग्रेस के पूना-प्रस्ताव की ओर इन्होंने कुछ भी ध्यान न दिया और एमरी ने तो यहां तक कह दिया कि भारत में स्थिति ऐसी गम्भीर नहीं है जैसी कि बताई जा रही है।

वायसराय की घोषणा, ८ अगस्त, १९४०—वायसराय ने ८ अगस्त, १९४० को कांग्रेस के राजनीतिक भविष्य के विषय में एक वक्तव्य दिया और कांग्रेस के प्रधान को २० अगस्त को मुलाकात के लिए आमन्त्रित किया। इस वक्तव्य में कुछ कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भारतीयों का संविधान बनाने का अधिकार स्वीकार किया गया था। इसमें कहा गया कि संविधान-सभा की स्थापना युद्ध के बाद की जायेगी। मुस्लिम लीग को इस वक्तव्य में आश्वासन दिया गया था कि वर्तमान सरकार किसी ऐसी शासन-प्रणाली के हाथ में सत्ता नहीं सौंपेगी जिसके अधिकार "भारत के राष्ट्रीय जीवन के विशाल और शक्तिशाली तत्त्वों को" अमान्य हों और युद्ध के दौरान में अन्तरिम व्यवस्था के तौर पर वायसराय "कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को अपनी कार्यकारिणी-परिषद् में सम्मिलित होने और एक युद्ध-परामर्श-समिति स्थापित करने के लिए आमन्त्रित करेगा।"

कांग्रेस ने इस वक्तव्य को असंतोषजनक और शरारत भरा समझा। लीग ने इसको इस बात का आश्वासन समझा कि उसकी (लीग की) स्वीकृति के बिना कोई योजना कार्यान्वित न की जायेगी। नरम दलीय लोगों ने इस वक्तव्य से संतोष

का अनुभव किया। इसी बीच सरकार का दमन-चक्र भी गतिशील होने लगा था। स्वयंसेवक दलों और मजदूर दलों का बुरी तरह से दमन किया जा रहा था। पकड़-धकड़ और जांच के बिना कारावास सामान्य घटनाएँ बनती जा रही थीं। व्यक्तिगत एवं भाषण की स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार पर मनमाने ढंग से प्रहार किये जा रहे थे। काँग्रेस के भूतपूर्व प्रधान सुभाषचन्द्र बोस जुलाई, १९४० में पकड़ लिये गये थे। कांग्रेस के साथ गम्भीर मतभेद होते हुए भी सुभाष बाबू अत्यधिक लोक-प्रिय नेता थे। इन स्थितियों में प्रश्न यह था कि क्या कांग्रेस चुपचाप इन घटनाओं को देखती रहे?

कांग्रेस ने वायसराय के अगस्त के सुझावों को अस्वीकार कर दिया और अगस्त १९४० के अन्त तक जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा कर दी कि शर्तों-सहित सहयोग देने के पूना-प्रस्ताव की अवधि समाप्त हो गई है। नेहरू जी ने ब्रिटिश-सरकार को चेतावनी दी कि वह कांग्रेस के आत्म-संयम का यह अर्थ न लगाये कि कांग्रेस मिट गई है। अब किसी सक्रिय कार्यक्रम की अपरिहार्य रूप से आवश्यकता आ पड़ी थी; परन्तु कोई न बता पा रहा था कि यह कार्यक्रम क्या हो। पुनः सबकी आंखें गांधी जी पर जा टिकीं।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—कांग्रेस ने सितम्बर, १९४० में गांधी जी के नेतृत्व में भाषण की स्वतन्त्रता को लेकर व्यक्तिगत सत्याग्रह करने का निश्चय किया। गांधी जी ने इस संघर्ष का आरम्भ करने के लिए विनोबा भावे को चुना। गांधी जी इस बात पर दृढ़ थे कि यह संघर्ष सीमित रखा जाये। १७ अक्टूबर, १९४० को विनोबा भावे के पकड़े जाने के साथ सरकार और कांग्रेस का युद्ध छिड़ गया। विनोबा भावे ने घोषणा की थी कि "इन ब्रिटिश युद्ध-प्रयत्नों में धन या जन से सहायता देना ठीक नहीं है। युद्ध का एकमात्र उपचार यही है कि सभी युद्धों का अहिंसात्मक प्रतिरोध से सामना किया जाये।" भाव का यह निर्घोष समस्त भारत का युद्ध-घोष बन गया। तीव्र गति से पकड़-धकड़ होने लगी। २९ अक्टूबर को जवाहरलाल नेहरू पकड़े गये और वर्ष का अन्त होते-होते सब प्रमुख कांग्रेस-नेता जेलों में बन्द हो चुके थे। परन्तु सरकार टस से मस न हुई। वह कांग्रेस-लीग के मतभेद का ढोल पीटती रही और आन्तरिक गत्यवरोध दूर करने में अपनी असमर्थता को इस मतभेद पर थोपती रही। सरकार की यह हृदयहीनता देखकर नरम दलीय नेता सर तेज बहादुर सप्रू को कहना पड़ा कि "भारत में कभी भी कोई सरकार जनमत और देश की प्रधान विचार-धारा से इतनी अलग नहीं रही जितनी यह वर्तमान सरकार।" सर तेज का यह वाक्य उनके उस भाषण से उद्धृत किया गया है जो उन्होंने मार्च, १९४१ में बम्बई में निर्दल नेताओं के सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए दिया था;

इस सम्मेलन का उद्देश्य तत्कालीन संवैधानिक गत्यवरोध को दूर करने के लिए कोई समाधान खोजना था।

दिसम्बर, १९४१ में जापान ने ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी; १५ फरवरी १९४२ को सिंगापुर का पतन हुआ और ९ मार्च को रंगून का भी पतन हो गया, जिससे भारत में गत्यवरोध के प्रति एमरी को अपना हृदयहीन उपेक्षा-भाव भंग करना पड़ा। जापान की इन चमत्कारपूर्ण सफलताओं ने इस बढ़ते हुए विश्वास को और भी बल दे दिया कि अब ब्रिटिश साम्राज्य के इने-गिने दिन रह गये हैं। जापान के प्रहारों से पश्चिमी सेना को इस प्रकार भागते देख कर जैसे हवा के सामने पत्तियाँ उड़ जाती हैं, एशिया पर बहुत नैतिक प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन की इन पराजयों से भारतीय जनता मन ही मन तृप्ति का अनुभव कर रही थी; भारतीय जनता की न्यायपूर्ण माँगों के प्रति ब्रिटेन की अक्षम्य उपेक्षा-भावना की यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। भारतीय जनता के मन में यही प्रश्न उथल-पुथल मचा रहा था कि इस सुयोग से लाभ उठा कर, क्यों न विद्रोह का झण्डा खड़ा किया जाय और ब्रिटेन के जुए को कन्धों से उतार फेंका जाय? यही विचार था जो धीरे-धीरे जनता के मन में घर करता जा रहा था और जिसने सन् १९४२ के आकस्मिक, नेतृत्वहीन जन-विप्लव की पृष्ठ-भूमि तैयार की।

क्रिप्स-मिशन और इसकी विफलता—इँगलैण्ड का समाजवादी नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स, ब्रिटिश युद्ध-परिषद् का सदस्य बनने से पहले आनन्द भवन और वर्धा में अतिथि रह चुका था। समझा जाता था कि भारत और भारत की स्वतन्त्रता की माँग के प्रति वह सहानुभूति रखता है और लोगों का विश्वास था कि पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ उसका मित्रतापूर्ण सम्बन्ध है। इसीलिए उसको भारत में भेजने के लिए चुना गया और मार्च १९४२ में प्रधान मन्त्री चर्चिल ने घोषणा की कि भारत में गत्यवरोध को समाप्त करने के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स हिज मैजेस्टी द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव लेकर भारत आयेंगे। क्रिप्स के प्रस्तावों के प्रकाशन से पहले ही जिन्ना ने धमकी दी "यदि ८ अगस्त, १९४० की घोषणा के विपरीत कोई नई घोषणा की गई तो "अभूतपूर्व दुर्गति और घोर संकट" की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।"

क्रिप्स अपने साथ जो प्रस्ताव लाया था वे ३० मार्च, १९४२ को प्रकाशित हुए। इन प्रस्तावों में एक अन्तरिम और दीर्घकालीन समझौता रखा गया था। इनमें भारत का राजनीतिक लक्ष्य "औपनिवेशिक स्वराज्य" बताया गया था; भारत सभी बातों में उन सभी उपनिवेशों के समान स्तर पर होगा जो क्राउन के प्रति भक्ति रखते हैं और भारत का संविधान, युद्ध के बाद एक निर्वाचित संविधान-

सभा द्वारा बनाया जायगा। इस सभा में रियासतों के भाग लेने की भी व्यवस्था की जायगी। इस सभा द्वारा अन्तिम रूप से निर्मित संविधान ब्रिटिश सरकार द्वारा कार्यान्वित किया जायगा; परन्तु ब्रिटिश-भारत के किसी भी प्रान्त को अधिकार ोगा कि वह इस संविधान को अस्वीकार कर दे और अपनी तत्कालीन संवैधानिक स्थिति को बनाये रखे या ब्रिटिश सरकार की सहमति से अपने लिए नया संविधान बना ले। ऐसे प्रान्त के लिए यह भी ऐच्छिक होगा कि वे भारतीय उपनिवेश में समायुक्त हो जायँ।

क्रिप्स-प्रस्तावों में संविधान-सभा के चुनाव की विधि और स्वरूप की रूप-रेखा भी दी गई थी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि नया संविधान बनने तक ब्रिटिश सरकार भारत की रक्षा के लिए उत्तरदायी होगी।

इन प्रस्तावों में तात्कालिक स्थिति के सम्बन्ध में घोषणा की गई थी कि "जब तक नया संविधान तैयार नहीं हो जाता, हिज मैजेस्टी की सरकार अपरिहार्य रूप से भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण करेगी और इसका नियन्त्रण और निर्देशन अपने हाथ में रखेगी।" इसके साथ ही यह भी कहा गया था कि "हिज मैजेस्टी की सरकार चाहती है कि भारतीय जनता अपने देश की परिषदों में तत्काल भाग ले और इसके लिए वह उसे आमन्त्रित करती है।"

क्रिप्स-प्रस्तावों में संविधान-सभा के निर्माण का वचन देकर कांग्रेस को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया था और साथ ही यह व्यवस्था रख कर कि कोई भी प्रान्त नये संविधान को अस्वीकार करने और ब्रिटिश सरकार की सहमति से अपने लिए नया संविधान बनाने के लिए स्वतन्त्र होगा, लीग को भी प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया था।

क्रिप्स के साथ विभिन्न नेताओं और दलों की मुलाकातें हुईं, परन्तु इनसे हाथ कुछ भी न आया। भारतीय रक्षा का प्रश्न समझौते के मार्ग में अनुल्लंघ्य बाधा बन कर खड़ा हो गया। कांग्रेस अनुभव कर रही थी कि यदि उसे युद्ध में ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करना है तो भारत की रक्षा का दायित्व उसके अपने हाथों में रहना चाहिए। कांग्रेस के प्रति अविश्वास के कारण ब्रिटिश सरकार उसको भार सौंपने के लिए तैयार न हुई; परिणाम यह हुआ कि क्रिप्स-मिशन विफल हुआ और सर स्टैफर्ड क्रिप्स १३ अप्रैल, १९४२ को लन्दन लौट गया। क्रिप्स ने समझौते की बातचीतों में आरम्भ से अन्त तक जो "इसे ग्रहण करो या छोड़ दो" का भाव बनाये रखा, उससे समझौते के प्रयास ठण्डे पड़ गये थे और लास्की के शब्दों में इस रुख ने समझौते की बातचीतों को "भारत के अधिकारों की स्वीकृति की अपेक्षा जापान के विरुद्ध कार्यवाही का ही रूप" दे डाला। मुस्लिम लीग ने क्रिप्स के प्रस्तावों

को वहाँ तक तो स्वीकार कर लिया, जहाँ तक उनमें भारत में एक से अधिक उपनिवेश की स्थापना को स्वीकार किया गया था, परन्तु प्रस्तावों की अन्य बातों को इसने स्वीकार न किया। यही स्थिति हिन्दू-महासभा की थी। भारत के संवैधानिक गत्यवरोध को दूर करने के लिए आने वाले प्रस्ताव और इसकी अस्वीकृति के साथ मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग और मुस्लिम लीग का मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था होने का दावा जोर पकड़ता जा रहा था। हिन्दुओं एवं कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों में घृणा का भाव बढ़ाने के घृणित प्रयास जोर-शोर से चल रहे थे। कांग्रेस पर खुले आम आरोप लगाये जा रहे थे कि यह तो हिन्दुओं की संस्था है और हिन्दू राज स्थापित कर मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों को समाप्त करना चाहती है। लीग की पाकिस्तान की माँग ने और बढ़ती हुई साम्प्रदायिक कटुता ने राजनीतिक स्थिति को बहुत पेचीदा बना दिया था और इससे कांग्रेस के साथ निपटने में अँगरेजों के हाथ मजबूत हो गये थे।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव और जन-विप्लव—अगस्त, १९४२—जुलाई, १९४२ में मिस्र में जर्मनी के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों को जो थोड़ी-सी सफलता मिली उससे क्रिप्स का रुख और भी कड़ा हो गया। अब तो वह अपने प्रस्तावों में कोई भी संशोधन करने के लिए बिलकुल तैयार न हुआ, भारत या तो उसके प्रस्तावों को अस्वीकार कर दे या पूर्णतः स्वीकार करे। इस कड़े रुख ने भारत के राजनीतिक दलों के रुख को और विशेषतया कांग्रेस के रुख को भी कड़ा कर दिया। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने लन्दन पहुँच कर अपने प्रस्तावों के स्वरूप और इनके प्रति कांग्रेस के रुख के विषय में जो झूठे वक्तव्य प्रकाशित किये उनसे सरकार के प्रति अविश्वास की भावना और भी दृढ़ हो गई। समझौते के प्रयासों की बार-बार की विफलताओं, सरकार का साम्प्रदायिक मतभेद पर जोर देना तथा लीग के अनर्गल प्रलापों को देखकर गांधी जी को अप्रैल, १९४२ में घोषणा करनी पड़ी कि "भारत के लिए चाहे जो परिणाम हों, उसकी (भारत की) और ब्रिटेन की भी सुरक्षा इसी में है कि अँगरेज समय रहते अनुशासित रूप से भारत को छोड़ कर चले जायँ।" यह वक्तव्य आगामी "भारत छोड़ो" आन्दोलन का प्रारूप बना। बड़े दुःखपूर्ण हृदय से गांधी जी ने लिखा "भारत को भगवान् के भरोसे छोड़ दो और यदि यह बहुत बड़ी बात हो तो उसे अराजकता के हवाले ही छोड़ दो।"

भारत-विभाजन के लिए लीग की अनवरत माँग से बहुत से लोगों में यह भाव उत्पन्न होने लगा था कि "अलग हो जाओ और यह झगड़ा खतम करो।" इस भावना को सबसे पहले भारत के सर्वप्रथम भारतीय गवर्नर-जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने व्यक्त किया। क्रिप्स के बिदा होने के बाद ही राजगोपालाचारी ने अप्रैल,

१९४२ में मद्रास व्यवस्थापिका की एक पार्टी-बैठक में एक प्रस्ताव पास करा दिया, जिसमें पाकिस्तान की माँग स्वीकार की गई थीं। इस प्रस्ताव से अन्य कांग्रेस नेता बड़े आश्चर्य चकित हो उठे और इसके फलस्वरूप राजगोपालाचारी को कांग्रेस-कार्य-समिति से अलग होना पड़ा। इसके कुछ वाद ही राजगोपालाचारी ने इलाहावाद में अखिल भारतीय काँग्रेस समिति की बैठक में अपना प्रस्ताव अपनी समस्त शक्ति के साथ प्रस्तुत किया, परन्तु यह अस्वीकृत हुआ और इसके स्थान पर जगतनारायणलाल का यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि कांग्रेस भारत के किसी विभाजन को स्वीकार न करेगी। इससे जिन्ना और लीग की भावनाएँ और भी कटु हो गईं और वे इस प्रस्ताव का अर्थ यह लगाने लगे कि कांग्रेस, जो कि हिन्दुओं की संस्था है, मुसलमानों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्पष्ट शब्दों में अमान्य कर रही है। राजगोपालाचारी कांग्रेस से अलग होकर अपने मत का प्रचार करने लगे।

गांधी जी ने अँगरेजों के "अनुशासित रूप से भारत छोड़ कर चले जाने" का जो सुझाव रखा था वह जनता के मन में घर कर गया और १४ जुलाई, १९४२ को कांग्रेस-कार्य-समिति ने वर्धा में प्रस्ताव पास किया कि यदि अँगरेजों ने भारत से चले जाने की माँग स्वीकार न की तो कांग्रेस को अनिच्छापूर्वक बाध्य होकर अपने नियन्त्रण में विद्यमान समस्त अहिंसात्मक शक्ति को काम में लाना पड़ेगा और महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक देश-व्यापी संघर्ष छेड़ना पड़ेगा। कांग्रेस-कार्यसमिति का जुलाई, १९४२ का यह प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति ने ७ और ८ अगस्त, १९४२ को अपने बम्बई-अधिवेशन में अनुमोदित और समर्थित किया और अन्य बातों के साथ-साथ घोषणा की कि इस समिति की राय है कि "भारत में ब्रिटिश-शासन का शीघ्र अन्त, भारत के लिए और संयुक्त राष्ट्रों की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है। इस शासन का जारी रहना भारत के लिए पतनकारी और उसको निर्बल बनानेवाला है तथा उसको आत्म रक्षा करने एवं विश्व की स्वतन्त्रता के संघर्ष में योग देने में अधिकाधिक असमर्थ बनानेवाला है। इस प्रकार इस देश में ब्रिटिश शासन की समाप्ति एक अत्यावश्यक एवं तात्कालिक समस्या है जिस पर युद्ध का भविष्य और स्वतन्त्रता एवं जनतन्त्र की सफलता निर्भर है।

"इसलिए अ० भा० कां० समिति, भारत से ब्रिटिश शक्ति के हटा लिये जाने की माँग को पूरे जोर के साथ दुहराती है ......

"इसलिए, यह समिति, भारत के स्वराज्य और स्वतन्त्रता के अतर्क्य अधिकार को प्राप्त करने के लिए, यथासम्भव विस्ततम पैमाने पर अहिंसा-

त्मक संघर्ष छेड़ने का निश्चय करती है। यह संघर्ष अनिवार्यतः गांधीजी के नेतृत्व में होगा और यह समिति उनसे अनुरोध करती है कि वे नेतृत्व ग्रहण करें और भावी कार्यक्रम के विषय में राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करें।"

इसके अगले दिन सवेरे ही गांधीजी तथा कांग्रेस-कार्यसमिति एवं अन्य समितियों के सदस्य वन्दी बना लिये गये। अ० भा० कां० समिति तथा प्रान्तीय समितियों पर रोक लगा दी गई और इनके कार्यालयों पर पुलिस ने कब्जा कर लिया। इस पकड़-धकड़ के समाचार से सारा राष्ट्र एक दिन के लिए तो सन्न हो गया; जीवन मानो निष्क्रिय हो गया। समस्त देश में क्रोध और रोष की तीव्र धारा प्रवाहित हो उठी और जनता ने भारत छोड़ो का युद्ध-घोष करते हुए विप्लव कर दिया।

अगस्त-क्रान्ति, १९४२—अगस्त क्रांति ने आधुनिक भारत के इतिहास में एक नये युग को जन्म दिया है। यह दमन और अत्याचारों के विरुद्ध जनता का विद्रोह था, जिसकी तुलना फ्रांस के बास्तीय के पतन एवं रूस की अक्टूबर क्रांति से की जा सकती है। यह क्रांति न तो पूर्वायोजित थी और न पहले से इस पर विचार ही किया गया था; इसमें हिंसा एवं अहिंसा का विचित्र सम्मिश्रण हो गया। इसकी तह में स्थायी भाव था—शासक के रूप में अँगरेजों के विरुद्ध घृणा; इसका नारा था 'भारत छोड़ो' और इसकी कार्य-पद्धति थी हिंसा एवं शासन-तन्त्र को पंगु बनाना। यह जनता में नये विश्वास और नई चेतना का प्रतीक था। अँगरेजों का भय लुप्त हो चुका था; उनके न्याय में जनता का विश्वास कभी का उठ चुका था। किसी भी सरकार के जो दो स्तम्भ होते हैं, भौतिक और नैतिक, वे ढह चुके थे। गांधीजी के पकड़े जाने के बाद के दो दिनों में ही सारे देश में विप्लव व्याप्त हो गया था। जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने अगस्त-प्रस्ताव के पहले से ही तैयारियां कर ली थीं। विद्रोह के लक्षण प्रकट होते ही सरकार की सेना और पुलिस, बन्दूकें और बारूद अपना काम करने लगे। जगह-जगह रेल्वे स्टेशनों तथा डाकघरों पर हमले हुए और तार काटे गये जिनका बदला सरकार ने अविचारपूर्ण गोली-कांडों, पकड़-धकड़ और सामूहिक जुर्मानों के रूप में लिया। गृह-मंत्री सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने बताया कि १९४२ के अन्त तक पुलिस ने ५३८ बार गोली चलाई थी, ९४० व्यक्ति मारे गये, १६३० व्यक्ति घायल हुए और ६०,२२९ व्यक्ति जेलों में भेजे गये थे; कुल २८,३२,००० रुपये सामूहिक जुर्माने के रूप में वसूल किये गये। विप्लव ने भयंकरतम रूप संभवतः बिहार में धारण किया, जहाँ कुछ समय तक तो सारा शासन ही जनता ने अपने हाथ में ले लिया और सरकार को आकाश से गोलियों की बौछार करनी पड़ी। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इस शौर्यपूर्ण संघर्ष और इसको कुचलने में की गई

सरकार की नृशंसता का विस्तृत वर्णन नहीं दे सकते। सारे देश में ही इस प्रकार के वीभत्स कृत्य चल रहे थे। कुछ स्थानों पर तो सरकार के अत्याचार सन् १८५७ के तथाकथित गदर के समय के नील और हैवलाक की नृशंस लीलाओं को भी मात कर गये।

यह असंघटित, अनियोजित और आर्थिक सहायता-विहीन जन-क्रांति सरकार की संघटित नृशंसता के सामने टिक न सकी। जनता से जिस बर्बरता के साथ प्रतिशोध लिया गया, उस पर सहसा विश्वास नहीं होता। पुरुषों को सता-सता कर मारा गया, स्त्रियों पर बलात्कार हुए और लोगों की संपत्ति छीनी गई। परन्तु जनता के हृदय में क्रोध की प्रचण्ड ज्वाला धधक रही थी, जिसको कोई भी बुझा न सकता था और जो अन्ततः भारत में ब्रिटिश-राज को समाप्त करके ही शान्त हुई।

इस जन-क्रांति की लपटों के बीच भी औपनिवेशिक स्वराज्य की बातें चलती रहीं परन्तु अब भारत पूर्ण स्वराज्य के अतिरिक्त और किसी बात के लिए राजी न हो सकता था। 'भारत छोड़ो' का नारा जम चुका था। साम्राज्यवादी विचारों पर यह एक प्रबल आघात था।

मुस्लिम लीग और अगस्त-क्रांति—कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव ने जिन्ना को आश्चर्य में डाल दिया। उसको भय होने लगा कि कहीं मुसलमान युवक भी इस आन्दोलन की ओर आकर्षित न हो जायँ, जिससे उसकी और लीग की शक्ति घट जाने की आशंका थी; अतः उसने प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि कांग्रेस का आन्दोलन वस्तुतः अँगरेजों के विरुद्ध न होकर मुसलमानों और लीग को अधीन करने के उद्देश्य से ही किया जा रहा है। मुस्लिम लीग की कार्यसमिति ने घोषणा की कि "यह (कांग्रेस का) आन्दोलन, केवल सरकार को शासन-सूत्र एक हिन्दू अभिजात-वर्ग के हाथ में सौंप देने और इस प्रकार मुसलमानों तथा भारत के अन्य वर्गों को दिये हुए अपने वचनों और उनके प्रति अपने कर्तव्यों को निभाने में असमर्थ हो जाने के लिए बाध्य करने के लिए ही नहीं चलाया गया है, अपितु मुसलमानों को भी कांग्रेस की शर्तों और निर्देशों के सामने आत्मसमर्पण कर देने को बाध्य करने के लिए भी आरम्भ किया गया है। लीग ने मुसलमानों को इस आन्दोलन से अलग रहने का परामर्श दिया और सरकार अथवा किसी अन्य दल के साथ समानता की शर्त पर सहयोग करना स्वीकार किया। इसके साथ ही लीग ने 'बाँटो और छोड़ो' का नारा लगाया; इसका अर्थ यह हुआ कि अब भारत-विभाजन का संबंध हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक समझौते से न रखकर सरकार से जोड़ दिया गया, जिससे माँग की गई कि भारत को 'बाँटो' और तब भारत को 'छोड़ो'।

'बँट के रहेगा हिन्दुस्तान' लीग का नारा बन गया, जिसको उच्च स्वर से गली-कूचों और सड़कों पर पुकारने के लिए लीग बहुत से छोकरों को भाड़ा देने लगी; ये भाड़े के नारा लगानेवाले लोग हरे झंडे हाथ में लेकर यह नारा लगाते फिरने लगे। जिन्ना धमकी देने लगा कि यदि सरकार ने कांग्रेस के साथ कोई समझौता किया तो भारत में विनाश-लीला मच जायगी। यद्यपि लीग अधिकृत रूप से सरकार के युद्ध-प्रयासों में सहयोग नहीं कर रही थी, परन्तु केन्द्र एवं प्रांतों में लीग के आदमी सरकार की पूरी-पूरी सहायता कर रहे थे।

भारत के जो समाचार इँगलैंड पहुँचते थे, वे अपर्याप्त, अस्पष्ट और एक-पक्षीय होते थे। सैंसर सभी अवांछनीय समाचारों की काट-छाँट कर देता था। अगस्त-क्रांति को कांग्रेस का आन्दोलन बताया जा रहा था और कांग्रेस के विषय में कहा जा रहा था कि यह संस्था तो सारे हिन्दू-समाज का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। हिन्दू-मुसलमान विरोधों को वढ़ा-चढ़ा कर सामने रखा जा रहा था और बड़े गर्व से यह घोषणा की जा रही थी कि अधिकांश भारत सम्पूर्ण हृदय से सरकार के युद्ध-प्रयासों में हाथ वँटा रहा है। क्रिप्स के प्रस्तावों का अभी भी ढोल पीटा जा रहा था। चर्चिल का दमन का रवैया उसकी इस घोषणा में स्पष्ट हो जाता है कि "हम अपना अधिकार अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। मैं साम्राज्य के विघटन की अध्यक्षता करने के लिए राजा का पहला मंत्री नहीं बना हूँ।"[५] १९४२ के उपद्रवों और कांग्रेस के बीच कोई संबंध न होने की गांधीजी की घोषणाएँ इँगलैंड तक न पहुँच पाईं। भारत में सरकार इस बात का विश्वास करने को तैयार न थी। उसने कांग्रेस पर विद्रोह का आरोप लगाते हुए एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इस विज्ञप्ति से अधिक एकपक्षीय और असत्यपूर्ण विज्ञप्ति आज तक न छपी थी।

गांधीजी का उपवास—गांधीजी पूना जेल में थे; जनता यह सुनकर बड़ी चिंतित हो उठी कि गांधीजी ने १० फरवरी, १९४३ से पुनः उपवास आरम्भ कर दिया है। इस उपवास के कारणों का ठीक-ठीक पता किसी को भी न था। गांधीजी का स्वास्थ्य पहले से ही खराब था, अब तो उनकी स्थिति दिन पर दिन बिगड़ने लगी। सरकार ने उन्हें रिहा करने या समझौते की बातचीत करने से तब तक इनकार कर दिया, जब तक कांग्रेस अगस्त-प्रस्ताव की नीति को छोड़ न दे। सरकार का यह रुख देखकर वायसराय की कार्यकारिणी के तीन सदस्यों—मोदी, सरकार और अणे ने पद-त्याग कर दिया। गांधीजी का उपवास २१ दिनों बाद समाप्त हुआ। ये इक्कीस दिन समस्त भारत के लिए बड़ी व्याकुलता के दिन थे; परन्तु जिन्ना और लीग पर इस घटना का कोई प्रभाव न पड़ा। वे इसको पूर्णतया

हिन्दुओं की चिन्ता का विषय समझते रहे। उपवास के शीघ्र पश्चात् ही दिल्ली में हुए राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए जिन्ना ने लिख भेजा, "श्री गाँधी के उपवास से उत्पन्न स्थिति वास्तव में हिन्दू-नेताओं के विचार का विषय है।" दिसंबर १९४३ में लीग ने सब प्रकार की स्थितियों का सामना करने के लिए मुसलमानों को संघटित करने और उनको पाकिस्तान-प्राप्ति के निमित्त आगामी संघर्ष के लिए तैयार करने को एक कार्य-समिति नियुक्त कर दी।

लार्ड वेवल का कार्य-काल—अक्टूबर, १९४३ ई० में लार्ड लिनलिथगो ने भारतीय रंगमंच से बिदा ली और तब लार्ड वेवल वायसराय बने। लार्ड वेवल ने सेना में काम किया था; कविता की ओर उसका रुझान था और राजनीतिज्ञ के रूप में वह चुना गया था। लिनलिथगो की बिदाई से स्थिति का तनाव कुछ कम हो गया, क्योंकि नये वायसराय के आगमन से नई आशाएँ जाग उठीं। १७ फरवरी, १९४४ को केन्द्रीय व्यवस्थापिका में, अपने भाषण में, वेवल ने भारत की प्राकृतिक एकता को स्वीकार कर जनता में यह आशा जगा दी कि और जो कुछ भी हो, पर इँगलैंड भारत-विभाजन का पक्ष न लेगा। वेवल ने इस भाषण में कहा था, "कोई भूगोल को नहीं बदल सकता। रक्षा की दृष्टि से तथा अनेक आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं की दृष्टि से भारत एक प्राकृतिक इकाई है।"

साम्प्रदायिक समझौते के प्रयत्न—राजगोपालाचारी-सूत्र—इधर भारत अपना समय गवाँ रहा था; उधर जापानी भारत के द्वार पर आघात कर रहे थे। भारत में साम्प्रदायिक तनाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। राजनीतिक गत्यवरोध ज्यों का त्यों बना हुआ था; भारत का भाग्य अज्ञात दिशा में घिसटता जा रहा था। वस्तुओं के भाव दिन पर दिन चढ़ते जा रहे थे, जिससे जन-जीवन बहुत दुखमय बन रहा था। चोर-बाजारी और मुनाफाखोर सरेआम अपने घृणित कारनामे कर रहे थे; सरकार के अध्यादेश उनका दमन करने में असमर्थ हो रहे थे। यह थी १९४४ में भारत की दशा।

कांग्रेस छोड़ देने के बाद से राजगोपालाचारी लीग के साथ समझौते के कार्य में व्यस्त हो गये थे। इसके लिए राजगोपालाचारी ने जो सूत्र (फार्मूला) तैयार किया, जिसे गांधीजी की स्वीकृति भी मिल गई थी और नेताओं में समझौते की जो बातचीत चलती रही, वह १९४४ के मध्य-काल में जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये रही। ६ मई, १९४४ को महात्माजी बिना किसी शर्त के रिहा कर दिये गये। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में अर्थ-विधेयक को विफल करने में कांग्रेस और लीग के मेल से समझौते की नई आशाएँ जाग उठीं। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी,

इलाहाबाद में कांग्रेस से अलग हो जाने के बाद से ही समझौते के अपने प्रस्तावों को तैयार करने में जुटे हुए थे। मई में गांधीजी की रिहाई से पहले से ही राजगोपालाचारी जिन्ना से समझौते की बातचीत कर रहे थे और अपनी योजनाओं पर विचार विमर्श कर रहे थे। गाँधीजी के रिहा होते ही राजगोपालाचारी ने उनके सामने अपनी योजनाएँ रखीं और सितम्बर, १९४४ के सारे महीने भर गांधी-राजगोपालाचारी-जिन्ना में समझौते की बातचीत चलती रही। ये प्रस्ताव संक्षेप में ये थे :— (१) लीग भारतीयों की स्वतन्त्रता की माँग स्वीकार कर ले और अस्थायी अन्तरिम सरकार बनाने में कांग्रेस के साथ सहयोग करे; (२) युद्ध के बाद एक कमीशन नियुक्त किया जाये जो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत और पूरब में मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेशों का सीमा-निर्धारण करे। इन प्रदेशों में अलग होने के प्रश्न के निर्णय के लिए वयस्क-मताधिकार के आधार पर जनमत लिया जाये ; (३) इन प्रदेशों के अलग किये जाने की स्थिति में, रक्षा, वाणिज्य एवं यातायात की सुरक्षा के लिए पारस्परिक समझौता किया जाये ; (४) यह शर्तें तभी लागू होंगी जब ब्रिटेन पूरी शक्ति हस्तांतरित कर दे। परन्तु समझौते की यह बातचीत भी निष्फल रही। जिन्ना पूरे ६ मुस्लिम प्रांतों का अलग किया जाना और जनमत-संग्रह को मुसलमानों तक ही सीमित किया जाना चाहता था तथा रक्षा इत्यादि समान हित की बातों में भी उसे समान नियन्त्रण पसन्द न था। समझौते के इन प्रयत्नों का विफल होना बहुत ही निराशाजनक था।

वेवल-योजना—मार्च १९४५ में लार्ड वेवल परामर्श करने के लिए इँगलैंड गया। मई में मजदूर दल के अलग हो जाने के कारण चर्चिल की सरकार अपदस्थ हो गई थी। आगामी चुनावों तक चर्चिल को अस्थायी सरकार के प्रधान के रूप में कार्य करना था। जून १९४५ में लार्ड वेवल भारत लौट आया और तब भारत और इँगलैंड में एक साथ ही भारत की संवैधानिक समस्या पर वक्तव्य प्रकाशित हुए। वे ल ने ये प्रस्ताव रखे कि वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् को सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों में समानता के आधार पर पूर्णतया भारतीय बना दिया जाये, केवल रक्षा-मंत्री का पद भारतीयों के हाथ में न रहेगा। वेवल ने आशा प्रकट की कि केन्द्र में सहयोग स्थापित हो जाने पर प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं की पुनः स्थापना हो सकेगी और परामर्श-दात्री स्थापना समितियाँ हटाई जा सकेंगी। वेवल ने आगे कहा कि ये प्रस्ताव किसी प्रकार भी "भारत के लिए भावी स्थायी संविधान या संविधानों" पर प्रभाव न डा गे।

कांग्रेस नेता रिहा किये गये और वेवल शिमला में कांग्रेस और लीग के नेताओं से बातचीत चलाने लगा। अन्ततः शिमला की ये वार्ताएँ भी विफल रहीं। शिमला

का वातावरण सफलता की अपेक्षा विफलता के लिए ही अधिक प्रभावकारी था। इन वार्ताओं की विफलता का कारण यह था कि जिन्ना ने तब तक किसी भी प्रकार के समझौते से इनकार कर दिया, जब तक सभी मुसलमान सदस्यों को चुनने का लीग का अधिकार स्वीकार नहीं कर लिया जाता। कांग्रेस अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए लीग की इस माँग को स्वीकार कैसे कर सकती थी। शिमला-सम्मेलन की विफलता के लिए कांग्रेस लीग और वेवल को दोष देने लगी और जिन्ना हिन्दू-भारत पर यह दोष मढ़ने लगा। भारत में गत्यवरोध बना ही रहा।

इसी बीच इँगलैंड में चुनाव हुए। जुलाई १९४५ में मजदूर-दल चुनाव में अत्यधिक बहुमत से जीत गया। एमरी ने अपना स्थान खो दिया। क्लिमेंट ऐटली प्रधान मंत्री बने और भारत-सचिव के पद पर लार्ड पैथिक लारेंस प्रतिष्ठित हुए।

जय हिंद—आइ० एन० ए० पर मुकदमा—कुछ समय के लिए जनता का ध्यान संवैधानिक योजनाओं से हटकर दिल्ली के लाल किले पर केन्द्रित हो गया; जहाँ भारतीय राष्ट्रीय सेना (आइ० एन० ए०) के कर्नल शाहनवाज, कैप्टन सहगल इत्यादि पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया जा रहा था। उस समय सारे देश में इन्हीं की चर्चा होने लगी, इनके 'जय हिन्द' के नारे गूँजने लगे और परस्पर अभिवादन के लिए 'वन्दे मातरम्' के स्थान पर लोग 'जय हिन्द' कहने लगे। इस मुकदमे के दौरान में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के शौर्यपूर्ण कार्य प्रकाश में आये और नेताजी जनता के हृदय में बस गये। दिवंगत नेताजी भारत की आकांक्षाओं के प्रतीक बन गये। कांग्रेस ने अपने आप को भारतीय राष्ट्रीय सेना से अभिन्न बना दिया। व्यवस्थापिका में कांग्रेस-दल के नेता श्री भूलाभाई देसाई आइ० एन० ए० की पैरवी करनेवालों के प्रधान बने और स्वयं जवाहरलाल नेहरू जी ने एक बार फिर बैरिस्टर की पोशाक पहनी। सर तेज बहादुर सप्रू तक, बीमार होते हुए भी, मुकदमे की शुरूआत के दिन उपस्थित हुए परन्तु आइ० एन० ए० के प्रथम तीन व्यक्तियों शाहनवाज, सहगल और ढिल्लों के मुक्त होते ही यह उत्साह शिथिल होने लगा और जनता आइ० एन० ए० के विषय में भूल-सी गई। फिर भी आइ० एन० ए० के मुकदमों से इँगलैंड के भारतीय सेना की स्वामिभक्ति के पूर्ण विश्वास की नीव हिल गई; फरवरी, १९४६ में बंबई में नौ-सेना के कर्मचारियों की हड़ताल से इस विश्वास को और प्रबल आघात लगा। भारतीय सैनिकों की सहायता के बिना इँगलैंड भारत पर अपना अधिकार बनाये नहीं रख सकता था; भारतीय सेना में विद्रोही भावनाओं के बढ़ जाने तथा कुछ अन्य कारणों ने मिलकर अन्ततः इँगलैंड को सत्ता का हस्तान्तरण कर देने के लिए बाध्य कर दिया। ऐटली की नई सरकार ने वेवल को इँगलैंड बुलाया। वह अगस्त में लंदन पहुँच

गया। इसी बीच केंद्रीय एवं प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं के चुनाव की घोषणा की गई। लंदन से निर्देश प्राप्त कर वेवल सितम्बर, १९४५ को भारत लौट आया। उसने घोषणा की कि "हिज मैजेस्टी की सरकार यथासंभव शीघ्र ही संविधान-सभा का निर्माण और फिलहाल के लिए भारत के प्रमुख दलों की सहायता से कार्य-कारिणी परिषद् का पुनः संघटन" करना चाहती है। कांग्रेस को वेवल की घोषणा संतोषप्रद प्रतीत नहीं हुई, फिर भी उसने आगामी चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया। चुनावों में हिन्दू-निर्वाचन-क्षेत्रों में कांग्रेस की और मुसलमान-क्षेत्रों में लीग की लोक-प्रियता स्पष्ट प्रकट हुई। सिंध और बंगाल को छोड़ अन्य सभी प्रांतों में कांग्रेस-मंत्रिमंडल बने। पंजाब में यूनियनिस्टों, सिक्खों और कांग्रेस का मंत्रिमंडल बना।

कैबिनेट मिशन—फरवरी, १९४६ में पार्लियामेंट में घोषणा की गई कि मंत्रिमंडल (कैबिनेट) के सदस्यों—लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और श्री ए० वी० ऍलैक्जेन्डर का मिशन शीघ्र ही भारत की स्थिति का प्रत्यक्ष अध्ययन करने, संविधान-सभा की स्थापना में और भारत के प्रमुख दलों की सहायता से कार्यकारिणी परिषद् के निर्माण में सहायता करने के लिए भारत जायेगा। मार्च, १९४६ में प्रधान मंत्री एटली ने घोषणा की कि किसी अल्पसंख्यक वर्ग को बहुसंख्यक वर्ग के आगे विशेष मताधिकार (वीटो) नहीं दिया जा सकता। कांग्रेस ने इस घोषणा का स्वागत किया और समझा गया कि सरकार का रुख बदलने लगा है।

कैबिनेट-मिशन मार्च १९४६ में भारत पहुँचा और जून में यहाँ से बिदा हुआ। इसने कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधियों से अनेक मुलाकातें कीं और इनके साथ बहुत से सम्मेलन किये। कांग्रेस और लीग के राजनीतिक उद्देश्यों की भिन्नता ने इनमें किसी प्रकार का समझौता असंभव बना दिया। १६ मई, १९४६ को मिशन ने अपना निर्णय घोषित किया। इसकी प्रमुख बातें यह थीं:—

(१) भारत एक यूनियन होगा, जिसमें ब्रिटिश-भारत और भारतीय रियासतें सम्मिलित होंगी, जो वैदेशिक संबंधों, रक्षा और यातायात का कार्य सँभालेंगी और इसको आवश्यक कर उगाहने का अधिकार होगा।

(२) किसी ऐसे प्रश्न का निर्णय, जिसमें कोई प्रधान साम्प्रदायिक समस्या उठाई गई हो, यूनियन की व्यवस्थापिका में उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत तथा दोनों प्रधान सम्प्रदायों के मतों एवं सभी उपस्थित और मत देनेवाले सदस्यों के बहुमत से होगा।

(३) यूनियन के विषयों के अतिरिक्त सभी विषय और शेषाधिकार (Residuary powers) प्रांतों को प्राप्त होंगे।

(४) प्रांतों को स्वतन्त्रता होगी कि वे कार्यकारिणी एवं व्यवस्थापिका सहित अपने वर्ग बना सकें और इस प्रकार का प्रत्येक वर्ग सर्वसामान्य समझे जानेवाले विषयों का चुनाव कर सकेगा। तीन वर्ग बन सकेंगे—(अ) मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश), विहार, मध्य प्रांत और उड़ीसा, (व) पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत और सिंध, (स) वंगाल और आसाम।

(५) संविधान-सभा में ब्रिटिश-भारत के २९६ सदस्य होंगे (२१० सामान्य, ७८ मुसलमान, ४ सिक्ख, ४ चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों से) और भारतीय रियासतों के अधिक से अधिक ९३ सदस्य होंगे। ब्रिटिश-भारत के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के निम्न सदन (Lower House) के सदस्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के ढंग पर करेंगे। रियासतों के सदस्यों का चुनाव परामर्श द्वारा निर्धारित होगा।

(६) संविधान-सभा तीन भागों में बाँटी जायेगी—(अ) मद्रास, वम्वई, संयुक्त-प्रांत, विहार, मध्यप्रान्त, उड़ीसा तथा चीफ कमिश्नरों के तीन प्रान्तों के १९० सदस्य; (व) पंजाव, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, सिन्ध और विलोचिस्तान के ९३ सदस्य; और (स) वंगाल और आसाम के ७० सदस्य।

(७) एक अन्तरिम सरकार स्थापित की जायेगी; जिसमें प्रमुख राजनीतिक दलों के सदस्य होंगे।

(८) संविधान-सभा इंगलैंड के साथ सन्धि करेगी।

(९) संविधान के लागू हो जाने के बाद, कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापिका के मत से उस वर्ग से अलग होने के लिए स्वतन्त्र होगा, जिसमें उसे रखा गया है।

(१०) ब्रिटिश-भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर, ब्रिटिश-क्राउन न तो रियासतों पर अपना प्रभुत्व रख सकेगा और न भारत में अपनी उत्तराधिकारी सरकार को सौंप सकेगा।

कैबिनेट-मिशन के प्रस्तावों की तरह-तरह की आलोचनाएँ हुईं; फिर भी सभी दलों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने मुसलमानों का पाकिस्तान बनाने का अधिकार स्पष्टतः स्वीकार कर लिया। कैबिनेट-मिशन की योजना द्विविध थी—एक तो दीर्घकालीन योजना, जिसका संबंध संविधान-सभा से था और दूसरी अल्पकालीन योजना; जिसमें गवर्नर-जनरल की मंत्रि-परिषद् के पुनःसंघटन पर विचार किया गया था। जुलाई, १९४६ में संविधान-सभा के लिए चुनाव हुए, इन्होंने कांग्रेस की अत्यधिक लोकप्रियता और मान्यता सिद्ध कर दी। २९३ सदस्यों में से कांग्रेस के पक्ष के २११ सदस्य चुने गये। लीग केवल ७३ सीटें

प्राप्त कर सकी। इन चुनावों ने जिन्ना को भयत्रस्त कर दिया और जुलाई १९४६ में लीग ने कैबिनेट-मिशन की योजना की अपनी स्वीकृति वापिस लेते हुए पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए, 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' (Direct Action) करने का प्रस्ताव पास किया और इसको आरम्भ करने के लिए १६ अगस्त का दिन निश्चित किया।

अन्तरिम-योजना—जिन्ना के इस दुराग्रह से कि अन्तरिम सरकार में कांग्रेस और लीग में समानता होनी चाहिए और लीग से बाहर का कोई मुसलमान इसमें शामिल न किया जाये, बाध्य होकर कांग्रेस ने अन्तरिम प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। इससे जिन्ना की स्थिति बड़ी संकटमय हो गई। उसने कांग्रेस पर कैबिनेट योजना को पूर्णतः स्वीकार न करने का दोष लगाया और जोश में आकर लीग को सलाह दी कि वह कैबिनेट योजना पर पुनः विचार करे, जिसके फलस्वरूप लीग ने कैबिनेट योजना के प्रति अपनी स्वीकृति वापिस लेकर 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' की धमकी दे दी। नेहरू और जिन्ना की समझौते की बातचीत विफल हो जाने पर, जून, १९४६ में पुरानी कार्यकारिणी परिषद् भंग कर दी गई और एक कार्य-संचालक सरकार स्थापित की गई।

'प्रत्यक्ष-कार्यवाही' और अन्तरिम-सरकार—कार्य-संचालक सरकार के संघटन के ढंग से ही स्पष्ट था कि यह एक अस्थायी व्यवस्था मात्र है। लार्ड वेवल अन्तरिम सरकार बनाने के लिए उत्सुक था। उसने एक अस्थायी सरकार के निर्माण में सहयोग करने के लिए पुनः दोनों दलों को जुलाई में आमंत्रित किया। साथ ही यह भी कह दिया कि दोनों दलों को एक दूसरे के मनोनीत सदस्यों पर आपत्ति करने का अधिकार न होगा और वह इस प्रणाली का स्वागत करेगा कि साम्प्रदायिक समस्याओं के निर्णय के लिए दोनों सम्प्रदायों का अलग-अलग बहुमत अपेक्षित होगा। जिन्ना ने यह आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया और वह प्रत्यक्ष 'कार्यवाही' की तैयारी करने लगा। लीग द्वारा पूरी कैबिनेट-योजना के अस्वीकार कर दिये जाने पर, अब कांग्रेस ही एक ऐसा दल रह गया था, जो इस योजना को स्वीकार किये हुए था। अगस्त में वेवल ने कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू को सरकार में सम्मिलित किये जाने के लिए नामों की सूची प्रस्तुत करने का आमंत्रण दिया। इससे जिन्ना की निराशा का ठिकाना न रहा, क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास था कि उसके बिना सरकार कोई भी कदम न उठायेगी। अब वह अँगरेजों के विश्वासघात और मुसलमानों के विरुद्ध ब्रिटिश-कांग्रेस गठबन्धन का ढोल पीटने लगा। नेहरू ने जिन्ना को अन्तरिम सरकार में भाग लेने के लिए मनाने का पुनः प्रयत्न किया, परन्तु जिन्ना जिस हवाई घोड़े पर सवार था, उससे उसकी विचार-शक्ति समाप्त हो चुकी थी। उसने किसी

प्रकार भी नेहरू का कहना न माना; अन्त में नेहरू ने सात नामों की एक सूची प्रस्तुत की। इस सूची में जिन कांग्रेसवालों के नाम दिये गये थे, उनमें से एक हरिजन, एक भारतीय ईसाई, एक सिक्ख, एक पारसी और दो अलीगी मुसलमान थे। वायसराय ने इस सूची को स्वीकार कर लिया और अन्तरिम सरकार बन गई।

जिन्ना के क्रोध का ठिकाना न रहा। वह क्रोध से आग-बबूला हो उठा और जमीन-आसमान एक कर देने की धमकियाँ देने लगा। अपने ही वृथाभिमान से जिन्ना 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के लिए बाध्य हुआ।

प्रत्यक्ष कार्यवाही—कलकत्ता का नर-संहार—१६ अगस्त, १९४६—अगस्त १६, कलकत्ता में 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' का दिन घोषित किया गया। उस दिन हड़ताल की घोषणा की गई। उस समय प्रधान मंत्री सुहरावर्दी कलकत्ता के शासनतन्त्र के प्रधान थे। बड़े सबेरे से हिन्दुओं का वध और उनकी सम्पत्ति की लूट का कार्य-क्रम व्यवस्थित ढंग से आरम्भ किया गया; पुलिस निष्क्रिय बनी रही। यह मार-काट चार दिनों तक चलती रही; ३००० व्यक्ति मारे गये और हजारों की सम्पत्ति नष्ट की गई। सारे देश में भय की लहर दौड़ गई। लीग की नीति घृणिततम गुण्डागर्दी पर उतर आई। सारा दोष लीग का था। कलकत्ता के उपद्रवों से सारे देश का वातावरण विषाक्त हो उठा और इनकी चरम परिणति पंजाब में हुई। देश भर में छुट-पुट दंगे होते रहे।

२ सितम्बर को अन्तरिम सरकार ने शपथ ली; नेहरू इसके प्रधान बने। जिन्ना और लीग के लिए यह एक कड़वी घूंट थी। जिन्ना के घमंड का तो ठिकाना ही क्या था; अब उसने लीग को एक भीषण मार्ग अपनाने का परामर्श दिया; उसने निश्चय किया कि अन्तरिम-सरकार की स्थापना के दिन लीगी 'शोक-दिवस' मनायें और काले झंडों का प्रदर्शन करें; इन प्रदर्शनों के फलस्वरूप कई स्थानों पर उपद्रव हुए।

इन समस्त कार्यों से लीग और जिन्ना के प्रति किसी का विश्वास न रह गया। सब समझ गये कि ये साम्प्रदायिक दुर्भावना फैलाने के अतिरिक्त और कुछ करने में समर्थ नहीं हैं। अन्तरिम सरकार में दो मुसलमान सदस्यों की उपस्थिति का, जिनमें से सर शफात अहमद खाँ पहले लीग के सदस्य रह चुके थे, बड़ा शान्तिकारी प्रभाव पड़ा। जिन्ना ने समय की गति भाँप ली और अन्तरिम सरकार में भाग लेना स्वीकार कर लिया। लीग के पाँच सदस्यों ने, जिनमें से एक परिगणित जाति का था, २० अक्टूबर १९४६ को अन्तरिम सरकार में शपथ ली, परन्तु इससे पहले से ही सारा भारत साम्प्रदायिक आग में झुलस रहा था।

नोआखली और बिहार—पंडित नेहरू की प्रधानता में अन्तरिम-सरकार

के बन जाने से लीग के क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। कांग्रेस और हिन्दुओं के प्रति लीग का विष-वमन दिन पर दिन बढ़ता गया! जिन्ना से लेकर छोटा से छोटा लीग का उत्तरदायी नेता जनता की उग्रता उभाड़ने के लिए खुल्लम-खुल्ला प्रचार करने लगा। वे चंगेज खां के अत्याचारों और नर-संहारों को दुहराने की बातें करने लगे। दिल्ली के एक सम्मेलन में 'मुस्लिम लीग के शेरों और बाघों' ने भयंकर गर्जना की और खुले आम ऐलान किया कि वे सारे देश में खून की नदियाँ बहा देंगे। लीग ने कांग्रेस को भयभीत कर अपनी बात मनवाने की नीति ग्रहण कर ली थी। लीगी स्वयंसेवक सड़कों पर नारे लगाते हुए घूमने लगे "मारेंगे मर जायँगे, पाकिस्तान बनायँगे।"

इस शरारत भरे प्रचार का आशानुरूप फल हुआ। साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ गया। देश-भर में दंगों और कर्फ्यू का राज हो गया। हथियार जमा किये जाने लगे और निश्शंक हिन्दुओं पर आते-जाते छुरों के वार होने लगे। जान पड़ता था कि भारत में रक्तमय गृह-युद्ध छिड़कर ही रहेगा। सबसे भयंकर नर-संहार बंगाल में और वहाँ भी विशेषतया नोआखाली में हुआ। वहाँ १५ अक्टूबर, १९४६ को दंगे शुरू हुए। बाहर से पठान बुलाये गये और एक गाँव के बाद दूसरे गाँव के निस्सहाय हिन्दुओं का निर्ममतापूर्वक अकारण वध किया जाने लगा। उनकी सम्पत्ति लूटी गई, उनकी स्त्रियों को भ्रष्ट किया गया। हजारों हिन्दू भाग कर बिहार पहुँचे, जहाँ इन शरणार्थियों की दुर्दशा देखकर हिन्दुओं की पाशविक वृत्तियाँ जाग उठीं। उन्होंने नवम्बर में नोआखाली के कुकृत्यों का प्रतिशोध लेना आरम्भ कर दिया। बिहार के उपद्रवों का दमन करने के लिए कांग्रेस सरकार ने कड़ी कार्यवाही की। पंडित नेहरू ने धमकी दी कि यदि उपद्रव शान्त न हुए तो आकाश से गोले बरसाये जायेंगे। उन्होंने हिन्दुओं को बहुत डाँट-फटकार बताई, जिससे हिन्दू क्रुद्ध हो उठे। उनमें यह भावना दृढ़ हो गई कि कांग्रेस हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों की अपेक्षा मुसलमानों की सुरक्षा की अधिक चिंता करती है, नेताओं की अपीलों का कोई प्रभाव न हुआ। हत्याएँ और प्रतिशोध देश के राजनीतिक जीवन को मलिन करते रहे। महात्मा गांधी ने साम्प्रदायिक सद्भाव जगाने के लिए अपने प्राणों को संकट में डालकर उपद्रव के प्रमुख अड्डों का दौरा किया। नोआखाली में वे पैदल गाँव-गाँव घूमकर पारस्परिक सद्भाव का प्रचार करने लगे। कलकत्ता, नोआखाली और बिहार में महात्माजी की उपस्थिति तथा उनकी प्रार्थना-सभाओं का बड़ा शान्तिकारी प्रभाव पड़ा; परन्तु निर्दयतापूर्वक खंड-खंड किये गये हृदय किसी प्रकार मिलाये न जा सकते थे।

अन्तरिम-सरकार में लीग का प्रवेश—जब सारे देश में संहार-लीला मची

हुई थी, केन्द्र में लीग को प्रवेश कराने के प्रयत्न जारी थे। इनमें लार्ड वेवल प्रमुख भाग ले रहे थे क्योंकि जब तक मंत्रिमंडल की एकरूपता को भंग करने के लिए उसमें लीगी सदस्यों का प्रवेश न करा दिया जाता, तब तक वायसराय तो धीरे-धीरे एक संवैधानिक प्रधान मात्र बनता जा रहा था। ९ सितम्बर को जिन्ना ने सारी योजना पर नये सिरे से विचार किये जाने का सुझाव रखा। लार्ड वेवल ने बड़ी उत्सुकता से इस सुयोग को ग्रहण किया और जिन्ना के साथ अनेक मुलाकातें कीं, जिनका परिणाम यह हुआ कि लीग ने सरकार में भाग लेने का निश्चय कर लिया और १५ अक्टूबर, १९४७ को लीग के मनोनीत पाँच सदस्यों ने सरकार में प्रवेश किया ; इनमें से एक सदस्य— जोगेन्द्रनाथ मंडल, हरिजन था। लीग ने इसको कांग्रेस द्वारा अलीगी मुसलमानों के चुने जाने के उत्तर के रूप में चुना था।

सरकार में प्रवेश करने पर लीगी सदस्य इंगलैंड के राजा के मित्रों का पार्ट अदा करने लगे। पंडित नेहरू ने लीगी सदस्यों के दुराग्रहों की तीव्र निन्दा की। गांधीजी की आशंका सत्य सिद्ध हुई। लीग का मंत्रिमंडल में प्रवेश करने का उद्देश्य अन्दर घुसकर लड़ना था। पंडित नेहरू के आरोपों का लीगी सदस्यों के नेता लियाकतअली खाँ ने यह कहकर उत्तर दिया कि नेहरूजी के क्रोध का कारण लीग का मंत्रिमंडल में उनकी प्रधानता को न मानना है। इस स्थिति में सरकार को अपने सामान्य कार्य करना भी असंभव हो गया। कांग्रेस-मंत्री सरदार पटेल ने नवम्बर १९४६ में घोषणा की कि "सत्ता हस्तान्तरण के दौरान में, वर्तमान केन्द्रीय सरकार, निष्क्रिय अवस्था में है।"

संविधान-सभा की बैठक—९ दिसम्बर, १९४६ में संविधान-सभा की दिल्ली में बैठक हुई। लीग ने इसका पूर्णतः बॉयकाट किया; उनके रिक्त स्थानों ने एक नई समस्या खड़ी कर दी। स्पष्ट विदित हो गया कि लीग कैबिनेट मिशन की दीर्घकालीन योजना को स्वीकार न करेगी। जिन्ना ने पाकिस्तान का संविधान बनाने के लिए एक अलग संविधान-सभा बनाये जाने की अपनी माँग दुहराई। इस माँग को बल देने के लिए सारे देश में और विशेषकर पंजाब में हिन्दुओं एवं मलिक खिजर हयात खाँ के मंत्रिमंडल के विरुद्ध आतंक की नीति जोर-शोर से चलाई जाने लगी। खिजर हयात खाँ, पंजाब के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और यूनियनिस्ट दल के नेता सिकन्दर हयात खाँ के पुत्र थे।

एटली का फरवरी, १९४७ का वक्तव्य—इंगलैंड जून, १९४८ तक भारत छोड़ देगा—भारत और सारा संसार प्रधान मंत्री एटली की २० फरवरी, १९४७ की इस घोषणा से आश्चर्यचकित हो गया कि "हिज मैजेस्टी की सरकार यह स्पष्ट

कर देना चाहती है कि उसका यह निश्चित मंतव्य है कि अधिक से अधिक जून १९४८ तक उत्तरदायी भारतीय हाथों में सत्ता हस्तान्तरण कर देने के लिए आवश्यक कदम उठाये जायँ।" इस वक्तव्य में आगे कहा गया था कि सरकार संविधान सभा द्वारा सभी संबंधित दलों की स्वीकृति के आधार पर बनाये हुए संविधान को पार्लियामेंट के सामने रखेगी। परन्तु यदि यह प्रकट होगा कि ऐसा संविधान एक पूर्णतः प्रतिनिधि-सभा द्वारा जून, १९४८ से पहले निर्मित नहीं हो पावेगा, तो हिज मैजेस्टी की सरकार को निश्चय करना पड़ेगा कि वह इस निश्चित तिथि पर ब्रिटिश-भारत की केन्द्रीय शासन-सत्ता किसको हस्तान्तरित करे; उसे निश्चय करना पड़ेगा कि वह ब्रिटिश-भारत के लिए किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार को समस्त शासनाधिकार सौंप दे या किन्हीं क्षेत्रों में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को सौंप दे या अन्य किसी ऐसे ढंग से शासनाधिकार हस्तान्तरित करे जो भारतीय जनता के लिए सर्वाधिक हितकर प्रतीत हो।

यह वक्तव्य भारतीय राजनीतिज्ञों को उस शासनाधिकार को ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाने की चुनौती थी, जिसे हस्तान्तरित कर भारत से चले जाने के लिए ब्रिटिश सरकार उत्सुक थी। इस घोषणा का भव्य स्वागत हुआ, परन्तु इस पर आनन्द नहीं मनाया गया; कांग्रेस-क्षेत्रों तक में इससे व्यग्रता फैल गई क्योंकि वे भी इतने आकस्मिक रूप से शासन-सूत्र सँभालने के लिए तैयार न थे। बहुत से लोग जून, १९४८ को इस क्रान्तिकारी हस्तान्तरण के लिए बहुत जल्दबाजी समझ रहे थे; इन लोगों का विचार था कि हिन्दू-मुसलमान तनाव को देखते हुए ऐसा कदम भारत के भविष्य को अंधकारमय बना देगा। इस समय साम्प्रदायिक वातावरण बहुत क्षुब्ध हो उठा था और सारा देश गृह-युद्ध की आशंका से त्रस्त था।

इस वक्तव्य के जिस अनुच्छेद में कहा गया था कि यदि सर्वसम्मति से कोई संविधान तैयार न किया जा सका, तो शासन-सत्ता प्रान्तीय सरकारों को सौंप दी जायेगी, जिन्ना के लिए बहुत उत्साह-वर्धक हुआ। परन्तु इस वक्तव्य में भारत के राजनीतिक दलों के पारस्परिक समझौते को भावी कार्य-क्रम के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित न बतलाये जाने से उसको निराशा भी कम न हुई।

पंडित नेहरू ने असहयोगी दलों से सहभागी के रूप में सहयोग करने के लिए पुनः अपील की, परन्तु इसका कोई प्रभाव न पड़ा। जिन्ना का दुराग्रह और भी बढ़ गया और उसी अनुपात में आतंक फैलाने की नीति भी उग्र हो गई।

लार्ड लुई माउंटबेटन का आगमन--२० फरवरी के वक्तव्य के साथ ही, घोषणा की गई कि लॉर्ड वेवल का कार्य-काल घटाकर समाप्त कर दिया गया है। उसके स्थान पर लार्ड लुई माउंटबेटन की नियुक्ति हुई है। लॉर्ड माउंटबेटन को

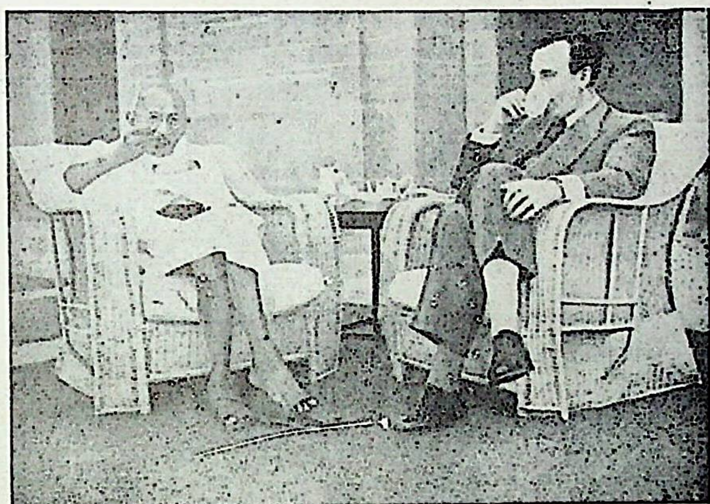
अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर-जनरल और स्वतन्त्र भारत का प्रथम गवर्नर-जनरल बनना था। माउंटबेटन इँगलैंड के राजघराने का व्यक्ति था; स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व के साथ-साथ उसमें नीति-कौशल और सद्भावनाओं की भी कमी न थी। भारत की भलाई के लिए अपनी हार्दिक इच्छा, अपने आकर्षक व्यवहार और दूसरों से अपनी बात मनवाने की शक्ति के कारण वह उन सभी लोगों को प्रभावित कर सका, जिनके साथ उसका अपने कार्यकाल में सम्पर्क हुआ। उसके कार्य में उसकी उदारचेता पत्नी ने भी बहुत हाथ बँटाया। उसकी पत्नी के स्वभाव में नई स्थितियों के अनुरूप ढल जाने की क्षमता थी और उसने अपने आकर्षक व्यवहार से अपनी जन्म-भूमि (इँगलैंड) के प्रबलतम प्रतिपक्षियों के हृदय जीत लिये। लार्ड और लेडी माउंटबेटन दोनों ही देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत थे। दोनों ही शान्तिपूर्ण समझौता कराने और भारत एवं इंगलैंड के सम्बन्ध-सूत्र को टूटने से बचाने के लिए उत्सुक थे। लॉर्ड माउंटबेटन के महात्मा गांधी एवं पंडित नेहरू के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क ने उसके भारत-विभाजन की योजना के कांग्रेस द्वारा स्वीकार किये जाने में बहुत असर डाला। जिन्ना के प्रति-दिन के बढ़ते हुए दुराग्रह और बर्बरता तथा अँगरेजों की भारत को जून, १९४८ तक चाहे वह शान्ति की स्थिति में रहे या अराजकता की, छोड़कर चले जाने की धमकी से कांग्रेस के सामने दो ही विकल्प रह गये थे—या तो देश का विभाजन स्वीकार किया जाये या गृह-युद्ध के लिए तैयार हुआ जाय।

माउंटबेटन-योजना—३ जून, १९४७ को माउंटबेटन की भारत-विभाजन की योजना की घोषणा की गई। यह योजना अखंड हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में एक सुलह थी। इस योजना का सम्बन्ध केवल ब्रिटिश-भारत तक था। इसमें पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, बंगाल, बिलोचिस्तान, सिंध और आसाम में सिलहट का जिला, जिसमें मुसलमान जन-संख्या प्रधान थी, मुसलमान प्रान्त बताये गये। इन प्रान्तों में इस प्रश्न पर कि इनका संविधान वर्तमान संविधान-सभा द्वारा बनाया जाय या अलग संविधान-सभा द्वारा, जनता की इच्छा जानने के लिए इस योजना में निम्न कार्य-प्रणाली बनाई गई :—

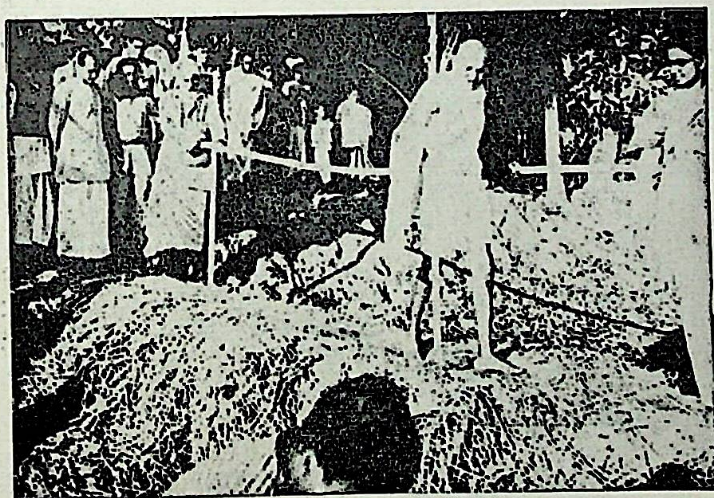
१. सिन्ध और बिलोचिस्तान की प्रान्तीय व्यवस्थापिकाएँ यूरोपीय सदस्यों को अलग कर, अपने अपने प्रान्त के लिए इस बात का निश्चय करेंगी कि वह किस संविधान-सभा में सम्मिलित होगा।

२. उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और सिलहट के जिले में जनमत-संग्रह किया जायगा।

३. बंगाल और पंजाब की प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं की दो भागों में अलग-



लार्ड माउंटबैटन और महात्मा गांधी



नोआखाली में महात्मा गांधी



भारत-विभाजन के लिए प्रस्तुत



विधान-सभा में लार्ड माउंटबैटन

अलग बैठक होगी—एक भाग में मुस्लिम-बहुसंख्यक जिलों के प्रतिनिधि होंगे और दूसरे में हिन्दू-बहुसंख्यक जिलों के। ये दोनों भाग अलग-अलग निश्चय करेंगे कि वे किस संविधान-सभा में शामिल होंगे।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा विभाजन स्वीकार कर लिये जाने की स्थिति में, भारत के दोनों भागों की सरकारों में रक्षा, अर्थ-व्यवस्था, यातायात तथा अन्य विषयों पर समझौते की बातचीत चलाई जायगी।

उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पंजाब और बंगाल के मुस्लिम-प्रधान भाग, सिन्ध, बिलोचिस्तान और सिलहट इन सभी ने अलग संविधान-सभा बनाये जाने का प्रस्ताव किया ; इस प्रकार पाकिस्तान का निर्माण हुआ; परन्तु यह जिन्ना के स्वप्नों का सा विशाल नहीं था।

यह योजना तत्कालीन परिस्थितियों में यथासंभव सबसे अच्छा समझौता था। सभी पार्टियों ने इसे स्वीकार कर लिया, यद्यपि ऐसा करने में हिचक सभी को हुई और प्रसन्नता किसी को भी न हुई। इस योजना के सिद्धान्त 'भारतीय स्वातन्त्र्य विधेयक' (Indian Independence Bill) में ग्रथित हुए जो जुलाई, १९४७ में कानून बना। इसकी व्यवस्थाओं के अनुसार भारत और पाकिस्तान को १५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्र होना था, और इस तिथि को इन दोनों की संविधान-सभाओं को सार्वभौम प्रभुत्व धारण करना था।

स्वतन्त्रता के प्रथम फल—किसी सामाजिक ढाँचे के टुकड़े-टुकड़े करना उतना ही वेदनामय होता है जितना जीवित शरीर का अंग-भंग। दोनों कार्यों में ही खून बहता है। भारत-विभाजन के साथ खून की नदियाँ बह उठीं। यह था स्वतन्त्रता का पहला फल। माउंटबेटन की योजना का चित्र अभी अपूर्ण था। अभी तक जनता की प्रतिक्रियाएँ स्पष्ट न हो पाई थीं। नेताओं ने विभाजन की योजना को स्वीकार करते समय और सरकार ने बड़ी तत्परता से इस योजना को कानून का रूप देते समय इस परिवर्तन के गहरे परिणामों को अनुभव न किया था। निर्णयों की अत्यधिक शीघ्रता और इसके कार्यान्वित किये जाने की तत्परता से एक तूफान उठ खड़ा हुआ, जिसने साम्प्रदायिक घृणा की धुएँदार आग को लपटों में भड़का दिया। हिन्दू और विशेषतया विभाजित प्रान्तों के हिन्दू मुसलमानों को अपने देश के टुकड़े करनेवालों के रूप में देखने लगे। मुसलमान हिन्दुओं को अपना घोर शत्रु समझने लगे, जिनके कारण उनके स्वप्नों का विशाल पाकिस्तान माउंटबेटन योजना के कटे और सिकुड़े हुए पाकिस्तान के रूप में बदल गया था। जनता में यह भावना जोर पकड़ने लगी कि अब, जब कि देश का विभाजन हो ही गया है, प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने-अपने

हिस्से में चला जाना चाहिए। एक ही राज्य के नागरिक अपने ही घरों में विदेशी बन गये। इस समस्त कार्यवाही से असंतुष्ट मुसलमान चिल्लाने लगे—हिन्दुओं को पाकिस्तान से निकाल बाहर करो। स्वतन्त्रता के जन्म (१५ अगस्त) से पहले ही पंजाब में दंगे होने लगे थे। इन दंगों के समाचारों से हिन्दू-बहुसंख्यक क्षेत्रों का वातावरण भी क्षुब्ध हो उठा और वहाँ के मुसलमान पंजाब के अपने सजातियों के कुकृत्यों के लिए दंड पाने लगे। हिन्दू-मुसलमानों में आतंक फैल गया और वे अपने जन्म-स्थान को छोड़कर शरणस्थल की ओर दौड़ने लगे। पंजाब में हिन्दू स्त्री-पुरुषों और बच्चों के संहार से उत्साहित होकर सिन्ध और सीमाप्रान्त के मुसलमानों ने भी संहार-लीलाएँ आरम्भ कर दीं। धार्मिक और राजनीतिक जोश से अन्धे लोगों की यह विनाश-लीला तब तक चलती रही, जब तक पश्चिमी पाकिस्तान हिन्दुओं से बिलकुल खाली न हो गया। सहस्रों स्त्री-पुरुष अपना घर-बार छोड़-कर हिन्दुस्तान की ओर चल पड़े; शरणार्थियों के इन निहत्थे दलों को कभी-कभी तो गोलियों की बौछारों में से होकर गुजरना पड़ता था। पूर्वी पंजाब के हिन्दुओं ने भी प्रतिशोध लेने में ऐसा ही उत्साह प्रकट किया। इतने बड़े पैमाने पर लोगों के निष्क्रमण से शरणार्थी-समस्या उत्पन्न हो गई और इस समस्या ने विशाल आकार धारण कर लिया, क्योंकि इसमें केवल मानवीय हित ही नहीं अपितु मानवीय भाव-नायें भी गुथी हुई थीं।

पूर्वी पाकिस्तान, जिसने इस विभीषिका-चक्र को गतिशील किया था, पश्चिमी पाकिस्तान से अधिक समझदार निकला। गांधीजी की उपस्थिति से, भाड़े के उन पठानों के चले जाने से, जिनको सुहरावर्दी ने 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के दिन भर्ती किया था, तथा बिहार में हिन्दुओं के प्रतिशोध के फलस्वरूप पूर्वी पाकिस्तान बहुत कुछ चेत गया था। १५ अगस्त से पहले गांधीजी ने नोआखाली की ओर प्रस्थान कर दिया, परन्तु सुहरावर्दी के परामर्श से उन्होंने एक मुसलमान के घर को अपना निवास-स्थान बनाया और वहाँ से शान्ति एवं साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रचार करने लगे। उनकी प्रार्थना-सभाओं में हजारों लोग बड़ी उत्कंठा से भाग लेते थे और बंगाल का भूतपूर्व प्रधान मंत्री सुहरावर्दी, जिसने 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के दिन कलकत्ता में संहार-लीला रचाई थी, नित्य प्रति प्रार्थना-सभा में उपस्थित होता और बनावटी पश्चात्ताप के रूप में महात्माजी की अहिंसा के उपदेश को श्रवण करता। वह साम्प्रदायिक सद्भाव के आदर्श में नया मुंड़ा चेला था। प्रार्थना-सभा में उसकी उपस्थिति कुछ को हास्यास्पद जान पड़ती और बहुतों को व्यंग्यात्मक प्रतीत होती। गांधीजी उसको शहीद साहब के नाम से पुकारते थे, जिससे जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। महात्माजी की उपस्थिति ने कलकत्ता को पंजाब की सी विनाश-

लीला से बचा लिया। उनके उपदेशों ने जनता के हृदय को छू लिया और हिन्दू-मुसलमान सद्भाव के दर्शन होने लगे। परन्तु निराशावादी लोग सिर हिलाकर कह उठते कि यह सारा वातावरण इतना बनावटी है कि इसका अधिक समय तक टिका रहना असंभव ही है। घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि इनके कथन में कुछ सत्य अवश्य था।

१५ अगस्त १९४७ और इसके बाद——१५ अगस्त की मध्य-रात्रि में पंडित नेहरू और सरदार पटेल ने माउंटवेटन द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक प्रलेख पर अपने हस्ताक्षर किये; संभवतः इसमें महात्मा गांधी की पूर्ण स्वीकृति नहीं थी। भारत स्वतन्त्र हुआ। उस समय इन नेताओं को क्या मालूम था कि विभाजन के साथ-साथ कैसी-कैसी आपत्तियों और दुर्भाग्यों का सामना करना पड़ेगा; परन्तु और चारा ही क्या था? विभाजन के साथ भारत में एक नया युग आरम्भ हुआ। बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। पंडित नेहरू ने दिल्ली के लाल किले पर राष्ट्रीय-ध्वज फहराया। यदि इस समय सुभाषचन्द्र बोस जीवित होते तो उनका हृदय खुशी से फूला न समाता कि आखिर 'दिल्ली चलो' का उनका स्वप्न पूर्ण हुआ। भारत के भाग्य का काफिला एक मंजिल पर पहुँच गया था। फिर भी हृदयों में वेदना और निराशा समा रही थी। अपने घर-बार से उखड़े हुए तथा अज्ञात लक्ष्य की ओर घिसटते हुए शरणार्थियों के दलों की विषादपूर्ण छाया इस आनन्दोत्सव को धूमिल बना रही थी।

१४-१५ अगस्त की मध्य-रात्रि में संविधान-सभा का एक अधिवेशन हुआ। सभा ने प्रभु-शक्ति (Sovereign Power) धारण की, लार्ड माउंटबेटन स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल नियुक्त हुए और सब सदस्यों ने भारत के प्रति भक्ति की शपथ ली। शंख-ध्वनि गूँज उठी और महात्मा गांधी के जय-घोष से सारा वातावरण आन्दोलित हो उठा। परन्तु महात्माजी के हृदय में प्रसन्नता नाममात्र को भी न थी। उनको चारों ओर अंधकार दिखाई दे रहा था और जान-बूझकर वे दिल्ली के आनन्दोत्सवों से अनुपस्थित रहे।

गांधीजी कलकत्ता में थे। पंजाब की प्रतिक्रिया के रूप में वहाँ भी सितम्बर में दंगे होने लगे। गांधीजी ने अनुभव किया कि उनके सब साधन चुक गये हैं। उनके आध्यात्मिक शस्त्रागार में अब केवल एक ही शस्त्र रह गया था, और वह था उपवास। अब उन्होंने यही ग्रहण किया। उन्होंने तब तक आमरण अनशन की घोषणा कर दी जब तक साम्प्रदायिक संहार बन्द न हो जाय। सारा देश गांधीजी के जीवन के लिए चिन्तित हो उठा, परन्तु उनके इस कार्य की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करनेवाले अधिक न थे। जनता समझने लगी थी कि साम्प्रदायिक सद्भाव एक

आकाश-कुसुम ही है, जिसके पीछे दौड़ना बिलकुल व्यर्थ है। गांधीजी के उपवास का आशानुरूप प्रभाव हुआ। कलकत्तावासियों ने शान्ति बनाये रखने की प्रतिज्ञा की। कलकत्ता के मुसलमान गांधीजी के बहुत कृतज्ञ हुए और एक लीगी समाचार पत्र 'दि मॉर्निंग न्यूज' ने इन शब्दों में उनका सम्मान किया कि "वे मरने को तैयार थे, जिससे दूसरे शान्तिपूर्वक रह सकें।"

दिल्ली में शरणार्थियों के लगातार आते रहने और उनके मुँह से उनके साथ किये गये नृशंस अत्याचारों का वर्णन सुनने से दिल्ली की जनता में प्रतिशोध की भावना बलवती हो उठी और पंजाब में हुए कुकृत्यों की प्रतिक्रिया के रूप में दिल्ली में जो उपद्रव हुए, उनसे राजधानी का जीवन अस्तव्यस्त हो गया। शान्ति स्थापित करने के लिए बड़ी तत्परता से उपाय किये गये जिससे शीघ्र ही व्यवस्था स्थापित हो गई; और जब गांधीजी पंजाब जाने के लिए दिल्ली आये तो वे राजधानी में शान्ति की स्थापना के लिए ठहर गये। उन्होंने इस पागलपन को बन्द करने के लिए हिन्दुओं और सिक्खों से जोरदार अपीलें कीं, परन्तु इनका कोई प्रभाव न पड़ा। हृदय का पागलपन बुद्धि के तर्कों से रोका नहीं जा सकता।

गांधीजी का बलिदान—एक युग का अवसान—बाहर आशा का प्रकाश न पाकर, गांधीजी ने गुमराह लोगों को राह पर लाने के लिए फिर से उपवास करने के अपने निश्चय की घोषणा की। भारत-सरकार ने काश्मीर पर पाकिस्तान के प्रत्यक्ष आक्रमण के बदले के रूप में, पाकिस्तान को देय ५५ करोड़ रुपये की रकम न चुकाने का निश्चय कर लिया था; गांधीजी को यह नीति पसन्द न आई। गांधीजी कहने लगे कि "मेरे पास उन मुसलमान मित्रों के लिए कोई उत्तर नहीं है जो दिन-प्रतिदिन मेरे पास यह पूछने को आते हैं कि अब उन्हें क्या करना चाहिए। मेरा असामर्थ्य मुझ पर पिछले दिनों से दाँत पीसता रहा है। मेरे उपवास आरम्भ कर देने पर यह (असामर्थ्य) तत्काल दूर हो जायेगा। पिछले तीन दिनों से मैं इस पर विचार करता रहा हूँ। अन्तिम परिणाम मेरे हृदय में स्फुरित हो गया है और इससे मैं प्रसन्न हो गया हूँ। किसी व्यक्ति के पास, यदि वह शुद्ध है तो देने के लिए अपने जीवन से बढ़कर और कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं होती। मैं आशा और प्रार्थना करता हूँ कि मुझमें वह पवित्रता है जो मेरे कार्य का औचित्य सिद्ध कर देगी।"

१३ जनवरी, १९४८ को गांधीजी ने उपवास आरम्भ किया। सारा भारत चिन्तित हो उठा। सब लोग गांधीजी के प्राणों के लिए व्यग्र हो उठे, परन्तु साथ ही उनके उपवास के कारण का औचित्य लोगों की समझ में न आया। हिन्दुओं का एक वर्ग गांधीजी के हिन्दू-मुसलमान प्रश्न में अब भी टाँग अड़ाने की बुद्धिमत्ता

में संदेह करने लगा था, जव कि यह प्रश्न साम्प्रदायिक न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय वन चुका था। गांधीजी का राम और रहीम को एक में मिलाना और अपनी प्रार्थना-सभा में कुरान की आयतें पढ़ना तत्कालीन वातावरण के इतने विपरीत जान पड़ता था कि गांधीजी की इस मुसलमान पक्षपाती नीति के प्रति जनता का विरोध व्यक्त करने के लिए प्रदर्शन किये गये। हिन्दुओं में जो लोग युयुत्सु प्रकृति के थे, उनकी समझ में न आता था कि गांधीजी हिन्दुओं को ही मुसलमानों के दुष्कृत्यों का वदला लेने से क्यों रोकते हैं। ये लोग अनुभव कर रहे थे कि गांधीजी की मुसलमानों को प्रसन्न करने की नीति से हिन्दुओं को वहुत दुख झेलने पड़े हैं। भेड़िया कभी मेमने को समझाने की चेष्टा न करेगा। गांधीजी का यह उपदेश कि मेमने को अपना जीवन अर्पित कर भेड़िये को अपनी पवित्रता का विश्वास दिलाना चाहिए, इन लोगों को मान्य न था। यदि मेमने के मर जाने पर भेड़िये को विश्वास हो भी गया, तो इससे क्या लाभ? हिन्दुओं का एक भाग इस प्रकार के तर्क कर रहा था; गांधीजी के नेतृत्व से उसका विश्वास उठ चुका था और वह गांधीजी को हिमालय में तपस्या करने का सुझाव दे रहा था।

गांधीजी के उपवास का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि भारत-सरकार को पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपये देने के लिए वाध्य होना पड़ा। १६ जनवरी को इसकी घोषणा की गई। १८ जनवरी को दिल्ली की एक शांति-समिति द्वारा मुसलमानों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने तथा उनके साथ भाई-चारे का व्यवहार वनाने के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये जाने पर गांधीजी ने अपना उपवास समाप्त किया। उपवास के कारणों एवं उसको समाप्त करने की शर्तों का समाचार-पत्रों द्वारा खूव प्रचार हुआ। ठीक इसी समय संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामने काश्मीर का झगड़ा, जिसका यथास्थान वर्णन किया जायेगा, और लीग के शिष्ट-मंडल द्वारा भारत-सरकार पर मुसलमान-जाति को ही नष्ट करने का आरोप, उपस्थित हुए। गांधीजी के उपवास और उसकी समाप्ति की शर्तों ने लीग के शिष्ट-मंडल के प्रधान सर जफरुल्ला खाँ को तैयार मसाला दे दिया जिससे लाभ उठाकर उसने भारत में मुसलमानों पर किये जानेवाले अत्याचारों का एक काल्पनिक चित्र खड़ा कर दिया।

२० जनवरी, १९४७ को बिरला-निवास के अहाते में, जहाँ गांधीजी ठहरे हुए थे, एक बम फेंका गया। यह समय की गति का सूचक था। बम फेंकनेवाले, गुमराह युवक मदनलाल ने कहा कि यह बम गांधीजी की मुस्लिमपरक और हिन्दू-विरोधी नीति के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिए फेंका गया था। परन्तु अभी इससे भी अधिक भयंकर कांड होने वाला था। ३० जनवरी को जब महात्मा-

जी प्रार्थना-सभा में आ रहे थे, एक महाराष्ट्र-युवक उनकी ओर झपटा। उसने पिस्तौल से उन पर तीन गोलियाँ चलाईं। महात्माजी 'राम' 'राम' का अस्फुट उच्चारण कर, हाथ जोड़े हुए बेहोश होकर गिर पड़े। उनका हत्यारा नाथूराम गोडसे तत्काल पकड़ लिया गया; वास्तव में उसने भागने की चेष्टा भी न की थी। आधे घंटे में ही गांधीजी की अपने आदर्श के लिए एक बलिदान की सी मृत्यु हो गई। यह शोक-समाचार विद्युत गति से संसार में फैल गया। भारत शोक-सागर में डूब गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने रेडियो पर कहा, "हमारे जीवन से प्रकाश दूर हो गया है और चारों ओर अँधेरा फैल गया है। राष्ट्रपिता अब इस संसार में नहीं हैं. . .हम उनको और उनकी स्मृति को, जो सबसे अच्छी प्रार्थना समर्पित कर सकते हैं, वह यही है कि हम अपने आप को सत्य पर समर्पित कर दें। और उस आदर्श पर न्योछावर कर दें जिसके लिए हमारा यह महान् देशवासी जिया और जिसके लिए वह मरा।"

एक युग की समाप्ति—महात्मा गांधी की मृत्यु के साथ भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त होता है। यह महान् घटनाओं का युग था, जिसमें सेनाओं या शस्त्रों के बिना ही केवल सत्य और अहिंसा के बल पर इस दुबले-पतले आदमी ने संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य की नींव हिला दी। गांधी-जी चौथाई शताब्दी तक भारतीय राजनीति के सूत्रधार रहे थे और उन्होंने इसकी नसों में आध्यात्मिकता का रक्त प्रवाहित कर दिया था। आन्दोलन की जिस नई विधि का उन्होंने प्रयोग किया उससे ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को भी चकित रह जाना पड़ा। महात्माजी के शस्त्र थे—सत्य और अहिंसा और इनकी प्रभावकारिता पर उनका असीम विश्वास था। दुनिया भर के राज-नीतिक नेताओं में वे निराले ही थे। उन्होंने राजनीति को एक नया मोड़ दिया और उसको धर्म के अनुरूप बनाने की चेष्टा की। गांधीजी कहा करते थे कि धर्म के बिना राजनीति एक ढकोसला है; अपने राजनीति विषयक पत्रों में भी उनका ईश्वर का नाम लेना, उन लोगों की भी हँसी का विषय बन जाता था,'जो उनके अनन्य भक्त थे। वे साध्य की अपेक्षा साधनों को अधिक महत्त्व देते थे; उनका विश्वास था कि बड़े से बड़े अत्याचारी को भी प्रेम और कष्ट-सहिष्णुता से जीता जा सकता है। उनकी दृष्टि में सबसे प्रबल शस्त्र आत्मिक बल था, जिसको वही व्यक्ति उपयोग में ला सकता था जिसने कठोर आत्म-निग्रह द्वारा अपने आप को पवित्र कर लिया हो। राजनीतिक विचार-धारा में यह उनकी अपनी देन थी। दुतर्फी बातें वे जानते ही न थे। अपने प्रतिपक्षी की कठिनाइयों से लाभ उठाने की उन्होंने कभी चेष्टा न की; वे घमंड का सामना नम्रता से, अधिकार-लोलुपता का आत्म-निग्रह

से और कूटनीतिक चालों का स्पष्ट व्यवहार से करते थे। उनकी योजनाओं में कोई भी रहस्यमय बात न होती थी; उनकी विधियों को नीचता स्पर्श भी न कर पाती थी। इतिहास में ऐसे आन्दोलनकारी शायद ही कोई मिलें जो गांधीजी के समान अपने प्रतिपक्षी को पहले ही अपनी योजनाओं और आन्दोलन-प्रणाली से अवगत करा दें। गांधीजी के इस स्पष्ट व्यवहार से उनके प्रबलतम शत्रु भी उनका लोहा मान जाते थे और उनकी सचाई तथा निश्छलता से प्रभावित हो जाते थे। यद्यपि वे संघर्ष से कभी विमुख न होते थे, परन्तु वस्तुतः वे शान्ति के पुजारी थे और घोर संघर्ष के बीच भी अपने प्रतिपक्षी को शान्ति का संदेश देने में न चूकते थे, क्योंकि उनके हृदय में अपने विरोधियों के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना या घृणा न होती थी। अपने सिद्धान्त में अडिग होते हुए भी वे सम्मानपूर्ण समझौते के लिए सदैव तैयार रहते थे। संघर्ष करने में वे अपने समसामयिक व्यक्तियों में अग्रणी थे; घोर संघर्ष के बीच कूद पड़ने में उन्हें कभी हिचक न हुई और न उन्होंने कभी इसके परिणामों की चिन्ता ही की। द्विविधा में पड़ने पर वे मार्ग-प्रदर्शन के लिए अपनी आन्तरिक ज्योति का सहारा लेते थे और अपने परामर्शदाताओं की सम्मति के विपरीत भी ऐसे कार्यों में जुट पड़ते थे, जो उनके अपने जीवन के लिए भयंकर होते थे। अपनी भूलों को स्वीकार करने से उन्हें वृथा अभिमान कभी न रोक पाया और कभी-कभी तो उन्होंने अपनी भूलों के लिए स्वयं अपनी बड़े कठोर शब्दों में भर्त्सना भी की। गांधीजी की इच्छाशक्ति बड़ी प्रबल थी। अपनी अन्तरात्मा के निर्देश से अपनाये हुए मार्ग से वे कभी न डिगते थे। उनकी अन्तरात्मा ही सदैव उनका पथ-प्रदर्शन करती थी; इस पर उनकी दृढ़ आस्था थी और सफलता के लिए वे हमेशा ईश्वर पर भरोसा रखते थे। वे अपने शत्रु को (वस्तुतः शत्रु तो उनका कोई था ही नहीं) प्रेम से जीतना चाहते थे। हृदय-परिवर्तन को शारीरिक दंडवत् की अपेक्षा अधिक स्थायी विजय मानते थे। वे जनता को हृदय से प्रेम करते थे और हमेशा उसकी भलाई के लिए चिंतित रहते थे। जनता के लिए वे अनवरत परिश्रम करते रहे। जनता का जितना प्रेम और कृतज्ञता-भाव उन्होंने प्राप्त कर लिया था उतना तो राजनीति के क्षेत्र में शायद ही किसी को मिला हो। सरल और संयमी स्वभाव के गांधीजी के रूप में प्राचीन भारत के उन ऋषियों-महात्माओं की आत्मा प्रकट हुई थी, जिनके सामने देश के प्रबलतम शासक नतमस्तक होते थे। उन्होंने अपने जीवन में तपस्या और आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय कर लिया था और जीवन के आन्तरिक गुणों की प्रशंसा करते हुए वे कभी न थकते थे। वे निष्काम कर्मयोगी थे; अपने लिए उनकी कोई इच्छा न थी। उन्होंने गीता के निष्काम कर्मयोग को अपने जीवन में पूरा-पूरा

उतार लिया था। यही कारण था कि संसार के विभिन्न भागों के विभिन्न सम्प्रदायों के कोटि-कोटि व्यक्ति उनका सम्मान करते थे। उनका प्रेम विश्वव्यापी था। अँगरेजों से भी वे प्रेम करते थे और उन्होंने कई वार दुहराया था कि उनका विरोध अँगरेजों से नहीं अपितु उनकी शासन-प्राणाली से है, जिसने भारत का विनाश किया है। उनकी रुचियाँ विविध थीं; राजनीति, स्वास्थ्य, ब्रह्मचर्य, कताई-बुनाई-शिक्षा, समाज-हित, अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दू-धर्म—इन सभी विषयों पर उनका ध्यान जाता था और वे इन विषयों के जिज्ञासुओं के पत्रों का उत्तर वड़े ध्यान से देते थे। वे पति के अत्याचारों से पीड़ित पत्नी को सांत्वना देने के लिए भी समय निकाल लेते थे। 'शुद्ध और अविकृत' अँगरेजी में, जिस पर उनका आश्चर्यजनक अधिकार था, वे पक्के दुराचारियों के प्रति भी अपने प्रेम के उद्‌गार प्रकट करते थे। पत्रों का उत्तर वे बड़ी तत्परता से देते थे और देश के भिन्न भागों के नर-नारी अपनी जो समस्याएँ उनके सामने रखते थे, उनका वे स्पष्ट समाधान वता देते थे।

गांधीजी मनुष्यों में सूरमा और राजनीतिज्ञों में संत थे। उनके जीवन की पवित्रता और घोर संकट के बीच भी उनकी अद्वितीय निर्भयता से लाखों-करोड़ों लोग उनकी ओर आकर्षित हो गये थे। उनके सम्पर्क में आनेवाले लोगों का आत्मिक उत्थान होता था और स्वार्थी लोग उनके सम्पर्क में आकर लोक-सेवक वन जाते थे। वे मिट्टी से वीरों का निर्माण करने की कला में प्रवीण थे और अपने सारे जीवन-काल में उन्होंने अपने जैसे निस्वार्थ और निर्भय शिष्यों का दल तैयार कर दिया था। उनके सम्पर्क का जादू का-सा असर होता था। उनके साथ कार्य करनेवाले लोग उनके सम्पर्क से अपने में महान् परिवर्तनों का अनुभव करते थे। ये लोग सुखों से विमुख होकर स्वार्थ-त्याग और निष्काम कर्म का व्रत ग्रहण करते थे।

महात्मा गाँधी अन्य राजनीतिज्ञों से अनेक बातों में भिन्न थे। वे एक रहस्यवादी थे, एक संत थे, एक विचारक और समाजसुधारक थे; उनका व्यक्तित्व महान् था उनकी रचनात्मक शक्ति अपूर्व थी। उनके अपने ही राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्त थे, जिनका उन्होंने अपने जीवन भर प्रचार किया। विरोधी बातों के बीच में भी, सत्य और अहिंसा का उनका दृढ़ आग्रह स्पष्ट झलक उठता है; उनकी दृढ़ धारणा थी कि सत्य और अहिंसा के बल पर किसी भी शक्ति को जीता जा सकता है; उनका मत था कि राज्य का एकमात्र लक्ष्य जनहित होना चाहिए। वह उच्च कोटि के व्यक्तिवादी थे; प्रत्येक विषय पर उनका अपना मत होता था। गांधीजी में गम्भीर राजनीतिक अन्तर्दृष्टि थी। उनका उर्वर मस्तिष्क संकट के समय पर उस स्थिति का समाधान खोज निकालता था जिससे अनेक वार राष्ट्रीय

संकट टल गये, वे उस अर्थ में समाजवादी नहीं थे जैसा कि सामान्यतः पाश्चात्य देशों में समझा जाता है, परन्तु वे पूँजीपतियों को निर्धनों और दुःखियों का संरक्षक वनने के लिए हमेशा उपदेश देते थे। वे स्वयं स्वीकृत समाजवाद के पक्षपाती थे, और आत्मत्याग पर वहुत जोर देते थे, उनमें एक सन्त, राजनीतिज्ञ, मानवतावादी और योगी का विचित्र समन्वय हुआ था। वे अत्यधिक लोकप्रिय थे, और हमारे लाखों-करोड़ों देशवासी उन्हें भगवान् का अवतार समझते थे, चर्खे और स्वदेशी के उनके प्रचार से कुटीर उद्योगों में नये जीवन का संचार हुआ और उनके हरिजन आन्दोलन ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा हिन्दुओं के विभाजन की चालों को विफल कर दिया, अन्त्यजों के लिए उन्होंने 'हरिजन' शव्द का प्रयोग किया। हरिजनों से उनका विशेष प्रेम था, और उनकी भलाई के लिए वे अनवरत परिश्रम करते रहे। वे कहा करते थे कि वर्ण-व्यवस्था न तो ईश्वरीय आदेश है और न कर्मों का फल ही। जब अँगरेजों ने हरिजनों के असन्तोष से लाभ उठाते हुए साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा हिन्दू-समाज को तोड़ने का प्रयत्न किया तो गांधीजी ने उनकी इन चालों को चलने न दिया, उनके उपवास के परिणामस्वरूप पूना-समझौता हुआ, और उनके हरिजन-आन्दोलन ने हिन्दुओं की सामाजिक चेतना को जगा दिया, जिससे हिन्दू-समाज को दृढ़ बनाने के प्रयत्न होने लगे, बहुत से हरिजन गांधीजी के उद्देश्यों को समझ न पाये परन्तु सबके व्यंग्य और विरोधों को सहन करते हुए भी अपने हरिजन उद्धार के कार्य में वे अन्त तक जुटे रहे। उन्होंने हरिजनों की जो सेवा की वह इतिहास में उनके स्थायी कार्य के रूप में अंकित होगी।

हम महात्मा गांधी के समय के इतने समीप हैं कि उनके कार्यों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकते। उनके व्यक्तिगत दोषों या उनकी राजनीतिक विधियों के दोषों को ढूँढ़ना यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि भारतीय जनता को स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए प्रेरित करने, उनमें राजनीतिक चेतना जागृत करने और अन्ततः उन्हें स्वराज तक पहुँचाने का सर्वाधिक श्रेय गांधीजी को ही है; परन्तु साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बहुत-सी बातों में वे विफल भी हुए। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपने जीवन का प्रधान कार्य बना लिया था; परन्तु ज्यों-ज्यों वे इसके लिए अधिकाधिक प्रयत्न करते थे त्यों-त्यों यह लुप्त होती जा रही थी और अन्त में उन्हें मुसलमानों के दुराग्रह के फलस्वरूप अपने जीवन में ही भारत का विभाजन देखना पड़ा। गांधीजी के आदर्शतम स्वप्नों को दुर्भाग्य ने पूरा न होने दिया और उन्हें अपनी आँखों से ही हिन्दू-मुसलमानों के

रक्तपातपूर्ण दंगे देखने पड़े। उन्होंने जीवन भर एकता के लिए संघर्ष किया था; परन्तु अन्त में उन्हें विभाजन देखना पड़ा। वे मुसलमानों के पास उनके मित्र बनकर गये, परन्तु मुसलमानों ने उन्हें छद्मवेशी समझा। अपने सजातियों से उन्होंने उदार और मानवतापूर्ण व्यवहार करने की प्रार्थना की, परन्तु वे उनको मुसलमानों का पक्षपाती और मुसलमानों को प्रसन्न करने की घातक नीति का जन्मदाता समझने लगे। इतिहास में भाग्य के उपहास की इससे अधिक करुणाजनक कहानी और क्या मिलेगी? परन्तु गांधीजी को अपने आदर्शों में पूर्ण निष्ठा थी; वे अन्त तक उन पर अडिग रहे और विभिन्न सम्प्रदायों में सद्भाव जगाने में जुटे रहे। गांधीजी की स्पष्ट सहृदयता ने मुसलमानों को अपनी भूल स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया और आखिर मुसलमानों को मानना पड़ा कि गांधीजी ने उस घोर संकट में उनकी रक्षा की थी, जब उनका सर्वनाश अवश्यंभावी प्रतीत होता था। हिन्दुओं के तिरस्कार एवं कोप का भाजन बनने पर भी गांधीजी अपने जीवन के सर्वोच्च आदर्श पर अडिग रहे और इसी के लिए उन्हें अपने प्राणों का होम करना पड़ा। गांधीजी को इस बात का श्रेय निश्चय ही प्राप्त है कि वे अपने लक्ष्य पर अटल रहे और अपने प्राणों को संकट में डालकर भी वे साम्प्रदायिक वैमनस्य दूर करने में लगे रहे। छिद्रान्वेषियों को उनके कार्यों में दोष निकालने का असवर मिलता रहा और कभी-कभी तो स्वयं उनके अनुयायी भी उनके कार्यों में बुद्धिमानी का कोई भी अंश न देख पाते थे; परन्तु निन्दा-प्रशंसा की चिन्ता न करते हुए महात्माजी अपने पथ पर बढ़ते गये और उन्होंने असंभव समझे जानेवाले कार्यों को भी संभव कर दिखाया।

गांधीजी की राजनीति कभी-कभी लोगों को बहुत परेशान कर देती थी। वे अपनी बात मनवा कर ही मानते थे और यदि उनकी बात पूर्णतया न मानी जाती तो वे अलग हो जाते थे और कांग्रेस के चवन्नी-सदस्य भी न रह जाते थे। अपनी बात को कहते तो वे "विनम्र सम्मति" थे, परन्तु होती वह 'प्रबलतम सम्मति' थी। कभी-कभी वे तानाशाह की तरह व्यवहार कर बैठते थे, यद्यपि तब भी वे आध्यात्मिक तानाशाह ही होते थे और जो लोग उनसे सहमत न होते थे उन्हें अपने स्वतन्त्र विचारों और आचरणों का फल चखना पड़ता था। बार-बार उपवास का सहारा लेना भी एक प्रकार की बाध्य करनेवाली प्रणाली ही है और राजनीतिक शस्त्र के रूप में इसका उपयोग सदैव उचित नहीं बताया जा सकता। तात्कालिक घटनाओं को सामने रखकर विचारने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसने सरकार के सामान्य कार्य-संचालन में और संसदीय कार्य-प्रणाली में कई बार गम्भीर बाधा उपस्थित कर दी थी।

गांधीजी के राजनीतिक जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ भी हुईं जिनके विषय में लोगों में तीव्र मतभेद है। राजकोट-उपवास, बोस-कांड, खरे और नरीमैन-घटनाएँ किसी प्रकार भी गांधीजी के जीवन-सिद्धान्तों से मेल नहीं खातीं। परन्तु ये सब अभी विवादग्रस्त विषय हैं और अभी इनको हुए इतना समय नहीं बीता कि हम इन पर ठीक-ठीक फैसला देने में समर्थ हो सकें। इनके निर्णय के लिए इतिहास को अभी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

परन्तु एक व्यक्ति के रूप में महात्माजी के महत्त्व के विषय में दो रायें नहीं हो सकतीं। यदि महत्त्व का अर्थ नैतिक महत्त्व है तो इसमें संदेह नहीं कि गांधीजी भारत में ही नहीं अपितु सारे विश्व में अपने समय के महानतम् व्यक्ति थे। उनमें दुर्भावना, घृणा अथवा क्रोध का तो आश्चर्यजनक अभाव था; वे सबसे प्यार करते थे और उनकी क्षमा असीम थी। ईसा मसीह के समान वे भी पाप से घृणा करते थे, पाप करनेवाले से नहीं और जो भी अपराधी पश्चात्ताप करता हुआ उनके चरणों में गिर पड़ा, उसको उन्होंने हृदय से लगाया। वे करुणा की मूर्ति थे। वे बच्चों से प्यार करते थे; लड़के-लड़कियों से बात करते हुए उन्हें अपनी अवस्था का कोई ध्यान न रहता था और वे मुक्त हृदय से हास्य-व्यंग्य किया करते थे। उनकी हास्य वृत्ति ने अनेकों बार उन्हें भद्दी स्थिति में पड़ने से बचा लिया था। यद्यपि वे सही अर्थ में विद्वान् तो नहीं कहे जा सकते, परन्तु वे सुपठित और सुसंस्कृत थे। अँग्रेजी भाषा पर उनका इतना पूर्ण अधिकार था कि बहुत से अँगरेज भी उनसे ईर्ष्या करते थे और उनकी इस निपुणता पर आश्चर्य करते थे। यह भी उनकी शक्ति का एक स्रोत था। उनके नैतिक बल, उनकी गहरी निष्ठा, उनकी वाक्पटुता तथा उनकी अकाट्य तर्क-प्रणाली ने उनको अपने साथियों का शिरोमणि बना दिया था और उनके शत्रु भी उनकी प्रशंसा किये विना न रह पाते थे। यद्यपि वे अत्यधिक व्यस्त रहते थे, फिर भी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने के लिए भी समय निकाल ही लेते थे। अपने आसपास के लोगों के प्रति उनका व्यवहार अत्यधिक स्नेह और दयापूर्ण होता था और जब कभी इनमें से कोई बीमार पड़ जाता तो वे पिता की तरह उसके लिए व्यग्र हो उठते और उसके उपचार की व्यवस्था करते। उनके लिए तो सारा संसार ही एक परिवार था।

गांधीजी के समसामयिक संसार में उनके जैसा आदमी मिलना मुश्किल ही है और जब हम उनके गुणों और कार्यों को एकत्र करते हैं तो हमें उन्हें मानव-जाति के इतिहास के अमर रत्नों की प्रथम पंक्ति में स्थान देना ही पड़ता है।

इक्कीसवाँ अध्याय

देशी राज्य

सन् १९४७ से पहले देशी राज्य भारत में चारों ओर, अव्यवस्थित रूप से फैले हुए थे। परन्तु अँगरेजों के जाने के वाद, भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थितियों, शासकों की वुद्धिमानी तथा संसार की परिवर्तनशीलता के कारण वे सब राजतन्त्र भारत में मिल गये और आज उनकी समस्या ही समूल नष्ट हो गई है। सन् १९४७ तक इन देशी राज्यों की स्थिति इतनी जटिल, केन्द्रीय सरकार से इनके सम्वन्ध इतने उलझे हुए तथा भिन्न-भिन्न राज्यों को मिले अधिकारों में परस्पर इतना अन्तर था कि बड़े-वड़े विचारक इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ भी उसे ठीक-ठीक नहीं समझ पाते थे। एक तो 'देशी राज्य' की उचित परिभाषा स्पष्ट नहीं थी, दूसरे राज्यों के बारे में उपयुक्त जानकारी प्राप्त करने के कोई विश्वस्त साधन भी उपलब्ध नहीं थे।

अँगरेजी व्यवस्था के अनुसार 'देशी राज्य' के अन्तर्गत लगभग ६०० से कुछ अधिक राज्य आते थे जिनके क्षेत्रफल, अधिकार आदि में परस्पर जमीन-आसमान का अन्तर था। हैदरावाद और ग्वालियर जैसे विशाल राज्य, जिन्हें सम्पूर्ण शासनाधिकार प्राप्त थे तथा काठियावाड़ की जागीरों जैसे छोट रजवाड़े जिनका क्षेत्रफल कुछ ही वर्ग मील तक सीमित था—ये 'देशी राज्य' की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते थे। ऐसा इसलिए किया गया था जिससे संधि की शर्तों तथा राज्यों की सामाजिक स्थिति पर विना विचार किये ही जो कानून एक पर लागू कर दिया गया वही दूसरे पर भी लागू कर दिया जाये; और ये कानून किसी विशेष वुनियाद पर आधारित नहीं थे वल्कि पूर्णरूप से केन्द्रीय सरकार की कृपा के ऊपर निर्भर रहते थे। देशी राज्यों ने केन्द्रीय सरकार की इस निरंकुशता का अनेक बार हल्के रूप में विरोध भी किया, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। राज्यों के साथ अँगरेजी सरकार की जो संधियाँ हुईं उनके आधार पर यदि वर्गीकरण किया जाता तो राज्य तथा सरकार के सम्बन्ध स्पष्ट हो सकते थें; परन्तु ऐसा नहीं हो सका। क्योंकि संधियों के वावजूद भी राज्य और सरकार के सम्वन्ध वरावर वदलते रहते थे और हर बार सरकार अपने हाथ में वलात् ही अधिकाधिक अधिकार लेकर अपने को शक्ति-

शाली वनाती जा रही थी। संधि की शर्तें बेकार-सी हो गई थीं, क्योंकि उनसे राज्य और केन्द्रीय सरकार के सम्वन्ध स्पष्ट नहीं होते थे और न उनसे केन्द्रीय सरकार की शक्ति पर ही कोई अंकुश रह पाता था। नरेशों ने प्रयत्न किया कि 'नरेन्द्र मण्डल' की आरम्भिक रचना राज्यों को संधि के अनुसार मिले अधिकारों के आधार पर की जाय परन्तु तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने इसे अस्वीकृत कर दिया और वताया कि सलामी में तोपों की संख्या के आधार पर वर्गीकरण को ही सरकार प्रामाणिक मानती है। इसे दृष्टि में रखकर सरदार पणिक्कर ने जो वर्गीकरण किया उसे हम एक सीमा तक सरकार के विचारानुसार निकटतम वर्गीकरण कह सकते हैं। उनके अनुसार राज्यों को 'ऐतिहासिक परिस्थितियों में समानता' के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वे जिन्हें संधि की शर्तों के अनुसार अपने राज्य में सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हों; (२) वे जिन्हें संधि के अनुसार, केन्द्रीय सरकार की देखरेख में, फौजदारी (Criminal) तथा दीवानी (Civil) क्षेत्राधिकार और वैधानिक अधिकार (Legislative powers) प्राप्त हों और (३) वे जिनके अधिकार अनुदान (Grants) तथा सनदों पर आधारित हों।

राज्यों का अध्ययन करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने का कोई उपयुक्त माध्यम नहीं है। एटकिंसन की 'संधि, वचनवद्धता एवं सनद' (Treaties, Engagements and Sanads) इस विषय पर उपयोगी पुस्तक है, परन्तु संधियों की अपेक्षा उन राज्यों की जो वास्तविक स्थिति थी और उनके साथ सरकार के राजनीति-विभाग का जो बर्ताव था, उसका स्पष्ट वर्णन इस पुस्तक में नहीं मिलता। वास्तव में राज्यों के प्रति सरकार का व्यवहार किन्हीं विशेष सिद्धान्तों पर निर्भर नहीं था बल्कि वह तत्कालीन वायसराय, रेजीडेण्ट अथवा एजेण्ट की मर्जी पर निर्भर करता था। तत्सम्बन्धी स्वार्थी अधिकारी नहीं चाहते थे कि राजनीति-विभाग के राज्यों के प्रति व्यवहार को निश्चित या अर्ध-अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का रूप दिया जाय। ऐसे व्यक्तियों में प्रमुख थे राजनीति-विभाग के सर चार्ल्स लुई टुपर (Sir Charles Lewis Tupper)। संधि की शर्तों में राजनीति विभाग के हस्तक्षेप को उचित बताने के लिए टुपर ने इस व्यवहार को व्यवस्थापित विधान (Statue Law) बताया और इसके लिए तर्क दिया कि सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) को ऐसा करने की आज्ञा है। इस प्रकार की आज्ञा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत पर आधारित थी।*

---

*पणिक्कर रिलेशन आव इण्डियन स्टेट्स विद्व गवर्नमेंट आव इण्डिया Introduction p. xx.

केन्द्रीय सरकार की इस विशिष्ट शक्ति के कारण प्रायः राज्यों को उन मामलों में भी झुकना पड़ता था जिनमें वे कानूनन सही होते थे। राजनीति-विभाग के व्यवहार और व्यावहारिक कानून में कोई समानता न थी। इस विषय में निकल्सन का कथन है, "यह समानता तभी प्रमाणित हो सकती है जब न्यायालय की गुप्त बैठकें हों, कोई गवाह न हो, वकील भी न हों और बाद में अपील करने की पद्धति भी न हो।"

टुपर की इस धारणा से, कि ये राज्य सर्वोच्च सत्ता की जागीर मात्र हैं और केन्द्रीय सरकार को इन्हें शासित करने का पूर्ण अधिकार है, नरेशों को बहुत धक्का पहुँचा। मालूम होता है कि इन नरेशों को ढाढ़स बँधाने के लिए बाद में ली वार्नर ने १८९४ में एक पुस्तक 'भारत के रक्षित नरेश' (Protected Princes of India) लिखी जो बाद में परिवर्द्धित करके १९१० में 'भारत के देशी राज्य' (Native States of India) नाम से फिर प्रकाशित की गई। ली वार्नर भारत के राजनीति-विभाग में काम कर चुके थे और फिर भारत कार्यालय (India Office) के सचिव भी रहे। इस पुस्तक में उनका ध्येय था कि राज्यों को संधि के अनुसार मिले अधिकारों और राजनीति-विभाग के व्यवहार में समन्वय स्थापित किया जाय, जब कि यह स्पष्ट है कि इनमें समन्वय हो ही नहीं सकता था। फिर भी यह पुस्तक राज्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अच्छा माध्यम है, भले ही हम इसके अनेक प्रारम्भिक प्रकरणों तथा तर्कों से सहमत न हों। यों तो ली वार्नर ने लुई टुपर के विचारों का विरोध किया कि राजनीति-विभाग का व्यवहार व्यावहारिक कानून (Case Law) का ही अंग है, परन्तु वह भी प्रायः इन्हीं नतीजों पर पहुँचा है कि केन्द्रीय सरकार को राज्य को अपनी इच्छानुसार शासित करने का पूर्ण अधिकार है। इसके लिए उसने युक्ति उपस्थित की है कि "राज्य सम्बन्धी झगड़ों में ब्रिटिश सरकार फैसला करते समय यह परीक्षा कर लेती है कि संधि की शर्तें कहाँ तक व्यावहारिक हैं।" ऐसे फैसलों को ली वार्नर ने स्थापित रिवाज बताया है और कहा कि यदि ये फैसले राज्यों को मान्य न भी हों तब भी ऐसा करने का सरकार को अधिकार है। समस्त देशी राज्यों को 'एक परिवार के सदस्य' बताते हुए ली वार्नर ने दलील दी है कि 'आवश्यकतानुसार' जो नियम एक पर लागू किया जाय वह सभी राज्यों पर लागू हो सकता है। यह उसका राज्यों के बारे में 'विस्तृत व्याख्यात्मक मत' था, जिसे उसने 'मानव की अग्रगामी प्रगति' माना है। समस्त राज्यों के साथ एक ही प्रकार का व्यवहार करने की प्रणाली को लार्ड कर्जन ने १९०३ में भावलपुर में दिये गये भाषण में स्पष्ट किया कि, "भारतीय राजनीतिक प्रणाली में ...... विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार क्राउन

और देशी राज्यों के बीच विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं, परन्तु समय के साथ धीरे-धीरे वे सम्बन्ध अब सभी राज्यों के साथ एक-से होने लगे हैं।"

राष्ट्रीयता की भावना, जो बंग-भंग तथा लार्ड कर्जन के सहानुभूतिविहीन निरंकुश शासन के प्रतिक्रियास्वरूप और भी अधिक बलवती होने लगी थी, ली वार्नर के 'विस्तृत व्याख्यात्मक' मत में परिवर्तन करने का अनिवार्य कारण बन गई, जिससे कि नरेशों की बढ़ती हुई विद्रोही भावना ठंडी पड़ सके और वे ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्त रह सकें। तदनुकूल नवम्बर १९०९ के उदयपुर दरबार में लार्ड मिण्टो ने घोषणा की——

"मैंने यह नियम बनाया है कि सभी राज्यों पर एक ही प्रकार का कानून, जहाँ तक सम्भव हो, लागू न किया जाय। प्रत्येक राज्य के मामले पर उससे हुई संधि की शर्तों, उसके स्तर तथा परिस्थितियों के अनुसार ही विचार किया जाय।"*

सरकारी नीति के इस परिवर्त्तन से देशी राज्यों को प्रोत्साहन मिला और वे संधि की शर्तों के अनुसार ही सरकार से व्यवहार की मांग करने लगे। उन्होंने 'सर्वोच्च प्रभुता (Paramountacy) की उपयुक्त व्याख्या करने की भी माँग की, जिससे राजनीति-विभाग के हस्तक्षेप सीमित हो सकें। १९१४-१८ का विश्वयुद्ध, उसमें नरेशों का सराहनीय सहयोग तथा ब्रिटिश भारत में असंतोष इन सबके कारण सरकार को ली वार्नर के 'विस्तृत व्याख्यात्मक मत' को तिलाञ्जलि देनी पड़ी। माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (Montagu-Chelmsford Report) ने उक्त मत को बिल्कुल अस्वीकृत कर दिया। फिर भी इससे राज्यों की माँग कि उनके तथा सर्वोच्च सत्ता के अधिकारों को निर्धारित कर दिया जाय, पूरी न हो सकी। यह सारा मामला तब १९२८ में देशी राज्य कमेटी (Indian States Committee) के सम्मुख रखा गया। इस कमेटी के अध्यक्ष भारत सरकार के राजनीति-विभाग के भूतपूर्व सचिव तथा उत्तर प्रदेश के प्रतिष्ठित गवर्नर सर हार्कोर्ट बटलर थे। उनकी रिपोर्ट देशी राज्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अच्छा साधन है। हाँ, उस रिपोर्ट में दिये गये तर्क तथा परिणाम अवश्य ही अमान्य हैं। सर्वोच्च सत्ता के क्या अधिकार हैं, इस महत्वपूर्ण प्रश्न को भी बटलर कमेटी ने वाग्जाल में ही उलझाया है, कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। केवल सर्वोच्च सत्ता विषयक कुछ मामलों तथा वर्णनों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा, "हमने बहुत प्रयत्न किया. . . कि सर्वोच्च सत्ता की कार्यप्रणाली के लिए कोई निश्चित सिद्धान्त ढूंढ़ा जाय परन्तु इसमें हम असफल रहे हैं। इसका कारण कोई दूर नहीं

---

*John Buchan, Lord Minto p. 298.

है। परिस्थितियाँ निरंतर बदलती रहती हैं। साम्राज्यवादी आवश्यकताओं और नई परिस्थितियों के कारण कभी भी कोई असम्भावित समस्या उठ सकती है। सर्वोच्च सत्ता को सर्वोच्च रहना ही चाहिए ताकि समय के परिवर्तन के साथ आवश्यकता पड़ने पर तथा राज्यों की निरंतर प्रगति के अनुसार उसकी भी परिभाषा बदलती रहे।"* तात्पर्य यह कि सर्वोच्च सत्ता की कोई परिभाषा नहीं बनी और उसके अधिकार उतने ही असीमित रहे जितने टुपर या ली वार्नर के समय थे। राज्यों को धमकी देते हुए बटलर कमेटी ने लिखा, "अपने तथा भावी नरेशों के स्थायित्व के लिए देशी नरेश केवल सर्वोच्च सत्ता पर ही आश्रित रह सकते हैं। सर्वोच्च सत्ता द्वारा ही ये राज्य समाप्त होने या सरकार में विलीन होने से बच सकते हैं।"† तात्पर्य यह कि यदि राज्य स्थायित्व चाहते हैं, तो उन्हें सर्वोच्च सत्ता के हस्तक्षेप को चुपचाप सहन कर लेना चाहिए।

वास्तव में यह प्रश्न तभी पैदा हुआ जब राज्यों और सरकार दोनों ने पारस्परिक सम्बन्धों के लिए निश्चित नियम बनाने की माँग की। सरकार ने यह माँग इसलिये की कि वह किसी सिद्धान्त की आड़ लेकर राज्यों के साथ मनमाना व्यवहार कर सके और राज्यों ने यह माँग इसलिए की कि उससे सर्वोच्च सत्ता के स्वच्छन्द हस्तक्षेप पर लगाम लग सके। इस प्रकार दोनों की इच्छा एक ही थी परन्तु ध्येय अलग-अलग थे, किन्तु कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं बन पाया जिससे दोनों सहमत हो सकें। ऐसा कोई सिद्धान्त बन भी नहीं सकता था।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—मुगलकाल के अतिरिक्त, भारत में कभी भी एक सार्वदेशिक सत्ता नहीं रही। वह अनेक राज्यों में विभाजित रहा। इन राज्यों में भी परस्पर कोई संधि नहीं होती थी। केवल विवाह आदि अथवा जाति-ऐक्य के कारण या विदेशी आक्रमण से बचने के लिए ही कभी-कभी ये राज्य आपस में मिल जाते थे। परन्तु उनका यह मेल अस्थायी होता था। शक्तिशाली राज्य कमजोर राज्य को सदैव ही दबोचना चाहता था, जिसके कारण इन राज्यों में बहुधा परस्पर युद्ध हुआ करते थे।

अकबर ने अपनी बुद्धि तथा बल के द्वारा भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा। उसने एक नई राजनीतिक प्रणाली निकाली जिसके अनुसार समस्त राज्य अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थे परन्तु वे अकबर को अपना अधिपति मानते

---

*A.C. Banerjee. Indian Constitutional Documents Vol III, Page 456.

† Ibid, 456-457.

थे और कर देते थे। वाद में मुगल-शासन के ह्रास के साथ-साथ ये राज्य भी पूर्ण स्वतन्त्र हो गये और इनके सम्वन्ध दिल्ली के साथ नाममात्र को ही रह गये।

प्लासी के युद्ध के वाद, जव अँगरेजों के पास राजनीतिक शक्ति आई, तव तक मुगल राज्य सर्वथा शक्तिहीन हो चुका था। भले ही अव तक भी वह सम्राट् कहलाता था परन्तु वास्तव में अव उसकी शक्ति वहुत क्षीण हो चुकी थी। वंगाल, अवध तथा हैदरावाद के सूवेदार अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर चुके थे। अव भारत में मराठे लोग ही अँगरेजों से लोहा लेनेवाले एक-मात्र रह गये थे। उधर फ्रांसीसी भी अँगरेजों से कम शक्तिशाली न थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना (१६००) से लेकर आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के प्रश्न पर इँगलैण्ड और फ्रांस के युद्ध के फलस्वरूप भारत में भी अँगरेजों और फ्रांसीसियों के युद्ध (१७४८) तक इँगलैण्ड की नीति, भारतीय शासन-प्रवन्ध में हस्तक्षेप न कर, केवल अपने व्यापार के एकाधिकार को सुरक्षित रखने तक ही सीमित थी। इसका भी एक कारण था, अन्यथा भारत में साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न तो वे १७वीं शताब्दी के अन्त से ही देखने लगे थे। वात यह थी कि वे एक वार औरंगजेव से वहुत वुरी तरह हार खा चुके थे। तव उन्हें अनुभव हो गया था कि वर्तमान परिस्थितियों में युद्ध करना हानिकारक ही है।

जव तक अँगरेजों में भारत आकर व्यापार करने की लालसा उत्पन्न हुई, तव तक यहाँ पुर्तगाली और डच अपना व्यापार जमा चुके थे। अँगरेजों की नौ-शक्ति कमजोर थी। अतः यहाँ आकर पहले-पहल उन्होंने मुगल-साम्राज्य की शरण ली। इँगलैण्ड उस समय अपनी आन्तरिक अव्यवस्थता के कारण विदेशों में व्यापार नहीं करना चाहता था। परन्तु चार्ल्स द्वितीय ने सत्तारूढ़ होने पर (कुछ व्यक्तिगत कारणों से भी) कम्पनी का पक्ष लिया और उसके अधिकार वढ़ा दिये। उसने १६६१ में कम्पनी को नया अधिकारपत्र दिया जिसके फलस्वरूप कम्पनी को गैर-ईसाई शक्तियों से युद्ध अथवा सन्धि करने का अधिकार और अपने उपनिवेश में फौजदारी तथा दीवानी क्षेत्राधिकार मिल गया। ये उपनिवेश प्रायः समुद्र के किनारे पर थे, और इनका गुजारा फैक्टरियों से ही चलता था। १६६९ के अधिकारपत्र के अनुसार कम्पनी को वम्बई भी मिल गया। इस प्रकार कम्पनी का भारत में एक प्रधान उपनिवेश कायम हो गया। बाद में मराठा शक्ति के क्षीण होने पर वम्वई इस उपनिवेश की राजधानी वन गई।

पिछले अध्यायों में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया जा चुका है, जिनके फलस्वरूप भारत की प्रधान शक्ति—मुगल साम्राज्य—क्षीण हुआ और साथ ही पुर्तगाली तथा डच शक्तियाँ भी नष्टप्राय हो गईं। मुगल साम्राज्य के क्षीण

होने पर भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। उधर डच और पुर्तगालियों के समाप्त होने पर भारत में अँगरेज ही एकमात्र यूरोपीय शक्ति बाकी रह गई।

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद की राजनीतिक अराजकता तथा डूप्ले के गवर्नर होकर आने के बाद फ्रांसीसियों की भारत में साम्राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा के कारण अँगरेजों को भी पड़ोसी नरेशों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने पड़े। उनमें से प्रमुख थे—बंगाल तथा अर्काट के नवाब और हैदराबाद का निजाम।

डूप्ले की महत्त्वाकांक्षा के कारण अँगरेज और फ्रांसीसियों में कोरोमण्डल-तट के प्रश्न को लेकर १७६० में वांडीवाश का युद्ध हुआ। इसमें फ्रांसीसी सेनापति लैली पराजित हुआ और तब अँगरेजों ने फ्रांसीसियों के मनोनीत सूबेदार, अर्काट के नवाब मुहम्मद अली से सन्धि कर ली। दक्षिण में विजय पाने के बाद अँगरेजों ने मीरजाफर को हराकर बंगाल भी ले लिया। तब तो उनके भारत में साम्राज्य स्थापित करने के वे पुराने स्वप्न पुनर्जागृत होने लगे। वे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए रजवाड़ों के गृह-युद्धों में भी हस्तक्षेप करने लगे। उन्होंने फ्रांसीसी शक्ति को भी कुचलने का प्रयत्न किया, जिससे वे मस्तक न उठा सकें। अडचार के युद्ध, अर्काट के घेरे में क्लाइव की रण-निपुणता, अगणित सेना पर सुसंगठित छोटी सेना की विजय तथा घुड़सवार सेना पर तोपों की विजय से अँगरेजों को काफी अनुभव प्राप्त हुआ तथा उन्हें प्रोत्साहन मिला। प्लासी के युद्ध और विशेषकर वाण्डीवाश के युद्ध से लेकर १८५८ तक अँगरेजों का मुख्य ध्येय युद्ध करने अथवा युद्ध की धमकी देकर अपने साम्राज्य का विस्तार करना रहा। यों तो इस अवधि के बीच में कभी-कभी शान्ति भी रही, परन्तु यह शान्ति इसलिए रहती थी कि इस बीच वे विजित राज्यों में शासन-प्रबन्ध करते रहते थे अथवा किसी आन्तरिक या वाह्य कारण से चुप रहते थे।

हस्तक्षेप की नीति—कुछ इतिहासकारों का कथन है कि अँगरेजों की हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण ही शान्ति रहती थी। इसकी तुलना उन्होंने हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप होनेवाले युद्धों से की है। अपने पक्ष में वे डुण्डाज (Dundas) का प्रस्ताव पेश करते हैं, जिसके अनुसार राज्यों को विजित करने की योजनाएँ 'ब्रिटिश राष्ट्र के सम्मान के प्रतिकूल' थीं। परन्तु इस प्रस्ताव के वाद ही लार्ड कार्नवालिस ने मैसूर के प्रति वड़ा उग्ररूप धारण कर टीपू के राज्य का काफी बड़ा हिस्सा हस्तगत किया था। वास्तव में हस्तक्षेप करने या न करने के विषय में अँगरेजों की कोई नीति न थी। यह तो पश्चिमवालों का एक महान् राजनीतिक अस्त्र है कि वे कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं। डुण्डाज की उक्ति भी इसी नीति का एक अंग थी। परन्तु उनकी इन उक्तियों

से उनके निरन्तर आक्रमणों की सच्चाई छिप नहीं सकती, जो वे लार्ड डलहौजी के गवर्नर-जनरल होने तक करते रहे।

अँगरेजों की इस नीति से हमें कम्पनी और राज्यों की परिस्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। इस काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पहला सन् १७५७ से १८१३ तक और दूसरा १८१३ से १८५७ तक। ली वार्नर ने पहली अवधि को 'गोल घेरा' (Ring fence) और दूसरी अवधि को 'अधीनस्थ पृथक्त्व' (Snb-ordinate isolator) की संज्ञा दी है। सन् १८५७-५८ के विद्रोह के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त कर दी गई और भारत ब्रिटिश क्राउन के अधीन हो गया। तब क्राउन और राज्यों के सम्बन्धों में काफी अधिक वैधानिक परिवर्तन किये गये। परन्तु वे परिवर्तन नियमानुकूल अथवा तर्कानुकूल न होकर वास्तविकता के आधार पर हुए। तीसरी अवधि सन् १८५८ से आरम्भ होती है। इसे 'अवीनस्थ संघ'(Subordinate Union) की संज्ञा दी गई है। अभी हाल में जो इस प्रसंग में प्रगति हुई है उसको सामूहिक रूप से एकीकरण (Integration) की संज्ञा दी जा सकती है।

सन् १७५७ से १८१३ तक—सम्राट् शाहआलम द्वारा दीवानी देने, मुर्शिदाबाद की मसनद पर कठपुतली राजा मीरजाफर को बिठाने और वाण्डीवाश के युद्ध के बाद फ्रांसीसियों के प्रायः चले जाने के फलस्वरूप कम्पनी भारत की प्रमुख शक्तिशाली सत्ताओं में से एक हो गई। अपनी सत्ता कायम रखने तथा उसे विस्तृत करने के लिए अँगरेज निरन्तर युद्ध करने लगे। राज्यों और कम्पनी के परस्पर हुए समझौतों (Engagements) से तत्कालीन परिस्थिति का पता चलता है। इन समझौतों के अनुसार राज्य और कम्पनी दोनों बराबरी का स्थान रखते थे। सबसे पहला समझौता मई १७५९ में हैदराबाद के निजाम के साथ हुआ। इसे हम परस्पर तटस्थता का समझौता कह सकते हैं। इसके बाद मछलीपट्टम की सन्धि हुई, जिसके अनुसार मराठों से सशंक निजाम ने कम्पनी के साथ सैनिक-सन्धि कर ली थी। यह सन्धि अपनी शक्ति को कायम रखने के लिए राजनीतिक-समझौतों को चालू करने की नीति का श्रीगणेश थी। इसी ध्येय को दृष्टि में रखते हुए, कम्पनी ने अपनी शक्ति स्थिर रखने के लिए यह नीति अपनाई। कम्पनी के काफी शत्रु बन चुके थे। मराठों, मैसूर (हैदरअली तथा टीपू) और कुछ सीमा तक निजाम से भी कम्पनी को डर रहता था। मराठों और मैसूर के बीच में होने के कारण हैदराबाद कम्पनी से अधिक सहायता नहीं ले सकता था। मैसूर राज्य में अर्काट और मराठा अवध के अस्तित्व को बनाये रख रहे थे। ये राज्य समय आने पर सहायता दे सकते थे। इस तरह पड़ोसी राज्य को बनाये रखने की नीति को लार्ड सेलिसबरी ने मंगललोक के 'आक्रमण से बचने के

लिए मर्त्यलोक का चन्द्रलोक को सहायता देना' कहा है। अर्काट, अवध और निजाम की आरम्भिक सन्धियाँ प्रायः इसी कोटि की थीं।

अँगरेज सेना की लखनऊ पहुँचने पर अवध से सन्धि, इस प्रकार की प्रथम सहायक-सन्धि थी। आर्थिक कमजोरी और उत्तरदायित्व के डर से अवध को विजित नहीं किया गया। एक सन्धि के अनुसार शुजाउद्दौला को फिर गद्दी दे दी गई और अँगरेज इस शर्त पर उसकी तरफ से लड़ने को तैयार हो गये कि वह युद्ध का समस्त खर्चा दे। वास्तव में इस प्रकार अवध को वचाने का अर्थ था वंगाल को वचाना। इस तरह अँगरेज अपने पड़ोसी राजा के खर्चे पर एक प्रकार से वंगाल को बचा रहे थे। जहाँ तक राज्य के आन्तरिक मामलों का प्रश्न है, उसका एकाधिकार नवाव को ही दे दिया गया था। कम्पनी की सत्ता बढ़ने के साथ-साथ नवाव का भार भी वढ़ता गया। एक सन्धि के वाद दूसरी सन्धि पर वह हस्ताक्षर करता चला गया; इस सीमा तक कि वे सन्धियाँ उसके वस से वाहर हो गईं और उसके राज्य का क्षेत्र भी कम होने लगा। अव अँगरेज उसके आन्तरिक एकाधिकार में भी हस्तक्षेप करने लगे। वारेन हैस्टिंग्स ने नवाव से वनारस की सन्धि की। यह एक प्रकार से जवरन सन्धि थी। इससे नवाव का काफी खजाना खाली हो गया और वह कम्पनी की प्रजा-मात्र रह गया। नवाव की रक्षा के लिए सहायक सेना रखी गई थी। वेलेजली ने वाद में इसी सेना के खर्च का वहाना वनाकर नवाव पर काफी कर्ज वताया और उसका अधिकांश राज्य हस्तगत कर लिया।

कर्नाटक और निजाम के साथ भी कम्पनी के सम्वन्ध इसी प्रकार के थे। पहले उनके सम्बन्ध वरावरी के रहे; फिर उनके राज्यों में अँगरेजी सहायक-सेना रख दी गयी; और अन्त में इस सेना पर हुए खर्च के फलस्वरूप काफी कर्ज वताकर उनका अधिकांश राज्य ले लिया। इस प्रकार की कार्रवाई के समय सन्धियाँ होती अवश्य थीं परन्तु वे प्रायः शक्तिहीन राज्यों पर एक प्रकार से थोपी जाती थीं। वेसीन की सन्धि के वाद पेशवा भी सहायक-सेना के वन्धन में फँस गया। इससे मराठा सरदारों के वीच अराजकता फैल गई और अन्त में वे छिन्न-भिन्न होकर कम्पनी से सैनिक-सन्धि करने लगे।

वेलेजली के जाने के वाद सैनिक-सन्धि की परम्परा भी समाप्त हो गई। इस अवधि में कम्पनी साधारण स्थिति से वढ़कर सर्वश्रेष्ठ शक्ति हो गई थी। परिणामतः राज्यों की स्थिति शोचनीय होने लगी। उन्होंने वरावरी का दर्जा खो दिया और वे धीरे-धीरे कम्पनी के अधीन होने लगे।

सभी राज्यों के साथ लगभग एक ही प्रकार की सैनिक-सन्धि की जाती थी। राज्यों के खर्चे पर राज्य में सहायक-सेना रख दी जाती थी, जो वक्त आने पर कम्पनी

अथवा राज्य दोनों को सहायता देती थी। इन सन्धियों के अनुसार राज्यों ने सभी अन्य यूरोपीय शक्तियों को विजित कर उन्हें वापिस यूरोप भगा दिया। केवल अँगरेज ही रह गये।

राज्यों के साथ कम्पनी की जो सन्धियाँ होती थीं उनमें बराबरी की भावना रहती थी। राज्यों को अपने आन्तरिक मामलों में सम्पूर्ण एकाधिकार था और कम्पनी उनके अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करती थी। परन्तु ये सन्धियाँ केवल सैद्धान्तिक ही होती थीं, प्रयोगात्मक रूप में नहीं। निजाम और मराठों के साथ जो सन्धियाँ हुईं वे अवश्य ही बराबरी की थीं। जो बड़े-बड़े राज्य थे उनके एकाधिकार में कम्पनी वास्तव में हस्तक्षेप नहीं करती थी।

वेलेजली के जाने से लेकर सन् १८१३ में लार्ड हेस्टिंग्स के गवर्नर-जनरल होकर आने तक का समय शान्ति, स्थिरता और कम्पनी तथा भारतीय राज्यशक्तियों के युद्धों की प्रतिक्रिया का रहा। इसका कारण था—यूरोप में नैपोलियन के युद्ध और भारत में रूस तथा फ्रांस के मिलकर आक्रमण करने का भय। वेलेजली के उत्तराधिकारियों ने तो नरेशों को खुश करने के लिए वेलेजली द्वारा किये गये समझौतों (Engagements) में भी हेर-फेर करने का प्रयत्न किया। बार्लो (Barlow) ने सिन्धिया को राजस्थान के रजवाड़े दे दिये और समझौते में शर्त रखी कि राजस्थान में सिन्धिया की कार्रवाइयों में कम्पनी बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करेगी।

सन् १८१३ से १८५७ तक अधीनस्थ पृथक्त्व—लाइप्सिक में नैपोलियन की पराजय (१८१३), यूरोप में औद्योगिक-क्रान्ति, वेलेजली के निरन्तर युद्धों की प्रतिक्रिया—इन सब कारणों से कम्पनी और राज्यों के सम्बन्धों में एक नये परिवर्तन का युग आया। यह युग लार्ड हेस्टिंग्स से लेकर लार्ड डलहौजी तक माना जा सकता है। इस युग का महत्त्वपूर्ण कार्य है—साम्राज्यवादी शासनविधि का विकास और उसमें कम्पनी का 'सर्वोच्च-सत्ता' के रूप में आविर्भूत होना। राज्यों ने कम्पनी के साथ सहायक-सन्धियाँ कर ली थीं। वे राज्य बिना सर्वोच्च-सत्ता की आज्ञा के अब परस्पर किसी भी प्रकार का समझौता नहीं कर सकते थे। उन्हें आन्तरिक शासन में विविध प्रकार के अधिकार प्राप्त थे जो प्रायः कम्पनी के राजनीतिक एजेण्ट (Political agent) अथवा रेजीडेण्ट के ऊपर निर्भर करते थे। इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है—शक्ति से अथवा धमकी देकर निरन्तर अपने राज्य का विस्तार करना।

लार्ड हेस्टिंग्स ने कार्यभार सँभालते ही निर्णय कर लिया था कि कम्पनी को सर्वोच्च सत्ता मान लिया जायगा और भारत पर एक राजनीतिक व्यवस्था लाद दी जायगी, जिसके अनुसार राज्य पृथक् होकर अधीनस्थ सहायक रहेंगे। इसके लिए

उसने निरन्तर युद्ध किये, पिण्डारियों और मराठों को समाप्तप्राय किया और इतनी सन्धियाँ कीं जितनी कि अब तक किसी भी गवर्नर-जनरल ने नहीं की थीं।

मराठा-सरदारों के छिन्न-भिन्न होने के बाद अँगरेजों को किसी भी भारतीय शक्ति से लड़ने के लिए मदद लेने की आवश्यकता नहीं रही। अतः उन्होंने सैनिक-सन्धि करने की नीति छोड़ दी। राज्यों को कम्पनी की सत्ता से बाहर स्वतन्त्र रखने का अब प्रश्न ही नहीं था। इसलिए कम्पनी ने अधीनस्थ सहायक (Subordinate Co-operation) तथा पृथकत्व (Solation) की प्रणाली अपनाई। उसने राज्यों से कम्पनी की सत्ता स्वीकार करवाई, उनके समस्त पर-राष्ट्रीय सम्बन्धों को अपने अधिकार में ले लिया। उनसे स्वामिभक्ति की अपेक्षा की और इसके बदले उनके संरक्षण का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। राज्यों को आदेश दिया गया कि वे आपस में परस्पर कोई सम्बन्ध न रखें और यदि उनके बीच कोई झगड़ा आदि हुआ तो उसका फैसला कम्पनी का न्यायालय करेगा।

उक्त प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिए कम्पनी ने सभी बड़े-बड़े राज्यों से नई सन्धियाँ कीं। राजस्थान और काठियावाड़ के बारे में समझौता उनके भूत-पूर्व शासक—सिन्धिया तथा बड़ौदा के गायकवाड़—से किया गया। उन्हें सनद तथा ग्राण्ट दी गई। उनसे स्वामिभक्ति और अधीनस्थ रहने की उम्मीद की गई और इसके बदले उनकी रक्षा का भार, जब तक वे स्वामिभक्त रहें, कम्पनी ने अपने ऊपर ले लिया। स्पष्ट है कि यह सन्धि पहले की सन्धि से भिन्न थी। अतः इस प्रकार की सन्धि के बाद राज्यों की स्थिति वैसी नहीं रही जैसी पहली सन्धि के अनुसार ग्वालियर और हैदराबाद की थी। लार्ड ऐमहर्स्ट (Lord Amherst) ने इसी प्रणाली का विस्तार बर्मा के अराकान प्रदेश तक किया। बाद में बैंटिक ने, युद्ध के कारण अर्थ-संकट होते हुए भी, प्रजा की इच्छानुसार कुर्ग में भी यही प्रणाली अपनाई। बैंटिक ने मैसूर-नरेश पर कुशासन का आरोप लगाकर मैसूर भी अपने हाथ में ले लिया। आकलैण्ड (Auckland) ने तो अफ़गानिस्तान तक को इसी प्रणाली में लपेटना चाहा पर वहाँ उसे मुँह की खानी पड़ी। इस अपमान का बदला लेने के लिए लार्ड एलिनबरा (Lord Ellenborough) ने अफ़गा-निस्तान में नादिरशाही मचाई और दूसरी ओर सिन्ध को अपने कब्जे में कर लिया। लार्ड हार्डिंज (Lord Hardings) ने पञ्जाब को भी हस्तगत कर लिया; परन्तु कश्मीर के बारे में वह असफल-सा रहा। उसका एकाधिकार राजा गुलाबसिंह डोगरा को दे दिया गया और शर्त रखी गई कि उसके उत्तराधिकारी केवल पुरुष-वर्ग में से होंगे जिनका चुनाव अँगरेज ही करेंगे।

तत्पश्चात् लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल होकर आया। उसका समय, राज्यों

और कम्पनी के सम्बन्धों का एक पृथक् युग माना जा सकता है। उसने अधिक-से-अधिक राज्यों को हस्तगत कर उनके साथ यूरोप में प्रचलित जागीरी-प्रथा जैसा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार कम्पनी को इन्हें समाप्त करने, अपहरण करने, नियन्त्रित करने तथा अपने अधिकार में ले लेने का पूरा अधिकार था। उसने अपने बल से ऐसा किया भी। उसके इन अन्यायपूर्ण कार्यों और राज्यों को बलात् हड़पने की नीति का दुष्परिणाम १८५७-५८ की क्रान्ति है, जिसमें उसके दुष्कर्मों को खून के अक्षरों में लिखा गया है।

डलहौजी का दावा है कि उसने जागीरी-अधिकार (feudal right), जिसे बाद में सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) कहा गया, केवल 'अधीन' (dependent) राज्यों पर लागू किया, 'स्वतन्त्र' (Independent) राज्यों पर नहीं। वास्तव में सर चार्ल्स मेटकाफ (Sir Charles Metcalf) ने १८३७ में राज्यों को दो भागों—अर्ध-एकाधिकारिक तथा अधीन—में विभक्त किया था। इस प्रकार कम्पनी द्वारा ही 'अधीन' राज्यों का निर्माण हुआ। डलहौजी का कथन है कि उसने इसी विभाजन को अपनी नीति का आधार बनाया। परन्तु उसका यह कथन उसके कार्यों* द्वारा पुष्ट नहीं होता।

सन् १८५७ से १९४७ तक—अधीनस्थ संघ—सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद भारत की शासन-सत्ता क्राउन के अधीन हो गई। इससे सर्वोच्च सत्ता और राज्यों की वैधानिक स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में घोषित किया गया, "हम सभी भारतीय नरेशों से यह ऐलान करते हैं कि वे सभी सन्धियाँ तथा समझौते, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राज्यों के साथ किये थे, हमें मान्य हैं और हम उनका पूरी तरह निर्वाह करेंगे। हम राज्यों से भी इसी प्रकार की आशा करते हैं। अपने वर्तमान साम्राज्य को अधिक बढ़ाने की हमारी इच्छा नहीं है।. . .हम सबके अधिकारों का सम्मान करेंगे। नरेशों का आदर और सम्मान हमारा अपना (आदर और सम्मान) है।"

उक्त घोषणा के बाद साम्राज्य-विस्तार की नीति का अन्त हो गया। सन्धियों और अधिकारों के सम्मान करने का वचन दिया गया था परन्तु इसका निर्वाह उन्होंने अपने ढंग से ही किया। सम्मान करने के साथ-साथ वे राज्यों के आन्तरिक मामलों में भी अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगे। क्राउन की सत्ता से पहले ये राज्य स्वतन्त्र

*** इसका सविस्तर वर्णन 'लार्ड डलहौजी' अध्याय में देखिए।**

P. Mukerjee, Indian Constitutional Documents, Vol. I. p. 432

इकाई के रूप में थे परन्तु अब वे ब्रिटिश साम्राज्य की जागीरें हो गईं थीं। और उन पर क्राउन का असीमित तथा सम्पूर्ण एकाधिकार हो गया था। इस परिवर्तन की घोषणा लार्ड कनिंग ने सन् १८६२ में की, "इँगलैण्ड का क्राउन (Crown of England) अपनी रियासतों के सम्मुख पहले-पहल समस्त भारत का एकमात्र शासक और सर्वोच्च सत्ता होकर प्रस्तुत हुआ है। वास्तव में क्राउन का इस तरह का आधिपत्य भारत में पहले कभी नहीं था, परन्तु नरेशों ने अब इसे बड़ी उत्सुकता से मान्यता दे दी है।" कैनिंग ने आगे कहा, "क्राउन के अधीनस्थ राज्यों का उतना ही महत्त्व है और वे भी भारत के उतने ही अविच्छिन्न अंग हैं जितने कि वे राज्य जो क्राउन के सीधे नियन्त्रण में हैं। दोनों प्रकार के राज्यों को मिलाकर एक संघ बन जाता है और उनकी ऐसी शासन-प्रणाली बन जाती है जिसे मुगल-शासक कभी पूरा नहीं कर पाये थे और मराठा सोच तक नहीं सके थे। अब ऐसा शासन इतिहास का सत्य बनकर आ गया है।"

कैनिंग की घोषणा से दो बातें स्पष्ट हो गईं। एक तो यह कि क्राउन ही सर्वोच्च सत्ता है और दूसरी यह कि समस्त राज्य एक कानून के अधीन भारत के अविच्छिन्न अंग हैं। इन दोनों मुख्य बातों के फलस्वरूप राज्यों की स्थिति में नितान्त परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन को प्रदर्शित करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने 'कैसर-ए-हिन्द' की उपाधि धारण की और १८७६ के दिल्ली दरबार में निजाम, सिन्धिया जैसे बड़े-बड़े नरेशों को भी यह महसूस कराया गया कि सर्वोच्च सत्ता के आगे उनकी भी वही स्थिति है जो अन्य छोटे-छोटे रजवाड़ों की।

अपनी सर्वोच्च सत्ता को तर्कपूर्ण आधार देने के लिए अँगरेजों ने इस बात का प्रचार करना आरम्भ किया कि उन्होंने सम्पूर्ण सत्ता मुगल-शासकों से प्राप्त की है परन्तु ऐतिहासिक एवं कानूनी दृष्टि से यह असत्य है। महारानी विक्टोरिया ने आश्वासन दिया था कि राज्यों के साथ की गई सन्धियों और समझौतों का पूर्णतः निर्वाह किया जायगा। इसे वाग्जाल में उलझाने के लिए अँगरेजों ने कहा कि 'सर्वोच्च सत्ता' के सामने राज्यों के 'अधिकारों' का प्रश्न ही नहीं उठता। क्राउन की इच्छानुसार ही राज्यों को सुविधाएँ आदि दी जा सकती हैं। इस कथन को कार्यान्वित करने के लिए लार्ड कर्जन ने घोषणा की, "क्राउन के एकाधिकार को कहीं भी कोई चुनौती नहीं दी जा सकती। उसने अपने असीमित अधिकारों की सीमा अपने आप निर्धारित कर ली है।"

क्राउन के हाथ में शासन-सत्ता आ जाने के बाद लार्ड कैनिंग ने अनेक सनदें तथा आज्ञापत्र (ग्राण्ट) दिये। इनके द्वारा नरेशों का गोद लेने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया और उनके राज्य की रक्षा करने का आश्वासन दिया गया।

परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि सर्वोच्च सत्ता की स्वीकृति के विना कोई भी उत्तराधिकार मान्य नहीं होगा तथा कुशासन को रोकने के लिए हर प्रकार का हस्तक्षेप किया जायगा। लार्ड कैनिंग ने यह भी स्पष्ट किया कि कुशासन आदि होने पर सरकार राज्यों को दण्डित कर सकती है। सनद उसे ऐसा करने के लिए रोक नहीं सकती। समझौता तोड़ने अथवा स्वामिभक्तिहीनता पर राज्यों को भारी से भारी दण्ड दिया जा सकता है। राज्यों को अक्षुण्ण वनाये रखने का आश्वासन देकर अँगरेजों ने उनके समस्त अधिकार छीन लिये, अधिक अधीन कर लिया, आन्तरिक शासन में अधिक हस्तक्षेप करने लगे और सर्वोच्च सत्ता को सर्वाधिक अधिकार मिल गये। सरदार पणिक्कर का कथन है कि, "यदि नई नीति के कारण राज्य विलीन होने से वच गये तो साथ ही उनके शासन में विदेशी अफसरों, मनोनीत दीवानों का हस्तक्षेप भी बढ़ गया और वे अँगरेज रेजीडेण्ट के सख्त नियन्त्रण में आ गये। अँगरेजों का प्रयत्न राज्यों की उन्नति करना न होकर केन्द्रीय सरकार की शक्ति बढ़ाना था और राज्यों को अपनी नीति का एक अंग बनाना था।"*

देशी राज्यों में अवश्य ही प्रायः कुशासन व्याप्त रहता था परन्तु अधिकांशतः इसके उत्तरदायी अँगरेज ही थे। अपनी स्थिति को सुरक्षित वनाये रखने के लिए उन्होंने सहायक-सन्धियाँ कीं और इसके फलस्वरूप राज्यों में कुशासन फैला। उनकी गद्दी वाह्य तथा आन्तरिक सब प्रकार से सुरक्षित थी। अतः नरेशों ने राज्य के सुधार करने में रुचि लेना छोड़ दिया और प्रायः आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहने लगे। अनेक बार अँगरेज रेजीडेण्ट भी उन्हें ऐसा करने के लिए बढ़ावा देते रहते थे। राज्य की अधिकांश आय अँगरेजी सेना के वेतन आदि पर ही व्यय हो जाती थी। इसका सबसे खराव असर जनता पर पड़ता था। सर टामस मुनरो ने अँगरेजी सेना और शासन-प्रणाली के बारे में लिखा है कि, "जहाँ की जनता कमजोर और पीड़ित होती है, वहाँ की सरकार स्वभावतः वहाँ के उच्च स्तरीय समाज के व्यक्तियों की आत्मा का हनन कर देती है; समस्त लोगों को पंगु तथा शक्तिहीन बना देती है।" १८५३ में लन्दन टाइम्स में भी इसी प्रकार की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई—

"यह ठीक ही कहा जाता है कि हम इन नरेशों को शक्ति प्रदान करते हैं। इन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है। मूर्ख होने, भोग-विलास में लिप्त रहने और अत्याचार करने के वावजूद भी उन्हें 'गद्दी' पर बैठाये रखते हैं। फलतः राज्य में अराजकता फैलती है। राज्य का समस्त राजस्व भाड़े के टट्टुओं और दरवार के चाटकारों के हिस्से आ जाता है। इस नीति के अनुसार सरकार जनता के लिए नहीं बल्कि जनता

---

* Pannikar, Indian States p. 37.

राजा के लिए है। जब तक हम इस तरह के अकर्मण्य राजाओं को संरक्षण देते रहेंगे तब तक हमें ही भारत का एकाधिकारी होकर उनकी प्रजा के प्रति भी समस्त कर्तव्य निबाहने पड़ेंगे।"

क्राउन के हाथ में सत्ता आने के बाद केन्द्रीय सरकार ने राज्यों की प्रजा के प्रति भी अपना उत्तरदायित्व समझा। एकाधिकारी-सत्ता होने के नाते उसका नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह राज्यों में सुशासन की व्यवस्था करे। इस विचार से लार्ड मेयो ने घोषणा की, "यदि हम आपको (नरेशों को) सहायता देते हैं तो इसके बदले हम आपसे सुशासन की भी आशा करते हैं।"

सन् १८९९ में लार्ड कर्जन ने ग्वालियर में कहा, "हमारी नीति के अनुसार नरेश-गण भारत के साम्राज्यवादी संघ के अभिन्न अंग बन गये हैं। देश के शासन से उनका भी उतना ही सम्बन्ध है जितना वायसराय का। मैं उन्हें अपना सहयोगी समझता हूँ। यह नहीं हो सकता कि एक ओर तो वे महारानी विक्टोरिया के साम्राज्य के प्रति स्वामिभक्त रहें और दूसरी ओर प्रजा के अनुत्तरदायित्वपूर्ण शासक भी। उन्हें अपने अधिकारों का सदुपयोग करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं। उन्हें जनता का सेवक और स्वामी दोनों होना चाहिए।"* निस्सन्देह यह नई नीति सन्धि का अति-क्रमण करती थी और इससे आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने को अधिक प्रोत्साहन मिल गया था। परन्तु प्रजा के अधिकारों की रक्षा करने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता भी तो न था। १८५७ की क्रान्ति से पहले 'अधीन' राज्यों पर सर्वोच्च सत्ता के जो अधिकार थे, वे अब समस्त राज्यों पर चाहे छोटे हों या बड़े लागू हो गये थे। इस तरह सब छोटे-बड़े राज्यों के प्रति बर्ताव करने और उन्हें समान समझने का मुख्य ध्येय यह था कि केन्द्रीय सरकार और राज्यों के परस्पर सम्बन्धों के लिए कुछ नियम निर्धारित कर दिये जायें। इससे सन्धियों का उल्लंघन अवश्य हुआ परन्तु इसके लिए तर्क दिया गया कि राज्य और सर्वोच्च सत्ता के सम्बन्ध सन्धियों पर आधारित नहीं थे। १९०३ में लार्ड कर्जन ने भावलपुर में कहा, "क्राउन और देशी राज्यों में जो परस्पर सम्बन्ध है उसकी तुलना संसार के किसी भी देश से नहीं की जा सकती। भारत की शासन-प्रणाली न तो जागीरी ढंग की है और न संघीय; ऐसा कोई संविधान नहीं है जिसके अन्तर्गत इसे माना जाय; यह केवल सन्धियों की शर्तों पर ही आधारित नहीं है और न यह किसी संघटन से ही मिलता-जुलता है। यह शासन-प्रणाली राज्य और क्राउन के उन सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करती है जिसका जन्म विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ और अब वे सब

---

* Releigh, Curzon in India p. 217

सम्बन्ध कालान्तर में समस्त राज्यों के साथ एक से हो गये हैं।"* लार्ड चेम्सफोर्ड ने नरेशों के सम्मेलन में भाषण देते हुए घोषणा की, "हम स्वीकार करते हैं कि इस शासन-प्रणाली से सन्धि की शर्तों में अन्तर आया है और एक ऐसी कार्यकारिणी की स्थापना हुई है जो अपने कार्य में स्वच्छन्द है, परन्तु उसके कार्य हमेशा परोपकारी भावना के होते हैं। यह भी ठीक है कि जो व्यवहार छोटे-मोटे नरेशों के साथ किये जाते हैं वे बड़ों के साथ भी किये जा सकते हैं।"

यह कहा जा चुका है कि केन्द्रीय सरकार, सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त या सन्धि की शर्तों के अनुसार अधिकार या किसी अन्य बहाने से राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने को नियमानुकूल बताती थी। जहाँ तक सन्धि की शर्तों के अनुसार अधिकारों का प्रश्न है, उसे हम देख चुके हैं कि अँगरेजी सरकार किस तरह सन्धियाँ करती थी। कहना न होगा कि राज्यों ने इन सन्धियों और उनके सिद्धान्तों के नियमानुकूल होने को कभी स्वीकार नहीं किया। सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त लेकर या छल-कपट से या साम्राज्यवादी लालसा से जो हस्तक्षेप होते थे, उनका अब हम अध्ययन करेंगे।

सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Paramoun acy) **के अधिकार**—क्राउन के सत्तारूढ़ होने से भी पहले कम्पनी ने छोटे-मोटे राज्यों पर अपना एकाधिकार प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया था। यह एकाधिकार किसी नियम या समझौते पर आधारित न होकर केवल कम्पनी की शक्ति पर आधारित था। परन्तु ये अधिकार केवल उन्हीं राज्यों तक सीमित थे जिन्हें 'अधीन राज्य' की संज्ञा दी गयी थी। कहा जाता है कि डलहौजी की नीति भी इसी पर आधारित थी।

सन् १८५८ के बाद उन अधिकारों को और अधिक बढ़ा दिया गया और वे सभी राज्यों पर, चाहे वे छोटे हों या बड़े, लागू कर दिये गये। इस तरह छोटे-बड़े राज्यों का पुराना भेद-भाव समाप्त कर दिया गया। राज्यों ने क्राउन के इन अधिकारों को कभी मान्यता नहीं दी परन्तु क्राउन अपनी शक्ति से इन्हें उन पर थोपता था। उत्तराधिकारी मनोनीत करना, उत्तराधिकार को मान्यता देना, कुशासन होने पर राज्य में हस्तक्षेप करना, राजा को राज्यच्युत करना आदि अधिकार भी क्राउन के पास थे।

उत्तराधिकारी का निर्णय तथा मान्यता—उत्तराधिकारी का निर्णय करने तथा उसे मान्यता देने का अधिकार भी कम्पनी ने अपने हाथ में यह कहकर ले लिया कि स्वामी को अपनी जागीरों के लिए ऐसे निर्णय आदि करने का पूर्ण अधिकार है। परन्तु इसका विस्तार ठीक ढंग से नहीं हुआ। पहले तो कम्पनी ने

---

* Releigh, Curzon in India p. 226.

कहा था कि उत्तराधिकारी निश्चित करने का कोई अधिकार नहीं है। वह केवल 'अधीन' राज्यों के उत्तराधिकारियों को मान्यता दे सकती है। परन्तु बाद में अधीन होने और न होने का भेदभाव समाप्त हो गया और तव १८९१ में लॉर्ड सैलिसवरी (Lord Salisbury) ने घोषित किया कि, "यह सरकार का कर्तव्य और अधिकार है कि वह अपने अधीन संरक्षित राज्यों के उत्तराधिकारियों का निर्णय करे।" भारत सरकार ने घोषणा की कि बिना उसकी सहमति के कोई भी उत्तराधिकार मान्य नहीं होगा। परन्तु वड़े-वड़े राज्यों ने इस अधिकार को स्वीकृत नहीं किया। सरकार उत्तराधिकारी को प्रायः मान्यता दे देती थी परन्तु आज्ञा लेना तो आवश्यक था ही। कुछ उत्तराधिकार के मामलों में तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा था, जिनमें से प्रमुख हैं—मनीपुर, कश्मीर और भूपाल।

मनीपुर के राजा सूर चन्द्रसिंह को सितम्बर १८९० में अपनी राजधानी से भागकर अँगरेजों की शरण में जाना पड़ा था क्योंकि युवराज ने सेनापति की सहायता से उसका राज्य हड़प लिया था। सरकार को यकीन हो गया कि युवराज ही वास्तविक उत्तराधिकारी है। इसलिए उसे महाराजा वनाने का निर्णय कर दिया गया। परन्तु विद्रोहियों को सरकार सहन नहीं कर सकती थी; इसलिए सेनापति को निकाल देने की आज्ञा दे दी गई। इस निर्णय के फलस्वरूप राज्य में विद्रोह हो गया जिसमें कुछ अँगरेज अफसर भी मारे गये। अन्त में विद्रोह का दमन कर दिया गया। विद्रोहियों पर अँगरेजों के खून का मुकदमा चलाया गया और उन्हें सजा दी गई।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सरकार को उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार था। साथ ही उनके फैसले के विरोध में जो विद्रोह करते थे उन पर मुकदमा चलाकर सजा देने का भी सरकार को अधिकार था। एक विशेष आयोग (कमीशन) के सम्मुख युवराज पर भी महारानी विक्टोरिया के विरुद्ध युद्ध करने और अँगरेज अफसरों को मारने का मुकदमा चलाया गया और उसे फाँसी की सजा दी गई।

कश्मीर की घटना से विदित हो जाता है कि सर्वोच्च सत्ता को उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप करने का और एक राजा को हटाकर वास्तविक उत्तराधिकारी को राज्य दिलाने का पूरा अधिकार था। कश्मीर का वास्तविक उत्तराधिकारी हरिसिंह था। परन्तु राजा अपने दत्तक पुत्र को गद्दी पर बिठाना चाहता था। सरकार ने हस्तक्षेप कर हरिसिंह को राजा स्वीकृत किया। इसी प्रकार भूपाल में भी सर्वोच्च सत्ता ने उनके अधिकारों की अवहेलना की।

उत्तराधिकार स्वीकृत करने का घनिष्ठ सम्वन्ध गोद लेने की स्वीकृति तथा मान्यता देने से भी है। '५७ की क्रान्ति के वाद नरेशों द्वारा गोद लेने के अधिकार

को स्वीकृत कर लिया गया। कमजोर शासक के यहाँ रीजेण्ट चुनने का अधिकार भी क्राउन के पास था। राज्यों ने इसका विरोध किया, क्योंकि रीजेण्ट प्रायः सरकार के राजनीत विभाग के व्यक्ति होते थे और वे नरेशों के एकाधिकार में हस्तक्षेप करते थे।

हस्तक्षेप का अधिकार—१८५७ से पहले कुछ संधियों में (जैसे मैसूर संधि में) यह शर्त थी कि कुशासन होने पर कम्पनी हस्तक्षेप कर सकती है। क्रान्ति के बाद हस्तक्षेप करना सर्वोच्च सत्ता का अधिकार मान लिया गया, भले ही संधि में यह शर्त हो अथवा नहीं। इसके लिए तर्क दिया गया कि जब वे राज्यों के संरक्षण का भार लिये हुए हैं तो उनकी प्रजा का हित देखना भी तो उनका नैतिक कर्त्तव्य है। इस अधिकार को कार्यान्वित करने के लिये उन्होंने विशेष आयोग द्वारा कुछ राजाओं को सिंहासनच्युत भी किया, उनमें से मुख्य हैं—बड़ौदा, कश्मीर, भरतपुर, अलवर और इन्दौर। बड़ौदा-नरेश पर उन्होंने विशेष आयोग (Special Commission) बिठाकर मुकदमा चलाया। इन्दौर, पटियाला और उदयपुर के नरेशों को सिंहासन छोड़ने को विवश किया। मैसूर का मामला दूसरे ही ढंग का है। कुशासन के आधार पर बैंटिक ने मैसूर के राजा को सन् १८३० में सिंहासनच्युत कर दिया था। पूरे पचास साल बाद सन् १८८१ में मैसूर फिर उसी राजा के वंशजों को लौटा दिया गया। इससे क्रान्ति पश्चात् राज्यों के प्रति अँगरेजों की नीति में परिवर्त्तन होने का संकेत मिलता है। मैसूर से नई संधि की गई। इस संधि (Transfer of power) के अनुसार राजा को तभी तक शासन करने का अधिकार रहेगा जब तक वह संधि की शर्तों को मानता रहे। उनमें से प्रमुख शर्तें ये थीं—राजा हमेशा महारानी विक्टोरिया का स्वामिभक्त और अधीनस्थ रहेगा और उसके प्रति हमेशा अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहेगा।* राजा को कोई अधिकार न होगा कि वह गवर्नर-जनरल की पूर्वाज्ञा बिना कोई क़िला बनवाये, या उसकी मरम्मत करवाये या अस्त्र-शस्त्र मँगाये या स्वयं बनवाये। अँगरेज जिस स्थान को भी अपनी छावनी की स्थापना के लिए चुने, वह महाराजा को देना होगा। इन छावनियों में आनेवाले माल पर कोई चुंगी नहीं लगेगी। राजा न तो अन्य राजाओं से कोई सम्बन्ध रखेगा और न गैर-भारतीय को ही अपने राज्य में रहने की आज्ञा देगा। रेल, तार आदि बनाने के लिए राजा को जमीन निःशुल्क देनी होगी। भारत सरकार के सिक्के सर्वत्र मान्य होंगे। संधि के अन्त में लिखा गया :—

---

* Lec wamer : the Native states of India p. 176.

"मैसूर का महाराजा अर्थ-व्यवस्था के लिए गवर्नर-जनरल की सलाह और सहमति लेगा......महाराजा अपने कार्यों के बारे में, प्रजा को सुखी रखने तथा ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध रखने के बारे में भी सलाह लेगा।"

इस प्रकार की संधि अन्य राज्यों के साथ भी की जाने लगी। लार्ड कर्जन के कार्यकाल में तो सरकार राजाओं के योरोप जाने को भी नियंत्रित करने लगी मानां वे भी किसी स्कूल के विद्यार्थी हों। लार्ड कर्जन ने एक गश्ती पत्र निकाला, जिसमें कहा गया कि—

"नरेशों के बार-बार देश से बाहर रहने का अर्थ है कि वे अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते और अपने राज्य के प्रति उदासीन हैं....नरेशों के विदेश गमन को केवल उन्हीं स्थितियों में प्रोत्साहित करना चाहिए जब कि उससे प्रजा और राजा दोनों का लाभ हो। जब नरेशों को विदेश जाने की आज्ञा दी जाती है, तब उन्हें समझ लेना चाहिए कि उन्हें फिर जल्दी ही दुबारा विदेश जाने की आज्ञा नहीं दी जायगी। उनके विदेश से आने और फिर दुबारा जाने की प्रार्थना के बीच काफी समय गुजर जाना चाहिए।"*

सर्वोच्च सत्ता का आधार लेकर अँगरेजों ने मैसूर की इस नई संधि का विस्तार सब राज्यों तक कर दिया। इससे राजनीति-विभाग के हस्तक्षेप और भी बढ़ गये और रेजीडेण्ट या एजेण्ट की शक्ति बढ़ गई। वास्तव में वही राज्य का शासक होता था और राजा को उँगलियों पर नचाता था। १८७५ में भारत-यात्रा करते समय प्रिंस आफ वेल्स ने अपनी माता को लिखा था, "मुझे यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि अँगरेज अफसर नरेशों के साथ धृष्टतापूर्ण वर्ताव करते हैं। यहाँ की शासन-व्यवस्था अनुचित है। रेजीडेण्ट अपने को राज्य के हर मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकारी समझता है। उसकी किसी भी बात का राजा विरोध नहीं करता। यदि राजा विरोध करे तो कुशासन का दोष लगाकर उसे सिंहासनच्यूत किया जा सकता है।"

मित्रता का नाता—"मैं राजाओं को अपना सहयोगी तथा मित्र मानता हूँ।" ये शब्द सन् १८९९ में ग्वालियर में लॉर्ड कर्जन ने कहे थे। इस सम्बन्ध से तथा सर्वोच्च सत्ता के अधीनस्थ होने के कारण भी, राज्यों को युद्ध बाह्य झगड़े आदि के मामलों में ब्रिटिश सरकार को सहयोग देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

राज्यों से यह उम्मीद की जाती थीं कि वे आवश्यकता पड़ने पर धन-जन सभी प्रकार से केन्द्रीय सरकार की सहायता करेंगे। शान्ति के दिनों में राज्यों में सीमित

---

* Ronald shay, Life of Curzon p. 91

सेना होती थी और वह भी प्रायः उत्सवों आदि के लिए। युद्ध के दिनों में उनसे आशा की जाती थी कि वे अपनी समस्त जन-शक्ति सरकार के हवाले कर देंगे। साम्राज्य की रक्षा करने के लिए राज्यों को अपने खर्चे पर 'इम्पीरियल सर्विस ट्रुप्स' रखने पड़ते थे। इस सेना को ब्रिटिश अफसर प्रशिक्षण देते थे और इसे केन्द्रीय सरकार के माँगने पर फौरन ही जाना पड़ता था। सन् १९१४ तथा १९३९ के युद्धों में राज्यों की इन सेनाओं ने काफी भाग लिया; यहाँ तक कि कुछ नरेश स्वयं भी युद्ध-भूमि में गये।

सरकार ने राज्यों में तार तथा रेलों का भी विस्तार किया और इस काम को आवश्यक बताया। किसी भी नरेश ने इसका इस डर से विरोध नहीं किया कि कहीं वे कृतघ्न न कह दिये जायँ। कुछ राजा ऐसे हैं जिनकी अपनी रेलें थीं, परन्तु अधिकांश रेलें ब्रिटिश सरकार द्वारा ही संचालित थीं। राज्यों की काफी जमीन इन रेलों से घिरी हुई थी। रेलों से राज्यों को भले ही थोड़ा बहुत लाभ भी हुआ परन्तु साथ ही व्यवसाय की दृष्टि से नुकसान भी कम नहीं हुआ।

राज्यों पर कृपादृष्टि (१९०६-१९४७)—यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रिटिश सरकार ने राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में चाहे कितने ही सुन्दर सिद्धान्त क्यों न रखे हों परन्तु उनका मुख्य ध्येय तो यही देखना था कि राज्य उनके लिए कहाँ तक उपयोगी है। मोटे तौर पर वेलेजली के गवर्नर-जनरल रहने तक अँगरेजों ने अपने ही हित की दृष्टि से राज्यों को ज्यों का त्यों बनाये रखा, क्योंकि उन्हें आशा थी कि ये राज्य युद्ध-काल में सहयोगी-राज्य का काम देंगे। वेलेजली के बाद राज्यों को अपने साम्राज्य में आत्मसात् करने की नीति पनपी, जिसके फलस्वरूप उन्हें १८५७-५८ की महान् क्रान्ति का सामना करना पड़ा। इससे राज्यों को आत्मसात् करने की नीति तो रुकी परन्तु साथ ही केन्द्रीय सरकार अपनी शक्ति भी अधिकाधिक बढ़ाने लगी और सर्वोच्च सत्ता समस्त राज्यों के साथ बिना भेदभाव के एक-सा बर्ताव करने लगी, यह सब १९०५ तक चला। इसके बाद राज्यों पर सरकार की कृपादृष्टि हुई। इस कृपादृष्टि के कारण थे—ब्रिटिश भारत में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता, लार्ड कर्जन के कठोर बर्ताव के परिणामस्वरूप हुई दुर्गम परिस्थिति, भारतीय राष्ट्रीय-कांग्रेस के कार्यकलाप तथा एक महान् यूरोपीय शक्ति रूस की जापान से पराजय की प्रतिक्रिया। बंग-भंग के बाद जो विप्लव फैला और उस समय जो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति थी, उसे देखते हुए ब्रिटिश सरकार को किसी न किसी का सहारा लेना आवश्यक हो गया। इसके लिए लार्ड मिण्टो ने दो का सहारा सबसे उपयुक्त समझा—एक तो मुस्लिम लीग द्वारा प्रोत्साहित आगा खाँ और दूसरे भारतीय नरेशगण। लार्ड

मिण्टो ने ब्रिटिश साम्राज्य के हित के लिए 'अधीनस्थ संघ' की नीति अपनाई जिससे भारतीय राष्ट्रीयता की वेगवती धारा को रोकने के लिए ये राज्य रोड़े का काम कर सकें।

उक्त नई नीति का उद्घाटन लॉर्ड मिण्टो ने १९०९ के उदयपुर दरबार में किया, "मैंने यह नियम बना लिया है कि जहाँ तक सम्भव हो, समस्त राज्यों पर एक ही कानून लागू न किया जावे, बल्कि उनकी वर्त्तमान संधियों, स्वामिभक्ति, परिस्थितियों आदि को देखकर ही उनके साथ बर्ताव किया जावे।"*

उक्त घोषणा के फलस्वरूप लार्ड कर्जन की समान बर्ताव की नीति में अन्तर आया। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि सर्वोच्च सत्ता यह मानती थी कि समस्त राज्यों के सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से एक ही तरह के नहीं थे।

राज्यों को पृथक्-पृथक् रखने की पुरानी नीति भी समाप्त कर दी गई। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध फिर चालू हो गये और वे व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से भी अपने अथवा ब्रिटिश भारत के मामलों में भाग लेने लगे। इससे अँगरेजों का मन्तव्य यह था कि नरेशों में और सर्वोच्च सत्ता में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाय। इस नई नीति में भी राज्य की प्रजा नगण्य रही। सन् १८६१ में पटियाला के महाराजा भारतीय विधान परिषद् के लिए नामजद किये गये। लार्ड लिटन का विचार था कि नरेशों की 'प्रिवी कौन्सिल' स्थापित की जाय परन्तु ऐसा न हो सका। लार्ड कर्जन भी 'नरेश परिषद्' बनाना चाहते थे परन्तु असफल रहे। इसका कारण था परिस्थितियों का प्रतिकूल होना। १९०५ में परिस्थितियाँ बदलीं। नरेशों का महत्त्व बढ़ा और लार्ड मिण्टो ने भारत-सम्बन्धी मामलों में उनकी राय लेने की नीति आरम्भ की। उसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य और सर्वोच्च सत्ता आपस में एक दूसरे के प्रति रुचि लें। इस नई नीति के लिए उसने नरेशों की शाही परिषद् स्थापित करने का प्रस्ताव रखा परन्तु वह कार्यान्वित न हो सका। फिर भी उसने नरेशों से सलाह लेने की परम्परा जारी रखी ताकि वे अपने को शाही शासन का प्रमुख अंग समझें। अन्त में सलाहकार-समिति के रूप में नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना हुई।

उक्त नीति के फलस्वरूप नरेशों को राजनीति-विभाग की ज्यादतियों के विरोध में अपनी शिकायतें रखने का साहस हुआ। मॉण्टेग्यू-मिशन (Montagu Mission) ने उनके सुझावों को माना और कहा कि ब्रिटिश भारत तथा राज्य-सम्बन्धी प्रश्नों के लिए उनकी एक स्थायी सलाहकार समिति स्थापित की जायगी।

---

* Buchan, Life of Lord Minto p. 293

मिशन के सुझावों पर भी राज्यों ने विचार किया परन्तु राज्यों का महत्त्व किस आधार पर बड़ा-छोटा माना जाय, इस बारे में कोई निर्णय न हो सका। अन्त में सलामी में तोपों की संख्या को ही राज्यों के वर्गीकरण का आधार मान लिया गया।

भारत के $\frac{3}{5}$ क्षेत्रफल में राज्य फैले हुए और इनकी कुल आवादी भारत की समस्त आवादी का $\frac{1}{4}$ थी। राज्य इस प्रकार थे।

(१) उत्तर-पश्चिम में जम्मू-कश्मीर राज्य, (२) पंजाब में ३४ राज्य, (३) उत्तर प्रदेश में ३ राज्य, (४) विहार तथा उड़ीसा में २६ राज्य, (५) वंगाल, आसाम और सीमान्त उत्तर-पूर्व में ४ राज्य, (६) सीमान्त पश्चिम में २ राज्य, (७) पश्चिमी भारत राज्य-ऐजेन्सी के २०६ राज्य, (८) राजपूताना के २१ राज्य, (९) ग्वालियर, (१०) मध्य भारत के ९० राज्य, (११) मध्य प्रदेश के १५ राज्य, (१२) वड़ौदा, (१३) वम्वई के ५ राज्य, (१४) दक्षिण में मैसूर तथा हैदराबाद और (१५) मद्रास के ५ राज्य। इस प्रकार समस्त भारत में विभिन्न प्रकार के ५६३ राज्य थे।

नरेन्द्र मण्डल का १९२१ में कन्नाट के ड्यूक (Duke of Cannaught) ने उद्घाटन किया था। इसके १२० सदस्य थे, जिनमें से १०८ प्रतिनिधि उन राज्यों के थे जिन्हें २१ से ९ तोपों की सलामी दी जाती थी। १२ सदस्य १२७ राज्यों में से चुने जाते थे। बाकी ३२७ राज्यों का कोई भी प्रतिनिधि इस मण्डल में नहीं था। मण्डल का अध्यक्ष वायसराय होता था। मण्डल साल में कम से कम एक वार अवश्य ही अपनी वैठक करता था जिसमें वायसराय द्वारा रखे कार्यक्रम के अनुसार विचार-विमर्श होता था।

मण्डल ने राजनीति-विभाग के व्यवहार का प्रश्न उठाया और उसके अधिकार निर्धारित करने पर जोर दिया। मण्डल ने सीमाशुल्क, उत्पादन-शुल्क, नमक, रेलवे तथा तार आदि समस्त भारत से उगाहे जानेवाले करों का कुछ हिस्सा राज्यों को मिलने का प्रश्न भी उठाया। राज्य सम्बन्धी सरकार का केन्द्रीय सरकार से क्या सम्बन्ध रहेगा, इसके भी सिद्धान्त निर्धारित करने को कहा गया। राज्यों को डर था कि कहीं सरकार सब पर एक से नियम लागू न कर दे। इससे राज्यों का अपना कोई महत्त्व नहीं रह जाता था और उनकी गणना भी साधारण प्रजा में ही होने लगेगी।

लार्ड रीडिंग का निजाम को पत्र—मार्च १९२६—उक्त जटिलताओं के बीच में भी नरेशगण इस बात पर खुश थे कि अब केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप कम हो जायँगे। परन्तु उनके इस विचार पर उस समय बड़ा धक्का पहुँचा जब २७ मार्च १९२६ को लार्ड रीडिंग ने निजाम को एक पत्र भजा। निजाम ने बरार वापस

माँगा था और कहा था कि वह भी अपने राज्य में उतना ही स्वतन्त्र शासक है जितनी कि ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार। इसी के उत्तर में लॉर्ड रीडिंग ने उक्त पत्र भेजा।

पत्र में लिखा था, "ब्रिटिश क्राउन की एकाधिकारी सत्ता भारत में सबसे बड़ी है, कोई भी राजा उससे बराबरी का दावा नहीं कर सकता। क्राउन की उच्च सत्ता किन्हीं संधियों अथवा समझौतों पर आधारित न होकर स्वतन्त्र रूप से है। संधि और समझौतों का हम सम्मान करते हैं परन्तु ब्रिटिश सरकार का उससे भी बड़ा कर्त्तव्य और अधिकार है भारत भर में अमन और शान्ति स्थापित करना।

"दूसरी बात है ब्रिटिश सरकार का राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना। इसमें भी कुछ कारणों के फलस्वरूप ब्रिटिश क्राउन को अपनी उच्च सत्ता का प्रयोग करना पड़ता है।....साम्राज्य के हित की दृष्टि से अथवा जहाँ राजाओं द्वारा जनता अधिक प्रताड़ित होती है, वहाँ सर्वोच्च सत्ता का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व है कि वह शान्ति एवं अमन के लिए हर प्रकार के प्रयत्न करे। राज्यों के जो विभिन्न आन्तरिक एकाधिकार हैं, वे सब सर्वोच्च सत्ता के उत्तरदायित्व पर निर्भर करते हैं।....आपको (निजाम को) जो 'वफादार साथी' की पदवी मिली है उसके अर्थ यह नहीं हैं कि ब्रिटिश क्राउन के अधीन जो राज्य हैं उनसे आपको अलग रखा जाय।"*

सर्वोच्च सत्ता का एक कार्य दरबारों को छिन्न-भिन्न करना भी था। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए १९२६ में नरेन्द्रमण्डल ने एक कमेटी बनाई और नवम्बर १९२६ में उस कमेटी को वायसराय से विचार-विमर्श करने का अधिकार दिया गया, नरेशों ने इस बारे में खोज-बीन करने पर जोर दिया। इसे वायसराय ने मान लिया और दिसम्बर १९२७ में सर हार्कोर्ट बटलर (Sir Hercourt Butler) की अध्यक्षता में बटलर कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी का कार्यक्रम, जुलाई में शिमला में राजनीति अधिकारियों के सम्मेलन में वायसराय ने पहले ही से निर्धारित कर दिया था।

बटलर कमेटी—अँगरेज चाहते थे कि उनके पास अधिक से अधिक अधिकार सुरक्षित रहें। अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए राज्य और बाकी ब्रिटिश साम्राज्य के बीच अन्तर रखने के लिए कुछ नये सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ गई थी। इन नये सिद्धान्तों का निर्माण बटलर कमेटी ने किया और ऐसा करने में वे अपनी

---

* A. C. Banerji Indian Constitutional Documents vol. III page 411-415

अधिकार-सीमा से भी वाहर चले गये। उनका सिद्धान्त था कि राज्य भारत सरकार के अधीन नहीं हैं वल्कि 'क्राउन' के अधीन हैं। इस प्रकार उन्होंने राज्यों और वाकी भारत के बीच 'चीन की दीवाल' खड़ी कर दी। हर देश-प्रेमी समस्त भारत को एक करना चाहता था। यह निर्णय उनकी भावना के विरुद्ध रहा।

राज्यों का 'क्राउन' के साथ सीधा सम्बन्ध अगस्त १९२७ की घोषणा से आरम्भ हुआ। राज्य प्रान्तीय सरकार से अलग होकर केन्द्रीय सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गये। मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (Montagu-Chemsford Report) के वारे में इन्दौर के महाराजा ने एक प्रेरणात्मक पत्र लिखा। उन्होंने लिखा, "महाराजा की संधि ब्रिटिश सरकार से है, जिसका संचालन इँगलैण्ड के सम्राट् की ओर से वायसराय करता है। इन्दौर राज्य भी ब्रिटिश भारत के साथ ग्वालियर और हैदरावाद की तरह सहयोगी-राज्य जैसा सम्बन्ध रखता है। ये सभी राज्य अपने में स्वतन्त्र हैं और इनको परस्पर जोड़ने में ब्रिटिश सरकार एक शृंखला का काम करती है।" इस पत्र की प्रशंसा डाक्टर कीथ (Dr. Keith) और सर लैस्ली स्काट (Sri Leslie Scott) जैसे तत्कालीन सुप्रसिद्ध संविधान-विशेषज्ञों और वकीलों ने की। डा० कीथ ने लिखा, "यह महत्त्वपूर्ण बात है कि राज्यों का सम्वन्ध 'क्राउन' से है, भारत-सरकार से नहीं। इससे भारत में उत्तरदायित्व पूर्ण सरकार स्थापित करने में जटिलता आ गई है। स्पष्ट है कि बिना राज्यों की स्वीकृति के 'क्राउन' अपने अधिकारों को भारत-सरकार को नहीं सौंप सकता* ।" यही बात सर लैस्ली स्काट ने, जिसने नरेन्द्रमण्डल की कमेटी ने वटलर कमेटी के सम्मुख उनका मामला प्रस्तुत करने के लिए रखा था, वकीलों की एक त्रैमासिक पत्रिका (Law Quarterly Review) में अपने एक लेख में कही। लेख में स्काट ने पाँच बातें रखीं जिनमें से दो उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि संधियाँ एकाधिकारियों—क्राउन और राज्य के बीच हुई हैं; कम्पनी या भारत-सरकार के साथ नहीं। दूसरे संधियों में नरेशों ने 'क्राउन' का विश्वासपात्र होने का आश्वासन दिया है और 'क्राउन' इसे किसी तीसरी पार्टी को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। सर्वोच्च सत्ता होने के नाते ब्रिटिश सरकार ने राज्यों की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। इसलिए इस उत्तरदायित्व के कारण वह हर प्रकार की सैनिक तथा नौसैनिक सहायता ले सकती थी। अब वह यह शक्ति किसी भी अन्य को हस्तान्तरित नहीं कर सकती, चाहे वह फ्रांस हो, चाहे जापान, यहाँ तक कि ब्रिटिश भारत को भी।

नरेश-गण उक्त सिद्धान्त से बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि इससे वे 'उत्तरदायित्व-

---

* A. B. Keith. Emprie Survey Series, p. 250.

पूर्ण सरकार,की जिसे वे ठीक-ठीक जानते भी न थे,परेशानी से बच जाते थे। राज्यों तथा भारत की जनता के लिए तो यह सिद्धान्त एक प्रतिभावान् की ऐसी साहसिक तथा चतुराईपूर्ण कल्पना थी, जिसका ऐतिहासिक तथ्यों से कुछ भी सम्बन्ध न हो। नरेशों ने माँग की कि बिना उनकी पूर्व सहमति के उन्हें किसी भी अन्य सरकार से सम्बन्ध जोड़ने को न कहा जाय और साथ ही उस सरकार के अधिकार भी सीमित हों तथा अधिकारों की भी स्वीकृति नरेशों से ली जाय। राज्यों को संयुक्त-राज्य संघ में मिलाने की उक्त शर्तों को इस सिद्धान्त के ही आधार पर, १९३५ के ऐक्ट के साथ जोड़ा गया।

जिस समय नरेशगण अपने सिंहासन की सुरक्षा के लिए ब्रिटेन से ये नये सम्बन्ध जोड़ रहे थे; उस समय उनकी प्रजा, ब्रिटिश भारत की जनता से अनुप्राणित होकर स्वतन्त्र होने और गणतन्त्र स्थापित करने की भावना से प्रभावित हो रही थी। देशी राज्य-जन-सम्मेलन (Indian States Peoples' Conference) के अध्यक्ष कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेतागण चुने जा रहे थे। और इसी माध्यम से कांग्रेस उन्हें सहायता दे रही थी। देशी राज्यों में जो हाल ही में परिवर्त्तन हुए, जैसे सर्वोच्च सत्ता का विलयन राज्यों का भारत-संघ में मिलना आदि, उनका वर्णन अन्य अध्यायों में किया जायगा।

बाइसवाँ अध्याय

भारत और उसके पड़ोसी

वैदेशिक नीति का स्वरूप—अँगरेजों के अधीन होने के कारण भारत की अपनी कोई विदेशी नीति नहीं थी। इँगलैण्ड ने जिन युद्धों में भाग लिया उनमें विवश होकर, भारत को भी भाग लेना पड़ता था। भारत की वैदेशिक नीति लन्दन में निर्धारित की जाती थी। १८५८ के वाद तो भारत की विदेश-नीति पूर्णतया अँगरेजों द्वारा ही निर्धारित होने लगी।

ईरान, अफगानिस्तान, तिब्वत, नेपाल और वर्मा भारत के पड़ोसी देश हैं। अतः भारत उनके सम्पर्क में आया। भारत में अँगरेजी साम्राज्य की स्थापना के समय इनमें से कोई भी देश इतना शक्तिशाली नहीं था जिससे भारत को खतरा पैदा होता। अँगरेजों की यह परम्परा थी कि वे अपने वचाव के लिए दूसरों का सहारा लेते थे। दूसरे इन राज्यों की भौगोलिक स्थिति भी ऐसी थी कि उनसे मैत्री सम्बन्ध वनाये रखना आवश्यक था अन्यथा संसार के शक्तिशाली राष्ट्र—रूस, अमेरिका, फ्रांस आदि इनको भड़का कर अपना उल्लू सीधा कर सकते थे।

भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमान्त—पंजाब और सिंध की विजय से ब्रिटिश भारत की सीमा विलोचिस्तान तक पहुँची। इससे आगे एक और ईरान और दूसरी ओर अफगानिस्तान था। अफगानिस्तान से आगे आक्सस घाटी, इससे आगे बुखारा, खीव और समरकन्द और फिर रूस था। दुर्गम तथा अगम्य पर्वत-मालाएँ भारत को ईरान तथा अफगानिस्तान से अलग करती हैं। ईरान की ओर बोलन का पहाड़ी दर्रा तथा अफगानिस्तान की ओर खैबर और खोजक का दर्रा है। इस क्षेत्र में पहाड़ी आदिम जातियां रहती हैं जो उत्कट देशभक्त तथा स्वतन्त्रताप्रेमी हैं। ये लोग बड़े दृढ़ और सहनशील होते हैं।

ईरान और अफगानिस्तान की सैनिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी और उत्तर-पश्चिम के इन दर से भारत को अब बाहरी हमले का भय नहीं रह गया था। पर १९वीं शताब्दी के आरम्भ में नेपोलियन की शक्ति बढ़ी और उत्तर पश्चिम की ओर से भारत को उसके हमले का खतरा पुनः पैदा होने लगा। लार्ड मिंटो सिंध,

लाहौर और काबुल के दरबारों में कूटनीतिक मिशन लेकर गया जिसका उद्देश्य नैपोलियन के खतरे से बचने के लिए इन राज्यों को मध्यवर्त्ती राज्य बनाना था। जब यह खतरा टल गया तो रूस और ईरान की मैत्री को देख कर पुनः अँगरेजों का माथा ठनका और उत्तर-पश्चिम में उनके हित परस्पर टकराये, इसीके परिणाम-स्वरूप अँगरेजों और अफ़गानिस्तान के बीच प्रथम अफ़गान-युद्ध हुआ।

इसके उपरान्त पूरे १० वर्ष तक भारत और अफ़गानिस्तान के बीच पर्दा पड़ा रहा। उन दिनों लार्ड आकलैण्ड की नीति के शिकार दोस्तमुहम्मद ने काबुल में पुनः अपनी स्थिति कायम कर ली। द्वितीय पंजाब-युद्ध के दौरान में उसने पेशावर को प्राप्त करने की आशा से अंगरेजों के विरुद्ध सिक्खों से मैत्री जोड़ी।

उत्तर-पश्चिम हमेशा दुतरफी समस्या का विषय बना रहा है। एक स्थानीय समस्या, जिसका मुख्य सम्बन्ध आदिम जातियों में शान्ति कायम रखना और लूट-खसोट के लिए मैदानों की ओर बढ़ने से उन्हें रोकना था। दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या, जिसका सम्बन्ध, ईरान और अफ़गानिस्तान से मैत्री सम्बन्ध कायम रख उन्हें रूस तथा फ्रांस के आक्रमणों के विरुद्ध मध्यवर्त्ती राज्यों के रूप में कायम रखना था। अपनी इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए कूटनीति का जाल फैला कर उन्हें ईरान और अफ़गानिस्तान को परस्पर भिड़ाये रखना पड़ता था। पहले हम अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का ही उल्लेख करेंगे। ईरान और अफ़गानिस्तान के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों में कभी कटुता और कभी शान्ति रही है। भूमध्य सागर की ओर से भी मार्ग अवरुद्ध पाकर रूस मध्य एशिया में पूर्व की ओर बढ़ा। वहां भी ये लोग उसी प्रकार बढ़े जिस प्रकार अँगरेज भारत में बढ़े थे। यूरोप में रूस ने धमकियाँ देने की नीति अपनायी और यूरोप-सम्बन्धी राजनीतिक निर्णयों पर इनका असर भी पड़ता था। क्रीमियन युद्ध में रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के विरोध में आये। उनकी शत्रुता से दोस्त मुहम्मद बड़ा भयभीत हुआ। वह यह नहीं भूला था कि १८३७ में उसे उनसे शत्रुता करने के कारण अपना राज्य खोना पड़ा था। उसने जान लारेंस से संधि की बातचीत करने के लिए १८५५ में अपने लड़के गुलाम हैदर खान को जमरूद भेजा। पर इस मुलाकात का कोई निश्चित परिणाम नहीं निकला, क्योंकि उस समय डलहौजी किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं था। दोनों में जो संधि हुई थी उसमें यह उल्लेख किया गया था कि (१) कम्पनी और दोस्तमुहम्मद के बीच स्थायी शान्ति और मैत्री होनी चाहिए, (२) कम्पनी को अमीर के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, (३) और अमीर को कम्पनी के मित्रों का मित्र और शत्रुओं का शत्रु होना चाहिए।

रूसियों के भड़काने पर ईरानियों ने १८३७ में जब हिरात (Herat) पर अधिकार कर लिया तो इस संधि को और अधिक निश्चित रूप दिया गया। दोस्त मुहम्मद स्वयं जमरूद के पास आया। भारत-सरकार ने उसे राजकीय सहायता दी जिसके बदले में दोस्तमुहम्मद ने अफ़गानिस्तान में अँगरेजों को ठहरने की स्वीकृति दे दी। दोनों में यह भी समझौता हुआ कि विरोध शान्त होने पर राजकीय सहायता वन्द कर दी जायगी और अफ़गानिस्तान से अफसरों को हटा कर कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में कावुल में एक राजदूत नियुक्त कर दिया जायगा।

हिरात से ईरानियों के हटने पर ब्रिटिश अफ़सर भी वापस बुला लिये गये और क़ावुल में कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में गुलाम हुसेनखाँ को नियुक्त कर दिया गया।

शेरअली को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के वाद दोस्तमुहम्मद की सन् १८६३ में मृत्यु हो गई। परन्तु कुछ लोगों ने शेरअली को उत्तराधिकारी मानने से इनकार किया और फलस्वरूप गृह-युद्ध छिड़ गया। भारत-सरकार इस झगड़े में तटस्थ रही। अन्त में १८६८ में शेरअली सफल हुआ। उसे काबुल का शासक मान लिया गया और ६ लाख रुपये की राजकीय सहायता भी दी गई। वायसराय ने भारतसचिव से कावुल के शासक को अस्त्र, शस्त्र और अर्थ से स्वेच्छानुसार सहायता देने की अनुमति माँगी।

इस राजकीय सहायता की स्वीकृति का स्पष्ट अर्थ था—लारेंस की नीति का परित्याग। उत्तर-पश्चिम में रूसी खतरे का सामना करने के सम्बन्ध में दो विभिन्न विचार-धाराएँ बन गईं।

एक का सम्बन्ध जान लारेंस से था, जिसे 'मास्टर्ली इनेक्टिविटी' कहा जाता था और दूसरी को 'फारवर्ड स्कूल' कहा जाता था। दोनों ही नीतियाँ इस वात को मानती थीं कि काबुल का ईरान के हाथ में चला जाना भारत के लिए खतरनाक है, पर लोगों में इस बात पर मतभेद था कि इसे किस प्रकार रोका जाय।

लारेंस-नीति थी कि अफ़गानों को यह आश्वासन दिया जाय कि उनके आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा और साथ ही रूसियों को एशिया में कुछ खास स्थानों से आगे नहीं बढ़ने दिया जायगा। इस अन्तिम बात को लोग भूल गये और आलोचकों ने इसे 'मास्टर्ली इनेक्टिविटी' कहा।

दूसरी नीति के समर्थक इस बात को मानते थे कि अफ़गानों से मित्रतापूर्वक कहा जाय कि वे अपने यहाँ राजदूत और रेजीडेंट की नियुक्ति करके ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार कर लें। लारेंस की नीति के समर्थकों का यह कहना था कि इस तरह के प्रस्तावों से अफ़गानों में सन्देह पैदा होगा और वे अच्छी तरह जानते हैं कि संरक्षण का अर्थ अप्रत्यक्षतः गुलामी है।

इसी बीच रूसी मध्य एशिया में अबाध गति से आगे बढ़ रहे थे। सन् १८६७ में रूसी तुर्किस्तान में नया प्रान्त बना। बाद में समरकन्द भी मिला लिया गया। उस समय रूस और ब्रिटेन के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। मध्य एशिया में रूस की प्रगति देखकर भारत और ब्रिटेन दोनों ही जगह अँगरेजों का माथा ठनकने लगा। काबुल के अमीर को भी बेचैनी हुई, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि उसके देश की स्थिति ऐसी है कि वह अलग रहने की नीति नहीं अपना सकता। वह यह भी जानता था कि दोनों ही साम्राज्यवादों की विभीषिका उसके सामने है। इसलिए उसकी नीति अपने देश को युद्ध-क्षेत्र बनाने से बचाने की थी। मध्य एशिया में रूस की सवेग प्रगति से उस समय लोगों में रूसी हौवा का भय और भी बढ़ गया। १८६८ में सर हैनरी रालिन्सन (Sir Henry Rawlinson) ने मध्य एशिया के बारे में एक ज्ञापन लिखा और रूसी खतरे का उल्लेख किया। उसने इस खतरे से बचने के लिए ज्ञापन में कुछ सुझाव भी दिये। रालिन्सन के ज्ञापन का शेरअली को ६ लाख रुपये की राजकीय सहायता की स्वीकृति मिलने पर कितना असर पड़ा इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर यह निश्चित है कि स्वीकृति से पहले ज्ञापन कलकत्ता पहुँच गया था। लेकिन उसके सुझावों को नहीं माना गया, क्योंकि ब्रिटेन तथा भारत दोनों ही जगह अधिकारियों की यह राय थी कि कोर्ट आफ सेंट पीटर्सबर्ग के साथ बात कर ली जाय कि मध्य एशिया में उनके क्या-क्या इरादे हैं। उन्हें नम्रता-पूर्वक सूचित कर दिया जाय कि उन्हें अपनी सीमा से सम्बद्ध देशों और अफगानिस्तान में कोई हस्तक्षेप नहीं करने दिया जायगा। १८६९ में लार्ड क्लैरेण्डन (Clerendon) द्वारा शुरू की गई वार्ताओं के परिणामस्वरूप रूस ने अफगानिस्तान की सीमा आक्सस के ऊपरी भाग (F. Goldsmith) तक मान ली। परन्तु वह गुप्त रीति से खीव पर हमला करने की योजना बनाता रहा और अन्त में १८७२ में उसने खीव पर धावा बोल दिया।

शेरअली की निराशा—सिंहसनारूढ़ होने पर शेरअली ने ब्रिटिश सरकार के साथ अपने सम्बन्धों को दृढ़ करना चाहा। अब लार्ड लारेंस की जगह भारत का वायसराय लार्ड मेयो बन चुका था। उस समय १८६८ में अम्बाला में वायसराय के साथ अमीर की मुलाकात का प्रबन्ध किया गया। २७ फरवरी को एक विशाल दरबार किया गया। लार्ड मेयो ने अमीर का बड़ा भव्य स्वागत किया परन्तु उस समय वह अमीर को सहानुभूति और सद्भावना के अलावा और कुछ न दे सका। शेरअली रूस के विरुद्ध निश्चित संधि करने के लिए अम्बाला आया था। अपने उत्तराधिकारी को मान्यता दिलाना तथा घरेलू उपद्रवों के विरुद्ध आश्वासन प्राप्त करना भी उसके अम्बाला-आगमन के ध्येय थे। पर वह अम्बाला से निराश होकर

लौटा। यह ऐसा मौका था कि अँगरेज उसे अपना मित्र बना सकते थे पर ब्रिटिश सरकार ने ढीले-ढाले अश्वासन देकर यह अवसर खो दिया। उसके लिए राजकीय सहायता में भी कोई वृद्धि नहीं की गई।

शेरअली के अम्बाला दरबार से निराश लौटने की खबर रूस को १८७० में मिली। ताशकन्द के रूसी गवर्नर-जनरल काउफमन्न (Kaufmann) के नम्रता भरे पत्र शेरअली के दरबार में पहुँचे। अंगरेजों के प्रति अपनी सच्चाई प्रकट करने के लिए शेरअली ने उत्तर के लिए वे पत्र वायसराय के पास भेज दिये।

सीस्तानविभाजन, १८७१—अम्बाला दरबार से निराश होने के बाद शेरअली को एक और सदमा लगा। सर एफ० गोल्डस्मिथ (Sir F. Goldsmith) ने १८७१ में सीस्तान का विभाजन कर दिया। यह निर्णय वास्तव में अफगानिस्तान के हितों के विरुद्ध था। सीस्तान प्रान्त के लिए ईरान और अफगानिस्तान में झगड़ा चल रहा था। लार्ड मेयो के सुझाव के अनुसार शेरअली सारे मामले को सर एफ० गोल्डस्मिथ के आगे निर्णय के लिए रखने को सहमत हो गया था। गोल्डस्मिथ ने विभाजन की नीति अपनाई। अमीर को नितान्त बंजर और जलविहीन हिस्सा मिला। शेरअली ने अन्तिम निर्णायक, ब्रिटिश विदेश सचिव से अपील की पर कोई लाभ न हुआ। इस निर्णय से अँगरेजों की नीयत के प्रति शेरअली को और भी अधिक शक पैदा हो गया क्योंकि अम्बाला-सम्मेलन के बाद अँगरेंजों ने उस पर यह दूसरी चोट की थी। फिर भी उसने अंगरेजों के प्रति सहानुभूति-पूर्ण रुख बनाये रखा।

इस बीच लार्ड मेयो के स्थान पर लार्ड नार्थब्रुक भारत के वायसराय होकर आये और १८७३ में रूस खीव को जीत कर आगे बढ़ा। इससे पहले ही शेरअली ने अंगरेजों को इस अंदेशे के बारे में बता दिया था परन्तु उन्होंने तब इसे कोई महत्त्व नहीं दिया और आश्वासन दिया था कि रूस ने अँगरेजों को विश्वास दिलाया है कि वे अफगानिस्तान पर आक्रमण नहीं करेंगे। उस समय भी शेरअली ने अँगरेजों पर अधिक विश्वास नहीं किया था, खीव के विजित हो जाने के बाद शेरअली की उक्त सूचना को महत्व मिलने लगा।

शिमला-अधिवेशन : जुलाई १८७३—यूरोप में होनेवाली हलचलों के फलस्वरूप रूस को अपना राज्य भूमध्य सागर की ओर बढ़ाने में प्रोत्साहन मिला। जर्मनी को संगठित करनेवाले बिस्मार्क ने इसमें योग दिया। १८७० में रूस ने काले सागर सम्बन्धी तटस्थता की पेरिससन्धि तोड़ दी। इंगलैण्ड के ग्लैडस्टन मंत्रिमंडल ने इसे स्वीकार कर लिया। बालकान राज्यों तथा समस्त पूर्व का प्रश्न फिर उठने लगा। काफी समय पहले ही से रूस, पेरिस की संधि (१८५६)

को अन्तिम निर्णय मानने के लिए तैयार न था। इंगलैण्ड और रूस के अपने-अपने हित इतने भिन्न थे कि उन्हें स्वभावतः एक दूसरे का विरोधी होना पड़ा।

उक्त परिस्थिति के कारण लार्ड नार्थब्रुक ने १८७३ में शेरअली से प्रार्थना की कि वह काबुल में अँगरेज राजदूत रखे। शेरअली ने उत्तर दिया कि वह वायसराय के विचारों को जानने के लिए अफ़गानी दूत भेजना चाहता है। जुलाई १८७३ में शिमला सम्मेलन हुआ। वहाँ अमीर के राजदूत नूर मुहम्मद खाँ ने बताया कि अमीर को रूस से भय है और वक्त पड़ने पर अँगरेज क्या ठोस सहायता देंगे, इसका निर्णय हो जाना चाहिए। साथ ही इस सहायता की खुलेआम घोषणा भी हो जानी चाहिए।

नूर मुहम्मद ने स्पष्टतः बताया कि अमीर को रूस के आश्वासनों पर विश्वास नहीं है। अँगरेज पहले भी उनके शिकार हो चुके हैं। नार्थब्रुक अमीर की बातों से काफी प्रभावित हुआ। उसने इँगलैण्ड को तार भेजा कि उसे अमीर को यह आश्वासन देने की आज्ञा दी जाय कि, यदि विदेश नीति के सम्बन्ध में अमीर हमारी समस्त सलाहें माने तो हम उसे धन, अस्त्र-शस्त्र तथा सेना द्वारा सहायता देंगे ताकि वह बाह्य आक्रमणकारियों को अपने देश से बाहर निकाल सके। वहाँ क्या आवश्यकता पड़ेगी, इसका निर्णय हम ही करेंगे।

इँगलैण्डस्थित भारत सचिव इसके लिए भी तैयार नहीं हुआ। उसने तार से उत्तर दिया, "मन्त्रिमण्डल का विचार है कि आप अमीर को यह सूचना दे दें कि हमें युद्ध की कोई आशंका नहीं है। और न इसका कोई कारण ही है। फिर भी आप अमीर को आश्वासन दें कि हम सन्धि के अनुसार अफ़गानिस्तान का ही पक्ष लेंगे, बशर्ते कि वह बाह्य मामलों में हमारी सलाह माने।"

शिमला-सम्मेलन में उक्त अस्पष्ट आश्वासन से शेरअ़ली को विश्वास हो गया कि उसे अँगरेजों पर अधिक भरोसा नहीं करना चाहिए क्योंकि वे समय और परिस्थितियाँ देखकर जो काम करेंगे, वह अपने ही हित के लिए करेंगे, उसके (शेर-अली) हित को देखकर नहीं। रूस के आश्वासन के प्रति अँगरेजों का विश्वास देखकर शेरअली को बुरा लगा, विशेषकर तब जब कि उसे मालूम हुआ कि अँगरेज अपने राज्य के सीमान्त और रूस के विस्तार के बीच उसके राज्य को मध्यस्थ (बफर) राज्य बनाना चाहते हैं। शेरअली ने नूरमुहम्मद के शिमला से लौटने के बाद वायसराय को जो पत्र लिखा उसमें शिमला-सम्मेलन की विफलता से हुई उसकी निराशा स्पष्ट झलकती है, उसने अन्त में लिखा था कि नूरमुहम्मद को शिमला भेजना बेकार ही हुआ। क्योंकि ऐसे आश्वासन तो अम्बाला में ही मिल चुके थे।

रूसी हौवा और नीति-परिवर्तन—१८७४ में ग्लैडस्टन मन्त्रिमण्डल की हार

हुई और डिजरायली (Disraeli) के प्रधान मन्त्रित्व में टोरी सरकार बनी। लार्ड सैलिसवरी राज्य-सचिव बना। अफ़गानिस्तान के वारे में अग्रगामी विचार-धारा की नीति फिर अपनाई जाने लगी। वंगाल का भूतपूर्व गवर्नर सर वार्टल फ्रेयर (Sir Bartle Frere) रूसी मन्सूवों को सफल न होने देने के लिए रालिन्सन के पद-चिह्नों पर चला अर्थात् उसने जो उपाय सुझाये थे उन्हें अपनाने की ओर प्रवृत्त हुआ। ये सुझाव थे—सूचना प्राप्त करने के लिए अफगानिस्तान में अँगरेज एजेन्सियों की स्थापना तथा क्वेटा पर अधिकार और वहीं मजवूत सैनिक किलेवन्दी की स्थापना। साथ ही यह भी सुझाया गया कि हिरात में ब्रिटिश अफसर नियुक्त किये जायँ और शेरअली के वागी पुत्र याकूव खाँ के साथ दृढ़ सम्वन्ध स्थापित किये जायँ। लार्ड लारेंस ने फ्रेयर के इन प्रस्तावों का घोर विरोध किया। पर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने इन प्रस्तावों को मान लिया। इसका पहला परिणाम यह हुआ कि जनवरी १८७५ में राज्य सचिव लार्ड सैलिसवरी ने लार्ड नार्थब्रुक को एक व्यक्तिगत पत्र भेजा। इसमें उसने यूरोप में स्थिति की गम्भीरता बताई और यह भी जिक्र किया कि कावुल के वारे में खबरें मिल रही हैं। इसके अलावा उसने ब्रिटिश एजेण्ट की आवश्यकता भी सुझाई।

उत्तर में लार्ड नार्थब्रुक ने यह कहते हुए सुझावों का विरोध किया कि अमीर कावुल में ब्रिटिश एजेण्टों को स्थान देने के लिए तैयार नहीं है। परन्तु सैलिसवरी ने लार्ड नार्थब्रुक के विरोध की परवाह नहीं की और फिर उसे लिखा कि अफगानिस्तान में अमीर के पास ब्रिटिश मशीनें भेजी जायँ और यदि वह अफगानिस्तान में ब्रिटिश दूत को स्थान न दे तो उसे उसका खतरा भी बता दिया जाय। यह पत्र-व्यवहार चल ही रहा था कि लार्ड नार्थब्रुक ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उसके स्थान पर लार्ड लिटन (Lord Lytton) वायसराय हुआ। उसने अमीर के प्रति मित्रता की नीति अपनाई। अमीर ने शिमला में यह माँग की थी कि उसकी राजकीय सहायता बढ़ाई जाय, अब्दुल्ला जान को उसका उत्तराधिकारी माना जाय और विदेशी आक्रमण की स्थिति में सामान देने की जिम्मेदारी ली जाय। लार्ड लिटन से कहा गया था कि अमीर की इन शर्तों को मित्रता के वदले में पूरा करने का वायदा किया जाय। सैलिसवरी के पत्र में लिटन को दिये गये आदेशों में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि यदि वार्ताओं में अमीर का उत्तर सन्तोषजनक न हो तो उसे साफ-साफ कह दिया जाय कि वह अपने आप खतरा मोल ले रहा है और अँगरेजों की रक्षा और मैत्री से वञ्चित हो रहा है। सच बात यह है कि यदि शेर-अली ब्रिटिश मिशन को स्थान देने से इनकार करे तो इसे शत्रुतापूर्ण कार्य समझा

ज़ाय और ऐसी नीति अख्तियार की जाय जिससे भारतीय सीमा की सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था हो सके।

लिटन के कलकत्ता पहुँचते ही नई नीति चालू हुई। पेशावर के कमिश्नर को यह आदेश दिया गया कि वह काबुल के लिए प्रस्तावित मिशन, वायसराय द्वारा पदग्रहण तथा सम्राज्ञी विक्टोरिया द्वारा 'कैसरे हिन्द' की पदवी ग्रहण करने के बारे में अमीर को सूचना दे दे। इस पत्र के उत्तर में अमीर ने २२ मई को लिखा कि राजनीतिक बातचीत की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शिमला में जो बातचीत हो चुकी है वह पर्याप्त है। यदि सरकार छिपे तौर से अफ़गानिस्तान का कोई हित करना चाहती है तो वह इसकी जानकारी के लिए अपना गुप्तचर भेज देगा।

यह नम्र दुतकार लिटन को अच्छी नहीं लगी। इससे अमीर पर अविश्वास तथा काबुल पर रूसी प्रभुत्व के बारे में उसकी आशंका और भी अधिक पुष्ट हुई। उसने पेशावर के कमिश्नर को लिखा कि वह उसके पत्र के बारे में अमीर को वायसराय की निराशा व्यक्त करते हुए चेतावनी दे दे कि, "वह हमारी मित्रता की अवहेलना कर हमें यह मानने के लिए बाध्य कर रहा है कि अफ़गानिस्तान ने स्वेच्छा से ब्रिटिश सरकार की मैत्री की अवहेलना की है और इस प्रकार अपने को ब्रिटिश सरकार की मैत्री तथा सहयोग से वञ्चित रखा है।"

द्वितीय शिमला-सम्मेलन : अक्टूबर १८७६—कमिश्नर के धमकी भरे पत्र से शेरअली डरा। वह काबुल के लिए प्रस्तावित मिशन पर अँगरेजों के आग्रह का रहस्य न समझ सका; इस धमकी से उसकी यह शंका अवश्य पुष्ट हुई कि उक्त मिशन केवल राजकीय "शिष्टाचारवश" ही नहीं है। उसने उत्तर दिया कि या तो अँगरेज और अफ़गानी अधिकारियों की एक बैठक हो जाय या काबुल स्थित ब्रिटिश एजेण्ट भारत भेजा जाय, जो उसके विचारों को वायसराय तक पहुँचा सके। उसका दूसरा सुझाव मान लिया गया और ब्रिटिश एजेण्ट अत्ता मुहम्मद अक्टूबर १८७६ में शिमला गया।

अत्ता मुहम्मद के वार्तालाप सर लुई पेली (Sir Lewis Pelly), कैप्टेन ग्रे (Captain Gray) और स्वयं लार्ड लिटन से हुए। मुहम्मद ने स्पष्ट किया कि अमीर ने १८७३ के शिमला-सम्मेलन के बाद मैत्री की सभी आशाएँ छोड़ दी थीं, यद्यपि वह अभी तक मैत्री की कामना करता है। अफ़गानिस्तान में ब्रिटिश राजदूत रखने से उसे इसलिए इनकार है कि कहीं रूस भी उससे रूसी राजदूत रखने के लिए न कह दे। अत्ता मुहम्मद ने कैप्टेन ग्रे से व्यक्तिगत बातचीत में प्रकट किया कि अमीर अँगरेजों से किन-किन बातों की अपेक्षा रखता है। ये वही बातें थीं जो नूर मुहम्मद ने शिमला में कही थीं।

अत्ता मुहम्मद जब वायसराय से मिला तो वायसराय ने उसे यकीन दिलाया कि सरकार निश्चित सन्धि करना, अनपेक्षित आक्रमणों के अवसरों पर अस्त्र-शस्त्र से सहायता देना, अब्दुल्ला जान को उत्तराधिकारी स्वीकार करना और वार्षिक भत्ता देना चाहती है। परन्तु इसकी कुछ शर्तें हैं। अमीर रूस से कोई पत्र-व्यवहार न करे, हिरात में ब्रिटिश एजेण्ट रहे, अफगानिस्तान में ब्रिटिश व्यापार को पूरी छूट रहे और वहाँ तार-लाइन स्थापित की जाय। यदि अमीर उक्त बातों को मान ले तो काबुल में ब्रिटिश राजदूत रखने का विचार त्यागा जा सकता है और इसके स्थान पर समय-समय आवश्यकतानुसार विशिष्ट मिशन भेजे जा सकते हैं।

साथ ही लिटन ने खरे-खरे शब्दों में यह भी कह दिया कि, "केवल हितेच्छु मित्र के नाते ही नहीं बल्कि अपने सम्मान के नाते भी हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अमीर के राज्य और राजगद्दी की रक्षा करें। परन्तु साथ ही जिस दिन हमें जरा भी शक हो गया कि अमीर वफादार नहीं है उसी दिन हमें अपना पैंतरा भी बदल देना होगा। अपने सीमान्त देशों को सुरक्षित रखने के लिए ही हम अफगानिस्तान को स्वतन्त्र बनाये रखना चाहते हैं। अगर अमीर हमारा मित्र बना रहे तो हम उसकी सुरक्षा के लिए चारों ओर फौज नियुक्त कर देंगे और अगर जरा भी शत्रुता की तो उसी फौज से उसके राज्य को तहस-नहस भी कर देंगे।"

अत्ता मुहम्मद ने उक्त भयपूर्ण संवाद का कितना अंश अमीर के सामने व्यक्त किया, यह मालूम नहीं। फिर भी उक्त बातों से हमें लिटन की भावनाओं का पता लगता है। लिटन दो नीतियाँ एक साथ चला रहा था। अफगानिस्तान को रूस और अपने बीच मध्यस्थ (बफर) बनाने के लिए अफगानिस्तान को अधिक मजबूत बनाना और दूसरा अपने सीमान्त देशों को सुरक्षित करना। दूसरी बात के लिए उसने साथ-ही-साथ केलात (Kelat) के खान से भी सन्धि कर ली।

बोलन दर्रा केलात के खान के राज्य-क्षेत्र में था। खान और उसके सरदारों में झगड़ा होने के कारण अँगरेजों को हस्तक्षेप करने का अच्छा मौका मिला। अन्ततः सन्धि हो गई, जिसके फलस्वरूप अँगरेजी व्यापार के लिए बोलन दर्रा खोल दिया गया। खान और सरदारों के बीच शान्ति हो गई और अँगरेजों को स्थायी रूप से क्वेटा मिल गया। सन्धि दिसम्बर में हुई थी। क्वेटा अधीनस्थ करने के लिए बहाना दिया गया कि इससे बोलन सुरक्षित रहेगा। साथ ही इससे शेरअली को भी संकेत कर दिया गया कि अँगरेजों की शक्ति बढ़ी है और यदि वह सन्धि न करे तो हानि उठा सकता है।

इसी काम के लिए अँगरेजों ने और भी उपाय किये। रावलपिण्डी में काफी अधिक सैनिक सामान जमा किया, रावलपिण्डी से कोहाट तक की सड़क की मरम्मत

कराई, थाल में सैनिक अफसरों को भी भेजा कि वे सैनिक शिविर के लिए उपयुक्त स्थान ढूँढें और कश्मीर के राजा को चित्राल पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

शेरअली के कानों में ये सब बातें पहुँच गई थीं। इससे उसका अँगरेजों पर और भी अधिक अविश्वास हो गया और वह उनसे डरने लगा।

पेशावर-सम्मेलन—जनवरी से फरवरी १८७७ तक—लिटन ने अत्ता मुहम्मद के द्वारा शेरअली को जो पत्र भेजा था उसमें उसने कहा था कि यदि शेरअली अपने यहाँ ब्रिटिश अफसर रखने को राजी हो जाय तो वह सन्धि का ब्यौरा तय करने के लिए अपना दूत भेज सकता है। इस पर अफगान राजदूत नूरमुहम्मद शाह पेशावर आया। उसने जनवरी १८७७ में पहली बार और फरवरी १९ को अन्तिम बार भेंट की। नूरमुहम्मद ने कहा, अमीर को यह भय है कि अफगानिस्तान में ब्रिटिश अफसर रखने से वह अपने अधिकारों से वञ्चित हो जायगा। नूरमुहम्मद ने अमीर के अँगरेजों से असन्तुष्ट होने के अन्य कारण भी बताये। सर लुई पैली ने लिटन का आदेश पाकर सम्मेलन भंग कर दिया। ब्रिटिश अफसरों को अफगानिस्तान में रखने की स्वीकृति नहीं दी गई।

घटना-चक्र बड़ी तीव्र गति से चलने लगा। काबुल से भारतीय एजेण्ट वापस बुला लिया गया। सूचनाएँ एकत्र करने के लिए कैप्टेन कैवेग्नरी (Captain Cave-gnri) को यह आदेश देकर पेशावर में तैनात किया गया कि अमीर के प्रति हमारा रुख पूर्ण उदासीनता का होना चाहिए।

पेशावर-सम्मेलन के असफल होने से लिटन ने अमीर की परवाह न कर सीमान्त को मजबूत बनाने की नीति अख्तियार की। उसने कैवेग्नरी को लिखा कि शेरअली सदा के लिए उनसे पृथक् हो गया है। इसलिए यह अच्छा नहीं है कि हम नाराज होने के भय से अपनी स्थिति सुदृढ़ न करें। अच्छा यह होगा कि अब हमारा लक्ष्य अफगान-शक्ति को सुदृढ़ बनाने के बजाय उसे कमजोर और विखण्डित करने का हो। इस नीति की दिशा में लिटन ने पहला कार्य यह किया कि उसने कैवेग्नरी के साथ सीमान्त के कबालियों को अपने वश में करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। इसी उद्देश्य से गिलगिट में एक राजनीतिक एजेन्सी स्थापित की गई।

रूसी मिशन तथा द्वितीय अफगान-युद्ध : १८७८—१८७५ में बलकान के हर्जगोविना और बोसनिया में उपद्रवों के परिणामस्वरूप १८७७ में रूस और टर्की में युद्ध हुआ। तब से रूस और इंगलैण्ड के बीच तनातनी बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अफगानिस्तान सम्बन्धी ब्रिटिश नीति में भारी परिवर्तन हुआ। जनवरी १८७८ में रूसी सेना एड्रियानोपल गई और फरवरी में कुस्तुन्तुनिया को

धमकी दी गई। टर्की उनके आगे झुक गया और मार्च १८७८ में सैन स्टीफेनो की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि की शर्तों से यूरोप में तहलका मच गया और रूस तथा ब्रिटेन में युद्ध की नौबत आ पहुँची। परन्तु १८७८ में बर्लिन कांग्रेस में लेनदेन की पुरानी नीति अख्तियार की गई जिससे उस समय लड़ाई टल गई।

ब्रिटेन तथा रूस की इस तनातनी की प्रतिक्रिया भारत-अफगान सम्बन्धों पर भी हुई। डिजरायली ने जो भारतीय सेना माल्टा भेजी थी उसकी प्रतिक्रिया में रूस ने अपनी सेना अफगानिस्तान की ओर अधिक बढ़ा दी और अमीर के पास मिशन भेजा जो समरकन्द से १४ जून को रवाना हुआ। मार्च १८७८ में लार्ड सैलिसबरी परराष्ट्र मन्त्री और लार्ड क्रेनब्रुक सचिव नियुक्त हुए। रूस और ब्रिटेन के बीच युद्ध की सम्भावना थी, अतः लार्ड लिटन ने पूरी तैयारियाँ कर लीं। उसने अपनी नीति की रूप-रेखा निर्धारित करते हुए और शेरअली को दोष देते हुए क्रेनब्रुक को लिखा, "इस समय परिस्थितियों के कारण हमें जो मौका मिला है उसे खोना बुद्धिमत्ता का काम न होगा। हमें केवल एक ही रास्ता अपनाना होगा और वह रास्ता है। युद्ध इसमें हम सबसे अधिक शक्तिशाली भी हैं और कमजोर भी। युद्ध की घोषणा करना ही हमारे लिए एकमात्र रास्ता है जिससे हम महारानी विक्टोरिया के शासन को कायम रख सकेंगे अन्यथा डर है कि कभी-न-कभी हमें रूस के आक्रमण-स्वरूप इस राज्य से हाथ धोना न पड़ जाय।

"अफगानिस्तान के ऊपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। अतः उसे शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र राज्य बनाये रखना हमारी भूल होगी। अनुभव से मैं ऐसा कह रहा हूँ। यदि युद्ध से अथवा वर्तमान अमीर की मृत्यु से हमें काबुल की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने का अवसर मिल जाय तो हमें इससे चूकना नहीं चाहिए। भारत के हित में सबसे अच्छा यह होगा कि पश्चिम अफगान खानेत का निर्माण किया जाय जिसमें मर्व-मैमेना, बलख, कन्धार और हिरात भी शामिल हों और उसका राजा हमारा ही चुना हुआ हो। इस प्रकार पश्चिमी अफगानिस्तान के बनने से और खुर्रम घाटी में हमारा छोटा सा केन्द्र बनने से हमारे लिए काबुल का महत्त्व नगण्य हो जायगा।" (लिटन का क्रेनब्रुक को ८ अप्रैल १८७८ को भेजा गया पत्र)

इससे विदित होता है कि पेशावर-सम्मेलन के बाद लिटन ने अफगानिस्तान को रूस के विरुद्ध मध्यस्थ (बफर) राज्य बनाने के लिए उसे शक्तिशाली बनाने का विचार छोड़ दिया था और छिन्न-भिन्न करने की सोचने लगा था। लिटन की इस नीति का विरोध उसकी परिषद् के तीन व्यक्ति कर रहे थे—सर हैनरी नार्मन, सर आर्थर हावहाउस और सर विलियम म्योर। फिर भी लिटन-सैलिसबरी की

यह नीति कार्यान्वित की जाने लगी। यह बात तब तक डिजरायली तक से भी छिपाई गई जब तक कि उसको बताना आवश्यक न हो गया।

जनरल काउफमैन ने रूसी मिशन के भेजने के बारे में शेरअली को लिखा और सूचना दी कि मेजर जनरल स्टोलिटॉफ को नियुक्त कर दिया गया है जो उसके "मन की सभी छिपी बातें" शेरअली को बता देगा। मिशन २२ जुलाई को काबुल पहुँचा और २६ जुलाई को जनरल काउफमैन का पत्र खुले दरबार में उपस्थित किया गया।

लार्ड लिटन की नीति की रूप-रेखा—रूसी मिशन के जाने का समाचार पाकर लार्ड लिटन ने क्रैनब्रुक को पत्र लिखा, जिसमें तीन रास्ते सुझाये गये :—

(१) अमीर के साथ ऐसी सन्धि की जाय जिससे अफगानिस्तान पर रूस का प्रभाव हमेशा के लिए दूर हो जाय।

(२) यदि ऐसा न हो सके तो अफगान राज्य को छिन्न-भिन्न किया जाय और वर्तमान अमीर को हटा कर ऐसा राजा रखा जाय जो ब्रिटिश हितों के अनुकूल हो तथा सहायता पर निर्भर हो।

(३) यदि उक्त दोनों बातें न हो सकें तो अफगानिस्तान का उतना हिस्सा जीत कर अपने अधीन कर लिया जाय जिससे हम स्थायी रूप से एक उत्तर-पश्चिमी सीमान्त राज्य बना सकें।

लिटन ने अमीर के पास अन्तिम बार एक दूसरा मिशन भेजने का भी प्रस्ताव रखा जिसका नेतृत्व कोई भारतीय ही करे। यदि इसमें भी असफल रहें तो खुर्रम घाटी पर कब्जा जमा दिया जाय और वहाँ एक शक्तिशाली सेना रख दी जाय। साथ ही कन्धार को भी अस्थायी रूप से हस्तगत कर लिया जाय।

सर नेविल चेम्बरलेन इसके लिए दूत चुना गया और लिटन ने उसे लिखा, "मैं सोचता हूँ, हमें बिना हिचकिचाये ऊपर के तीनों उपायों में से दूसरा उपाय ही चुन लेना चाहिए। अर्थात् शेरअली को व्यग्र कर दिया जाय और उसके पञ्जों को कतर लिया जाय।"

लिटन ने जो पत्र क्रैनब्रुक को भेजा उससे यह धारणा बन जाती है कि लिटन अफगानिस्तान को शक्तिशाली तथा मित्र बफर राज्य नहीं बनाना चाहता था। वह उसे टुकड़े-टुकड़े कर 'भारत का वैभवशाली सीमान्त' बनाने का इच्छुक था। यही कारण था कि रूसी मिशन के चले जाने के बाद भी जो कि युद्ध का प्रधान कारण था, लिटन ने दूसरा अफगान-युद्ध छेड़ ही दिया। भारत का सीमान्त कहाँ बनाया जाय, इस बारे में लिटन ने लिखा, "हिन्दुकुश का क्षेत्र ही हमारी अन्तिम सीमा होनी चाहिए।" सेना के दृष्टिकोण से यह सीमा सबसे अच्छी और सुरक्षित थी।

राजनीतिक दृष्टि से वह आक्सस को ही सीमा बनाना चाहता था, जिसमें मैमेना और हिरात में सैनिक अड्डे हों। सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टि से वह एक निश्चित सीमा निर्धारित न कर सका।

१३ जुलाई १८७८ को बर्लिन की सन्धि हुई। इससे इँगलैण्ड और रूस के युद्ध का भय समाप्त हो गया। २२ जून को जो रूसी मिशन कावुल गया था वह फौरन वापिस बुला लिया गया।

अँगरेजी मिशन—सर नेविल चेम्बरलेन के काबुल आने से पहले ही गुलाम हसन उससे मिल लेना चाहता था। परन्तु अमीर के उत्तराधिकारी अब्दुल्ला जान की मृत्यु के कारण देर हो गई और गुलाम हसन ३० अगस्त को पेशावर से रवाना हो गया। अमीर ने मिशन भेजने के लिए जो निवेदन किया था, उसके बारे में कोई ध्यान नहीं दिया गया और उसे सूचना दी गई कि सर नेविल १६ या १७ सितम्बर को कावुल के लिए रवाना हो जायगा। उसके प्रस्थान का दिन अब बदला नहीं जा सकता। यदि इसमें "कोई बाधा डाली गई या हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया गया तो इसे विद्रोह माना जायगा।"

लिटन की जल्दवाजी के कारण अमीर को बाधा डालने के लिए बाध्य होना पड़ा। सब यही समझते थे कि शेरअली रूसी मिशन की तरह अँगरेजी मिशन का भी स्वागत करेगा। परन्तु वास्तव में लिटन ऐसा चाहता भी न था क्योंकि इससे 'भारत का ऐश्वर्यशाली सीमान्त' बनाने का अच्छा मौका उसके हाथ से चला जाता। इसके लिए वह पहले ही से योजना भी बना चुका था।

सर नेविल का हुक्म था कि जब तक बाधा न पड़े वह आगे बढ़ता चला जाय। वह १२ सितम्बर को पेशावर पहुँच गया और वढ़ता चला गया। १६ सितम्बर को उसे फैज मुहम्मद ने अली मस्जिद में रोक दिया और कहा कि जब तक अमीर की आज्ञा न हो, वह आगे नहीं बढ़ सकता। लिटन जो चाहता था वही हुआ। मिशन को फौरन ही तोड़ दिया गया और पहले से ही आयोजित योजना को कार्यान्वित किया गया। वहाँ युद्ध जीत लिया गया और क्वेटा भी विजित कर लिया गया। वह अफगानों को वताना चाहता था कि अँगरेजों की शत्रुता केवल अमीर से है, अन्य किसी से नहीं। यह युद्ध केवल इसलिए है कि या तो अमीर बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दे या अपने राज्य को भिन्न-भिन्न भागों में बाँट दे और उनकी रक्षा का वचन दे।

क्रेनब्रुक तो लिटन की इस तात्कालिक कार्यवाही के पक्ष में था परन्तु सैलिसबरी तथा संसद के अन्य सदस्य नहीं थे। सैलिसबरी ने लिटन को अक्टूबर में लिखा कि वह न तो इतनी जल्दबाजी करे और न ही अमीर पर अधिक

दबाव डाले। साथ ही संसद का विचार है कि अमीर को एक अवसर और दिया जाय।

अमीर को अन्तिम चेतावनी—२ नवम्बर १८७८—गृह-सरकार के आदेशानुसार नवम्बर १८७८ को अमीर को अन्तिम चेतावनी दी गई। इसमें २० नवम्बर अन्तिम तिथि रखी गई। चेतावनी में लिखा गया कि वह ब्रिटिश मिशन को रोकने के लिए क्षमा माँगे और अफगानिस्तान में स्थायी रूप से ब्रिटिश मिशन रखने की स्वीकृति दे दे। यदि इसका उत्तर २० नवम्बर तक न दिया गया तो "मैं तुम्हें विद्रोही मानने को बाध्य होऊँगा और ब्रिटिश सरकार के घोषित शत्रु के रूप में समझूँगा।"

इसका कोई उत्तर न आने पर २९ नवम्बर को अँगरेजी सेना ने कूच कर दिया। काबुल पर तीन ओर से आक्रमण किया गया—खैबर, खुर्रम और क्वेटा से। इनके विरोध में कोई भी न था। जनवरी १८७८ में ही दक्षिणी अफगानिस्तान जीत लिया गया।

चेतावनी के बारे में अमीर का उत्तर इन्हें ३० नवम्बर को मिला। लिटन अपनी विजय पर सन्तुष्ट था अतः उसने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उसे सूचना दी गई कि जब तक वह बिना शर्त के आत्मसमर्पण नहीं कर देता, अँगरेजी सरकार उसकी कोई बात नहीं मानेगी। शेरअली अपनी इज्जत बचाने के लिए रूसी तुर्किस्तान भाग गया और बाद में फरवरी १८७९ में वहीं उसकी मृत्यु भी हो गई। अँगरेजी सामन्तशाही और रूसी विश्वासघात का यह एक अच्छा उदाहरण है।

शेरअली की मृत्यु और दक्षिणी अफगानिस्तान की विजय के बाद लिटन ने क्रेनब्रुक को एक पत्र भेजा। यह पत्र उसके अनिश्चित विचारों को प्रकट करता है। वह निश्चय नहीं कर पाया था कि अफगानिस्तान के टुकड़े करना अधिक अच्छा होगा या उसे किसी अँगरेजों के पक्ष के राजा के अधीन शक्तिशाली बनाना ठीक होगा।

शेरअली भागने से पहले अपने विद्रोही पुत्र याकूब खाँ को कैद से मुक्त कर गया था। जिस समय लिटन उक्त ऊहापोह में था उस समय याकूब खाँ ने एक पत्र भेजकर उसे अपने पिता की मृत्यु की सूचना दी। वह अँगरेजों से सुलह करना चाहता था। अँगरेज भी इस सुनहले अवसर को नहीं खोना चाहते थे। अतः उन्होंने याकूब खाँ के पास सुलह की शर्तें भेजीं। फलस्वरूप मई १८८९ में गण्डमक की सन्धि हुई और याकूब खाँ को अफगानिस्तान का अमीर मान लिया गया। वह अपनी नीति को अँगरेजों के हाथों में देने, काबुल, हिरात तथा अन्य स्थानों में अँगरेज रेजी-डेण्ट रखने और खुर्रम, पिशिन तथा सिबि जिले अँगरेजों को देने के लिए तैयार हो गया। इसके बदले में याकूब खाँ को ६ लाख रुपया सालाना देने और विदेशी शक्ति

के आक्रमण होने पर धन, जन तथा शस्त्रों से मदद देने का वचन दिया गया। मेजर कैवेग्नरी काबुल के लिए अँगरेज रेजीडेण्ट चुना गया, जहाँ वह जुलाई १८७९ में पहुँच गया।

गण्डमक की सन्धि होने पर लार्ड लिटन की अफगान नीति अत्यधिक प्रशंसित हुई। चारों ओर से उसके पास बधाई के पत्र आने लगे। सब लोग समझते थे कि यह अँगरेजों की बड़ी भारी विजय है। परन्तु यह किसे मालूम था कि यह आने-वाली घटनाओं की भूमिका मात्र थी। वे प्रथम अफगान-युद्ध की बात बिल्कुल ही भूल गये थे। कैवेग्नरी मिशन का नेता बनकर २४ जुलाई को काबुल में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने बाला हिसार में अपना डेरा जमाया। सब जानते थे कि याकूब बहुत बदनाम शासक है। लोगों की धारणा थी कि वह अँगरेजों की सहायता ले रहा है। यही उसकी बदनामी का कारण था। २ सितम्बर को कैवेग्नरी ने तार भेजा, "यहाँ सब कुशल हैं।" और उसके दूसरे ही दिन उसको कत्ल कर दिया गया तथा रेजीडेन्सी में आग लगा दी गई। इसका दोष याकूब खाँ पर मढ़ा गया। गण्डमक की सन्धि अब बेकार हो गई थी और युद्ध की तैयारी होने लगी। ४ सितम्बर को लिटन ने डिजरायली को लिखा, "जिस नीति का ताना-बाना हमने इतनी सावधानी और सन्तोष के साथ तैयार किया था, वह अब तहस-नहस हो चुका है। हमें अब एक नया, और मुझे डर है कि पहले से अधिक विस्तीर्ण ताना बुनना पड़ेगा, यद्यपि सामग्री निस्सन्देह हमारे पास पहले की अपेक्षा निर्बल है......मैं अपने-आपसे यह छिपाता नहीं हूँ कि अब हमें राष्ट्रीय शृंखलाओं के स्थायी बिखराव का काम हाथ में लेना ही पड़ेगा। हमारा यह लक्ष्य अवश्य था कि हम अफगानिस्तान के ऐक्यसूत्र को दृढ़ करें, और न यह छिपाता हूँ कि हर परिस्थिति में हमें अब शायद उससे कहीं अधिक व्यापक और सक्रिय रूप में हस्तक्षेप करना पड़ेगा जितने के लिए हम पहले कभी इच्छुक नहीं थे।"

विरोध न होने के कारण अँगरेजी फौज को अधिक युद्ध नहीं करना पड़ा। १२ अक्टूबर को जनरल राबर्ट्‌स काबुल में प्रविष्ट हुआ। याकब खाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया और सिंहासनच्युत हुआ। शासन की बागडोर राबर्ट्‌स ने अपने हाथ में ले ली। ३ सितम्बर के विद्रोहियों पर मुकदमा चलाने के लिए एक विशेष अदालत बैठी। लगभग ८७ व्यक्तियों को फाँसी दी गई। याकूब खाँ को भारत में देश-निर्वास दिया गया। यहाँ १९२३ में उसकी मृत्यु हो गई। अफगानिस्तान पूरी तरह से विजित कर लिया गया। अफगानिस्तान को जीतना तो हमेशा ही सरल रहा है। अफगान-नीति की वास्तविक समस्या तो सदैव विजय के बाद आरम्भ होती थी।

गण्डमक की सन्धि विफल हो जान पर लिटन यही चाहने लगा कि अफगानिस्तान

के टुकड़े कर दिये जायँ। भारत-सचिव क्रेनब्रुक भी उसके पक्ष में था। ४ नवम्बर को अपनी नीति की रूप-रेखा बताते हुए लिटन ने लिखा, "अफगानिस्तान के शासन को एक केन्द्रीय प्रशासन द्वारा चलाना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है, भविष्य के लिए यह बात हमें हमेशा ध्यान में रखनी होगी। इसीलिए अफगानिस्तान के हिस्से कर देना अधिक उपयुक्त है।" इस विषय में गृह सरकार का उत्तर ११ दिसम्बर को आया। इससे पहले ही लिटन ने सीमान्त पर पूरा कब्जा रखने के लिए वहाँ रेल का जाल बिछाना आरम्भ कर दिया था। गृह-सरकार ने आदेश दिया कि कावुल और कन्धार को स्वतन्त्र देशी राज्य बना दिया जाय और उनकी विदेश नीति अँगरेजों द्वारा सञ्चालित हो। शेरअली खाँ को कन्धार तथा उत्तरी अफगानिस्तान (कावुल) का शासक मान लिया गया। सर लेपल ग्रेफिन (Sir Lepel) को आदेश दिया गया कि वह अफगानों को यह सूचित कर दे कि अब याकूब खाँ को अफगानिस्तान में वापस नहीं लाया जायगा। अतः वे लोग जिसे भी चुनें, वही उनका शासक बना दिया जायगा। कन्धार प्रान्त को हमेशा के लिए उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान से अलग कर दिया गया है और अब अँगरेज आगे कोई विच्छेद नहीं करेंगे और न वहाँ स्थायी रूप से रहेंगे ही।

अँगरेजों के लिए कावुल खतरे से खाली न था। वहाँ के लोग विद्रोही हो रहे थे। इस कारण अँगरेजों के लिए यह आवश्यक था कि शीघ्रातिशीघ्र वहाँ से सकुशल लौट जायँ।

इस मौके पर अब्दुल रहमान अच्छा काम आया। अब्दुल रहमान दोस्त मुहम्मद का पोता था, जिसे रूस अपने राज्य-क्षेत्र में रख कर इसलिए पेंशन देता था कि कभी मौके पर काम आये। १८८० में वह अपने रूसी मालिक को छोड़ कर तकदीर आजमाने चला आया। इससे अँगरेजों को वड़ी राहत मिली। उसके साथ फौरन ही सन्धि-वार्ता की जाने लगी। परन्तु अन्तिम निर्णय होने से पहले ही इँगलैण्ड का मन्त्रिमण्डल वदल गया। इसके फलस्वरूप भारत-सचिव और वायसराय भी वदल गये। लिटन के स्थान पर रिपन और क्रेनब्रुक के स्थान पर हार्टिंगटन नियुक्त हुए।

मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन के कारण अफगान-नीति में भी परिवर्तन हुआ। रिपन अप्रैल १८८० में भारत पहुँचा। उसने अब्दुल रहमान से सन्धि वार्ता की। वह अफगानिस्तान के हिस्से नहीं करना चाहता था, परन्तु अफगानिस्तान से वाहर जाना अवश्य ही चाहता था। उसने ९ मई १८८० को एक पत्र भेजा जिसमें अपनी नीति इस प्रकार व्यक्त की :

(१) कन्धार का परित्याग।

(२) सिबि तथा पिशिन को अपने अधीन रखना और पिशिन तक रेल लाइन का निर्माण (सिबि तक रेल पहुँच चुकी थी)।

(३) काबुल का परित्याग और वहाँ एक शासक नियुक्त करना। शासक को धन तथा शस्त्रों द्वारा सहायता देना परन्तु वहाँ सेना न रखना। काबुल में एक एजेण्ट की नियुक्ति जो अँगरेज न हो।

(४) अफगानिस्तान के शासक को, यदि वह समर्थ हो तो, हिरात जीत लेने देना।

(५) अफगानिस्तान के विखराव की नीति का परित्याग।

उक्त नीति की दृष्टि से अब्दुर रहमान के साथ सन्धि वार्ता की गई, जो सफल रही। अब्दुर रहमान को अँगरेजों ने काबुल का अमीर घोषित कर दिया और अँगरेजी सेना को वहाँ से हटने की आज्ञा दे दी गई।

मैवन्द का युद्ध—जुलाई १८८०—२२ जुलाई को एक दरबार हुआ, जिसमें अब्दुर रहमान को अफगानिस्तान का नया अमीर घोषित किया गया। २७ जुलाई को शेरअली का एक पुत्र अयूब खाँ, जो हिरात में था कन्धार रवाना हुआ। उसने मैवन्द में जनरल बरोंज (General Burros) को पराजित किया। समाचार सुनते ही जनरल राबर्ट्स काबुल को रवाना हुआ और अब्दुर रहमान की मदद से कन्धार पहुँचा। वहाँ ३ सितम्बर १८८० को युद्ध में अयूब खाँ को पराजित किया। कन्धार में रहा जाय अथवा उसे छोड़ दिया जाय, इस समस्या को वे काफी दिनों तक न सुलझा सके। जनरल राबर्ट्स वहाँ शासन जमाना चाहता था परन्तु रिपन इसके विरुद्ध था। अन्त में गृह सरकार के आदेशानुसार अप्रैल में कन्धार छोड़ दिया गया और उसके शासन की बागडोर अब्दुर रहमान के हाथ में दे दी गई। अब्दुर रहमान को एक बार फिर अयूब खाँ से युद्ध करना पड़ा और अन्त में वह विजयी हुआ। अयूब खाँ की पराजय के फलस्वरूप हिरात भी अब्दुर रहमान के हाथ में आ गया और एक बार फिर से संयुक्त अफगानिस्तान की स्थापना हो गई।

बिना दूसरा अफगान युद्ध किये ही रिपन अमीर के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकता था अथवा नहीं—यह बात विवादास्पद है। कुछेक का मत है कि युद्ध के ही कारण रिपन अपने कार्य में सफल हुआ। परन्तु कुछेक का विचार है कि बिना युद्ध के ही अविभाजित अफगानिस्तान के साथ ऐसे सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते थे और उस समय वह अँगरेजों के ही नियन्त्रण में रहता।

पहली दलील देने वाले लेखकों का कथन है कि ब्रिटिश के विरुद्ध शेरअली का विद्रोह तथा उसका रूस के साथ गुप्त गठबन्धन (इसका कोई सबूत नहीं मिलता)

देखते हुए युद्ध आवश्यक था। और बिना युद्ध के रिपन और अमीर का उक्त समझौता सम्भव न था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शेरअली के सम्बन्ध अँगरेजों के साथ कुछ अच्छे नहीं थे। परन्तु इसका दोष रिपन पर नहीं था। मेयो तथा नार्थब्रुक की नीति ही ऐसी थी कि जिससे शेरअली को विश्वास हो गया था कि अँगरेज उसको कोई महत्त्व नहीं देते। अन्त में रिपन के आने पर शेरअली विद्रोही हो गया। रिपन ने शेरअली को जो धमकी दी, उससे कैसे समझा जा सकता था कि रिपन मित्रता चाहता है। कहा जा सकता है कि यदि मेयो और नार्थब्रुक के कारण शेरअली ने अँगरेजों से सम्बन्ध तोड़ा तो रिपन के कारण उसे विद्रोही होना पड़ा।

शेरअली रिपन को अफगानिस्तान की प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता का शत्रु समझता था और रिपन शेरअली को अँगरेजों का। ऐसी दशा में यदि अपनी सुरक्षा आदि के लिए शेरअली ने रूस के साथ सम्बन्ध स्थापित किया तो यह बिलकुल उचित तथा स्वाभाविक था। यों तो हमारे पास यह जानने के लिए कोई प्रमाण नहीं हैं कि शेरअली और रूसियों में किस प्रकार की बात चल रही थी, परन्तु रिपन तथा उसके सहयोगी ऐसा कहते हैं कि उनकी गुप्त वार्ताएँ काफी अर्से से हो रही थीं। मालूम होता है, यह बात नितान्त कपोल-कल्पित है। उनकी वार्ताओं का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

अफगानिस्तान में अँगरेज राजदूत रखने पर अत्यधिक जोर देना और इसी को सन्धि का आधार बनाना, अच्छी राजनीति नहीं है। लिटन ने इस प्रकार की निम्न-स्तरीय राजनीति का सहारा लिया। यदि वह कुछ समय तक और रुक जाता तो बर्लिन की सन्धि (१८७८) के बाद सम्भव था कि शेरअली स्वयं ही अँगरेज राजदूत का स्वागत करता। एक तो उसके पुत्र की मृत्यु हो गई थी और दूसरे वह परिस्थिति को ठीक ठीक नहीं समझ पा रहा था। इसके लिए उसे कुछ समय देना उचित था। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि लिटन ने आते ही यह निर्णय कर लिया था कि अफगानिस्तान को अधिक शक्तिशाली तथा मित्र बनाना भारत के हित में ठीक नहीं है। वह अपने शासन की सीमा हिन्दूकुश तक ले जाना चाहता था। इस सीमा को वह 'वैज्ञानिक सीमान्त' कहता था। अफगानिस्तान के बाकी हिस्से को यों ही छोड़ देना चाहता था, भले ही वह हिस्सा रूस द्वारा हस्तगत कर लिया जाय। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि शेरअली के विद्रोही होने के कारण दूसरा अफगान-युद्ध नहीं हुआ बल्कि 'वैज्ञानिक सीमान्त' तक राज्य-विस्तार करने की भावना के कारण ही उस पर यह युद्ध थोपा गया।

१८८० से १९१९ तक के भारत-अफगान सम्बन्धों के इतिहास से अँगरेजों की

स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यूरोपीय राजनीति में बिस्मार्क के आने से वहाँ काफी परिवर्तन हुए। वहाँ १९१४-१९ के युद्ध की भूमिका तैयार हो रही थी। रूस पूर्व की ओर बढ़ रहा था और इससे अँगरेज अधिकाधिक भयभीत हो रहे थे।

अब्दुर रहमान इन सब परिस्थितियों को बड़ी ही शान्ति से देख रहा था। वह हर परिस्थिति में अँगरेजों से मित्रता बनाये रखना चाहता था और इस प्रकार अपने देश को इन दोनों (अँगरेज और रूसी) साम्राज्यवादियों की महत्त्वाकांक्षा के लिए युद्ध होने से बचा रहा था।

रूस के मध्य एशिया से आगे तक बढ़ने के कारण अँगरेज डर रहे थे और अँगरेजों के सिन्धु से आगे अफगानिस्तान तक बढ़ने के कारण रूसी। अब्दुर रहमान के साथ अँगरेजों के समझौते की देखादेखी रूस ने भी १८८१ में अपने वचन के विरुद्ध गेओक टेप (Geok Tepe) और अक्खल (Akhal) अपने राज्य में मिला दिये तथा वह मर्व (Merve) की ओर बढ़ने लगा। यह देखकर हार्टिंगटन ने पार्लियामेण्ट में एक वक्तव्य दिया, जिसमें व्यक्त किया गया कि अँगरेज अफगानिस्तान में कोई बाह्य हस्तक्षेप नहीं होने देंगे। साथ ही लार्ड रिपन ने भी मध्य एशिया सम्बन्धी नीति के बारे में एक पत्र भेजा, जिसमें उसने रूस के साथ एक विशेष सन्धि करने को कहा। उसने लिखा कि, "हमें रूस के मर्व तक बढ़ने में कोई आपत्ति नहीं है, साथ ही उन्हें अफगानिस्तान में कोई हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिए।"

रूस-अफगान सीमा का परिसीमन (स्थिरीकरण)—जिस समय रिपन ने पत्र भेजा उस समय इँगलैण्ड अनेक परराष्ट्रीय समस्याओं में उलझा हुआ था। अतः उसके पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अँगरेजों की परिस्थिति का रूस ने लाभ उठाया और १८८४ में मर्व को अपने राज्य में मिला लिया। रूस का यह काम अपने वचन के विरुद्ध था। इससे इँगलैण्ड के उदारदल (लिबरल पार्टी) की काफी आलोचना होने लगी। साथ ही अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निर्धारित करने की भी आवश्यकता महसूस की जाने लगी। १८८२ में इस विषय पर बातें हुईं और एक संयुक्त आंग्ल-रूसी आयोग (कमीशन) स्थापित करने का समझौता हुआ। दोनों सरकारों के प्रतिनिधियों—सर पीटर लम्सडेन (Sir Peter Lumsden) और जनरल जेलेनॉई (General Zelenoi)—की बैठक अक्टूबर १८८२ को हुई। इस बीच रिपन के स्थान पर लार्ड डफरिन वायसराय होकर आया। सीमा निर्धारित करने से पहले ही रूसी अपना राज्य अधिक-से-अधिक बढ़ाने के फेर में थे। उन्होंने जुलफिकार दर्रा अपने अधिकार में ले लिया था और मार्च १८८५ में पञ्जदेह से अफगानी सेना को खदेड़ दिया था। ऐसी हालत में शायद युद्ध हो गया होता परन्तु अब्दुर रहमान की शान्तिप्रियता तथा संयम

ने ऐसा नहीं होने दिया। वह नहीं चाहता था कि उसका देश युद्ध-प्रांगण वन जाय।

पंजदेह पराजय के कारण ग्लैडस्टन का मन्त्रिमण्डल हार गया। उसके स्थान पर लार्ड सैलिसबरी पदारूढ़ हुआ। सन्धि-वार्ता एक बार फिर चलने लगी। उस समय लार्ड डफरिन के आमन्त्रण पर अब्दुर रहमान रावलपिण्डी गया हुआ था। लम्बी वार्ता के अनुसार अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा जुलफिकार से आक्सस के ४० मील अन्दर दुकिही तक मानी गई। यह निर्णय १८८६ में हुआ परन्तु कार्यान्वित १८८८ में हुआ।

कुछ समय शान्ति से बीता। परन्तु फिर युद्ध के बादल मँडराने लगे। पामीर पर्वत की ओर अभी तक रूस और अफगानिस्तान की सीमा निर्धारित नहीं हुई थी। रूस पामीर के निचले भाग की ओर बढ़ने लगा। एक वार फिर सन्धि-वार्ता चली और १८९५ में पामीर का समझौता हुआ। इसके अनुसार रूस और अफगानिस्तान की सीमाएँ लेक विक्टोरिया और तगदुम्वश के बीच निर्धारित की गईं। इस सीमा-निर्धारण के बाद, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में, रूस और इँगलैण्ड के सम्बन्ध परस्पर अच्छे होने लगे।

उस समय की यूरोप की स्थिति को देखते हुए इन दोनों साम्राज्यों के सम्बन्धों का और अधिक घनिष्ठ होना आवश्यक प्रतीत हो रहा था। रूस और फ्रांस तथा फ्रांस और इँगलैण्ड की परस्पर सन्धि के फलस्वरूप १९०७ में रूस और इँगलैण्ड में भी सन्धि हो गई। इसमें रूस और इँगलैण्ड के सभी प्रश्न सुलझा दिये गये थे। जर्मनी लड़ने को तैयार था और १९०५ में जापान रूस को हरा चुका था। इसलिए भी १९०७ में रूस और इँगलैण्ड की सन्धि स्वाभाविक थी। यह सन्धि अमीर हबीबुल्ला से बिना पूछे ही की गई थी। हबीबुल्ला १९०१ में अपने पिता के स्थान पर अमीर हो गया था। कर्जन और मिण्टो भी इससे सहमत नहीं थे। सन्धि में उल्लिखित अनेक बातों का मिण्टो ने घोर विरोध किया। अन्त में यह समझौता हुआ कि इँगलैण्ड अफगानिस्तान की राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं करेगा। रूस भी इस बात पर राजी हो गया कि वह अफगानिस्तान पर अपना कोई दबाव नहीं डालेगा तथा ब्रिटिश सरकार के माध्यम से ही अमीर से सम्बन्ध स्थापित करेगा। इँगलैण्ड और रूस दोनों को ही अफगानिस्तान में व्यापार करने की सुविधाएँ दे दी गई थीं।

आंग्ल-रूस-अफगानी सम्बन्धों में १९०७ की आंग्ल-रूसी सन्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे रूसी युद्ध का डर जाता रहा। इसी अवधि में विश्व युद्ध हुआ तथा रूस में जारशाही का अन्त हुआ। अमीर हबीबुल्ला इस सन्धि को हमेशा

सन्देह की दृष्टि से देखता रहा परन्तु तब तक आंग्ल-रूसी सम्बन्ध इतने अच्छे हो चुके थे कि किसीने उसके सन्देह की चिन्ता नहीं की।

भारत-अफ़गान सीमान्त परिसीमन—ड्यूरैण्ड-रेखा—भारत-अफ़गान सीमान्त का परिसीमन (स्थिरीकरण) भी रूस-अफ़गान सीमान्त के परिसीमन की तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। लार्ड एल्गिन तथा लैन्सडाउन ने दर्रों को हस्तगत करने और अँगरेजों का प्रभाव अधिकाधिक विस्तृत करने की नीति अपनाई। यह बात अमीर को बुरी लगी। दर्रों की रक्षा करने वाली कबीली जातियाँ साधारणतः अमीर के अधीन मानी जाती थीं। अँगरेज उन्हें अपने अधीन करना चाहते थे। अमीर अँगरेजों के विचार जानता था। उसे यह भी मालूम था कि अँगरेज उसके शासन की सीमा सीमित करना चाहते हैं। वास्तव में लार्ड लैन्सडाउन ऐसा चाहता ही था। उसने अमीर को भारत बुलाया, परन्तु अमीर ने बहाना बना दिया। लैन्सडाउन का लार्ड राबर्ट्स को भेजने का सुझाव भी अमीर ने नहीं माना। अन्त में सर मॉर्टिवर ड्यूरैण्ड (Sir Mortiver Durand) भेजा गया। उसने बड़ी चतुराई से अफ़गान-सीमा की रेखा १८९३ में अमीर से मनवा ली। इस रेखा को 'ड्यूरैण्ड रेखा' नाम दिया गया। अँगरेज इस बात को मान गये कि वे रेखा के पश्चिम की ओर कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे, साथ ही पूरब की ओर अमीर भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। ड्यूरैण्ड कमीशन आने से पहले ही अमीर ने लैन्सडाउन को लिखा था कि, "यदि आप कबीलों को मेरे शासन-क्षेत्र से अलग करते हैं तो वे न तो आपके किसी लाभ के होंगे और न मेरे। जब तक शान्ति है तब तक तो आप अपनी शक्ति के द्वारा उन्हें अधीन रख लेंगे परन्तु यदि कहीं बाहर से आप पर आक्रमण हुआ तो ये लोग आपके सबसे बड़े शत्रु साबित होंगे। ये सीमान्ती कबीले मेरे राष्ट्रीय तथा धर्म के लोग हैं। यदि इन्हें आप मेरे शासन से अलग करेंगे तो इससे इन ल.गों के सामने मेरा सम्मान घटेगा, साथ ही मेरी शक्ति भी क्षीण होगी। और मेरी शक्ति का क्षीण होना आपकी सरकार के लिए भी हानिकारक है।"

अमीर की उक्त अपील से कोई लाभ नहीं हुआ। ड्यूरैण्ड रेखा ने इनको दो भागों में बाँट ही दिया। यह बँटवारा किसी विशेष आधार पर नहीं हुआ। अँगरेज अपना क्षेत्र बढ़ाना चाहते थे, इसलिए ऐसा किया गया। इसके बारे में कबीलों से नहीं पूछा गया। अमीर की भी पेंशन बढ़ाकर १० लाख रुपये कर दी गई और इस प्रकार उससे सहमति ले ली गई।

तृतीय अफ़गान-युद्ध—१९१९—अक्टबर १९०१ में अमीर अब्दुर रहमान की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर उसका पुत्र हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। इसने अपने शासन-काल में हमेशा इस बात का प्रयत्न किया कि अँगरेजों को अपना

प्रभाव बढ़ाने का अधिक अवसर न मिले। रिपन और डफरिन के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे रहे। परन्तु ऐल्गिन और लैन्सडाउन की नीति के कारण ये सम्बन्ध कुछ कटु हो गये।

सड़कों तथा रेल-लाइनों का निर्माण हो रहा था और उधर नया प्रांत बना दिया गया था। इससे कबीलों में असंतोष फैल गया क्योंकि इन सबको वे अपनी स्वतन्त्रता में बाधक समझते थे। अँगरेजी सरकार का कहना था कि पूर्ववर्त्ती संधियाँ केवल अमीर अब्दुर रहमान के साथ थीं, अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् वे संधियाँ भी समाप्त हो गईं और अब नई संधि होनी चाहिए। हबीबुल्ला नई संधि पर हस्ताक्षर नहीं करना चाहता था। इससे उनके सम्बन्ध और भी बिगड़ गये। अन्त में अमीर सर लुई डेन के साथ संधि-वार्ता करने को तैयार हुआ और १९०५ में संधि हो गई। हबीबुल्ला १९०७ में भारत आया। उसने वायसराय मिण्टो को बिदाई देने के अवसर पर भाषण करते हुए कहा—

"अफगानिस्तान भारत से मित्रता कायम रखने से कभी भी मुँह नहीं मोड़ेगा। जब तक भारतीय साम्राज्य मित्रता बनाये रहेगा तब तक अफगानी और अँगरेज परस्पर मित्र रहेंगे।" अपने इस वचन को उसने पूरी निष्ठा से निभाया।*

सन् १९१० में हबीबुल्ला को, पाश्चात्य सभ्यता से अधिक प्रभावित होने के कारण कत्ल कर दिया गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र अमानउल्ला अमीर बना। १९१४ का विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया था। भारत और विशेषकर पंजाब में असंतोष का वातावरण फैला हुआ था। इससे अफगानिस्तान में भी हलचल मच गई। अमानउल्ला पर ब्रिटिश-विरोधी होने का दोष मढ़ा गया। फलस्वरूप तृतीय अफगान-युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध के असली कारण क्या हैं, यह अभी अंधकार में है। अफगानों का कहना है कि अँगरेजों ने अफगान फौज पर विद्रोही होने का झूठा संदेह किया। इस कारण युद्ध हुआ। अँगरेजों का कथन है कि अमानउल्ला सीमान्त से आगे बढ़ा था और उसने ब्रिटिश शिविरों पर आक्रमण किया था। इस कारण युद्ध हुआ। थोड़ा बहुत युद्ध होने के पश्चात् अगस्त १९१९ में रावलपिण्डी की संधि हुई। इसके बाद नवम्बर १९२१ में फिर दूसरी सन्धि हुई, जिसके फलस्वरूप अफगानिस्तान को फिर से स्वतन्त्रता मिल गई और इँगलैण्ड द्वारा उसके विदेशी मामलों का संचालन बंद हो गया। अमीर को जो आर्थिक सहायता दी जाती थी वह वन्द कर दी गई। काबुल और लन्दन में परस्पर

---

* अमीर के भारत भ्रमण के पूरे विवरण के लिए Minto and Morley by Comtess Minto पढ़िये।

मंत्रियों का आदान-प्रदान हुआ और जो सामान, बिना कर के भारत के रास्ते भेजा जाता था, उसके अधिकार को भी अफगानिस्तान ने स्वीकार कर लिया।

संधि के पश्चात् भारत और अफगानिस्तान के सम्बन्ध बराबरी के हो गये। दलबन्दी के कारण अमानउल्ला को गद्दी से हटना पड़ा और १९२९ तक अफगानिस्तान में बराबर गृहयुद्ध होते रहे। अन्त में बच्चा सक्का (Bachha Saqao) ने गद्दी हस्तगत कर ली। फिर गद्दी नादिरशाह के हाथ आ गई। उसने शासन हाथ में लेकर नया राज्य स्थापित किया। इस गड़बड़ी के अवसर पर अँगरेज तटस्थ रहे। १९-३३ में नादिरशाह को कत्ल कर दिया गया। उसके स्थान पर उसका पुत्र जाहिर-शाह गद्दी पर बैठा। अफगानिस्तान में इस समय वैधानिक राजतन्त्र सरकार है। उसके समस्त वैधानिक अधिकार पार्लियामेण्ट के पास हैं। पार्लियामेण्ट में राजा, सीनेट तथा राष्ट्रीय सभा होती है।

स्वतन्त्र होने के बाद भारत का एक प्रतिनिधि वहाँ है। इस समय जैसा कि होना चाहिए, भारत-अफगान के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं।

सीमान्त का प्रश्न : एक घरेलू समस्या—भारत-विभाजन के बाद सीमान्त की समस्या वैसी नहीं रही जैसी १९४७ से पहले थी। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध अधिक अच्छे न होने के कारण तथा कश्मीर-समस्या के कारण अब इसका एक दूसरा ही महत्त्व हो गया है। सिन्ध, आधा पंजाब और उत्तर-पश्चिमोत्तर प्रान्त मिलाकर जो पश्चिमी पाकिस्तान का निर्माण हुआ है उससे भारत के सीमान्त में परिवर्त्तन हो गया है। अँगरेज जाते समय भारत की जो सीमा बना गये हैं वह न तो प्राकृतिक है और न किसी प्रकार से उपयुक्त ही मानी जा सकती है। गणराज्य भारत के लिए अब इस नई सीमा को सुरक्षित रखना भी एक समस्या है।

१९४७ से पहले कबीली क्षेत्र सीमा मानी जा सकती थी। इसे बाद में लार्ड लैन्सडाउन ने अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत ले लिया था। अफगानिस्तान के अमीर और केलात के खान से राजनीतिक तथा कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए भी उक्त सीमा ठीक थी क्योंकि यह क्षेत्र भारत और रूसी अथवा किसी अन्य विदेशी आक्रमण के बीच मध्यस्थ क्षेत्र (बफर स्टेट) का काम करता था।

उक्त सीमा बनाने का एक महत्त्व यह भी था कि अँगरेजों से पहले सभी विदेशी आक्रमणकारियों ने इन्हीं पर्वतीय दर्रों के मार्ग से आकर भारत पर आक्रमण किया था। १८४३ में सिन्ध और १८४९ में पंजाब विजय करने के बाद सीमान्त की समस्या अँगरेजों के सम्मुख खुले रूप में आ गई। वे अपना राज्य काफी बढ़ा चुके थे और अब बिलोची तथा पठान-क्षेत्र उनके राज्य से बिलकुल लगकर हो गया

था। बिलोची तथा पठान, अफगानिस्तान और भारत के बीच में पड़ते थे। इनका क्षेत्र लगभग २५००० वर्गमील और जनसंख्या १५ लाख थी। बिलोची और पठान परस्पर भौगोलिक स्थिति, रीतिरिवाज तथा प्रकृति में बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए सीमान्त नीति के लिए दो मत स्थापित हुए—सिन्ध नीति और पंजाब नीति।

प्रशासन आदि की दृष्टि से उत्तर-पश्चिम में सुरक्षा के लिए निश्चित रेखा बनाना असम्भव था। इस कारण दो दल बन गये। एक तो अग्रगामी नीति वालों का और दूसरा स्थिर नीतिवालों का।

उक्त दोनों नीतिवालों ने सुरक्षा-रेखा के लिए अनेक सुझाव दिये और उन सुझावों पर भी सुझाव दिये गये। साधारणतः वे सब निम्नलिखित चार सुरक्षा रेखाओं में से एक न एक को सम्भव मानते थे :—

(१) सिन्धु नदी।

(२) पुराने सिख-राज्य की सीमा, जो १९४७ से पहले थी।

(३) १८९३ में निर्धारित ड्यूरैण्ड रेखा।

(४) तथाकथित वैज्ञानिक सीमा—काबुल से गजनी होते हुए कंधार तक की रेखा।

सिन्धु नदी को सुरक्षा रेखा माननेवालों में लारेंस प्रमुख था। नदी को हम एक अच्छी सुरक्षारेखा नहीं मान सकते। भारत में जो अनेक आक्रमण हुए उनसे स्पष्ट है कि सिन्धु नदी सुरक्षा रेखा के लिए उपयुक्त नहीं थी। इस नदी से आक्रमणकारियों को सदैव ही सहायता मिली है। एक बात और थी जिसे लारेन्स के विपक्षी भूल गये थे। वह यह कि लारेंस ने रूस से यह निश्चित कर दिया था कि यदि वे इससे आगे बढ़ेंगे तो युद्ध अनिवार्य है। इसीलिए लारेंस इसे सुरक्षा रेखा बनाना चाहता था।

पुरानी सिखराज्य की सीमा भी उपयुक्त नहीं थी और ड्यूरैण्ड रेखा भी ठीक नहीं थी। सबसे उपयुक्त रेखा काबुल-ग़जनी-कन्धार रेखा मानी जा सकती है, जिसका निर्माण १८७६ में हुआ था और जिसमें क्वेटा भी शामिल था। भारत और उसके उत्तर-पश्चिम के पड़ोसियों के बीच पहाड़ था। पहाड़ों के रास्ते आक्रमण होने से बचने के लिए यह आवश्यक था कि दर्रों को खुला रखा जाय ताकि यह मालूम हो सके कि पहाड़ की दूसरी ओर वाले क्या कर रहे हैं। इस दृष्टि से काबुल-ग़जनी-कन्धार रेखा सबसे ठीक थी। परन्तु इसमें भी कुछ प्रशासनिक तथा सैनिक कठिनाइयाँ थीं। ऐसी सुरक्षा रेखा, जो हर प्रकार से संतोषजनक हो, असम्भव होने के कारण, सीमान्त की लम्बाई अधिक तथा पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यह स्पष्ट

था कि यह समस्या न केवल सैनिक ही है बल्कि प्रशासनिक भी है। कवीलों का प्रवन्ध करना, सीमान्त पर शान्ति बनाये रखना तथा दर्रों को खुला रखना, प्रशासनिक समस्या के अन्तर्गत आते हैं।

कवीलों का राजनीतिक प्रवन्ध करने के विषय में अँगरेजो की नीति कभी भी स्थिर अथवा एक-सी नहीं रही। यह ठीक है कि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण तथा कवीलों की प्रकृति के कारण स्थिर नीति को अपनाना असम्भव सा था, फिर भी वे इस क्षेत्र में प्रयत्न तो कर ही सकते थे।

सिन्ध नीति—सीमान्त प्रदेशों के प्रशासन के बारे में सिंध नीति वालों में जनरल जैकाव तथा मेजर सैन्डेमन प्रमुख थे। उनका ध्येय सीमान्त की सुरक्षा तथा कवीलों का प्रवन्ध करना था। सुरक्षा के लिए उन्होंने पुराने किलों को फिर से सुधारा, सुरक्षा रेखा पर लगातार सैनिक गश्त लगवाने का प्रवन्ध किया, वहाँ के निवासियों के हथियार आदि छीन लिये गये और कसूरवारों को कड़ी से कड़ी सजा दी। प्रवन्ध की दृष्टि से, केलात के खान तथा अन्य सरदारों से मित्रता करके कवाइलियों पर नियंत्रण रखा गया। उन्हें इस काम के लिए विशेष आर्थिक सहायता दी गई। यह सब कार्य तभी सफल हो सकता था जब कि सरदार इतने शक्तिशाली हों कि वे कवीलों के ऊपर नियंत्रण रख सकें। पंजाब सीमान्त पर उनका कार्य सफल न हो सका।

सिन्ध की सीमा पर रहने वालों पर केलात के खान के द्वारा नियंत्रण रखा गया। केलात का खान १८५४ की संधि के अनुसार इस बात पर राजी हो गया था कि वह विदेशी मामलों का काम अँगरेजों के द्वारा करेगा, आवश्यकता पड़ने पर अँगरेज सेना को आने देगा और अपनी प्रजा को विद्रोह करने से रोकेगा। इस काम के लिए उसे ५० हजार रुपया देने का निश्चय किया गया। खान और उसके सरदारों के बीच वैमनस्य होने के कारण अँगरेजों को हस्तक्षेप करना पड़ा और १८७६ में खान तथा सरदारों के बीच मस्तुंग समझौता हुआ। समझौते के बाद दिसम्बर १८७६ में जैकबाबाद की संधि हुई, जिसके अनुसार खान अँगरेजी सेना रखने और रेल तथा तार-लाइन लगवाने के लिए राजी हो गया। इसके लिए उसकी सालाना मदद की रकम बढ़ा दी गयी। इस संधि के फलस्वरूप क्वेटा अँगरेजों के अधीन हो गया। वहाँ उन्होंने अपना मुख्य केन्द्र बनाया। फरवरी १८७७ में मेजर सैण्डेमन वहाँ गवर्नर-जनरल का एजेण्ट नियुक्त हुआ।

१८७९ में पिशिन और सिबि भी गण्डमक की संधि के अनुसार ले लिये गये और १८९२ में वे अँगरेजों के साम्राज्य के अधीन घोषित कर दिये गये। बलोचिस्तान में केलात, लास बेला तथा अन्य एजेन्सी राज्यों को मिलाकर ब्रिटिश बलोचि-

स्तान बनाया गया और उसका शासन-भार चीफ़ कमिश्नर को सौंप दिया गया।

पंजाब सीमान्त—अफ़गानिस्तान तथा ब्रिटिश शासकीय रेखा के बीच का देश अत्यन्त पहाड़ी होने के कारण पंजाब की ओर की समस्या काफी जटिल हो गई। आर्थिक दृष्टि से नितान्त बंजर होने के कारण वहाँ के पठानों को युगों से जीवनयापन के लिए उपजाऊ भूमि की ओर भागकर आना पड़ता रहा है। कठिनाइयों के कारण उनका जीवन भी वैसा ही हो गया। अपनी स्वच्छन्द प्रकृति के कारण वे किसी भी सरदार या राजा का नियंत्रण सहन नहीं कर सकते। वे छोटे-छोटे दलों में बँटकर परस्पर युद्ध करते और इस प्रकार सीमान्त में शान्ति बनाये रखने को असम्भव-सा बना देते।

अँगरेजों का मुख्य ध्येय दर्रों को खुला रखना और सीमा पर अपनी प्रजा की रक्षा करना था। यह काम केवल कबीलों को सालाना भत्ता देने, सीमा पर शक्तिशाली सेना रखने और विद्रोहियों को कठिनतम सजा देने से ही हो सका था। इनके अलावा अन्य उपाय भी किये गये जिससे शान्ति बनी रहे। उन्हें व्यापार करने के लिये प्रोत्साहन दिया गया, समस्त व्यापारी कर समाप्त कर दिये गये, सड़कों तथा बाजारों का निर्माण किया गया। निःशुल्क चिकित्सा के लिए अस्पताल खोले गये तथा उन्हें अँगरेजी सेना और पुलिस में भर्ती किया गया।

परन्तु इन सब सराहनीय प्रयत्नों के होते हुए भी अँगरेज सफल न हो सके। क्योंकि पठानों को उनकी ईमानदारी और चालों पर तनिक भी विश्वास न था। पठान अपने देश में स्वतन्त्रता चाहते थे। वे अँगरेजों के प्रत्येक काम को सन्देह की दृष्टि से देखते थे और समझते थे कि अँगरेजों से सम्पर्क न रखने पर ही उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। शायद उनका सोचना ठीक ही था।

इन परिस्थितियों में, कबीलों में शान्ति स्थापित करने के लिए पंजाब के अधिकारी उचित यही समझते थे कि विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा दी जाय और उनका भत्ता बन्द कर दिया जाय।

परन्तु उनकी यह 'कत्ल और दमन' की नीति अधिक समय तक न चल सकी। इसके कारण कोई स्थायी समझौता भी न हो सका। अप्रैल १८७७ में लार्ड लिटन ने इस व्यवस्था का विरोध किया और कहा कि, "इस नीति के कारण दोषी बहुत कम पकड़ा जाता है और सजा बहुधा निर्दोष को ही मिलती है। इससे मित्रता के बजाय शत्रुता अधिक बढ़ती है और अधिकांश परिस्थितियों में उनकी हानि की अपेक्षा हमारी ही हानि अधिक होती है।" १८४९ से १८९० तक लगभग ४२ बार दमन किया गया परन्तु इससे कोई लाभ न हो सका।

इनके अलावा, सीमान्त की सुरक्षा के लिए किलों के बीच सड़कें बनाई गईं,

'पंजाब सीमान्त सेना' की भरती की गई और वहाँ के निवासियों को अपनी रक्षा के लिए हथियार आदि रखने की आज्ञा दी गई।

१९०१ तक यह समझा जाता रहा कि सीमान्त की समस्या पंजाब सरकार की घरेलू समस्या है। सीमा के जिलों, हजारा, पेशावर, कोहाट, बन्नू, डेरा इस्माइल खाँ और डेरा गाजी खाँ के डिप्टी कमिश्नरों की मार्फत पंजाब सरकार इन कबीलों से सम्बन्ध रख रही थी।

लिटन की नीति के कारण जो दूसरा अफगान-युद्ध हुआ था, उसके फलस्वरूप १८७८ में राजनीतिक एजेन्सी प्रणाली आरम्भ हुई। इसके अनुसार खैबर में एक एजेण्ट नियुक्त हुआ, जो कबीलों का अमीर से सम्बन्ध तुड़ा कर उनसे सीधा सम्पर्क रखता था। यह प्रणाली सीमान्त के अन्य भागों में भी अपनाई गई और १८९६ तक खुर्रम, मलकन्द, तोची और वाना में भी एजेन्सियाँ काम करने लगीं। इनका मुख्य काम दर्रों को खुला रखना और दोनों ओर की हालतों को ध्यान में रखना था।

कबाइली युद्ध—१८९५—लार्ड लैन्सडाउन और एल्गिन ने अपने वायसराय काल में अग्रगामी नीति अपनाई थी। इस नीति को अपनाने का एक कारण तो रूस का मध्य एशिया में आना था और दूसरा कारण अब्दुर रहमान के प्रति निरर्थक सन्देह का होना था। परन्तु सबसे मुख्य कारण था लैन्सडाउन, एल्गिन तथा उस समय के कमान्डर-इन-चीफ लार्ड राबर्ट्स का यह विचार कि—जिस प्रकार प्रकृति में कोई स्थान बिना अवकाश (रिक्तता) के नहीं हो सकता उसी प्रकार कबीले भी बिना किसी के शासन में रहे नहीं रह सकते। इसलिए उन्हें भारत-सरकार के नियंत्रण में लाना आवश्यक है।

अगस्त १८८७ में भारत-सरकार ने पंजाब सरकार को लिखा, "अब समय आ गया है कि हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में स्वतन्त्र राज्यों की जो लम्बी पट्टी है उसे हम अपने नियंत्रण में ले आयें और यदि सम्भव हो सके तो विदेशी आक्रमणों से अपने को बचाने के लिए उसे संघटित करें। यह काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।" लार्ड रॉबर्ट्स ने भी इस विचार का प्रतिपादन किया। उसने लिखा, "सीमान्त देशों के प्रति अब फिर से अपनी नीति बदलने के लिए हमारे पास पर्याप्त कारण हैं। अवसर पड़ने पर उन्हें न केवल सामान (सप्लाई) तथा ढुलान (ट्रान्सपोर्ट) से ही हमें सहायता देनी चाहिए बल्कि यातायात-व्यवस्था में भी हमारी मदद करनी चाहिए।"

इससे जो नीति अपनाई गई उससे कबाइली क्षेत्र 'ब्रिटिश प्रभुत्व' के अन्तर्गत घोषित कर दिया गया। वहाँ सैनिक शिविर बना दिये गये और सेना के साथ-

साथ घुड़सवार सेना भी रख दी गई, अपनी शक्ति के बल पर अथवा रिश्वत देकर मुख्य-मुख्य स्थलों का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया गया तथा उन सब स्थलों को रेल और सड़कों द्वारा एक दूसरे से मिला दिया गया।

'ब्रिटिश प्रभुत्व' की परिभाषा बताते हुए लार्ड लैन्सडाउन ने बताया कि, "ऐसे स्थानों पर हम स्वयं शासन नहीं करेंगे परन्तु वहाँ हम बाहर से आक्रमण भी नहीं होने देंगे।" वहाँ अपनाई जाने वाली नीति के बारे में लैन्सडाउन ने घोषित किया कि, "पहली बात यह है कि 'ब्रिटिश प्रभुत्व' के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र के कबीलों के साथ हम सीधा सम्बन्ध रखेंगे परन्तु उन्हें किन्हीं अन्य शासकों से सम्बन्ध नहीं रखने देंगे। दूसरे, हमें अधिकार होगा कि हम वहाँ बिना कर दिये जा सकें, सड़कें बना सकें तथा आवश्यकता पड़े तो उन सड़कों को सुरक्षित रखने के लिए छावनियाँ बना सकें। तीसरे, हम कबीलों की स्वतन्त्रता के प्रति आदर-भाव रखेंगे और उनके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।"

अपनी उक्त नीति को चलाने के लिए जनोब (Znob) तथा बोरी (Bori) के मालिकों को १८८४ में यह स्वीकार करने के लिए विवश किया गया कि जब भी अँगरेज आवश्यकता समझें, वे वहाँ अपनी फौज भेज सकते हैं। तीन साल के बाद १८८७ में अँगरेजों ने इस आवश्यकता का अनुभव किया और पिशिन-डेरा-खान सड़क की सुरक्षा के बहाने लोरालाई (Loralai) में अपनी सेना स्थापित कर दी।

१८९० में बिलोचिस्तान और पंजाब सीमान्त की सीमा निर्धारित की गई। यह सीमा दोमण्डी से आरम्भ होकर, गोमल नदी के झोब नदी से मिलने के स्थान तक मानी गई। झोब घाटी को पहले ही से अँगरेजों ने अपने अधीन कर लिया था, क्योंकि गोमल दर्रा इसी क्षेत्र में पड़ता था। १८८९ में भारत-सरकार ने इसे अपने अधीन स्वीकार कर लिया था। विद्रोह करने वाले कबीलों को धन देकर चुप करा दिया गया, परन्तु उनमें से शीरानी जाति के लोग नहीं माने, उनसे युद्ध करने १८९० में फौज भेजी गई। अन्त में वे भी इस बात पर तैयार हो गये कि यदि वे अँगरेजों की आज्ञा नहीं मानेंगे तो वहाँ अँगरेज लोग अपनी सेना भेज सकते हैं तथा उनके राज्य को अपने अधीन कर सकते हैं।

१८८९ में ही दो आक्रमणों के बाद कोहाट की सीमा से लगे हुए मल्ला खेलों के गाँवों को भी अँगरेजों ने अपने अधीन कर लिया।

१८९२ में मर्री घाटी (Marran valley) भी जीत ली गई। कहते हैं, यह काम वहाँ के निवासियों की प्रार्थना पर किया गया। मालूम होता है कि कुछ लोगों को घूस देकर भड़काया गया होगा और उन्होंने ही यह प्रार्थना की होगी।

१८९४ में महसूदी (Mahsud) कबीलों ने वाना में 'ब्रिटिश सीमा आयोग' के ऊपर आक्रमण किया : फलतः अँगरेजों ने भी प्रत्याक्रमण किया और उत्तरी वजीरिस्तान का एक हिस्सा अपने अधीन कर लिया। वजीरिस्तान के बाकी हिस्से पर भी नियंत्रण रखने के लिए, १८९५ में टोची घाटी का प्रशासन भी अँगरेजों ने अपने हाथ में ले लिया।

यही काम कश्मीर के सुदूर उत्तरी भाग में भी किया गया, क्योंकि रूसियों के पामीर के रास्ते आने का डर था। इसी डर के कारण लिटन ने कश्मीर के राजा को बाध्य किया कि चित्राल को अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत कर ले। चित्राल का मेहतर इससे बड़ा खुश हुआ कि अब अफगानिस्तान के अमीर से उसकी रक्षा हो जायगी। मेहतर को कुछ धन भी दिया गया। इससे उसने १८७८ में कश्मीर का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। गिलगिट में भी एक एजेन्सी स्थापित की गई थी जो कुछ समय के लिए तोड़ दी गई। परन्तु १८८९ में लार्ड लैन्सडाउन ने उसे फिर से स्थापित किया और नागर तथा हुंजा के सरदार उसके नियंत्रण में रखे गये। इसके बदले सरदारों को कुछ वार्षिक भत्ता दे दिया गया। १८९२ में चित्राल के मेहतर की मृत्यु के बाद अँगरेजों की मदद से निजाम-उल-मुल्क वहाँ का मेहतर बना। इस प्रकार चित्राल पर भी अँगरेजों का प्रभुत्व हो गया। १८९४ में निजाम-उल-मुल्क को कत्ल कर दिया गया और ब्रिटिश एजेण्ट को चित्राल के किले में घेर दिया गया। इस कारण अँगरेजों को अपनी नीति के बारे में फिर से सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा। सीमान्त का परीसीमन होने के कारण अब उन्हें अफगानिस्तान या रूस की ओर से कोई डर न था। चित्राल में सेना भेजी गई और एजेण्ट राबर्ट्सन को बचा लिया गया। भारत सरकार की इच्छा थी कि चित्राल में घुड़सवार सेना अवश्य रक्खी जाय परन्तु रोजबरी मंत्रिमण्डल ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। बाद में सैलिसबरी मंत्रिमण्डल के आने पर अगस्त १८९५ में उक्त फैसले पर फिर से विचार हुआ और यों तो अब चित्राल की ओर से आक्रमण होने का कोई डर नहीं रह गया था फिर भी वहाँ घुड़सवार सेना रख दी गई तथा मेहतर को वार्षिक भत्ता दिया जाने लगा।

इन सब कार्यों का स्वतन्त्रताप्रिय कबीलों पर अच्छा असर नहीं पड़ा। वे समझने लगे कि गुलामी की जंजीरें अब अधिकाधिक कसी जाने लगी हैं, अतः १८९७ में उन्होंने विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह इतना उग्र तथा विस्तृत था कि ऐसा न तो उस समय तक कभी हुआ था और न भविष्य में ही हुआ। वायसराय तथा भारत-सचिव का विश्वास था कि धर्मोन्माद ही इस विद्रोह का कारण था। मि० डेवीज ने लिखा :—

"सीमान्त के मुल्ला लोग जिस प्रकार कबीलों को भड़काते थे और उनकी धर्म-भावना को उकसाते थे, वही इस विद्रोह का मुख्य कारण है। बिना इस प्रकार से भड़काने के तथा बिना अफगानियों के षड्यन्त्र के, यह विद्रोह इतना विस्तृत, संगठित तथा उग्र नहीं हो सकता था।"* परन्तु डेवीज का यह मत अक्षरशः सत्य नहीं है। लैन्सडाउन तथा एल्गिन ने अग्रगामी नीति अपनाई थी। कबीलों को अब्दुर-रहमान के शासन से अलग कर दिया गया था। इससे वह बहुत अप्रसन्न था और षड्यन्त्र रच रहा था। यही विद्रोह के मुख्य कारण भी थे। इनके अलावा अन्य अनेक छोटे-छोटे कारण थे। जैसे नमक का कर आठ आने प्रतिमन से बढ़ा कर दो रुपये प्रतिमन कर देना आदि।

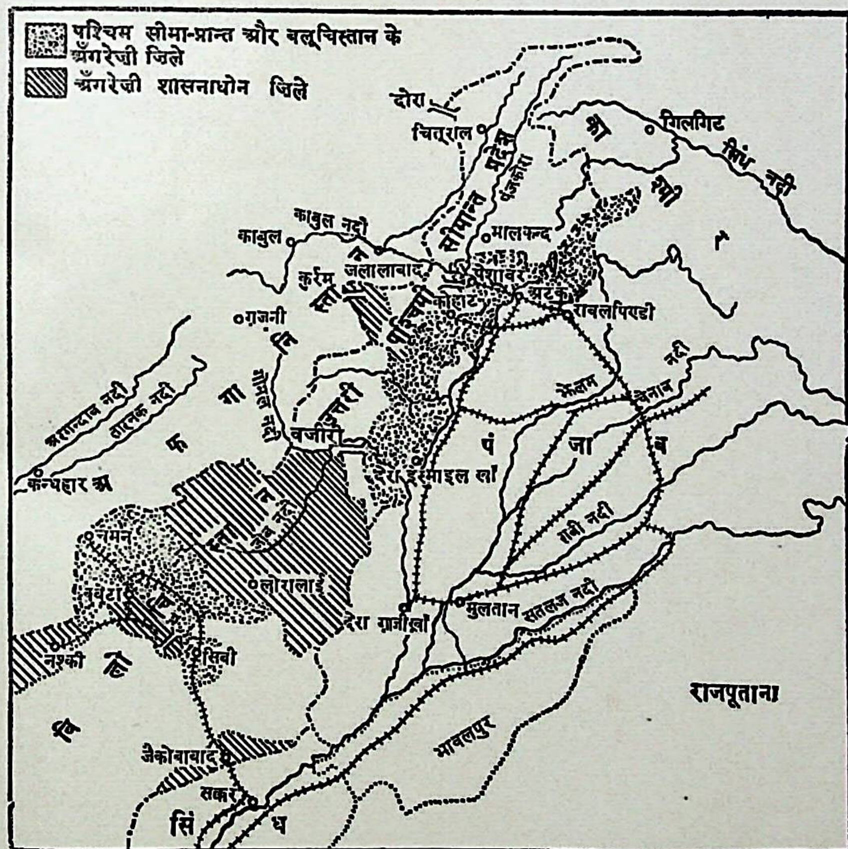
विद्रोह का सीधा फल यह हुआ कि २८ जनवरी १८९८ को भारत-सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने लिखा, "कोई नया उत्तरदायित्व हाथ में न लिया जाय" और भारत-सरकार को आदेश दिया कि, "कबाइली क्षेत्र में हस्तक्षेप करना बन्द कर दो; अपनी सेना अधिक सुगठित करो और यातायात तथा व्यापार के लिए खैबर दर्रा ही सबसे उपयुक्त है।" कहने का तात्पर्य यह कि जो अग्रगामी नीति अब तक चल रही थी, वह समाप्त कर दी गई।

कर्जन और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त—१८९८ में भारत में लार्ड कर्जन आया। वह हैमिल्टन के ध्येय को जानता था और इँगलैण्ड की पार्लियामेंट में १८९७-९८ में होनेवाली गरमागरम बहस को भी सुन चुका था। वह सीमान्त के प्रशासन के बारे में किसी भी मत को नहीं मानता था। अतः उसने मध्यम नीति अपनाई। वह अँगरेजों के उत्तरदायित्व को और अधिक नहीं बढ़ाना चाहता था। हाँ, कुछ साम्राज्यवादी कारणों से वह अवश्य ही चित्राल को अपने अधीन करना चाहता था।

भारत आने पर उसने देखा कि ब्रिटिश सेना बिना किसी सुरक्षा के सीमान्त प्रदेश में छितरी हुई है। वहाँ कौन सी नीति अपनाई जाय, यह भी अभी निश्चित नहीं है। उसने अपनी दुहरी नीति चलाई। वह सीमान्त को अपनी सुरक्षा में लेना चाहता था और वहाँ एक संगठित प्रशासन कायम करना चाहता था जिससे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश भी भारत सरकार के अधीन हो जाय।

लार्ड कर्जन ने अपनी नीति के बारे में स्वयं ही कहा है कि "ब्रिटिश सेना को वापिस बुला लिया जाय, कबाइली क्षेत्र में प्रतिरक्षा के लिए कबाइली सेना की भरती की जाय, सुरक्षा तथा सहायता के लिए ब्रिटिश क्षेत्र में ब्रिटिश सेना और अधिक

* Daires, The North-west Frontier, p. 98


पश्चिम सीमा-प्रान्त और बलूचिस्तान के अँगरेजी जिले
अँगरेजी शासनाधीन जिले
दोरा
चित्राल
गिलगिट
सिंध नदी
मालकन्द
काबुल नदी
काबुल
जलालाबाद
कुर्रम
पेशावर
अटक
कोहाट
रावलपिण्डी
ग़ज़नी
झेलम
चेनाब
वजीरी
पं
जा
ब
कन्धहार
डेरा इस्माइल खाँ
रावी नदी
लोरालाई
मुलतान
सतलज नदी
डेरा ग़ाज़ीखाँ
नश्की
सिबी
राजपूताना
भावलपुर
जैकोबाबाद
सक्कर
सिं
ध

पश्चिमोत्तर सीमा

सुसंगठित की जाय और अन्तरंग क्षेत्रों में यातायात के साधन सुधारे जायँ।" तात्पर्य यह कि लार्ड कर्जन की भी वही नीति थी जो मेजर सैण्डेमन की सिन्ध के सीमान्त के बारे में थी। सेना में कबीलों को भरती करके उन्हें उम्मीद थी कि इससे उनकी आर्थिक समस्या भी सुलझ जायगी और वे अँगरेजों के प्रति और अधिक वफादार हो सकेंगे। कबाइली सेना का गठन दूसरे ही प्रकार से किया गया था तथा अस्त्र-शस्त्र देने में भी काफी ध्यान रखा गया। अँगरेज उच्चाधिकारी ही उनका संचालन करते थे। उन अधिकारियों की सुरक्षा और सहायता के लिए रेलों का निर्माण किया गया और अपनी प्रशासनिक सीमा के ही अन्दर कुछ सैनिक स्थलों का विकास किया।

१९०४ तक लार्ड कर्जन की नीति अपने सम्पूर्ण रूप में चलने लगी। ब्रिटिश सेना वापस बुला ली गई और वहाँ कबीली सेना रखी गई। नौशेरा से दुर्गई और पेशावर से जमरूद तक रेल-लाइन बना दी गई। बन्नू और डेरा-इस्माइल खाँ में सबल सेना रक्खी गई। १९०५ तक क्वेटा-नुश्की रेलवे भी बना दी गई।

सीमान्त में शान्ति स्थापित करने में लार्ड कर्जन की नीति सर्वथा सफल रही, केवल १९०८ में दो बार शान्ति भंग हुई।

उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त का निर्माण—अगस्त १८९८ में भारत सचिव ने भारत सरकार को लिखा:

"रानी विक्टोरिया की सरकार का विचार है कि वर्तमान प्रबन्ध संतोषजनक नहीं है। यह अधिक उपयुक्त होगा कि पंजाब सीमान्त के कबीलों के साथ, भारत सरकार की देख-रेख तथा नियंत्रण में, सीधा सम्पर्क रखा जाये।"

अब तक कबीलों के साथ जो सम्पर्क था वह पंजाब सरकार के द्वारा होता था। कबीलों की समस्या शाही प्रतिरक्षा की समस्या थी, पंजाब सरकार की स्थानीय समस्या नहीं। अतः उसका उत्तरदायित्व भी भारत सरकार पर ही होना चाहिए था।

अलग से सीमा प्रान्त बनाने का विचार कोई नया विचार नहीं था। बार्टल फ्रेयर, लार्ड राबर्ट्स, सैण्डेमन, लिटन, लैन्सडाउन आदि अनेकों ने यही सुझाव दिया था। परन्तु लार्ड कर्जन ने इस सुझाव को कार्यान्वित किया। इसलिए सीमा-प्रान्त बनाने का श्रेय उसी को दिया जाता है। कर्जन के सामने अनेक योजनाएँ थीं जिन पर उसे विचार करना था। अन्ततः उसने पंजाब के सीमान्त को अलग करके उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त बनाने का निर्णय किया, जिसका प्रशासन भारत सरकार द्वारा नियुक्त चीफ कमिश्नर करे और उसे राजस्व (रैवेन्यू) तथा न्याय-विभाग (जूडीशियल) के कमिश्नर सहयोग दें।

इस नये प्रान्त में सीमान्त के पाँच जिले—हजारा, पेशावर, कोहाट, बन्नू और डेरा इस्माइल खाँ; प्रशासनिक सीमा तथा ड्यूरैण्ड रेखा के बीच का क्षेत्र और मलकन्द, खुर्रम, खैंबर, टोची तथा बाना की राजनीतिक एजेन्सियाँ शामिल की गई। इस प्रान्त के बनाने में विरोध भी हुआ। इस विरोध के कारण ये दिये गये कि (१) इससे राजस्व लेने की प्रणाली में गड़बड़ होगी, (२) इससे शासन-क्षेत्रों को फिर से व्यवस्थित करना होगा, (३) इससे पञ्जाब के उच्च पदाधिकारी सीमान्त के मामले में प्रशिक्षण लेने से वञ्चित हो जायेंगे, (४) इससे अग्रगामी नीति को प्रोत्साहन मिलेगा जिसके कारण एक बार असफलता मिल चुकी है। लार्ड कर्जन ने इन विरोधों का विस्तार से उत्तर दिया और कहा कि ये विरोध तथ्यहीन हैं।

लार्ड कर्जन की नीति के कारण काफी लम्बे समय तक शान्ति बनी रही, फिर भी यह नीति सीमान्त के बारे में अन्तिम निर्णय करने में असफल ही रही। उसकी नीति के बारे में डेवीस का कथन उल्लेखनीय है। उसने लिखा है, "कर्जन ने वही सुधार किये जो पिछले पच्चीस सालों से विवाद के विषय बने रहे हैं और जिन्हें लगभग सभी ने माना है। वह अच्छी तरह से जानता था कि भारतीय सीमान्त के बारे में कोई अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता और न उसने कभी यह कहा कि उसने समस्या का जो समाधान किया है वह हमेशा स्थायी रह सकेगा।"* ३० सितम्बर को शिमला के यूनाइटेड सर्विस क्लब में लार्ड कर्जन ने अपनी नीति के परिणाम बताते हुए कहा,

"मुझे यह देखकर सन्तोष है कि पिछले सात वर्षों से सीमान्त में कोई युद्ध-विग्रह नहीं हुआ। जब से सीमान्त अँगरेजों के हाथ में आया तब से केवल यही सात वर्ष शान्ति के रहे हैं। १८९४ से १८९९ तक की पाँच वर्ष की अवधि में सीमान्त के युद्ध में भारत के ४५ लाख पौण्ड व्यय हुए हैं जब कि पिछले सात वर्षों में केवल २ लाख ४८ हजार पौण्ड ही हुए थे।"*

भारत के अन्य प्रान्तों में सुधार हो रहे थे, अतः उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में भी सुधार करने की ओर ध्यान दिया गया। समय-समय पर सुझाव दिये जाते रहे परन्तु १९३२ तक कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। १९३२ में यह प्रान्त एक गवर्नर के अधीन कर दिया गया और वहाँ भी एक विधान-सभा बना दी गई।

१९४७ में माउण्टबेटन की योजनानुसार यह प्रान्त पश्चिमी पाकिस्तान में चला गया। अतः अब उसकी कोई समस्या भारत के सामने नहीं है।

---

* Davies, North West Frontier p. 113.

भारत और फारस—अँगरेजों को अफगानिस्तान में जिस रूसी हौवा का डर बना रहता था उसका मूल कारण था अँगरेजों और फारस वालों के पारस्परिक सम्बन्ध। ये सम्बन्ध १८०१ के मल्काम मिशन के समय से चले आ रहे थे। अँगरेजों की नीति यह थी कि फारस को वाह्य शक्तियों—विशेषकर रूस और फ्रांस—के प्रभाव से दूर रखा जाय। इसलिए जब भी इनका प्रभाव फारस पर होता था तो अँगरेजों को ज्वर आने लगता था। उनके प्रभाव के हटने के बाद ही यह ज्वर टूटता था और वे फिर निश्चिन्त हो जाते थे।

तिलसिट की सन्धि के बाद नैपोलियन के आक्रमण की अफवाह सुनकर अँगरेजों ने मल्काम मिशन भेजा और बाद में सर हार्टफोर्ड जोन्स को भेजा। वहाँ शाह को धमका-फुसलाकर मार्च १८०९ में सन्धि कर लेने के लिए राजी कर लिया गया और उसे युद्ध के अवसर पर भत्ता देने का वचन दिया गया। शाह इस बात पर राजी हुआ कि 'वह यूरोप की किसी भी सेना को फारस के रास्ते नहीं जाने देगा' और अगर अँगरेजों के राज्य में कहीं आक्रमण हुआ तो फारस अँगरेजों को सहायता देगा। इसके बाद १८१४ में फिर सन्धि हुई। सन्धि के अनुसार फारस ने गैर-अँगरेजी शक्तियों के साथ हुए समस्त सम्बन्ध रद्द कर दिये और अँगरेजों की विरोधी समस्त यूरोपीय सेनाओं पर फारस में प्रवेश करने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यदि कभी फारस और अफगानिस्तान का युद्ध हुआ तो अँगरेज इसमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे और यदि अफगानिस्तान ने अँगरेजी राज्य में कहीं आक्रमण किया तो फारस भी अफगानिस्तान पर आक्रमण कर देगा।

गुलिस्ताँ की सन्धि भी अँगरेजी कूटनीति का एक अच्छा उदाहरण है। इससे अँगरेजों तथा फारस के सम्बन्ध १८२६ अर्थात् फारस पर रूस के आक्रमण तक अच्छे रहे। आक्रमण होने पर फारस ने सन्धि के अनुसार अँगरेजों से सहायता माँगी। परन्तु अँगरेज रूस के साथ युद्ध नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने बड़ी ही निर्लज्जता से सन्धि की शर्तें तोड़ दीं। फारस हार गया। उसे फरवरी १८२८ को तुर्कोमन्वई की सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े, जिससे तेहरान की गद्दी पर रूसियों का प्रभाव जम गया। इसके बाद फारस ने अँगरेजों पर विश्वास करना छोड़ दिया।

फारस में रूस की योजना थी कि वह फारस को शिखण्डी बना कर आगे बढ़ाये और किसी को मालूम न हो सके कि इसमें रूस का हाथ है। शाह को हिरात की ओर भेजा गया और १८३७ में उसे विजय कर लिया। इस समय लार्ड आकलैण्ड अनेक जटिलताओं में उलझा हुआ था। इन्हीं जटिलताओं के कारण प्रथम अफगान युद्ध भी हुआ था। १८५६ में फारस ने हिरात पर फिर आक्रमण किया परन्तु

सफलता नहीं मिली। अन्त में १८५७ में अँगरेजों और फारस के बीच शान्ति स्थापित हो गई। इससे उनके परस्पर सम्बन्धों में भी कटुता कुछ कम हो गई।

फारस में अँगरेजों के रुचि लेने के दो कारण थे—(१) भारत पर आक्रमण करने में अन्य देश फारस को माध्यम न बनायें और (२) गैर-अँगरेजी शक्तियों के हाथ फारस की खाड़ी न पड़े। पूर्वी देशों में अँगरेजों का व्यापारिक स्वार्थ तथा भारत की राजनीति के कारण अँगरेज फारस की खाड़ी पर प्रभुत्व रखना चाहते थे। परन्तु उनका फ्रांस और रूस और बाद में जर्मनी ने विरोध किया। जर्मनी ने खाड़ी को निश्चित अवधि के लिए खरीदने तक का प्रयत्न कर लिया था परन्तु अँगरेजों ने अपनी कूटनीति से उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। १९०३ में तत्कालीन वैदेशिक सचिव लार्ड लैन्सडाउन ने हाउस आफ लार्ड्स में स्पष्ट रूप से कह दिया, "यदि कोई शक्ति फारस की खाड़ी में अपनी नौ-सेना स्थापित करती है तो यह अँगरेजों के स्वार्थ में अत्यन्त गम्भीर कठिनाई हो जायगी। अतः हमें किसी-न-किसी प्रकार से ऐसा होने से रोकना चाहिए।"

फारस के आन्तरिक मामले जटिल तथा अव्यवस्थित हो रहे थे। १९०७ में इँगलैण्ड और रूस ने अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों को बाँट दिया। फारस के पूर्ण सम्मान का वचन प्रत्येक ने दिया और उसे तीन प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट दिया—अँगरेजी प्रभाव-क्षेत्र, रूसी क्षेत्र तथा तटस्थ क्षेत्र। समझौते के अनुसार फारस का दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र अँगरेजों और सम्पूर्ण उत्तरी फारस रूस के हिस्से में आया। वास्तव में इस समझौते से रूस को ही अधिक लाभ रहा। यूरोप में उस समय कुछ ऐसी जटिल समस्याएँ थीं कि अँगरेजों को इस समझौते पर राजी होना पड़ा था। सबसे मजेदार बात तो यह थी कि इस बँटवारे के बारे में फारस से कोई भी सलाह नहीं ली गई थी।

भारत और पूर्वी सीमान्त

तृतीय बर्मा-युद्ध—१८२७ और १८५२ में बर्मा में युद्ध हुए थे जिनके फलस्वरूप बर्मा का समस्त समुद्री किनारा अँगरेजों के हाथ आ गया था। बचे हुए उत्तरी बर्मा के पास अब अपना कोई समुद्री किनारा नहीं रह गया था। १८६२ और १८६७ की सन्धियों के अनुसार उत्तरी बर्मा में भी अँगरेजों को व्यापार करने की सुविधाएँ दे दी गई।

१८५३ में राजा मिण्डन (King Mindon) अपने भाई को सिंहासनच्युत कर स्वयं गद्दी पर बैठा। वह बड़ा सशक्त शासक था। उसने अनेक सुधार किये और व्यापार को काफी बढ़ाया। १८७८ में उसकी मृत्यु के उपरान्त अराजकता

फैल गई। अन्त में उसका एक पुत्र थिबाव गद्दी हस्तगत करने में सफल हो सका। उसने अपने समस्त शत्रुओं को बड़ी निर्दयता से मार डाला।

सन् १८७६ से ही अँगरेजों के और बर्मा के आपसी सम्बन्ध काफी कटु हो गय थे, क्योंकि वायसराय ने माण्डले स्थित रेजीडेण्ट को राजा के सामने नंगे पैर जाने और घुटने के बल झुकने से मना कर दिया था। राजा मिण्डन ने उसके बिना ऐसा किये उसका स्वागत करने से इनकार कर दिया। तभी से ब्रिटिश रेजीडेण्ट को महल में जाने की अनुमति नहीं थी। अक्टूबर १८७९ को ब्रिटिश रेजीडेण्ट वापस बुला लिया गया। क्योंकि राजा थिबाव जिस समय रेजीडेण्ट को वहाँ से हमेशा के लिए हटाने पर विचार कर रहा था, ठीक उसी समय काबुल में कैवेग्नरी की हत्या कर दी गई थी। वैसी ही घटना बर्मा में भी न हो जाय, इसका काफी डर अँगरेजों को था।

बर्मा राज्य में होनेवाली अराजकता तथा फ्रांसीसियों के षड्यन्त्रों के कारण, बर्मा को फिर से एक करने का प्रश्न उठने लगा। उधर वायसराय लार्ड डफरिन पहले से ही ऐसा करने का निश्चय कर चुका था।

उपनिवेश बसाने के लालच से ही इँगलैण्ड ने निचले बर्मा में अधिकार जमाया था। यही लालच फ्रांस को भी था और वह उत्तर की ओर बढ़ रहा था। सन् १८७३ में कोचीन-चीन और १८८४ में टोंकीन को जीतने के बाद फ्रांस उत्तरी बर्मा की ओर बढ़ने का प्रयत्न करने लगा। बर्मा का राजदूत पेरिस गया और १८८५ में फ्रांस और उत्तरी बर्मा में व्यापारिक सन्धि हो गई। सन्धि में एक बात यह भी उल्लिखित थी कि टोंकीन के रास्ते बर्मा में अस्त्रों-शस्त्रों का आयात किया जा सकेगा। इसके बाद माण्डले में फ्रांसीसी राजदूत की भी नियुक्ति कर दी गई।

फ्रांस की इस प्रकार बढ़ती देख इँगलैण्ड को सन्देह होने लगा। दोनों में उपनिवेश बसाने की भावना के कारण वैमनस्य था ही। उस समय वैमनस्य अपनी चरमावस्था में था। फ्रांस का इस प्रकार बढ़ना, भारत के अँगरेजी साम्राज्य के सम्मान तथा शान्ति के लिए पर्याप्त चिन्ताजनक था।

बर्मा-बम्बई व्यापारिक निगम (Burma-Bombay Trading Corporation) का मामला काफी जटिल था। डफरिन को तृतीय बर्मा-युद्ध के लिए यह एक अच्छा बहाना मिल गया। निगम पर २ लाख ३० हजार पौण्ड जुर्माना कर दिया गया। बात यह थी कि भारत-सरकार यह चाहती थी कि निगम का मामला वायसराय की अदालत को सौंप दिया जाय। यदि थिबाव ऐसा कर देता तो इसका तात्पर्य था कि उसने स्वयं ही अपनी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात किया है। जैसी कि आशा थी, उसने मामला वायसराय को सौंपने से इनकार कर दिया। फलतः १९ अक्टूबर को थिबाव को अन्तिम चेतावनी दे दी गई कि—वह निगम के मामले को

वायसराय की अदालत को सौंप दे; राजा अँगरेज रेजीडेण्ट को बिना किसी प्रकार की रस्म अदा किये (नंगे पैर, सिर झुकाये जाने आदि) अपने दरबार में आने दे और बर्मा के विदेशी सम्बन्धों को ब्रिटिश नियन्त्रण में दे दे। जैसी आशा थी, राजा ने यह चेतावनी अस्वीकार कर दी और युद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप उत्तरी बर्मा भी अँगरेजी शासन में मिला लिया गया।

नवम्बर १८८५ को थिबाव ने आत्म-समर्पण कर दिया और जनरज पेण्डरगस्ट (General Pendergest) बिना किसी विरोध के माण्डले में दाखिल हो गया। जनवरी १८८६ को औपचारिक घोषणा कर दी गई कि उत्तरी बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया है। यह काम कोई प्रशंसनीय नहीं था बल्कि अँगरेजों की गुण्डाशाही का ही द्योतक था। राजा थिबाव का कुछ भी कसूर नहीं था कि उसके राज्य को इस प्रकार छीना जाता। यह तो सिर्फ इसलिए किया गया कि अँगरेज बर्मा में फ्रांसीसियों को नहीं रहने देना चाहते थे। युद्ध से पहले ही डफरिन लिख चुका था कि, "अगर फ्रांसीसी हमसे पहले उत्तरी बर्मा में घुसने का प्रयत्न करते हैं तो मुझे बर्मा को अपने साम्राज्य में मिलाने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। जैसी कि मुझे सलाह दी गई है, मैं सोचता हूँ कि हमें वहाँ ऐसा राजा रखना चाहिए जिस पर हम बाद में सन्देह भी कर सकें।" बर्मा १९३५ तक भारतीय प्रशासन के अन्तर्गत रहा। बाद में उसे अलग कर दिया गया।

भारत की वैदेशिक नीति—सन् १९४७ से पहले, ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होने के कारण, भारत की वैदेशिक नीति वही थी जो ब्रिटेन की थी। वास्तव में भारत की अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नहीं थी। उसे युद्ध-शान्ति के अवसरों पर शाही आज्ञाओं के अनुसार ही चलना पड़ता था। इस समय सारा संसार दूसरे विश्व-युद्ध के कारण हुई अशान्ति और हानि से पीड़ित है। शक्तिशाली राष्ट्र दो खेमों में बँट गये हैं—पश्चिमी तथा पूर्वी। दोनों की ही विचारधाराएँ तथा स्वार्थ अलग-अलग हैं। पश्चिमी खेमे में मुख्यतः दो शक्तिशाली राष्ट्र—अमेरिका तथा इँगलैण्ड हैं और पूर्वी खेमे में मुख्यतः रूस है। संयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O.) एक संस्था है जहाँ शान्ति विषयक मामलों पर विचार-विमर्श होता है और युद्ध तथा गुण्डाशाही को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। भारत ने संसार के विभिन्न राष्ट्रों में अपने राजदूत नियुक्त कर दिये हैं। इस समय भारत की काफी इज्जत है। प्रधान मन्त्री ने अमेरिका का दौरा करके उससे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। प्रधान मन्त्री ने निर्णय किया कि भारत राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) का सदस्य रहेगा। प्रधान मन्त्री की दूरदर्शिता की ब्रिटिश समाचारपत्रों ने काफी सराहना की। प्रधान मन्त्री ने अनेक बार घोषणा की कि भारत किसी भी राष्ट्र का

पिछलग्गू नहीं बनना चाहता। वह युद्ध आदि के अवसरों पर हमेशा तटस्थ रहेगा। भविष्य में क्या होता है, किसे मालूम; फिर भी हमें विश्वास है कि भारत हमेशा अपने आदर्शों का पालन करेगा और किसी अन्याय अथवा अत्याचार के आगे सिर झुकाकर अपना सम्मान नहीं गँवावेगा।

भारत की परराष्ट्र नीति ऐसी होनी चाहिए कि एक तो उससे हम अपने देश की रक्षा और उन्नति कर सकें और दूसरे विश्व-शान्ति में पूर्ण सहयोग दे सकें। यहाँ इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए कि अपने देश की शान्ति और उत्थान ही हमारा सर्वोपरि कर्त्तव्य है, और बातें तो बाद की हैं।

भारत की परराष्ट्र नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह दूसरे राष्ट्रों पर अपना कितना नैतिक प्रभाव डाल सकता है। इसके लिए एक स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, सुगठित सेना और औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति अनिवार्य है। हम किसी राष्ट्र का बुरा नहीं चाहते और न उन पर कोई अनुचित दबाव ही डालना चाहते हैं। हमें तो हमेशा ही विश्व-शान्ति स्थापित करने में सहर्ष सहयोग देना चाहिए और वही हम कर रहे हैं।

तेइसवाँ अध्याय

उपसंहार

भारतीय संविधान—१५ अगस्त १९४७ को संविधान सभा ने प्रभुत्व स्वीकार किया और भारतीय संविधान का निर्माण हुआ। भारत एक गणराज्य है। संविधान का आरम्भ इन शब्दों से होता है :

"हम, भारत के निवासी, भारत को शपथपूर्वक गणराज्य स्वीकार करते हैं और प्रत्येक नागरिक के अधिकार सुरक्षित रहेंगे :

न्याय-सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक; विचारों, व्यक्तिकरण, मान्यताओं, विश्वासों तथा पूजा की स्वतन्त्रता;

पद तथा अवसरों में समानता; तथा सब लोगों में वन्धुत्व, प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान और राष्ट्र की उन्नति की भावना को प्रोत्साहित करना।"

भारतीय गणराज्य एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। इसमें प्रत्येक धर्म और जाति के लोगों को बराबर स्वतन्त्रता, न्याय, रक्षा तथा धार्मिक विश्वासों का अधिकार है। यहाँ के मुसलमानों को भी, जो कि ईर्ष्यावश पहले पाकिस्तान के बनाने में प्रमुख भाग ले रहे थे, अन्य नागरिकों की तरह समान न्याय, स्वतन्त्रता तथा अधिकार प्राप्त हैं। उनसे केवल एक बात की अपेक्षा की जाती है और वह है भारत के प्रति वफादारी। पाकिस्तान जो नीति अपना रहा है उसके कारण कभी-कभी यहाँ भी काफी प्रतिक्रिया हो जाती है परन्तु भारत-सरकार उसे बड़े प्रशंसनीय ढंग से दबा देती है। इसे सब मानते हैं कि साम्प्रदायिकता भारत के हित में बहुत हानिकारक रही है और इसी दृष्टिकोण से देश के अधिकांश हिन्दू साम्प्रदायिकता दूर करने में भारत-सरकार का साथ दे रहे हैं।

भारत की समस्याएँ—स्वतन्त्रता मिलने के बाद भारत के सामने अनेक नई समस्याएँ आ गई हैं। भारत के वड़े-वड़े नेताओं तक को यह आशा नहीं थी कि अँगरेज लोग इतनी जल्दी भारत का शासन छोड़ देंगे। स्वतन्त्रता के बाद जो महान् उत्तरदायित्व आनेवाला था उसके लिए वे जरा भी तैयार न थे। प्रशासन के सैनिक तथा अ-सैनिक (सिविल) विभागों में जो अँगरेज लोग काम कर रहे थे उनके अकस्मात् अवकाश ग्रहण करने के फलस्वरूप भारत-सरकार के अन्य कर्मचारियों

आतंक फैलाने लगे। यह देखकर भारत-सरकार ने सीमाओं पर अपनी सेना और अधिक सुगठित कर दी। उन्हें आज्ञा दे दी गई कि वे रजाकारों का पीछा करें, चाहे उन्हें हैदराबाद की सीमा के अन्दर ही क्यों न जाना पड़े और रजाकारों को सजा दें। साथ ही जैसे ही निजाम ने भारत के सिक्कों को विदेशी सिक्के घोषित किया वैसे ही भारत-सरकार ने वहाँ आर्थिक नाकेबन्दी कर दी। आर्थिक नाकेबन्दी होते ही निजाम का सिंहासन डोल उठा। वहाँ का प्रशासन रेत के किले की तरह ढह गया। चारों ओर अराजकता फैल गई। सितम्बर १९४८ में पंडित नेहरू ने निजाम को हैदराबाद में शान्ति स्थापित करने के लिए कहा, परन्तु वह शक्ति-हीन हो चुका था। फलतः भारत-सरकार ने हैदराबाद में 'पुलिस कार्यवाही' करने का निश्चय किया। १३ सितम्बर को हैदराबाद में भारतीय सेना भेज दी गई। १६ सितम्बर को निजाम ने आत्मसमर्पण कर दिया। रजाकारों का भी दमन कर दिया गया। भारत-सरकार ने प्रशासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

हैदराबाद में ये सब घटनाएँ बड़ी शीघ्रता से हुईं। 'पुलिस कार्यवाही' बहुत लाभदायक साबित हुई। कासिम रिजवी ने भागने की कोशिश की परन्तु वह पकड़ लिया गया। उस पर मामला चला परन्तु दुर्भाग्यवश एक दिन मौका पाकर वह फिर जेल से भाग गया। निजाम ने पूर्णतः आत्मसमर्पण कर हैदराबाद को भारत में मिलाने की घोषणा कर दी। भारत-सरकार ने उसे पूरा-पूरा सम्मान दिया और हैदराबाद में शान्ति तथा सुव्यवस्था करने में भरपूर सहायता दी।

भारत और राष्ट्रमण्डल—ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल एक संस्था है। पहले इसमें केवल ब्रिटिश अधीनस्थ राज्य ही शामिल थे परन्तु अब वे राष्ट्र जो स्वाधीन हैं, शामिल हो गये हैं। सन् १९३१ की वैस्टमिनिस्टर की घोषणा के अनुसार राष्ट्रमण्डल के सभी राष्ट्र बराबर हैं और उनका सीधा सम्बन्ध क्राउन से है।

सन् १९२० तक भारत का भी यही ध्येय था कि उसे भी राष्ट्रमण्डल में शामिल किया जाय और उसका पद भी अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों के बराबर माना जाय। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने नेहरू कमेटी की इस बात को मानने से इन्कार कर दिया। तब कांग्रेस ने अपना ध्येय बदलकर पूरी स्वतन्त्रता लेने की ठान ली थी। लाहौर कांग्रेस अधिवेशन के समय हमारे वर्तमान प्रधान मंत्री पण्डित नेहरू कांग्रेस सभा-पति थे। उन्होंने घोषणा की कि हम अँगरेजी साम्राज्यवाद से पूर्णतः स्वतन्त्र होना चाहते हैं। उन्होंने कहा, "स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और संगठनों में हम पूरा सहयोग देंगे और उनके नियमों में अगर हमें कुछ बँध भी जाना पड़े तो हम तैयार हैं। परन्तु जब तक साम्राज्यवाद के शिकंजों से हम

पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होते तब तक भारत राष्ट्रमण्डल में भी बराबर होने का दावा नहीं कर सकता।"

अगस्त १९४७ में भारत गणराज्य घोषित हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अनुसार वह 'स्वतन्त्र' हो गया। ब्रिटिश पार्लियामेंट का भारत के ऊपर जो प्रभुत्व था वह समाप्त हो गया, और राज्यों पर से क्राउन की सर्वोच्च सत्ता भी समाप्त हो गई। भारतीय संविधान सभा ने भारत को 'गणराज्य' घोषित कर दिया।

भारत ने गणतंत्रीय संविधान लागू करने का निर्णय किया था। राष्ट्रमण्डल ऐसा नहीं होने देना चाहता था। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि भारत के निर्णय का महत्व काफी बढ़ गया। क्योंकि फिर से युद्ध होने की संभावना हो रही थी। भारत के राष्ट्रमण्डल के साथ क्या सम्बन्ध हो इसका निर्णय करने के लिए अप्रैल १९४७ में लन्दन में राष्ट्रमण्डल के राष्ट्रों के प्रधान मंत्रियों की बैठक हुई। भारत तथा पाकिस्तान के प्रधान मंत्री भी बैठक में बुलाये गये। बैठक के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि ऐसा कौन सा रास्ता निकाला जाय जिससे भारत स्वतन्त्र गणराज्य भी रहे और साथ ही राष्ट्रमण्डल का सदस्य भी बन जाय। राष्ट्रमण्डल का प्रमुख 'क्राउन' है। अतः मण्डल का सदस्य होने का अर्थ है 'क्राउन' के अधीन रहना। पण्डित नेहरू ने इस समस्या को सुलझाने में बड़ी प्रतिभा और दूरदर्शिता से काम लिया। राष्ट्रमण्डल का प्रधान इँगलैण्ड का राजा है। राजा की राष्ट्रमण्डल में क्या स्थिति रहेगी, इस पर विवाद हुआ और अनेक परिवर्त्तन किये गये। तब भारत ने राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनने की घोषणा कर दी। इस प्रकार भारत सदस्य भी हो गया और उसकी स्वतन्त्रता पर भी कोई आँच नहीं आई।

बैठक के अन्त में निम्नलिखित घोषणा की गई :

"संयुक्त राज्य (इँगलैण्ड), कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, भारत, पाकिस्तान तथा लंका ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के समान पद के सदस्य हैं और संयुक्त रूप से क्राउन को अपना अधिनायक मानते हैं। इन सभी सदस्यों ने भारत के परिवर्त्तित संविधान पर विचार किया है।

"भारत-सरकार ने राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्रों की सरकारों को सूचित किया है कि भारत की जनता की इच्छानुसार हाल ही में नया संविधान लागू किया जानेवाला है, जिसके अनुसार भारत पूर्णतः गणराज्य हो जायगा।

"भारत-सरकार ने घोषित किया है कि भारत भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना चाहता है। राजा स्वतन्त्र राष्ट्रों के सदस्यों का प्रतीक है अतः उसे इसी हैसियत से राष्ट्रमण्डल का अधिनायक मानने को हम तैयार हैं।

"राष्ट्रमण्डलीय देशों की वे सरकारें जिनकी सदस्यता के आधारभूत नियमों में कोई अन्तर नहीं हुआ है, भारत को भी सदस्य मानती हैं और जिन आधारभूत नियमों के अनुसार भारत सदस्य बना है उन्हें मान्यता देती हैं।

"अतः संयुक्त राज्य (इंगलैण्ड), कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, भारत, पाकिस्तान तथा लंका की सरकारें यह घोषित करती हैं कि वे स्वतन्त्र तथा बराबरी के स्तर पर राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं और पारस्परिक शान्ति, स्वाधीनता तथा उन्नति में सहयोग देने में स्वतन्त्र हैं।"

इँगलैण्ड इस बात से बहुत प्रसन्न हुआ कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा परन्तु भारत में इसकी बड़ी प्रतिक्रिया हुई और चारों ओर से आलोचना होने लगी। संविधान सभा और कांग्रेस ने फौरन ही इसका पक्ष लिया। जो कुछ निर्णीत हुआ था उसका स्पष्टीकरण करते हुए नेहरूजी ने आलोचकों को उत्तर दिया कि, "मुझे कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस समझौते को मैंने माना है वह मेरी समझ से भारत, इँगलैण्ड, राष्ट्रमण्डल और यहाँ तक कि समस्त विश्व के लिए लाभकारी है। यदि ऐसा न होता तो मैं कभी भी सदस्य बनने को तैयार न होता। मैं यह भी समझता हूँ कि यदि मैं यह कहूँ तो वह भी सत्य होगा कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर लाखों व्यक्ति यही चाहते थे जो मैंने किया है।"*

सबसे अधिक आलोचना इस बात की हुई कि जब भारत स्वतन्त्र गणराज्य है तो वह इंगलैण्ड के राजा को अधिनायक क्यों मान ले। यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि राजा स्वतन्त्र सदस्यों का प्रतीक है और इसी हैसियत से मण्डल का प्रधान है।

संविधान के अनुसार क्या ठीक होना चाहिए था, इस पर हमें विचार नहीं करना है। हम इतना जानते हैं कि राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने से भारत की कोई हानि नहीं हुई अपितु लाभ ही हुआ है।

---

* लंदन की 'इंडिया लीग' में २ मई, १९४९ को पंडित नेहरू का भाषण।

अनुक्रमणिका

BY THE SAME AUTHOR

The History of Mediaeval India: *by* DR. ISHWARI PRASAD, M.A., LL.B., D.LITT., EX-M.L.C.

A standard History of India for the period from 740 to 1526 A. D. The author and his style need not be mentioned as it is too well known to the Historians and the students of History. The book is suitably illustrated and bound. Rs. 25.00

Hindi Edition

मध्ययुग का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद, एम० ए०, एल-एल० बी० डी० लिट्०, भू० पू० एम० एल० सी० । मूल्य २०·०० रु०

A Short History of Muslim Rule in India: *by* DR. ISHWARI PRASAD, M.A., LL.B., D.LITT, EX-M.L.C.

This volume is a survey of Muslim Rule from the time Arab conquest to the death of Aurangzeb. It, besides bein political history, contains a detailed account of conditions systems of administration which prevailed during that per

Rs. 2

Hindi Edition

मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद, एम० एल-एल० बी०, डी० लिट्०, भू० पू० एम० एल० सी० । मूल्य १८·००

History of Modern India: *by* DR. ISHWARI PRASAD, M. LL.B., D.LITT., EX-M.L.C. & S. K. SUBEDAR, M.A.; LL.B.

This is the latest book written by the author for the be of those who offer British period of Indian History. It with the period after the Mughals to the present day. suitably illustrated with maps and pictures and has fulfilled long-felt demand of the students of History. Rs. 4

History of Qaraunah Turks: *by* DR. ISHWARI PRASAD, LL.B., D.LITT., EX-M.I.C.

It deals with the history of first two Sultans of the Tug dynasty and is a standard work on the subject. (In F

THE INDIAN PRESS (PUBLICATIONS) PRIVATE LTD
ALLAHABAD